# ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास

प्रथम भाग

१ ब्रज संस्कृति की भूमिका

२ ब्रज का इतिहास

रचयिता

**प्रभुदयाल मीतल**

प्रस्तावना लेखक

**डा० वासुदेवशरण अग्रवाल**

**राजकमल**

# प्राक्कथन

परम हर्ष और आनद की बात है कि जिस ग्रथ की रचना मे मै विगत कई वर्षों से दिन-रात लगा हुआ था, वह अब पूर्ण होकर प्रकाशित हो रहा है। कोई व्यक्ति किसी काम को आरभ तो कर सकता है, किंतु उसकी पूर्ति होना भगवान् की इच्छा पर निर्भर है। बडे-बडे सिद्ध महापुरुषो और धुरधर विद्वानो के ग्रथ भी कभी-कभी अधूरे रह जाते है। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी कृत श्रीमद्भागवत की 'सुबोधिनी' टीका और पडितराज जगन्नाथ कृत 'रस गगाधर' जैसे अनुपम ग्र थ इसके प्रमाण है। श्री कृष्णदास कविराज ने जब 'श्री चैतन्य चरितामृत' की रचना आरभ की थी, तब वे अत्यत वृद्ध और अशक्त हो चुके थे। अपनी उस अवस्था के कारण उन्हे चिंता थी कि उनके द्वारा वह ग्र थ पूरा हो सकेगा या नही[1]। किंतु भगवान् के भरोसे वे अपनी रचना मे लगे रहे और अत मे उन्होने उस महान् ग्र थ को पूर्ण करके ही दम लिया। श्री ईशानचद्र घोष जब बौद्ध जातक कथाओ के विशाल वाङ्मय का बगला भाषा मे अनुवाद कर रहे थे, तब वे भी उसकी पूर्ति के सबध मे बडे शकित थे। अत मे कई वर्षो के कठिन परिश्रम के उपरात जब वह कार्य पूरा हुआ, तब उन्होने सतोष की श्वास ली थी। मेरा व्यक्तित्व और मेरी यह रचना उन यशस्वी महापुरुषो और उनके विख्यात ग्रथो की तुलना मे तुच्छ एव नगण्य है, किंतु फिर भी मै अपने दीर्घकालीन परिश्रम की इस सुखद परिणति पर प्रसन्नतापूर्वक भगवान् को धन्यवाद देता हूँ। मुझे यह कहने मे कोई सकोच नही है कि जब मै इस ग्र थ की रचना मे प्रवृत्त था, तब अपने भग्न स्वास्थ्य और अपनी जीर्ण-शीर्ण काया के कारण मुझे सदैव आशका रहती थी कि मेरे द्वारा यह बडा काम पूरा हो सकेगा या नही ! किंतु जिन भगवान् श्री कृष्ण के पावन प्रदेश की गौरव-गाथा इस ग्रथ मे वर्णित है, उन्ही के परम अनुग्रह से मैं इसे पूर्ण करने मे समर्थ हुआ हूँ। जैसा सूरदास जी ने कहा है,—'जाकी कृपा पगु गिरि लंघै, अँधरे को सब कछु दरसाई।'—भगवान् की कृपा के बल पर सब कुछ किया जा सकता है।

श्री कृष्ण ने अपनी आनदमयी सरस लीलाओ और लोकोपकारी कार्य-कलाप से भारत के जन-जीवन को जितना प्रभावित किया है, उतना किसी अन्य महापुरुष ने नहीं। इसीलिए उन्हे 'पुरुषोत्तम' ही नहीं, 'परब्रह्म' तक कहा गया है। उन्होने अपने आरभिक जीवन मे ही एक ओर अपने स्नेह-स्निग्ध सरल स्वभाव से माधुर्य की धारा प्रवाहित की थी, तो दूसरी ओर अपने प्रचड बल-विक्रम की धाक जमायी थी। फिर अपने उत्तर जीवन मे उन्होने एक ओर अपने अनुपम राजसी वैभव के बल पर 'राजाधिराज' की पदवी प्राप्त की थी, तो दूसरी ओर वे अपने अपूर्व तत्वज्ञान के कारण 'जगद्गुरु' के गौरवपूर्ण पद पर आसीन हुए थे। उनकी उस बहुरगी जीवन-चर्या से उनके लीला-धाम ब्रजमडल अर्थात् प्राचीन शूरसेन जनपद मे जिस सस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, वह 'ब्रज सस्कृति' के नाम से लोक मे प्रसिद्ध है। श्री कृष्ण ने भोग और त्याग, युद्ध और शांति, कर्म और ज्ञान, प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा इहलोक और परलोक मे अद्भुत सतुलन और

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, द्वितीय परिच्छेद ( ७६–८१ ) मे कविराज महोदय ने अपनी [illegible]

सामंजस्य स्थापित कर ब्रज संस्कृति को जन्म दिया था। यह मूलतः धार्मिक संस्कृति है, इसी लिए उसके प्रत्येक अंग पर धर्मोपासना का गहरा प्रभाव पड़ा है। इसके प्रमुख तत्व स्नेह-सौहार्द्र, सेवा-समर्पण और समन्वय-सामंजस्य हैं, जो कृष्णोपासना की पृष्ठभूमि में पल्लवित होकर फूले-फले हैं। ब्रज संस्कृति 'सत्य-शिव-सुंदरम्' की भावना से ओत-प्रोत है। इसीलिए इसे अखिल भारतीय संस्कृति के अंतर्गत इसका सर्वोत्तम स्वरूप कहा जा सकता है।

ब्रज संस्कृति का पावन प्रदेश यह व्रजमंडल जहाँ श्री कृष्ण के जन्म और उनकी लीलाओं के कारण सौभाग्यशाली है, वहाँ इसका यह बड़ा दुर्भाग्य है कि विगत पाँच सहस्र वर्षों के विविध युगों में यह अनेक बार भीषण विपत्तियों और दुर्घटनाओं से ग्रसित होता रहा है। उनके कारण ब्रज संस्कृति भी अनेक बार बनती-बिगड़ती रही है, किंतु उसका सर्वथा लोप कभी नहीं हुआ। यद्यपि 'ब्रज' और 'ब्रज संस्कृति' नाम अधिक प्राचीन नहीं हैं, तथापि इनकी सत्ता और महत्ता कृष्ण-काल से ही विद्यमान रही है। विगत पाँच सहस्र वर्षों के सुदीर्घ काल में 'ब्रज' और 'ब्रज-संस्कृति' ने विविध नाम-रूपों से आत्म प्रकाश करते हुए अनेक भले-बुरे दिन देखे हैं। इसके दीर्घकालीन इतिहास की लंबी गाथा के सूत्र अनेक ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं। उनके अन्वेषण और अध्ययन से ब्रज का जो रूप सामने आता है, वह बड़ा शिक्षाप्रद, प्रेरणादायक और विचारोत्तेजक है। उनसे ज्ञात होता है कि विविध युगों में किस प्रकार ब्रज तथा ब्रज संस्कृति की उन्नति, अवनति एवं पुनरुन्नति हुई थी, और अब इसकी क्या स्थिति है तथा भविष्य की क्या संभावनाएँ हैं।

शूरसेन अर्थात् प्राचीन ब्रजमंडल पर एक बड़ी विपत्ति श्री कृष्ण की विद्यमानता में ही उस समय आई थी, जब मगध के शक्तिशाली सम्राट जरासंध ने अपनी विशाल सेना के साथ इस प्रदेश पर भीषण आक्रमण किया था। श्री कृष्ण ने अपनी अपेक्षाकृत छोटी सेना द्वारा उस आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना किया था, किंतु व्यर्थ के जन-संहार को रोकने के लिए वे ब्रज से निष्क्रमण कर द्वारका चले गये थे। उनके साथ बहुसंख्यक यादव और गोप गण भी ब्रज को छोड़ गये। इस प्रकार उस समय ब्रजमंडल प्रायः सूना और निर्जन हो गया था। उसके बाद यादव गण जहाँ-जहाँ गये, वहाँ वहाँ ब्रज संस्कृति का विस्तार होता गया, किंतु अपने जन्म-स्थान ब्रज में वह उस समय शिथिल हो गई थी। महाभारत के पश्चात् जब श्री कृष्ण का तिरोधान और द्वारका का शोचनीय अंत हुआ, तब कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ ने ब्रजमंडल में आकर यादव राज्य की पुनः प्रतिष्ठा के साथ ब्रज संस्कृति को भी बल प्रदान किया था। उस समय गोपों के पुरोहित महर्षि शांडिल्य ने श्री कृष्ण के वे लीला स्थल बतलाये थे, जो थोड़े ही समय की निर्जनता के कारण जंगली लता-गुल्मों से आच्छादित होकर बीहड़ वनों में लुप्तप्राय हो गये थे। वज्र ने कृष्ण-लीला के अनुसार उन स्थानों का नामकरण किया और उन पर स्मृति-चिन्ह बनवाये तथा कुछ प्रमुख लीला-स्थलों पर बस्तियाँ बसायी थीं। इस प्रकार श्री कृष्ण के पश्चात् वज्रनाभ ने सर्वप्रथम प्राचीन ब्रज और ब्रज संस्कृति के उच्छिन्न गौरव की परंपरा को पुनः स्थापित किया था।

जब काल के प्रवाह में प्राचीन ब्रज में जैन और बौद्ध धर्मों का प्रभाव बढ़ गया, तब कृष्णोपासना और ब्रज संस्कृति का महत्व कुछ कम हो गया था। उस काल में श्री कृष्ण के जीवन-दर्शन और उनके लीला-स्थलों की अपेक्षा जैन-बौद्ध धर्मों के सिद्धांतों और उनके स्तूप-चैत्य-संघारामों आदि के प्रति लोगों की आस्था बढ़ गई थी। उस काल के ग्रंथों और चीनी यात्रियों के विवरणों में ब्रज के गौरव और ब्रज संस्कृति की महत्ता के उल्लेख कम मिलते हैं।

वैष्णव धर्म के पुनरुद्धार काल मे जब कृष्णोपासना और कृष्ण-भक्ति का पुन प्रचार हुआ, तब ब्रज और ब्रज सस्कृति के गौरव की पुनर्स्थापना का भी प्रयास किया गया था। किंतु उस काल मे वह कार्य बडा कठिन था। कारण यह है, एक तो शताब्दियो की उपेक्षा से ब्रज और ब्रज सस्कृति की गौरवशाली परपरा लुप्तप्राय हो गई थी, दूसरे उस काल के नव स्थापित मुसलमानी राज्य का उनके प्रति बडा विरोधी दृष्टिकोण था। फिर भी विक्रम की १२वी से लेकर १६वी शताब्दी तक के काल मे कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यो और उनके अनुयायी भक्तजनो ने नाना प्रकार की कठिनाइयो एव विपत्तियो को सहन कर बडे साहस और आत्म बल का परिचय दिया था। भगवान् श्री कृष्ण के जीवन-दर्शन से अनुप्राणित और उनकी शिक्षाओ से प्रभावित होकर सर्वश्री निंबार्क, केशव काश्मीरी, माधवेन्द्र, वल्लभ, चैतन्य, हरिवश, हरिदास, विट्ठल, रूप-सनातन और सूरदास प्रभृति धर्माचार्यो और सत-महात्माओ के कारण ब्रज सस्कृति के एक ऐसे रूप का उदय हुआ, जिसने समस्त देश मे नव जीवन का सचार किया था। उन धर्मप्राण महानुभावो का रहन-सहन जहाँ अतिशय त्याग और वैराग्यपूर्ण था, वहाँ उनके उपदेश और उनकी रचनाओ मे माधुर्य भक्ति का समावेश था। इस प्रकार उन्होने श्री कृष्ण के अनुकरण पर भोग और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामजस्य का आदर्श प्रस्तुत किया था। उन्होने अपने तप-त्याग और आत्म-बल तथा अपनी विद्वत्ता, माधुर्य–भावना और कला-प्रियता से ब्रज के विस्मृत गौरव और ब्रज सस्कृति की उच्छिन्न परपरा को कृष्ण-भक्ति के सुदृढ धरातल पर पुन प्रतिष्ठित कर दिया था।

श्री वल्लभाचार्य अपनी प्रथम देशव्यापी यात्रा करते हुए जब स० १५५० के लगभग पहिली बार ब्रज मे आये थे, तब यह पुरातन प्रदेश दिल्ली के सुलतानो की मजहबी कट्टरता के उत्पीडन से त्रस्त था। उन असहिष्णु सुलतानो ने यहाँ पर बने हुए जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्तादि धर्म-सम्प्रदायो के प्राय. सभी मदिर-देवालय नष्ट-भ्रष्ट कर दिये थे। उन्होने मूर्ति-पूजा करने और नये मदिर बनवाने पर कडी पाबदी लगा दी थी। इस प्रकार यहाँ के धर्मप्राण निवासी अपने उपास्य देव की सेवा-पूजा करने से वचित हो जाने के कारण बडे दुखी थे। श्री वल्लभाचार्य ने गोवर्धन मे श्रीनाथ जी की सेवा प्रचलित कर और उनके मदिर-निर्माण का आयोजन कर अपने अदम्य साहस और अपूर्व आत्म-बल का परिचय दिया था। उनके कारण उस काल मे मथुरा, गोवर्धन और गोकुल की धार्मिक स्थिति मे कुछ परिवर्तन होने के साथ ब्रज सस्कृति ने भी अपनी करवट बदली थी। ब्रज के अन्य लीला-स्थलो के पुनरुद्धार और ब्रज संस्कृति के व्यापक प्रचार के लिए उन्हे अपने व्यस्त और थोडे जीवन मे अवकाश नही मिला था।

चैतन्य महाप्रभु द्वारा बंगाल में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किये जाने से वंगीय भक्तो का ब्रज और ब्रज-सस्कृति के प्रति अपूर्व आकर्षण हुआ था। श्री माधवेन्द्रपुरी और ईश्वरपुरी की प्रेरणा से चैतन्य देव ने ब्रज के लीला-स्थलो के अनुसधान करने का आयोजन किया। उसके लिए उन्होने स० १५६८ मे अपने दो अनुचर सर्वश्री लोकनाथ चक्रवर्ती और भूगर्भ गोस्वामी को ब्रज का सर्वेक्षण करने को भेजा था। वे दोनो भक्तजन कुछ काल तक ब्रज के बीहड वनो मे भटक कर वापिस चले गये। उन्हे अपने कार्य मे सफलता प्राप्त नही हुई। सं० १५७३ मे चैतन्य महाप्रभु स्वयं ब्रज मे आये थे। उस समय उन्होने यहाँ के प्रमुख वनो की यात्रा, तीर्थो मे स्नान और कतिपय लीला-स्थलो एवं देवालयो के दर्शन करने के अतिरिक्त गोवर्धन के निकटवर्ती राधाकुंड नामक

लुप्त तीर्थ का उद्धार किया था। अत मे जब वे वृदावन गये, तब राधा-कृष्ण की रासादि लीलाओ का स्मरण कर वे प्रेमावेश मे बार-बार विह्वल होने लगे। उनकी वह दशा देख कर उनके अनुचर उन्हे व्रज मे वापिस ले गये थे। इस प्रकार व्रज मे अधिक समय तक न रहने के कारण चैतन्य महाप्रभु स्वय यहाँ के लुप्त लीला-स्थलो का उद्धार नही कर सके। उक्त कार्य के लिए उन्होने अपने विद्वान पार्षद सर्वश्री रूप-सनातन गोस्वामियो को व्रज मे जाने का आदेश दिया था। उन महानुभावो ने व्रज मे स्थायी रूप से निवास कर प्राचीन अनुश्रुतियो और पौराणिक उल्लेखो के आधार पर व्रज के अनेक लीला-स्थलो का अन्वेषण किया। उसके साथ ही उन्होने कृष्ण-भक्ति के प्रचार और व्रज-संस्कृति के महत्व की स्थापना के लिए अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रथो की रचना की थी। रूप गोस्वामी कृत ग्रथो मे व्रज के लीला-स्थलो का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए 'मथुरा माहात्म्य' उल्लेखनीय है, जिसे उन्होने विविध पुराणो के गंभीर मनन के उपरात स० १६०० के लगभग रचा था। चैतन्य सप्रदाय के एक अन्य विद्वान श्री नारायण भट्ट ने व्रज के समग्र रूप को प्रकट करने का बडा महत्वपूर्ण कार्य किया था। उन्होने व्रज के समस्त वन, उपवन, तीर्थ और लीला-स्थलो का व्यापक अन्वेषण किया, व्रज-यात्रा और रास-लीला का प्रचार किया तथा कृष्ण-भक्ति और व्रज-संस्कृति की महत्ता के स्थापनार्थ अनेक ग्रथो की रचना की थी। उनके सुप्रसिद्ध ग्रथ 'व्रज भक्ति विलास' की रचना स० १६०९ मे हुई थी। चैतन्य सप्रदायी सर्वश्री सनातन गोस्वामी, गोपाल भट्ट, कृष्णदास कविराज प्रभृत्ति विशिष्ट विद्वानो की रचनाएँ भी भक्ति क्षेत्र मे बडी महत्वपूर्ण है। किंतु सर्वश्री रूप गोस्वामी और नारायण भट्ट के ग्रथ व्रज सस्कृति की महत्ता सूचक आधारभूत रचनाएँ है।

सर्वश्री हित हरिवश, हरिदास स्वामी, प्रबोधानद और हरिराम व्यास प्रभृत्ति महात्माओ ने वृदावन के गौरव की वृद्धि की तथा गोसाई विट्ठलनाथ ने गोवर्धन का माहात्म्य बढाया और गोकुल का नव निर्माण किया था। मुगल सम्राट अकबर का उदार शासन व्रज सस्कृति के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उस काल मे व्रज के लीला-स्थलो मे कई शताब्दी के पश्चात् मंदिर एव देव-स्थान बनवाये गये और कृष्णोपासना की पृष्ठभूमि मे विविध कलाओ का व्यापक प्रचार हुआ था। उस समय व्रज-सस्कृति के सभी अगो की अभूतपूर्व उन्नति हुई थी।

वल्लभ संप्रदायी गोसाई विट्ठलनाथ जी के वशज सर्वश्री गोकुलनाथ जी और हरिराय जी ने व्रजभाषा गद्य मे 'वार्ता' साहित्य की रचना द्वारा कृष्ण-भक्ति की पुष्टि और व्रज-सस्कृति के प्रसार मे महत्वपूर्ण योग दिया था। इसी सप्रदाय के एक भक्त जन जगतनद ने अपनी रचनाओ द्वारा व्रज के स्वरूप का स्पष्टीकरण और व्रज-यात्रा का विवरण प्रस्तुत किया था। उसकी व्रज-भाषा पद्य की रचनाएँ व्रज वस्तु वर्णन, व्रज ग्राम वर्णन और श्री गुसाई जी की वन-यात्रा स० १७३० के लगभग लिखी गई थी। चैतन्य सप्रदायी गोपाल कवि ने सं० १९०० मे 'श्री वृदावन धामानुरागावली' ग्रथ की रचना की थी। इस पद्यात्मक ग्रथ में तत्कालीन वृदावन के प्राय सभी दर्शनीय स्थल, मदिर-देवालय, देव-विग्रह और सत-महात्माओ का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है।

अगरेजी शासन काल मे स० १९२९ से १९३४ तक मथुरा का जिलाधीश श्री ग्राउस नामक एक विद्वान् अगरेज था। वह विदेशी होते हुए भी व्रज-सस्कृति के पुनरुद्धार मे बडा सहायक हुआ था। उसने वृदावन के ध्वंसप्राय गोविंददेव जी के प्राचीन मदिर का जीर्णोद्धार कराया,

वहाँ के घाटो की मरम्मत कराई और गोकुल की पुरानी बस्ती के गली-बाजारो को दुरुस्त कराया था। उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य मथुरा के पुरातत्त्व सग्रहालय की आरभिक व्यवस्था और ब्रज की प्राचीन परपरा का अन्वेपण करना था। प्रशासकीय कार्यो मे व्यस्त रहते हुए भी उसने बडे परिश्रम और लगन के साथ ब्रज का ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक अनुसधान कर जो बहुमूल्य तथ्य एकत्र किये थे, वे अगरेजी भाषा मे 'मथुरा-ए-डिस्ट्रक्ट मेमोअर' नामक ग्र थ मे प्रकाशित किये गये। उससे पहिले ब्रज के परिचायक जो ग्र थ उपलब्ध थे, वे या तो सस्कृत मे रचे हुए पुराण थे और पौराणिक शैली की अन्य कृतियाँ थी, अथवा ब्रजभाषा मे लिखी हुई उसी शैली की पद्यात्मक रचनाएँ थी। श्री ग्राउस का उक्त ग्र थ नवीन दृष्टिकोण से ब्रज के इतिहास के लेखन और प्रकाशन का आरभिक प्रयत्न था। उसका प्रथम सस्करण स० १९३१ मे, द्वितीय सशोधित सस्करण स० १९३७ मे और तृतीय परिवर्धित सस्करण स० १९४० मे प्रकाशित हुआ था। यद्यपि इस ग्रथ की अनेक बाते अब अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण जान पडती है, तथापि इनका बडा ऐतिहासिक महत्व है। अब तक ब्रज के सबध मे जितनी रचनाएँ निकली है, उनमे ग्राउस के ग्रथ का थोडा-बहुत उपयोग अवश्य किया गया है। यदि यह ग्र ंथ न होता, तो ब्रज से सबधित बहुत सी बाते अज्ञात ही रह जाती!

मथुरा के पुरातत्व सग्रहालय की बहुमूल्य सामग्री और इसके सुयोग्य सग्रहाध्यक्षो की सेवाओ द्वारा ब्रज के सास्कृतिक अनुसधान मे बड़ा योग मिला है। विद्वद्वर डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल जब मथुरा के संग्रहाध्यक्ष थे, तब उन्होने व्रज के ऐतिहासिक, पुरातात्विक और सास्कृतिक अन्वेषण का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया था। उनके विविध कार्यो मे श्री कृष्ण-जन्मस्थान का अन्वेषण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उक्त स्थल की प्राचीन अनुश्रुति को उन्होने पुरातत्व की सामग्री से सपुष्ट कर स० १९९४ मे उसके इतिहास पर एक गवेपणापूर्ण निबध प्रकाशित किया था। आज मथुरा के श्री कृष्ण-जन्मस्थान का जो निर्विवाद महत्व है, उसका श्रेय डा० अग्रवाल जी की स्थापना को ही है। डा० सत्येन्द्र जी जब मथुरा मे अध्यापक थे, तब उन्होने ब्रज की साहित्यिक और सास्कृतिक प्रगति मे बडा योग दिया था। श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी और श्री हरिशकर जी शर्मा की प्रेरणा तथा सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार, डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल और डा० सत्येन्द्र जी के प्रयत्न से कातिक कृ० ५ स० १९९७ ( दिनाक २० अक्टूवर सन् १९४०, रविवार ) को मथुरा में जिस 'ब्रज साहित्य मडल' की स्थापना हुई, उसने ब्रज की गौरव-वृद्धि का बडा महत्वपूर्ण कार्य किया है। उसकी मुख पत्रिका 'ब्रज भारती' मे ब्रज की बहुमूल्य साहित्यिक सामग्री प्रकाशित हुई है।

ब्रज के सबध मे अब तक जो कई छोटी-बडी परिचयात्मक और इतिहास–परक रचनाएँ प्रकाशित हुई है, उनमे श्री युगलकिशोर चतुर्वेदी कृत 'मथुरा-महिमा' (स० १९९१) डा० वासुदेव शरण जी के प्रधान सपादकत्व मे प्रस्तुत विशाल 'पोद्दार अभिनदन ग्रथ' ( स० २०१० ) और श्री कृष्णदत्त वाजपेयी कृत 'ब्रज का इतिहास' ( भाग १–सं० २०११, भाग २–सं० २०१५ ) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डा० सत्येन्द्र जी ने अपने विद्वतापूर्ण ग्र थो के अतिरिक्त लोक संस्कृति के अध्ययन सबधी कई गवेपणापूर्ण रचनाएँ भी प्रस्तुत की है। उनमे ब्रज लोकसंस्कृति (स० २००५), ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन (सं० २०१४), मध्ययुगीन हिंदी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन ( सं० २०१७ ) और लोक साहित्य विज्ञान ( स० २०१९ ) अपने विषय की अनुपम रचनाएँ है। इनसे ब्रज की लोक सस्कृति विपयक बहुमूल्य सामग्री प्रकाश मे आई है। इन सभी रचनाओ की

आवश्यक सामग्री का इस ग्र थ के विविध खडो मे यथा स्थान उपयोग किया गया है। इस प्रकार सर्वश्री रूप गोस्वामी, नारायण भट्ट, जगतनद, गोपाल कवि, ग्राउस, वासुदेवशरण अग्रवाल, सत्येन्द्र और कृष्णदत्त वाजपेयी जैसे विद्वानो ने समय-समय पर ब्रज-सस्कृति के अध्ययन का जो राज मार्ग निर्मित किया उसी पर चलते हुए मैने इस ग्रथ की रचना की हे। यदि मेरे द्वारा उन अग्रगामियो के मार्ग को कुछ भी प्रशस्त किया जा सका, तो मैं अपने प्रयत्न को सार्थक समझूँगा।

× × ×

श्री कृष्ण द्वारा प्रवर्तित और अगणित महानुभावो द्वारा विकसित व्रज की महान् सस्कृति का क्षेत्र अत्यत विशाल है और इसका इतिहास बडा लवा है। इसने विविध कालो मे भारतीय धर्म, कला, साहित्य और लोक जीवन को समृद्ध करने मे वडा महत्वपूर्ण योग दिया है। उस गौरवपूर्ण योग-दान के यथार्थ स्वरूप का यथावत् दर्शन शब्दो द्वारा कराना वडा कठिन है। इस ग्रथ मे तो उसके विशद और भव्य रूप की एक झाँकी मात्र ही प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। यह ग्र थ ६ खडो मे पूरा हुआ है, जिनके नाम है—१ ब्रज–सस्कृति की भूमिका, २ ब्रज का इतिहास, ३. ब्रज के धर्म-सप्रदाय, ४ ब्रज की कलाएँ, ५ ब्रज का साहित्य और ६ ब्रज की लोक सस्कृति। इस ग्र थ के प्रथम दो खंड इस भाग मे प्रकाशित किये गये है। शेष चार खड अन्य भागो म प्रकाशित होगे। यहाँ पर प्रथम दो खडो का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। शेष खडो का परिचय अन्य भागो के प्राक्कथन मे दिया जावेगा।

प्रथम खड 'ब्रज सस्कृति की भूमिका' मे सात अध्याय है—१ ब्रज की रूपरेखा और उसका महत्व, २ ब्रज का प्राकृतिक और भौगोलिक वर्णन, ३ ब्रज के पशु-पक्षी और जीव-जतु, ३ ब्रज की मानव जातियाँ, ५. ब्रज सस्कृति के उपकरण—ब्रज की सास्कृतिक यात्रा, ६ ब्रज की रासलीला, ७ ब्रज के उत्सव, त्यौहार और मेले। इस प्रकार इस खड मे ब्रज सस्कृति के प्रमुख अगो का सर्वेक्षण करते हुए उसकी पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है।

प्रथम अध्याय 'ब्रज की रूपरेखा और उसका महत्व' मे ब्रज के नामकरण, ब्रज के विस्तार, ब्रज के विविध रूप और ब्रज के प्राचीन गौरव का विशद विवेचन किया गया है। इसमे ब्रज के विस्तार और उसके रूपो के सबध मे अधिकतर मौलिक सामग्री है, जिसके स्पष्टीकरण के लिए कई मानचित्र भी दिये गये हे। इन मानचित्रो को प्रचुर अन्वेषण और पर्याप्त अर्थ-व्यय के उपरात तैयार कराया गया है। ब्रज की दीर्घकालीन परपरा मे इसके कई रूप उभर कर आये है,जो विविध युगो मे अपना-अपना महत्व प्रदर्शित करते रहे है। इनमे ब्रज का राजनैतिक रूप तो कभी स्थिर नहीं रहा, किंतु इसके धार्मिक स्वरूप की सत्ता और महत्ता स्थायी रही हे। इसी के अतर्गत 'साप्रदायिक ब्रज' के रूप मे चौरासी कोस की परिधि का वह भू-भाग है, जो वास्तविक ब्रज माना जाता हे। इसके दर्शन और परिभ्रमण के लिए ही 'ब्रज-यात्रा' की परपरा प्रचलित हुई है। इसके सास्कृतिक और भाषायी रूप वृहत्तर ब्रज और ब्रजभाषा क्षेत्र के रूप मे प्रसिद्ध है। ब्रज का अधिकाश भाग उत्तर प्रदेश मे और शेष भाग राजस्थान एव हरियाना मे है, इसलिए यह एक राजनैतिक इकाई के रूप मे सगठित नहीं है। फिर भी इसका सास्कृतिक रूप एक ऐसा स्वायत्त सगठन है, जो यह सिद्ध करता है कि राजनैतिक एकता की अपेक्षा सास्कृतिक ऐक्य अधिक अविचल और स्थायी होता है।

द्वितीय अध्याय 'ब्रज का प्राकृतिक और भौगोलिक वर्णन' ब्रज के उस नैसर्गिक रूप की झाँकी प्रस्तुत करता है, जिसके लिए समस्त भारत से लाखो यात्री प्रति वर्ष आते है और दिव्य सुख का अनुभव करते है। यद्यपि ब्रज के पहाडी-टीले, नदी-नाले, कुड-सरोवर, बन-उपबन, कुज-कदमखडी आदि का प्राकृतिक सौन्दर्य पूर्ववत् नही रहा, तथापि इसकी महत्ता और पवित्रता की छाप यात्रियो के हृदयो मे ऐसी दृढता से जमी होती है कि वे इसके शोभा विहीन भग्न रूप पर ही मुग्ध हो जाते है ! काल के कुटिल प्रभाव से ब्रज की पावन पहाडियाँ खडित होकर रोडियो और गिट्टियो के रूप मे सडको पर बिछ गई, ब्रज की सदानीरा गभीर यमुना बरसाती नदी बन गई और सदैव जल से भरे रहने वाले कुड-सरोवर सूख गये, ब्रज के सघन बन-उपबनो को काट कर उनमे बस्तियाँ बसा दी गई और ब्रज की मनोरम कुजो के प्राकृतिक स्वरूप को नष्ट कर उन्हे भद्दे आवासो मे परिवर्तित कर दिया गया, राजस्थानी रेगिस्तान ने भीषण आक्रमण कर ब्रज की हरियाली को धूल मे मिला दिया, फिर भी ब्रज मे अभी कुछ ऐसे स्थल शेष है, जहाँ का स्वाभाविक सौन्दर्य दर्शको के मन को बरवस मोह लेता है। नदगाँव, बरसाना और कामवन के अचलो मे वे स्थल ब्रज के पुरातन स्वरूप को अपने मे संजोए हुए है।

तृतीय अध्याय 'ब्रज के पशु-पक्षी और जीव-जतु' से संबंधित है। जब ब्रज मे बन-उपबनो की बहुलता थी, तब यहाँ विविध प्रकार के पशु-पक्षियो और जीव-जतुओ का भी बडा आधिक्य था। ब्रज के इतिहास और ब्रजभाषा कवियो की रचनाओ मे इनके पर्याप्त उल्लेख मिलते है। इस अध्याय मे तत्संबंधी रोचक सामग्री प्रस्तुत की गई है, जिसे ब्रजभाषा कवियो की सरस उक्तियो से सपुष्ट किया गया है। ब्रज सस्कृति मे पशुओ मे गाय और पक्षियो मे मोर का बडा महत्व माना गया है। वर्तमान काल की भौतिक सभ्यता भी गाय को देश की आर्थिक समृद्धि का आधार मानती है और मोर तो सरकारी आदेश से राष्ट्रीय पक्षी ही घोषित किया गया है। ऐसी दशा मे ब्रज के इन परंपरागत पशु-पक्षियो का संरक्षण करना सर्वथा वाछनीय है।

चतुर्थ अध्याय 'ब्रज की मानव जातियाँ' विषयक है। इसमे ब्रज की लुप्तप्राय यक्ष, नाग और आभीर जातियो का खोजपूर्ण वर्णन है और कुछ प्राचीन जातियो से सबधित महत्वपूर्ण सामग्री है। वर्तमान जातियो मे यादवो का महत्व अधिक है, क्यो कि इनकी परपरा श्री कृष्ण से संबंधित मानी जाती है। जाट मूलत एक कृषिजीवी जाति है, जो बहुत बडी सख्या मे ब्रज मे बसी हुई है। विदेशी शासन के अत्याचारो ने इसे सैनिक शक्ति बना दिया है। इस जाति के वीर पुरुषो ने मुसलमानी शासन काल मे अनेक कष्टो को सहते हुए भी अत्याचारो का विरोध किया था और फिर ब्रज मे स्वतत्र हिंदू राज्य की स्थापना की थी। डीग और भरतपुर के जाट राजाओ ने 'ब्रजेन्द्र' अथवा 'ब्रजराज' के विरुद धारण कर ब्रज के प्रति अपने अधिकारपूर्ण ममत्त्व का परिचय दिया है। ब्रज की इस ऐतिहासिक जाति की गौरव-गाथा इस अध्याय मे और अन्यत्र कुछ विस्तार से लिखी गई है।

पचम अध्याय मे 'ब्रज सस्कृति के उपकरण' का उल्लेख करते हुए 'ब्रज की सांस्कृतिक यात्रा' का विशद वर्णन किया गया है। ब्रज के बन-उपवन, कुज-कदमखंडी, कुंड-सरोवर, लीला स्थल और ऐतिहासिक स्थान तथा मदिर-देवालय और महात्माओ के निवास-स्थल आदि के एक साथ दर्शन करने का सुगम साधन ब्रज की 'यात्रा' है, जिसका आयोजन प्रति वर्ष वड़े ठाट से किया

जाता है। इस अध्याय मे इस यात्रा की परंपरा और इसके इतिहास, यात्रा सबधी विविध ग्रथ तथा यात्रा के समस्त स्थलो और दर्शनीय वस्तुओ का खोजपूर्ण विशद वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह अध्याय व्रज के सास्कृतिक स्वरूप की स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करने के कारण अत्यत उपयोगी है

छठे अध्याय मे 'व्रज की रास-लीला' का अनुसधानात्मक विस्तृत वर्णन है। 'रास' व्रज का लोक-प्रसिद्ध और धर्म-प्रधान 'संगीत रूपक' है। इसमे नृत्य, नाट्य, गायन, वादन और काव्यादि कलाओ का धर्मोपासना के साथ ऐसा समन्वय किया गया है कि यह व्रज संस्कृति का सर्वाधिक समर्थ उपकरण ही नही, वरन् इसके सामूहिक स्वरूप का प्रतीक बन गया हैं। इस अध्याय मे रास के प्रादुर्भाव और इसकी परपरा का शोधपूर्ण वर्णन करने के अनतर वैष्णव धर्माचार्यो द्वारा इसके पुनरुद्धार किये जाने का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। इसी प्रसग मे विस्तृत समीक्षा के बाद यह बतलाया गया है कि सर्वश्री वल्लभाचार्य, हरिदास स्वामी, घमंडदेव, नारायण भट्ट, हित हरिवंश और विट्ठलनाथ आदि महानुभावो मे से रास के प्रारभकर्त्ता होने का श्रेय किसको दिया जा सकता है। इसके बाद रास-रसिक महात्माओ और इसकी प्रचारक रास-मंडलियो का खोजपूर्ण वर्णन है तथा रास के रूप विधान का कलात्मक विवेचन है। अत मे रास के विशाल व्रजभाषा साहित्य का परिचय और उसके कुछ सरस पदो का सकलन है। इस प्रकार इस अध्याय मे व्रज संस्कृति के इस आकर्षक अग से संबधित बडी बहुमूल्य सामग्री है।

सातवाँ अध्याय 'व्रज के उत्सव, त्यौहार और मेलो' से सबंधित है। जहाँ 'सात वार, नौ त्यौहार' की कहावत प्रचलित हो, वहाँ इस प्रकार के आयोजनो की अधिकता होना स्वाभाविक है। व्रज के उत्सव, त्यौहार और मेले अपनी प्राचीन परंपरा तथा अपने भव्य रूप के कारण समस्त देश मे प्रसिद्ध हैं। इसीलिए इनका आनद प्राप्त करने के लिए प्रति वर्ष लाखो यात्री भारतवर्ष के विभिन्न स्थानो से व्रज मे आते हैं। इस अध्याय मे ऋतुओ और महीनो के क्रम से व्रज के प्राय. सभी उत्सव, त्यौहार और मेलो का बडा रोचक और खोजपूर्ण वर्णन किया गया है। व्रजभाषा कवियो की रचनाओ मे भी अनेक उत्सव-त्यौहारो का सरस कथन मिलता है। उनके कतिपय उद्धरण इसी प्रसग मे दिये गये हैं। 'होली' व्रज का सर्वप्रधान उत्सव-त्यौहार है। उसके पश्चात् श्रावण के झूलनोत्सव का महत्व माना जाता है। इन प्रधान उत्सवो का इस अध्याय मे विस्तार से वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय के अनतर प्रथम खड की समाप्ति हुई है।

× × ×

द्वितीय खंड मे 'व्रज का इतिहास' वर्णित है। इसके विविध अध्यायो मे व्रज के राजनैतिक विकास और ह्रास की कथा काल-क्रमानुसार लिखी गई है। किसी भी प्रदेश की संस्कृति पर वहाँ की राजनैतिक स्थिति का बहुत प्रभाव पडता है। व्रज की दीर्घकालीन सास्कृतिक परंपरा भी यहाँ के विविध युगो की राजनैतिक घटनाओ से प्रभावित रही है। इसलिए व्रज के सास्कृतिक विकास का भली भाँति अध्ययन करने के लिए 'व्रज संस्कृति की भूमिका' के पश्चात् इस खंड मे 'व्रज का इतिहास' लिखा गया है। असल मे इन दोनो खडो मे उस पृष्ठभूमि का निर्माण किया गया है, जिस पर आगामी खंडो मे व्रज संस्कृति के विभिन्न अगो के भव्य भवन को खडा करने की चेष्टा की गई है।

इस खड का प्रथम अध्याय 'आदि काल' से सबधित है। इसमे प्रागैतिहासिक काल से लेकर शुंग काल अर्थात् विक्रमपूर्व सं० ४३ तक की घटनाओ पर प्रकाश डाला गया है। यह अध्याय जितनी लंबी कालावधि को समेटे हुए है, उतना ही अधिक महत्वपूर्ण भी है। इसमे वैदिक काल, कृष्ण काल, बुद्ध-महावीर काल और मौर्य-शुग काल की प्रमुख घटनाएँ क्रमानुसार वर्णित है। उस युग मे व्रजमडल शूरसेन जनपद कहलाता था। श्री कृष्ण व्रज संस्कृति के निर्माता थे और उन्ही के परिकर गोपो और सत्वत वशीय यादवो मे इसका सर्वप्रथम प्रचार हुआ था। इस लिए श्री कृष्ण के जीवन-दर्शन और उनके काल की घटनाओ पर विस्तार से विचार करना आवश्यक समझा गया है। उन घटनाओ को पौराणिक शैली के अलौकिक आवरण से निकाल कर उन्हे ऐतिहासिक धरातल पर लौकिक और बुद्धिगम्य रूप मे ही प्रस्तुत करने का यथासंभव प्रयत्न किया है। मगध सम्राट जरासध के लगातार आक्रमणो के कारण श्री कृष्ण के साथ बहुसख्यक यादव गण प्राचीन व्रज को छोड कर द्वारका चले गये थे और वहाँ से उनका समस्त भारत मे विस्तार हुआ था। फलत: उनके साथ व्रज संस्कृति के तत्व भी सर्वत्र व्याप्त हो गये थे। बुद्ध-महावीर काल की धार्मिक क्राति के अवरोध से व्रज संस्कृति की गतिशील धारा एक बार मद पड गई थी; किंतु कालातर मे वह फिर प्रवल वेग से प्रवाहित होने लगी थी। बौद्ध काल की घटनाओ मे भगवान् बुद्ध के मथुरा-आगमन और उनके द्वारा यहाँ के दुर्दमनीय यक्षो के आतक को दूर करने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। किंतु बुद्ध के आवागमन वाले मार्ग के कतिपय स्थलो की पहिचान के संबध मे विद्वानो मे मतैक्य नही है। इस अध्याय मे भगवान् बुद्ध के मार्ग के दो स्थल 'वेरज' और 'ओतला' पर प्रथम बार निर्णयात्मक प्रकाश डाला गया है। जैन तीर्थंकरो और विशेष कर अतिम केवली जम्बू स्वामी का मथुरा से जो संबंध था, उसने उस काल के व्रज के इतिहास को गौरव प्रदान किया है। मौर्य काल मे मथुरा मे एक बौद्ध धर्माचार्य उपगुप्त हुआ था। उसने मथुरा की नगर-वधू वासवदत्ता को सन्मार्ग पर आरूढ कर और सम्राट अशोक को बौद्ध धर्म के विस्तार की प्रेरणा देकर बडी ख्याति प्राप्त की थी। शुग काल मे व्रज संस्कृति के प्राण भागवत धर्म की बडी उन्नति हुई थी। उस काल मे भारतीयो के अतिरिक्त विदेशी भी इससे प्रभावित हुए थे। यूनानी राजदूत होलियोदोर द्वारा भगवान् वासुदेव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए गरुड़ध्वज की स्थापना करना व्रज संस्कृति के तत्कालीन व्यापक प्रभाव का सूचक है। इस अध्याय मे उपर्युक्त सभी महत्वपूर्ण घटनाओ का उल्लेख करने के उपरात अत मे इस दीर्घ काल की उल्लेखनीय उपलब्धियो की विस्तृत समीक्षा की गई है।

द्वितीय अध्याय 'पूर्व मध्य काल' मे विक्रमपूर्व स० ४३ से विक्रम सं० ६०० तक की घटनाएँ वर्णित है। उस काल मे व्रजमडल शूरसेन प्रदेश की अपेक्षा 'मथुरामडल' अथवा 'मथुरा राज्य' कहा जाने लगा था। इस अध्याय के आरंभ मे शक और कुषाण जैसी विदेशी जातियो के आक्रमण और उनके द्वारा यहाँ राज्य स्थापन करने का उल्लेख किया गया है। उन विदेशी जातियो ने पहिले व्रज संस्कृति को कुछ क्षति पहुँचाई थी, किंतु बाद मे उसके आकर्षक प्रभाव से वे ऐसे पराभूत हुए कि उन्होने भारतीयो से भी अधिक उसकी प्रगति मे योग दिया था। शक राजमहिषी कुमुदस (कंबोजिका) ने मथुरा मे धार्मिक कार्यों के लिए स्तूप और विहार का निर्माण कराया और उसके पुत्र सोडास (सुदास) के शासन-काल मे भागवत धर्म के अनुयायी किसी वसु नामक धार्मिक जन ने कृष्ण-जन्मस्थान पर भगवान् वासुदेव के चतु शाला महा स्थान (मंदिर) मे

तोरण और वेदिका की व्यवस्था की थी। कुषाण काल मे निर्मित कृष्ण-लीला का एक शिला-खड भी मिला है, जिसे अब तक उपलब्ध श्री कृष्ण की सबसे प्राचीन मूर्ति कहा जा सकता है। मथुरा-मडल मे वासुदेव कृष्ण के मदिर और उनकी मूर्ति की विद्यमानता के ये सबमे प्राचीन प्रमाण हैं, जो इतिहास और पुरातत्त्व के साक्ष्य मे अब से प्राय दो हजार वर्ष पहिले के सिद्ध होते है। कुषाण काल मे और विशेष कर सम्राट कनिष्क के शासन मे प्राचीन व्रज अर्थात् मथुरामडल की बडी सास्कृतिक प्रगति हुई थी। उस काल मे यहाँ व्यापार–वाणिज्य के साथ ही साथ धर्मोपासना और विद्या-कला की भी बडी उन्नत अवस्था थी। मूर्ति कला के लिए तो मथुरा नगर भारतवर्ष मे सब से बडा केन्द्र माना जाता था। उस काल के मथुरामडल की सास्कृतिक समृद्धि ने समस्त देश को चमत्कृत कर दिया था। कुषाणो का विदेशी शासन भारत के नाग राजाओ द्वारा समाप्त किया गया। यादव गण के पश्चात् कदाचित नागो ने ही मथुरामडल मे स्वाधीन राज्य की स्थापना की थी; अत उनका शासन काल प्राचीन व्रज के इतिहास के लिए बडा महत्वपूर्ण है। नागो के पश्चात् गुप्तो का गौरवशाली शासन आरभ हुआ। गुप्त काल भारतवर्ष के इतिहास मे 'स्वर्ण युग' के नाम से प्रसिद्ध है, क्यो कि गुप्त सम्राटो के शासन मे इस देश की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, विद्या विषयक और कला सबधी उन्नति चरमसीमा पर पहुँच गई थी। उनकी राजधानी प्राचीन मगध का प्रसिद्ध नगर पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) थी। परम भागवत गुप्त सम्राटो द्वारा व्रज की प्राचीन सस्कृति की प्रगति को भी बडा बल मिला था। महान् गुप्त सम्राट चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर एक भव्य मदिर बनवाया था, जो ५ वी शताब्दी से ११ वी शताब्दी तक वासुदेव कृष्ण की उपासना का प्रमुख केन्द्र रहा था और जिसने व्रज की प्राचीन सस्कृति और धार्मिक भावना के प्रसार मे बडा योग दिया था। दिल्ली मे कुतुब मीनार के निकट मेहरौली नामक स्थल पर एक प्राचीन लौह स्तभ है, जिस पर किसी 'चद्र' राजा की प्रशस्ति अकित है। यह निश्चित् है कि वह स्तभ किसी अन्य स्थल से हटा कर वहाँ लगाया गया है, किंतु वह पहले किस स्थान पर था, इसके सबध मे विद्वानो मे बडा विवाद है। हमारा अनुमान है, वह लौह स्तभ वास्तव मे 'विष्णुध्वज' है, जिसे चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने यशस्वी पिता समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के साथ मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान वाले अपने मदिर मे लगवाया था। इस विषय पर विद्वानो को विचार करना चाहिए। गुप्त शासन के अतिम काल मे विदेशी बर्बर हूणो ने मथुरामडल पर भीषण आक्रमण किया था, जिससे यहाँ की बडी सास्कृतिक हानि हुई थी। हूण लोग पश्चिमोत्तर सीमात और पचनद प्रदेश मे धूँआधार करते हुए तूफान की सी तेजी से मथुरामडल मे आये थे और यहाँ भीषण लूट-मार कर मध्य भारत तक बढ गये थे। अत मे मडसर (मालवा) के वैश्य जातीय वीरश्रेष्ठ यशोधर्मन ने उन्हे पराजित किया था। उसके बाद हूण लोग भारतीय धर्म और सस्कृति को स्वीकार कर यहाँ बस गये और यहाँ की विभिन्न जातियो मे घुल-मिल गये थे। हूणो की एक बहुत बडी सख्या व्रज सस्कृति को स्वीकार कर मथुरा मडल मे भी बस गई थी। मथुरा नगर के 'मिहारपुरा' मुहल्ला मे सभवत पहले हूणो की ही बस्ती थी और हूण नेता 'मिहिर कुल' के नाम पर उस मुहल्ला का नामकरण हुआ होगा। हूणो को पराजित करने वाला वीरवर यशोधर्मन भारत के गौरवशाली विक्रमादित्यो की परपरा मे अतिम था। उपर्युक्त इतिहास प्रसिद्ध घटनाओ के विशद वर्णन के अनतर इस अध्याय के अत मे उस काल की कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियो की समीक्षा की गई है।

तृतीय अध्याय 'मध्य काल' मे विक्रम स० ६०० से १२६३ तक की घटनाएँ लिखी गई हैं। इस काल मे भारत की राजनैतिक गति-विधियो का केन्द्र पाटलिपुत्र (.पटना ) की अपेक्षा गंगा-यमुना के दोआव स्थित कान्यकुब्ज (कन्नौज) हो गया था और वहाँ का यशस्वी शासक हर्ष-वर्धन अतिम भारतीय सम्राट था। उस काल मे चीन का बौद्ध यात्री हुएनसांग भारत–भ्रमण के लिए आया था। उसका लिखा हुआ यात्रा-वृत्तात उस काल की भारतीय स्थिति को जानने के लिए बडा उपयोगी है। वह विदेशी यात्री सं० ६९२ मे मथुरा भी आया था। उसने मथुरामडल की तत्कालीन स्थिति के सबध मे जो कुछ लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि ७ वी शताब्दी मे 'मथुरा राज्य' एक बडी राजनैतिक इकाई था। उसकी सीमाएँ प्राय वही थी, जो आजकल के 'सास्कृतिक ब्रज' अथवा 'ब्रजभाषा क्षेत्र' के अधिकाश भाग की है। उस समय का मथुरा राज्य हर्ष के साम्राज्य का एक भाग था, अथवा स्वाधीन राज्य, इसके संबध मे विद्वानो मे मतभेद है। हर्षवर्धन के पश्चात् इस देश मे जो अनेक युगातरकारी घटनाएँ हुई थी, उनमे तीन ऐसी है, जिन्होने मथुरामडल को भी बडा प्रभावित किया था। वे घटनाएँ थी—१ बौद्ध धर्म का पतन और उसकी भारत मे समाप्ति, २. राजपूत राजाओ का उदय और उनके विभिन्न राज्यो की स्थापना, ३. इस्लाम मजहब का प्रसार और मुसलमानो का भारत पर आक्रमण। बौद्धधर्म का पतन होने पर पौराणिक (हिंदू) धर्म का उत्थान हुआ था और मथुरा उसका प्रमुख केन्द्र बन गया था। राजपूतो के विविध राज्यो की स्थापना से मथुरामडल का राजनैतिक महत्व तो कम हो गया, किंतु उसका धार्मिक महत्व बहुत बढ गया था। उसका कारण यह था कि उस काल के राजपूत राजा गण प्राय: उसी पौराणिक धर्म के अनुयायी थे, जिसका मथुरामंडल एक बडा केन्द्र था। मुसलमानो के आक्रमण से इस देश की जो भीषण आर्थिक, धार्मिक और सास्कृतिक क्षति हुई थी, उसका कुफल मथुरामंडल को सबसे अधिक भोगना पडा था। मुसलमान आक्रमणकारियो मे महमूद गजनवी पहिला व्यक्ति था, जिसने अपनी भयकर लूट-मार से स० १०७४ मे मथुरामंडल का सर्वनाश कर दिया था। उस बर्बर लुटेरे ने अपने मजहबी तास्सुब और लूट के लालच से मथुरा के सैकडो समृद्धिशाली मदिर-देवालयो के साथ कृष्ण–जन्मस्थान वाला वह प्रसिद्ध मदिर भी नष्ट कर दिया था, जिसे प्राय: ६ शताब्दियो पूर्व चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने बनवाया था। उन मदिरो मे भेट से प्राप्त जो विपुल सपत्ति कई शताब्दियो से एकत्र होती आ रही थी, उस सबको उस विदेशी आक्रमणकारी ने एक ही झपाटे मे लूट लिया और उसे वह सैकडो ऊँटो पर लाद कर गजनी ले गया। महमूद गजनवी के धुँआधार आक्रमण और उसकी भीषण लूट का वर्णन जिन मुसलमान इतिहास-लेखको ने किया है, उनमे से एक अल-उत्वी ने मथुरा के तत्कालीन वीर सेनानायक कूलचद (कुलचद्र) का बडा आश्चर्यजनक वृत्तात लिखा है। उसके कथन से ज्ञात होता है कि कुलचंद्र एक बडे राज्य का स्वामी था। उसके अधिकार मे विशाल सेना थी और सुदृढ दुर्ग था, जो वर्तमान महाबन के निकट बना हुआ था। उस समय महाबन मे बडे-बडे भवन एव मदिर थे और मथुरा नगर तो सैकडो समृद्धि-शाली भवनो एव मदिर-देवालयो का एक विशाल केन्द्र ही था। कुलचद्र ने मथुरामडल की प्रति-रक्षा के लिए महमूद गजनवी से बडा भीषण युद्ध किया, जिसमे उस वीर-पुंगव का बलिदान हुआ था। कुलचद्र के विषय मे अल-उत्वी के उक्त कथन के अतिरिक्त कोई अन्य ऐतिहासिक उल्लेख अथवा पुरातात्विक प्रमाण अभी तक प्राप्त नही हुआ है। ऐसा अनुमान होता है, वह मथुरामंडल के प्राचीन यादव वंश का कोई वीर पुरुष था, जिसने उस काल मे अपने स्वाधीन राज्य की स्थापना

की थी। कुलचद्र के विषय मे पूरी तरह अनुसधान होना आवश्यक है, क्यो कि मथुरामडल के राजनैतिक इतिहास के लिए उसका बडा महत्व है। यहाँ के इतिहास मे कृष्ण कालीन अथवा परवर्ती यादवो और नागो के स्वाधीन राज्यो के पश्चात् कुलचद्र की स्वायत्त सत्ता का ही उल्लेख मिलता है। महमूद के आक्रमण के पश्चात् मथुरामडल पर कन्नौज के गाहडवाल वशीय राजाओ का अधिकार रहा था। उस वश के राजा विजयपाल ने मथुरा के श्रीकृष्ण–जन्मस्थान मे महमूद गजनवी द्वारा तोडे हुए मदिर के ध्वसावशेषो पर एक नये मदिर का निर्माण स० १२१२ मे कराया था। विजयपाल के पश्चात् जयचद्र कन्नौज का राजा हुआ था। उसका समकालीन दिल्ली का विख्यात राजा पृथ्वीराज था। उस काल मे वे दोनो बडे वीर और शक्तिशाली राजा थे, किंतु दुर्भाग्य से आपस मे ही लडते रहते थे। उनके शासन काल मे मुहम्मद गोरी का भारत पर आक्रमण हुआ। उसका प्रतिरोध पृथ्वीराज और जयचद जैसे प्रबल राजपूत राजाओ ने किया था, किंतु पारस्परिक द्वेष और अन्य कारणो से वे एक-एक कर पराजित हो गये। उसके फल स्वरूप उत्तर भारत के अधिकाश भाग के साथ मथुरामडल मे भी मुसलमानी राज्य की स्थापना का मार्ग साफ हो गया। उपर्युक्त सभी प्रमुख घटनाओ के उल्लेख के अनतर इस अध्याय के अत मे कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियो की समीक्षा की गई है। उसमे इस विषय पर विस्तार से बतलाया गया है कि अनेक शक्तिशाली राजपूत राजाओ के होते हुए भी विदेश से आये हुए मुसलमान आक्रमणकारी यहाँ किस प्रकार अपना राज्य स्थापित करने मे सफल हुए थे।

चतुर्थ अध्याय 'उत्तर मध्य काल' से सबधित है, जिसमे स० १२६३ से स० १८८३ तक की घटनाओ का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय के आरभ मे मुसलमानी राज्य की स्थापना और उसके विस्तार का वर्णन है। मुसलमानी राज्य के आरभकर्त्ता दिल्ली के सुलतानो का शासन एक प्रकार से 'फौजी और मजहबी तानाशाही' का था, जो तलवार के बल पर शरीयत के अनुसार किया जाता था। सुलतानो का उद्देश्य भारत को इस्लामी राज्य बनाना और यहाँ की हिंदू जनता को बलपूर्वक मुसलमान करना था। मथुरामंडल उस काल मे हिंदू धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था, अत इस धार्मिक भू-भाग पर उनकी सदा ही क्रूर दृष्टि रही थी। यह बडे सुयोग और सौभाग्य की बात हुई कि दक्षिण के कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यो ने उसी काल मे कृष्ण–भक्ति का व्यापक प्रचार करने के लिए श्री कृष्ण के लीला-धाम मथुरामंडल मे ही अपने केन्द्र बनाये थे। इस प्रकार सुलतानो के कठोर शासन की परवाह न कर उनकी नाक के नीचे ही उन्होने अपना भक्ति-अभियान चलाया था। उस समय मथुरामडल का नया नाम 'व्रज' अथवा 'व्रजमडल' हो गया था, जो अभी तक प्रचलित है। उस काल मे यहाँ पर विविध धर्मो के अनेक मदिर–देवालय थे, जिन्हे सुलतानो ने एक-एक कर नष्ट कर दिया था और नये मदिरो के निर्माण पर रोक लगा दी थी। व्रज के विख्यात कामवन की पहाडी पर भगवान् विष्णु का एक अत्यत कलापूर्ण मदिर था, जिसे यादव राजा पर्जन्यदामा ने स० १२५० के लगभग बनवाया था। उस सुदर देवालय को सुलतान इल्तमश ने क्षतिग्रस्त कर भ्रष्ट किया और फिर फीरोज तुगलक ने उसे धराशायी कर उसके मसाले से एक मस्जिद बनवाई थी। मथुरा के असिकुडा घाट पर बने हुए प्राचीन मदिर को अलाउद्दीन खिलजी की आज्ञा से स० १३५४ मे तोडा गया और उसके स्थान पर भी एक मसजिद बनवा दी गई। मथुरा के श्रीकृष्ण–जन्मस्थान पर कन्नौज के राजा विजयपाल ने सवत्

१२१२ मे जो मदिर बनवाया था, उसे फीरोज तुगलक ने खंडित किया और फिर सिकदर लोदी ने स० १५७३ मे उसे पूर्णतया नष्ट कर दिया था। दिल्ली के सुलतानो मे सिकदर लोदी का मजहबी अत्याचार सबसे बढा हुआ था। उसने ब्रज के हिंदुओ के सभी धार्मिक कृत्यो पर पाबदी लगा दी थी; यहाँ तक कि उसकी आज्ञा से हिंदुओ का यमुना-स्नान करना और वहाँ के घाटो पर वाल बनवाना तक वर्जित था। मथुरा का काजी अपने क्रूर सैनिको के साथ विश्रामघाट पर डटा रहता था। वह स्नानार्थियो को रोक कर उन्हे मुसलान बनने के लिए बाध्य करता था। उसके उत्पीडन के कारण ब्रज के हिंदुओ मे वडा असतोष था। नाभाजी कृत 'भक्तमाल' के अनुसार निबार्क सप्रदाय के आचार्य श्री केशव काश्मीरी भट्ट ने और बल्लभ सप्रदायी 'वार्ता' के अनुसार श्री बल्लभाचार्य ने सिकदर लोदी की उस मजहबी तानाशाही के विरोध करने का साहस किया और अपने अपूर्व आत्म बल से उसमे सफलता प्राप्त की थी। ऐसा ज्ञात होता है, उन दोनो महात्माओ के सम्मिलित प्रयास से उस काल मे ब्रज के हिंदुओ का वह कष्ट दूर हुआ था। सिकदर लोदी के शासन काल मे ही श्री बल्लभाचार्य जी ने ब्रज की गिरिराज पहाडी पर श्रीनाथ जी का नया मंदिर बनवाने का उपक्रम किया, जो उस काल की भयावह स्थिति मे बडे साहस का काम था। सुलतानो के कठोर शासन के पश्चात् सूर पठानो और मुगलो का उदार शासन आरभ हुआ था। उस समय दिल्ली की अपेक्षा आगरा मे राजधानी कायम की गई, जिससे ब्रजमडल के धार्मिक महत्व के साथ ही साथ उसका राजनैतिक महत्व भी बढ गया था। मुगल सम्राट अकबर ने हिंदुओ पर लगी हुई सुलतानी काल की सभी मजहबी पाबंदियाँ समाप्त कर दी थी। उसने ब्रज की जनता को अपने विश्वास के अनुसार धर्म-कर्म करने की पूरी स्वाधीनता प्रदान की और गो-बध को बद कर दिया। उसके शासन काल मे ब्रज मे कई शताब्दी पश्चात् नये मदिर-देवालय बनवाये गये थे। उसने यहाँ की विद्याओ और कलाओ की उन्नति मे भी बडा योग दिया था। इस प्रकार अकबर का शासन काल ब्रज सस्कृति के लिए स्वर्ण काल सिद्ध हुआ था। उसकी बुद्धिमत्तापूर्ण उदार नीति ने हिंदुओ के मन को ऐसा मोह लिया था कि वे मुगल साम्राज्य के निर्माण मे मुसलमानो से भी अधिक सहायक सिद्ध हुए थे। जहाँ राजा मानसिंह ने अपने बल-विक्रम से अकबर के साम्राज्य का विस्तार किया, वहाँ टोडरमल के बुद्धि-कौशल ने उसे प्रशासनिक सुदृढता प्रदान की थी। अकबर के पश्चात् जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन काल मे कुछ थोडे से परिवर्तन के साथ प्राय अकबर की नीति का ही पालन किया गया था, जिससे ब्रज संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास होता गया। जब औरंगजेब मुगल सम्राट हुआ, तब उसने अपनी मजहबी कट्टरता के कारण अपने पूर्वजो की उदार नीति के सर्वथा विरुद्ध आचरण किया था। उसके शासन काल मे ब्रज मे फिर मजहबी अत्याचार होने लगे और यहाँ की हिंदू जनता को सताया जाने लगा। औरगजेब ने सिकदर लोदी की भाँति ब्रज के हिंदुओ पर कडी पाबदियाँ लगा कर उन्हे अपनी इच्छानुसार धर्म-कर्म करने से बचित कर दिया था। उसने गो-बध करने की खुली छूट देदी, गैर मुसलमानो पर अमानवीय जजिया कर लगा दिया और मदिर-देवालयो को नष्ट करने का फरमान जारी किया। उसके आदेश से ब्रज के सभी विख्यात मदिर-देवालय नष्ट-भ्रष्ट किये जाने लगे। उन भीषण अत्याचारो से दुखी होकर ब्रज के अनेक धर्माचार्य अपने देव-विग्रह और परिकर के साथ ब्रज को छोड कर हिंदू राजाओ के राज्यो मे जा कर बस गये थे। उसी काल मे बल्लभ सप्रदाय के उपास्य श्रीनाथ जी तथा अन्य देव स्वरूप गोबर्धन और गोकुल से हटाये गये, जिससे ब्रज के वे समृद्धिशाली सास्कृतिक केन्द्र प्राय. ऊजड और

सुनसान हो गये थे। औरगजेबी शासन मे व्रज संस्कृति की ऐसी भारी क्षति हुई कि फिर उसका उत्तरोत्तर ह्रास ही होता गया। परवर्ती मुगल सम्राट मुहम्मदशाह के शासन काल मे जब जयपुर का सवाई राजा जयसिह स० १७७७ से स० १७८३ तक आगरा प्रात का सूबेदार रहा था, तब उसके राजकीय प्रभाव से व्रज की बिगडी हुई सास्कृतिक स्थिति मे कुछ सुधार हुआ। उसके उपरात स० १८१३–१४ मे अहमदशाह अब्दाली नामक एक अफगान आक्रमणकारी ने व्रज मे भयकर लूट-मार कर यहाँ पुन सर्वनाश का वातावरण उपस्थित कर दिया था। उसका ऐसा दुष्परिणाम हुआ कि ह्रासोन्मुखी व्रज संस्कृति फिर नही पनप सकी। मुसलमानी शासन के अत्याचारो ने व्रज की कृषिजीवी जाट जाति को एक सैनिक सगठन मे परिवर्तित कर दिया था। इस जाति ने सूरज-मल और जवाहरसिह जैसे वीर-पु गवो को जन्म दिया, जिन्होने व्रज मे स्वाधीन राज्य के संचालन के साथ ही साथ मुगलो की राजधानी दिल्ली पर आक्रमण कर अपने वीरत्व का डका बजाया था। जाट राजाओ मे असाधारण वीरता तो थी, किंतु उनमे राजनैतिक सूझ-बूझ और उदात्त सास्कृतिक चेतना की कमी थी, जिससे वे व्रज के सर्वागीण निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य नही कर सके थे। फिर भी उन्होने डीग, भरतपुर और गोवर्धन मे जो सु दर भवन बनवाये और व्रजभापा कवियो का सरक्षण किया, उनसे व्रज के स्थापत्य और काव्य को बडा प्रोत्साहन मिला था। व्रज की तत्कालीन स्थिति पर जाटो के अतिरिक्त मरहठो का भी बडा प्रभाव पडा। सुप्रसिद्ध मरहठा सेनापति महादजी सिंधिया कृष्णोपासक होने के साथ ही साथ व्रज सस्कृति का भी बडा प्रेमी था। उसने अपनी वीरता और बुद्धिमत्ता से मुगल सम्राट शाह आलम को अपने सरक्षण मे लेकर दिल्ली के लाल किले पर मरहठो का भगवा झंडा फहरा दिया था। किंतु पेशवा की अदूरदर्शिता और प्रधान मरहठा सरदारो की पारस्परिक ईर्ष्या से वह न तो मरहठा राज्य का कोई बडा हित-साधन कर सका और न व्रज सस्कृति के पुनरुद्धार मे ही सहायक हो सका। मुसलमानी शासन के शक्ति-हीन हो जाने पर उस काल की प्रबलतम मरहठा शक्ति को छत्रपति शिवाजी के आदर्शानुसार भारत मे 'हिंदू पातशाही' की स्थापना करने का स्वर्ण सुयोग मिला था। किंतु मरहठा सरदारो की फूट से विदेशी अगरेजो को भारत मे जम जाने का अवसर मिल गया और यह देश फिर परा-धीनता के बधन मे बँधने को विवश हुआ था। उस काल की बहु-सख्यक उपलब्धियो के कारण जहाँ व्रज सस्कृति का चरम विकास हुआ, वहाँ कतिपय अभावो के कारण उसका शोचनीय ह्रास भी होने लगा था। व्रजवासियो मे धर्म, साहित्य और कला के प्रति असीम अनुराग था, किंतु जाटो के अतिरिक्त यहाँ के अन्य लोगो मे वीरत्व की भावना का प्राय अभाव रहा था। व्रज के धर्माचार्यो और भक्त कवियो ने लोगो मे उच्चकोटि की धार्मिक चेतना और कलाभिरुचि जागृत करने मे जितना उत्साह दिखलाया था, उसका शताश भी यदि वे अत्याचारियो का विरोध करने की प्रेरणा देने मे दिखलाते, तो व्रज सस्कृति का वैसा भीषण ह्रास न होता। ऐसा जान पडता है, उस काल के धार्मिक नेता 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते'—अर्थात् शस्त्रो से रक्षित राष्ट्र मे ही शास्त्रो का चिंतन सभव है—जैसे प्राचीन नीति वाक्य को भूल गये थे। यह बडे आश्चर्य की बात है कि उस काल मे निर्मित व्रजभापा के विशाल वाड्मय मे आततायियो के अमानुषिक अत्याचारो के विरोध की भावना तो दूर रही, उनके प्रति आक्रोश तक का अभाव दिखलाई देता है। इस अध्याय मे उस काल की सभी महत्वपूर्ण घटनाओ के विवेचन के साथ उनकी उपलब्धियो और उनके अभावो की भी समीक्षा की गई है।

पचम अध्याय 'आधुनिक काल' मे स० १८८३ से सं० २०२२ तक की घटनाओ का उल्लेख किया गया है। इसमे पहले अ गरेजी कंपनी द्वारा ब्रजमंडल पर अधिकार कर यहाँ शासन कायम करने, अ गरेजी सत्ता के विरुद्ध भारतीयो के प्रथम विद्रोह मे ब्रजवासियो का योग देने और कपनी राज्य के समाप्त होने पर वृटिश शासन की स्थापना होने का सामान्य उल्लेख है। फिर ब्रज के जन-जीवन पर उन घटनाओ की जो भली-बुरी प्रतिक्रिया हुई, उसका सक्षिप्त वर्णन किया गया है। उसके उपरात उस काल की ब्रज की धार्मिक दुर्दशा और सास्कृतिक अवनति का कारण बतलाते हुए उन समृद्धिशाली भक्तजनो, सास्कृतिक एव धार्मिक महापुरुषो तथा धर्म-प्राण विद्वानो का उल्लेख किया गया है, जिन्होने ब्रज की तत्कालीन स्थिति को सुधारने का भारी प्रयत्न किया था। वृटिश काल मे जब यहाँ शाति स्थापित हो गई, तब विभिन्न स्थानो के समृद्धिशाली धार्मिक जन ब्रज की पावन भूमि मे निवास करने के लिए उसी प्रकार आये थे, जिस प्रकार वे कुछ शताब्दियो पूर्व के शाति-काल मे आते रहे थे। ऐसे महानुभावो मे सर्वश्री गोकुलदास पारिख, लाला बाबू, नंदकुमार वसु, शाह कु दनलाल ( ललित किशोरी ), राजा पटनीमल, सेठ जयनारायण—लक्ष्मी-नारायण पोद्दार, राजर्षि बनमाली बाबू और भैया बलवंतराव सिंधिया के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके द्वारा निर्मित मदिर-देवालयो तथा उनके विविध धार्मिक कार्यो ने ब्रज के सास्कृतिक पुनरुत्थान मे बडा योग दिया है। श्री गोकुलदास पारिख द्वारा मथुरा के जिन सेठो की परपरा प्रचलित हुई, उनके द्वारा निर्मित श्री रग जी और श्री द्वारकाधीश जी के मदिर ब्रज की धार्मिक भावना के प्रमुख केन्द्र है। ब्रज के अन्य सास्कृतिक महापुरुष ज्यो० अमरलाल—माधवलाल, दडी स्वामी विरजानद, गो० मधुसूदन जी—राधाचरण जी तथा गोपाललाल गोस्वामी ने ब्रज सस्कृति के विभिन्न क्षेत्रो मे अपना महत्वपूर्ण योग दिया था। अ गरेजी कपनी और वृटिश राज्य के शासन काल मे ब्रज मे जो अ गरेज अफसर रहे, उन्हे ब्रज सस्कृति से कोई प्रेम नही था, अत॰ वे इसकी प्रगति के लिए प्रयत्नशील नही हुए। उनमे एक श्री ग्राउस ही अपवाद है, जो ब्रज के सौभाग्य से यहाँ का जिलाधीश होकर आया था। वह निश्चय ही ब्रज सस्कृति के लिए बडा सहायक सिद्ध हुआ था। इस अध्याय के अत मे वृटिश शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय आदोलन की गति-विधि और महात्मा गाधी के नेतृत्व मे स्वाधीनता प्राप्ति के उल्लेख के साथ ब्रज के सास्कृतिक निर्माण की वर्तमान स्थिति और भविष्यत् सभावना पर संक्षिप्त रूप से विचार किया गया है। स्वाधीन भारत के वर्तमान शासको का जितना ध्यान देश के आर्थिक पुनर्निर्माण की ओर है, उतना सास्कृतिक पुनरुत्थान की ओर नही है, फिर भी हमे आशा है कि वे ब्रज सस्कृति के महत्व को समझ कर यहाँ की सास्कृतिक प्रगति की भी समुचित व्यवस्था करेगे। कारण यह है कि किसी भी देश का पुनर्निर्माण उसके सास्कृतिक अभ्युदय के बिना अधूरा ही माना जाता है और इस सबध मे ब्रज सस्कृति बडा महत्व-पूर्ण योग दे सकती है। इस अध्याय मे वर्णित यहाँ की महत्वपूर्ण घटनाओ के उल्लेख के साथ 'ब्रज का इतिहास' नामक यह दूसरा खड समाप्त हुआ।

इस भाग के अत मे विस्तृत अनुक्रमणिका है, जिसमे 'ब्रज सस्कृति की भूमिका' और 'ब्रज का इतिहास' नामक दोनो खडो की पृथक्-पृथक् नामानुक्रमणिकाएँ और ग्रंथानुक्रमणिकाएँ है। इन्हे सदर्भ की सुविधा के लिए बडे परिश्रम से प्रस्तुत किया गया है। दोनो खडो मे यथा स्थान अनेक चित्र है, जिनसे इस भाग की उपयोगिता बढ गई है।

× × ×

इन भाग की रचना मे मैंने जिन ग्रथो से सहायता ली है, उनके नाम का उल्लेख यथा स्थान और अत मे दी हुई सहायक ग्रथो की सूची मे किया गया है। मैं उनके विद्वान लेखको के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। भारत कला भवन वाराणसी और पुरातत्त्व सग्रहालय मथुरा से मुझे ब्लाक बनवाने के लिए चित्र, छापने के लिए ब्लाक और अध्ययन के लिए अनेक ग्रथ प्राप्त हुए हैं, जिनके लिए मैं उनके अध्यक्ष आदरणीय राय कृष्णदास जी और डा० नीलकठ पुरुषोत्तम जोशी का अत्यत आभारी हूँ। इन ग्रथ मे मुद्रित कुछ चित्रो के ब्लाक गो० व्रजरमण जी मथुरा, गो० माधवराय जी पोरबदर, अधिकारी व्रजवल्लभ शरण जी वृदावन, श्री गोपालदास जी झालानी इदौर, वैद्य गोपालप्रसाद जी कौशिक गोवर्धन, गो० ललिताचरण जी वृदावन और कन्हैयालाल जी मथुरा से प्राप्त हुए हैं। इनके लिए मैं उक्त सज्जनो का अत्यत आभार मानता हूँ। श्री उदयशकर जी शास्त्री ने ग्राउज के दुर्लभ ग्रथ 'मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर' (तृ. स.) की सुदरप्रति और श्री बालमुकुंद चतुर्वेदी से व्रजयात्रा सबधी कुछ पुस्तके एव उपयोगी सूचनाएँ प्राप्त हुई, जिनके लिए मैं उन्हे धन्यवाद देता हू। मैं सबसे अधिक आभारी विद्वद्वर डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल और पद्मभूषण राय कृष्णदास जी का हूँ, जिन्होने इस ग्रथ के लिए 'प्रस्तावना' और 'दो शब्द' लिखने की कृपा की है। डा० अग्रवाल जी ने तो अपनी रुग्णावस्था मे शैया पर लेटे हुए ही अपने वक्तव्य को लिखवाया था। उनके प्रति समुचित कृतज्ञता प्रकट करना किसी प्रकार भी सभव नही है। जिन अन्य सज्जनो ने मुझे इस भाग की रचना मे किसी भी प्रकार की सहायता मिली है और जिनके नामो का स्मरण इस समय मुझे नहीं हो रहा है, उन सबके लिए मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। असल मे यह ग्रथ बहुसख्यक विद्वानो की विद्वत्ता का ही प्रसाद है, जिसे वितरण करने भर का काम मैंने किया है। अपने कथन के आरभ मे मैंने इस ग्रथ की रचना के पूर्ण हो जाने पर आत्म सतोष व्यक्त किया है; किंतु वह तब तक अधूरा है, जब तक इस ग्रथ के सभी खड छप कर प्रकाशित नही जाते हैं। किसी भी बड़े ग्रथ के मुद्रण और प्रकाशन का कार्य उसकी रचना से कम श्रम-साध्य नही होता है। यह हर्ष की बात है कि शेष खडो की छपाई का काम भी तेजी से हो रहा है और भगवान् की कृपा से वे शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।

साहित्य सस्थान, मथुरा।
आषाढ शु० १५ (व्यास पूर्णिमा), स० २०२३

—प्रभुदयाल मीतल

# प्रस्तावना

मेरे अभिन्न मित्र श्री प्रभुदयाल जी मीतल सच्चे अर्थों मे ब्रजवासी है। उनका जन्म मथुरा पुरी मे हुआ है और उनके श्वास-प्रश्वास मे ब्रजभूमि का आदर्श बसा हुआ है। उन्होने ब्रज के वृहत् सास्कृतिक इतिहास की रचना का शुभ सकल्प किया और कई वर्षो के अथक परिश्रम से इसे पूरा कर डाला। यह कार्य बहुत बडा था और अब तक किसी भी व्यक्ति ने इसे करने का साहस नही किया था। मुझे हर्ष है, मीतलजी ने अकेले ही इस महान् कार्य को पूरा कर लिया! ब्रज सस्कृति से सबधित यह ग्र थ कई खडो मे समाप्त हुआ है। इसमे हमे ब्रज का ऐतिहासिक, धार्मिक, कला विषयक, साहित्यिक और लोक जीवन सबधी विशद विवेचन मिलता है। इस प्रकार यह ग्र थ ब्रज का विश्वकोश ही बन गया है। इस वृहत् ग्र थ के प्रथम दो खड—ब्रज सस्कृति की भूमिका और ब्रज का इतिहास—इस भाग मे प्रकाशित हो रहे है। शेष चार खड—ब्रज के धर्म-सप्रदाय, ब्रज की कलाएँ, ब्रज का साहित्य और ब्रज की लोक सस्कृति भी अन्य भागो मे यथा समय प्रकाशित होगे।

ब्रज सस्कृति के अनुपम महत्व की अत्यत दीर्घ कालीन परपरा रही है। ब्रजभूमि और मथुरा पुरी का किसी समय जो दिव्य रूप था, उसका लगभग ढाई सहस्त्र वर्षो का इतिहास भी पुरातत्व और साहित्य की सम्मिलित साक्षी से उपलब्ध है। ऐसा सौभाग्य और गौरव भारत के किसी अन्य स्थान को प्राप्त नही है। ऐसी दशा मे ब्रजभूमि के सर्वांगीण परिचय के लिए भारतीय जनता का उत्सुक होना स्वाभाविक है। यह उत्सुकता विगत वर्षो मे उत्तरोत्तर बढती रही है। ब्रज के इतिहास मे विकास और ह्रास तथा उन्नति एव अवनति के अनेक काल हुए है, किंतु इधर इसकी बहुमुखी उन्नति का युग पुन आया है। ब्रज सस्कृति के भव्य रूप और ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य के प्रति लोगो की जिज्ञासा मे वृद्धि हुई है। मथुरा के सग्रहालय का जो विकास और विस्तार हुआ है, उसका यश देश-विदेश मे निरतर बढ रहा है। कटरा केशवदेव या कृष्ण-जन्मभूमि के उद्धार का भी प्रचुर प्रयत्न हो रहा है। ऐसी स्थिति मे इस प्रकार के विशिष्ट ग्र थ की भी नितात आवश्यकता थी। ईश्वर की कृपा से इसकी सामयिक पूर्ति मीतल जी के सत्प्रयास द्वारा हुई है।

प्राचीन परिभाषा के अनुसार जनपद के दो भाग होते थे—एक नगर या पुर और दूसरा उसके चारो ओर ग्रामो का मडल या राष्ट्र। इस प्रकार मथुरा पुरी शूरसेन जनपद (प्राचीन ब्रजमडल) की राजधानी थी। उसकी जनपदीय सीमा चौरासी कोस की कही जाती है, जो आज तक वडी यात्रा के अतर्गत है। मथुरा पुरी की अंतरगृही यात्रा छोटी परिक्रमा के रूप मे प्रचलित है।

मथुरा का आदि कालीन सन्निवेश यमुना के दक्षिण तट पर हुआ था। कहते हैं, उससे पूर्व मधु वन (वर्तमान महोली) मे लवण नामक असुर ने कुछ गुफाएँ बनाई थी और वही वह निवास करता था। देवो की प्रार्थना पर राम ने अपने छोटे भाई शत्रुघ्न को लवणासुर का उपद्रव शात करने के लिए वहाँ भेजा और उन्होने उसको परास्त कर मथुरा नगरी का सन्निवेश किया, जो 'देव निर्मिता पुरी' कही गई। वाल्मीकि रामायण मे इसका उल्लेख हुआ है। मथुरा सन्निवेश की एक भौगोलिक विशेषता है, और वह यह कि मथुरापुरी प्राच्य और उदीच्य के बीच का देहली–द्वार थी। मध्य देश के सार्थवाह और व्यापारी पूर्व से पश्चिम की ओर यात्रा करते समय मथुरा के भाडागारिको से सपर्क करते हुए आते–जाते थे। उनसे मथुरा नगरी का बाह्य प्रभाव बढ गया था। किंतु मथुरा की जन्म-कुडली मे सबसे बडा प्रभावोत्पादक योग यह था कि यहाँ भगवान् श्री कृष्ण का जन्म हुआ। वह महाभारत के युग की घटना है। उपलब्ध प्रमाणो से ज्ञात होता है कि कृष्ण-जन्म के कारण मथुरा का यश उत्तर भारत मे सर्वत्र फैल गया था। सच तो यह है कि काल–क्रम से मथुरा पुरी भागवत धर्म का महान् केन्द्र बन गई और तब इसका यश न केवल उत्तर भारत मे, वरन् दक्षिण के पल्लव वशीय राजाओ के राज्य मे भी व्याप्त हो गया। वहाँ तमिल भाषा के सगम साहित्य मे भगवान् कृष्ण और गोपियो के साथ उनके नृत्य–गान के उल्लेख पाये जाते हैं। तमिल भाषा के 'शिलप्पाधिकारम्' ग्रथ मे इस विषय का बहुत अच्छा वर्णन हुआ है।

उत्तर भारत मे मथुरा के वैष्णव धर्म का प्रभाव कई सौ मील के घेरे मे व्याप्त था। पश्चिम की ओर दक्षिण–पूर्वी राजस्थान की मध्यमिका नगरी मे वासुदेव और सकर्षण अर्थात् कृष्ण–बलराम की पूजा का एक केन्द्र स्थापित हुआ, जिसे 'नारायण वाटक' अर्थात् नारायण का बाडा नाम दिया गया। सौभाग्य से वह स्थान आज भी सुरक्षित है। उसके बीच मे ईंटो के मच पर पत्थर की पूजा–शिला और चारो ओर बडे–बडे पत्थरो को जोड कर बनाई हुई एक प्राकार या दीवार थी, जो आज भी है। ऐसे ही मथुरा से दक्षिणा पथ को जाने वाले मार्ग पर प्राचीन राजधानी विदिशा के निकट भगवान् विष्णु के मदिर और गरुडध्वज स्थापित किये गये, जिनके अवशेष अब भी विद्यमान हैं। इस प्रकार विक्रम से दो शती पूर्व के काल मे मथुरा का प्रभाव बाल सूर्य की भाँति निरतर बढ रहा था। उसी समय जैन और बौद्ध धर्मो के अनुयायियो ने भी मथुरामडल मे अपने केन्द्र बनाये थे, जहाँ उन्होने स्तूपो एव प्रासादो का निर्माण किया था। उनके आदोलन का प्राण भी भक्ति धर्म था, किंतु उसका मूर्त रूप पत्थर की प्रतिमाओ द्वारा प्रकट किया गया। पाषाण शिल्प का वरदान पाकर मथुरा का वैभव नये रूप मे जगमगाने लगा। उस समय की बनाई हुई सहस्रो मूर्तियाँ आज तक सुरक्षित हैं। इन शिला पट्टो पर मथुरा के इतिहास की अमर कहानी अकित है, जिसका उद्घाटन इस सास्कृतिक इतिहास के कला खंड मे किया गया है।

भगवान् कृष्ण समस्त विश्व को प्रकाश देने वाले दिव्य दीपक हैं। उन्हे ज्ञान–सूर्य कहना भी उपयुक्त होगा। उनका गीता शास्त्र मानव के लिए कर्म का अमर सदेश देता है। भगवान् बुद्ध भी एशिया खड मे ज्ञान–ज्योति का विस्तार करने वाले महापुरुष थे। उनकी मूर्ति की कल्पना भी सर्वप्रथम मथुरा मे ही हुई और यहाँ से वह एशिया के अनेक देशो मे फैल गई। मथुरा के शिल्पियो ने बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्मो की दिव्य मूर्तियो का निर्माण कर भारतीय

कला को एक नया मोड दिया था। मथुरा के बौद्ध अभिलेख इस बात के साक्षी है कि विक्रम की आरभिक दो शतियो के महान् धार्मिक आदोलन के अतर्गत सर्वास्तिवादी और महासघिक आचार्यो ने मथुरा की धार्मिक प्रेरणा को अपनी शक्ति से भर दिया था। इसी प्रकार जैन सघ ने भी अपने गण, कुल और शाखाओ के रूप मे मथुरा को अपना विशिष्ट कार्यक्षेत्र बनाया था। उसका व्यौरा मथुरा मे उपलब्ध जैन मूर्तियो की चरण–चौकियो के लेखो मे मिलता है। ब्राह्मण धर्म के भागवत आदोलन का तो शिरोमणि केन्द्र ही मथुरा मे बना था, जहाँ भक्ति धर्म के वे बीज अकुरित हुए, जिनसे गुप्त युग का धार्मिक स्वरूप प्रकट होकर लहलहाने लगा। उसे अगीकार कर मध्यदेश के चद्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे गुप्त सम्राट अपने को 'परम भागवत' कह कर गौरवान्वित हुए थे। मथुरा के कृष्ण--जन्मस्थान पर चद्रगुप्त ने विष्णु का एक महाप्रासाद बनवा कर भगवान् कृष्ण के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की थी। विक्रम की प्रथम शती के लगभग पाशुपत सप्रदाय के आचार्यो ने भी मथुरा को शैव धर्म का एक बड़ा क्षेत्र बना कर यहाँ शैव मूर्तियो और मदिरो की स्थापना की थी। वह आदोलन गुप्त काल मे और भी बलशाली हो गया था।

इस प्रकार मथुरा की पुरातत्व सामग्री से यह भली भाँति प्रकट होता है कि भारत के धार्मिक क्षेत्र मे ब्रज ने मौलिक निर्माण का कितना बडा काम किया है। यहाँ के चारो धार्मिक सप्रदाय—जैन, बौद्ध, वैष्णव और शैव—ब्रज के सास्कृतिक स्वस्तिक की चार भुजाएँ थी। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ब्रज के धार्मिक महा सुमेरु की जल–धाराओ का स्रोत मथुरा के धर्मप्राण नागरिको का हृदय था; जिसकी परपरा ब्रज मे सदैव बनी रही। वही धर्मप्राण हृदय वैष्णव भक्ति के रूप मे विकसित हुआ था। विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी मे वैष्णव धर्म के अनेक आचार्यो और सतो ने ब्रजभूमि मे अपने केन्द्र बना कर कृष्णोपासना के जिस नवीन भक्ति–धर्म का उपदेश दिया, उसकी कथा बहुत विशाल है। भगवान् श्रीकृष्ण की गोकुल–वृंदावन की विविध लीलाओ को केन्द्र मे रख कर उनके दिव्य लीलामय वपु का विकास श्रीमद्भागवत मे पहिले ही पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। फिर उसके साथ भक्तिरस का सयोग भी पूर्ण मात्रा मे आ गया था। मध्यकालीन आचार्यो और सतो ने उस भागवतीय भक्ति को नये रूप मे इतना अधिक विकसित किया कि ब्रज की महिमा समस्त भारतवर्ष के जन–मानस मे व्यापक रूप से बस गई। श्री वल्लभाचार्य और श्री चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण–भक्ति के उस स्वरूप का सर्वाधिक साक्षात्कार किया था। श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रेरित सूरदास और परमानददास ने तथा श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रेषित सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी ने साहित्य और जीवन के माध्यम से ब्रज मे हरि–भक्ति की अमृत--धारा का प्रादुर्भाव किया। फिर तो उनके अन्य सहयोगियो के साथ ही साथ निंबार्कीय, माध्व, राधावल्लभीय और हरिदासी आचार्यो एव भक्त महानुभावो ने धर्मोपासना और भक्ति–साहित्य का दिव्य स्रोत ही बहा दिया। उस काल मे देशज भाषाओ का पूरा विकास हो चुका था। उनके माध्यम से एक ओर चडीदास और विद्यापति ने, दूसरी ओर नरसी मेहता और मीराबाई ने तथा बीच मे तुलसीदास ने भक्ति धर्म की धारा को लोक के धरातल पर प्रबल वेग से प्रवाहित कर दिया था। उसके कारण बगभूमि से लेकर राजस्थान–गुजरात तक की जनता भक्ति रस मे शराबोर हो गई थी। उनका अधिकाश श्रेय ब्रज के धार्मिक और सास्कृतिक आदोलन को है।

# दो शब्द

●

यदि आधुनिक भाषा मे कहे तो ससार के महानतम पुरुष, और यदि पारपरीण भाषा मे कहे तो पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्री कृष्ण की जन्म-भूमि होने के कारण मथुरा (जिसमे समूची व्रज भूमि का अतर्भाव है) ससार की पुण्यतम भूमि है। भगवान् ने जो प्रवर्तन किया, जिसका सबसे प्रामाणिक रूप हमे श्रीमद् भगवद्गीता मे मिलता है, उसकी विशेषता यह है कि उसमे ज्ञान, कर्म और भक्ति का ऐसा अपूर्व समन्वय है, जो अन्य किसी भी प्रवर्तन मे नहीं पाया जाता। भगवान् ने उस धर्म-सस्थापन द्वारा प्राणी को सत्-असत् का विवेक, अपने अपने 'स्वकर्म' मे अभिरति और उस अभिरति के रूप मे भगवान् की अभ्यर्चना करके ससिद्धि की—मोक्ष की—प्राप्ति तो वर्णनिष्ठ गृहस्थो के लिए, और सासारिक विषयो मे अनासक्ति पूर्वक भगवद्-भक्ति द्वारा निर्वाण-प्राप्ति निवृत्ति-मार्गियो के लिए उपदिष्ट किया। उन्होने युधिष्ठिर द्वारा कुरु-राज्य में इसी धर्म की प्रतिष्ठा करा कर इसका प्रवर्तन वहाँ भी किया, जिसकी चर्चा जातको मे कुरु-धर्म नाम से पाई जाती है, जहाँ राजा से लेकर वेश्या तक—समाज की उच्चतम स्तर वाली प्रजा से लेकर निम्नतम स्तर की प्रजा तक—अपने अपने 'स्वधर्म' मे निरत है और उसके द्वारा अभ्युदय (ऐहिक ससिद्धि) और निश्रेयस् (पारमार्थिक ससिद्धि) प्राप्त करती है।

स्वय कृष्ण के अपने जत्थे ने अर्थात् यादवो की सात्वत नामक खाँप ने भी उनका यह धर्म ग्रहण किया, इसी कारण इसका नाम 'सात्वत धर्म' भी मिलता है। जब, कृष्ण के लीला-विस्तार के उपरात यादव, द्वारका से पुन मथुरा लौट आये, तो मथुरा इस धर्म का केन्द्र हुआ। यूनानी लेखको वाले वृतातो के जो छिन्न-भिन्न अंश प्राप्त हैं, उनसे पता चलता है कि ई० पूर्व ५-४ शती मे मथुरा नगरी ही इस धर्म का केन्द्र थी। फिर तो जैन और बौद्ध धर्मो ने भी मथुरा को अपना केन्द्र बनाया। भारतीय आर्य धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो की यही समन्वयात्मक प्रवृत्ति रही है कि उनके केन्द्र बहुधा एकत्र रहे हैं; काशी, प्रयाग, अयोध्या, गया आदि इनके उदाहरण हैं; वायु पुराण के एकसौ ग्यारहवे अध्याय मे उन्मुक्त उल्लेख है कि वहाँ का अश्वत्थ वृक्ष ब्रह्मा, विष्णु, महेश और बोधि-वृक्ष इन चारो रूपो मे पूजित होता था।

निदान, कनिष्क के समय मे मथुरा मे बौद्ध धर्म का अभूतपूर्व अभ्युदय हुआ। विजेता शक राज को भारतीय धर्म ने विजित बना लिया और राजधर्म होने के कारण उसने मथुरा में उत्कृष्ट कलात्मक रूप धारण किया; किन्तु कृष्ण-धर्म भी अटल बना रहा। कनिष्क के पौत्र का नाम वासुदेव इस बात का साक्षी है कि वैष्णव धर्म की छाप सबो पर लग चुकी थी। कृष्ण का धर्म सदा से इस विषय मे उन्मुक्त और उदार रहा है। उसके बाद वाली शतियो मे जब गुप्त राज्य मे तथा पूर्व-मध्य काल मे मथुरा की श्री ज्यो की त्यो बनी रही और मुसलमान काल मे अनेक मर्दो-गर्दियो का सामना करते हुए उसने कभी अपना मस्तक नत नही किया!

पद्रहवी शती से तो मथुरा मे वैष्णव धर्म के जागरण की पूरी लहर आ गई। यही क्यो, कहना यह चाहिए कि उस लहर की चूडामणि मथुरा रही। सर्वश्री वल्लभ, चैतन्य, हित हरिवश आदि सभी आचार्यो ने व्रज-रज रमा कर ही अपने प्रवर्तन किए। साथ ही सगीत-साहित्य मुख्यत व्रज भाषा के गेय पदो का जो कुवेर-भडार उन महानुभावो के अनुग्रह से हमे प्राप्त हुआ, वह भारत की ही नही, ससार की एक अपूर्व और अमर निधि है। वर्तमान हिंदुस्तानी सगीत के युग-पुरुष तानसेन व्रज भूमि के स्वामी हरिदास की ही देन है।

भगवान् की भावपूर्ण सेवा-पूजा और उसके कारण समस्त ललित कलाओ एव सुकुमार शिल्पो की जो उन्नति मथुरा मे हुई, उसी का प्रभाव हम राजस्थानी और पहाडी चित्र कला तथा अन्य कलाओ और सभी प्रकार की सुरुचि मे पाते है। समस्त भारतीय कला का मेरु-दड भगवान् का लीलावपु ही है। क्या साहित्य, क्या सगीत, क्या चित्र कला, क्या मूर्ति कला, क्या अन्य ललित कला—सभी लीला वपुधारी कृष्ण पर आधृत है। फलत इन सभी सुकुमार शिल्पो का उत्स मथुरा एव व्रज भूमि है।

ऐसी मथुरा नगरी, व्रज भूमि सुतरा शूरसेन जनपद के विषय मे ज्ञानकोशात्मक साहित्य की अत्यत वाछा और अपेक्षा है। स्वनाम-धन्य ग्राउस महोदय ने १९वी शती मे इस कार्य का आरभ किया, किंतु उनका वह कार्य एक तो पहला प्रयत्न था दूसरे विदेशी भाषा मे, फलत उसके लाभ मे जनता वचित ही रही।

अब हमारे प्रिय बधु श्री प्रभुदयाल जी मीतल वद्ध-परिकर होकर इस महत् प्रयास मे जुट गए और अनेक वर्षो के सतत परिश्रम से उन्होने कई खडो मे जो 'व्रज का सास्कृतिक इतिहास' प्रस्तुत किया, वह निस्सदेह अनुपम है और अपूर्व है। मथुरा निवासी होने के कारण, वैष्णव होने के कारण, मर्मज्ञ होने के कारण और साथ ही सुरुचि-सपन्न होने के कारण यह काम उन्ही के बूते का था और उन्होने इसे रूप-स्वरूप के साथ पूरा किया है। इसके लिए वे हम सबके बधाई और साधुवाद के पात्र है।

मुझे विश्वास है, उनके इस श्लाघ्य परिश्रम का समुचित आदर होगा। इतना ही नही, इस कृति के अनुकरण पर काशी, अयोध्या, हरद्वार और तीर्थराज प्रयाग पर भी ज्ञानकोशात्मक रचनाएँ प्रस्तुत की जावेगी। उत्तर प्रदेश का यह अहोभाग्य है कि सप्त महापुरियो मे से चार यही है। स्वय तीर्थराज प्रयाग अपने ही प्रदेश मे विराजते है, और भारत का मुकुटमणि बदरी विशाल भी यही का पुण्य धाम है।

मुझे यह भी विश्वास है कि मीतल जी के इस ग्रथ-रत्न का समुचित समादर तो होगा ही, साथ ही उनके इस पथ का अनुसरण हमारे लेखको की उदीयमान पीढी अवश्य करेगी और ऐसी परिश्रम-साध्य कृतियो से ही हिंदी साहित्य के भडार को समृद्ध बनावेगी।

भारत कला भवन,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वैशाख कृ० ११ (श्री वल्लभ जयंती), २०२३ वि०

—राय कृष्णदास

# विषय-सूची

# ब्रज संस्कृति की भूमिका

★

## प्रथम अध्याय

## ब्रज की रूपरेखा और उसका महत्व



## द्वितीय अध्याय

## ब्रज का प्राकृतिक और भौगोलिक वर्णन

## तृतीय अध्याय

## व्रज के पशु-पक्षी और जीव-जतु

## चतुर्थ अध्याय

## ब्रज की मानव जातियाँ



## पंचम अध्याय

## ब्रज संस्कृति के उपकरण



## ब्रज की सांस्कृतिक यात्रा

षष्ठ अध्याय

## ब्रज की रास लीला

## सप्तम अध्याय
## ब्रज के उत्सव, त्यौहार और मेले

# विषय-सूची

प्रथम अध्याय

## आदि काल

## ३ कृष्णोत्तर और बुद्धपूर्व काल

(कलियुग के आरभ से विक्रमपूव सं० ५६६ तक)

## ४. बुद्ध काल से मौर्यपूर्व काल तक
( विक्रमपूर्व सं० ५६६ से विक्रमपूर्व स० २६८ तक )



## ५. मौर्य-शुंग काल
( विक्रमपूर्व स० २६८ से विक्रमपूर्व सं० ४३ तक )

द्वितीय अध्याय

## पूर्व मध्य काल

( विक्रमपूर्व सं० ४३ से विक्रम सं० ६०० तक )

### १. शक काल

( विक्रमपूर्व सं० ४३ से विक्रम सं० ९७ तक )



### २. कुषाण काल

( विक्रम सं० ९७ से सं० २३३ तक )



### ३. नाग काल

( सं० २३३ से सं० ४०० के लगभग तक )

## ४. गुप्त काल

### ( सं० ४०० से स० ६०० तक )



### तृतीय अध्याय

## मध्य काल

### ( विक्रम स० ६०० से १२६३ तक )



## १. वर्धन काल

### ( विक्रम स० ६४० से ७०४ तक )

## २ हर्षोत्तर काल

( विक्रम स० ७०४ से स० ८१० तक )



## ३ राजपूत काल

( विक्रम स० ८१० से स० १२६३ तक )

चतुर्थ अध्याय

# उत्तर मध्य काल

( विक्रम स० १२६३ से स० १८८३ तक )



## १. सल्तनत काल

( विक्रम स० १२६३ से १५८३ तक )



## २ मुगल काल

( स०१५८३ से १८०५ तक )

## ३. जाट-मरहठा काल

( सं० १८०५ से सं० १८८३ तक )

पचम अध्याय

## आधुनिक काल

( विक्रम स० १८८३ से स० २०२२ तक )



### १ वृटिश काल

( विक्रम स० १९१५ से स० २००४ तक )

## २. स्वाधीनता काल

(विक्रम सं० २००४ से सं० २०२२ तक)



## अनुक्रमणिका

# चित्र-सूची

## ब्रज संस्कृति की भूमिका

●

# चित्र-सूची

## ब्रज का इतिहास

प्रथम खंड

# ब्रज संस्कृति की भूमिका

## प्रथम अध्याय

# ब्रज की रूपरेखा और उसका महत्व

●

### ब्रज—नामकरण और उसका अभिप्राय—

**व्युत्पत्ति और अर्थ**—व्रज अथवा व्रज शव्द सस्कृत धातु 'व्रज्' से वना है, जिसका अर्थ 'गतिशीलता' है। **'व्रजन्ति गावो यस्मिन्निति व्रज.'**—जहाँ गाये नित्य चलती अथवा चरती है, वह स्थान भी 'व्रज' कहा गया है। कोशकारो ने व्रज के तीन अर्थ वतलाये है—गोष्ठ ( गायो का खिरक ), मार्ग और वृ द ( झु ड )[1]। इनसे भी गायो से सबधित स्थान का ही वोध होता है। इसी सस्कृत शब्द 'व्रज' से हिंदी रूप 'व्रज' वना है।

वैदिक सहिताओ तथा रामायण, महाभारत आदि सस्कृत के प्राचीन ग्रथो मे 'व्रज' शब्द गोशाला, गो-स्थान, गोचर-भूमि के अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद मे यह शब्द गोशाला अथवा गायो के खिरक ( वाडा ) के अर्थ मे आया है[2]। यजुर्वेद मे गायो के चरने के स्थान को 'व्रज' और गो-शाला को 'गोष्ठ' कहा गया है[3]। शुक्ल यजुर्वेद मे सु दर सीगो वाली गायो के विचरण—स्थान से व्रज का सकेत मिलता है[4]। अथर्ववेद मे गोशालाओ से सबधित पूरा सूक्त ही है[5]। हरिवश तथा भागवतादि पुराणो मे यह शब्द गोप—बस्ती के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है[6]। स्कद पुराण मे महर्षि शाडिल्य ने व्रज शब्द का अर्थ 'व्याप्ति' वतलाते हुए इसे व्यापक ब्रह्म का रूप कहा गया है[7], किंतु यह अर्थ व्रज की आध्यात्मिकता से सबधित है।

कुछ विद्वानो ने व्रज के नामकरण की निम्न सभावनाएँ भी प्रकट की है—

( १ ) बौद्ध काल मे मथुरा के निकट 'वेरज' नामक एक स्थान था। कुछ विद्वानो की प्रार्थना पर गौतम बुद्ध वहाँ पधारे थे। वह स्थान वेरज ही कदाचित कालातर मे 'विरज' या 'व्रज' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

( २ ) यमुना को 'विरजा' भी कहते है। विरजा का क्षेत्र होने से मथुरामडल 'विरज' या 'व्रज' कहा जाने लगा।

---

(१) गोष्ठाध्वनिवहा व्रज ( अमरकोश, ३—३—३० )

(२) १. गवामप व्रज वृधि कृणुष्व राधो अद्रिव ( ऋक्० १—१०—७ )

२. यं त्वा जनासो अभिसचरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ ( ऋक्० १०—४—२ )

(३) व्रज गच्छ गोष्ठान् ( यजु० १—२५ )

(४) याते धामान्युश्मसि गमध्यै, यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयास. (६—३)

(५) अथर्ववेद ( २—२६—१ )

(६) १ तद् व्रजस्थानमधिकम् शु शुभे काननावृतम्। ( हरिवश, विष्णु पर्व, ६—३० )

२ व्रजे वसन् किमकरोन् मधुपर्या च केशव.॥ ( भागवत, १०—१—१० )

(७) वैष्णव खड. भागवत माहात्म्य ( १—१६, २० )

( ३ ) महाभारत के युद्धोपरात जब द्वारिका नष्ट हो गई, तब श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्र मथुरा के राजा हुए थे। उनके नाम पर मथुरामडल भी 'वज्र प्रदेश' या 'व्रज प्रदेश' कहा जाने लगा।

ब्रज-नामकरण से सबधित उक्त सभावनाओ का भाषा विज्ञान आदि की दृष्टि मे कोई प्रामाणिक आधार नही है, अत उनमे से किसी को भी स्वीकार करना सभव नहीं है। वेदो से लेकर पुराणो तक ब्रज का सबध गायो से रहा है, चाहे वह गायो के बाँधने का बाडा हो, चाहे गोशाला हो, चाहे गोचर-भूमि हो और चाहे गोप-बस्ती हो। भागवतकार की दृष्टि मे गोष्ठ, गोकुल और ब्रज समानार्थक शब्द है। भागवत के आधार पर सूरदासादि कवियो की रचनाओ मे भी ब्रज इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, इसलिए 'वेरज', 'विरजा' और 'वज्र' मे ब्रज का सबध जोडना समीचीन नही है।

मथुरा और उसका निकटवर्ती भू-भाग प्राचीनतम काल से ही अपने सघन वनो, विस्तृत चारागाहो, गोष्ठो और सुदर गायो के लिए प्रसिद्ध रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म यद्यपि मथुरा नगर मे हुआ था, तथापि राजनैतिक कारणो से उन्हे जन्म लेते ही यमुना पार की गोप-बस्ती मे भेज दिया गया था। उनकी बाल्यावस्था एक बडे गोपालक के घर मे गोप, गोपी और गो-वृद के साथ बीती थी। उस काल मे उनके पालक नदादि गोप गण अपनी सुरक्षा और गोचर-भूमि की सुविधा के लिए अपने 'गोकुल' के साथ मथुरा के निकटवर्ती विस्तृत वन-खडो मे घूमा करते थे। श्रीकृष्ण के कारण उन गोप-गोपियो, गायो और गोचर-भूमियो का महत्व बढ गया था।

पौराणिक काल से लेकर वैष्णव सप्रदायो के आविर्भाव काल तक जैसे-जैसे कृष्णोपासना का विस्तार होता गया, वैसे-वैसे श्रीकृष्ण के उक्त परिकरो तथा उनके लीला-स्थलो के गौरव की भी वृद्धि होती गई। उस काल मे यहाँ पर गो-पालन की प्रचुरता थी, जिसके कारण ब्रज-खडो की भी बहुलता हो गई थी। इसलिए श्रीकृष्ण के जन्म-स्थान मथुरा और उनकी लीलाओ से सबधित मथुरा के आस-पास का समस्त प्रदेश ही 'ब्रज' अथवा 'ब्रजमडल' कहा जाने लगा था।

सूरदासादि ब्रजभाषा के भक्त-कवियो और वार्ताकारो ने भागवतादि पुराणो के अनुकरण पर मथुरा के निकटवर्ती वन्य प्रदेश की गोप-बस्ती को ब्रज कहा है[1] और उसे सर्वत्र मथुरा,

---

(१) १ बका बिदारि चले 'ब्रज' को हरि। ( सूरसागर, पद स० १०४७ )
२ दावानल 'ब्रज'-जन पर छायौ। ( सूरसागर, पद स० १२१० )
३ नटवर वेष धरे, 'ब्रज' आवत। ( सूरसागर, पद स० १६८६ )
४ वृदाबन ग्वालनि सँग, गइयाँ हरि चारे।
अपने जन हेत काज, 'ब्रज' को पगु धारें॥ ( सूरसागर, पद स० ३५६६ )
५ 'ब्रज' मे बाजति आज बधाई। ( परमानद सागर, पद स० १७ )
६ 'ब्रज' तें बन को चलत कन्हैया। ( परमानद सागर, पद स० २७४ )
७ पाछे एक समय श्री आचार्य जी महाप्रभु आप 'ब्रज' मे पाँउ धारे।
( चौरासी वैष्णव की वार्ता, पृष्ठ ६ )
८ सो अलीखान 'ब्रज' देखिकै बोहोत प्रसन्न भए।
( दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता प्रथमखड, पृष्ठ २६९)

मधुपुरी या मधुवन से पृथक् बतलाया है[1]। आजकल मथुरा नगर सहित वह भू-भाग, जो श्रीकृष्ण के जन्म और उनकी विविध लीलाओं से संबंधित है, ब्रज कहलाता है। इस प्रकार 'ब्रज' वर्तमान मथुरामंडल और प्राचीन शूरसेन प्रदेश का अपर नाम और उसका एक छोटा रूप है। इसमें मथुरा, वृंदावन, गोवर्धन, गोकुल, महावन, बलदेव, नंदगाँव, बरसाना, डीग और कामवनादि श्रीकृष्ण के सभी लीला-स्थल सम्मिलित हैं। इस ब्रज को चौरासी कोस का माना जाता है।

**अर्थ-विकास**—इस प्रकार हम देखते हैं कि 'ब्रज' शब्द का काल-क्रमानुसार अर्थ-विकास हुआ है। वेदों और रामायण-महाभारत के काल में जहाँ इसका प्रयोग 'गोष्ठ'-'गो-स्थान' जैसे लघु स्थल के लिए होता था, वहाँ पौराणिक काल में 'गोप-बस्ती' जैसे कुछ बड़े स्थान के लिए किया जाने लगा। उस समय तक यह शब्द प्रदेशवाची न होकर क्षेत्रवाची ही था।

भागवत में 'ब्रज' क्षेत्रवाची अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है[2]। वहाँ इसे एक छोटे ग्राम की संज्ञा दी गई है। उसमें 'पुर' से छोटा 'ग्राम' और उससे भी छोटी बस्ती को 'ब्रज' कहा गया है[3]। १६ वीं शताब्दी में 'ब्रज' प्रदेशवाची होकर 'ब्रजमंडल' हो गया और तब इसका आकार ८४ कोस का माना जाने लगा था[4]। उस समय मथुरा नगर ब्रज में सम्मिलित नहीं माना जाता था। सूरदासादि ब्रजभाषा कवियों ने ब्रज और मथुरा का पृथक् रूप में ही कथन किया है, जैसा पहिले लिखा जा चुका है।

फिर कृष्णोपासक संप्रदायों और ब्रजभाषा कवियों के कारण जब ब्रज संस्कृति और ब्रजभाषा का क्षेत्र बढ़ा, तब ब्रज का आकार भी सुविस्तृत हो गया था। उस समय मथुरा नगर ही नहीं, बल्कि उससे दूर-दूर के भू-भाग, जो ब्रज संस्कृति और ब्रजभाषा से प्रभावित थे, ब्रज में मान लिये गये थे। वर्तमान काल में मथुरा नगर सहित मथुरा जिले का अधिकांश भाग तथा राजस्थान के डीग और कामवन का कुछ भाग, जहाँ होकर 'ब्रज-यात्रा' जाती है, 'ब्रज' कहा जाता है। ब्रज संस्कृति और ब्रजभाषा का क्षेत्र और भी बड़ा है।

इस समस्त भू-भाग के प्राचीन नाम मधुवन, शूरसेन, मधुरा, मधुपुरी, मथुरा और मथुरामंडल थे तथा आधुनिक नाम ब्रज या ब्रजमंडल है। यद्यपि इनके अर्थ-बोध और आकार-प्रकार में समय-समय पर अंतर होता रहा है। इस भू-भाग की धार्मिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक और संस्कृतिक परंपरा अत्यंत गौरवपूर्ण रही है।

---

(१) १. आतुर रथ हाँक्यौ मधुबन कौं, 'ब्रज'-जन भए अनाथ।
( सूरसागर, पद सं० ३६११ )
२. सूरदास प्रभु आइ मधुपुरी, ऊधौ कौं 'ब्रज' दियौ पठाई।
( सूरसागर, पद सं० ४०२६ )

(२) श्रीमद् भागवत ( १०—१—८ और ६ )

(३) शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु ( भागवत, १०—६—२ )

(४) आइ जुरे सब ब्रज के बासी। डेरा परे कोस चौरासी ॥१५२३॥
डेरा परे कोस चौरासी। इतने लोग जुरे ब्रजबासी ॥१५३७॥
—सूरसागर ( ना० प्र० सभा )

( ३ ) महाभारत के युद्धोपरात जब द्वारिका नष्ट हो गई, तब श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्र मथुरा के राजा हुए थे। उनके नाम पर मथुरामडल भी 'वज्र प्रदेश' या 'व्रज प्रदेश' कहा जाने लगा।

ब्रज-नामकरण से सबधित उक्त सभावनाओ का भाषा विज्ञान आदि की दृष्टि से कोई प्रामाणिक आधार नही है, अत उनमे से किसी को भी स्वीकार करना सभव नही है। वेदो से लेकर पुराणो तक ब्रज का सबध गायो से रहा है, चाहे वह गायो के बाँधने का बाडा हो, चाहे गोशाला हो, चाहे गोचर-भूमि हो और चाहे गोप-बस्ती हो। भागवतकार की दृष्टि मे गोष्ठ, गोकुल और ब्रज समानार्थक शब्द है। भागवत के आधार पर सूरदासादि कवियो की रचनाओ मे भी ब्रज इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, इसलिए 'वैरज', 'विरजा' और 'वज्र' मे ब्रज का सबध जोडना समीचीन नही है।

मथुरा और उसका निकटवर्ती भू-भाग प्राचीनतम काल से ही अपने सघन वनो, विस्तृत चारागाहो, गोष्ठो और सुदर गायो के लिए प्रसिद्ध रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म यद्यपि मथुरा नगर मे हुआ था, तथापि राजनैतिक कारणो से उन्हे जन्म लेते ही यमुना पार की गोप-बस्ती मे भेज दिया गया था। उनकी बाल्यावस्था एक बडे गोपालक के घर मे गोप, गोपी और गो-वृद के साथ बीती थी। उस काल मे उनके पालक नदादि गोप गण अपनी सुरक्षा और गोचर-भूमि की सुविधा के लिए अपने 'गोकुल' के साथ मथुरा के निकटवर्ती विस्तृत वन-खडो मे घूमा करते थे। श्रीकृष्ण के कारण उन गोप-गोपियो, गायो और गोचर-भूमियो का महत्व बढ गया था।

पौराणिक काल से लेकर वैष्णव सप्रदायो के आविर्भाव काल तक जैसे-जैसे कृष्णो-पासना का विस्तार होता गया, वैसे-वैसे श्रीकृष्ण के उक्त परिकरो तथा उनके लीला-स्थलो के गौरव की भी वृद्धि होती गई। उस काल मे यहाँ पर गो-पालन की प्रचुरता थी, जिसके कारण ब्रज-खडो की भी बहुलता हो गई थी। इसलिए श्रीकृष्ण के जन्म-स्थान मथुरा और उनकी लीलाओ से सबधित मथुरा के आस-पास का समस्त प्रदेश ही 'ब्रज' अथवा 'ब्रजमडल' कहा जाने लगा था।

सूरदासादि ब्रजभाषा के भक्त-कवियो और वार्ताकारो ने भागवतादि पुराणो के अनुकरण पर मथुरा के निकटवर्ती वन्य प्रदेश की गोप-बस्ती को ब्रज कहा है[1] और उसे सर्वत्र मथुरा,

---

(१) १ बका विदारि चले 'ब्रज' को हरि। ( सूरसागर, पद स० १०४७ )
२ दावानल 'ब्रज'-जन पर छायौ। ( सूरसागर, पद स० १२१० )
३ नटवर वेष धरे, 'ब्रज' आवत। ( सूरसागर, पद स० १६८६ )
४ वृदाबन ग्वालनि सँग, गइयाँ हरि चारे।
अपने जन हेत काज, 'ब्रज' को पगु धारें॥ ( सूरसागर, पद स० ३५६६ )
५ 'ब्रज' मे बाजति आज बधाई। ( परमानद सागर, पद स० १७ )
६ 'ब्रज' तें बन को चलत कन्हैया। ( परमानद सागर, पद स० २७४ )
७ पाछे एक समय श्री आचार्य जी महाप्रभु आप 'ब्रज' मे पाँउ धारे।
( चौरासी वैष्णव की वार्ता, पृष्ठ ६ )
८ सो अलीखान 'ब्रज' देखिकै बोहोत प्रसन्न भए।
( दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता प्रथमखड, पृष्ठ २९६)

मधुपुरी या मधुवन से पृथक् बतलाया है[1]। आजकल मथुरा नगर सहित वह भू-भाग, जो श्रीकृष्ण के जन्म और उनकी विविध लीलाओ से सबधित है, व्रज कहलाता है। इस प्रकार 'व्रज' वर्तमान मथुरामडल और प्राचीन शूरसेन प्रदेश का अपर नाम और उसका एक छोटा रूप है। इसमे मथुरा, वृदावन, गोवर्धन, गोकुल, महावन, वलदेव, नदगॉव, वरसाना, डीग और कामवनादि श्रीकृष्ण के सभी लीला-स्थल सम्मिलित है। इस व्रज को चौरासी कोस का माना जाता है।

**अर्थ-विकास**—इस प्रकार हम देखते है कि 'व्रज' शब्द का काल-क्रमानुसार अर्थ-विकास हुआ है। वेदो और रामायण–महाभारत के काल मे जहॉ इसका प्रयोग 'गोष्ठ'-'गो-स्थान' जैसे लघु स्थल के लिए होता था, वहॉ पौराणिक काल मे 'गोप-वस्ती' जैसे कुछ वडे स्थान के लिए किया जाने लगा। उस समय तक यह शब्द प्रदेशवाची न होकर क्षेत्रवाची ही था।

भागवत मे 'व्रज' क्षेत्रवाची अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है[2]। वहॉ इसे एक छोटे ग्राम की सज्ञा दी गई है। उसमे 'पुर' से छोटा 'ग्राम' और उससे भी छोटी वस्ती को 'व्रज' कहा गया है[3]। १६ वी शताब्दी मे 'व्रज' प्रदेशवाची होकर 'व्रजमडल' हो गया और तव इसका आकार ८४ कोस का माना जाने लगा था[4]। उस समय मथुरा नगर व्रज मे सम्मिलित नही माना जाता था। सूरदासादि व्रजभापा कवियो ने व्रज और मथुरा का पृथक् रूप मे ही कथन किया है, जैसा पहिले लिखा जा चुका है।

फिर कृष्णोपासक सप्रदायो और व्रजभाषा कवियो के कारण जव व्रज सस्कृति और व्रजभापा का क्षेत्र वढा, तव व्रज का आकार भी सुविस्तृत हो गया था। उस समय मथुरा नगर ही नही, बल्कि उससे दूर-दूर के भू-भाग, जो व्रज सस्कृति और व्रजभाषा से प्रभावित थे, व्रज मे मान लिये गये थे। वर्तमान काल मे मथुरा नगर सहित मथुरा जिले का अधिकाश भाग तथा राजस्थान के डीग और कामवन का कुछ भाग, जहां होकर 'व्रज-यात्रा' जाती है, 'व्रज' कहा जाता है। व्रज सस्कृति और व्रजभापा का क्षेत्र और भी वडा है।

इस समस्त भू-भाग के प्राचीन नाम मधुवन, शूरसेन, मथुरा, मधुपुरी, मथुरा और मथुरामडल थे तथा आधुनिक नाम व्रज या व्रजमडल है। यद्यपि इनके अर्थ-बोध और आकार-प्रकार मे समय-समय पर अतर होता रहा है। इस भू-भाग की धार्मिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक और सस्कृतिक परपरा अत्यत गौरवपूर्ण रही है।

---

(१) १. आतुर रथ हांक्यौ मधुबन को, 'व्रज'-जन भए अनाथ।
(सूरसागर, पद स० ३६११)

२ सूरदास प्रभु आइ मधुपुरी, ऊधौ को 'व्रज' दियौ पठाई।
(सूरसागर, पद स० ४०२६)

(२) श्रीमद् भागवत (१०–१–८ और ६)

(३) शिशूश्चकार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु (भागवत, १०–६–२)

(४) आइ जुरे सब व्रज के बासी। डेरा परे कोस चौरासी ॥१५२३॥
डेरा परे कोस चौरासी। इतने लोग जुरे व्रजवासी ॥१५३७॥
—सूरसागर (ना० प्र० सभा)

## ब्रज का विस्तार—

**पौराणिक आधार और अनुश्रुति**—जिन पुराणो मे ब्रज के महत्व के साथ उसके विस्तार का भी वर्णन हुआ है, उनमे 'वाराह पुराण' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमे माथुरमडल का विविध रूप से इतना अधिक उल्लेख किया गया है कि वाराह पुराण को यदि माथुरमडल (ब्रजमडल) से सबधित पुराण ही कहा जाय तो कोई अयुक्त कथन न होगा। उसी पुराण का एक अग "मथुरा माहात्म्य" के नाम से प्रसिद्ध है।

'वाराह पुराण' मे माथुरमडल का विस्तार २० योजन बतलाया गया है और कई प्रसगो पर इसकी विज्ञप्ति करते हुए कई प्रकार से इसके महत्व का वर्णन किया है[1]। 'वायुपुराण' मे माथुरमडल का विस्तार ४० योजन कहा गया है[2], किंतु उसका कथन वाराह पुराण के उल्लेख के समान मान्यता और प्रसिद्धि प्राप्त नही कर सका है। एक योजन साधारणतया ४ कोस अथवा ७ मील का होता है, इसलिए मोटे हिसाब से ब्रजमडल का विस्तार ८४ कोस का समझा जाने लगा।

चौरासी कोस के इस ब्रजमडल का आकार कहाँ से कहाँ तक है, इसे बतलाने के लिए ब्रज मे कई अनुश्रुतियाँ प्रचलित है। ऐसी ही एक दोहाबद्ध अनुश्रुति ब्रज के सुप्रसिद्ध शोधकर्ता श्री ग्राउस ने इलियट की ग्लौसरी से उद्धृत की है, जिसका पाठ उन्होने इस प्रकार दिया है—

**इत बरहद इत सोनहद, उत सूरसेन का गाव।**
**ब्रज चौरासी कोस मे, मथुरामडल माह[3]॥**

उक्त दोहा मे आये हुए स्थलो की पहिचान के लिए श्री ग्राउस ने ब्रज की सीमाओ पर स्थित वनो का नामोल्लेख करने वाले एक श्लोक को भी उद्धृत किया है, जिसका पाठ उन्होने इस प्रकार लिखा है—

**पूर्व हास्यवन नीय पश्चिमस्यापहारिक।**
**दक्षिणे जन्हु सज्ञाक भुवनाख्य तथोत्तरे॥**

श्री ग्राउस का कथन है कि जब उन्होने पडितो से उक्त श्लोक मे आये हुए वनो के नामो का मिलान पूर्वोक्त हिंदी दोहा के नामो से करने को कहा, तो उन्होने बतलाया—'पूर्व का हास्य वन ही बरहद है, जो अलीगढ जिला मे है। पश्चिम का उपहार वन गुडगाँवा जिले का सोनहद

---

(१) १ विशतिर्योजनानान्तु माथुर मम मण्डलम्।
यत्र तत्र नर स्नातो मुच्यते सर्वकिल्विषै.॥ (अध्याय १५८, श्लोक १)
२ विशतिर्योजनानान्तु माथुर मम मण्डलम्।
इद पृक्ष महाभागे सर्वेषा मुक्तिदायि च॥ (अध्याय १६३, श्लोक १५)
३. विशतिर्योजनाना हि माथुर मम मण्डलम्।
पदे पदे अश्वमेधाना फल नात्र विचारणा॥ (अध्याय १६८, श्लोक १०)
(२) चत्वारिंश योजनाना ततस्तु मथुरा स्मृता।
(३) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमायर (तृ० स०), पृ० ७८

है, दक्षिण का जन्हु बन सूरसेन का गॉव अर्थात् वटेश्वर है और उत्तर का भुवन बन शेरगढ के निकट का भूपण वन है[1]।

ग्राउस महोदय का स्पष्ट कथन है कि वे पूर्वोक्त दोहा को किसी ऐतिहासिक शोध का सूचक नही मानते है[2] और उक्त श्लोक मे आये हुए बनो की पहिचान को कल्पना से अधिक महत्व नही देते है, इसीलिए उनकी अधिक छानवीन करने की आवश्यकता भी उन्होने नही समझी है[3]। फिर भी ब्रज के विस्तार और इसकी सीमा के सबध मे लिखने वाले कई विद्वानो ने ग्राउस के कथन को महत्वपूर्ण मानकर प्रमाण रूप मे उद्धृत किया है[4]।

हमारे मतानुसार श्री ग्राउस द्वारा उद्धृत किवदती के उक्त दोहा को और उसके नामो की पहिचान को अधिक महत्व देना उचित नही है। दोहा मे जहॉ तुकात का पाठ अशुद्ध है, वहॉ इसमे ब्रज की सीमा भी तीन ओर की ही वतलाई गई है। उस दोहा का पाठ लोक मे इस प्रकार भी प्रचलित है, जो ब्रज सवधी पुस्तको मे मिलता है—

**इत बरहद उत सोनहद, सूरसेन उत ग्राम।**
**ब्रज चोरासी कोस मे, मथुरामडल धाम[5]॥**

ब्रज–विस्तार विपयक उक्त दोहा का मूलाधार क्या है, इसका अन्वेपण करने पर ज्ञात हुआ कि 'गर्ग सहिता' का निम्नोक्त कथन कदाचित इसका आधार है—

प्रागुदीव्या र्वहिपदो दक्षिणस्या यदो पुरात ।
पश्चिमाया शोणपुरान्माथुरमडल विदु ॥
विशद्योजन विस्तीर्ण सार्द्धयद्योजने नवै।
माथुरमडल दिव्य व्रजमाहुर्मनीपिण[6] ॥

नदराय जी के पूछने पर सन्नद जी ने ब्रज का परिचय देते हुए कहा था,—"जिसके पूर्व–उत्तर मे र्वहिपद् ( बरहद ) है, दक्षिण मे यदुपुर ( सूरसेन ग्राम ) है, पश्चिम मे शोणपुर ( सोनहद ) है, उस वीस योजन विस्तृत दिव्य माथुरमडल को मनीपी 'ब्रज' कहते है।"

श्री ग्राउस ने जो श्लोक दिया है, वह श्री नारायणभट्ट कृत 'ब्रज भक्ति विलास' का है। इस ग्रथ का एक सस्करण गौडीय विद्वान वावा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है। उसमे उक्त श्लोक का पाठ इस प्रकार मिलता है—

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमाअर, ( तृ० स० ), पृ० ६१
(२) वही ,, ,, पृ० ७६
(३) वही ,, ,, पृ० ६१
(४) १. डा० दीनदयाल गुप्त ( अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय, स० २००४, पृ० २-३ )
 २. डा० सत्येन्द्र ( ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, स० २००५, पृ० ४५-४६ )
 ३ श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ( ब्रज का इतिहास, प्रथम भाग, स० २०११, पृ० ३ )
(५) श्री हरलाल चतुर्वेदी कृत 'ब्रजयात्रा'
(६) गर्ग संहिता, ( वृदावन खड, अध्याय १, श्लोक ११–१२)

पूर्व हास्यवन नाम पश्चिमस्यापह्यरिकम् ।
दक्षिणे जन्हु सज्ञक सोनहदाख्य तथोत्तरे[1] ॥

अनुश्रुति के दोहा मे जहाँ तीन ओर की हद बतलाई है, वहाँ 'गर्ग सहिता' के उद्धरण मे वर्हिपद ( बरहद ) को पूर्व-उत्तर मे स्थित बतलाकर चारो ओर की हद देने की चेष्टा की गई है। इसी प्रकार 'ब्रज भक्ति विलास' के उद्धरण विषयक दोनो पाठो मे भी थोडा सा अतर है। बाबा कृष्णदास के पाठ मे उत्तरी सीमा के वन का नाम सोनहद बतलाया गया है, जब कि ग्राउस के पाठ मे इसका नाम भुवन वन है। श्री ग्राउस ने पश्चिम के अपहारि वन या उपहार वन की पहिचान करते हुए उसे गुडगाँवा जिले का सोन बतलाया है। उन्होंने लिखा है कि सोन गुडगाँवा मे गधक के गर्म सोतो के लिए प्रसिद्ध है[2]। डा० दीनदयाल गुप्त ने सोन को 'गुडगाँवा जिले की छोटी बरसाती नदी' बतलाया है[3]।

सोनहद गुडगाँवा जिला मे होडल के निकट एक छोटा गाँव है। सभव है, वहाँ कोई बरसाती नदी भी हो, किंतु उसे ब्रज की पश्चिमी सीमा के उपहार वन मे मानना श्री ग्राउस का भ्रमात्मक कथन है। गुडगाँवा जिला और सोनहद माथुरमडल के प्राय उत्तर मे है, न कि पश्चिम मे। ब्रज की उत्तरी सीमा के वन को 'ब्रज भक्ति विलास' मे एक स्थान पर सोनहद वन और दूसरे स्थान पर सूर्यपत्तन वन लिखा गया है। 'ब्रज भक्ति विलास' के सपादक और प्रकाशक बाबा कृष्णदास ने सूर्यपत्तन वन को वर्तमान काल का साँमई खेडा बतलाया है, जो भरतपुर जिला मे बहज के निकट है[4]। यह बहज और साँमई खेडा ब्रज के पश्चिम मे है, न कि उत्तर मे। इसलिए सूर्यपत्तन वन को सोनहद का अपर नाम समझ कर उसे गुडगाँवा जिले की सीमा पर स्थित कोटवन और शेषशायी तक मानने से ही श्री नारायण भट्ट के कथन की सार्थकता हो सकती है। फिर भी न तो अनुश्रुति के दोहा से और न 'गर्ग सहिता' एव 'ब्रज भक्ति विलास' के श्लोको मे माथुरमडल की चतुर्दिक् सीमाओ का पूरा तो क्या अधूरा भी बोध नही होता है। इनमे उल्लिखित सोनहद और बरहद को यदि क्रमश ब्रज की उत्तरी और पूर्वी सीमाओ के सूचक स्थान मान भी लिये जाँय, तब भी दक्षिणी और पश्चिमी सीमाओ की यथार्थ स्थिति अज्ञात ही रहती है। बटेश्वर ( सूरसेन का गाँव ) माथुरमडल के ठीक दक्षिण मे न होकर सुदूर अग्निकोण मे है और पश्चिमी सीमा की स्थिति का सूचक कोई भी स्थान है ही नही।

डा० दीनदयाल गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय' नामक अपने शोध प्रबध के आरभ मे ही ब्रज के भूगोलिक विस्तार का विवेचन करते हुए श्री ग्राउस के कथन पर अपना अभिमत प्रकट किया है। उन्होने ब्रज की सीमा के नामो की उपर्युक्त पहिचान को पूर्णतया स्वीकार न करते हुए भी पूर्वी सीमा के हास्यवन को अलीगढ जिले का हसायन समझ कर मान लिया है। उत्तर के भुवन वन या भूषण वन को वे गुडगावा जिले की हद पर स्थित कोटवन के निकट मानते

(१) श्री ब्रजभक्तिविलास ( २-१६ ), पृ० ३४

(२) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर ( तृ० स० ), पृ० ७९

(३) अष्टछाप और बल्लभ सप्रदाय ( प्रथम खड ), पृ० ४

(४) ब्रजमडल दर्शन, पृ० ५१

है । पश्चिम के अपहारि वन को वे गुडगाँवा जिले मे सोन नदी के किनारे न मान कर भरतपुर राज्य के कामवन तथा उसके निकटवर्ती चरण पहाडी तक वतलाते है । दक्षिण के जन्हु वन को बटेश्वर तक मानने मे उन्हे विशेप आपत्ति है, क्यो कि इससे उनके मतानुसार ब्रज का आकार वेडौल हो जाता है । उनका अनुमान है, ब्रज की दक्षिणी सीमा आगरा तक है । श्री नदलाल दे के मतानुसार उन्होने आगरा का प्राचीन नाम 'अग्रवन' लिखा है और वे इसे ब्रज के ८४ वनो मे मानते है[1] । इस प्रकार डा० गुप्त ने भी पूर्वोक्त दोहा और श्लोको की सीमाओ को स्वीकार नही किया है ।

## ब्रज के विविध रूप––

ब्रज के विस्तार और उसकी सीमाओ का निश्चय करने से पूर्व हमे उसके स्वरूप का बोध होना आवश्यक है । हमारे मतानुसार ब्रज के कई रूप है, जो समय-समय पर बनते और परिवर्तित होते रहे है । इसी प्रकार उनके विस्तार और उनकी सीमाओ मे भी परिवर्तन होता रहा है । ब्रज के उक्त रूपो का नामकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

( १ ) राजनैतिक ब्रज, ( २ ) धार्मिक ब्रज, ( ३ ) सास्कृतिक ब्रज और (४) भापायी ब्रज । हम यहाँ पर इनके सबध मे विस्तार पूर्वक अपने विचार व्यक्त करना चाहते है—

**राजनैतिक ब्रज**—प्राचीन ग्रथो से ज्ञात होता है कि ब्रज प्रदेश का पुराना नाम 'शूरसेन' था । शूरसेन जनपद एक राजनैतिक इकाई था, जिसका अस्तित्व गौतम बुद्ध से भी पहिले अर्थात् अब से प्राय तीन हजार वर्प पूर्व विद्यमान था । राजनैतिक कारणो से इसके आकार–प्रकार मे समय–समय पर परिवर्तन होते रहे है । अब से दो हजार पूर्व शक–कुपाण काल मे इसका नाम 'मथुरा राज्य' हो गया था । शको के काल मे मथुरा नगरी उनके साम्राज्य के पूर्वी भाग की राजधानी थी । कुपाणो के काल मे मथुरा राज्य की और भी अधिक उन्नति हुई थी । कुपाण सम्राट कनिप्क के समय मे मथुरा सुप्रसिद्ध राजनैतिक स्थल होने के साथ ही साथ धर्म, कला, साहित्य और व्यापार का भी एक वडा केन्द्र हो गया था ।

कुपाणो के वाद नाग राजाओ के शासन–काल मे भी मथुरा का राजनैतिक महत्व था । चौथी शताब्दी के अत मे जब समुद्रगुप्त ने साम्राज्य–विस्तार के लिए मथुरा राज्य पर आक्रमण किया, तब यहाँ का राजा नागसेन था । उक्त नाग राजा की पराजय होने से मथुरा राज्य को गुप्तो के विशाल साम्राज्य मे मिला लिया गया था । तभी से राजनैतिक केन्द्र के रूप मे इसका महत्व कम होने लगा । छटी शताब्दी मे वर्वर हूणो के आक्रमण मे मथुरा की भीपण वरवादी हुई थी । उसके फल स्वरूप इसका राजनैतिक महत्व भी समाप्तप्राय हो गया था ।

सातवी शताब्दी के अत मे हर्पवर्धन ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी । उसकी सीमाएँ पजाव से वगाल तक थी । ऐसा समझा जा सकता है कि मथुरा राज्य भी उसी के आधीन था, किंतु उसी काल मे भारत आने वाले चीनी यात्री हुएनसाग के वर्णन से अनुमानित होता है कि यह राज्य कदाचित अपना स्वतत्र अस्तित्व रखता था । हुएनसाग ने तत्कालीन मथुरा राज्य का क्षेत्रफल ५००० ली (८३३ मील के लगभग) वतलाया है । उसकी सीमाओ के सबध मे भी

(१) अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ४

श्री कनिघम का अनुमान है कि वे पश्चिम मे भरतपुर और धोलपुर तक, पूर्व मे जिझौती ( प्राचीन बु देलखड राज्य ) तक तथा दक्षिण मे ग्वालियर तक होगी। इस प्रकार उस समय भी मथुरा एक बडा राज्य रहा होगा[1]।

ग्यारहवी शताब्दी के अत मे एक विदेशी आक्रमणकारी महमूद गजनवी ने मथुरा पर आक्रमण कर इसे बुरी तरह से लूटा था। उसके बर्बर अभियान का रोमाचकारी वर्णन अलउत्बी कृत 'तारीखे यमीनी' मे मिलता है। उसमे लिखा गया है, उस काल मे मथुरामडल का अधिपति कूलचद ( कुलचद्र ) था, जिसकी राजधानी महावन मे थी। उसके विवरण से यह ज्ञात नही होता है कि कुलचद्र के राज्य की क्या सीमाएँ थी, किंतु यह स्पष्ट है कि वह अत्यत शक्तिशाली नरेश था और उसके अधिकार मे सुदृढ दुर्ग तथा तथा विशाल सेना थी। उसने महमूद के दुर्दम्य बर्बर सैनिको का बडी वीरता पूर्वक सामना किया था, किंतु दुर्भाग्य से उसकी पराजय हुई थी। अलउत्बी ने लिखा है, उस भयानक युद्ध मे कुलचद्र के ५० हजार सैनिक मारे गये थे।

मथुरा राज्य के राजनैतिक रगमच का वह अतिम पटाक्षेप था। उसके बाद मुसलमानो के शासन-काल मे मथुरा का राजनैतिक महत्व शून्यवत् हो गया था। अठारहवी शताब्दी मे जब जाट शक्ति का उदय हुआ, तब एक बार फिर कुछ समय के लिए मथुरामडल का राजनैतिक महत्व बढ गया था। उस समय इसे 'ब्रज' या 'ब्रजमडल' कहा जाता था और जाट राजाओ को 'ब्रजेन्द्र' या 'ब्रजराज'। जाटो के विख्यात राजा सूरजमल के अधिकार मे जो प्रदेश था, उसकी सीमाएँ उत्तर मे रोहतक-मेरठ से दक्षिण मे चबल नदी तक तथा पश्चिम मे आगरा-धौलपुर से पूर्व मे गगा नदी तक थी। यदि इस देश मे अगरेजो का शासन न हुआ होगा, तब सभवत जाटो के शासन से ब्रज के राजनैतिक महत्व की और भी अधिक वृद्धि हुई होती।

(२) **धार्मिक ब्रज**—ब्रज अर्थात् मथुरा राज्य का राजनैतिक रूप तो एक प्रकार से ११ वी शताब्दी तक ही रहा, किंतु कृष्ण-भक्ति की नूतन धारा के कारण इसका जो धार्मिक रूप बना, वह अधिक व्यापक और स्थायी रहा है। यह पूर्ववर्ती राजनैतिक रूप से भी अधिक महत्वपूर्ण है। इसके कारण श्रीकृष्ण के प्रति श्रद्धा रखने वाले भक्त जनो के लिए वे सभी स्थल तीर्थ स्वरूप हो गये, जहाँ उनके उपास्य देव ने जन्म लिया था तथा अपनी बाल-लीलाएँ की थी। उन स्थलो के साथ ही साथ वे वन भी परम पावन और पुण्यप्रद माने जाने लगे, जहाँ श्रीकृष्ण ने गोप-बालको के साथ गाये चराई थी, अथवा गोप-बालाओ के साथ नाना प्रकार की क्रीडाएँ की थी। वे पुण्य स्थल और पावन वन समस्त कृष्ण भक्तो के आकर्षण-केन्द्र बन गये है।

श्रीकृष्ण से सबधित विविध पुराणो तथा अन्य धर्म-ग्रथो मे उन लीला स्थलो और वनो के पुण्य प्रदेश को 'ब्रज', 'ब्रजमडल' अथवा 'माथुरमडल' कहा गया है और इसे २० योजन अथवा ८४ कोस का बतलाया गया है। पुराणादि ग्रथो मे इन वनो की सख्या और इनके नामो का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। यद्यपि उनमे इनके नाम और विवरण मे मतभेद है, तथापि वनो की सख्या १२ प्राय सभी मे बताई गई है और साथ ही ब्रज का परिमाण भी सब मे ८४ कोस का ही लिखा गया है।

---

(१) ऐंश्यंट ज्यागरफी आफ इंडिया, पृ० ४२७-४२८

'पद्मपुराण' ( ११–१७ ) मे ब्रज के १२ बनो के नाम इस प्रकार लिखे गये है— १. मधुवन, २ तालबन, ३. कुमुदबन, ४ बहुलाबन, ५ कामवन, ६ खदिरवन, ७ वृ दावन, ८ भद्रबन, ९. भाडीरबन, १०. वेलवन, ११. लोहबन और १२ महावन। इनमे से आरभ के ७ यमुना नदी के पश्चिम मे और अत के ५ इसके पूर्व मे बतलाये गये है। हमने ८४ कोस परिमाण वाले और विविध वन-उपबनो के इस ब्रज या ब्रजमडल को 'धार्मिक ब्रज' की सज्ञा दी है। हमारे मतानुसार इसके भी दो उप रूप है,—१ साप्रदायिक ब्रज और २ आध्यात्मिक ब्रज। इन दोनो उप रूपो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**सांप्रदायिक ब्रज**—कृष्णोपासक विविध सप्रदायो के कारण श्रीकृष्ण–लीला के उक्त वनो और स्थलो का महत्व इतना बढ गया था कि समस्त भारत के भक्तगण उनके दर्शन और भ्रमण के लिए लालायित होने लगे। तभी 'वनयात्रा' या 'ब्रजयात्रा' का प्रचार हुआ और उसका एक निश्चित क्रम बाँधा गया। जिन बनो और स्थलो मे होकर यात्रा जाने लगी, उनकी परिधि के क्षेत्र को साप्रदायिक आधार पर 'ब्रज' कहा जाने लगा और उसका विस्तार ८४ कोस का समझा गया। हमारे मतानुसार 'बन–यात्रा' या 'ब्रज–यात्रा' की परिधि मे मथुरा मडल का जितना भू-भाग आता है, चाहे वह ८४ कोस परिमाण का है या नही, 'साप्रदायिक ब्रज' है। वर्तमान काल मे इसी को ब्रज या ब्रजमडल कहते है। इसकी परिधि मे श्रीकृष्ण की लीलाओ के समस्त स्थान और उनके गो-चारण के सभी वन–उपबन आ जाते है।
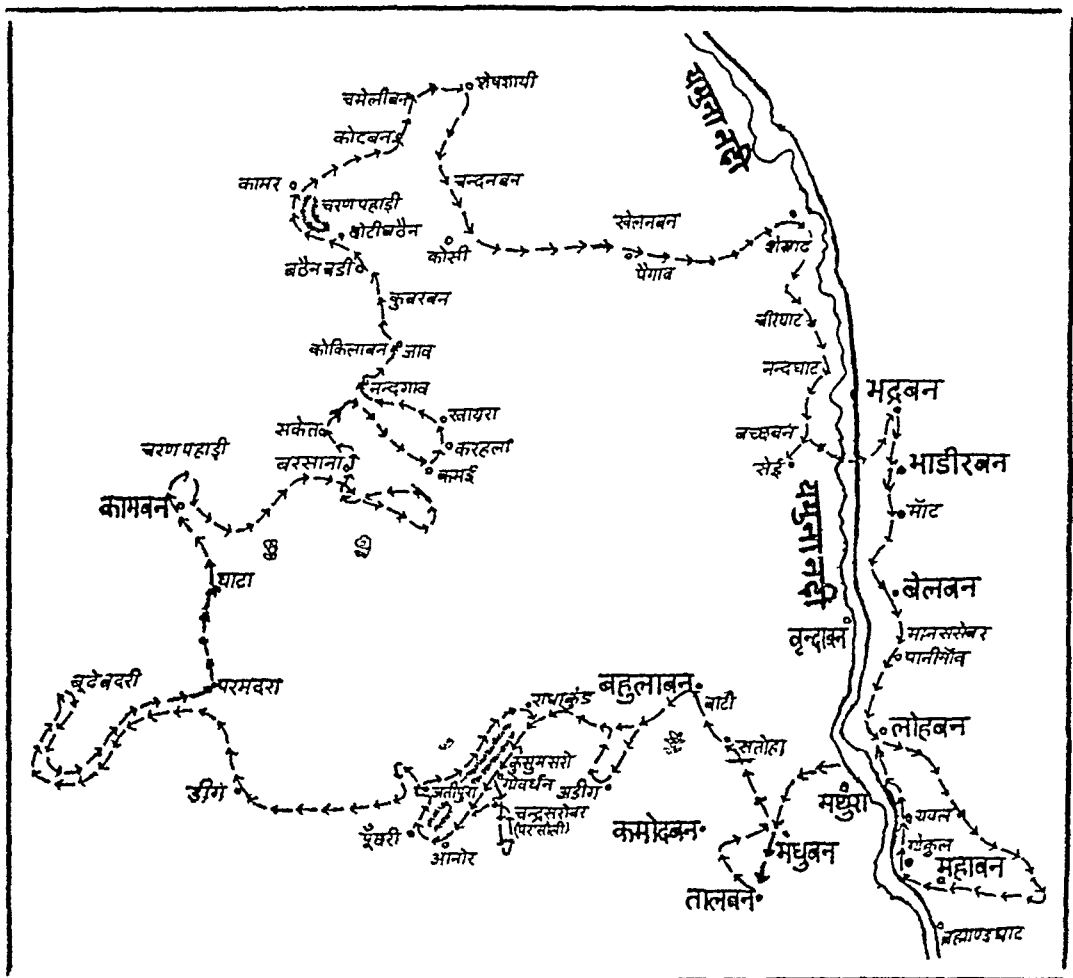
सांप्रदायिक ब्रज ( ब्रज चौरासी कोस की यात्रा का क्षेत्र )

पूर्वोक्त साम्प्रदायिक ब्रज की यात्रा मथुरा से आरभ होकर मथुरा मे ही समाप्त होती है, किंतु यह नगर इसके केन्द्र मे न होकर दक्षिणी किनारे पर स्थित है। यात्रा का अधिकाश मार्ग मथुरा के पश्चिम, पश्चिमोत्तर और उत्तर मे तथा कुछ मार्ग पूर्व एव दक्षिण-पूर्व मे होता हुआ जाता है। इसके ठीक दक्षिण मे यात्रा नही जाती है। इस ब्रज की उत्तरी सीमा शेषशायी तक है तथा इसकी पश्चिमी सीमा कामवन और इसके निकट की चरण पहाडी तक। इसकी पूर्वी सीमा मथुरा जिला के माट ग्राम से लोहवन तक है। इसके दक्षिण-पूर्व की सीमा पर बलदेव और दक्षिण-पश्चिम की सीमा पर तालवन-कुमुदवन है। इस प्रकार यह साम्प्रदायिक ब्रज का रूप हुआ।

**आध्यात्मिक ब्रज**—राधा-कृष्णोपासक भावुक भक्तो ने अपनी उपासना और मानसी ध्यान के लिए ब्रज के एक आध्यात्मिक रूप की भी कल्पना की है। उन कल्पनाशील भावुक भक्तो ने इस महिमा मडित दिव्य ब्रज को गोलोक का प्रतीक माना है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' और 'गर्ग सहिता' जैसे कृष्णलीला के परवर्ती ग्रथो मे गोलोक का अत्यत अलौकिक और रहस्यपूर्ण वर्णन किया गया है। वह महत्तम ऐश्वर्यपूर्ण दिव्य गोलोक धाम सहस्रदल कमल के समान मडलाकार माना गया है।
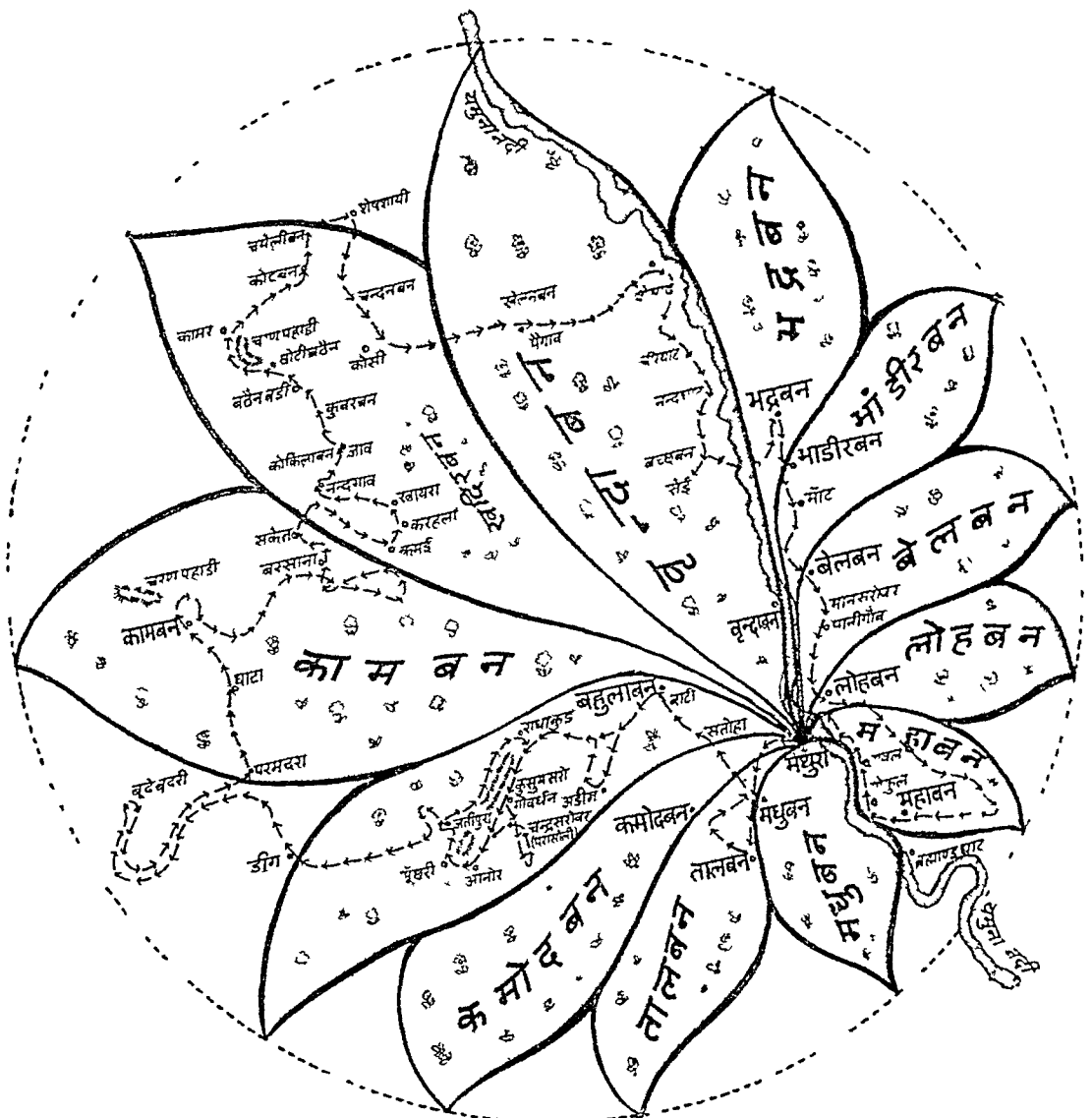
आध्यात्मिक ब्रज ( द्वादश दल का ब्रज कमल )

यह आध्यात्मिक ब्रज भी गोलोक का प्रतीक होने के कारण विविध दल ( पखडियो ) वाले खिले हुए कमल पुष्प के समान गोलाकार माना गया है। इसके दलो की सख्या १२, २४, ३२ अथवा और भी अधिक कल्पित की गई है और उन्हे विविध वन–उपवनो का रूप माना गया है। मथुरा नगरी उक्त ब्रज कमल की कर्णिका वतलाई गई है। साधारणतया ब्रज कमल के १२ दल माने गये है, जो यहाँ के प्रमुख १२ बनो के प्रतीक है।

यह आध्यात्मिक भावना की वात हुई, किन्तु भौतिक दृष्टि से उक्त कथन की सगति नही बैठती है। धार्मिक ब्रजमडल और ब्रज–यात्रा के मार्ग को देखते हुए न तो इसका रूप गोलाकार है और न इसके मध्य मे मथुरा पुरी ही स्थित है। ब्रज–यात्रा का मार्ग टेढा–मेढा है और मथुरा इसके केन्द्र मे न होकर दक्षिणी किनारे पर है। मथुरा के केन्द्रस्थ होने का इतना ही अभिप्राय हो सकता है कि ब्रज के विभिन्न स्थानो को जाने के लिए मथुरा से प्रस्थान करने मे ही सुविधा रहती है।

ब्रज को ८४ कोस परिमाण का मडलाकार और उसके केन्द्र मे मथुरा की स्थिति होने की बात वरावर दोहराई जाती रही है। औरगजेब के पुत्र आजमशाह को ब्रजभाषा से परिचित कराने के लिए मिरजा खा ने १७ वी शती मे जिस 'तोफह्–उल–हिद' नामक फारसी ग्रथ की रचना की थी, उसमे लिखा है—"ब्रज भारत के उस प्रदेश का नाम है, जो मथुरा को केन्द्र मान कर ८४ कोस के बीच मडलाकार स्थित है[1]।"

डा० दीनदयाल गुप्त ने ब्रज के साथ लगे हुए मडल शब्द के कारण इसके गोलाकार स्वरूप पर विशेप वल दिया है। उन्होने अपनी मान्यता के ब्रज का मानचित्र देते हुए लिखा है—"यदि मथुरा को केन्द्र मानकर उक्त स्थानो को स्पर्श करता हुआ एक गोला खीचे, तो ८४ कोस की परिधि का मडल वनता है और उसके अतर्गत ब्रज के सभी प्रसिद्ध स्थान आ जाते है। ब्रज की दक्षिणी सीमा के जन्हुवन को शूरसेन ग्राम ( वर्तमान बटेश्वर ) तक मानने मे उन्होने विशेप आपत्ति की है। उनका कथन है—"ब्रज की हद को बटेश्वर तक लाने मे ब्रजमडल का आकार वेडौल हो जाता है और उसकी एक हद आगरे की वाह तहसील मे दक्षिण-पूर्वी कोने की ओर सुदूर निकल जाती है। इस प्रकार ब्रजमडल का गोलाकार रूप नही रहता। 'मडल' शब्द से गोलाकार का ही वोध होता है। ब्रज के धार्मिक स्वरूप की धारणा भी गोलाकार रूप की है[2]।

ब्रज का यह गोलाकार रूप आध्यात्मिक दृष्टि से ही माना गया है, जैसा हम ऊपर लिख चुके है। इसके धार्मिक अथवा सास्कृतिक रूप से उसकी सगति वैठाना कठिन है। इस रूप मे मडल का अर्थ केवल गोलाकार करना भी उचित नही है, जैसा डा० गुप्त ने पाद–टिप्पणी मे स्वय लिखा है—"राजनैतिक क्षेत्र मे मडल का बोध 'जनपद' रूप मे भी होता है।" वास्तव मे ब्रजमडल का अर्थ ब्रज जनपद अथवा ब्रज प्रदेश करना ही समीचीन है।"

डा० गुप्त ने ब्रज की दक्षिणी सीमा आगरा तक मानने का जो सुझाव दिया है, उसका कोई प्रामाणिक आधार नही दिया गया। हमारे मतानुसार इस सीमा को आगरा से आगे वटेश्वर तक मानना ही समीचीन है, किंतु वह ब्रज के सास्कृतिक रूप की है, जिसका उल्लेख आगे हुआ है।

(१) पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृष्ठ ५२६
(२) अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय, पृष्ठ ४

मानचित्र
ब्रज मंडल
(सांस्कृतिक ब्रज)
जेवर
टप्पल
हथिन
होडल
पुनाहना
फिरोजपुर
झिरका
कोसी
शेरगढ
छाता
पहाडी
रामगढ
डीग
नगर
सोंख
कुम्हेर
कटूमर
हरसाना
नदबई
पश्चिम रेलवे
सेवर
भरतपुर
हलैना
भुसावर
बैर
रूपबास
बयाना
यमुना नदी
सकेत चिन्ह
प्रतिमान
ब्रज मडल सीमा
ब्रज-यात्रा मार्ग
ब्रज यात्रा विश्राम स्थल
जिला सीमा
तहसील सीमा
नगर कस्बा
गाँव
सडक पक्की
सडक कच्ची
रेलवे लाइन
पर्वत
नदी
नहर
झील
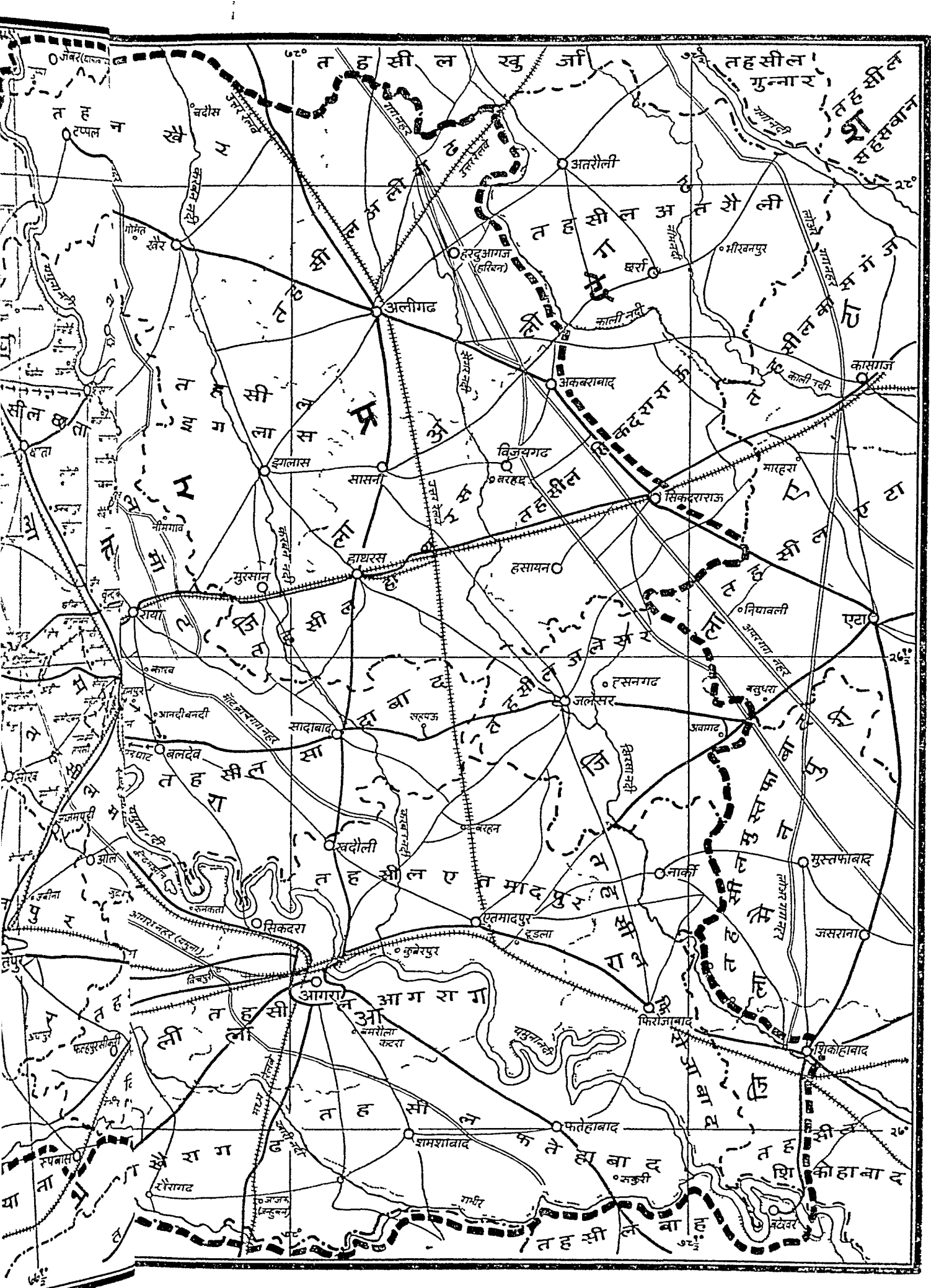
**३. सांस्कृतिक ब्रज**—१६ वीं शती के गौडीय विद्वानो ने विविध पुराणो मे आये हुए श्रीकृष्ण के लीला स्थलो का अनुसधान कर ब्रज की सीमाएँ और उनके विस्तार को बतलाने का प्रयास किया है। उन विद्वानो मे सर्वश्री रूप गोस्वामी और नारायण भट्ट अग्रणी है। श्री रूप गोस्वामी कृत 'मथुरा महिमा' ( माहात्म्य ) और श्री नारायण भट्ट कृत 'ब्रज भक्ति विलास' मे ब्रज के जिस धार्मिक स्वरूप का कथन किया गया है, वह उसके साप्रदायिक, आध्यात्मिक और सास्कृतिक सभी रूपो का परिचायक है।

'ब्रज भक्ति विलास' की रचना स० १६०९ मे ब्रज के राधाकुड के तट पर हुई थी। इसमे ब्रज के समस्त वन, उपवन, तीर्थस्थल और उनके देवी-देवताओ का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इसी ग्रथ मे भट्ट जी की अन्य महान् कृति 'वृहत् ब्रज गुणोत्सव' का भी नामोल्लेख मिलता है। उस २६ हजार श्लोक परिमाण के विशाल ग्रथ मे इन्ही विषयो का, विशेष कर ब्रज-यात्रा के समस्त स्थानो का, विशद वर्णन होना बतलाया गया है[1]। यह ग्रथ उपलब्ध नही है[2]।

गौडीय विद्वानो के प्रयास के फल स्वरूप ही ब्रज के उस वृहत् स्वरूप का निश्चय होता है, जिसे हमने 'सास्कृतिक ब्रज' का नाम दिया है। श्री रूप गोस्वामी ने समस्त पुराणो मे दिए हुए माथुर मडल सबधी कथनो का मथन कर और अपने समय मे किये गये समस्त अनुसधानो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि—"**यायावर से शौकरी बटेश्वर पर्यन्त मथुरामडल की स्थिति है**[3]।" यायावर को हमने मथुरामडल ( ब्रजमडल ) की उत्तरी सीमा का जेवर ग्राम समझा है। इस प्रकार जेवर से बटेश्वर तक सास्कृतिक ब्रज का विस्तार हुआ।

जेवर बुलदशहर जिला मे खुर्जा तहसील का दक्षिणवर्ती एक छोटा गाँव है और बटेश्वर आगरा जिला मे एक प्राचीन धार्मिक स्थल है। बटेश्वर का पुराना नाम शौरपुर था, जिसकी स्थापना भगवान् श्रीकृष्ण के पितामह शूर अथवा शूरसेन द्वारा की हुई कही जाती है। इसके आस-पास श्रीकृष्ण के पूर्वजो और वशजो के अनेक चिन्ह बतलाये जाते है, जिनमे पदमखेडा और आंधखेडा कदाचित श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और पौत्र अनिरुद्ध के नामो पर बसाये गये है। इसका एक घाट 'कस कगार' कहलाता है, जो श्रीकृष्ण के अत्याचारी मामा कस के नाम से सबधित है। जैन और बौद्ध धर्मो के प्राचीन ग्रथो मे भी शौरपुर का नामोल्लेख मिलता है।

प्राचीन काल मे तो यह स्थान शूरसेन जनपद मे था ही, १८ वीं शती तक भी इसे भदावर सहित मथुरामडल मे ही माना जाता था। इसका उल्लेख छत्र कवि कृत 'विजय मुक्तावली' ( स० १७५७ ) और 'सुधा सार' ( स० १७७६ ) ग्रथो मे हुआ है। 'सुधा सार' भागवत दशम स्कध का अनुवाद है, जिसकी रचना छत्र कवि ने अपने आश्रयदाता भदावर नरेश की आज्ञा से की थी। उसमे बटेश्वर की स्थिति का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

मथुरामडल मे बसै, देस भदावर ग्राम।
ऊखल तहाँ प्रसिद्ध महि, क्षेत्र बटेश्वर नाम॥

---

(१) ब्रज भक्ति विलास, पृ० १७७

(२) लेखक कृत 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य', पृ० ६३

(३) मथुरा माहात्म्य, श्लोक १५५

रूप गोस्वामी ने जहाँ उत्तर से दक्षिण-पूर्वी कोण तक के विस्तार का कथन किया है, वहाँ नारायण भट्ट ने चारो दिशाओ की परिधि मे आने वाले विस्तार का उल्लेख कर रूप गोस्वामी के कथन की पूर्ति की है। उन्होने मथुरा से २१–२१ कोसो पर स्थित ४ कोण वतलाते हुए उनके निकटवर्ती वनो का नामोल्लेख किया है। इस प्रकार मथुरामडल का विस्तार उन्होने दूसरे ढग से ८४ कोस बतलाया है। जहाँ धार्मिक व्रज का समस्त विस्तार ८४ कोस का माना गया है, वहाँ भट्ट जी के मतानुसार सास्कृतिक व्रज का भी ८४ कोस विस्तार होने का केवल यही अभिप्राय है कि उसकी चारो दिशाओ के प्रत्येक छोर केन्द्र स्थल मथुरा से २१–२१ कोस पर स्थित है।

नारायण भट्ट का उक्त उल्लेख इस प्रकार है—

चतुरशीति क्रोशाढ्या चतुर्दिक्षु विराजिता ।
मथुरा मण्डल त्क्रोशमेकविशतिक भजेत् ॥
चतुर्दिक्षु प्रयाणेन पूर्वादिक्रमो गणात् ।
पूर्व भागे स्थित कोण वन हास्याभिधानक ॥
भागे च दक्षिणे कोण शुभ जन्हुवन स्थित ।
भागे च पश्चिमे कोणे पर्वताख्यवन स्थित ॥
भागेह्यु त्तर कोणस्थ सूर्यपत्तन सज्ञक ।
इत्येता व्रज मर्यादा चतुष्कोणाभिधायिनी[1] ॥

उपर्युक्त श्लोको मे मथुरा मडल की चारो सीमाओ के चार बनो का नामोल्लेख हुआ है। इनमे पूर्वी सीमा का हास्य वन और दक्षिणी सीमा का जन्हु वन तो सभी उद्धरणो मे समान है। इसमे पश्चिम और उत्तर के कोणो पर स्थित बनो के नाम क्रमश पर्वत वन और सूर्यपत्तन वन लिखे गये है, जब कि नारायण भट्ट के ही अन्य उद्धरण मे वे नाम क्रमश अपहारि वन और सोनहद वन है[2], तथा ग्राउस के उद्धरण मे क्रमश उपहार वन और भुवन वन है[3]। इन समस्त बनो की पहिचान करना इस समय बहुत कठिन है, क्यो कि वे सभी वन कट चुके है और उनके स्थान पर परिवर्तित नामो के गाँव बस गये है।

हमने सर्वश्री रूपगोस्वामी और नारायण भट्ट की मान्यता के आधार पर सास्कृतिक व्रज की सीमाएँ निश्चित करने की चेष्टा की है। हमारे मतानुसार इसकी उत्तरी सीमा जेवर ग्राम तक है, जिसे हमने रूपगोस्वामी द्वारा उल्लिखित यायावर का परिवर्तित नाम समझा है। नारायण भट्ट ने उत्तर के जिस सूर्यपत्तन बन का उल्लेख किया है, उसकी यथार्थ स्थिति बतलाना सभव नही है। पूर्वी सीमावर्ती हास्यवन के परिवर्तित नाम वर्तमान हसायन और हसनगढ गाँव है, जो अलीगढ जिला की सिकदराराऊ और जलेसर तहसीलो मे है। इसकी दक्षिणी सीमा का विस्तार रूपगोस्वामी के मतानुसार वटेश्वर तक है। वटेश्वर व्रजमडल के दक्षिण मे न होकर सुदूर दक्षिण–पूर्वी अग्नि-कोण मे है। नारायण भट्ट ने दक्षिण सीमावर्ती बन का नाम जन्हुवन लिखा है, जिसकी ठीक पहिचान करना सभव नही है। आगरा नगर के दक्षिण मे आगरा जिला की खैरागढ तहसील का

(१) व्रज भक्ति विलास, छटे अध्याय का आरभिक अश
(२) इस ग्रथ मे किया हुआ 'व्रज-विस्तार' का वर्णन, पृ० ६
(३) ,, ,, ,, पृ० ४

एक गाँव जाजऊ है, जो मध्य रेलवे का स्टेशन भी है। इसे जन्हुवन का परिवर्तित नाम समझा जा सकता है। इस प्रकार सांस्कृतिक ब्रज की दक्षिणी सीमा जाजऊ से बटेश्वर तक मानी जा सकती है। पश्चिमी सीमा के पर्वत वन की पहिचान हमने राजस्थान के पहाड़ी गाँव से की है। राजस्थान मे इस नाम के दो गाँव हैं। एक पहाड़ी गाँव कामवन के पश्चिम में है और दूसरा डीग के पश्चिम मे गोविंदगढ के पास। प्रथम पहाड़ी गाँव बड़ा है, किंतु दूसरा पहाड़ी गाँव छोटा होते हुए भी धार्मिक स्थान है। यद्यपि ये दोनो स्थान ब्रजमडल के पश्चिम मे हैं तथापि दूसरे पहाड़ी गाँव को पर्वत वन का प्रतिनिधि मानना उपयुक्त जान पड़ता है। इस प्रकार सांस्कृतिक ब्रज का विस्तार उत्तर मे जेवर से लेकर दक्षिण मे जाजऊ से बटेश्वर तक है तथा पूर्व मे हसायन या हसनगढ से लेकर पश्चिम मे पहाड़ी तक है।

**(४) भाषायी ब्रज**—इसे ब्रजभाषा प्रदेश अथवा ब्रजभाषा क्षेत्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। जिस प्रकार प्राचीन शूरसेन जनपद रूपांतर से मथुरा राज्य और फिर ब्रज या ब्रजमडल नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसी प्रकार प्राचीन शौरसेनी भाषा ही नामांतर से शौरसेनी प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश और फिर ब्रजभाषा कहलाई है। जिस प्रकार शूरसेन जनपद और मथुरा राज्य की भूगोलिक सीमाओ से शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के समझने-बोलने एव लिखने-पढने वालो का क्षेत्र कही अधिक विस्तृत था, उसी प्रकार मथुरामडल अथवा ब्रजमडल की सीमाओ के क्षेत्र से ब्रजभाषा के समझने-बोलने एव लिखने-पढने वालो का क्षेत्र भी कहीं अधिक बडा है। इसमे इतना अंतर अवश्य है कि शूरसेन या मथुरा राज्य का वास्तविक प्रतिनिधि तो 'ब्रजमडल' ही है किंतु शौरसेनी भाषा के प्रतिनिधित्व का दावा 'ब्रजभाषा' के अतिरिक्त हिंदी की सभी बोलियाँ बल्कि उत्तर भारत की अन्य कई भाषाएँ भी कर सकती हैं।

शौरसेनी अपभ्रंश छठी शताब्दी मे प्रचलित हो गया था। जिस समय चीनी यात्री हुएनसांग मथुरा आया था, उस समय इस क्षेत्र मे शौरसेनी अपभ्रंश ही प्रचलित रहा होगा। उसी शौरसेनी अपभ्रंश से ब्रजभाषा का प्रादुर्भाव विक्रम की १० वीं शताब्दी के उपरांत हुआ था। उस समय ब्रज ( मथुरा राज्य ) का राजनैतिक प्रभाव तो समाप्त हो चुका था किंतु कृष्ण-भक्ति के प्रसार के कारण जैसे-जैसे ब्रज का धार्मिक प्रभाव बढता रहा, वैसे-वैसे ब्रजभाषा का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। बाद मे साहित्यिक कारणो से उसका विस्तार और भी अधिक हो गया था। ब्रजभाषा के क्षेत्रीय नाम 'ग्वालियरी' और 'पिंगल' भी रहे हैं[1] तथा इसे 'भाषा' अथवा 'भाखा' भी कहा गया है[2]। इसमे रचना करने वाले कृतविद्य कवियो ने कई सौ वर्षो की साहित्य-साधना से ऐसा विशाल वाङ्मय निर्मित किया कि जो हिंदी भाषा को इतना गौरवपूर्ण बना सका है।

---

(१) १. देस भेद सो होत है, 'भाषा विविध प्रकार।
वरनत हैं तिन सबन मे, 'ग्वारयरी' रस सार॥
'ब्रजभाषा' भावत सकल, सुर-बानी सम तूल।
ताहि बखानत सकल कवि, जानि महा रस-मूल॥ ( छंदप्रभाकर की भूमिका )

२. पुर दिल्ली और ग्वालपुर, बीच ब्रजादिक देस।
'पिंगल' उपनामक गिरा तिनकी कथा विसेस॥ ( सूरजमल चारण )

(२) 'भाषा' कवि भौ मंदमति, तिहिं कुल केसौदास। ( केशवदास )
ताहीं तें यह कथा जथा मति, 'भाखा' कीनी॥ ( नंददास )

भापायी व्रज का क्षेत्रफल ३८००० वर्ग मील है। इसमे निवास करने वाले और मातृभाषा के समान व्रजभापा वोलने वालो की सख्या सन् १९३१ की जन-गणना के अनुसार लगभग १ करोड २३ लाख थी, जो अव २ करोड के लगभग होगी। यह घनी आवादी वाला विस्तृत क्षेत्र उत्तरी भारत के चार हिंदीभापी राज्यो मे वँटा हुआ है। इसका अधिकाश भाग पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे है और शेप भाग पजाव के दक्षिण-पूर्व मे, राजस्थान के पूर्व मे तथा मध्य प्रदेश के उत्तर-पश्चिम मे फैला हुआ है।
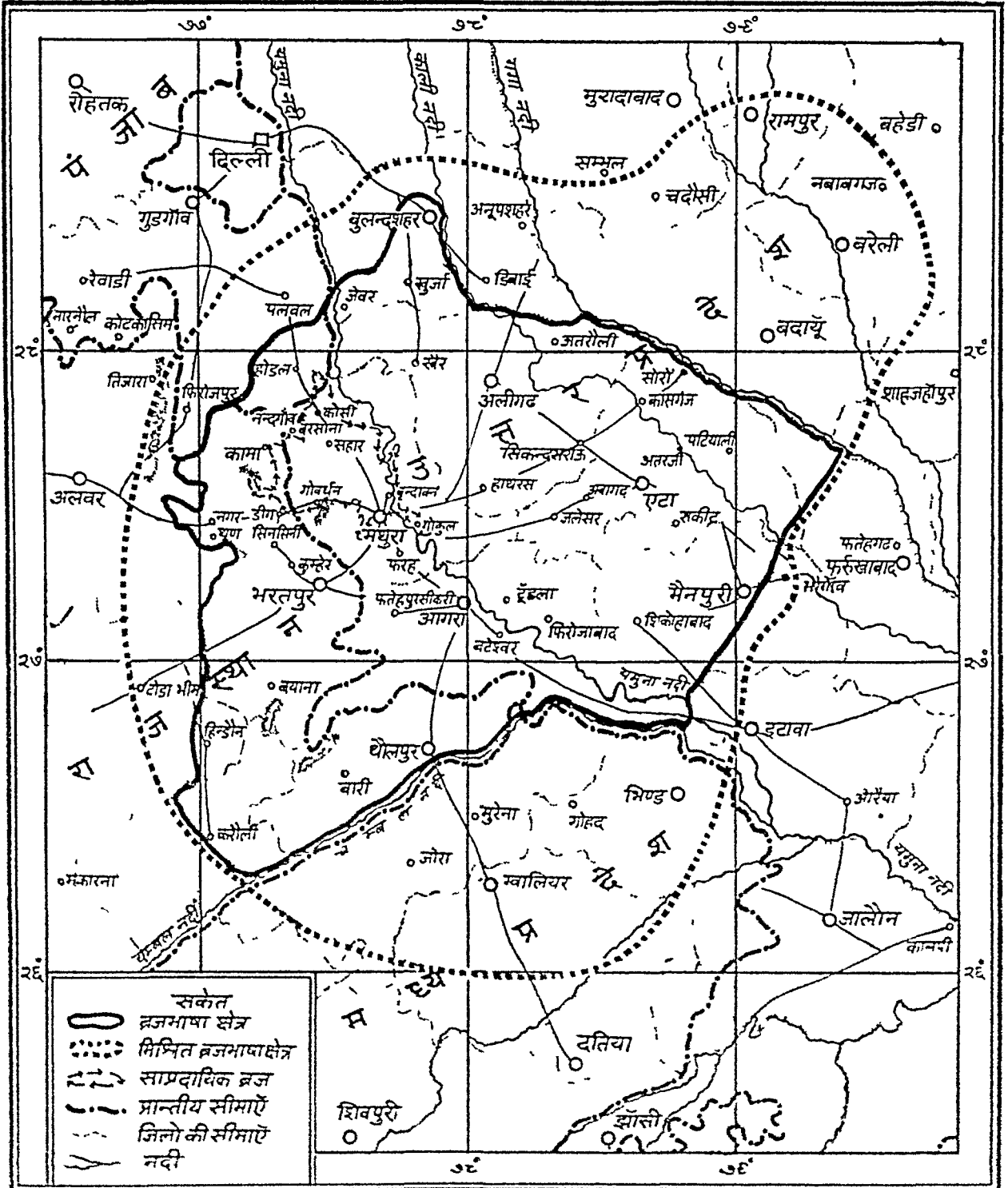
भापायी व्रज ( व्रजभापा क्षेत्र )

भाषायी ब्रज के विस्तार और इसकी सीमाओ के सबध मे अनेक विद्वानो ने समय-समय पर जो विचार व्यक्त किये है, उनमे से कुछ यहाँ पर दिये जाते है। सुप्रसिद्ध भाषाविद् विद्वान डा० धीरेन्द्र जी वर्मा ने वहुत पहिले लिखा था—

"ब्रजभाषा विशुद्ध रूप मे मथुरा, अलीगढ और आगरा जिलो तथा भरतपुर और धौलपुर के देशी राज्यो मे बोली जाती है। ब्रजभाषा का पडौस की बोलियो से कुछ मिश्रित रूप जयपुर राज्य के पूर्वी भाग तथा बुलदशहर, मैनपुरी, एटा, वदायू और बरेली जिलो तक बोला जाता है। ग्रियर्सन महोदय ने अपनी भाषा सर्वे मे पीलीभीत, शाहजहाँपुर, फर्रुखावाद, हरदोई, इटावा तथा कानपुर की बोली को कनौजी नाम दिया है, किंतु वास्तव मे यहाँ की वोली मैनपुरी, एटा, बरेली और वदायू की वोली से भिन्न नहीं है। अधिक से अधिक हम इन सब जिलो की बोली को 'पूर्वी ब्रज' कह सकते है। सच तो यह है कि बु देलखड की बु देली बोली भी ब्रजभाषा का ही एक रूपातर है। बु देली 'दक्षिणी ब्रज' कहला सकती है[1]।"

विख्यात विद्वान डा० गुलाबराय जी के मतानुसार ब्रजभाषा का क्षेत्र इस प्रकार है—

"मथुरा, आगरा, अलीगढ जिलो को केन्द्रीय मान कर उत्तर मे यह अलमोडा, नैनीताल, बिजनौर जिलो तक फैला हुआ है। दक्षिण मे धौलपुर, ग्वालियर तक, पूर्व मे कन्नोज और कानपुर जिलो तक, पश्चिम मे भरतपुर और गुडगाँव जिलो तक इसकी सीमा है[2]।"

भाषायी सर्वेक्षण तथा अन्य अन्वेषणो के आधार पर सुप्रसिद्ध विद्वान श्री कृष्णदत्त जी वाजपेयी ने ब्रजभाषा भाषी क्षेत्र निम्न लिखित माना है—

"मथुरा जिला, राजस्थान का भरतपुर जिला तथा करौली का उत्तरी अश जो भरतपुर एव धौलपुर की सीमाओ से मिला-जुला है, धौलपुर जिला कुल, मध्य भारत मे मुरेना तथा भिड जिले और गिर्द–ग्वालियर का लगभग २६ अक्षाश से ऊपर का उत्तरी भाग ( यहाँ की ब्रज वोली मे बु देली की झलक है ), आगरा जिला कुल, इटावा जिले का पश्चिमी टुकडा ( लगभग इटावा शहर की सीध देशातर ७६ तक ), मैनपुरी जिला तथा एटा जिला ( पूर्व के कुछ अशो को छोडकर, जो फर्रुखाबाद जिले की सीमा से मिले-जुले है ), अलीगढ जिला ( उत्तर पूर्व मे गंगा नदी की सीमा तक ), बुलदशहर का दक्षिणी आधा भाग ( पूर्व मे अनूपशहर की सीध से लेकर ), गुडगाँव जिले का दक्षिणी अश ( पलवल की सीध से ) तथा अलवर जिले का पूर्वी भाग जो गुडगाव जिले की दक्षिणी तथा भरतपुर की पश्चिमी सीमा से मिला जुला है[3]।"

हमारे मतानुसार ब्रजभाषा का निजी क्षेत्र पश्चिमी उत्तर प्रदेश स्थिति मथुरा, आगरा, अलीगढ, एटा जिलो मे तथा मैनपुरी जिला के अधिकाश और बुलदशहर जिला के कुछ भाग मे, राजस्थान स्थित भरतपुर, धौलपुर और करौली क्षेत्रो के कुछ भाग मे तथा पजाव स्थित गुडगाँवा जिला के कुछ भाग मे है। इसके चारो ओर मिश्रित ब्रजभाषा क्षेत्र है। इनमे उत्तर मे खडी बोली, पूर्व मे कन्नौजी, दक्षिण मे बु देलखडी और पश्चिम मे राजस्थानी बोलियो से ब्रजभाषा का मिश्रित रूप मिलता है।

---

(१) ब्रजभाषा व्याकरण, ( प्रथम सस्करण, १९३७ ई० ), पृष्ठ १२
(२) साप्ताहिक हिंदुस्तान, ( ३ मार्च, १९५७ ई० ),
(३) ब्रज का इतिहास, प्रथम भाग ( प्रथम सस्करण, १९५५ ई० ), पृष्ठ ३–४

मथुरा-गोवर्धन मार्ग पर शातनु कु ड नामक एक प्राचीन सरोवर है, जो पौरव वंश के प्रतापी महाराज शातनु का स्मृति-स्थल माना जाता है। शातनु के पुत्र भीष्म थे, जो श्रीकृष्ण के सबधी और कृपा पात्र पाडवो के पितामह थे। शातनु ने अपनी वृद्धावस्था मे एक केवट कन्या सत्यवती से विवाह किया था। शातनु कु ड के समीप का सतोहा गाँव उक्त सत्यवती के नाम पर ही प्रसिद्ध हुआ कहा जाता है।

मथुरा मे यमुना नदी के जो प्राचीन घाट है, उनमे सोम (वर्तमान गोघाट), वैंकु ठघाट और कृष्णगगा नामक घाट उल्लेखनीय हैं। वाराह पुराण मे कृष्णगगा घाट की स्थिति सोमघाट और वैंकु ठघाट के बीच मे बतलाई गई है और उसे महर्षि व्यास का तप-स्थल कहा गया है[1]। उक्त स्थल पर किसी काल मे कृष्णगगा नामक एक नदी यमुना मे मिलती थी। व्यास जी का नाम द्वैपायन कृष्ण था। उनके नाम पर 'कृष्णगगा' और यमुना के सगम का वह घाट 'कृष्णगगा घाट' कहा जाने लगा था। ब्रज मे यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि व्यास जी ने इसी स्थल पर पुराणो की रचना की थी। वर्तमान काल मे कृष्णगगा नदी तो नही है, किंतु इस नाम का घाट अब भी विद्यमान है। इन परपरागत अनुश्रुतियो और पौराणिक उल्लेखो से ब्रज की प्राचीनता के महत्व पर प्रकाश पडता है।

प्रागैतिहासिक कालीन मधुवन के विशिष्ट भाग मे यमुना नदी के तट पर एक सु दर नगरी का निर्माण किया गया। वह नगरी पहिले मधुपुरी अथवा मधुरा और बाद मे मथुरा के नाम से विख्यात हुई। उसके एक ओर यमुना पुलिन और उसके तट की सघन कु जो का मनोरम दृश्य था तथा तीन ओर वन-उपवनो एव लता-गुल्मो का प्राकृतिक वैभव था। उसके पश्चिम मे कुछ दूर गोवर्धन पहाडी का नैसर्गिक सौन्दर्य था। इस प्रकार यमुना नदी और गोवर्धन पहाडी से परिवेष्टित वह रमणीक पुरी 'मथुरा' के नाम से लोक मे प्रसिद्ध हुई[2]। इसके निर्माण और विकास के लिए मधु और उसके पुत्र लवण, रामानुज शत्रुघ्न और उनके पुत्र सुबाहु—शूरसेन तथा सत्वत से लेकर उग्रसेन और उनके पुत्र कस तक क्रमश दैत्यवंशी, सूर्यवंशी और चद्रवंशी कई राजा-महाराजाओ के नाम पुराण प्रसिद्ध हैं।

वैसे तो हिंदू धर्म के अनेक ग्र थो मे मथुरा मडल की महिमा का बखान हुआ है, तथापि विष्णु, स्कद, पद्म, भागवत, वराह आदि पुराणो मे तथा गोपालतापिनी और गर्ग सहिता मे मथुरा-मडल का सर्वाधिक वर्णन मिलता है। वराह पुराण तो एक प्रकार मथुरा से ही सबधित पुराण है।

**जैन-बौद्ध ग्र थो के उल्लेख और अनुश्रुतियाँ**— भारतवर्ष के अवैदिक धर्मो मे जैन धर्म सबसे प्राचीन माना जाता है। इसके तीर्थंकरो की बहुत पुरानी परपरा है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव सहित कई तीर्थंकरो का प्राचीन ब्रज अर्थात् शूरसेन प्रदेश से घनिष्ट सबध रहा है।

---

(१) सोमवैकु ठयोर्मध्ये कृष्णगगेति कथ्यते।
तत्रा तप्यत्तपो व्यासो मथुरायां स्थितोऽमल.॥ (वाराह)

(२) गोवर्धनो गिरिवरो यमुना च महानदी।
तयोर्मध्ये पुरी रम्या मथुरा लोकविश्रुता॥ (वाराह)

जिनसेनाचार्य कृत 'महापुराण' में लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव के आदेश से इन्द्र ने इस भूतल पर जिन ५२ देशों का निर्माण किया था, उनमें एक शूरसेन देश भी था, जिसकी राजधानी मथुरा थी[1]। जैन मान्यता के अनुसार बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ श्रीकृष्ण के भाई थे, इसलिए जैन धर्मावलंबियों को भी श्रीकृष्ण के जन्म स्थान मथुरा और ब्रज का सदा ही महत्व स्वीकृत रहा है।

सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ और तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ का विहार भी मथुरा में हुआ था[2], तथा अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर जी भी मथुरा पधारे थे। अंतिम केवलि जम्बूस्वामी के तप और निर्वाण की भूमि होने से मथुरा जैनियों के लिए विशेष रूप से तीर्थ स्थान रहा है। मथुरा का चौरासी नामक स्थल जम्बूस्वामी की तपोभूमि होने के साथ ही साथ उनका निर्वाण-स्थल भी कहा जाता है। इस प्रकार ब्रज प्रदेश और मथुरा कई तीर्थंकरों की विहार भूमि, विविध मुनियों की तपोभूमि एवं अनेक सिद्ध पुरुषों की निर्वाण भूमि होने के साथ ही साथ जैन धर्म के सुप्रसिद्ध स्तूपों, मंदिरों और कला कृतियों के कारण अत्यंत प्राचीन काल से ही सिद्ध क्षेत्र तथा उत्तरापथ का प्रमुख तीर्थ स्थान माना गया है।

बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की मान्यता है कि इस भू-तल के मानव समाज ने सर्व सम्मति से अपना जो नेता अर्थात् राजा निर्वाचित किया था वह 'महा सम्मत' कहलाता था। उसने मथुरा के निकटवर्ती भू-भाग में अपना प्रथम राज्य स्थापित किया था। इसीलिए 'विनय पिटक' में मथुरा को इस भू-तल का 'आदि राज्य' कहा गया है[3]। भगवान् बुद्ध के जन्म से पहिले भारतवर्ष में १६ बड़े और अनेक छोटे जनपद थे। शूरसेन अर्थात् प्राचीन ब्रज की गणना आरम्भ से ही महा जनपदों में हुई है। पालि ग्रंथ 'अंगुत्तर निकाय' में उन १६ महा जनपदों का नामोल्लेख मिलता है और उनमें पहिला नाम 'शूरसेन' जनपद का है। इस प्रकार बौद्ध धर्म के ग्रंथों में भी प्राचीन ब्रज प्रदेश की महत्ता मानी गई है।

**यमुना और गोवर्धन की महत्ता**—ब्रजमंडल के प्राचीन गौरव की वृद्धि में यमुना और गोवर्धन की महत्ता का अनुपम योग रहा है। पुरातत्व की दृष्टि से ये दोनों कृष्ण-काल से भी पूर्व के अवशेष हैं, अतः कृष्ण कालीन निश्चित चिन्हों के रूप में इनका असाधारण महत्व माना गया है। यमुना उत्तर भारत की पुण्यसलिला नदियों में गंगा के बाद सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यमुना और गंगा से मध्यवर्ती पुरातन प्रदेश में आर्य संस्कृति का सर्वोत्तम रूप सँवारा—सजाया गया था। उनके संगम पर ही आर्य सभ्यता के आदिम केन्द्र प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग के समीप का वर्तमान झूसी) की स्थापना हुई थी। यमुना के तट पर प्रागैतिहासिक काल में मधुपुरी अथवा मथुरा (वर्तमान मथुरा) बसाई गई थी, जहाँ द्वापर युग में भगवान् कृष्ण ने जन्म लिया था। इसी के तट पर महाभारत कालीन इन्द्रप्रस्थ (वर्तमान दिल्ली) और जैन साहित्य के प्राचीन नगर शौरिपुर (वर्तमान बटेश्वर) की प्रतिष्ठा की गई थी। बौद्ध साहित्य की प्राचीन नगरी कौशाम्बी भी इसी के तट पर स्थित थी।

---

(१) महापुराण (पर्व १६ श्लोक १५.)

(२) जिनप्रभ सूरि कृत 'विविध तीर्थकल्प' का 'मथुरापुरी कल्प' प्रकरण

(३) उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास पृ० ३८

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यमुना धर्मराज यम की वहिन है, अत इसे यमी भी कहा जाता है। वहिन की पूजा के साथ भाई अर्थात् मृत्यु के देवता यम की पूजा भी ब्रज मे प्रचलित हो गई है। मथुरा इस देश मे यम–पूजा का कदाचित एक मात्र स्थान है। कार्तिक शुक्ला द्वितीया को यह पूजा मथुरा मे प्रति वर्ष एक महान् पर्व के रूप मे की जाती है। उस अवसर पर भारत के कौने–कोने से लाखो नर–नारी मथुरा आकर यमुना मे स्नान करते है। उन स्नानार्थियो मे अनेक भाई–वहिन होते है, जो उक्त अवसर पर स्नान करने के लिए ही मथुरा आते है। भाई–वहिन के स्नेह–सवर्धन का यह अनुपम त्यौहार यमुना नदी और मथुरामडल के महत्व को वढा रहा है। सस्कृत और ब्रजभाषा के अनेक कवियो ने यमुना की प्रशस्ति के छ दो की रचना द्वारा अपनी वाणी को पवित्र किया है।

गोवर्धन ब्रज की एक छोटी पहाडी है, किंतु इसे गिरिराज ( पर्वतो का राजा ) कहा जाता है। इसे यह महत्व इसलिए प्राप्त हुआ है कि कृष्ण-काल का यह एक मात्र स्थिर अवशेष है। उस काल की यमुना नदी जहाँ समय–समय पर अपनी धारा वदलती रही है, वहाँ गोवर्धन अपने मूल स्थान पर ही अविचल रूप मे विद्यमान है। इसे कृष्ण का स्वरूप और उनका प्रतीक भी माना जाता है और इसी रूप मे इसकी पूजा की जाती है। वल्लभ सप्रदाय के उपास्य देव श्रीनाथ जी का प्राकट्य स्थल होने के कारण इसकी धार्मिक महत्ता मे चार चाँद लग गये है। 'गर्ग सहिता' मे इसके महत्व का कथन करते हुए कहा गया है, – 'गोवर्धन पर्वतो का राजा और हरि का प्यारा है। इसके समान पृथ्वी या स्वर्ग मे कोई दूसरा तीर्थ नही है[1]।' यद्यपि वर्तमान काल मे इसका आकार-प्रकार और प्राकृतिक सौन्दर्य पहिले की अपेक्षा कम हो गया है, फिर भी इसका महत्व कम नही हुआ है।

**सप्त पुरियो मे मथुरा की गणना**—भारतवर्ष के सास्कृतिक और आध्यात्मिक गौरव की आधार-शिलाएँ इसकी सात महापुरियाँ है। 'गरुडपुराण' मे इनके नाम इस क्रम से वतलाये गये है—१ अयोध्या, २ मथुरा, ३ माया, ४ काशी, ५, काची, ६ अवतिका और ७ द्वारिका[2]। इनमे मथुरा का स्थान अयोध्या के पश्चात् अन्य पुरियो मे सवसे पहिले रखा गया है। पद्मपुराण मे मथुरा का महत्व सर्वोपरि मानते हुए कहा गया है कि यद्यपि काशी आदि सभी पुरियाँ मोक्ष-दायिनी है, तथापि मथुरा पुरी धन्य है। यह पुरी देवताओ के लिये भी दुर्लभ है[3]। इसी का समर्थन 'गर्ग सहिता' मे करते हुए वतलाया है कि पुरियो की रानी कृष्णपुरी मथुरा ब्रजेश्वरी है, तीर्थेश्वरी है, यज्ञ-तपोनिधियो की ईश्वरी है। यह मोक्षप्रदायिनी धर्मपुरी मथुरा नमस्कार योग्य है[4]।

---

१ अहो गोवर्धन साक्षात् गिरिराजो हरिप्रिय ।
तत्समान न तीर्थंहि विद्यते भूतलेदिवि ॥ (गर्गसहिता, गिरिराज खड, अध्याय ९)

२ अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवतिका ।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिका ॥ (गरुड पुराण)

३ काश्यात्यो यद्यपि सन्ति पुर्यस्तासा हु मध्ये मथुरैव धन्या ।
ता पुरी प्राप्य मथुरामदीया सुर दुर्लभाम् ॥ (पद्मपुराण ७३–४४, ४५)

४ काश्यादि सर्गायदिसति लोके तासातु मध्ये मथुरैव धन्या ॥३३॥
पुरीश्वरी कृष्णपुरी ब्रजेश्वरी तीर्थेश्वरी यज्ञतपोनिधीश्वरीम् ।
मोक्षप्रदी धर्मधुरधरा परा मधोर्वने श्रीमथुरा नमाम्यहम् ॥३४॥ (गर्ग सहिता)

**चार धामो का व्रज से सबध**—भारतवर्ष के चारो कोनो पर स्थित चार पवित्र धाम भी सप्त महापुरियो की भाँति अपना अनुपम सास्कृतिक महत्व रखते है। इनमे से उत्तर, पूर्व और पश्चिम के तीन—वदरीनाथ, जगन्नाथ और द्वारिका—श्रीकृष्ण के धाम होने से व्रज अर्थात् मथुरामडल से घनिष्ट सबध रखते है। केवल दक्षिण का चौथा धाम रामेश्वर ही श्रीराम के सेतु-बध की स्मृति मे निर्मित हुआ है।

व्रज-भक्तो की भावना के अनुसार वैसे इन चारो धामो के मूल स्रोत व्रज मे ही माने गये है। यहाँ के आदिवदरी नामक स्थान मे वदरीनाथ और अलकनदादि उत्तर के तीर्थ है, राधा-कु ड के निकट गिरिराज की सघन कु जो मे पूर्व के जगन्नाथ विराजमान है, कोसी के अचल मे पश्चिम के द्वारिकाधीश तथा कामबन मे दक्षिण के रामेश्वर की विद्यमानता है। इस प्रकार चारो धामो के कारण भी व्रज की अपूर्व महिमा मानी गई है।

**व्रज प्रदेश के आदर्श आचार-विचार**—मनुस्मृति मे भारतवर्ष के हृदय - स्थल के रूप मे ब्रह्मर्षि देश का उल्लेख हुआ है। इसी ब्रह्मर्षि देश के अतर्गत कुरु, मत्स्य, पचाल और शूरसेन प्रदेशो की स्थिति मानी गई है। मनु ने यहाँ के निवासियो के आचार-विचार समस्त पृथ्वी के मानवो के लिए आदर्श वतलाये है[1]। मनु का यह भी आदेश है कि राजा को इसी भू-भाग के छोटे-वडे वीरो से अपनी सेना का सयोजन करना चाहिये[2]। इस प्रकार शूरसेन अर्थात् प्राचीन व्रज प्रदेश के निवासियो के आदर्श चरित्र और अनुपम वीरत्व की यह पुरातन स्वीकारोक्ति है।

**व्रज की आध्यात्मिकता के सूत्र**—भगवान् श्रीकृष्ण की चिदानदमयी लीला व्रज की आध्यात्मिकता की आधार है, जिसके रहस्यात्मक पाँच सूत्र है—गोष्ठ (व्रज), गो, गोपाल, गोप और गोपी। उपनिपदो तथा अन्य आध्यात्मिक ग्रथो मे इनके रहस्यात्मक अर्थ वतलाये गये है। विद्वद्वर डा० वासुदेवशरण जी ने इनका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

"यह शरीर व्रज भूमि है, इद्रियाँ गौएँ है, निर्लेप आत्मा गोपाल है, जीव गोप और वृत्तियाँ गोपियाँ है। वैदिक साहित्य मे भी सहस्रो स्थानो पर इद्रियो को 'गो' की सज्ञा दी गई है। ये गौएँ जहाँ अमृतमय दुग्ध का प्रस्रवण कर गोपाल को अर्पण करती है, वह व्रजभूमि धन्य है[3]।

गोपो के पुरोहित शाडिल्य ऋपि ने वज्रनाभ को व्रज का महत्व वतलाते हुए इसे साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप कहा है। उन्होने वतलाया कि 'व्रज' शब्द का अर्थ व्याप्ति है। व्यापक होने के कारण ही इसका नाम 'व्रज' है। सत्व, रज, तम, गुणो मे अतीत होने के कारण परब्रह्म ही व्यापक है, अत 'व्रज' परब्रह्म स्वरूप है। वह सदानद और परम ज्योतिर्मय है[4]। व्रज के महत्व की इससे वढ कर और व्याख्या नही हो सकती है।

---

१. कुरुक्षेत्र च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः। एष ब्रह्मर्षि देशोवै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः॥
एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन.। स्वं स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानव॥
(मनुस्मृति, २–१९, २०)

२. कुरुक्षेत्राश्च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनजान्।
दीर्घाल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत्॥ (मनुस्मृति, ७–१९३)

३ व्रज का आध्यात्मिक रहस्य (पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृष्ठ ६४०)

४. भागवत माहात्म्य, (१–१९, २०)

**ब्रज प्रशस्ति**—आध्यात्मिक महिमामडित, प्राकृतिक सौन्दर्यसम्पन्न तथा भौतिक वैभव-शालिनी ब्रज की इस पावन भूमि मे श्रीकृष्ण ने जन्म लिया था और इसके निकटवर्ती वन्य प्रदेश के विविध स्थलो मे उन्होने अनेक लीलाएँ की थी । इससे इस प्रदेश को जो असाधारण महत्व प्राप्त हुआ, वह इसकी पूर्व परपराओ से भी कही अधिक गरिमापूर्ण है । श्रीकृष्ण से सबधित पुराणो मे तथा कृष्णोपासना के अन्य ग्रथो मे ब्रज की इस अलौकिक गौरव-गाथा का विशद वर्णन किया गया है । ये सभी ग्रथ ब्रज की प्रशस्ति के कथनो से भरे पडे है ।

श्रीमद् भागवत मे ब्रज के इस अलौकिक महत्व के कारण जगतपिता ब्रह्मा जी द्वारा ब्रजवासियो की सराहना कराते हुए कहा गया है,—"इनका अहोभाग्य है, धन्य भाग्य है कि जिनके सुहृद् स्वय परमानद स्वरूप सनातन परब्रह्म है ।" इसी ग्रथ मे परम भागवत उद्धव जी द्वारा यह कामना कराई गई है कि वे ब्रज-वृ दावन की लता-गुल्म अथवा रूखडी हो जाँय, ताकि ब्रज-रज का वे निरतर स्पर्श कर सके—

अहोभाग्य महोभाग्य नन्दगोप व्रजौकसाम् ।
यन्मित्र परमानन्द पूर्णब्रह्म सनातनम् ॥
आसामहो चरण रेणु जुषामह स्या ।
वृन्दावने किमपि लतौषधीनाम् ॥

सस्कृत ग्रथो से भी अधिक ब्रजभाषा के भक्त-कवियो की रचनाओ मे ब्रज-प्रशस्ति मिलती है । यहाँ पर कतिपय प्रमुख कवियो के तत्सबधी हृदयोद्गार उद्धृत किये जाते है—

**सूरदास** ( स० १५३५–१६४० )

कहाँ सुख ब्रज कौसौ ससार !
कहाँ सुखद बसीबट जमुना, यह मन सदा विचार ॥
कहाँ बन धाम, कहाँ राधा सग, कहाँ सग ब्रज - बाम ।
कहँ रस - रास बीच अतर सुख, कहाँ नारि तन ताम ॥
कहाँ लता तरु-तरुप्रति झूलन, कु ज-कु ज नव धाम ।
कहाँ विरह सुख बिन गोपिन सग, 'सूर' स्याम मन काम ॥

**परमानददास** ( १५५०–१६४१ )

कहा करौ बैकु ठहि जाय ?
जहाँ नहि नद जसोदा गोपी, जहाँ नहि ग्वाल - बाल और गाय ॥
जहाँ न जल जमुना कौ निर्मल, और नही कदमनि की छाय ।
'परमानद' प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रज-रज तजि मेरी जाइ बलाय ॥

**कृष्णदास** ( स० १५५३–१६३६ )

जा बन बसौ तो बसौ वृ दाबन, गाँव बसौ तो बसौ नदगाम ।
नगर बसौ तो बसौ मधुपुरी, यमुना तट कीजै बिस्राम ॥
गिरि जो बसौ तौ बसौ गोवर्धन, अद्भुत भूतल कीजै ठाम ।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिवर मेरौ, जन्म करौ इहि पूरन काम ॥

### चतुर्भुजदास ( सं० १५८७–१६४२ )

ललित ब्रज देस गिरिराज राजे ।
घोष-सीमंतिनी संग गिरिवरधरन, करति नित केलि तहँ काम लाजे ।।
त्रिविधि पौन सचरे, सुखद झरना झरे, ललित सौरभ सरस मधुप गाजे ।
ललित तरु फूल-फल फलित खट रितु सदा, 'चतुर्भुजदास' गिरिधर समाजे ।।

### नंददास ( सं० १५९०–१६४० )

प्रेम-धुजा रसरूपिनी, उपजावन सुख पुंज ।
सुंदर स्याम विलासिनी, नव वृंदावन कुंज ।।

### रसखान ( सं० १५९०–१६७५ )

मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं नित गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरौ, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन ।।
पाहन हौं तौ वही गिरि कौ, जु धर्‌यौ कर छत्र पुरंदर कारन ।
जो खग हौं तो बसेरौ करौं नित, कालिंदी-कूल कदंब की डारन ।।

### बिहारीलाल ( सं० १६५२–१७२१ )

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर ।
मन ह्वै जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर ।।

### गो० हरिराय ( सं० १६४७–१७७२ )

श्री ब्रज, ब्रज-रज, ब्रज-वधू, ब्रज के जन समुदाय ।
ब्रज-कानन, ब्रज-गिरिन कों, बंदौं सदा सत भाय ।।

### नागरीदास ( सं० १७५६–१८२१ )

ब्रज-वृंदावन स्याम पियारी भूमि है । तहँ फूल-फूलनि भार रह्‌ द्रुम झूमि है ।।
नव दंपति पद अंकनि लोट लुटाइयै । ब्रज-नागर नँदलाल सु निसि-दिन गाइयै ।।
नंदीस्वर बरसानौ गोकुल गाँवरौ । बंसीवट संकेत रमत तहँ साँवरौ ।।
गोवर्धन राधाकुंड सु जमुना जाइयै । ब्रज-नागर नँदलाल सु निसि-दिन गाइयै ।।

### ललित किशोरी ( सं० १८८२–१९३० )

जमुना पुलिन कुंज गहवर की, कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊ ।
पद-पंकज प्रिया–लाल मधुप ह्वै, मधुरे-मधुरे गुंज सुनाऊ ।।
कूकर ह्वै ब्रज बीथिन डोलौं, बचे सीथ संतन के पाऊ ।
'ललितकिसोरी' आस यही मन, ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊ ।।

## द्वितीय अध्याय

# ब्रज का प्राकृतिक और भौगोलिक वर्णन

**उल्लेख और सूचनाएँ**—किसी भी क्षेत्र की संस्कृति का अध्ययन करने के लिए वहाँ की प्राकृतिक और भौगोलिक स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है। संस्कृत और ब्रजभाषा के विविध ग्रथो मे ब्रज के धार्मिक महत्व पर अधिक प्रकाश डाला गया है, किंतु उनमे कुछ उल्लेख इसकी प्राकृतिक और भौगोलिक स्थिति से संबंधित भी मिल जाते है। ये उल्लेख अधिकतर ब्रज के उन भक्त महानुभावो की कृतियो मे है, जिन्होने १६ वी शती के बाद यहाँ निवास कर अपनी रचनाएँ की थी। उनमे से कुछ महानुभावो ने ब्रज के लुप्त स्थलो और भूले हुए उपकरणो का अन्वेषण कर उनके महत्व को फिर से स्थापित करने का प्रयास किया था। ऐसे मनीषियो मे सर्वश्री रूपगोस्वामी नारायण भट्ट, गगग्वाल और जगतनद के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रूपगोस्वामी कृत 'मथुरा माहात्म्य', नारायण भट्ट कृत 'ब्रज भक्ति विलास' और जगतनद कृत 'ब्रज वस्तु वर्णन' मे इस विषय की कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती है।

**ब्रज भूमि की रचना**—किसी प्रदेश की प्राकृतिक स्थिति का आधार अधिकतर उसकी भू-रचना पर निर्भर होता है। ब्रज प्रदेश यमुना नदी के मैदानी भाग मे स्थित है, अत यहाँ की भूमि प्राय समतल है। इसकी औसतन ऊँचाई समुद्र की सतह से लगभग ६०० फीट है। इसका उत्तरी भाग छहसौ फीट से कुछ ऊँचा है और दक्षिणी भाग छहसौ से कुछ नीचा, अत यहाँ की भूमि का ढलाव अधिकतर उत्तर से दक्षिण की ओर है। इसके प्राय बीच मे होकर यमुना नदी की धारा उत्तर से दक्षिण दिशा की ओर प्रवाहित होती है।

भू-रचना की दृष्टि से ब्रज को तीन प्राकृतिक भागो मे विभाजित किया जाता है, जिन्हे १ मैदानी भाग, २ पथरीला किंवा पहाडी भाग और ३ खादर का भाग कहते है। मैदानी भाग बहुत बडा है, जो यमुना के दोनो ओर पूर्व और पश्चिम दिशाओं मे फैला हुआ है। प्राचीन काल मे इस भाग मे यमुना के दोनो ओर बडे-बडे वन थे, जिनके कारण ब्रज मे खूब वर्षा होती थी। उस समय यह भाग बडा रमणीक और उपजाऊ था। प्राचीन वनो के निरतर काटे जाने से वर्षा कम होने लगी है और राजस्थानी रेगिस्तान का फैलाव इधर को बढने लगा है, जिसमे इस क्षेत्र की जलवायु और उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पडा है। फिर भी यमुना से पूर्व दिशा वाला मैदानी भाग अपेक्षाकृत अधिक उपजाऊ है, क्यो कि यह दोमट मिट्टी से बना है। पश्चिम दिशा वाले मैदानी भाग की भूमि बालूदार और मटियार है, अत यह पूर्वी भाग की दोमट भूमि की अपेक्षा कम उपजाऊ है।

पथरीला और पहाडी भाग ब्रज की उत्तर-पश्चिमी तथा पश्चिमी दिशाओ मे है। इस भाग मे कई छोटी पहाडियाँ हैं, जिनका धार्मिक महत्व बहुत अधिक है। वैसे ये नाम मात्र की पहाडी हैं, क्यो कि इनकी औसतन ऊँचाई सौ फीट से भी अधिक नही है।

खादर का भाग यमुना नदी के दोनो ओर की भूमि पर है। यह भू–भाग यमुना तट पर स्थित दो पतली पट्टियो जैसा है और यह अधिकतर नदी की बाढ से लाई हुई मिट्टी से बना है। यह भाग भी उपजाऊ है, किंतु प्रति वर्ष बरसात मे इसके जल मग्न होने की आशका रहती है, अत इसमे अधिक खेती नही हो पाती है।

## पर्वत—

ब्रज का अधिकाश भाग यमुना नदी के मैदानी भाग मे होने के कारण, यहाँ कोई पर्वत या पहाड नही है। जैसा पहिले कहा गया है, इसके पश्चिमी भाग मे कुछ नीची पहाडियाँ है, जो अरवली पहाडी की टूटी हुई शृ खला के रूप मे विद्यमान है। इन नीची और छोटी पहाडियो को इनके धार्मिक महत्व के कारण ही 'गिरि' या 'पर्वत' कहा जाता है।

कवि जगतनद के मतानुसार ब्रज मे ५ पर्वत या पहाडियाँ है, जिनके नाम १ गोवर्धन पहाडी, २ नदगॉव की पहाडी, ३ बरसाना की पहाडी, ४. कामवन की पहाडी और ५ चरण पहाडी है[1]। इनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१ **गोवर्धन पहाड़ी**—मथुरा नगर से प्राय १३ मील दूर ब्रज के गोवर्धन गाँव की यह एक छोटी पहाडी है, किंतु इसके अनुपम धार्मिक महत्व के कारण इसे 'गिरिराज' ( पर्वतो का राजा ) कहा जाता है। इसकी ऊँचाई प्राय १०० फीट और लबाई ५ मील के लगभग है। ऐसी अनुश्रुति है, इसकी ऊँचाई पहिले बहुत अधिक थी, किंतु वह घटते–घटते इतनी कम रह गई है। प्राचीन वृ दावन का विस्तार भी पहिले गोवर्धन तक था और इसके समीप ही यमुना नदी प्रवाहित होती थी। 'गर्ग सहिता मे गोवर्धन पर्वत की वदना करते हुए इसे वृ दावन मे विराजमान और वृंदावन की गोद मे निवास करने वाला गोलोक का मुकुटमणि कहा गया है[2]।

पौराणिक उल्लेखो के अनुसार कृष्ण–काल मे यह अत्यत हरा-भरा रमणीक पर्वत था। इसमे अनेक कदराएँ थी और उनसे शीतल जल के अनेक झरने झरा करते थे। उस काल के ब्रजवासी गण उसके निकट अपनी गाये चराया करते थे, अत वे उक्त पर्वत को बडी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। श्रीकृष्ण ने इद्र की परपरागत पूजा बद कर गोवर्धन की पूजा प्रचलित की थी, जो उसकी उपयोगिता के लिए उनकी श्रद्धाजलि थी।

ब्रज के भक्त महानुभावो ने, विशेष कर वल्लभ सप्रदायी कवियो ने गोवर्धन के प्रति अत्यत श्रद्धा व्यक्त की है। अष्टछाप के भक्त कवियो ने गिरिराज-गोवर्धन को राधा–कृष्ण की केलि–क्रीडाओ का केन्द्र बतलाते हुए उसके प्राकृतिक सौन्दर्य का भी बडा भव्य वर्णन किया है। चतुर्भु जदास ने कहा है—, "वहाँ शीतल, मद, सुगधित पवन चलती है, सु दर झरना झरते है,

---

(१) गोवर्धन नदगाँव मे, अरु बरसाना, काम।
चरन पहाडी पाँच ये, 'जगतनंद' अभिराम॥ ( ब्रज वस्तु वर्णन )

(२) त्वंहि गोबर्धनोनाम वृन्दारण्ये विराजसे ॥१४॥
नमो वृन्दावनांकाय तुभ्य गोलोक मौलिने ॥१५॥ ( गर्ग सहिता, वृ दावन खड )

भ्रमर गण गुंजार करते हैं और षट् ऋतुओं के सुंदर फूल–फल वहाँ सदैव विद्यमान रहते हैं[1]।' छीतस्वामी का कथन है,—"गोवर्धन के सुंदर शिखरों पर नवीन वनस्पति मनोरम दल, फूल, फल सहित शोभायमान है और उनमें जहाँ-तहाँ झरने झर रहे हैं[2]।

कृष्ण–काल में इंद्र के प्रकोप से एक वार व्रज में भयंकर वर्षा हुई थी। उस समय व्रजभूमि के जल मग्न होने की आशंका उत्पन्न हो गई थी। श्रीकृष्ण ने गोवर्धन द्वारा उस समय व्रजवासियों की जीवन–रक्षा की थी। भक्तों का विश्वास है, श्रीकृष्ण ने उस समय गोवर्धन पर्वत को छाता के समान धारण कर उसके नीचे व्रजवासियों को एकत्र कर लिया था। उस अलौकिक घटना का उल्लेख अत्यंत प्राचीन काल से ही पुराणादि धार्मिक ग्रंथों में और कला-कृतियों में होता रहा है[3]। व्रज के भक्त कवियों ने उसका बड़ा उल्लासपूर्ण कथन किया है[4]। आज-कल के वैज्ञानिक युग में उस अलौकिक घटना को उसी रूप में मानना संभव नहीं है। उसका बुद्धिगम्य अभिप्राय यह ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण के आदेशानुसार उस समय व्रजवासियों ने गोवर्धन की कंदराओं में आश्रय लेकर वर्षा से अपनी रक्षा की थी।

गोवर्धन के महत्व की सबसे बड़ी बात यह है कि यह कृष्ण-काल का एक मात्र स्थायी और स्थिर चिन्ह है। उस काल का दूसरा चिन्ह यमुना नदी भी है, किंतु उसका प्रवाह लगातार बदलने से उसे स्थायी चिन्ह नहीं कहा जा सकता है। समस्त भारतवर्ष से लाखों नर–नारी प्रतिवर्ष गोवर्धन के दर्शन और इसकी परिक्रमा करने के लिए आते हैं। व्रज–यात्रा के अवसर पर यहाँ यात्री गण कई दिनों तक ठहरते हैं। उस समय यहाँ पर अनेक उत्सव होते हैं। भक्तों की मान्यता के अनुसार गोवर्धन भगवान् श्रीकृष्ण का प्रतिरूप ही है[5]।

२. **नंदगाँव की पहाड़ी**—इसे 'नंदीश्वर' अथवा 'रुद्रगिरि' भी कहा जाता है। यह व्रज के नंदगाँव नामक गाँव में है, जो कृष्ण–काल में श्रीकृष्ण के पालक–पिता नंद गोप की

---

(१) ललित व्रज देस गिरिराज राजैं।
घोष–सीमंतिनी संग गिरिवरधरन, करति नित केलि तहँ काम लाजैं॥
त्रिविध पौन संचरैं, सुखद झरना झरैं, ललित सौरभ सरस मधुप गाजैं।
ललित तरु फूल-फल फलित षट रितु सदा, 'चतुर्भुजदास' गिरिधर समाजैं॥

(२) गोवर्धन के सिखर चारु पर, फूली नव माधुरी जाई।
मुकुलित फल दल सघन मंजरी, सुमनस सोभा बहुतै भाई॥
कुसुमित कुंज पुंज द्रोणी द्रुम, निर्झर झरत अनेकै ठाई।
'छीतस्वामि' व्रज जुवति जूथ मे विहरत तहँ गोकुल के राई॥

(३) हरिवंश (७२–७६), पद्मपुराण (३७२, १८१–२१७), ब्रह्मपुराण (१८७), विष्णुपुराण (१०, १–१२, ५६), भागवत (१०–३७)

(४) १ गोबर्धन धरनी धर्‌यौ, मेरे वारे कन्हैया। (परमानंददास)
२ नंदलाल गोबर्धन कर धार्‌यौ। (कुंभनदास)

(५) गिरिवर कृष्ण की अनुहारि। (सूरदास)

राजधानी थी। इस पहाडी की लंबाई आधी मील और ऊँचाई प्राय १५० फीट है। इसके सबसे ऊँचे भाग पर नंदराय जी का मंदिर है। पहाडी के चारो ओर ढलाव पर और उसके नीचे नंदगाँव की बस्ती है। ब्रज के भक्त कवियो ने इस पहाडी का उल्लेख 'नंदीश्वर' के नाम से किया है[1]।

**३. बरसाना की पहाड़ी**—इसे 'ब्रह्मगिरि' भी कहते है। यह ब्रज के बरसाना नामक गाँव मे है, जो नंदगाँव से प्राय ४ मील दक्षिण मे है। कृष्ण-काल मे यह राधा जी के पिता वृषभानु गोप का निवास-स्थल था। बरसाना की पहाडी नंदगाँव पहाडी से कुछ बडी है और इसमे कई धार्मिक स्थल है, जो प्राकृतिक दृष्टि से भी बडे रमणीक है। इस पहाडी के एक ऊँचे स्थल पर श्री लाडिली जी का सुंदर मंदिर है तथा दूसरे स्थलो पर अन्य मंदिर बने हुए है। इसके चारो ओर बरसाना गाँव की बस्ती है। ब्रज के भक्त कवियो ने बरसाना का भी उल्लेख राधा-कृष्ण की लीलाओं के प्रसग मे किया है[2]।

**४. कामबन की पहाड़ी**—यह राजस्थान के 'कामवन' नामक स्थान मे है, जो ब्रज के अंतर्गत है। इस पहाडी को 'कामगिरि' भी कहा जाता है। यह प्राय चारसौ गज लंबी है।

**५. चरण पहाडी**—यह छोटी पहाडी नंदगाँव और बरसाना की पहाडियो की भाँति मथुरा जिले की छाता तहसील मे है। नंदगाँव से प्राय ६ मील उत्तर-पूर्व की ओर यह ब्रज के 'छोटी बठैन' नामक गाँव मे है। यह चारसौ गज लंबा और केवल दस फीट ऊँचा पत्थरो का एक ढेर मात्र है, किंतु इसके धार्मिक महत्व के कारण इसे 'चरण पहाडी' कहा जाता है। भक्तो की मान्यता है कि यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-चिन्ह है। ब्रज मे एक दूसरी 'चरण पहाडी' भी है, जो कामवन के निकट है। वहाँ भी श्रीकृष्ण के चरण चिन्ह बतलाये जाते है।

उपर्युक्त पाँचो पहाडियो के अतिरिक्त बरसाने के निकटवर्ती ऊँचागाँव मे भी एक छोटी पहाडी है, जिसे 'सखी गिरि' कहा जाता है। उसी के समीप रनकौली गाँव मे भी एक छोटी पहाडी है। ब्रज के भक्त कवियो की रचनाओ मे इन पहाडियो का नामोल्लेख नही मिलता है। परमानंददास के एक पद मे केवल चरण पहाडी का उल्लेख हुआ है[3]।

**टीले**—ब्रज मे उपर्युक्त पक्की पहाडियो के अतिरिक्त कच्चे टीले भी बहुत बडी संख्या मे है। मथुरा नगर का अधिकांश भाग इन टीलो पर बसा हुआ है और नगर के चारो ओर भी दूर-दूर तक अनेक टीले फैले हुए है। अधिकाश टीले मथुरा नगर के बार-बार बसने और उजडने के अवशेष है। इनमे ककाली टीला, भूतेश्वर टीला, कटरा केशवदेव, गोकर्णेश्वर टीला, सप्तर्षि टीला, जेल टीला, चौबारा टीला आदि उल्लेखनीय है। इनकी खुदाई मे जो बहुसंख्यक प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए है, उनका पुरातात्विक और ऐतिहासिक महत्व बहुत अधिक है।

---

(१) नंदीश्वर तें नंद जसोदा गोपिनि न्यौत बुलाए। (कुंभनदास)

(२) १ बरसाने वृषभान गोप के लाल की भई सगैया। (परमानंददास)
 २ चले कुँवर लै बरसाने को, प्रफुलित मन ब्रजराज। (कुंभनदास)

(३) लुकि लुकि खेलत आँख मिचौनी 'चरन पहाडी' ऊपर। (परमानंददास)

## नदी—

**यमुना**—भारतवर्ष की सर्वोपरि पवित्र और प्राचीन नदियो मे यमुना की गणना गगा के साथ की जाती है। यमुना-गगा के दोआब की पुण्यभूमि मे ही आर्यो की पुरातन सस्कृति का गौरवशाली रूप बना था। ब्रजमडल की तो यमुना एक मात्र महत्वपूर्ण नदी है। जहाँ तक ब्रज सस्कृति का सबध है, यमुना को केवल नदी कहना ही पर्याप्त नही हे। वस्तुत यह ब्रज सस्कृति की सहायक, इसकी दीर्घकालीन परपरा की प्रेरक और यहाँ की धार्मिक भावना की प्रमुख आधार रही है।

पौराणिक अनुश्रुतियो के अनुसार यह देवस्वरूपा हे। भुवनभास्कर सूर्य इसके पिता, मृत्यु के देवता यम इसके भाई और श्री कृष्ण इसके पति माने गये है। जहाँ भगवान् कृष्ण ब्रज सस्कृति के जनक कहे जाते है, वहाँ यमुना इसकी जननी मानी जाती हे। इस प्रकार यह सच्चे अर्थो मे ब्रजवासियो की माता है, अत ब्रज मे इसे 'यमुना मैया' कहना सर्वथा सार्थक है। 'पद्मपुराण' मे यमुना के आध्यात्मिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है,—'जो सृष्टि का आधार है और जिसे लक्षणो मे सच्चिदानद स्वरूप कहा जाता है, उपनिषदो ने जिसका ब्रह्म रूप से गायन किया है, वही परम तत्व साक्षात् यमुना है[1]।' गौडीय विद्वान श्री रूप गोस्वामी ने यमुना को साक्षात् चिदानद मयी बतलाया है[2]। 'गर्ग सहिता' मे यमुना के पचाग—१ पटल, २ पद्धति, ३ कवच, ४ स्तोत्र और ५ सहस्रनाम का उल्लेख है। 'यमुना सहस्रनाम' मे यमुना जी के एक हजार नामो मे उसकी प्रशस्ति का गायन किया गया है[3]। यमुना के परम भक्त इसका प्रति दिन पाठ करते हे। इस सहस्रनाम के आरभिक और अतिम अश इस प्रकार है—

आरभ—ओम् कालिन्दी यमुना कृष्णरूपा सनातनी।
कृष्ण वामाश सभूता परमानन्द रूपिणी ॥ ४ ॥
गोलोक वासिनी श्यामा वृदावन विनोदनी।
राधा सखी रासलीला रासमडल मडनी ॥ ५ ॥

अत—वर्द्धिनी तत्रेसा साक्षाद् गर्भ वासिनि कृतनी।
गोलोक धाम धामिनी निकुज निज मजरी ॥ २७ ॥
सर्वोत्तम मास सर्वपुण्या सर्व सौन्दर्य शृखला।
सर्वतीर्थोपरिगता सर्वतीर्थाधिदेवता ॥ २८ ॥

ब्रजभाषा के भक्त कवियो और विशेषतया वल्लभ सप्रदायी कवियो ने गिरिराज गोवर्धन की तरह यमुना के प्रति भी अतिशय श्रद्धा व्यक्त की है। इस सप्रदाय का शायद ही कोई कवि हो, जिसने यमुना के प्रति अपनी काव्य-श्रद्धाजलि अर्पित न की हो। उनका यमुना-स्तुति सबधी साहित्य ब्रजभाषा भक्ति काव्य का एक उल्लेखनीय अग हे। यहाँ कुछ प्रमुख कवियो के यमुना सबधी पदो की केवल एक-एक पक्ति उद्धृत की जाती है —

---

(१) रमोय. परमाधार सच्चिदानद लक्षण।
ब्रह्मेत्युपनिषद् गति एव यमुना स्वय ॥ (पद्मपुराण, पाताल खड, मरीचि सर्ग)
(२) चिदानदमयी साक्षात् यमुना यम भीतिनत। ( मथुरा माहात्म्य )
(३) गर्ग सहिता (माधुर्य खड, अध्याय १९)

(१) भक्त को सुगम श्री यमुने, अगम औरें। ( सूरदास )
(२) श्री यमुने पर तन-मन-धन-प्राण वारौं। ( कुंभनदास )
(३) जो जमुना कौ दरसन पावै अरु जमुना-जल पान करै। ( परमानंददास )
(४) श्री यमुना के नाम, अघ दूर भाजें। ( कृष्णदास )
(५) श्री यमुना अधम उधारन मैं जानी। ( गोविंदस्वामी )
(६) चित्त मे यमुना निसि-दिन जो राखो। ( चतुर्भुजदास )
(७) धन्य श्री यमुने, निधि दैन हारी। (छीत स्वामी )
(८) भक्त पर करी कृपा, श्री यमुने जो ऐसी। ( नंददास )
(९) रास-रस सागर श्री यमुने जु जानी। ( गंगाबाई )
(१०) नैन भरि देखि अब, भानुतनया। ( हरिराय )

काल मे कटरा के समीप यमुना के प्रवाहित होने की सभावना कम हे, किंतु अत्यत प्राचीन काल मे वहाँ यमुना अवश्य थी[१]। इससे भी यही सिद्ध होता है कि कृष्ण-काल मे यमुना का प्रवाह कटरा के समीप ही था।

श्री कनिघम का अनुमान है, यूनानी लेखको के समय मे यमुना की प्रधान धारा या उसकी एक बडी शाखा कटरा केशवदेव की पूर्वी दीवाल के नीचे बहती होगी[२]। जब मथुरा मे बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार हो गया और यहाँ यमुना के दोनो ओर अनेक सघाराम बनाये गये, तब यमुना की मुख्य धारा कटरा से हट कर प्राय उसी स्थान पर बहती होगी, जहाँ वह अब है, किंतु उसकी कोई शाखा अथवा सहायक नदी कटरा के निकट भी विद्यमान थी। ऐसा अनुमान है, यमुना की वह शाखा बौद्ध काल के बहुत बाद तक, सभवत १६ वी शताब्दी तक केशवदेव मदिर के नीचे बहती रही थी। पहिले दो बरसाती नदियाँ 'सरस्वती' और 'कृष्णगगा' मथुरा के पश्चिमी भाग मे बह कर यमुना मे गिरती थी, जिनकी स्मृति मे यमुना के सरस्वती सगम और कृष्णगगा नामक घाट है। सभव है, यमुना की उन सहायक नदियो मे से ही कोई कटरा के पास बहती हो।

पुराणो से ज्ञात होता है, प्राचीन वृदावन मे यमुना गोवर्धन के निकट प्रवाहित होती थी[3], जब कि इस समय वह गोवर्धन से प्राय १४ मील दूर हो गई हे। गोवर्धन के निकटवर्ती दो छोटे गाँव जमुनावतौ और परासौली ह। वहाँ किसी काल मे यमुना के प्रवाहित होने के उल्लेख मिलते है।

वल्लभ सप्रदाय के वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि सारस्वत कल्प मे यमुना नदी जमुनावतौ गाँव के निकट बहती थी। उस काल मे यमुना नदी की दो धाराएँ थी। एक धारा नदगाँव, बरसाना, सकेत के निकट बहती हुई गोवर्धन मे जमुनावतौ पर आती थी और दूसरी धारा चीरघाट से होकर गोकुल को चली जाती थी। आगे दोनो धाराएँ एक होकर वर्तमान आगरा की ओर बढ जाती थी[४]।

परासोली मे यमुना की धारा के प्रवाहित होने का प्रमाण स० १७१७ तक मिलता है, यद्यपि इस पर विश्वास होना कठिन है। श्री गगाप्रसाद कमठान ने ब्रजभाषा के एक मुसलमान भक्त-कवि कारबेग उपनाम 'कारे' का वृत्तात प्रकाशित किया है। कारबेग के कथनानुसार वह यमुना के तटवर्ती परासौली गाँव का निवासी था और उसने अपनी रचना स० १७१७ मे की थी[५]।

---

(१) मथुरा—ए—डिस्ट्रक्ट मेमोअर ( तृ० स० ), पृ० १२६—१३०

(२) विदेशी लेखको का मथुरा वर्णन ( पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृ० ८२८ )

(३) भागवत-दशम स्कध तथा स्कद पुराण

(४) अष्टछाप—कुभनदास की वार्ता, ( पृष्ठ २००, २०२ )

(५) जमुनावतौ के तीर परासौली कौ बसइया हौ,
भारत के सखा की प्रीति—रीति कछु जानी नही।
सतरहसौ सतरह (स० १७१७) कवि 'कारे' कवित्त कीन्हे,
नैनन तें नैकहु हरि—दरसन की ठानी नही॥
—ब्रज भारती ( वर्ष १३, अक १ )

**आधुनिक प्रवाह**—वर्तमान काल मे सहारनपुर जिला के फैजाबाद गाँव के समीप मैदान मे आने पर यह आगे ६५ मील तक बहती हुई पजाब और उत्तर प्रदेश राज्यो की सीमा बनाती है। उस समय यह पजाब के अम्बाला और करनाल जिलो को उत्तर प्रदेश के सहारनपुर और मुजफ्फरनगर जिलो से अलग करती है। इस भू–भाग मे इसमे मस्करी, कठ, हिडन और सबी नामक नदियाँ मिलती है, जिनके कारण इसका आकार बहुत बढ जाता है। मैदान मे आते ही इससे पूर्वी यमुना नहर और पश्चिमी यमुना नहर निकाली जाती है। ये दोनो नहरे यमुना से पानी लेकर इस भू–भाग की सैकडो मील धरती को हरी–भरी और उपजाऊ बना देती है।

इस भू–भाग मे यमुना की धारा के दोनो ओर पजाब और उत्तरप्रदेश के कई छोटे-बडे नगरो की सीमाएँ है, किंतु इसके ठीक तट पर बसा हुआ सबसे पहला बडा नगर दिल्ली है, जो भारतवर्ष की राजधानी है। दिल्ली के लाखो नर–नारियो की आवश्यकता की पूर्ति करती हुई और वहाँ की ढेरो गदगी को बहाती हुई यह ओखला नामक स्थान पर आती है। उस स्थल पर इस पर एक बडा बाध बाँधा गया है, जिससे नदी की धारा पूरी तरह नियत्रित कर ली गई है। इसी बाध से आगरा नहर निकलती है, जो पजाब और दिल्ली राज्यो की सैकडो मील भूमि मे सिचाई करती है। दिल्ली से आगे यह पजाब और उत्तरप्रदेश की सीमा बनाती हुई तथा पजाब के गुडगाँवा जिला को उत्तरप्रदेश के बुलदशहर जिला से अलग करती हुई यह ब्रज प्रदेश मे प्रवाहित होने लगती है।

**ब्रज मे यमुना का प्रवाह और उसके तटवर्ती स्थान**—ब्रज प्रदेश की सास्कृतिक सीमा मे यमुना नदी का प्रथम प्रवेश बुलदशहर जिला की खुर्जा तहसील के 'जेवर' नामक गाँव के निकट होता है। वहाँ से यह दक्षिण की ओर बहती हुई गुडगाँवा ( पजाब ) जिला की पलवल तहसील और अलीगढ ( उत्तरप्रदेश ) जिला की खैर तहसील की सीमा बनाती है। फिर छाता तहसील के शाहपुर गाँव के निकट यह मथुरा जिला मे प्रवाहित होने लगती है और छाता तथा माँट तहसीलो की सीमा बनाती है। जेवर से शेरगढ तक यह दक्षिणाभिमुख बहती है, फिर कुछ पूर्व की ओर मुड जाती है। ब्रज क्षेत्र मे यमुना के तट पर बसा हुआ पहिला उल्लेखनीय स्थान शेरगढ है।

शेरगढ से कुछ दूर तक पूर्व की दिशा मे बह कर, फिर यह मथुरा तक दक्षिण दिशा मे ही बहती है। मार्ग मे इसके दोनो ओर पुराण प्रसिद्ध वन, उपवन और लीलास्थल विद्यमान है। यहाँ पर यह माट से वृदावन तक बल खाती हुई बहती है और वृदावन को तीन ओर से घेर लेती है। पुराणो से ज्ञात होता है प्राचीन वृदावन मे यमुना की कई धाराएँ थी, जिनके कारण वह प्रायद्वीप सा बन गया था। उनमे अनेक सुदर वनखड और घास के मैदान थे जहा भगवान् श्रीकृष्ण और उनके साथी गोप–बालक अपनी गाये चराया करते थे।

वृद्धि हुई है। यहाँ भी यमुना के तट पर बडे सुदर घाट बने हुए है। यमुना मे नाव मे अथवा पुल से देखने पर मथुरा नगर और उसके घाटो का बडा सुदर दृश्य दिखाई देता है। मथुरा मे यमुना पर दो पक्के पुल बने हुए है, जिनमे से एक पर रेल-गाडी चलती है और दूसरा मोटर, बैलगाडी, इक्का, तागे तथा पैदल चलने वालो के उपयोग मे आता है। विगत काल मे यमुना मथुरा—वृदावन मे एक विशाल नदी के रूप मे बहती थी, किंतु जब से इसमे से नहरे निकाली गई है, तब से इसका आकार छोटा हो गया है। केवल वर्षा ऋतु मे यह अब भी अपना पूर्ववर्ती रूप धारण कर लेती है। उस समय मीलो तक इसका पानी फैल जाता है।

मथुरा से आगे यमुना के बाँये तट पर गोकुल और महावन जैसे धार्मिक स्थल है तथा दाँये तट पर पहिले औरंगाबाद और फिर फरह जैसे छोटे गाँव है। यहाँ तक यमुना के किनारे रेतीले है, किंतु आगे पथरीले और चट्टानी किनारे आते है, जिनमे धारा बल खाती हुई बहने लगती है।

सादाबाद तहसील के गाँव अकोस के पास यमुना मथुरा जिला की सीमा से बाहर निकलती है और फिर कुछ दूर तक मथुरा और आगरा जिलो की सीमा बनाती है। सादाबाद तहसील के मदौर गाँव के पास यह आगरा जिला मे प्रवेश करती है। वहाँ इसमे करबन और गभीर नामक नदियाँ आकर मिलती है।

आगरा जिला मे प्रवेश करने पर नगला अकोस के पास उसके पानी से बनी हुई कीठम झील है, जो सैलानियो के लिए बडी आकर्षक है। कीठम से रुनकुता तक यमुना के किनारे एक सरक्षित वनखंड का निर्माण किया गया है, जो 'सूरदास वन' कहलाता है। रुनकुता के निकट ही यमुना के तट पर 'गोघाट' का वह पुराना धार्मिक स्थल है, जहाँ महात्मा सूरदास ने १२ वर्ष तक निवास किया था और जहाँ उन्होने महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी।

यमुना के तटवर्ती स्थानो मे दिल्ली के बाद सबसे बडा नगर आगरा ही है। यह एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक और व्यापारिक स्थान है, जो मुगल सम्राटो की राजधानी भी रह चुका है। यह यमुना तट से काफी ऊँचाई पर बसा हुआ है। यहाँ भी यमुना पर दो पुल बने हुए है। आगरा मे इसके तट पर जो इमारते है, उनमे किला और ताजमहल सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

आगरा नगर से आगे यमुना के एक ओर फीरोजाबाद और दूसरी ओर फतेहाबाद जैसे बडे कस्बे है। उनके बाद बटेश्वर का सुप्रसिद्ध धार्मिक और ऐतिहासिक स्थल आता है, जहाँ ब्रज की सास्कृतिक सीमा समाप्त होती है।

बटेश्वर का प्राचीन नाम शौरपुर है, जो श्रीकृष्ण के पितामह शूर की राजधानी थी। यहाँ पर यमुना ने बल खाते हुए बडा मोड लिया है, जिससे बटेश्वर एक द्वीप के समान ज्ञात होता है। इस स्थान पर कार्तिक पूर्णिमा को यमुना स्नान का बडा मेला लगता है।

इटावा यमुना के तट पर बसा हुआ बटेश्वर से आगे एक बडा नगर है। यह भी आगरा और बटेश्वर की भाँति ऊँचाई पर बसा हुआ है। यमुना के तट पर जितने ऊँचे कगार आगरा और इटावा जिलो मे है, उतने मैदान मे अन्यत्र नही है। इटावा से आगे मध्य प्रदेश की प्रसिद्ध चम्बल नदी यमुना मे आकर मिलती है, जिससे इसका आकार बहुत बढ जाता है। अपने उद्गम से लेकर चम्बल के सगम तक यमुना नदी गगा नदी के समानान्तर बहती है। इसके आगे उन दोनो के बीच का अतर कम होता जाता है और अत मे प्रयाग मे जाकर वे दोनो मिल जाती है।

चम्बल के पश्चात् यमुना मे मिलने वाली नदियो मे सेगर, छोटी सिध, बेतवा और केन उल्लेखनीय है। इटावा के पश्चात् यमुना के तटवर्ती नगरो मे काल्पी, हमीरपुर और प्रयाग मुख्य है। प्रयाग मे यमुना एक विशाल नद के रूप मे आती है और वहाँ के इतिहास-प्रसिद्ध किले के नीचे गगा मे मिल जाती है। प्रयाग मे यमुना पर एक विशाल पुल बनाया गया है, जो दो मजिला है। यह उत्तरप्रदेश का सबसे बडा पुल है। यमुना और गगा के सगम के कारण ही प्रयाग को तीर्थराज का महत्व प्राप्त हुआ है। यमुना नदी की कुल लबाई उद्गम से लेकर सगम तक ८६० मील के लगभग है।

**अन्य नदियाँ**—ब्रजमडल मे यमुना के अतिरिक्त कोई दूसरी स्वतत्र नदी नही है। यहाँ पर यमुना की कुछ सहायक नदियाँ अवश्य बहती है, जिनमे पटवाह, करवन, सेगर, सिरसा, बानगगा और गभीर के नाम उल्लेखनीय है।

**पटवाह**—यह एक छोटी बरसाती नदी है, जो मेरठ जिला से निकल कर अलीगढ जिला की खैर एव मथुरा जिला की माट तहसीलो मे बहती है। इसके तट का एक मात्र उल्लेखनीय गाँव बाजना है, जहाँ से आगे यह नोहझील के निकट यमुना मे मिल जाती है। इससे माट तहसील मे सिचाई होती है।

**करवन**—इसे कारो भी कहते है। यह भी एक प्रकार से बरसाती नदी है, जो गर्मी मे प्राय सूख जाती है, किन्तु वर्षा ऋतु मे इसका आकार बहुत बढ जाता है। यह बुलदशहर जिला की खुरजा तहसील से आकर अलीगढ जिला की खैर, इगलास और हाथरस तहसीलो मे बहती है। फिर मथुरा जिला की सादाबाद और आगरा जिला की एतमादपुर तहसीलो मे प्रवाहित होती है। उसके बाद यह नदी आगरा नगर से कुछ आगे यमुना मे मिल जाती है। इससे ब्रज की कई तहसीलो मे सिचाई होती है। इसके तटवर्ती गाँवो मे चदौस, खैर, इगलास और सादाबाद के नाम उल्लेखनीय है।

**सेगर और सिरसा**—ये यमुना की छोटी सहायक नदियाँ है, जो अलीगढ, जलेसर, फीरोजाबाद और शिकोहाबाद तहसीलो मे बहती है। इनके तट के समीप बरहद, जलेसर और शिकोहाबाद नामक स्थान बसे हुए है।

**बानगगा और गभीर**—ये छोटी नदियाँ राजस्थान के भरतपुर क्षेत्र मे तथा आगरा जिला की खैरागढ और फतेहाबाद तहसीलो मे बहती है। इन्हे उटगन भी कहा जाता है। बानगगा भरतपुर क्षेत्र की कई नहरो तथा बधो को पानी देकर अपना अस्तित्व समाप्त कर देती है और गभीर नदी बटेश्वर के उत्तर-पश्चिम मे यमुना मे मिल जाती है। इनकी सहायक नदी खारी है।

**लुप्त नदियाँ**—उपर्युक्त छोटी बरसाती नदियो के अतिरिक्त यमुना की दो सहायक नदियाँ और थी, जिनके नाम 'सरस्वती' और 'कृष्णगंगा' कहे जाते है। वे दोनों किसी काल मे मथुरा के पश्चिमी भाग मे बह कर यमुना मे मिला करती थी। वर्तमान काल मे ये नदियो के रूप मे प्रवाहित नही होती है, किंतु इनके अवशिष्ट रूप अब भी ब्रज मे विद्यमान है। ब्रजमडल की इन लुप्त नदियो का जो वृत्तान्त उपलब्ध होता है वह इस प्रकार है—

**सरस्वती नदी** प्राचीन काल मे मथुरा के निकटवर्ती अम्बिकावन मे बहती थी और यमुना मे उस स्थान पर मिलती थी जहाँ आजकल गोकर्णेश्वर महादेव का घाट है। इस घाट की अर्ध्व

तक सरस्वती संगम घाट कहा जाता है। सूरदास ने अपने एक पद में सरस्वती तट पर स्थित शिव-अंबिका की पूजा का उल्लेख किया है[1]। इस समय उक्त नदी के स्थान पर एक बरसाती नाला है, जो रामलीला मैदान में बहता है।

**कृष्णगंगा** नदी प्राचीन काल में श्रीकृष्ण के जन्म-स्थान के निकटवर्ती भाग में बह कर यमुना में उस स्थान पर मिलती थी, जहाँ आजकल कृष्णगंगा घाट, धारापत्तन घाट और घटा-भरण घाट हैं। ये घाट उक्त नदी के नाम तथा कुछ ऊँचाई से यमुना में गिरने के कारण उसके तुमुल घोष के सूचक हैं। इस समय उक्त नदी के अस्तित्व के बजाय एक नाला है, जो बरसात में बहता है। मथुरा नगर के नवीन निर्माण के कारण उसका पुराना मार्ग बदल गया है। अब वह श्रीकृष्ण जन्म-स्थान, मंडी रामदास और चौक बाजार के बरसाती जल को समेटता हुआ स्वामी-घाट के पास यमुना में मिलता है।

**तथाकथित गंगाएँ**—ब्रज में कतिपय बरसाती नदियों तथा सरोवरों को भी 'गंगा' कहते हैं, जो उनके निकटवर्ती स्थानों के धार्मिक महत्व का सूचक है। ऐसे जलाशयों के नाम इस प्रकार हैं—

१ कृष्ण गंगा ( मथुरा ), २ मानसी गंगा ( गोवर्धन ), ३ अलख गंगा (आदि बदरी-कामवन ), ४ पांडव गंगा (कामवन ), ५ चरण गंगा ( चरण पहाड़ी—छोटी बठैन )।

## विविध जलाशय—

**झील**—ब्रज की सांस्कृतिक सीमा में कई छोटी-बड़ी झील हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१ **नोहझील**—यह मथुरा जिला की माट तहसील में इसी नाम के गाँव के पास है।

२ **मोती झील**—यह भी माट तहसील में माट गाँव के पास है। यह अब यमुना नदी की धारा में सँमा गई है।

३ **कीठम झील**—यह मथुरा–आगरा सड़क पर रुनकुता गाँव के समीप है। ब्रज की यह सुरम्य स्थली सैलानियों के लिए भी उपयोगी है।

४ **मोती झील ( दूसरी )**—यह भरतपुर के निकट का एक जलाशय है, जो वहाँ की रूपारेल नामक एक छोटी नदी के पानी से भरा जाता है।

५ **केवला झील**—यह अत्यंत सुंदर झील भरतपुर के समीप है, जो अजानबंध के जल से भरी जाती है। शरद ऋतु में इस झील के किनारे काश्मीर आदि प्रदेशों के अगणित जल-पक्षी आ जाते हैं। सैलानी उन पक्षियों का शिकार किया करते हैं।

**सरोवर**—कवि जगतनंद के अनुसार ब्रज में चार सरोवर हैं, जिनके नाम १ पान-सरोवर, २ मान सरोवर ३ चंद्र सरोवर और ४ प्रेम सरोवर हैं[2]।

---

(१) नंद सब गोपी-ग्वाल समेत।
गए सरस्वती तट इक दिन, सिव-अंबिका पूजा हेत ॥ ( सूरसागर, पद संख्या १८०२ )

(२) पान सरोवर, मान सर, और सरोवर चंद।
प्रेम सरोवर चार ये, ब्रज में कहि 'जगनंद' ॥ (ब्रज वस्तु वर्णन )

१. पान सरोवर—ब्रज के नंदगाँव का यह एक छोटा जलाशय है।

२. मान सरोवर—वृंदावन के समीप यमुना के उस पार है। यह हित हरिवंश जी का प्रिय स्थल है। यहाँ फाल्गुन कृ० ११ को मेला होता है।

३ चंद्र सरोवर—यह गोवर्धन के समीप परासौली गाँव में है। इसके निकट वल्लभ सम्प्रदायी आचार्यों की बैठकें हैं और सूरदास जी का निवास स्थल है।

४ प्रेम सरोवर—यह वरसाना के समीप है। इसके तट पर एक मंदिर है। भाद्रपद मास में इस सरोवर पर नौका लीला का मेला होता है।

**कुंड**—ब्रज में अनेक कुंड हैं, जिनका बड़ा धार्मिक महत्व माना गया है। आज-कल इनमें से अधिकांश जीर्ण-शीर्ण और अरक्षित अवस्था में हैं, जो प्रायः सूखे और गंदे पड़े हैं। इनके जीर्णोद्धार और संरक्षण की अत्यंत आवश्यकता है। कवि जगतनंद के मतानुसार ब्रज में पुराने कुंडों की संख्या १५९ है तथा बहुत से नये कुंड भी हैं। उसने लिखा है, पुराने १५९ कुंडों में से ८४ तो केवल कामवन में हैं, शेष ७५ ब्रज के अन्य स्थानों में हैं[1]। इनमें से अधिक प्रसिद्ध कुंड इस प्रकार हैं—

**मथुरा में**—पोतरा कुंड, सरस्वती कुंड और बलभद्र कुंड।
**गोवर्धन में**—मानसीगंगा कुंड, गोविंद कुंड, अप्सरा कुंड, सुरभी कुंड, उद्धव कुंड, नारद कुंड आदि।
**राधाकुंड में**—राधा कुंड और कृष्ण कुंड।
**कामवन में**—विमल कुंड, यशोदा कुंड, कृष्ण कुंड आदि।
**बलदेव में**—क्षीरसमुद्र कुंड और ब्रह्म कुंड।

इनके अतिरिक्त सतोहा में शातनु कुंड, दधिवन में ललिता कुंड, जाव में ललिता कुंड और लोहवन में कृष्ण कुंड हैं।

**ताल**—ब्रज में कई प्रसिद्ध तालाव हैं। कवि जगतनंद ने केवल दो तालाव—१ राम ताल और २ मुखारी ताल का नामोल्लेख किया है[2]। उनके अतिरिक्त और भी कई तालाव हैं, जिनमें मथुरा का शिव ताल उल्लेखनीय है।

**पोखर**—ब्रज में अनेक पोखर अर्थात् बरसाती कुंड हैं। कवि जगतनंद ने उनमें से ६ का नामोल्लेख किया है। वे पोखर १ कुसुमोखर (गोवर्धन), २ हरजी ग्वाल की पोखर (जतीपुरा), ३ अजनोखर (आजनौ गाँव), ४ पीरी पोखर और ५ भानोखर (बरसाना) तथा

---

(१) उनसठ ऊपर एक सौ, सिगरे ब्रज में कुंड।
चौरासी कामा लखौ, पचहत्तर ब्रज झुंड॥
औरहिं कुंड अनेक हैं, ते सब नूतन जान।
कुंड पुरातन एक्सौ उनसठ ऊपर मान॥ (ब्रज वस्तु वर्णन)

(२) दोइ ताल ब्रज बीच हैं, राम ताल लखि लेहु।
और मुखारी ताल है, 'जगतनंद' करि नेहु॥ (ब्रज वस्तु वर्णन)

९. ईसुरा जाट की पोखर ( नदगाँव ) हैं[1]। इनमे कुसुम सरोवर को ब्रज के जाट राजाओं ने पक्के विशाल कुड के रूप मे निर्मित किया था।

**बावड़ी**—ब्रज मे कई सुदर वावडी हैं किंतु ये भी जीर्णावस्था मे पडी हैं। इनके नाम ज्ञानवापी ( कृष्ण जन्म-स्थान, मथुरा ), अमृत वापी ( दुर्वासा आश्रम, मथुरा ) ब्रह्म वावडी ( वच्छवन ) राधा वावडी ( वृ दावन ) और कात्यायिनी वावडी ( चीरघाट ) हैं।

**कूप**—ब्रज मे सैकडो कूए हैं जो ग्रामीण जनता के उपयोग मे आते हैं। इनमें से कई कूओ का धार्मिक महत्व भी माना गया है। कवि जगतनद के समय मे १० कूए अपनी धार्मिक महत्ता के कारण अधिक प्रसिद्ध थे। उनके नाम इस प्रकार बतलाये गये हैं—

१ सप्तसमुद्री कूप २, कृष्ण कूप और ३ कुब्जा कूप ( मथुरा ) ४ नद कूप ( गोकुल और महावन ) ५ चद्र कूप ( चद्रसरोवर—गोवर्धन ), ६ गोप कूप ( राधाकु ड ) ७ इद्र कूप ( इदरौली गाँव—कामवन ) ८ भाडीर कूप ( भाडीरवन ) ९ कर्णवेध कूप ( करनावल ) और १० वेणु कूप ( चरण पहाडी—कामवन )[2]।

इधर राज्य सरकार ने ग्रामीण जनता को अनुदान देकर उन्हे कूए बनाने के लिए उत्साहित किया है। इससे व्रज मे बहु सख्यक नये कूए वन गये हैं—

**घाट**—व्रज मे मथुरा, वृ दावन, गोकुल और महावन आदि स्थानो मे यमुना नदी पर अनेक घाट बने हुए हैं। इनसे स्नानार्थियो को सुविधा होने के साथ ही साथ यमुना तट के सौन्दर्य की भी वृद्धि होती है। वर्तमान काल मे यहाँ बहुसख्यक घाट बने हुए हैं, किंतु पहिले इनकी सख्या बहुत कम थी। कवि जगतनद ने ब्रज के १६ पुराने घाटो का नामोल्लेख किया है। उनके समय मे अर्थात् १७ वी शताब्दी मे यहाँ पर नये घाट भी बनाये गये थे, जिनकी सख्या कालातर मे क्रमश बढती रही है। कवि जगतनद द्वारा उल्लिखित पुराने घाटो के नाम इस प्रकार हैं—

१ ब्रह्मांड घाट ( महावन ), २ गो घाट, ३ गोविंद घाट, २ ठकुरानी घाट, ३. यशोदा घाट, ६ उतरेश्वर घाट ( गोकुल ), ७ वैकुंठ घाट, ८ विश्रात घाट, ९ प्रयाग घाट, १० बंगाली घाट, ( मथुरा ), ११ राम घाट, १२. केशी घाट १३ विहार घाट, १४ चीर घाट, १५ नद घाट और १६ गोपी घाट ( वृ दावन )[3]।

---

(१) पोखर षट् अव देखिलै, कुसुमोखर जिय जान। हरजी पोखर, आजनौ, पीरीपोखर मान ॥
भानोखर अरु ईसुरा पोखर कहि 'जगनंद'। व्रज चौरासी कोस मे, व्रज कौ पूरनचद ॥

(२) व्रज मे लख दस कूप हैं, सप्त समुद्रहि जान। नदकूप अरु इद्रकूप, चंद्रकूप करि मान ॥
एक कूप भाडीर कौ, करणवेध कौ कूप। कृष्णकूप आनदनिधि, वेनकूप सुखरूप ॥
एक जु कुब्जाकूप है, गोपकूप लखि लेहु। 'जगतनद' वरनन करत, व्रज सो करौ सनेह ॥

(३) व्रज मे सोलह घाट हैं, लखो घाट ब्रह्मांड। गऊघाट, गोविंद कौ घाट जु वन्यौ प्रचड ॥
अरु ठकुरानी घाट है, घाट जसोदा देखि। उतरेश्वर घाट है, घाट वैकुंठ कौ पेखि ॥
घाट एक विसरात कौ, अरु प्रयाग कौ घाट। घाट बगाली देखियै, रामघाट कौ पाट ॥
केसीघाट, विहारि लखि, चीरघाट, नदघाट। गोपीघाट विचारि लै 'जगतनद' इहि वाट ॥
औरहु घाट अनेक हैं सो सब नूतन जान। घाट पुरातन सोलहै, 'जगतनद' मन मान ॥
—व्रज वस्तु वर्णन

इस समय मथुरा के घाटो की सख्या विश्राम घाट सहित २५ है। इनमे से १२ विश्राम-घाट के उत्तर मे है और १२ उसके दक्षिण मे है। वृदावन मे कालियदह से केशीघाट तक अनेक प्रसिद्ध घाट हे, जिनकी सख्या ३५ के लगभग है। इसी प्रकार गोकुल और महावन मे भी कई प्राचीन और प्रसिद्ध घाट वने हुए है। ये सब घाट सुदर लाल पत्थर के है। इनमे से बहुतो पर कलापूर्ण बुर्जिया और छतरियॉ भी है, जिन्हे समय-समय पर अनेक श्रद्धालु राजा-महाराजाओ और समृद्ध व्यक्तियो ने अपार धन व्यय कर वनवाया था। पिछले अनेक वर्षो से यमुना नदी ने वहुत से घाटो को छोड दिया है, जिससे वे शोभाहीन होकर भग्नावस्था मे उपेक्षित पडे हुए है। अब भी जव वर्षा ऋतु मे यमुना का फैलाव बढ जाता है, तव उसका प्रवाह इन सभी घाटो पर होने लगता है। उस समय यमुना तट की जो अनुपम शोभा होती है, उससे दर्शको का मन मुग्ध हो जाता है।

**वन—**

व्रज सदा से अपने सुदर और सुविशाल वनो के लिए प्रसिद्ध रहा है। पुराणादि सस्कृत ग्रथो मे उनके नाम और विवरण मिलते है। उक्त ग्रथो मे व्रज के १२ वन, २४ उपवन तथा बहु सख्यक अन्य प्रकार के वनो का विशद वर्णन हुआ हे। विविध पुराणो मे इनके नाम और सख्या के सवध मे कुछ मत भेद भी है, किंतु पद्मपुराण मे उल्लिखित नाम और सख्या अधिक प्रचलित है। व्रज की समस्त महत्वपूर्ण वस्तुओ का नामोल्लेख करने वाले कवि जगतनद ने भी इन्ही नामो को स्वीकार किया है[1]। यहाँ पर व्रज के उन वन-उपवनादि का वर्णन किया जाता है।

**व्रज के १२ वन**—व्रज के सुप्रसिद्ध १२ वनो के नाम १ मधुवन, २, तालवन, ३ कुमुदवन, ४ वहुलावन, ५ कामवन, ६ खिदिरवन, ७ वृदावन, ८ भद्रबन, ९ भाडीरवन, १० वेलवन, ११ लोहवन और १२ महावन है। इनमे से आरभ के ७ वन यमुना नदी के पश्चिम मे है और अत के ५ बन उसके पूर्व मे है। इनका सक्षिप्त वृतात इस प्रकार है—

**१. मधुबन**—यह व्रज का सबसे प्राचीन बन खड है। इसका नामोल्लेख प्रागैतिहासिक काल से ही मिलता है। राजकुमार ध्रुव ने इसी वन मे तपस्या की थी। शत्रुघ्न जी ने राम-राज्य मे यहाँ के अत्याचारी शासक लवणासुर को मार कर इसी वन के एक भाग मे मथुरा पुरी की स्थापना की थी। वर्तमान काल मे उक्त विशाल वन के स्थान पर एक छोटी सी कदमखडी शेष रह गई है और प्राचीन मथुरा के स्थान पर महोली नामक एक छोटा गॉव वसा हुआ है। यह गॉव मथुरा तहसील मे है।

**२ तालबन**—प्राचीन काल मे ताल के वृक्षो का यह एक वडा वन था और इसमे जगली गधो का वडा उपद्रव रहा करता था। भागवत मे लिखा है, वलराम ने उन गधो का सहार कर उनके उत्पात को शात किया था। कालातर मे उक्त बन उजड गया और शताब्दियो के पश्चात् वहाँ तारसी नामक एक गॉव वस गया, जो इस समय मथुरा तहसील के अतर्गत है।

**३. कुमुदबन**—प्राचीन काल मे इस वन मे कुमुद पुष्पो की वहुलता थी, जिनके कारण इस वन का नाम 'कुमुदवन' पड गया था। वर्तमान काल मे इसके निकट एक पुरानी कदमखडी है, जो इस वन की प्राचीन पुष्प-समृद्धि का स्मरण दिलाती है।

---

(१) व्रज वस्तु वर्णन।

४ **बहुलाबन**—इस वन का नामकरण यहाँ की एक बहुला गाय के नाम पर हुआ है। इस गाय की कथा 'पद्मपुराण' मे मिलती है। वर्तमान काल मे इस स्थान पर झाडियो से घिरी हुई एक कदमखडी है, जो यहाँ के प्राचीन वन-वैभव की सूचक है। इस वन का अधिकाश भाग कट गया है और आजकल यहाँ बाटी नामक एक गाँव बसा हुआ है।

५ **कामबन**—यह व्रज का अत्यत प्राचीन और रमणीक वन था, जो पुरातन वृ दावन का एक भाग था। कालातर मे वहाँ बस्ती बस गई थी। इस समय यह राजस्थान के भरतपुर जिला की डीग तहसील का एक बडा कस्बा है। इसके पथरीले भाग मे दो 'चरण पहाडियाँ' हैं, जो धार्मिक स्थली मानी जाती है।

६ **खिदिरबन**—यह प्राचीन वन भी अब समाप्त हो गया है और उसके स्थान पर खायरा नामक गाँव बस गया है। यहाँ पक्का कु ड और मदिर है।

७ **वृ दावन**—प्राचीन काल मे यह एक विस्तृत वन था, जो अपने प्राकृतिक सौन्दर्य और रमणीक वन-श्री के लिए विख्यात था। जब मथुरा के अत्याचारी राजा कस के आतक से नदादि गोपो को वृहद्वन ( महावन ) स्थित गोप-बस्ती ( गोकुल ) मे रहना असभव हो गया, तब वे सामूहिक रूप मे वहाँ से हट कर अपने गो-समूह के साथ वृ दावन मे जाकर रहे थे। भागवतादि पुराणो से और उनके आधार पर सूरदासादि व्रजभाषा-कवियो की रचनाओं से ज्ञात होता है कि उस वृ दावन मे गोवर्धन पहाडी थी और उसके निकट ही यमुना प्रवाहित होती थी। यमुना के तटवर्ती सघन कु जो और विस्तृत चरागाहो मे तथा हरी-भरी गोवर्धन पहाडी पर वे अपनी गाये चराया करते थे[1]।

वह वृ दावन पच योजन अर्थात् बीस कोस परिधि का तथा ऋषि-मुनियो के आश्रमो से युक्त एक सघन और सुविशाल वन था[2]। वहाँ गोप-समाज के सुरक्षित रूप से निवास करने की तथा उनकी गायो के लिए चारे-घास की पर्याप्त सुविधा थी[3]। उस वन मे गोपो ने दूर-दूर तक अनेक बस्तियाँ बसाई थी, जो विविध गोप-सरदारो के नाम पर नदग्राम, वृषभानुपुर ( बरसाना ) आदि नामो से प्रसिद्ध हुई थी। उस काल का वृ दावन गोवर्धन-राधाकु ड से लेकर नदगाव-बरसाना और कामवन तक विस्तृत था।

---

(१) १ वृ दावन गोबर्धन यमुना पुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयेर्नृ प ।। ( भागवत्, दशम स्कध )
२ अहो वृन्दावन रम्य यत्र गोवर्धनो गिरि। ( स्कन्द पुराण )
३. जमुना उतर आय वृ दावन, जहाँ सुखद द्रुम राजे।
गोबर्धन-वृ दावन-जमुना, सघन कु ज अति छाजें ।।
अचल राज गोवर्धन मेरौ, वृ दाविपिन मँझार ।। ( सूरसागर )
(२) पच योजनमेवास्ति वन मे देहरूपकम्। ( वृहद् गौमती तत्र )
वृंदाबन तु गहन विशाल विस्तृत वहु मुनीनामाश्रयै पूर्ण बन्यवृन्द समन्वितम् ।। (स्कद )
(३) वन वृन्दाबन नाम पशव्य नव काननम्।
गोपगोपीगवा सेव्य पुष्पादि तृण वीरुधम् ।। (भागवत् दशम स्कध)

सस्कृत साहित्य मे प्राचीन वृ दावन के पर्याप्त उल्लेख मिलते है, जिनमे उसके धार्मिक महत्व के साथ ही साथ उसकी प्राकृतिक शोभा का भी कथन किया गया है। महाकवि कालिदास ने उसके वन–वैभव और वहाँ के सु दर फूलो से लदे लता–वृक्षो की प्रशसा की है। उन्होने वृ दावन को कुवेर के चैत्ररथ नामक दिव्य उद्यान के सदृश वतलाया है[1]। पुराणो मे वृ दावन के महत्व सूचक प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है।

वृ दावन का महत्व सदा से श्रीकृष्ण के प्रमुख लीला–स्थल तथा ब्रज के एक रमणीक वन और एकात तपोभूमि होने के कारण रहा है। मुसलमानी शासन के समय प्राचीन काल का वह सुरम्य वृ दावन उपेक्षित और अरक्षित होकर एक वीहड वन हो गया था। पुराणो मे वर्णित श्रीकृष्ण–लीला के विविध स्थल उस विशाल वन मे कहाँ थे, इसका ज्ञान वहुत कम लोगो को था। जव वैष्णव सप्रदायो द्वारा राधा–कृष्णोपासना का प्रचार हुआ, तव उनके अनुयायी भक्तो का ध्यान वृ दावन और उसके लीला स्थलो की महत्व–वृद्धि की ओर गया था। वे लोग भारत के विविध भागो से वहाँ आने लगे और शनै -शनै वहाँ स्थायी रूप से वसने लगे।

इस प्रकार वृ दावन का वह वीहड वन्य प्रदेश एक नागरिक वस्ती के रूप मे परिणत होने लगा। वहाँ अनेक मदिर–देवालय वनाये जाने लगे। वन को साफ कर वहाँ गली–मुहल्लो और भवनो का निर्माण हुआ तथा हजारो व्यक्ति आकर रहने लगे। इससे वृ दावन का धार्मिक महत्व तो वढ गया, किंतु उसका प्राचीन वन–वैभव लुप्तप्राय हो गया।

उपर्युक्त सातो वन यमुना नदी की दाहिनी ओर अर्थात् पश्चिम दिशा मे है। निम्नोक्त पाँच वन यमुना की वायी ओर अर्थात् पूर्व दिशा मे स्थित हैं—

**८ भद्रवन, ९. भाडीरवन और १०. वेलवन**—ये तीनो प्राचीन वन यमुना की वायी ओर ब्रज की उत्तरी सीमा से लेकर वर्तमान वृ दावन के सामने तक थे। वर्तमान काल मे उनका अधिकाश भाग कट गया है और वहाँ पर छोटे–वडे गाँव वस गये है। उन गाँवो में टप्पल, खैर, वाजना, नोहझील, सुरीर, माट, पानीगाँव उल्लेखनीय है।

**११. लोहवन**—यह प्राचीन वन वर्तमान मथुरा नगर के सामने यमुना के उस पार था। वर्तमान काल मे वहाँ इसी नाम का एक छोटा गाँव वसा हुआ है।

**१२ महावन**—प्राचीन काल मे यह एक विशाल सघन वन था, जो वर्तमान मथुरा के सामने यमुना के उस पार वाले दुर्वासा आश्रम से लेकर सुदूर दक्षिण तक विस्तृत था। पुराणो मे इसका उल्लेख वृहद्वन, महावन, नद-कानन, गोकुल, गो–ब्रज आदि नामो से हुआ है। उस वन मे नदादि गोपो का निवास था, जो अपने परिवार के साथ अपनी गायो को चराते हुए विचरण किया करते थे। उसी वन की एक गोप–वस्ती ( गोकुल ) मे कस के भय से वालक कृष्ण को छिपाया गया था। श्रीकृष्ण के शैशव–काल की पुराण प्रसिद्ध घटनाएँ–पूतना वध, तृणावर्त वध, शकट भजन, यमलार्जुन पतन आदि इसी वन के किसी भाग मे हुई थी।

वर्तमान काल मे इस वन का अधिकाश भाग कट गया है और वहाँ छोटे–वडे कई गाँव वस गये है। उन गाँवो मे वलदेव, महावन, गोकुल और रावल के नाम उल्लेखनीय है।

---

(१) रघुवंश, ६–५०

**ब्रज के २४ उपवन**—ब्रज के पुराण प्रसिद्ध २४ उपवनों के नाम कवि जगनन्द ने इस प्रकार लिखे हैं—१ अराट ( अरिष्टवन ), २, सतोहा ( शान्तनु कुंड ) ३. गोवर्धन, ४ बरसाना, ५ परमदरा, ६ नंदगाँव, ७ संकेत, ८ मानसरोवर, ९ शेषशायी १० बेलवन, ११ गोकुल, १२. गोपालपुर १३ परासोली, १४ आन्यौर १५ आदि बदरी, १६ बिलासगढ १७ पिसायो १८ अजनखोर, १९. करहला, २० कोकिलावन, २१ दधिवन ( दहगाँव ) २२ रावल, २३. बच्छवन और २४ कौरववन[1] ।

**अन्य वन**—उक्त १२ वन और २४ उपवनों के अतिरिक्त श्री नारायण भट्ट जी ने वाराह पुराण के आधार पर १२ प्रतिवन और १२ तपोवन तथा विष्णु पुराण के आधार पर १२ अधि वन के नाम लिखे हैं[2] । इनके अतिरिक्त आदि पुराण में १२ मोक्ष वन, भविष्य पुराण में १२ काम वन, स्कंद पुराण में १२ अर्थ वन, स्मृति सार में १२ धर्म वन और विष्णु पुराण में १२ सिद्ध वन के नाम लिखे हैं[3] । श्री नारायण भट्ट जी ने उन समस्त वनों के अधिपति देवताओं का नामोल्लेख करते हुए उनके ध्यान के मंत्र भी लिखे हैं । भट्ट जी के मतानुसार इन समस्त वनों में से ९२ यमुना नदी के दाहिनी ओर तथा ४२ बायीं ओर हैं[4] ।

प्राचीन काल से लेकर मध्य काल तक ब्रज के ये समस्त वन-उपवनादि जहाँ गोचर-भूमि, कृषि, फल-फूल इमारती लकड़ी और ईंधन द्वारा यहाँ की आर्थिक समृद्धि में सहायक थे, वहाँ अपनी प्राकृतिक सुषमा से इसके सौन्दर्य की भी वृद्धि करते थे । इनमें कतिपय हिंस्र जीवों के होने का भी उल्लेख मिलता है । मुसलमानी शासन-काल में बादशाह और उनके प्रमुख सरदार इन वनों में सिंहादि हिंस्रक जीवों का आखेट किया करते थे ।

**वर्तमान स्थिति**—इस समय उक्त वनों में से अधिकांश कट चुके हैं और उनके स्थानों पर छोटी-बड़ी बस्तियाँ बन गई हैं । वर्तमान काल में ब्रज के तथाकथित अनेक वन वास्तव में गाँव हैं । वन ही क्यों, 'महावन' तक ने गाँव का रूप धारण कर लिया है । प्राचीन काल का रमणीक किंतु निर्जन 'वृंदावन' इस समय ब्रज का एक उपनगर है और 'मधुवन' मथुरा नगर है । प्राचीन काल का 'अग्रवन' भी आज का महानगर आगरा हो गया है । इन वनों के कट जाने से एक बड़ी हानि यह हुई कि ब्रज में अब पहिले की भाँति वर्षा नहीं होती है और यहाँ की उपजाऊ भूमि अब रेगिस्तान होती जा रही है । इस संकट को दूर करने के लिए अब फिर से वनों का विस्तार किया जा रहा है ।

**वनों के अवशेष**—यद्यपि प्राचीन वनों में से अधिकांश कट गये हैं और उनके स्थान पर बस्तियाँ बन गई हैं, तथापि उनके अवशेषों के रूप में कुछ वन खंड और कदमखंडियाँ विद्यमान हैं, जो ब्रज के प्राचीन वनों की स्मृति को बनाये हुए हैं ।

---

(१) ब्रज वस्तु वर्णन

(२) ब्रज भक्ति विलास, पृष्ठ २-३

(३) ,, ,, पृष्ठ ३०-३१

(४) ,, ,, पृष्ठ ३५-३६

वर्तमान वृ दावन मे 'निधिवन' और सेवाकु ज' दो ऐसे स्थल है, जिन्हे प्राचीन वृ दावन के अवशेष कहा जा सकता है। ये सरक्षित बनखडो के रूप मे वर्तमान वृ दावन नगर के प्राय मध्य मे स्थित है। इनमे सघन लता–कु ज विद्यमान है, जिनमे बदर - मोर तथा अन्य पशु–पक्षियो का स्थायी आवास है। इन स्थलो मे प्रवेश करते ही प्राचीन वृ दावन की झाँकी मिलती है, कितु वह अधिक मनोरम नही है। कहने को यह सरक्षित धार्मिक स्थल है, कितु वास्तव मे इनके सरक्षण और सबर्धन की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। यदि इनकी उचित रूप मे देख-भाल की जाय, तो ये दर्शको को मुग्ध करने वाले अत्यत रमणीक बनखड बन सकते है।

**निधिबन**—यह स्वामी हरिदास जी का पावन स्थल है। स्वामी जी ने वृ दावन आने पर यहाँ जीवन पर्यत निवास किया और इसी स्थान पर उनका देहावसान भी हुआ था। मुगल सम्राट अकबर ने तानसेन के साथ इसी स्थान पर स्वामी जी के दर्शन किये थे और उनके दिव्य सगीत का रसास्वादन किया था। स्वामी जी के उपरात उनकी शिष्य–परपरा के आचार्य ललित किशोरी जी तक इसी स्थल मे निवास करते रहे थे। इस प्रकार यह हरिदासी सप्रदाय का प्रधान स्थान है। यहाँ पर श्री बिहारी जी का प्राकट्य स्थल, रगमहल और स्वामी जी सहित अनेक आचार्यो की समाधियाँ है।

**सेवाकु ज**—यह श्री हित हरिवश जी का पुण्य स्थल है। हित जी ने वृ दावन आने पर अपने उपास्य श्री राधाबल्लभ जी का प्रथम पाटोत्सव इसी स्थान पर स० १५९१ मे किया था। वाद मे मदिर वन जाने पर उन्हे वहाँ विराजमान किया गया था। इस समय इसके बीचो बीच श्रीजी का छोटा सा सगमर का मदिर है, जिसमे नाम-सेवा होती है। इसके निकट ललिताकु ड है। भक्तो का विश्वास है कि इस स्थान पर अब भी श्री राधा–कृष्ण का रास–विलास होता है, अत रात्रि को यहाँ कोई नही रहता है। काधला निवासी पुहकरदास वैश्य ने स० १६६० मे यहाँ श्रीजी के शैया-मदिर का निर्माण कराया था और अयोध्या नरेश प्रतापनारायण सिह की छोटी रानी ने स० १९६२ मे इसके चारो ओर पक्की दीवाल बनवाई थी।

**कदबखडी**—ब्रज मे सरक्षित वनखडो के रूप मे कुछ कदबखडियाँ थी, जहाँ बहुत बडी सख्या मे कदब के वृक्ष लगाये गये थे। उन रमणीक और सुरभित उपबनो मे ब्रज के कतिपय महात्माओ का निवास था। कवि जगतनद ने अपने काल की चार कदबखडियो का नामोल्लेख किया है। वे सुनहरा गाँव की कदबखडी, गिरिराज के पास जतीपुरा मे गोविदस्वामी की कदबखडी, जलविहार ( मानसरोवर ) की कदबखडी और नदगाँव ( उद्धव क्यार ) की कदबखडी थी[1]। उनके अतिरिक्त जो और है, उनके नाम कुमुदबन, बहुलावन, पेठा, श्याम ढाक ( गोवर्धन ) पिसाया, दोमिलवन, कोटवन और करहला नामक स्थानो की वनखडियाँ है। वर्तमान काल मे इनकी अवस्था शोचनीय है। ब्रज के इन ऐतिहासिक और धार्मिक वनखडो के सरक्षण की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है।

**कतिपय रमणीक स्थल**—ब्रज का प्राचीन प्राकृतिक सौन्दर्य चाहे कितना ही नष्ट हो गया है, फिर भी यहाँ कुछ ऐसे रमणीक स्थल विद्यमान है, जिनके दर्शन मात्र से ही अतीव आनद

---

(१) देखि सुनहरा, पास गिरि, जलबिहार नंदगाँव।
कदमखंडि ब्रज चार है, 'जगतनद' इहि ठाँव॥ ( ब्रज–वस्तु–वर्णन )

की अनुभूति होती है। वर्षा ऋतु मे इनका रूप और भी अधिक सुहावना हो जाता है। ऐसे रमणीक स्थलो मे बहुलावन ( वाटी गॉव ), घाटा ( कामवन ), मोरकुटी और साकरीखोर ( वरसाना ), पिसायौ, कोटवन, चमेलीवन, पैगॉव, चीरघाट ( वृदावन के उत्तर मे ) माननरोवर, पानीगॉव, निधिवन और नेवाकुज ( वृदावन), वह्माडघाट ( महावन ) के नाम उल्लेखनीय है। इनमे भी पिसायौ और वध वारेठा की ख्याति अधिक है।

पिसायौ—इस रमणीक स्थल को 'वज भक्ति विलास' मे 'पिपासा वन' कहा गया है। इसके प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रशसा करते हुए श्री ग्राउस ने लिखा है—"यह मथुरा जिला का सबसे सुदर स्थल है, जो काफी वडा भी है। इसमे प्राकृतिक चौको की कई पक्तियाँ है, जिनके चारो ओर कदव के वृक्षो की कतारे है। इनके साथ कही-कही पर कुछ छोटे वृक्ष पापडी, पसेद्, ढाक और सहोड के भी हैं। ये चौक ऐसे नियमित रूप मे वन गये हैं कि इन्हे प्राकृतिक कहना कठिन है। इन्हे 'वावन चौक' कहा जाता है, किंतु वास्तव मे इनकी सख्या कम है। इनमे वदर वहुत वडी सख्या मे रहते है। इसके पूर्व की ओर जो जगल है, उनमे पीलू रेमजा और करील की झाडियाँ हैं। पश्चिम की ओर कुछ दूरी पर वरसाने का मदिर दिखलाई देता है। यहाँ पर अरनी के पौधे भी हैं, जिनके फूलो की सुगध से समस्त वन का वातावरण महकता रहता है। पिसायौ गॉव के निकट किशोरी कुड है और दो मदिर हैं[1]।"

वंध वारेठा—राजस्थान के भरतपुर जिले का यह वडा रमणीक स्थल है। भरतपुर नगर से यह २३ मील दूर है और वहाँ तक मोटर का रास्ता है। इस स्थल पर छोटी पहाडियो के वीच मे एक वध वनाया गया है, जिसके पानी से वहाँ एक रमणीक झील वन गई है। इसमे कई स्थलो पर चट्टानो जैसी सीढियो पर से पानी गिरता है, जिससे झरनो का सा दृश्य दिखाई देता है। पानी की धाराएँ कल रव करती हुई और झाग उठाती हुई वडी सुहावनी जान पडती है। झील मे भाँति-भाँति की मछलियाँ हैं, जगल मे अनेक प्रकार के शिकार हैं और निकटस्थ दलदल मे मुरगावियाँ हैं। इन सवके कारण यह सैलानियो और भ्रमणार्थियो का स्वर्ग सा वन गया है। इसके ऊपर पहाडी की चोटी पर भरतपुर के राजमहल है और नीचे राजा का नाव घर है, जहाँ सैर के लिए मोटर नावे रखी जाती हैं।

## वन—वैभव—

**वृक्ष**—व्रज के वन-वैभव के आधार वे वृक्ष है, जो वहाँ विविध जातियो और नाना प्रकारो के मिलते हैं। उनके नाम अकारादि क्रम से इस प्रकार है,—अकोल, अगस्त, अनार, अमरूद, अमलतास, अरनी, अरुआ, अशोक, आम, आवला, इमली, इद्रजौ, कचनार, कटहल, कटियारी, कटैया, कदव, कनेर, कमरख, करील, केला, कैत, खजूर, खिरनी, गूलर, गोदी, छोकर, जामुन, झाऊ, ढाक, तमाल, धौ, नारगी, नीवू, नीम, नीमचमेली ( विलायती वकायन ), पपीता पसेंदू, पापडी, पारस पीपर, पिलखन, पीपर, पीलू, फरास, फालसेव, वकायन, वड, वव्ल, वरना, वहेडा, वेर, वेल, वायविडग, महुआ, मौलश्री, रीठा, रेमजा, लवेडा, लिसौडा, शहतूत, श्रीफल, सहजना, सहोड, सिरस, सीसम, सेमर, हिंगोट, और हीस। ये सव वृक्ष व्रज के नैसर्गिक सौन्दर्य की वृद्धि करने के साथ ही साथ अपने विविध उपयोगो द्वारा इसकी भौतिक समृद्धि मे भी सहायक रहे हैं।

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृ० स०)

**धार्मिक और सास्कृतिक महत्व के वृक्ष**—ब्रज के कुछ वृक्षो का धार्मिक महत्व माना गया है। ऐसे वृक्षो मे आमलक ( आवला ), न्यग्रोध ( वड ), अश्वत्थ ( पीपल ), शमी (छोकर) और तमाल के नाम उल्लेखनीय है। ब्रज मे विविध अवसरो पर इन वृक्षो को पूजा होती है। वड अर्थात् वट का वृक्ष अत्यत विशाल और दीर्घायु का होता है। ब्रज मे कई स्थानो पर दो-दो तीन-तीन सौ वर्षो के पुराने वट वृक्ष मिलते है। ब्रज मे कई वट वृक्षो की परपरागत प्रसिद्धि भी रही है। श्री जगतनद ने अपने काल के १० सुप्रसिद्ध वट वृक्षो का नामोल्लेख किया है। वे पिपरोली, जाव, रासौली, सकेत, परासोली, भाडीरबन स्थित वटो के अतिरिक्त अक्षय वट, वशी वट, विशाल वट और श्याम वट थे[1]। श्री कृष्ण ने जिन स्थानो मे विशिष्ट लीलाएँ की थी, उनकी स्मृति मे वहाँ वे वट वृक्ष लगाये गये थे।

शमी अर्थात् छोकर के वृक्षो का महत्व वल्लभ सप्रदाय मे अधिक माना गया है। सर्व श्री वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी ने ब्रज मे जो धार्मिक प्रवचन किये थे, वे प्राय इन्ही वृक्षो के नीचे बैठ कर हुए थे। उनकी अधिकाश बैठके भी इन्ही वृक्षो के नीचे वनी हुई है। तमाल के वृक्ष भी ब्रज के अनेक लीला-स्थलो मे मिलते है। इसका उल्लेख ब्रज के भक्त कवियो ने कृष्ण-लीला के विविध प्रसगो मे किया है। उन्होने श्री कृष्ण के सावले रग की उपमा श्याम तमाल से देकर इस वृक्ष का और भी महत्व वढा दिया है[2]।

सास्कृतिक महत्व के वृक्षो का चित्रण ब्रज के प्राचीन कलावशेषो मे मिलता है। ऐसे वृक्षो मे पीपल, अशोक, कदव, चम्पा, नागकेसर आदि है। ब्रज मे पीपल की एक दुर्लभ जाति का वृक्ष भी मिलता है, जिसे 'पारस पीपर' (परसियन पीपल ) कहते है। ग्राउस ने ब्रज के दो स्थान—मथुरा के ध्रुवटीला और महावन के निकटवर्ती खेलन बन मे इस वृक्ष के होने का उल्लेख किया है।

कदव ब्रज का सुप्रसिद्ध फूलदार वृक्ष है। वर्षा ऋतु मे जव यह फूलता है, तब पूरा वृक्ष अपने हल्के पीले रग के गोलाकार फूलो से भर जाता है। उस समय इसके फूलो की मादक गध से ब्रज के समस्त वन-उपबन महकने लगते है। ब्रज मे इसकी कई जातियाँ मिलती है, जिनमे श्वेत-पीत, लाल और द्रोण जाति के कदव उल्लेखनीय है। साधारणतया यहाँ श्वेत-पीत रग के फूलदार कदव ही मिलते है, कितु कुमुद वन की कदमखडी मे लाल रग के फूल वाले कदब भी पाये जाते है। श्याम ढाक आदि कुछ स्थानो मे ऐसी जाति के कदव है, जिनमे प्राकृतिक रूप से दोना की तरह मुडे हुए पत्ते निकलते है। इन्हे 'द्रोण कदब' कहा जाता है। गोवर्धन क्षेत्र मे जो

---

(१) पिपरौली वट, जाव वट, रासौली वट जानि।
अक्षय वट, सकेत वट, परासोलि वट मानि॥
बंसी वट, भाडीर वट, विसाल वट अरु श्याम।
ये दस वट ब्रजभूमि में, 'जगतनंद' के धाम॥ ( ब्रज वस्तु वर्णन )

(२) १ हेमलता 'तमाल' अवलवित, सीस मल्लिका फूली हो।
कुंचित केस बीच अरुझाने, जनु अलि-माला भूली हो॥ ( परमानददास )
२ तरनि-तनया तीर मरकत मनि, जु स्याम 'तमाल'।
ब्रज की नारि-समूह मंडल बनी कंचन-माल॥ ( चतुर्भुजदास )

नवीन वृक्ष लगाये गये हैं, उनमे एक नये प्रकार का कदब भी बहुत बडी संख्या मे है। व्रज के साधारण कदब से इसके पत्ते भिन्न प्रकार के है और इसके फूल बडे होते हैं किंतु उनमे सुगंध नही होती है। वैसे इसके फूल-पत्तो के रूप-रग बडे सुदर और सुहावने लगते हैं। व्रज मे कदब का वृक्ष सदा से बडा लोक प्रिय रहा है। राधा-कृष्ण की अनेक लीलाएँ इसी वृक्ष के सुगंधित वातावरण मे हुई थी। मध्य काल मे व्रज के लीला-स्थलो के अनेक उपवनो मे इसे बहुत बडी संख्या मे लगाया गया था। वे उपवन 'कदमखडी' कहलाते हैं। व्रज के अनेक महात्मा और भक्त जन वहाँ निवास कर अपनी भक्ति-साधना मे लीन रहे हैं।

**फलदार वृक्ष**—व्रज मे मीठे और खट्टे दोनो प्रकार के फलदार वृक्ष होते हैं। मीठे फल वाले वृक्षो मे अमरूद आम केला कैंत, खजूर, खिरनी, बेर, बेल सहतूत, श्रीफल आदि है। खट्टे फल वाले वृक्षो मे आँवला, इमली कमरख करोदा जामुन नारगी नीबू आदि उल्लेखनीय हैं। कच्चा आम खट्टा और पका हुआ मीठा होता है तथा कच्ची इमली खट्टी और पकी हुई खट-मिट्ठी होती है। इसी प्रकार कमरख और नारगी भी खट-मिट्ठे फल है। इनमे जामुन और नारगी को छोड कर शेष फलो का उपयोग चटनी, अचार और मुरब्बा आदि के लिए किया जाता है।

भारतीय फलो मे आम सबसे अधिक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय है जो इस देश के विभिन्न भागो मे पचासो किस्म का होता है। व्रज मे अति प्राचीन काल से ही इसकी कई जातियो के वृक्ष रहे हैं जिनका उल्लेख संस्कृत और ब्रजभाषा साहित्य मे मिलता है। चीनी यात्री हुएनसाग जब मथुरा आया था, तब उसने इस क्षेत्र मे होने वाले आमो की बहुतायत का उल्लेख किया है। उसने लिखा है—'यहाँ पर आमो के पेड इतनी अधिकता से पाये जाते हैं कि कही-कही पर उनके जगल हो गये है। यहाँ दो प्रकार के आम होते हैं। एक का फल छोटा होता है जो कच्चा होने पर हरा और पकने पर पीला हो जाता है। दूसरे का फल बडा होता है, जो पकने पर भी हरा ही रहता है[1]।" इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ पर प्राचीन काल मे चूसवा और कलमी दोनो प्रकार के आम पर्याप्त परिमाण मे होते थे। पिछली कई शताब्दियो से व्रज मे वर्षा कम होने से यहाँ रेगिस्तानी प्रभाव बढ गया है। इसके कारण यहाँ पर आमो की उपज कम हो गई है। आज-कल यमुना नदी से पूर्व दिशा वाले क्षेत्र मे ही आमो के कुछ अधिक वृक्ष हैं जब कि पश्चिमी दिशा वाले भाग मे बहुत कम होते हैं।

व्रज के भक्त कवियो ने विविध प्रसगो पर आम का प्रचुरता से कथन किया है। सूरदास ने बालक कृष्ण के भोज्य पदार्थो की लबी सूचियाँ दी हैं। उनमे आम और आम के अचार का भी उल्लेख हुआ है[2]। परमानंददास ने आम बेचने वाली एक काछिनि का उल्लेख करते हुए कहा है कि उसकी आवाज़ सुनते ही बाल कृष्ण उसे भवन के अदर ले जाते हैं और वहाँ अपनी माता से आम खरीदने का आग्रह करते हैं[3]। व्रज साहित्य मे अनार और श्रीफल का उल्लेख भोज्य पदार्थो की अपेक्षा दातो और उरोजो के उपमान रूप मे अधिक किया गया है।

---

(१) आन ह्वेनसांग्स ट्रेविल्स इन इंडिया, जिल्द १, पृष्ठ ३०१

(२) सूरसागर ( ना० प्र० सभा ), दशम स्कध, पद संख्या २११, २४१

(३) परमानद सागर ( कांकरोली ), पद सं० १४४

फूलदार वृक्ष—ब्रज मे कदब के अतिरिक्त मौलश्री और कनेर के फूलदार वृक्ष भी प्रचुरता से पाये जाते है। केतकी, केवडा, कु द, गुलाब, चमेली, चपा, जुही, वेला, मोतिया, रातरानी आदि के फूल छोटे वृक्षो और झाडियो मे तथा कमल, कुमुद, कुमुदिनी आदि कु ड–सरोवरो मे होते है। ये सभी फूल अधिकतर वसत, वर्षा और शरद ऋतुओ मे खिलते है। उस समय उनकी सुगध से ब्रज के सभी वन–उपवन और बाग-बगीचे महकने लगते हैं।

वसत ऋतु मे खिलने वाले पुष्पो मे गुलाब और वेला ( मल्लिका ) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अमलताश और गुलमुहर ग्रीष्म ऋतु मे फूलने वाले प्रमुख वृक्ष है। उनमे पीले और लाल रग के फूलो के झुर्रे लगते है। यद्यपि उनमे सुगध नही होती है, तथापि वे अपने मन-मोहक रगो के कारण बडे सुहावने दिखलाई देते है। सिरस ( शिरीष ) के पुष्प भी ग्रीष्म ऋतु मे खिलते है। वर्षा ऋतु के फूलो मे कदब के पश्चात् मौलश्री ( वकुल ) उल्लेखनीय है। इस छोटे पुष्प की सुगध बडी भीनी और मादक होती है। मरुआ की छोटी झाडी भी वर्षा ऋतु मे फूलती है, जो वडी सुगध देती है। वर्षा ऋतु मे फूलने वाला वृक्ष कनेर भी है, जिसके फूल पीले, सफेद और गुलाबी रगो के होते है। इनमे सुगध तो नही होती है, किंतु इनकी सु दरता दर्शनीय है। शरद ऋतु के फूलो मे चमेली ( मालती ) और रातरानी ( शेफालिका अथवा पारिजात ) छोटे वृक्षो पर तथा कमल, कुमुद और कुमुदनी सरोवरो मे खिलते है। इसी ऋतु मे भौंरे सुगधित पुष्पो पर मँडराते है और श्वेत हस सरोवरो के तट पर क्रीडा करते है।

ब्रज मे फूलो का उपयोग लोक–रजन के अतिरिक्त ठाकुर-सेवा आदि धार्मिक कार्यो मे विशेष रूप से होता है। भक्त कवियो ने अपनी रचनाओ मे जिन पुष्पो का अधिक वर्णन किया है, उनमे कदब, कु द, कमल, कुमुद, कुमुदनी, कनेर, केतकी आदि उल्लेखनीय है। सूरदास ने अपनी रचनाओ मे पुष्पो का प्रचुरता से कथन किया है। उनके पदो मे अशोक, कदम, कु द, कर्णिकार, कज ( कमल ), कुमुदनी, बकुल ( मौलश्री ), चम्पक ( चपा ), चमेली ( मालती ), लवगलता, मोगरा, सेवती आदि का उल्लेख मिलता है[1]।

तरकारी के वृक्ष और बेलें—जिन वृक्षो के फल ब्रज मे शाक-तरकारी आदि के काम मे आते है, उनमे करील, कचनार, महुआ और सहजना उल्लेखनीय है। करील के फल 'टेटी' कहलाते है, जिनका शाक और अचार बनता है[2]। सूरदास ने श्री कृष्ण के भोजन सबधी एक बडे पद मे

(१) १ पुनि आयौ सीता जहँ बैठी, वन 'असोक' के माँहि। ( पद स० ५१९ )
२ कुटज, कु द, कदब कोविद, करनिकार, सु कज। ( पद स० ३३१८ )
३. कहियौ कु द, कदब, बकुल, बट. चपक, ताल तमाल। ( पद स० १०६१ )
४. कमल पुहुप मालूर पत्र फल, नाना सुमन सुवास। ( पद स० ७९६ )
५ फूले चपक चमेलि, फूली लवगलता वेलि, सरस रसहिं फूल डोल।
फूले निवारी एलि, मोगरो सेवति सुवेलि, संतन हित फूल डोल॥
( पद स० ३५३५ )

(२) फूल करील, कली पाकर नम। फरी अगस्त करी अमृत सम।
पोई परवर फाग फरी चुनि। 'टेंटी' टेंटस छोलि कियौ पुनि॥ ( पद स० १८३१ )

विविध खाद्य पदार्थों के साथ भटा (वेगन), चना, चौराई, सोवा, सरसो, वथुआ, परवल, टेटी, ढेढम, कुनरू, ककोरा, कचरी, चिचीडा, करेला, सहजना, करील, पाकर, अगस्त की फली ,अरवी, इमली, पेठा, खीरा, रामतोरई, रतालू, ककडी, कचनार, केला, करोदा आदि तरकारी के पेट और वेलो का नामोल्लेख किया है। तरकारी के फल और फलियो की उत्पत्ति अधिकतर छोटे पौधो और वेलो मे होती है। सूरदास ने इस प्रकार के फलो मे खरबूजा, तरबूजा, ककडी और खीरा का भी उल्लेख किया है[1]। ये सभी खाद्य पदार्थ व्रज मे पर्याप्त परिमाण मे होते हे।

**अन्य प्रकार के वृक्ष और झाड**—व्रज मे कुछ वृक्षो का उपयोग ओषधि के लिए किया जाता है। ऐसे वृक्षो मे अमलताश, आवला, इन्द्रजौ, कटियार, नीम, वायविडग, वहेडा और रीठा उल्लेखनीय है। कुछ वृक्षो की लकडी इमारती काम मे और कुछ की ईधन के काम मे ली जाती है। इमारती काम मे आने वाले वृक्षो मे आम, नीम और सीमम उल्लेखनीय है। ईधन के रूप मे जलाने की लकडी ववूल, छोकर, फरास, नीम, पापडी, धौ, रेमजा, हीस आदि वृक्षो से मिलती है। जगली वृक्षो मे तमाल, अरुआ, ढाक, धौ, झाऊ, करील, पनेद्द, पीलू, पिलखन, हिंगोट, हीस और रेमजा उल्लेखनीय है। ढाक के पत्तो से पत्तले और झाऊ की लकडी से डलियाँ वनाई जाती है। शेष वृक्षो और झाडो का ईधन आदि मे उपयोग किया जाता हे।

**वृक्षारोपण योजना**—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, प्राचीन काल मे व्रज मे अनेक वन और उपवन थे, जिनके कारण यह भू-भाग सघन वृक्षो से आच्छादित अत्यत हरा-भरा और रमणीक प्रदेश था। विगत शताब्दी मे और विशेपतया पिछले महायुद्ध के काल मे लकडी की आवश्यकता की पूर्ति के लिए यहाँ के प्राय सभी वनोपवन काट डाले गये थे। फलत प्राचीन वृक्षावली समाप्त हो गई और भूमि के वनस्पति रहित हो जाने से राजस्थान के रेगिस्तान का फैलाव व्रजमडल की ओर वढ गया था। इससे यह सुरम्य प्रदेश वडी तेजी से रेगिस्तान होने लगा था। इस वात की आशका थी, यदि इसका शीघ्र उपाय नही किया गया तो यह समस्त प्रदेश ही उजाड मरुस्थल हो जावेगा।

इस सवध मे सरकारी जाँच किये जाने पर पता चला कि राजस्थान के रेगिस्तान का विस्तार उत्तरप्रदेश के मथुरा, आगरा और इटावा जिलो की ओर वढ रहा हे। सरकारी आकडो से यह भी ज्ञात हुआ कि यह रेगिस्तान प्रति वर्ष ३२ हजार एकड भूमि को रेतीला और उजाड वनाता जा रहा है। अव तक ३० लाख एकड उपजाऊ भूमि इसके मुख मे पड कर सूने मरुस्थल मे परिवर्तित हो चुकी है तथा ९० लाख एकड भूमि की अन्नोत्पादक शक्ति २५ से ५० प्रति शत तक कम हो गई है। ये अत्यत चौका देने वाले आकडे थे। उनके कारण सरकार इस दिशा मे योजनावद्ध रीति से काम करने के लिए प्रयत्नशील हुई।

व्रज मे गोवर्धन-गिरिराज का भू-भाग ही सवसे अधिक रमणीक और वनश्री सम्पन्न था, जो रेगिस्तानी प्रभाव के वढने से मरु दानव के पेट मे विलीन होने लगा था। सरकारी योजना

---

(१) १ छोलि धरे 'खरबूजा' केरा। सीतल वास करत अति घेरा।
वन कोरा पिडीक चिचिंडी। सीप पिडारू कोमल भिंडी॥ (पद स० १०१४)
२ सफरी, सेव, छुहारे, पिस्ता, जो 'तरबूजा' नाम॥ (पद स० ८३०)

के अनुसार पहिले यही क्षेत्र हरा-भरा किया जाने लगा। इसके लिए यहाँ वन-महोत्सव किये गये और वृक्षो को बडी सख्या मे लगाया गया। स्थान-स्थान पर वनखड बना कर और भूमि को सरक्षित कर उसमे वृक्षो को व्यवस्थित ढग से रोपा गया। गोवर्धन क्षेत्र मे पूछरी गाँव से लेकर राधा-कुड तक गिरिराज के दोनो ओर सुरम्य उद्यान बनाये गये तथा पक्तिबद्ध चौराहो के रूप मे वन-कुजो और वन-मार्गो की व्यवस्था की गई। इस विस्तृत उपवन मे विविध जाति के फलदार, फूलदार और सदाबहार के वृक्षो को बहुत सुदर क्रम से लगाया गया था। अब ये वृक्ष अपनी किशोर अवस्था को पार कर गये है और जवानी के गर्व से मुस्कराते हुए गिरिराज पहाडी की शोभा-वृद्धि कर रहे है।

इस योजना के अतर्गत गिरिराज की तलहटी मे पूछरी के पास ४० एकड मे १६४६, गोविदकुड के पास ५ एकड मे २४६, आन्योर के पास २० एकड मे ८८७ वृक्ष लगाये गये है। इन वृक्षो मे अमरूद, आवला, कागजी नीबू, लिसौडा, खिरनी, आम, जामुन और कमरख के फलदार वृक्ष है। इनके अतिरिक्त अमलताश, गुलमुहर और कदब के छायादार वृक्ष भी है।

गिरिराज की तलहटी के अतिरिक्त नीचे लिखे मार्गो के आस-पास भी राजकीय उद्यान और वन खड बनाये गये है—

१—मथुरा-वृदावन मार्ग ( सुदर उद्यान तथा वन खड )
२—मथुरा-आगरा मार्ग ( सूर वन तथा अन्य वन क्षेत्र )
३—मथुरा-देहली मार्ग ( वन खड )
४—नदगाँव-बरसाना के आस पास के क्षेत्र मे ( वन वृक्ष )

## जल-वायु—

**ऋतुओ का प्रभाव**—किसी भी क्षेत्र की सस्कृति वहाँ की जल-वायु से बहुत कुछ प्रभावित होती है। जल-वायु का आधार ऋतुएँ है, अत क्षेत्रीय जल-वायु का अभिप्राय भी वहाँ की गर्मी, सर्दी और वर्षा से होता है। इनका प्रभाव वहाँ के जन-जीवन पर और अततोगत्वा वहाँ की सस्कृति पर पडता है। वर्ष मे छह ऋतुएँ होती है, जिनमे से प्रत्येक को दो-दो महीनो की माना गया है, किंतु साधारणतया तीन ऋतुएँ ही मानी जाती है। ये तीनो गर्मी, वर्षा और सर्दी की वस्तुएँ है और प्रत्येक चार-चार महीनो की होती है। व्रज मे पहिले ये ऋतुएँ नियमित रूप से होती थी, जिनके कारण गर्मी, वर्षा और सर्दी के मौसम भी ठीक समय पर हुआ करते थे। किंतु जब से व्रज मे वनो की कमी हुई है और राजस्थानी रेगिस्तान का विस्तार इधर की ओर बढा है, तब से यहाँ वर्षा कम होने लगी है और गर्मी-सर्दी की ऋतुएँ लबी तथा कठिन हो गई है। इस समय व्रज मे गर्मियो मे अधिक गर्मी पडती है और सर्दियो मे अधिक सर्दी होती है। इस प्राकृतिक परिवर्तन का प्रभाव व्रज के जन-जीवन अर्थात् यहाँ की सस्कृति पर प्रतिकूल पडा है।

**ऋतुओ की विषमता**—व्रज मे गर्म ऋतु का प्रभाव फाल्गुन से लेकर आषाढ तक रहता है। उस समय दिन मे बडी तेज धूप पडती है और लू चलती है। दिन का तापमान ११६–१२० फ० डिग्री तक पहुँच जाता है, किंतु रात प्राय ठडी रहती है। वर्षा श्रावण से क्वार तक होती है, किंतु उन तीन महीनो मे भी उसका औसत २६ इच से अधिक नही होता है। इस पर भी वह नियमित रूप से नही होती है। कभी बहुत अधिक पानी पडता है जिससे बाढ आती है और गर्मी हो जाती है। कभी

इतनी कम वर्षा होती है कि खेती सूखने लगती है और अकाल की सी स्थिति बन जाती है। ब्रज की जो विशेषता यहाँ पर वनो की अधिकता तथा गोचर-भूमि एवं गायो की प्रचुरता के रूप में थी, वह अब विगत युग की बात हो गई है। यहाँ सर्दी मे बहुत ठंड पडती है और कभी-कभी पाला भी पड़ जाता है। उस समय न्यूनतम ताप-मान ४० फ० डिग्री तक हो जाता है। जब कभी उत्तर से शीत की लहर आ जाती है, तब तो और भी भयंकर ठंड पडने लगती है, किंतु उसका प्रभाव ५-७ दिनो तक ही रहता है। ब्रज मे कहावत है— धन के पंद्रह, मकर के पच्चीस। चिल्ला जाडे दिन चालीस'। अर्थात् धन की सक्रांति के १५ दिन और मकर की सक्रांति के २५ दिन कुल ४० दिनो तक जाड़े का 'चिल्ला' रहता है। इस प्रकार ३१ दिसंबर से १० फरवरी तक ब्रज मे खूब सर्दी पडती है।

जैसा पहिले कहा गया है, मौसम की इस विषमता और अनियमितता का कारण वर्षा की कमी और रेगिस्तान का फैलाव है, जिसे दूर करने के लिए यहाँ पर वृक्षारोपण की योजना द्वारा फिर से वनो का विस्तार किया जा रहा है। इसमे सफलता प्राप्त होने पर ही ब्रज अपने पूर्व रूप को प्राप्त कर सकता है।

## सिंचाई के साधन—

ब्रज मे सिंचाई के मुख्य साधन कूए और नहरे हैं। कूए प्रत्येक गाँव मे हैं जो पक्के और कच्चे दोनो प्रकार के हैं। कही-कही पर ट्यूब वैलो का भी उपयोग किया जाने लगा है परंतु अधिकतर सिंचाई नहरो से होती है। यमुना की खादर मे ढेकली द्वारा भी सिंचाई की जाती है। नहरे यमुना और गंगा द्वारा निकाली गई हैं। ब्रज के राजस्थानी भाग मे बानगंगा और रुपारेल के बंधो से निकाली गई नहरो द्वारा सिंचाई होती है। ब्रज की मुख्य नहरो का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है—

**१. यमुना (आगरा) नहर**— यह ब्रज की सबसे प्रसिद्ध नहर है जो दिल्ली से आगे ओखला बंध पर यमुना नदी से निकाली गई है और आगरा के निकट यमुना की शाखा उटंगन मे मिल जाती है। इसकी लंबाई ओखला से उटंगन तक १४० मील है। इसका उद्घाटन सं० १९३१ (५ मार्च सन् १८७४) मे सर विलियम म्यूर द्वारा हुआ था और अगले वर्ष के अंत तक यह सिंचाई के उपयोग मे आने लगी थी। यह पंजाब के गुड़गाँवा जिले के कुछ भाग को मथुरा जिला की छाता और मथुरा तहसीलो को तथा आगरा की फतेहाबाद तहसील को सींचती है। इससे सींची जाने वाली भूमि का परिमाण प्राय. ढाईलाख एकड़ है।

इस नहर से सिंचाई के अतिरिक्त नावो द्वारा व्यापारिक यातायात किये जाने की योजना भी थी। उसके लिए मथुरा तहसील के अडींग गाँव के समीप इस नहर से एक धारा निकाली गई थी, जो मथुरा नगर मे भूतेश्वर के निकट लाल डिग्गी तक आती थी। उसके द्वारा आगरा, मथुरा और दिल्ली के माल को नावो मे लाया ले जाया जाता था। वह योजना सफल नही हुई, अत व्यापारिक यातायात बंद कर दिया गया। फलत. लाल डिग्गी को भी भर देना पड़ा। इस समय व्यापारिक माल रेलो, मोटरो और बैलगाडियो से ढोया जाता है।

यह नहर अपने बंबो और कूलो के द्वारा ब्रज के बहुत बड़े भाग को सींचती है। यद्यपि इसके निकलने से यमुना नदी मे पानी बहुत कम रह गया है, तथापि इससे ब्रज की उपज बढ़ गई है।

**२. गगानहर (मांट शाखा)**—यह भी ब्रज की उपयोगी नहर है। इसके निर्माण की योजना यमुना नहर के साथ ही साथ स० १९३१ से चल रही थी, किंतु अनेक कारणो से वह स्थगित होती रही। इसके निर्माण का प्रारभ स० १९५९ के अत मे हुआ और तीन वर्ष बाद स० १९६३ के प्रारभ मे यह बन कर तैयार हुई थी। इसे मेरठ जिला की गाजियाबाद तहसील के देहरा नामक स्थान पर गगा की मुख्य नहर से निकाला गया और मथुरा जिला की सादाबाद तहसील मे यमुना की सहायक नदी करबन से मिलाया गया है। इसके द्वारा ब्रज मे अलीगढ जिला की खैर तथा मथुरा जिला की माट और सादाबाद तहसीलो मे सिचाई होती है।

**३. गंगानहर ( हाथरस शाखा )**—यह गगा नहर की शाखा है। इसके द्वारा अलीगढ जिला की इगलास और हाथरस तथा मथुरा जिला की सादाबाद तहसीलो मे सिचाई होती है।

उपज—

**खेती**—अच्छी खेती के लिए अच्छी वर्षा का ठीक समय पर होना आवश्यक है। ब्रज मे वर्षा उन मौसमी हवाओ (मानसून) से होती है, जो अरब सागर और बगाल की खाडी से श्रावण-भाद्रपद के महीनो मे आती है। उनसे 'खरीफ' की फसल मे मोटा अनाज, जैसे ज्वार, बाजरा, मक्का, मूग, उडद आदि के साथ कपास और गन्ने की उपज होती है। पहिले सर्दी की ऋतु मे वर्षा (माहौट) खूब होती थी, जिससे 'रबी' की फसल मे गेहूँ, जौ, मटर, सरसो, दुआँ आदि की अच्छी पैदावार हुआ करती थी। विगत अनेक वर्षो मे 'माहौट' कम हो जाने से रबी की फसल भी कम होती है।

यमुना की खादर के रेतीले भाग मे ककडी, खरबूजे, तरबूजे, काशीफल आदि पैदा होते है और शेष भाग मे झाऊ, कास, करील, झरबेरी आदि झाडियाँ उत्पन्न होती है। झाऊ से टोकरी, डले आदि बनते है और कास का उपयोग छप्पर बनाने मे किया जाता है। पहिले ब्रज मे नील की बहुत उपज होती थी, और उसे बनाने के यहाँ कई कारखाने थे। जब से नील की अपेक्षा अन्य पदार्थो से नकली रग बनने लगे है, तब से नील की आवश्यकता कम हो गई है। फलत यहाँ के नील के कारखाने भी बद हो गये है। इससे किसानो ने नील की बजाय दूसरी वस्तुओ की उपज बढाने की ओर अपना ध्यान लगा दिया है।

**खनिज पदार्थ**—ब्रज मे खनिज पदार्थ अधिक नही मिलते है। चीनी यात्री हुएनसाग ने लिखा है कि उसके काल (विक्रम की ७ वी शती) मे यहाँ की खानो से सोना निकलता था। आज-कल यहाँ सोना तो क्या, कोई भी धातु नही निकलती है। यहाँ का उल्लेखनीय खनिज पदार्थ लाल रग का बलुआ पत्थर है, जो भरतपुर और आगरा जिलो की खानो से निकलता है। यह पत्थर प्राचीन काल से ही यहाँ की इमारतो और मूर्तियो को बनाने के काम मे लाया जाता रहा है। छाता और कामवन की पहाडियो से मटमैला पत्थर निकलता है। उसकी रोडियाँ बना कर उनसे सडको का निर्माण किया जाता है।

छाता तहसील और भरतपुर जिला की बहुत सी भूमि नमकीन है, जिससे नमक और शोरा निकलता है। पहिले यहाँ पर नमक बनाने के बहुत कारखाने थे, किंतु सरकारी नियम के अनुसार अब वे प्राय बद कर दिये गये है। शोरा अब भी अत्यधिक परिमाण मे निकाला जाता है। इसके यहाँ बडे-बडे कारखाने है। यमुना नदी ने कंकड भी बहुत निकलता है, जिसे फूक कर चूना बनाया जाता है। यह चूना मकान बनाने के उपयोग मे आता है।

## यातायात के साधन—

ब्रज मे व्यक्तियो के आने-जाने तथा सामान के लाने ले जाने के लिए रेल, मोटर, बैलगाडी, ऊँटगाडी, तांगा, इक्का और रिक्शा आदि का उपयोग किया जाता है। यातायात के इन साधनो के लिए रेल मार्ग और सडक मार्ग का बडा महत्व है। प्राचीन काल मे ये मार्ग अधिक विकसित नहीं थे, किंतु अब इनके विकास और विस्तार के लिए निरंतर प्रयत्न किया जा रहा है। कहना नहीं होगा, इन साधनो पर ब्रज की समृद्धि अधिकाश मे निर्भर है।

**रेल मार्ग**—ब्रज मे कई रेल मार्ग हैं, जिनके नाम मध्य रेलवे, पश्चिमी रेलवे पूर्वोत्तर रेलवे और उत्तर रेलवे हैं। इन रेल मार्गो द्वारा व्यक्तियो के आने-जाने तथा माल के ढोने का महत्वपूर्ण कार्य होता है।

**मध्य रेलवे**—यह मार्ग दिल्ली से आकर कोसी मथुरा, आगरा धौलपुर होता हुआ बबई तथा मदरास जाता है।

**पश्चिमी रेलवे**—इसका एक मार्ग दिल्ली से आकर कोसी, मथुरा भरतपुर, बयाना होता हुआ बबई जाता है। दूसरा मार्ग आगरा, अछनेरा, भरतपुर होता हुआ अहमदाबाद चला जाता है।

**पूर्वोत्तर रेलवे**—इसकी एक शाखा आगरा, अछनेरा, मथुरा, हाथरस, कासगज होती हुई काठगोदाम जाती है और दूसरी शाखा कासगज से कानपुर जाती है।

**उत्तर रेलवे**—इसकी एक शाखा दिल्ली से मथुरा, आगरा टूडला होती हुई कलकत्ता जाती है और दूसरी शाखा दिल्ली से खुर्जा, अलीगढ, हाथरस जक्शन, टूडला, फीरोजाबाद, शिकोहाबाद, इटावा होती हुई कलकत्ता चली जाती है।

मथुरा से वृंदावन तक, हाथरस नगर से हाथरस जक्शन तक, आगरा से टूडला तक तथा आगरा से फतेहपुर सीकरी तक प्रधान रेलो के उपमार्ग भी हैं।

**सड़क मार्ग**—ब्रज मे सडको के पक्के और कच्चे दोनो प्रकार के मार्ग हैं। पक्के मार्ग प्रधान नगरो मे होकर जाते हैं तथा कच्चे मार्ग कस्बो और गांवो मे हैं। प्रधान पक्के मार्ग मथुरा-बरेली, मथुरा-अलीगढ, मथुरा-डीग, मथुरा-भरतपुर, दिल्ली-आगरा, अलीगढ-एटा आदि हैं।

मथुरा-बरेली सडक १२० मील लबी है। यह मथुरा से राया, मुरसान, हाथरस, सिकदराराऊ, कासगज, सोरो होती हुई बरेली जाती है। मथुरा-अलीगढ सडक ५० मील लबी है। यह मथुरा, राया से सासनी होती हुई अलीगढ जाती है। मथुरा-डीग सडक २३ मील लबी है। यह मथुरा से गोवर्धन होकर डीग जाती है। मथुरा-भरतपुर सडक २४ मील लबी है। यह मथुरा से भरतपुर जाती है। दिल्ली-आगरा सडक १२७ मील लबी है। यह वास्तव मे दिल्ली-बबई सडक का भाग है, जो दिल्ली से पलवल, होडल, कोसी, छाता, मथुरा, फरह, रुनकता होता हुआ आगरा जाता है। अलीगढ-एटा सडक सुप्रसिद्ध ग्राट ट्रक रोड का भाग है, जो दिल्ली, बुलदशहर, खुर्जा अलीगढ से सिकदराराऊ, एटा, कन्नौज होता हुआ आगे चला जाता है।

**जल मार्ग**—पहिले जब रेल और बडी-बडी पक्की सड़के नहीं थी, तब यमुना नदी मे नावो द्वारा यातायात होता था। उस समय यमुना मे बहुत गहरा जल था, जिसके कारण उनमे बडी-बडी नावे चला करती थी। उन नावो से यात्री और सामान को आगरा-मथुरा से दिल्ली तक लाया ले जाया जाता था। छोटी नावे छोटी नदियो और नहरो मे चला करती थी। जब से यमुना नदी से नहरे निकाली गई हैं तब से इसमे बहुत कम जल रहता है, अत प्रत्येक ऋतु मे नावो से यातायात करने मे सुविधा नहीं है। फिर रेल और सडको से यातायात बढ जाने से जल-मार्ग वैसे भी सुविधाजनक नहीं रह गया है, अत यह मार्ग अब प्राय बद हो गया है।

## तृतीय अध्याय

# ब्रज के पशु-पक्षी और जीव-जंतु

●

ब्रज मे बनो का बाहुल्य होने से यहाँ स्वभावतया ही पशु-पक्षियो और जीव-जतुओ की प्रचुरता रही है। पशु-पक्षी दो प्रकार के होते है—१ जगली और २ पालतू। जगली पशु-पक्षी स्वच्छ द रूप से बनो मे विचरण करते हुए कभी-कभी मानव-समाज के कष्ट का कारण बनते है, किंतु पालतू पशु-पक्षी सदैव घरेलू जीवन बिताते हुए मानवो को सुख, सुविधा और समृद्धि प्रदान करते रहते है।

**जंगली पशु**—ब्रज के जगली पशुओ मे मासाहारी और निरामिष भोजी दोनो प्रकार के है। मासाहारी पशुओ मे सिह, बघेर्रा, भेडिया, शूकर, लोमडी और स्यार है। सिह, बघेर्रा, भेडिया और शूकर मासाहारी होने के साथ ही साथ हिसक भी है। वे अवसर मिलते ही मनुष्यो और पशुओ पर घातक आमक्रण करते है। ब्रज साहित्य मे इनके उत्पात का वर्णन मिलता है। परमानददास ने बाघ द्वारा गायो को मारने तथा भेडियो द्वारा बछडो को काटने का उल्लेख किया है[1]। 'वार्ता' का कथन है, कु भनदास का पुत्र कृष्णदास श्रीनाथ जी की गायो की रखवाली करता था। एक दिन जब गाये बन से चर कर वापिस आ रही थी, तब उनमे से एक गाय कुछ पीछे रह गई थी। उस पर एक सिह ने आक्रमण कर दिया। कृष्णदास गाय को बचाने के लिए दौडा। गाय तो लपक कर खिरक मे घुस गई, किंतु कृष्णदास सिह की पकड मे आ गया और मारा गया[2]।

ब्रज के निवासी सदा से अहिसा प्रिय होने के कारण जगल के हिसक पशुओ को मारने मे भी पाप समझते रहे है, किंतु राजा-महाराजा और मुसलमान शासक ब्रज के बनो मे सिहादि हिसक पशुओ की शिकार किया करते थे। मुगल सम्राटो मे बाबर से लेकर जहाँगीर तक ने ब्रज के बनो मे शिकार किया था। इसके उल्लेख उस काल की तवारीखो मे मिलते है। जब से ब्रज मे जगलो की सफाई हुई है, तब से जगली पशुओ की कमी हो गई है। सिह-बघेर्रा जैसे हिसक पशुओ का तो यहाँ प्राय अभाव ही हो गया है।

निरामिष भोजी जगली पशुओ मे मृग, नील गाय और बदर उल्लेखनीय है। वे मानवो पर घातक आक्रमण तो नही करते, किंतु खेतो और बाग-बगीचो को बहुत हानि पहुँचाते है। जब ब्रज मे हिसक पशुओ को भी नही मारा जाता है, तब इन जगली अहिसक पशुओ के मारने का तो प्रश्न ही उपस्थित नही होता है। मृग अर्थात् हरिण और नील गाय के झु ड के झु ड ब्रज के बनो

---

(१) बैर परस्पर उपज्यौ है, बन 'बाघ' गाय कौ मारत।
घर घर तें बछरा 'बृक' काटत, सब प्रानी अति आरत॥ (परमानद सागर, पद ११४०)

(२) कुंभनदास की वार्ता, ( अष्टछाप, पृष्ठ २७४-२७५ )

और यमुना की खादरों में विचरण करते हुए खेतों को हानि पहुँचाते रहते हैं। नील गाय को प्राय 'गाय' समझ कर उनकी रक्षा की जाती है, किंतु वह वास्तव में हरिण की जाति का जगली पशु है। इसलिए उसके साथ हरिण की भाँति ही व्यवहार करना उचित है। बंदर ब्रज के वन उपवन और बस्तियों में बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। वे वन-उपवनों के फलों को प्रचुर परिमाण में नष्ट करते हैं और बस्तियों में भी बहुत हानि पहुँचाते हैं। फिर भी उन्हें कष्ट देने की बात कभी नहीं सोची जा सकती। ब्रज में बंदरों की रक्षा की जाती है और उनके भोजन के लिए चना आदि डाले जाते हैं। नगरों में जब बंदरों का उत्पात बहुत बढ गया था तब भावुक जनता के विरोध करने पर भी नगर पालिकाओं द्वारा उन्हें पकड़वा कर जगलों में छोड़ दिया गया था।

**पालतू पशु**—ब्रज के पालतू पशुओं में गाय, बैल भैंस बकरी घोड़ा गधा, कुत्ता ऊँट और हाथी के नाम लिये जा सकते हैं। उनको पालतू बना कर मानव समाज ने उन्हें अपनी सुख-समृद्धि के साधन बना लिया है। ब्रज में साधारणतया इन सभी पालतू पशुओं से काम लिया जाता है, किंतु विशेष रूप से यहाँ गाय की उपयोगिता मानी गई है।

गाय—ब्रज के जन-जीवन में गाय का जैसा स्थान है वैसा किसी अन्य पालतू पशु का नहीं है। गाय एक उपयोगी पशु मात्र ही नहीं है, वरन् ब्रज संस्कृति का एक प्रकार से प्रमुख आधार ही है। भगवान् श्री कृष्ण गायों की सेवा करने के कारण ही 'गोपाल' और 'गोविंद' कहे जाते थे। ब्रज में इस पशु को जो अनुपम गौरव दिया गया है, उसका कारण वस्तुत इसकी अतिशय उपयोगिता ही है।

ब्रज में बहुत बडी संख्या में गायों को पाला जाता था। प्राचीन काल में उनके चारे-घास के लिए यहाँ बडे-बडे वन थे। गिरिराज पहाडी भी गो-चारण का प्रमुख केन्द्र थी। इसी लिए इसे 'गो-वर्धन' की संज्ञा प्राप्त हुई है। ब्रजवासी गोपों का समस्त जीवन ही गो-धन पर आधारित था। वे उससे दूध, दही, मक्खन जैसे पौष्टिक पदार्थों को प्राप्त करते थे। उसके गोबर और मूत्र से जो खाद बनाते थे, वह उनके खेतों की उपज को बढाने में सहायता होता था। गाय से उत्पन्न बैल खेत जोतते थे और माल ढोते थे। इस प्रकार गाय ब्रजवासियों के जीवन का आवश्यक अंग ही नहीं उनके परिवार का एक प्रमुख सदस्य ही बन गई थी।

गाय की इस अनुपम उपयोगिता ने ही इसे धर्म में स्थान दिया है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यह समस्त भू मडल ही गाय के सींग पर टिका हुआ है। इसका बुद्धिगम्य अर्थ यह हुआ कि सासारिक जीवन का बहुत कुछ आधार गाय पर है। हमारी संस्कृति की यह विशेषता है कि जो बाते मानव-जीवन के लिए हितकर ज्ञात हुई उन्हे धार्मिक रूप प्रदान कर दिया गया। इससे उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति की भावना भी जुड गई है।

ब्रज के जन-जीवन में गाय का जो महत्वपूर्ण स्थान रहा है, उसके कारण वह यहाँ की धार्मिक भावना से अत्यंत निकट का संबंध रखती है। ब्रज के धर्माचार्यों और भक्त जनों ने गाय के प्रति अपनी भक्ति-भावना को बडे मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है। साधारण मुसलमानों का गाय के प्रति ऐसा दृष्टिकोण नहीं है किंतु जिन सहृदयी मुसलमानों ने ब्रज की भक्ति-भावना को स्वीकार कर लिया था, वे गाय के प्रति हिंदुओं से कम श्रद्धावान् नहीं थे। भक्तवर रसखान की कामना थी कि यदि आगामी योनि में उन्हें मानव की देह प्राप्त हो, तो ब्रज में गोकुल के ग्वालाओं

के साथ रहने का ही उन्हे सुयोग मिले । यदि किसी प्रकार पशु होना पडे, तो फिर नद की गायो के साथ चरने का सौभाग्य प्राप्त हो । उन्होने कहा है—

**मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं मिल गोकुल गाँव के ग्वारन ।**
**जो पसु हौं तौ कहा बस मेरौ, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन[1] ।।**

भगवान् श्री कृष्ण की बाल कीडाओ मे 'गोचारण' का बडा महत्व है और इसका कथन ब्रज के भक्त कवियो ने बडे उल्लास के साथ किया है । उन्होने रगो के अनुसार गायो को धौरी, धूमरि, राती, पियरी, गोरी, कजरी, भूरी, श्यामा, कपिला आदि अनेक नामो से सबोधित करते हुए उनके प्रति बाल कृष्ण के प्यार-दुलार का मनोहर कथन किया है । उनका कहना है—

**धौरी, धूमरि, राती, रौंछी, बोल बुलाइ चिन्होरी ।।**
**पियरी, मौरी, गोरी, गैनी, खैरी कजरी जेती ।**
**दुलही, फुलही, भौंरी, भूरी, हाँकि ठिकाई तेती[2] ।।**
**गोविंद गिरि चढि टेरत गाइ ।**
**गाग बुलाई धूमरि धौरी, टेरत वेनु बजाइ[3] ।।**

मागलिक अवसरो पर ब्रज मे गो-दान करने का परपरागत प्रचलन रहा है । श्री कृष्ण के जन्म के समय नद जी ने अनेक सु दर गायो को विविध धातुओ से मडित कर उनका दान ब्राह्मणो को किया था । इसका उल्लेख करते हुए सूरदास ने कहा है—

**खुर तावे, रूपे पीठि, सोने सीग मढीं ।**
**ते दीन्ही द्विजन अनेक, हरषि असीस पढीं[4] ।।**

केवल ब्रजवासी अथवा हिंदू ही नही, वरन् भारतीय मात्र के लिए गाय सदा से श्रद्धा और भक्ति का भाजन रही है । उसकी सेवा करना, उसकी रक्षा करना और उसे बचाने के लिए अपनी जान तक दे देना यहाँ की गौरवपूर्ण परपरा है । भारत के हिंदू राजा-महाराजा ही नही, वरन् बुद्धिमान मुसलमान बादशाह भी गोरक्षा की व्यवस्था करते रहे है । मुगल सम्राट अकबर गो-मास से बडा परहेज करता था । उसने अपने राज्य मे गो-हत्या का निषेध कर गो-मास की बिक्री पर प्रतिबध लगा दिया था । अगरेजो ने जहाँ अकबर की अनेक बातो को अपने प्रशासन मे स्वीकार कर लिया था, वहाँ गो-हत्या करने पर उन्होने कोई रुकावट नही डाली थी, बल्कि अगरेजी शासन मे गो-मास के लिए जैसा गो-वध किया गया, वैसा मुसलमानी शासन मे भी नही हुआ था । इधर प्राकृतिक तथा अन्य कारणो से ब्रज मे गोचर-भूमि और वनो की भी बडी कमी हो गई है । फलत ब्रज मे जहाँ अपार संख्या मे गाये रहा करती थी और जिनके दूध-दही की यहाँ बेहद बहुलता थी, वहा गायो की सख्या मे बहुत कमी हो गई है और दूध, दही एव मक्खन का तो अकाल ही पड गया है । इस प्रकार ब्रज की यह विशेषता अब नही रही । यहाँ की गायो की नस्ल

(१) रसखान रत्नावली, पृष्ठ ७३
(२) सूरसागर (ना० प्र० सभा), पद स० १०६३
(३) चतुर्भुजदास (कांकरोली) पद न० २१५
(४) सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद सं० ६४२

विगड गई है और उनके दूध का परिमाण भी वहुत कम हो गया हे। आजकल ब्रज मे केवल कोसीकलाँ के निकटवर्ती भाग मे ही कुछ अच्छी जाति की दुधारू गाये मिलती है, वरना अन्य स्थानो मे उनका अभाव ही दिखलाई देता है। इस अवाछनीय स्थिति से तभी वचा जा सकता है जव हम ब्रज मे पुन गो-सेवा का प्रचलन करे, गो वश का सुधार करे और उनके चरने के लिए पर्याप्त गोचर भूमि की व्यवस्था करे।

**अन्य पालतू पशु**—ब्रज के अन्य पालतू पशुओ मे वैल और भेस का भी महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रज मे कृषि की कल्पना वैल के विना की ही नही जा सकती हे। गाय का यह वलिष्ठ पुत्र ब्रज में अन्नोत्पादन करने और माल ढोने का वडा उपयोगी काम करता हे। वैलो की तरह भैंसे भी खेत जोतने और माल ढोने का काम करते हे। वकरी दूध के लिए, भेड ऊन और दूध के लिए, घोडे सवारी के लिए और कुत्ते घर की रखवाली के लिए पाले जाते हे। गधा, ऊंट और हाथी के भी विविध उपयोग है। ये सभी पालतू पशु ब्रज के जन–जीवन मे आवश्यक और उपयोगी भूमिका प्रस्तुत करते है।

**पक्षी**—पशुओ की तरह पक्षी भी पालतू और जगली होते हैं। पालतू पक्षियो मे तोता, मैना, कवूतर, मुर्गे, मुर्गी, तीतर, वटेर आदि हे। जगली पक्षियो मे मोर, कोयल, पपीहा, नीलकंठ, चकोर, चकवा, खजन, वगुला, गौरैया, कौवा, चील, उल्लू, गृद्ध आदि है। इनमे से कुछ पक्षी अपने रूप–रग और अपनी वोली–आदत आदि के कारण जनता मे अत्यत प्रिय हैं और कुछ इनके अभाव के कारण लोगो मे अप्रिय हे। प्रिय पक्षियो को ही प्राय पालतू वनाया जाता है, किंतु कुछ जगली पक्षी भी अत्यत लोकप्रिय होते है। इस प्रकार प्रियता–अप्रियता की दृष्टि से भी पक्षियो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। लोकप्रिय पक्षियो मे तोता, मैना, मोर, कोयल, पपीहा, नीलकंठ, कवूतर, चकोर, चकवा, खजन आदि हैं। अप्रिय पक्षियो मे कौवा, चील, उल्लू, गृद्ध आदि हैं। सभी प्रकार के पक्षी ब्रज मे प्रचुरता से मिलते है।

**पालतू और लोकप्रिय पक्षी**—ब्रज सस्कृति और ब्रज साहित्य से पालतू और लोकप्रिय पक्षियो का घनिष्ट सवध रहा है। ऐसे पक्षियो मे तोता-मैना सवसे पहिले उल्लेखनीय हैं। ये दोनो पक्षी अपनी वोली–वाणी के कारण ब्रज मे सदा से वडे लोकप्रिय रहे हैं। साधारण घरो मे लेकर राज महलो तक मे इन्हे परपरा से पाले जाने के उल्लेख मिलते हे। ये पक्षी सिखाये जाने पर मनुष्यो की तरह वोलने लगते है। उनकी रटी हुई वाते सुन कर वडा मनोरजन होता है। तोता अपने रूप-रग मे भी वडा सु दर पक्षी है, किंतु मैना का रग काला होता है। इन दोनो पक्षियो से सवधित अनेक मनोरजक वाते और किस्से–कहानियाँ ब्रज मे प्रचुरता से प्रचलित है।

कवूतर अपने सु दर रूप, प्रेमी स्वभाव और अपनी उडान के लिए सदा से लोकप्रिय रहा है। यह पक्षी अपने स्थान को कभी नही भूलता है। इसे चाहे जहाँ उडा दिया जाय, किंतु यह अपने स्थान पर ही वापिस आ जाता है। इसकी और तोता की आदतो मे यह वडा अतर है कि तोता को चाहे जितने दिनो पाला जाय, किंतु उसे उडा देने पर वह फिर अपने स्थान पर प्राय वापिस नही आता है। लोक-रजन के अतिरिक्त कवूतरो का सैनिक कार्यो मे भी उपयोग होता रहा है। प्राचीन काल से कवूतरो द्वारा महत्वपूर्ण सदेश भेजे जाने की परपरा रही हे। मुर्गे-मुर्गी और तीतर-वटेर के पालने का रिवाज अधिकतर मुसलमानी काल से हुआ हे। मुर्गे-मुर्गियो का उपयोग उनके अडो के लिए होता है और तीतर

**मोर**—ब्रज के लोकप्रिय पक्षियो मे मोर का स्थान सर्वोपरि है। यह बडा सु दर पक्षी है और इसकी बोली भी बडी तेज तथा मीठी होती है। इसका गहरा नीला रग और इसके पखो की बनावट बडी आकर्षक है। इसका नृत्य तो एक दम अनोखा और अद्भुत होता है। जब यह पक्षी अपने लबे और सु दर पखो को फैला कर नाँचता है, तब का दृश्य देखते ही बनता है। वर्षा ऋतु मे इस पक्षी की मधुर कूक ब्रज के वन-उपवनो, बाग-बगीचो तथा अन्य स्थानो मे प्राय सुनी जा सकती है तथा इसका नृत्य देखा जा सकता है। ब्रज मे कृष्ण-काल से ही इस पक्षी की प्रसिद्धि रही है। श्री कृष्ण ने इसके पखो का मुकुट धारण कर इसे अनुपम गौरव प्रदान किया था। भारत सरकार ने इसे राष्ट्रीय पक्षी घोषित कर इसके परपरागत महत्व मे वृद्धि की है।

**अन्य प्रिय पक्षी**—कोयल अपनी सुरीली मीठी बोली के कारण बडी लोकप्रिय है। इसी प्रकार पपीहा की बोली भी बडी अच्छी मालूम होती है। इन दोनो पक्षियो की मधुर बोलियाँ वर्षा ऋतु मे सर्वत्र सुनी जा सकती है। नीलकठ अत्यत सु दर पक्षी होता है और उसका दर्शन बडा शुभ माना जाता है। चकोर, चकवी-चकवा और खजन आदि पक्षी यद्यपि लोक मे अधिक प्रसिद्ध नही है, तथापि वे कवियो को सदा से अत्यत प्रिय रहे है।

**प्रिय पक्षियो का साहित्य मे उल्लेख**—ब्रज के साहित्यकारो को कुछ पक्षी इतने प्रिय रहे है कि उन्होने अपनी रचनाओ मे उनका बडी प्रचुरता से उल्लेख किया है। ऐसे पक्षियो मे मोर, कोयल, पपीहा, चकोर, चकवा-चकवी तोता-मैना, हस और कबूतर आदि उल्लेखनीय है। इनसे सबधित कतिपय रचनाओ की कुछ पक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

१. स्याम भए राधा बस ऐसें।
'चातक' स्वाँति, 'चकोर' चद ज्यो, 'चक्रवाक' रवि जैसें[1] ॥

२. 'हस', 'सुक', 'पिक', 'सारिका', अलि-गु ंज नाना नाद[2] ॥

३ कैधो 'मोर' सोर तजि, गए री अनत भाजि, कैधो उत दादुर न बोलत हैं ए दई।
कैधो 'पिक', 'चातक' बधिक काहू मारि डारे, कैधो 'बग'-पाँति उत अंत गति ह्वै गई[3] ॥

४. कूजत कहुँ कल 'हंस', कहूँ मज्जत 'पारावत'।
कहुँ 'कारंडव' उडत, कहूँ 'जल कुक्कुट' धावत ॥
'चक्रवाक' कहुँ बसत, कहूँ 'बक' ध्यान लगावत।
'सुक' 'पिक' जल कहुँ पिवत, कहूँ भ्रमरावलि धावत ॥
कहुँ तट पर नाँचत 'मोर' बहु, रोर विविध पच्छी करत।
जल-पान न्हान करि सुख भरे, तट सोभा सब जिय धरत[4] ॥

५ 'चातक' चलि, 'कोयल' ललित, बोलत मधुरे बोल।
कूकि कूकि 'केकी' कलित, कु जन करत किलोल ॥ निरखि घन की घटा[5] ॥

६. 'कोकिल' हरि को बोल सुनाव[6] । ७ बहुत दिन जियौ 'पपीहा' प्यारे[7] ।

८. 'खजन' नैन रूप-रस माते[8] । ९ 'कीर' पढावन गनिका तारी[9] ।

---

(१) और (२) सूरदास; (३) आनन्द, (४) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
(५) सत्यनारायण; (६) (७) (८) और (९) सूरदास

**जंगली और अप्रिय पक्षी**—ब्रज के जंगली पक्षियो मे कौवा अपने काले रूप, सर्व भक्षी स्वभाव और तीखी कर्कश बोली के कारण सबसे अधिक बदनाम है। यद्यपि यह पक्षी किसी का अहित नही करता है, फिर भी यह सबसे अधिक अप्रिय हे। इसी प्रकार चील, उल्लू और गृद्ध पक्षी भी अपने कुरूप, कर्णकटु बोली और बुरे स्वभाव के कारण किसी को अच्छे नही लगते हैं।

**पक्षियो से संबधित लोक-विश्वास**—ब्रज के रूढिग्रस्त अपढ लोगो मे तथा साधारण ग्रामीण जनता मे पक्षियो से संबधित कुछ लोक-विश्वास भी प्रचलित है। इनका क्या आधार है, इसे कोई नही जानता, केवल परंपरागत अंध-विश्वास ही चला आता है। कौवा जहाँ अपने कुरूप और अपनी कर्कश वाणी के कारण अत्यंत अप्रिय है, वहाँ जन साधारण मे उसकी बोली को शुभ शकुन का सूचक माना जाता है। ऐसा लोक-विश्वास है, यदि प्रात काल घर के दरवाजे अथवा मुडेर पर कौवा काँव-काँव करे, तो किसी प्रिय व्यक्ति का आगमन होता है। कविरत्न सत्यनारायण ने इसी लोक-विश्वास को अपनी कविता मे इस प्रकार व्यक्त किया है—

**कहु रे कागा परम प्रिय, पिय आवन की बात।**
**तिन्ह आएँ हौ देंउगी, तोहि दूध और भात॥**

नीलकंठ पक्षी के संबध मे लोक-विश्वास है कि प्रात काल उसके दर्शन करने वाले व्यक्ति का सारा दिन आनंदपूर्वक व्यतीत होगा। 'सोन चिडिया' के विषय मे लोगो का विश्वास है, यदि किसी कार्य से जाने वाले व्यक्ति के दाहिनी ओर इस पक्षी की बोली सुनाई दे, तो उसे अवश्य सफलता प्राप्त होगी। चील, उल्लू और गृद्ध की बोली और उनका आवास बडा अशुभ माना जाता है। यदि वे किसी घर मे आकर बैठने लगे, अथवा अपना आवास बना ले, तो लोक-विश्वास के अनुसार वहाँ अनिष्टकर घटना होने की आशका होती है।

**पक्षियो की उपयोगिता**—जहाँ तक उपयोगिता और अनुपयोगिता की बात है, अनेक अप्रिय और अशुभ माने जाने वाले पक्षी उपयोगी ज्ञात होते हे, जबकि लोकप्रिय पक्षी अनुपयोगी और हानिप्रद सिद्ध होते है। उदाहरणार्थ तोता और गोरैया आदि पक्षी खाद्यान्न को नष्ट कर खेती और बागो को हानि पहुँचाते है, जब कि चील, उल्लू गृद्धादि अप्रिय पक्षी खेती को हानि पहुँचाने वाले कीडाओ को खाकर खाद्यान्न की वृद्धि मे सहायक होते है। इस प्रकार बंदर, गाय, तोता, गोरैया आदि पशु-पक्षी किसानो और मालियो के शत्रु है, जब कि गोह, चील, उल्लू और गृद्ध आदि उनके मित्र सिद्ध होते हैं।

**जलचर जीव**—ब्रज मे जलचर जीव अधिकतर यमुना नदी मे तथा कुछ सरोवरो मे, तालाबो और कुंडो मे पाये जाते है। ऐसे जीवो मे कछुआ, मछली और मेढक उल्लेखनीय है। यमुना मे कही-कही पर मगर भी मिलते हे, किंतु उनकी संख्या बहुत कम है। मथुरा-वृंदावन के घाटो पर कछुए बहुत बडी संख्या मे मिलते है। वे घाटो पर सामूहिक रूप मे एकत्र हो जाते है, क्यो कि वहाँ उनको यात्रिओ और भक्तजनो द्वारा आटे की गोलियाँ खाने को डाली जाती हैं। कछुए हिंसक होते है। वे अवसर मिलते ही लोगो पर घातक आक्रमण करते है। मुर्दे जलाने के घाटो पर हिंसक कछुए बडी संख्या मे रहते है, किंतु जो कछुए स्नान के घाटो पर होते है, वे प्राय किसी पर घातक चोट नही करते है।

यमुना नदी और कुंड-सरोवरो मे मछलियाँ भी बहुत हे, जिनके लिए यात्री और भक्तजन आटे की गोलियाँ डालते है। ब्रज मे मछलियो को मारना वर्जित है। कुछ आमिष भोजी चोरी-

छिपे एकात स्थानो मे जाकर उनका शिकार करते है, किंतु साधारणतया इसे जघन्य कार्य माना जाता है। आजकल खाद्य समस्या के लिए मछली-पालन उद्योग को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, किंतु ब्रज की जनता पर इसका कोई खास प्रभाव नही पडा है। ब्रज के कुड-सरोवरो पर जो अन्य जल-जीव निवास करते है, उन्हे मारना भी वर्जित है, किंतु सैलानी लोग लुक-छिप कर उनका भी शिकार करते है। मेढक (दादुर) जलचर जीव है, किंतु मछली की तरह उसे निरतर पानी मे रहना आवश्यक नही है। वर्षा ऋतु मे मेढको का बाहुल्य होता है। उस समय उन्हे ब्रज मे जलाशयो के साथ ही साथ उनके निकटवर्ती भू-भागो पर भी प्रचुरता से देखा जा सकता है। वर्षा ऋतु मे रात्रि के समय मेढको की तीव्र ध्वनि सर्वत्र सुनाई देती है।

ब्रजभाषा कवियो की रचनाओ मे मछली और मेढको का उल्लेख हुआ है। मछलियो की चचलता के कारण उन्हे नेत्रो के उपमान रूप मे कथित किया गया है[1]। इसके साथ ही उनका जल के साथ अनिवार्य सबध आदर्श प्रेम का सूचक भी माना गया है[2]। मेढको के वर्षा मे बोलने के कारण कवियो ने उनका उल्लेख उन पक्षियो के साथ किया है, जिनका मोहक रव वर्षा ऋतु मे ही सुनाई देता है[3]।

**कीट-पतग**--ब्रज के कीट-पतगो मे साप, छिपकिली, भौरा, झीगुर, मधुमक्खी, चेटा, चीटी, मच्छर उल्लेखनीय है। ये ग्रामो और नगरो मे सर्वत्र पाये जाते है। साप की अनेक जातियाँ ब्रज के वन्य भागो मे मिलती है। मधुमक्खियो के छत्ते भी वनो मे पाये जाते है, किंतु शहद के लिए मधु मक्खी पालन उद्योग की यहाँ पर अभी कोई नियमित व्यवस्था नही हुई है।

भौरा एक ऐसा पतगा है, जिसका उल्लेख ब्रज साहित्य मे बहुत हुआ है। इसे भ्रमर, मधुकर, अलि, चचरीक, छ्पद, शिलीमुख आदि विविध नामो से ब्रज के भक्त कवियो ने अपने काव्य का आलबन बनाया है। ब्रज की विरहिणी गोपियो ने इसी को लक्ष्य कर अपने हृदय की आतरिक पीडा की अभिव्यक्ति की है[4]। ब्रज के कवियो की तत्सबधी रचनाएँ 'भ्रमर गीत' कहलाती है, जिनमे सबसे अधिक प्रसिद्ध सूरदास और नददास के 'भ्रमर गीत' है।

●

---

(१) देखिरी हरि के चंचल नैन।
खजन 'मीन' मृगज चपलाई, नहिं पटतर इक सैन॥ (सूरसागर, पद २४३१)

(२) सूर स्याम के रगहि राँची, टरति नही जल तें ज्यों 'मीन'। (सू० सा० २४७६)

(३) 'दादुर' मोर कोकिला कल रव, करत कोलाहल भारी (परमानददास, पद ७६३)

(४) १. 'मधुकर' कहा सिखावन आयौ। (सूरसागर, पद स ४२२६)
२. तुम 'अलि' कासों कहत बनाइ। (सूरसागर, पद सं ४२३५)
३. ताही छिन एक भ्रमर कहूँ तें उड़ि तहँ आयौ।
ब्रज बनितन के पुज माँहि गुंजत छबि छायौ॥
बैठ्यौ चाहत पाँय पर, अरुन कमल दल जानि।
मनु मधुकर ऊधौ भयौ, प्रथमहिं प्रगट्यौ आनि॥
मधुप को भेस धरि॥ (नंददास, सं० ४५)

चतुर्थ अध्याय

# ब्रज की मानव जातियाँ

**वर्ण और जातियाँ**—भारत की विभिन्न जातियो का मूलाधार यहाँ की वर्ण-व्यवस्था है, जिसकी योजना सामाजिक सगठन के लिए की गई थी। उक्त व्यवस्था के अनुसार मानव समाज को चार वर्णो मे विभाजित किया गया, जिन्हे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा जाता है। ऋग्वेद ( १०–९०–१२ ) के एक रूपक मे मानव समाज को पुरुष मान कर ब्राह्मण को उसका मुख, क्षत्रिय को उसकी भुजा, वैश्य को जघा और शूद्र को उसके पाँव बतलाये गये है। इस रूपक का अभिप्राय है, ब्राह्मण मानव समाज के प्रवक्ता, क्षत्रिय उसके रक्षक, वैश्य आधार-स्तभ और शूद्र उसके धरातल है। उक्त व्यवस्था मे किसी वर्ण के बडे-छोटे अथवा ऊँच-नीच होने की बात नही थी, वरन् सभी वर्णो के लोग भारतीय समाज के लिए समान रूप मे उपयोगी और आवश्यक समझे गये थे।

आरभ मे यह वर्ण व्यवस्था जन्ममूलक न होकर प्राय कर्ममूलक थी, अत एक वर्ण वाले इच्छानुसार दूसरे वर्ण को स्वीकार कर सकते थे। वैदिक सस्कृति के शिथिल हो जाने पर वर्ण व्यवस्था रूढिग्रस्त और विकृत हो गई थी। फलत उसके अतर्गत अनेक जातियो की उत्पत्ति हुई और उन्हे जन्ममूलक माना जाने लगा। तभी से ऊँच–नीच की भावना भी पैदा हो गई। 'जाति' का अर्थ ही 'जन्म से' है, अत उसमे जन्म–मूलकता को अनिवार्य माना गया है। कालातर मे जातियो से अनेक उपजातियाँ बन गई, जिनके कारण भारत के प्राचीन सामाजिक सगठन का मूल स्वरूप ही बदल गया था।

वर्णो से जातियो और उपजातियो के निर्माण मे दो-चार शताब्दियाँ नही, वरन् अनेक शताब्दियो का सुदीर्घ काल लगा था। इसके सबध मे डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल का कथन है,— "पाणिनि ने वैदिक शब्द 'वर्ण' के साथ बाद मे प्रचलित 'जाति' शब्द का अधिक उल्लेख किया है[1]।" इस प्रकार विक्रमपूर्व की छटी शताब्दी मे भारत मे जातियो का व्यापक रूप से प्रचार हो गया था।

**ब्रज की जातियाँ और उनका वर्गीकरण**—जब से ब्रज सस्कृति के ऐतिहासिक युग का आरभ हुआ है, तभी से इस प्रदेश मे विविध जातियो की विद्यमानता दिखलाई देती है। इस काल मे यहाँ पर अनेक विदेशी जातियाँ भी आकर बसी थी, जो शनै शनै यहाँ की मूल जातियो मे समा गई। उनके मिश्रण से अनेक उपजातियो और थोको की उत्पत्ति हुई थी। इस समय ब्रज मे ८३ विभिन्न प्रकार की जातियाँ और उपजातियाँ है। इनमे सख्या की दृष्टि मे ब्राह्मण, जाट, जाटव ( चमार ), राजपूत और वैश्य सब मे अधिक है। धर्म की दृष्टि से हिंदू जातियाँ सबसे अधिक अर्थात् प्राय ८९ प्रति शत है। मुसलमान जातियाँ प्राय ९ प्रति शत और अन्य धर्मो से सबधित जातियाँ प्राय २ प्रति शत है।

---

(१) इडिया ऐज नोन टु पाणिनि, पृष्ठ ७५

ब्रज की समस्त जातियो को पहिले प्राचीन और अर्वाचीन दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है। प्राचीन जातियो के भी दो उपवर्ग है। पहिला उपवर्ग उन जातियो का है, जो अब नही रही है और दूसरा उनका है, जो परिवर्तित रूप मे अब भी विद्यमान है। अर्वाचीन जातियाँ अपने मूल नामो को कायम रखे हुए है, किंतु उनके सगठन मे समय–समय पर परिवर्तन होते रहे है। हम यहाँ पर ब्रज की कुछ प्रमुख जातियो का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते है।

## लुप्तप्राय प्राचीन जातियाँ—

ब्रजमडल की अत्यत प्राचीन परपरा होने के कारण यहाँ अनेक पुरातन जातियो का निवास रहा है। भारत की प्राचीनतम जातियो मे देव, किन्नर, गधर्व, सिद्ध, यक्ष, नाग, राक्षस और भूत–प्रेतादि भी थे। उनमे से कई जातियाँ शूरसेन अर्थात् प्राचीन ब्रजमडल मे भी निवास करती थी। कालातर मे वे जातियाँ समाप्त हो गई और उन्हे देव कोटि मे मान कर पूजा जाने लगा। जिन व्यक्तियो की जैसी वृत्ति और रुचि थी, वे वैसी ही प्रकृति के देवादि की पूजा करने लगे। श्री कृष्ण ने कहा है,—"सात्विक वृत्ति के व्यक्ति देवो को, राजसी वृत्ति के यक्ष–राक्षसो को तथा तामसी वृत्ति के भूत–प्रेतो को पूजते है[1]।" जिन पुरातन जातियो और उनके पूजको का प्राचीन ब्रज प्रदेश से सबध रहा है, उनमे यक्ष और नाग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ पर उनका सक्षिप्त विवरण लिखा जाता है।

**यक्ष**—ब्रजमडल की लुप्तप्राय प्राचीनतम जातियो मे यक्ष गण सर्व प्रथम उल्लेखनीय है। यक्षो की आदिम बस्ती उत्तर दिशा मे अलकापुरी थी। जब वे अपने मूल निवास स्थल से हट कर अन्य स्थानो मे भी बसने लगे, तब प्राचीन ब्रजमडल उनका एक प्रमुख केन्द्र हो गया था। यक्ष गण अपनी उग्र और भयावह प्रवृति के लिए प्रसिद्ध रहे है। पौराणिक अनुश्रुतियो और ऐतिहासिक प्रमाणो से सिद्ध होता है कि प्राचीन ब्रजमडल यक्षो के उत्पात और उत्पीडन से आतकित रहा था।

मानव जाति के आदि पिता स्वायभुव मनु के पौत्र जिन ध्रुव जी ने ब्रज के मधुवन मे तपस्या की थी, उन्ही के भाई उत्तम को यक्षो ने मार डाला था। यह यक्षो के आतक की प्रागैतिहासिक अनुश्रुति है। महाभारत से ज्ञात होता है, जब पाँचो पाडव वन-वास मे थे, तब उन्हे एक यक्ष ने बडा आतकित किया था। भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव तो उससे हतसज्ञक भी हो गये थे; किंतु युधिष्ठिर ने अपनी वाक्-चातुरी से उसे प्रसन्न कर लिया था।

जैन और बौद्ध साहित्य यक्षो के विवरणो से भरे पडे है। उनमे उस काल के अनेक यक्ष-यक्षिणियो के नाम भी मिलते है। मथुरामडल के सुप्रसिद्ध यक्षो मे माणिभद्र, भंडीर और गर्दभ तथा यहाँ की विख्यात यक्षिणियो मे आलिका, वेदा, मघा और तिमिसिका के नाम उल्लेखनीय है। यहाँ के निवासी उनसे बडे भयभीत रहते थे। जब भगवान् बुद्ध मथुरा आये थे, तब उन्होने अपने प्रभाव से यक्षो को विनीत बना कर यहाँ के निवासियों को उनके आतक से मुक्त किया था।

कालातर मे यक्षो और यक्षिणियो की पूजा होने लगी थी और उनके पूजको का एक बडा समुदाय बन गया था। उस समय उन्हे भयप्रद होने के साथ ही साथ कल्याणप्रद भी माना जाने लगा था। प्राचीन साहित्य मे उनके दोनो रूपो का उल्लेख मिलता है। एक ओर जहाँ उन्हे

---

(१) श्रीमद् भगवत गीता, १७–२

भयावह और पराक्रमी मान कर उनके प्रति भयजनित श्रद्धा व्यक्त की गई है, वहाँ दूसरी ओर उन्हें सुंदर, मोहक और कल्याणप्रद मान कर उनके प्रति भक्ति-भावना भी प्रकट की गई है। सपत्नीक कुबेर और उनके गण माणिभद्र-भंडीर आदि की पूजा मथुरामंडल में इसी रूप में होने लगी थी। अनेक यक्षिणियों को भी यहाँ इसी प्रकार पूजनीय माना जाता था।

जैन धर्म में यक्ष-यक्षिणियों की पूजा को विशेष महत्व दिया गया है। इस धर्म के २४ तीर्थंकरों के साथ २४ यक्ष और २४ यक्षिणियाँ भी मानी गई हैं। तीर्थंकरों की मूर्तियों में उनके दायें-बायें प्रायः यक्ष-यक्षिणियों की आकृतियाँ भी उत्कीर्ण की जाती हैं। इस प्रकार की अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

मथुरा संग्रहालय की सबसे प्राचीन मूर्ति माणिभद्र यक्ष की है, जो मथुरा जिले के परखम गाँव से प्राप्त हुई है। इस विशाल मूर्ति को प्राचीन काल में लोक-पूजा के लिए स्थापित किया गया था और वह बहुत समय तक वहाँ पूजनीय भी रही थी। भंडीर यक्ष का निवास-स्थान ब्रज में भांडीर वन के नाम से प्रसिद्ध है। जैन ग्रंथ 'आवश्यक चूर्णी' से ज्ञात होता है कि जैन धर्मावलंबी भंडीर यक्ष की यात्रा के लिए मथुरा आते थे। ब्रज का सुप्रसिद्ध वृंदावन किसी समय वृंदा यक्षिणी का निवास-स्थल था। कुछ विद्वानों का अनुमान है, उसी के नाम पर उस प्राचीन वन का नामकरण भी हुआ है।

वैदिक साहित्य में यक्षों के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग मिलता है और परवर्ती साहित्य में उन्हें 'वीर' कहा गया है। दीपावली का पूजन मूलतः यक्षों की जन्म-रात्रि के उत्सव के रूप में आरंभ हुआ था, किंतु कालांतर में उसके साथ और भी कई परंपराएँ तथा मान्यताएँ जुड़ती गई हैं। जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के संबंध में डा० वासुदेवशरण जी का मत है, "वे भी मूल रूप में यक्ष ही थे। 'वीर' के रूप में उनकी पिंडी का पूजन पूर्वी जिलों में अभी तक होता है। दीपावली ही महावीर का जन्म-दिन है[1]।"

कालांतर में सुप्रसिद्ध यक्षों की संख्या ५२ मानी जाने लगी थी। मध्य-कालीन साहित्य में '५२ वीरों' का उल्लेख मिलता है। लोक साहित्य में ५२ वीरों से संबंधित अनेक उपाख्यान उपलब्ध हैं। ब्रज साहित्य में ब्रह्म, बरम या बरमदेव अथवा वीर, जाख और जखैया के नामों से यक्षों का उल्लेख हुआ है। ब्रज के एक ग्राम का नाम 'जखन गाँव' है, जो प्राचीन काल में यक्षों का निवास स्थान रहा होगा। सूरदास की रचनाओं में 'जाख' अथवा 'जखैया' के नाम से यक्षों का उल्लेख हुआ है। उन्होंने प्राचीन ब्रज के लोक-जीवन में यक्ष-पूजन का प्रचलन बतलाते हुए श्रीकृष्ण के विद्यमान होने पर उसकी इस प्रकार भर्त्सना की है—

**कोरी मटुकी दही जमायौ, 'जाख' न पूजन पायौ।**
**तेहि घर देव-पितर काहे को, जेहि घर कान्हर जायौ॥**

ब्रज मंडल में यक्ष जाति तो प्राचीन काल में ही लुप्त हो गई थी, किंतु यक्षों की पूजा वहाँ बहुत समय तक प्रचलित रही थी। वर्तमान काल में ब्रज की कुछ तथाकथित शूद्र जातियों में यक्ष-पूजकों के अवशेष विद्यमान हैं और ब्रज के लोक-जीवन में यक्ष-पूजा के कुछ तत्व अब भी मिलते हैं।

---

(१) हिंदी साहित्य ( भारतीय हिंदी परिषद् ), प्रथम खंड, पृष्ठ १९

**नाग**—यह भी भारतवर्ष की एक प्रमुख आदिम जाति है, और इसकी इस देश मे अत्यत प्राचीन परपरा मिलती है। साधारणतया नागो को सर्प समझा जाता है, किंतु वे दोनो भिन्न-भिन्न जातियाँ है[1]। नाग हमारे ही समान मानव थे। उनमे से अधिकाश सर्प-पूजक थे और वे सर्पो को अपने कुलदेव एव रक्षक मानते थे। प्राचीन ग्रथो की अलकृत शैली मे तथा लोक कथाओ मे नागो को सर्पो के रूप मे कथित किया गया है, किंतु उन दोनो का भेद उनकी उत्पत्ति विषयक अनुश्रुति से स्पष्ट होता है। पद्मपुराण ( सृष्टि खड ) मे नागो की उत्पत्ति कश्यप ऋषि की पत्नी कद्रू से और सर्पो की सुरसा से बतलाई गई है। नागो की जो मूर्तियाँ मिलती है, वे मानव और सर्प दोनो आकृतियो की है, किंतु उनमे मानव आकृति की मूर्तियाँ प्राचीन है। उनसे भी यही सिद्ध होता है कि नागो को पहिले मानव माना जाता था, किंतु बाद मे उन्हे सर्प समझा जाने लगा था।

नाग आर्य थे अथवा अनार्य, और वे सभ्य थे अथवा असभ्य, इसके विषय मे बडा मतभेद है। प्राचीन उल्लेखो से वे अनार्य और असभ्य जान पडते है, किंतु बाद के विवरणो मे उन्हे आर्य और सभ्य बतलाया गया है। ऐसा मालूम होता है, उनके जो थोक असभ्य और असस्कृत थे, उन्हे अनार्य माना गया, किंतु जो सभ्य और सुसस्कृत हो गये थे, उन्हे आर्यो मे सम्मिलित कर लिया गया था। असभ्य नाग बीहड बनो मे, गिरि-कदराओ मे तथा नदी तट के एकात स्थानो मे छोटी बस्तियाँ बसा कर रहते थे और वे प्राय सुसस्कृत आर्यो से वैर-भाव रखते थे। सभ्य और सुसस्कृत नाग जातियाँ आर्यो के साथ नगरो और गाँवो मे निवास करती थी। उनका आर्यो से सपर्क और सद्भाव था। नाग जाति का एक विशिष्ट वर्ग भारतीय इतिहास मे 'भारशिव नाग' के नाम से प्रसिद्ध है। वे लोग अत्यत सभ्य और सुसस्कृत थे। उन्होने कई शक्तिशाली राज्य कायम किये थे, जिनमे पद्मापुरी और मथुरा के राज्य विशेष प्रसिद्ध थे।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने बौद्ध ग्रथ 'मजुश्री मूल कल्प' ( श्लोक ७४-५२ ) के आधार पर नागो को वैश्य बतलाया है[2]। वैश्यो मे अग्रवालो की उत्पत्ति नाग माताओ से होने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। इन बातो से भी यही सिद्ध होता है कि नाग जाति के कुछ वर्ग निश्चय ही सभ्य एव सुसस्कृत थे और उन्हे आर्य माना जाता था।

भारत के प्राचीन ग्रथो मे नाग जाति के अनेक प्रमुख व्यक्तियो के नाम मिलते है। ऋग्वेद मे नागो के एक नेता अट्टणक का नामोल्लेख हुआ है, जो वासुदेव कृष्ण के समान इद्र का विरोधी था। काले वर्ण का होने से वह 'कृष्ण' भी कहा जाता था, किंतु वह द्वापर युग के वासुदेव कृष्ण से भिन्न व्यक्ति था। 'विष्णु पुराण' मे १२ प्रधान नागो का उल्लेख है, जिनके नाम १ शेष, २ वासुकि, ३ तक्षक, ४ शख, ५ श्वेत, ६ महापद्म, ७. कम्बल, ८. अश्वतर, ९ एलापत्र, १०. नाग, ११, कर्कोटक और १२ धनजय बतलाये गये है[3]। 'पद्म पुराण' मे

---

(१) गीता में भगवान् की विभूतियों का उल्लेख करते हुए नागो और सर्पों में भेद किया गया है श्री कृष्ण ने कहा है—"मै नागो में शेष और सर्पों मे वासुकि हूँ।" (गीता, १०-२८-२९)

(२) अग्रवाल जाति का विकास, पृष्ठ १४७

(३) विष्णु पुराण, अक १, अध्याय २१

अनत, वासुकि, तक्षक, महावल, कर्कोटक, नागेन्द्र, पद्म, महापद्म, शख, कुलिक, अपराजित आदि प्रमुख नागो के नाम लिखे गये है[1]। साधारणतया अष्ट नाग प्रसिद्ध हे, जिनके नाम १. एलापत्र, २ अनत (शेष), ३ पद्म, ४ शकु, ५ शुकवल, ६ वासुकि, ७ कर्कोटक और ८ तक्षक मिलने है। छदशास्त्र का आदिम आचार्य पिंगल भी नाग जाति का माना गया है।

इस देश के विविध धर्मों से नागो का प्राचीन सवध सिद्ध होता हे। आर्य धर्म के प्रमुख देव और क्षीरसागर मे निवास करने वाले भगवान् विष्णु की शैया शेप नाग की वतलाई गई है। इसका कदाचित यह अभिप्राय है कि शेप नाग विष्णु भगवान् का सेवक और अग रक्षक था। समुद्र मथन के समय वासुकि नाग ने देवताओ और असुरो की वडी सहायता की थी। जैन धर्म के तीर्थंकर सुपार्श्व और पार्श्वनाथ नाग-चिन्ह धारण करते थे। सभव है, वे नाग जाति के रहे हो। वौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार नद और उपनद नागो ने गौतम के जन्म के समय उन्हे स्नान कराया था। मुचुलिद नाग ने बुद्ध पर छाया कर धूप और वर्षा मे उनकी रक्षा की थी। बुद्ध का देहावसान होने पर उनकी अस्थियो पर निर्मित रामग्राम स्तूप की रक्षा नागो ने ही की थी। शैव धर्मावलवियो के उपासक भगवान् शकर को नाग अत्यत प्रिय थे। वैसे भी नाग जाति की शैव धर्म मे अधिक आस्था रही है।

नाग कन्याएँ अत्यत सुदरी एव लावण्यवती होती थी और उनका स्वरूप मोहक तथा आकर्षक होता था। अनेक राजाओ और विशिष्ट पुरुपो के विवाह नाग कन्याओ से होने के उदाहरण मिलते है। रावण के पुत्र मेघनाद की पत्नी सुलोचना नाग महिला थी। राम के पुत्र कुश का विवाह भी एक नाग सुदरी से हुआ था। शूरसेन प्रदेश के अधिपति शूर की माता और उग्रसेन की रानी नाग महिलाएँ थी। अर्जुन की दो पत्नियाँ चित्रागदा और उलूपी भी नाग रमणियाँ वतलाई गई है। ऐतिहासिक काल मे भी अनेक आर्य राजाओ द्वारा नाग कन्याओ से विवाह किये जाने के उल्लेख मिलते है।

शूरसेन प्रदेश का नाग जाति से सबध कृष्ण-काल से ही ज्ञात होता है। उस काल के नाग सरदारो के नाम अनत, कालिय, तक्षक आदि मिलते हे, जो सभ्य और असभ्य दोनो प्रकार के थे। जब वसुदेव अपने तत्काल पैदा हुए बालक कृष्ण को कस से बचाने के लिए उन्हे गोकुल ले गये थे, तव उस आपत्काल मे अनत नाग ने उनकी वडी सहायता की थी। जव वालक कृष्ण वृदावन मे थे, तव वहाँ एक क्रूर और हिंसक प्रकृति के नाग सरदार कालिय ने वडा उपद्रव कर रखा था। उसका निवास स्थान यमुना तटवर्ती एक दह पर था, जो उसके नाम से 'कालिय दह' कहलाता था। व्रज की जो गाये और गोप-वालक उधर निकल जाते थे, वे कालिय द्वारा मार डाले जाते थे। कृष्ण ने उसे पराजित कर वहाँ से भगा दिया था। कृष्ण के वडे भाई वलराम शेप नाग के अवतार माने जाते है। उसका शायद यह अभिप्राय है कि वलराम की नागो से अत्यत घनिष्ठता थी।

महाभारत से ज्ञात होता है, कुरुक्षेत्र के निकटवर्ती खाडव वन मे तक्षक नामक एक नाग सरदार अपने परिवार सहित रहता था। जव श्रीकृष्ण और अर्जुन ने वस्ती वसाने के लिए उस

---

(१) पद्मपुराण, सृष्टिखड, अध्याय ३१

बन को जलाया था, तब उसमे रहने वाले बहुत से प्राणी भी जल कर मर गये थे। तक्षक का घर-बार भी तव नष्ट हो गया था, किंतु वह स्वय वहाँ उपस्थित न होने से बच गया था। उस दुर्घटना के उपरात तक्षक पाडवो का बैरी बन गया था। कालातर मे जब अर्जुन का पौत्र परीक्षित राजा हुआ, तब तक्षक ने उसे छद्म वेश मे मार डाला था। परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने नाग–यज्ञ द्वारा उसका बदला लिया, जिसमे नाग जाति का भीषण सहार हुआ था।

**आभीर**—यह भी प्राचीन ब्रजमडल की एक आदिम जाति थी। 'हरिवश' से ज्ञात होता है, मधुबन के अधिपति मधुदैत्य की पुत्री मधुमती का विवाह सूर्यवश के राजकुमार हर्यस्व के साथ हुआ था। जब मधुमती के पुत्र यदु का जन्म हुआ, तब मधुबन(प्राचीन मथुरा)के ओर-पास आभीरगण निवास करत थे[1]। कालातर मे जब मथुरा के अत्याचारी राजा कस के भय से बालक कृष्ण को गो–गोपो को जिस समुदाय मे छिपा कर रखा गया था, वह आभीरो की ही बस्ती थी। उसे हरिवश मे 'घोप' और 'आभीर पल्ली' तथा भागवतादि पुराणो मे 'गोकुल' कहा गया है[2]।

महाभारत के समय आभीरगण बुदेलखड के पश्चिमी भाग अर्थात् उत्तरी मालवा और पूर्वी राजस्थान मे निवास करते थे। महाभारतीय युद्ध के पश्चात् द्वारका का अत होने पर जब अर्जुन वृष्णि वशियो के अनाथ स्त्री-बच्चो को लेकर हस्तिनापुर जा रहा था, तब मार्ग मे पचनद प्रदेश के जिन जगली लुटेरो ने उन्हे लूटा था, वे भी आभीर ही थे[3]। उक्त घटना से पजाब के उस भाग मे असभ्य आभीरो के निवास का प्रमाण मिलता है। विष्णु पुराण के अनुसार आभीर कोकण और सौराष्ट्र के निवासी थे। हरिवश मे आभीरो का विस्तार मधुबन-मथुरा से लेकर द्वारका के ओर-पास अनूप और आनर्त प्रदेशो तक वतलाया गया है[4]। समुद्र गुप्त के लेख मे उन्हे राजस्थान, मालवा तथा दक्षिण-पश्चिम तट के निवासी कहा गया है। इस प्रकार इन सब उल्लेखो से ज्ञात होता है कि आभीर गण मथुरामडल के अतिरिक्त पजाव, राजस्थान, मालवा, सौराष्ट्र, अनूप, आनर्त, कोकण आदि प्रदेशो के विस्तृत भू-भाग मे फैले हुए थे।

श्री कृष्ण के बाल्य काल मे जो आभीर गण मथुरामडल के ग्रामीण क्षेत्र मे थे, वे गो-पालन का धधा करते थे। वे अपने पशुओ को चराने के लिए मथुरा के निकटवर्ती बनो और घास के मैदानो मे घूमा करते थे। आभीर बालाएँ बडी सुदरी होती थी। श्री कृष्ण की बाल-सहचरी और परम रूपवती राधा भी एक आभीर कन्या थी, जो बाल्यावस्था से ही कृष्ण से स्नेह करने लगी थी। मथुरामडल की अन्य आभीर बालिकाओ और महिलाओ का भी श्री कृष्ण के प्रति अनुपम

---

(१) हरिवश, सृष्टि खड, अध्याय १७

(२) सूरदास ने गोप–बस्ती के लिए 'गोकुल' के साथ ही साथ 'घोष' शब्द का भी इस प्रकार प्रयोग किया है—

हम तौ नद–'घोष' के बासी।
नाम गुपाल, जाति–कुल गोपक, गोप गुपाल उपासी॥ (सूरसागर, पद ४५४५)

(३) महाभारत, मौसल पर्व, अध्याय ७

(४) हरिवश, श्लोक स० ५१६१—५१६३

अनुराग था। डा० भडारकर का कथन है, घुमतू आभीरो मे स्वच्छद आहार-विहार का प्रचलन था, अत उनसे चारित्रिक शुद्धि के इतने ऊँचे स्तर की आशा नही की जा सकती, जितना कि उनके पडौसी सुसस्कृत आर्यो मे था[१]।

आभीर गण अनार्य होने के साथ ही साथ विदेशी भी थे या नही, इसके विषय मे विद्वानो के विभिन्न विचार है। भागवत के एक प्रसिद्ध श्लोक मे जिन किरात, हूण, आध्र, पुलिद, पुल्कस, कक, यवन, खस आदि हीन जातियो के लोगो की शुद्धि विष्णु रूप भगवान् कृष्ण का आश्रय ग्रहण करने मे वतलाई है, उनमे आभीरो की भी गणना की गई है[२]। इससे आभीरो के अनार्य और विदेशी होने का सकेत मिलता है।

डा० भडारकर का मत है, आभीर गण भारत मे वहुत वडी सख्या मे आये थे। वे पहिले पजाव से मथुरा तक और फिर मथुरा से सोराष्ट्र-काठियावाड तक फैल गये थे। आरभ मे उनका जीवन घुमतू खानावदोशो की तरह का था। वे अपने पशुओ को लेकर घूमने-फिरते थे। फिर वे उत्तरी भारत के बहुत बडे भाग मे वस गये। कालातर मे उन्होने महाराष्ट्र के उत्तरी भाग मे एक साम्राज्य की स्थापना की थी। वायुपुराण मे आभीरो के दस राजाओ का उल्लेख मिलता है। नासिक मे आभीर नरेश शिवदत्त के पुत्र ईश्वरसेन का एक अभिलेख मिला हे, जो तीसरी शताब्दी का जान पडता है। काठियावाड के गुदा नामक स्थान से प्राप्त आभीर सेनापति रुद्रभूति के दान का अभिलेख उससे भी पुराना है। इससे समझा जा सकता है कि आभीर गण भारत मे प्रथम शताब्दी के लगभग आये थे[३]।

यदि डा० भडारकर का उक्त मत प्रामाणिक माना जाय, तव मथुरामडल मे निवास करने वाले कृष्ण-काल के पुराने आभीरो को विदेशी न मान कर भारतीय अनार्य ही कहा जावेगा। वे पहिले घुमतू गो-पालक मात्र थे। श्री कृष्ण ने उन्हे युद्ध कला की ओर प्रेरित कर एक लडाकू जाति वना दिया था। महाभारत मे दुर्योधन के पक्ष मे लडने वाले जिन सशप्तक गण का अर्जुन से वडा भीषण युद्ध हुआ था, वे शूरसेन जनपद के आभीर ही थे। वे भी जरासध के आक्रमण-काल मे मथुरामडल के यादवो के साथ मथुरा से निष्क्रमण कर द्वारका के निकटवर्ती प्रदेश मे वस गये थे। कालातर मे आभीरो ने यादवो की भाँति ही भारत के पश्चिमी और दक्षिण–पश्चिमी भागो मे अपने स्वतत्र राज्य स्थापित किये थे।

मथुरामडल के उक्त अभीरो को पचनद प्रदेश के जगली लुटेरो से मिलाना असगत मालूम होता है। उन्ही के जैसे असभ्य लोग प्रथम शताब्दी के लगभग भी भारत मे आये होगे, जिनका उल्लेख डा० भडारकर ने किया है। इस प्रकार भारत की उस घुमतू गोपालक जाति के कई वर्ग और थोक थे, जो विविध कालो मे विभिन्न स्थानो मे वसे हुए थे। उन सवको सामूहिक रूप से 'आभीर' कहने से उनकी विद्यमानता का काल सदेहास्पद हो गया है।

---

(१) वैष्णविज्म, शैविज्म आदि, पृष्ठ ५३

(२) किरात हूणाध्र पुलिद पुल्कसा, आभीर कका यवना खशादय।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रया. शुध्यति तस्मै प्रभविष्णवे नम.॥ (भागवत, २-४-१८)

(३) वैष्णविज्म, शैविज्म आदि, पृष्ठ ५२–५३

इस समय आभीर जाति अपने मूल रूप मे तो नही है, किंतु परिवर्तित रूप मे विद्यमान है। उसका परिवर्तित रूप जिन जातियो मे मिलता है, उनमे 'अहीर' जाति का नाम उल्लेखनीय है। 'गूजर' और 'जाट' जातियाँ भी संभवत आभीरो के परिवर्तित रूप का प्रतिनिधित्व करती है, यद्यपि इसके विषय मे निश्चय पूर्वक कहना संभव नही है।

## वर्तमान प्राचीन जातियाँ—

**यादव**—ब्रज की इस प्राचीन जाति के लोग चंद्रवंशी क्षत्रिय है। इनका मूल पुरुष यदु था, जिसके नाम पर इस जाति के लोग यदुवंशी, यादव अथवा जादो कहे जाते है। यदु चंद्रवंश के विख्यात राजा ययाति का ज्येष्ठ पुत्र था। जब ययाति ने अपने विशाल साम्राज्य को अपने पुत्रो मे विभाजित किया, तब भारत का दक्षिण-पश्चिमी भाग यदु को प्राप्त हुआ था। इस प्रकार यदुवंशियो का आरंभिक निवास-स्थल भारत का वह भाग था, जहाँ उन्होने दशार्ण, माहिष्मती, अवंती और चेदि के प्रसिद्ध राज्य स्थापित किये थे। यदुवंशियो के एक प्राचीन राजा का नाम कार्तवीर्य अर्जुन या सहस्रार्जुन था। उसके राज्य का विस्तार नर्मदा से लेकर हिमालय की तराई तक हो गया था। उसके वंशज हैहयवंशी कहलाये और उनकी राजधानी माहिष्मती थी।

सहस्रार्जुन के सौ पुत्र थे, जिनमे से एक का नाम शूर या शूरसेन था। 'लिंग पुराण' मे लिखा है, उक्त शूरसेन के नाम पर ही यमुना तट का यह प्रदेश, जिसे अब ब्रज कहते है, प्राचीन काल मे शूरसेन कहलाता था। इस प्रकार यादव जाति का ब्रज से अत्यंत प्राचीन संबंध रहा है। यादवो की कई शाखाएँ थी, जिनमे उक्त हैहयवंशियो के अतिरिक्त वृष्णि, अंधक, कुकुर और भोज विशेष प्रसिद्ध थे। इनके कई राज्य थे, जिनमे अधिकांश मे राज्यतंत्र न होकर गणतंत्र प्रचलित था। उनका अधिपति कोई परंपरागत राजा न होकर उक्त राज्यो के निवासियो द्वारा निर्वाचित होता था।

श्रीकृष्ण के जन्म से पहिले शूरसेन प्रदेश के कई यादव राज्यो ने अपना संघ बना रखा था, जो 'अंधक-वृष्णि संघ' कहलाता था। अंधक संघ के अधिपति उग्रसेन उस संघीय गण राज्य के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए थे और मथुरा उनकी राजधानी थी। उग्रसेन की भतीजी देवकी का विवाह वृष्णि संघ के अधिपति वसुदेव के साथ हुआ था। उनके पुत्र भगवान् श्री कृष्ण थे। उग्रसेन के पुत्र का नाम कंस था, जिसका विवाह उस काल के सर्वाधिक शक्तिशाली मगध सम्राट जरासंध की दो पुत्रियो के साथ हुआ था।

कंस बड़ा शूरवीर और महत्वाकांक्षी युवक था। उसने अपने श्वसुर जरासंध की सहायता से अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया और उन्हे राष्ट्रपति के पद से हटा कर आप अंधक-वृष्णि राज्य का स्वेच्छाचारी सम्राट बन गया था। अंत मे श्री कृष्ण द्वारा उसका अंत हुआ। उसका बदला लेने के लिए मगध-सम्राट जरासंध ने यादवो के विरुद्ध अनेक बार भीषण आक्रमण किये थे। यद्यपि उनमे जरासंध को पूरी तरह सफलता प्राप्त नही हुई, तथापि उनसे यादवो की शक्ति का भी बड़ा ह्रास हुआ था। अंत मे उन आक्रमणो से बचने के लिए यादवो ने मथुरा छोड़ कर सुदूर पश्चिम की ओर जाने का निश्चय किया था।

मथुरा से निष्क्रमण करने वाले यादवो को राजस्थान के पथरीले और रेतीले भाग मे बसना उचित ज्ञात नही हुआ। वे और भी पश्चिम की ओर बढ़ते हुए आनर्त (उत्तरी गुजरात) और

सोराष्ट्र की समतल एव उपजाऊ भूमि मे जाकर बस गये। आनर्त का राजा श्री कृष्ण के वडे भाई वलराम का श्वसुर था, अत उन लोगो को वैसे भी वहाँ बसने मे सुविधा थी। उन्होने उस भू-भाग मे समुद्र के तट पर द्वारका नामक एक रमणीक पुरी बसाई और उसे अपनी राजधानी बनाया था।

महाभारत के युद्ध मे इस देश के अनेक राज्यो और वहाँ निवास करने वाली अनेक जातियो का सर्वनाश हुआ था, किंतु द्वारका का यादव राज्य तव भी वडा शक्तिशाली था। उसका कारण श्री कृष्ण जैसे युगातरकारी महापुरुष का कुशल नेतृत्व था। जव श्री कृष्ण के तिरोधान का समय आया, तव दुर्दैव से द्वारका के यादवो मे भीषण गृह-कलह हुआ, जिसके कारण उनमे से अधिकाश आपस मे ही लड कर मर गये। उस समय वहाँ वृद्ध जन, विधवा स्त्रियाँ और वालक गण ही शेष रहे थे।

जब अर्जुन को द्वारका के यादवो के उस सर्वनाश का समाचार मिला, तव वह द्वारका जाकर वहाँ के शेष यादवो को हस्तिनापुर लिवा लाया और उन्हे पजाव, इद्रप्रस्थ तथा मथुरामडल मे वसा दिया। इस प्रकार इस क्षेत्र मे फिर से यादवो की बस्तियाँ बस गई।

जव स० १०७४ मे महमूद गजनवी ने मथुरा पर आक्रमण किया, तव वहाँ के राजा कूलचद ( कुलचद्र ) से उसका भीषण युद्ध हुआ था। यद्यपि उक्त कूलचद की वशावली उपलब्ध नही हुई है, तथापि ऐसा अनुमान होता है कि वह वहाँ का कोई यादव राजा था। उस युद्ध मे कूलचद की मृत्यु हुई थी और उसका विशाल सैन्य दल एव राज्य नष्ट हो गया था। जो यादव उस भीषण विनाश के बाद भी बच गये थे, उन्होने विजयपाल के नेतृत्व मे मथुरा से हट कर श्रीप्रस्थ (वर्तमान बयाना ) मे एक नये यादव राज्य की स्थापना की थी। विजयपाल सभवत कूलचद का भाई था।

उक्त विजयपाल के वशजो ने ही कालातर मे कामवन तथा करौली मे भी यादव राज्यो की स्थापना की थी और वहाँ अनेक दुर्ग और देवालय बनवाये थे। मुगल शासन के अतिम काल मे बयाना और कामवन पर जाटो ने अधिकार कर लिया था, किंतु करौली मे यादवो का ही राज्य बना रहा। अगरेजी शासन-काल तक ब्रज मे करौली ही यादवो का एक मात्र प्रसिद्ध राज्य था, जिसकी परपरा भगवान् श्री कृष्ण तक जाती थी। देश के स्वाधीन होने पर अन्य राज्यो के साथ करौली भी राजस्थान मे विलीन हो गया।

इस समय यादवो को जादो ठाकुर कहा जाता है, जिनकी अधिक सख्या करौली के आस-पास ही है, किंतु वे ब्रज के अन्य स्थानो मे भी थोडी-बहुत सख्या मे बसे हुए है।

**अहीर**—यह ब्रजमडल की एक गो-पालक जाति है, जिसे कुछ विद्वान प्राचीन आभीरो से अभिन्न मानते है। इस प्रकार इस जाति का भी ब्रजमडल से पुराना सबध रहा है। वैसे जाट और गूजरो की तरह अहीरो की उत्पत्ति के सबध मे भी कोई सुनिश्चित मत नही मिलता है। भारत के प्राचीन ग्रथो के साथ ही साथ वर्तमान काल के देशी-विदेशी विद्वानो की रचनाओ मे उनसे सबधित विभिन्न मत प्रकट किये गये है।

'मनुस्मृति' मे अहीरो को ब्राह्मण पिता और अम्बष्ठ माता से तथा 'ब्रह्म पुराण' मे उन्हे क्षत्रिय पिता और वैश्य माता से उत्पन्न लिखा गया है। 'वायु पुराण' मे उन्हे म्लेच्छ बताया गया है,

**गूजर**—इस जाति का प्राचीन नाम 'गुर्जर' है और इसका आरंभिक निवास-स्थल भारत मे पचनद प्रदेश ( पजाब ) है। वहाँ का गुजरानवाला नामक स्थान उन्ही के नाम पर प्रसिद्ध हुआ जान पडता है। जब विदेशी आक्रमणकारियो ने उन्हे पजाब से खदेड दिया, तब वे उत्तरी राजस्थान मे जाकर टिक गये थे। उनके नाम पर ही मारवाड पहिले 'गुर्जत्रा' कहलाता था। बाद मे वे गुजरात मे जाकर रहे थे। यह प्रदेश भी उनके नाम से प्रसिद्ध हुआ है। कुछ लोग गुजरात का पुराना नाम 'गुर्जत्रा' समझते है, किंतु यह उनका भ्रम है[1]। प्राचीन काल मे उत्तरी गुजरात को 'आनर्त' और दक्षिणी गुजरात को 'लाट' या 'लाड' कहते थे। बाद मे गुर्जरो के कारण उसे 'गुजरात' कहा जाने लगा था।

गूजरो की उत्पत्ति के विषय मे विद्वानो मे विवाद है। स्मिथ आदि अनेक विदेशी विद्वानो ने गूजरो को भारत मे बाहर से आने वाली जाति कहा है। डा० भडारकर भी गूजरो को विदेशी मानते है, किंतु श्री वैद्य के मतानुसार वे भारतीय आर्यो के वशज है[2]। इस जाति की अपनी एक बोली रही है, जिसे प्राचीन ग्रथो मे 'गौर्ज्जरी' कहा गया है। इस बोली ने अपभ्रश भाषा को बहुत प्रभावित किया है।

मुसलमानो के आक्रमण-काल मे जब राजपूतो की अनेक जातियाँ राजस्थान के अनेक राज्यो मे बसने लगी थी, तब मारवाड के गूजर वहाँ से हट कर अन्य स्थानो मे भी बस गये थे। उसी काल मे कदाचित उनकी अधिक सख्या ब्रज मे आकर बसी थी, वैसे आभीरो के साथ ही साथ गूजरो का भी ब्रज से अत्यत प्राचीन सबध ज्ञात होता है। श्री कृष्ण की बाल-लीलाओ मे योग देने वाली ब्रज की गोपियो मे गूजरियो का भी उल्लेख मिलता है। ब्रज के सगीत और लोक नृत्यो से गूजरियो का विशेष सबध रहा है। वर्तमान काल मे भी ब्रज की गूजरियाँ नृत्य कला मे बडी कुशल होती है। जो गूजर ब्रज मे रहते है, उनका प्राचीन आभीरो से कुछ सबध था या नही, इसे निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। वे लोग डीग, कामवन आदि के ग्रामीण क्षेत्रो मे पर्याप्त सख्या मे बसे हुए है। वे मुख्य रूप से खेती का काम करते है, किंतु आवश्यकता होने पर शस्त्र भी धारण कर लेते है। गूजर लोग पशु-पालन के काम मे भी बडे चतुर समझे जाते है।

**जाट**—यह जाति भारत मे ब्रजमडल के अतिरिक्त राजस्थान और पजाब आदि राज्यो मे बसी हुई है। पाकिस्तान मे इस जाति के लोग सिंध और पश्चिमी पजाब मे रहते है। इसकी कुल सख्या एक करोड से भी अधिक है। इसमे आधे से अधिक हिंदू है और आधे से कम सिक्ख एव मुसलमान। जाट चाहे भारत के निवासी हो और चाहे पाकिस्तान के, फिर चाहे वे हिंदू हो और चाहे सिक्ख एव मुसलमान, वे सभी अपने रहन-सहन, आचार-विचार तथा रीति-रिवाज मे प्राय एक जैसे है। इस प्रकार जाटो की अपनी एक सास्कृतिक इकाई है, और वे विगत एक हजार वर्ष से अपनी जातीय विशिष्टता बनाये हुए है। इस जाति का खोजपूर्ण इतिहास श्री कालिकारजन कानूनगो ने 'हिस्ट्री आफ दी जाट्स' के नाम से अगरेजी भाषा मे लिखा है। जाटो के सबध मे कुछ भी लिखने के लिए इस विद्वतापूर्ण पुस्तक का उपयोग करना अनिवार्य है।

---

(१) राजपूतो का प्रारभिक इतिहास, पृष्ठ १५५
(२) ,, ,, , पृष्ठ १००

जाट जाति की उत्पत्ति कब और किस प्रकार हुई—यह एक ऐसी जटिल समस्या है, जिसका समाधान अनेक विद्वानों ने प्रयत्न करने पर भी नही कर पाया है। जहाँ जाट अपनी उत्पत्ति यादव क्षत्रियो से मानते हुए अपने को शुद्ध भारतीय कहते है, वहाँ यूरापीय विद्वान उन्हे इडो–सीथियन मूल का मान कर विदेशी बतलाते है। बेसवा जिला अलीगढ के एक सस्कृतज्ञ जाट श्री गिरिधर प्रसाद ने, जो अपने को पडित कहते थे, जाटो की उत्पत्ति जाठर क्षत्रियो से बतलाई है। उन्होने पद्मपुराण की एक अनुश्रुति के आधार पर अपने मत का समर्थन करते हुए 'जाठरोत्पत्ति' नामक एक पुस्तिका सस्कृत भाषा मे लिखी थी। पद्मपुराण की वह अनुश्रुति इस प्रकार है—

'जब भार्गव परशुराम ने पृथ्वी को क्षत्रियो से शून्य कर दिया, तब क्षत्रियो की हजारो विधवाओ और कन्याओ ने पुत्रोत्पादन की लालसा से ब्राह्मणो से ससर्ग किया था। इस प्रकार उन्होने अपने 'जठर' मे जो गर्भ धारण किये, वे 'जाठर क्षत्रिय' कहलाये[1]।'

श्री ग्राउस ने 'जाठरोत्पत्ति' के उक्त कथन की समीक्षा करते हुए लिखा है—"जाठर से जाट शब्द बनने की कल्पना मे कोई अधिक असगति नही है, किंतु यदि वास्तव मे जाट जाति की उत्पत्ति भी इसी प्रकार हुई है, तब उसका पहिले कही उल्लेख होना चाहिए था। इस शका का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि जाट अधिकतर अशिक्षित रहे है, अत वे अपनी उत्पत्ति से सबधित अनुश्रुति को लेखबद्ध नही कर सके और दूसरो ने इसके अनुसधान मे पर्याप्त रुचि नही ली। यदि इसे मान भी ले, तब भी जाठरो के निवास स्थान विषयक दूसरी शका का समाधान करना सभव नही है। इसे स्वय बेसवाँ के पडित ने भी वृहत् सहिता ( १४–८ ) से उद्धृत किया है। उसके अनुसार जाठरो का निवास स्थान भारत का दक्षिण–पूर्वी भाग है, जब कि यह निश्चित है कि जाट भारत के पश्चिमी भाग के निवासी रहे है। जाट जाति के नेता भी जाठरो को अपना पूर्व पुरुष स्वीकार नही करेगे, क्यो कि भरतपुर के राजा गण अपने को यादव क्षत्रियो की परपरा मे मानते है[2]।

जाट–इतिहास के सशोधक विद्वान श्री कानूनगो ने भी जाठरो से जाटो के किसी प्रकार का सबध होना अस्वीकार किया है। उन्होने लिखा है, यदि इस समय जाठरो का अस्तित्व कतई न होता, तब भी कदाचित 'जाठरोत्पत्ति' की भ्रमात्मक बात को मान लिया जाता। किंतु जाठर जाति अब भी दक्षिणी भारत मे बसी हुई है और वह दक्षिणी मरहठा ब्राह्मणो की एक उपजाति है। उसका जाटो से कोई सबध नही है[3]।

---

(१) क्षत्रशून्ये पुरालोके भार्गवेन यदाकृते।
विलोक्या क्षत्रिया धात्री कन्यास्तेषां सहस्रश.॥
ब्राह्मणान् जगृहुस्तस्मिन् पुत्रोत्पादन लिप्सया।
जठरे धारितं गर्भ संरक्ष्य विधिवत् पुरा।
पुत्रान् सुषुविरे कन्या जाठरान् क्षत्रवशजान्॥ (History of the Jats, पृष्ठ १५)

(२) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर ( सन् १८७४ ), पृष्ठ २१–२२

(३) हिस्ट्री आव दि जाट्स, पृष्ठ १७

यादवो से जाटो की उत्पत्ति होने की बात भी कठिनता से मानी जा सकती है, क्यो कि इसका कोई स्पष्ट और प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है। विष्णु पुराण से ज्ञात होता है कि विख्यात वीर कार्तवीर्य अर्जुन के सौ पुत्रो मे से एक जयध्वज भी था। उससे हैहयवशियो की पाँच वडी शाखाएँ प्रचलित हुई, जिनमे से एक शाखा का नाम 'जाता' अथवा 'सुजाता' था। यदि 'जाता' से 'जात' या 'जाट' शब्द की उत्पत्ति मानी जा सके, तव यादवो से भी जाटो का सवध सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु इसके सवध मे भी वही कठिनाई है, जो जाठरो के विषय में वतलाई जा चुकी है। हैहयवशियो का निवास–स्थल दक्षिण मे नर्मदा के किनारे था। उन्हे वर्तमान जाटो का पूर्व पुरुष मानना कठिन है, क्यो कि जाट सदा से पश्चिमी भारत के निवासी रहे हैं।

जाटो की उत्पत्ति की सभी सभावनाओ पर विचार करने के उपरात श्री कानूनगो ने लिखा है—"जाटो को यह समझाना कठिन है कि वे प्राचीन यादवो की परपरा मे नहीं है, चाहे अपने दावे को सिद्ध करने के लिए उनके पास कोई प्रमाण नही है[1]।" इस प्रकार जाटो की मान्यता के अनुसार ही उन्हे यादवो की परपरा मे माना जाता है। जाटो के मुख्य गोत्र ये है—वहं, सगेरिया, खूटैल, लथौर, वाचारने, भाग्गर, सिसिनवार, सकरवार, येवर, मैनी, गोधी, छोकर, गाडर तथा रावत[2]।

जहाँ तक ब्रजमडल की जाट जाति का सवध है, यह इस भू-भाग मे जन–सख्या और ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से किसी भी जाति से कम नही है। जाटो का रग गोरा या गेहुआ, कद लवा और शरीर पुष्ट होता है। वे अधिकतर खेती–वाडी का काम करते है, किंतु उनकी एक अच्छी सख्या सेना मे भी है। हल और तलवार दोनो के चलाने मे ब्रज की अन्य जातियो के लोगो से वे अधिक चतुर है। उनमे वौद्धिक प्रतिभा, धार्मिक शुचिता और सामाजिक चेतना की कमी हे, किंतु वे वडे परिश्रमी और साहसी होते है।

ब्रज के जाट अधिकतर हिंदू धर्म के अनुयायी है, किंतु उनमे सवर्ण हिंदुओ की तरह सभी सस्कार नही होते है। यज्ञोपवीत सस्कार उनमे प्राय नही होता, केवल विवाह सस्कार होता है। विवाह के अवसर पर ही पुरोहित जाट वर को यज्ञोपवीत पहिना देता है, जो वाद मे उतार दिया जाता है। अन्य हिंदुओ की तरह उनमे भी विवाह गोत्र बचा कर किया जाता है, किंतु विधवा–विवाह प्रचलित है। जाटो मे अपने वडे भाई की विधवा से भी विवाह कर लिया जाता है। उनकी यह प्रथा उन्हे अन्य हिदुओ से पृथक् कर देती है, क्यो कि परपरा से हिदुओ मे वडे भाई की स्त्री को माता के समान माना जाता है।

दूसरी जाति के लोगो को अपने मे खपाने की जैसी क्षमता जाट जाति मे है, वैसी ब्रज की अन्य हिंदू जातियो मे नही है। यही कारण है कि जाटो की जन सख्या वरावर वढती रही है। जाट किसी भी जाति की महिला को अपनी पत्नी वना कर घर मे रख सकते है। उक्त महिला से उत्पन्न सतान को जाट मानने मे किसी को आपत्ति नही होती।

---

(१) हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ १८

(२) ब्रज का इतिहास ( दूसरा भाग ), पृष्ठ १८७

उसने यहाँ के मदिर—देवालयो को तोडने और हिंदुओ को वलात् मुसलमान वनाने के अहकाम जारी किये। इससे व्रजमडल के जाटो मे क्राति की लहर दौड गई थी। उसका यह यह परिणाम हुआ कि सीधे—सादे जाट किसानो ने हल को छोड कर तलवार पकड ली और शक्तिशाली मुगल सेना का सामना करने को तैयार हो गये।

व्रज मे औरगजेव के अत्याचारो के विरुद्ध विद्रोह करने वाली एक मात्र जाट जाति थी। औरगजेव ने अपनी असख्य सैन्य शक्ति के द्वारा इस जाति पर वडे-वडे अत्याचार किये, किंतु जाट वीरो ने उससे कभी हार नही मानी। उसके अमानुषिक अत्याचारो ने उनमे प्रतिहिंसा की ज्वाला प्रज्वलित कर दी थी। फलत शाति पूर्वक खेती करने वाली जाट जाति सैनिको और लुटेरो की जाति वन गई। उस काल मे व्रज के जाटो का प्रमुख धधा छापा-मार रणनीति द्वारा मुगल सेना को परेशान करना और शाही खजाने को लूटना हो गया था।

अपने शासन—काल के उत्तरार्ध मे औरगजेव दक्षिण मे मरहठो के विरुद्ध युद्ध अभियान मे इतना फँस गया था कि वह लाख चेष्टा करने पर भी उत्तर की ओर नही आ सका था। उस काल मे व्रज के जाटो की हिसात्मक हलचले वहुत वढ गई थी। औरगजेव उनसे वडा परेशान हो गया था। वह वार-वार अपने अफसरो के नाम हुक्मनामा भेजता था कि जाटो को नेस्त—नामूद कर दो, किंतु उनके किये कुछ नही होता था। उस काल के 'अखवारात दरवारे मुअल्ला'—शाही सूचना-पत्रो मे जाटो को 'जाट—ए—वदजात' लिखा गया है। इससे मुगल शासन का उनके प्रति तीव्र रोष प्रकट होता है।

मुगल शासन के अतिम काल मे व्रज के जाटो के विख्यात नेता सूरजमल और जवाहरसिंह ने दिल्ली पर चढाई कर उसे लूटा था। इस प्रकार औरगजेव द्वारा व्रज पर किये गये अत्याचारो का उन्होने अपने ढग से वदला लिया था। सूरजमल ने व्रज मे स्वतत्र हिंदू राज्य की स्थापना की थी और उसके वशज भरतपुर के जाट राजाओ ने 'व्रजेन्द्र' अथवा 'व्रजराज' की उपाधि धारण करने मे गर्व का अनुभव किया था।

अगरेजी शासन के आरभिक काल मे व्रज के जाटो ने सुसज्जित ब्रिटिश सेना से भी सफल मोर्चा लिया। जव अगरेजो ने डीग और भरतपुर पर चढाई की थी, तव जाटो ने उनके दात खट्टे कर दिये थे। अगरेजी शासन कायम होने पर जव व्रज मे शाति हो गई, तव जाटो ने भी अपनी क्रातिकारी हलचले समाप्त कर दी थी और वे पूर्ववत् अपने कृषि—कार्य मे लग गये थे। इस समय जाट जाति का मुख्य धधा खेती करना ही है। इस जाति के वहुत से युवक सेना मे भी है, जहाँ उन्होने अपनी वीरता की छाप लगाई हुई है।

## द्विजातियाँ—

**ब्राह्मण**—व्रज की अर्वाचीन जातियो मे सख्या और महत्व दोनो दृष्टियो से ब्राह्मणो का उल्लेख सर्व प्रथम किया जा सकता है। प्राचीन काल मे समाज के उस विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियो को ब्राह्मण कहते थे जो विद्याविद्, तपस्वी, त्यागी और कर्मकाडी होते थे। उनकी उक्त विशेषताओ के कारण उन्हे समाज मे शिरमौर माना जाता था। जो व्यक्ति उक्त विशेपताओ से रहित होते थे, उन्हे ब्राह्मण कहलाने का अधिकार न था। कालातर मे जव वर्ण और जातियो को जन्म के आधार पर माना जाने लगा, तव अपढ और मूर्ख व्यक्ति भी ब्राह्मण कुल मे जन्म लेने से अपने वढप्पन का दावा करने लगे और समाज मे भी उनका वह दावा प्राय मान लिया गया था। ऐसी दशा मे

ब्राह्मणो को विद्वान, तपस्वी और त्यागी होने की आवश्यकता ही नही रही। फलत उनमे मूर्खो की सख्या अधिक होने लगी। इससे समाज मे ज्ञान, विज्ञान और विद्या की उन्नति रुक गई थी।

धार्मिक क्षेत्र होने के कारण ब्रज मे ब्राह्मणो का महत्व सदा बना रहा, चाहे उनमे अपने पूर्व पुरुषो की भाँति गुण नही रहे थे। ब्रज के धार्मिक स्थलो मे ब्राह्मणो का मुख्य धधा पुरोहिताई, पंडागीरी और यजवान–वृत्ति है, जो उन्हे वश–परपरा से प्राप्त होता है। ब्राह्मणो मे सबसे अधिक सख्या सनाढ्यो की और उनके बाद गौडो की है। गौतम, सारस्वत आदि अन्य जातियो के ब्राह्मण भी ब्रज मे थोडी-बहुत सख्या मे बसे हुए है।

**'चतुर्वेदी या चौबे'**—ब्रज की यह जाति ब्राह्मणो के अतर्गत मानी जाती है। इसकी अपनी बोली है और विशिष्ट रीति–रिवाजे है। इस जाति के दो वर्ग है, जो 'कडवे' और 'मीठे' कहलाते है। कडवे चौबो मे 'मथुरिया' और 'कुलीन' नामक दो उपवर्ग है। मथुरिया चौबे सामूहिक रूप से मथुरा मे रहते है और अधिकतर पडागीरी करते है। कुलीन चौबे आगरा, मैनपुरी, इटावा आदि नगरो मे बसे हुए है। वे प्राय पढे-लिखे है और अधिकतर नौकरीपेशा है। मीठे चौबे विशेष रूप से ब्रज के ग्रामीण भागो मे रहते है और उन्हे कडवे चौबो से कुछ नीचा माना जाता है।

श्री भगवान्दत्त चतुर्वेदी ने 'मथुरा के चौबे' शीर्षक के अपने निबध मे लिखा है— "इनकी उत्पत्ति तथा प्राचीन इतिहास विवादग्रस्त है और इनके कुछ आचारो मे वैचित्र्य के दर्शन होते है। इनका वैवाहिक सबध मथुरा मे ही होता है। 'मथुरा की बेटी, गोकुल की गाय। करम फूटै तो बाहर जाय।' वाली लोकोक्ति इसी समाज पर फिट बैठती है। एक ही स्थान तथा सकुचित दायरे मे विवाह सबध होने के कारण इनमे बाल विवाह तथा बदले के विवाह की कुप्रथाएँ प्रचलित है। अब समाज का शिक्षित वर्ग इन कुप्रथाओ को समाप्त करना चाहता है और इसमे काफी सफलता प्राप्त कर चुका है। विवाहिता स्त्रियाँ मध्यान्होत्तर अपने मायके ( मातृ गृह ) जाती है और वही पर साध्य भोजन करने के बाद फिर रात्रि को पति गृह मे वापिस आ जाती है। प्राय यह दैनिक कार्यक्रम रहता है।

विविध सस्कारो के अवसर पर पेडा, गिदौडा आदि मिठाई बायने मे बाँटी जाती है। ब्रह्मभोजो मे पर्याप्त धन व्यय होता है। मृतक भोज मे भी सैकडो लोगो को दावत दी जाती है। मृतक के शोक मे इनके यहाँ एक साल तक स्त्रियाँ 'स्यापा' करती है। भग के अतिरिक्त अन्य नशीली वस्तुएँ जैसे धूम्र पान, हुक्का, बीडी, सिगरेट, प्याज, लहसुन आदि वर्जित है। इनकी वेशभूषा मे प्राचीनता की छाप मिलती है[२]।"

औरगजेब के शासन–काल मे जब ब्रज के हिंदुओ को उसकी दमन–नीति का शिकार होना पडा था, तब मथुरा के चौबो ने भी बडा कष्ट उठाया था। ऐसा कहा जाता है, उनसे मुसलमानो की कब्रे खुदवाई जाती थी। उस आपत्ति–काल मे जब ब्रज के अनेक लोग या तो यहाँ से भाग कर अन्यत्र चले गये थे या मुसलमान हो गये थे, तब मथुरा के चौबे नाना प्रकार की कठिनाईयो को सहन करते हुए भी मथुरा मे ही बने रहे थे। यही कारण है, मथुरा की कई अन्य जातियो की अपेक्षा चौबे यहाँ के पुराने निवासी है। उनकी सख्या भी इस नगर मे पर्याप्त है।

---

(२) ब्रज का इतिहास, दूसरा भाग, पृष्ठ ४८७–४८९

भार्गव—इस जाति का मूल निवास-स्थल अलवर के निकटवर्ती नारनौल के समीप की धूसी या धौंसी पहाडी माना जाता है । उक्त पहाडी के नाम पर पहिले इस जाति को 'धूसर' अथवा 'ढूसर' कहते थे, किंतु अब 'भार्गव' कहा जाता है । अब से कुछ वर्ष पहिले तक इसे वैश्यो की एक उप जाति माना जाता था, किंतु अब इस जाति के लोग अपनी उत्पत्ति महर्षि भृगु से बतलाते हुए अपने को ब्राह्मणो की उपजाति मानते है । यह जाति जिन कतिपय स्थानो मे बसी हुई है, उनमे मथुरा भी एक महत्वपूर्ण स्थान है । यहाँ पर इनकी सामूहिक बस्ती है । यद्यपि इनकी संख्या मथुरा की अन्य जातियो की अपेक्षा कम है, तथापि इनका यहाँ पर अच्छा प्रभाव है ।

इस जाति के दो महापुरुष—१ हेमू या हेमचद्र और २ नवलदास का ब्रज से कुछ सबध रहा है । हेमू शेरशाह सूरी का वीर सेनापति था । मुगल शासन के आरभिक काल मे सूरियो का पतन होने पर, हेमू ने स्वतत्र हिंदू राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया था, किंतु उसे सफलता नही मिल सकी थी । नवलदास रेवाडी का रहने वाला और राधावल्लभ सप्रदाय का एक विरक्त साधु था । उन दोनो को 'धूसर' अथवा 'ढूसर' वैश्य लिखा गया है[1] ।

इधर कुछ वर्षो से इस जाति के ब्राह्मण होने के दावे को मान लिया गया है । फलत इसे महर्षि भृगु की परपरा मे 'भार्गव' कहा जाता है, किंतु इस जाति के लोग ब्राह्मण वृत्ति न कर अन्य कामो मे लगे हुए है । यह एक प्रगतिशील जाति है ।

अहिवासी—इस जाति के लोग भी अपने को ब्राह्मणो की एक उपजाति मानते है । इस जाति का मूल स्थान कालियदह-वृदावन के निकट का सेमरख गाँव कहा जाता है । कालियदह कालिय नाग का निवास स्थल था और अपने 'अहिवासी' नाम से भी इस जाति का सबध नाग जाति अथवा सर्प ( अहि ) पूजा से सिद्ध होता है, किंतु फिर भी इसकी उत्पत्ति के विषय मे कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है ।

इस जाति के लोगो की मान्यता है कि उनके आदि पुरुष महर्षि सौभरि जी थे, जो वृदावन मे यमुना जल के अदर तपस्या किया करते थे । उन्होने अहिराज कालिय को अपने निकट बसा लिया था, अत उनकी तपस्या का स्थल 'अहिवास' कहा जाने लगा । कालातर मे सौभरि ऋषि ने सूर्यवशी महाराज मान्धाता की कन्याओ से विवाह कर गृहस्थाश्रम स्वीकार किया था । उनमे जो सतान हुई, वे 'अहिवासी' कहलाते है[2] । इस मान्यता मे कितनी प्रामाणिकता है, इसका निर्णय करना कठिन है ।

ब्राह्मणो के मूल वशधर और गोत्रकार सप्तर्षि ( १ मरीचि, २ अत्रि, ३ अगिरा, ४ भृगु, ५ वसिष्ठ, ६ पुलस्त्य और ७ अथर्वा ) है, जिनमे भृगु और अगिरा के वशजो का अधिक विस्तार हुआ है । जहाँ 'धूसर' अपना सबध भृगु से सिद्ध कर 'भार्गव' हुए है, वहाँ 'अहिवासी' अपनी परपरा अगिरा से बतलाते हैं । अहिवासियो के मूल पुरुष सौभरि जी महर्षि अगिरा के प्रपौत्र थे, अर्थात् अगिरा के पुत्र घोर, घोर के पुत्र कण्व और कण्व के पुत्र सौभरि जी थे ।

---

(१) १ आजाद कृत 'अकबरी दरबार', प्रथम भाग पृष्ठ २६७

२ श्री नवलदास की परचई ( रसिक अनन्यमाल ), पृष्ठ १५–१६

(२) श्री राघवाचार्य कृत पुस्तिका,—"महर्षि सौभरि जी और उनका वंश" ।

१७ वी शताब्दी मे अहिवासी जाति के एक प्रसिद्ध पुरुष कल्याण जी हुए थे, जो ब्रज के रीढा ( वर्तमान बलदेव ) गाँव के निवासी थे। उक्त गाँव के एक प्राचीन कुड से उस समय श्री दाऊजी की अत्यत सु दर मूर्ति उपलब्ध हुई थी। गोसाई गोकुलनाथ जी उस मूर्ति को गोकुल ले जाना चाहते थे, किंतु गाँव वालो के आग्रह से उन्होने उसे रीढा गाँव मे ही विराजमान कर दिया और कल्याण जी को उनका पुजारी नियुक्त किया था[1]। उस मूर्ति के कारण वह गाँव 'दाऊजी' अथवा 'बलदेव' कहलाने लगा और वहाँ का कुड 'क्षीरसागर' अथवा 'बलभद्र कुड' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कल्याण जी के वशज अहिवासी गण दाऊजी के पुजारी और वहाँ के पडा है, जो बलदेव मे पर्याप्त सख्या मे बसे हुए है। अहिवासी जाति के लोग ब्रज के अन्य गाँवो मे भी रहते है, किंतु वहाँ वे ब्राह्मण-वृत्ति न कर खेती का धंधा करते है।

**मैथिल**—बढईगीरी के काम करने वालो का एक थोक अपने को ब्राह्मण जाति के अतर्गत मानता है। इस थोक को 'श्रोत्रीय' अथवा 'ब्रजस्थ मैथिल कहा जाता है। इस जाति के अनेक लोगो ने अब बढईगीरी का काम छोड कर अन्य धधे अपना लिये है, किंतु वे ब्राह्मण वृत्ति नही करते है।

**ब्राह्मण वृत्ति की अन्य जातियाँ**—ब्रजमडल की कुछ भिक्षाजीवी जातियाँ वैरागी, बाबाजी, गुसाई, जोगी आदि नामो से प्रसिद्ध है। यद्यपि ये जातियाँ ब्राह्मण होने का दावा नही करती है, तथापि इनकी जीविका ब्राह्मण वृत्ति पर आधारित है। जोगी जाति का सबध प्राचीन नाथ सप्रदाय से ज्ञात होता है। इस जाति के लोग गोरखनाथ को अपना आदि गुरु और शिवजी को अपना उपास्य देव मानते है।

**क्षत्रिय**—प्राचीन वर्ण व्यवस्था के अनुसार क्षत्रियो का स्थान ब्राह्मणो के बाद था और उनको समाज की सुरक्षा का उत्तरदायित्व सोपा गया था। क्षत्रियो के प्राचीन वश सूर्यवश, चद्रवश और अग्निवश थे, जिनकी वश-परपरा का इस देश मे काफी विस्तार हुआ था। अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए क्षत्रियो को शस्त्र विद्या और रण कौशल मे निपुण होना आवश्यक था। उन्हे शत्रुओ के विरुद्ध युद्ध करने के लिए भी सदैव तत्पर रहना पडता था, अत अहिसा के प्रति उनकी अरुचि होना स्वाभाविक था। जैन और बौद्ध धर्मो के उत्थान काल मे जब आर्यो की प्राचीन वर्ण व्यवस्था भग हो गई, तब क्षत्रियो का भी विघटन हो गया था। फिर जैन और बौद्ध धर्मो ने अहिसा पर अधिक बल दिया था, जिसका प्रभाव क्षत्रियो के कर्त्तव्य कर्म पर सबसे अधिक पडा था। फलत उनमे से बहुतो ने अन्य वर्णो के कर्मो को अपना लिया था।

कालातर मे जब वर्णो से जातियो की उत्पत्ति हुई, तब क्षत्रियो की भी अनेक जातियाँ और उप जातियाँ बन गई थी। इस समय क्षत्रियो के प्राचीन वश अपने मूल रूप मे बहुत कम मिलते है, किंतु उनकी परपरा मे राजपूतो और ठाकुरो की अनेक जातियाँ है। इनमे से कई जातियाँ ब्रज के विभिन्न स्थानो मे भी बसी हुई है।

प्राचीन क्षत्रियो की चद्रवशी शाखा के अतर्गत ब्रज के प्राचीन 'यादव' थे, जिनका उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। उनकी परपरा मे वर्तमान 'जादो' ठाकुर है, जो ब्रज के कई स्थानो मे निवास करते है। उनके अतिरिक्त क्षत्रिय अथवा राजपूतो की जो जातियाँ ब्रज मे

---

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृ० सं० ), पृष्ठ २९२

वसी हुई है, उनके नाम इस प्रकार है,—१, चौहान, २ कछवाहे, ३ वाछल, ४ जाइसवार, ५ गौरवा, ६ भदौरिया, ७ गहलोत, ८ वडगूजर, ९ पँवार, १० राठौड, ११ सोलकी, १२ खगार, १३ वघेल, १४ चदेल, १५ गहरवार, १६ तोमर आदि। इनमे से जादो अधिकतर करौली और इसके निकटस्थ गाँवो मे, कछवाहे मथुरा तहसील के महोली, सतोहा, गिरिधरपुर, पालीखेडा, नरौली और जैंत आदि गाँवो मे, वाछल छाता तहसील के वच्छवन, सेही, दानेरा आदि गाँवो मे, गौरवा गोवर्धन और उसके निकटस्थ गाँवो मे तथा भदौरिया आगरा जिला के भदावर क्षेत्र मे बसे हुए है।

**खत्री**—इस जाति की उत्पत्ति क्षत्रियो से मानी जाती है। मुसलमानी शासन काल मे इस जाति ने राजकीय सेवा मे योग देकर वडी उन्नति की थी। खत्री जाति के अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति मुसलमानी शासन मे उच्च पदस्थ राज कर्मचारी रह चुके हे। मुगल सम्राट अकवर के विख्यात अर्थ मत्री टोडरमल खत्री थे। इस समय इस जाति के लोग नौकरीपेशा है, अथवा व्यवसायी है।

**वैश्य**—आर्यो की वर्ण व्यवस्था मे वैश्यो का तीसरा स्थान था और उन्हे समाज की अर्थ व्यवस्था को समुन्नत करने का दायित्व सोपा गया था। मनु के मतानुसार वैश्यो के स्वाभाविक कर्म कृपि, गोरक्षा और वाणिज्य है,—"कृपि गोरक्ष्य वाणिज्य वैश्य कर्म स्वभावजम्।" कहने की आवश्यकता नही कि ये तीनो बाते किसी भी समाज की आर्थिक समृद्धि की मूलाधार है। इनके कारण ही वैश्यो को सदा से समाज मे महत्वपूर्ण स्थान मिलता रहा है।

प्राचीन काल मे वैश्य लोग मनु की व्यवस्था के अनुसार कृषि, गो–पालन और वाणिज्य आदि कर्मो को समान रुचि से किया करते थे। कालातर मे कृपि और गो-पालन के कर्म उच्च वर्णो के लिए अशोभनीय माने जाने लगे, तव वैश्यो ने उनसे अपना हाथ खीच लिया और वे केवल वाणिज्य–व्यापार ही करने लगे थे।

जब भारत मे जाति व्यवस्था प्रचलित हो गई, तब वैश्य वर्ण के अतर्गत भी अनेक जातियाँ वन गई थी। जैसा पहिले लिखा जा चुका हे, जैन और वौद्ध धर्मो के उत्थान-काल मे आर्यो की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था भग हो गई थी। चूँकि उक्त धर्मों ने अहिंसा पर अधिक वल दिया था, अत क्षत्रिय वर्ण के अनेक लोगो ने भी उक्त धर्मो से प्रभावित होकर वैश्यो का कर्म स्वीकार कर लिया। फलत उन्होने वैश्यो के अतर्गत कई नवीन जातियो को जन्म दिया था। ऐसी जातियो मे 'अग्रवाल' और उसकी उपजाति 'राजवशी' के नाम उल्लेखनीय है। उनकी प्राचीन अनुश्रुतियो से ज्ञात होता है कि ये जातियाँ पहिले क्षत्रियोचित कर्म करती थी।

ब्रज मे वैश्यो की जो जातियाँ है, उनमे अग्रवाल, खडेलवाल, माहेश्वरी, माहौर, वारहसैनी, चौसैनी आदि के नाम उल्लेखनीय है। अग्रवाल समस्त ब्रजमडल मे सवसे अधिक सख्या मे वसे हुए है। वारहसनी अधिकतर अलीगढ–हाथरस मे है। अन्य वैश्य जातियाँ थोडी-बहुत सख्या मे ब्रज के प्राय सभी स्थानो मे मिलती है।

**अग्रवाल**—वैश्यो की समस्त जातियो और उपजातियो मे सख्या और महत्व दोनो ही दृष्टियो से अग्रवाल जाति का स्थान सर्वोपरि है। इस जाति की उत्पत्ति किस प्रकार और किस काल मे हुई, इसका यथार्थ विवरण भी अन्य कई प्रमुख जातियो की भाँति पूर्णतया प्रामाणिक रूप मे उपलब्ध नही है। इसके सवध मे जो परपरागत अनुश्रुतियाँ प्रचलित है, उनमे कितनी ही बाते अप्रमाणिक ज्ञात होती है, अत उन सव को आज के वैज्ञानिक युग मे स्वीकार करना सभव नही है।

अग्रवाल जाति की उत्पत्ति और उसके इतिहास से सबधित कई छोटी-बडी पुस्तके अब तक प्रकाशित हो चुकी है, जिनके लेखक भारतेन्दु बा० हरिश्चद्र जी से लेकर वर्तमान काल के कई विशिष्ट विद्वान है। उनकी अधिकाश बाते पौराणिक गाथाओ, परपरागत अनुश्रुतियो और राय-भाटो की किवदतियो पर आधारित है, अत वे सब की सब विश्वसनीय नही है। इन पुस्तको मे डा० सत्यकेतु विद्यालकार कृत 'अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास' और डा० परमेश्वरीलाल गुप्त कृत 'अग्रवाल जाति का विकास' नामक रचनाएँ अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण है, क्यो कि इनमे इतिहास और पुरातत्व की प्रामाणिक सामग्री का भी उपयोग किया गया है। फिर भी इनसे अग्रवाल जाति की उत्पत्ति और उसके इतिहास से सबधित सभी समस्याओ का पूर्णतया समाधान नही होता है।

इस जाति के मूल पुरुष महाराज अग्रसेन माने जाते है, जिनकी राजधानी 'अगरोहा' थी। यह स्थान पजाब राज्य मे हिसार नगर से १३ मील दूर दिल्ली-सिरसा सडक पर स्थित है। इस समय यह एक छोटा सा उजडा हुआ गाँव है, किंतु प्राचीन काल मे यह अत्यत विशाल और समृद्धिशाली नगर था। इसका प्रमाण वे भग्नावशेष है, जो इस स्थान के निकटवर्ती प्राय सात सौ एकड भूमि मे फैले हुए है। इनकी खुदाई से जो पुरातात्विक सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे इसके प्राचीन गौरव पर कुछ प्रकाश पडता है।

भारत के प्राचीन साहित्य मे कुछ ऐसे सूत्र मिलते है, जो अगरोहा राज्य के अस्तित्व-काल का निर्णय करने मे सहायक होते है। इन्हे विद्वानो ने बडा महत्व दिया है। महाभारत मे कर्ण की दिग्विजय का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि पश्चिम दिशा मे उसने जिन राज्यो को पराजित किया था, उनमे एक 'आग्रेय' भी था, जिसकी स्थिति भद्र राज्य से आगे रोहितक और मालव गण राज्यो के बीच मे थी[1]। महाभारत की कुछ मुद्रित प्रतियो मे 'आग्रेय' के स्थान पर 'आग्नेय' पाठ मिलता है, जो ठीक नही है[2]। महाभारत का जो सस्करण भडारकर प्राच्य सस्थान पूना से प्रकाशित हुआ है, उसमे कर्ण की दिग्विजय का वह प्रकरण प्रक्षिप्त मान कर नही दिया गया। वह प्रकरण चाहे प्रक्षिप्त ही हो, किंतु उससे 'आग्रेय' गण राज्य की भौगोलिक स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रकाश पडता है। ससार के सर्वप्राचीन वैयाकरण पाणिनि ( विक्रम पूर्व की पाँचवी शती ) के गोत्रापत्य सूत्रो मे अग्र और इससे बने हुए आग्रेय, आग्रायण आदि शब्दो का उल्लेख हुआ है। यूनान के राजा सिकदर ने भारत के पश्चिमी भाग पर आक्रमण कर वहाँ के जिन राज्यो को जीता था, उनमे एक 'अगलस्सि' भी था।

इतिहास और पुरातत्व के विद्वानो ने प्राचीन 'आग्रेय' और 'अगलस्सि' को अगरोहा से मिलाते हुए उसे भारत का अत्यत प्राचीन गण राज्य माना है। वही राज्य अग्रवाल जाति का मूल निवास स्थल था। वहाँ के देशभक्त और वीर अग्रवालो ने यूनानी, शक, कुषाण, हूण एव मुसलमान आदि विदेशी आक्रमणकारियो से अनेक शताब्दियो तक जम कर लोहा लिया था। अत मे मुहम्मद गोरी के आक्रमण-काल स० १२५१ मे वह प्राचीन राज्य पूर्णतया नष्ट हो गया। तभी वहाँ के निवासी अग्रवाल लोग राजस्थान, उत्तरप्रदेश आदि राज्यो मे जाकर बस गये थे।

---

(१) भद्रान रोहितकाश्चैव आग्रेयान् मालवान् अपि।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव ॥ ( महाभारत, वनपर्व, २५५-२० )

(२) अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास ( सत्यकेतु विद्यालंकार ),पृष्ठ ५८ की पाद-टिप्पणी,

कालातर मे जब जातियो और उपजातियो का प्रचलन हो गया, तब कला-कौशल और दस्तकारी के धधे करने वालो को इसी वर्ण के अतर्गत माना जाने लगा। उस समय इस बात की व्यवस्था की गयी थी कि जो लोग जिन धधो मे लगे है, उनके वशज भी उन्ही धधो को अनिवार्य रूप से करते रहे। इस प्रकार उन लोगो की ऐसी अनेक जातियाँ और उपजातियाँ बन गई, जो विविध कला-कौशल और दस्तकारी के धधो मे वश-परपरा के अनुसार लगी हुई थी। 'जाति' शब्द का अर्थ है 'जन्म से', जिसकी सगति वस्तुत उन तथाकथित शूद्र जातियो से ही होती थी। उक्त प्रथा के प्रचलन का उद्देश्य उक्त जातियो के धधो मे कुशलता लाना, उत्पादन मे वृद्धि करना और उन्हे औद्योगिक सघर्ष से बचाना था। जब विविध कला-कौशलो और दस्तकारियो मे लगे हुए व्यक्तियो के बच्चो को भी आरभ से ही उन्हे सीखने की अनिवार्यता हो गई, तब उनके धधो मे कुशलता आना और उत्पादन मे वृद्धि होना स्वाभाविक था। फिर जब यह निश्चित व्यवस्था की गई कि कोई दूसरा वर्ग उनके धधो को न कर सकेगा, तब उससे औद्योगिक सघर्ष की भी आशका नही रही थी। वर्तमान काल मे रूस और चीन जैसे जातिवाद विरोधी साम्यवादी देशो मे औद्योगिक सघ ( कम्यून ) बना कर उनके सघर्ष को बचाने की चेष्टा की गई है। फिर भी उन्हे वैसी सफलता नही मिली, जैसी भारत को प्राचीन काल मे जाति प्रथा के प्रचलन से हुई थी।

शूद्र नाम के साथ इस समय जो तिरस्कार और हीनता की भावना जुड गई है, वह प्राचीन काल मे नही थी। इस वर्ण के कर्त्तव्य कर्म मे सेवा भाव का जो महत्व है और इसके अतर्गत बनी हुई जातियो के धधो मे उत्पादन की जो उपयोगिता है, उनके कारण तिरस्कार और हीनता की बात पैदा होने का प्रश्न ही नही था। इस वर्ण के अतर्गत जो जातियाँ मानी जाती है, उनमे नाई, माली, दर्जी, तमोली, पटुवा, गडरिया, कलार, काछी, बारी, कुम्हार, भडभूजा, लुहार, कढेरे, कुर्मी, मनिहार, मल्लाह, भडुरी, ढाढी, मछुवा के नाम उल्लेखनीय है। उक्त जातियो के लोगो को जन्म से ही अपने-अपने काम करने और दूसरी जातियो के काम न करने की जो व्यवस्था थी, उनके कारण जाति--प्रथा की उपयोगिता स्वयसिद्ध है।

वर्तमान काल मे वैसी व्यवस्था अनिवार्य नही है, अत एक जाति के लोग दूसरी जाति का काम करने को स्वतत्र है। उसके कारण उक्त प्रथा का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो गया है। ऐसी दशा मे इसे जारी रखने की कोई सार्थकता नही है। ब्रज मे पूर्वोक्त सभी जातियाँ थोडी-बहुत सख्या मे मिलती है। इनका महत्व ग्रामो मे अधिक है। वहाँ की आर्थिक व्यवस्था पर भी इन जातियो का बडा प्रभाव पडा है।

**अन्त्यज या दस्यु**— द्विजातियो और शूद्रो के अतिरिक्त कुछ ऐसी जातियाँ भी थी, जो किसी कारण से कर्त्तव्यच्युत हो जाने वाले लोगो से बनी थी। उन्हे अन्त्यज, म्लेच्छ अथवा दस्यु कहा जाता था। स्मृतिकारो ने कहा है,—"**मुख बाहूरुपज्जाना या लोके जातयो बहि.। म्लेच्छ-वाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यव. स्मृता.।**" अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इनकी क्रिया लोप होने से जो बाह्य जातियाँ बनी, वे म्लेच्छ भाषा से अथवा आर्य भाषा से युक्त दस्यु सज्ञक कहलाई। इस प्रकार वे हीन जातियाँ थी और उनके प्रति अन्य जातियो का घृणा का भाव प्राचीन काल मे भी था। वे जातियाँ कोरिया, चमार, डोम, भगी आदि थी।

उक्त जातियो को वहुत समय से अस्पृश्य अर्थात् अछूत माना गया है। वर्तमान काल मे महात्मा गाधी ने उनके उद्धार का वडा प्रयत्न किया था। उनके प्रति परपरागत घृणा का भाव दूर करने के लिए उन्होंने उनका नाम 'हरिजन' रखा था और उन्हे अछूत न मानने का व्यापक प्रचार किया था। इस समय भारतीय सविधान के अनुसार भी किसी व्यक्ति को अछूत नही माना जा सकता, किंतु रूढिगत सस्कारो के कारण पुरानी प्रथाएँ ऐसी जड पकड गई है कि उन्हे उखाड फेकने मे अभी काफी समय लगेगा। व्रजमडल मे ये जातियाँ सभी स्थानो मे पर्याप्त सख्या मे बसी हुई हैं और उनके प्रति सद्भावना का व्यवहार पूरी तरह नहीं होता है।

**चमार**—व्रजमडल की तथाकथित अछूत जातियो मे चमार अर्थात् जाटव जाति के लोगो की सख्या सबसे अधिक है। इनका मुख्य धधा चर्मकारी है, किंतु गाँवो मे वे खेती के काम भी प्रचुरता से करते है। वर्तमान काल मे इस जाति के जिन लडको ने शिक्षा प्राप्त कर ली है, वे अपने परपरागत धधो को छोड कर दूसरे काम भी करने लगे हैं। सरकारी नौकरियो मे अछूत जाति के लोगो को विशेप सुविधा दी जाती है। उसका लाभ चमार जाति के लोगो ने भी उठाया है।

**मुसलमान**—साधारणतया मुसलमानो मे शेख, सैयद, मुगल और पठान नामक चार भेद होते है, जिन्हे उनकी चार प्रमुख जातियाँ कहा जा सकता है। उद्योग-धधो की दृष्टि से भी मुसलमानो की कुछ जातियाँ हैं, जो प्राय जन्म से ही अपने-अपने धधो को करती है। ऐसी जातियो मे घोसी, लोधे, रगरेज, तेली, सक्का (भिश्ती), भॉड, कसाई आदि के नाम उल्लेखनीय है। ये सब जातियाँ व्रज मे थोडी-बहुत सख्या मे सभी जगह बसी हुई हैं।

व्रजमडल पर मुसलमानो का शासन प्राय सात सौ वर्षों तक रहा था। इतिहास से सिद्ध है कि अकवर जैसे दो-एक सम्राटो को छोड कर शेप सभी मुसलमान शासको का दृष्टिकोण व्रज के हिंदुओ के प्रति वडा अनुदार था। उनमे से कितने ही शासको ने यहाँ के हिंदुओ को वलात् मुसलमान बनाने की चेष्टा की थी। महमूद गजनवी, सिकदर लोदी, औरगजेब और अहमदशाह अब्दाली जैसे क्रूर और अत्याचारी शासको ने इसके लिए व्रज के हिंदुओ पर घोर अत्याचार भी किये थे। जो जोर-जबर्दस्ती से मुसलमान बनाये गये, उन्हे फिर हिंदुओ ने किसी भी प्रकार अपने मे सम्मिलित नही किया। इतना होने पर भी व्रज मे १५-२० प्रतिशत से अधिक मुसलमान नही हो सके थे। इस समय व्रजमडल मे जो मुसलमान हैं, उनमे विदेशी नस्ल के वहुत कम है, जब कि अधिकतर यहाँ के ही मूल निवासी है। उनमे मेवाती और मलिकाने जैसी जातियाँ भी है, जो हिंदुओ की रीति-रिवाजो को अभी तक पूरी तरह नही छोड सकी है।

**घुमंतू जातियाँ**—व्रज मे कुछ ऐसी जातियाँ भी है, जो एक स्थान पर स्थायी रूप से न रह कर अपनी जीविका के लिए सदैव घूमती रहती है। ऐसी घुमतू जातियो मे वनजारे, सँपेरे, नट, भूभडिया, सिकलीगर, चर्ख वाले, खुरपल्टा, कजर, हावूडा, वहेलिया, अहेरिया आदि है। इनमे कजर, हाबूडा आदि को 'जरायम पेशा' ( अपराधी धधे ) वाली जातियाँ माना जाता है और उनके आवागमन पर पुलिस की कडी दृष्टि रहती है। आजकल इन जातियो को भी सुसस्कृत बनाने की पूरी चेष्टा की जा रही है।

### पंचम अध्याय

# ब्रज संस्कृति के उपकरण

**'संस्कृति' और उसका अभिप्राय**—गत पृष्ठो मे ब्रज के विविध उपादानो का विवरण दिया जा चुका है। अब ब्रज सस्कृति के उपकरणो का उल्लेख करना आवश्यक है, किंतु इससे भी पहिले यह बतलाना उचित होगा कि 'सस्कृति' क्या है और इस शब्द का व्यवहार किस अर्थ मे किया जाता है। सस्कृति का ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है, इसे यथार्थ रूप मे बतलाना बडा कठिन है। सस्कृति को लक्षणो से तो जाना जा सकता है, किंतु इसकी स्पष्ट परिभाषा देना सभव नही है। फिर भी इसके अभिप्राय और व्यवहार के सबध मे जो शिष्ट सम्मत धारणा बन गई है, उसे यहाँ व्यक्त करना आवश्यक है।

'सस्कृति' शब्द का मूल अर्थ है,—'सम्यक् कृति'। इसका सबध सस्कार या सस्करण मे है, जिसका अभिप्राय शुद्धि, सुधार, सशोधन, परिमार्जन अथवा आभ्यतर रूप के प्रकाशन से होता है। सस्कार व्यक्ति की तरह समाज के भी होते है। इस प्रकार मानव-समाज के वे सब सस्कार, जो लौकिक और पारलौकिक उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करते हुए उसके सर्वागीण जीवन का निर्माण करते है, उसकी सस्कृति कहे जाते हैं। सस्कृति किसी भी देश, जाति या समाज की आत्मा होती है। इसमे उक्त देश, जाति या समाज के चिंतन-मनन, आचार-विचार, रहन-सहन, बोली-भाषा, वेश-भूषा, कला-कौशल आदि सभी बातो का समावेश होता है।

इस अर्थ मे सस्कृति शब्द का व्यवहार इस देश मे पहिले कभी नही हुआ, अत सस्कृत या भारत की किसी प्राचीन भाषा के साहित्य मे यह शब्द इस अर्थ मे नही मिलता है। इसे अगरेजी शब्द कल्चर (Culture) का पर्यायवाची समझा जाता है, किंतु कल्चर शब्द का जो वास्तविक अभिप्राय है, उसके स्पष्टीकरण के लिए भारतीय साहित्य मे 'आचार-विचार' शब्द का प्रयोग हुआ है। आजकल सस्कृति शब्द का व्यवहार पूर्व प्रचलित अर्थ से कही अधिक व्यापक अर्थ मे होने लगा है।

**सभ्यता और सस्कृति मे भेद**—कभी-कभी सभ्यता (Civilisation) और सस्कृति (Culture) को समानार्थक समझ लिया जाता है, किंतु यह ठीक नही है। सभ्यता का सबध बाहिरी बातो से है, जब कि सस्कृति भीतरी गुणो से सबधित है। सभ्यता केवल भौतिक और शारीरिक उन्नयन है, जब कि सस्कृति मानसिक और बौद्धिक विकास है। सभ्यता और सस्कृति का सबध दूध मे व्याप्त मक्खन, फूलो मे सुगध और शरीर मे आत्मा के समान है। इस प्रकार सभ्यता केवल बाहिरी ढाँचा मात्र है, जो सस्कृति के बिना निस्सार और निष्प्राण है। सभ्यता जल्दी बनती है और जल्दी बिगडती भी है, किंतु सस्कृति के बनने मे भी पर्याप्त समय लगता है और बिगडने मे भी।

सभ्य समाज मे अवश्य ही सस्कृति के विकसित होने मे सुविधा रहती है, किंतु इसका यह अर्थ नही है कि प्रत्येक सुसभ्य व्यक्ति अनिवार्य रूप से सुसस्कृत भी होता है। आजकल अच्छे

कपडे पहिनने वाला, अच्छा खान-पान करने वाला, शानदार मकान मे रहने वाला और सुख-सुविधा की सभी वस्तुओ का उपभोग करता हुआ ठाठ-बाट से जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति सुसभ्य माना जाता है। किंतु ऐसा व्यक्ति दुश्चरित्र, अनाचारी, स्वार्थी और धोखेबाज भी हो सकता है। उस व्यक्ति को सुसस्कृत हरगिज नही कहा जावेगा। इसके विरुद्ध साधारण रहन-सहन का व्यक्ति भी यदि सच्चरित्र, सदाचारी, सेवाभावी और जनता को सन्मार्ग की ओर ले जाने वाला है, तो उसे निश्चय ही सुसस्कृत कहा जा सकता है।

भारत के प्राचीन ऋषि-मुनिओ और ब्रज के सत-महात्माओ का भोजन-वस्त्र बहुत साधारण होता था। वे पर्ण-कुटियो मे अथवा फूस के छप्परो मे निवास करते थे, किंतु वे सदाचारी, सयमी, स्वाध्यायशील और सेवाभावी होते थे। उन्हे आजकल के अर्थ मे चाहे सुसभ्य न कहा जाय, किंतु वे सुसस्कृत होने के साथ ही साथ हमारी सस्कृति के निर्माता भी थे। वर्तमान काल मे महात्मा गाधी का रहन-सहन भी प्राचीन सत-महात्माओ की तरह का ही था, किंतु उनके समान सुसभ्य और सुसस्कृत व्यक्ति इस युग मे ढूँढने पर भी कठिनता से मिलेंगे।

फिर भी साधारण नियम यह है कि सस्कृति और सभ्यता एक-दूसरे की पूरक हैं। वे साथ-साथ प्रगति करती हुई एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। समृद्ध सभ्यता मे सुसस्कृति का सहज विकास होता है, जिसके फलस्वरूप आचार-विचार और रहन-सहन मे गरिमा आती है तथा धर्म, दर्शन, साहित्य, कला और ज्ञान-विज्ञान की उन्नति होती है।

**भारतीय सस्कृति मे ब्रज सस्कृति का स्थान**—प्राचीन इतिहास, परपरा, रूढि और आदर्श की समानता के कारण समस्त भारतवर्ष की एक ही सस्कृति है। इसे विभिन्न जातियो, समाजो, वर्गो और प्रदेशो के रूप मे विभाजित नही किया जा सकता है। फिर भी भारत जैसे विशाल देश के कतिपय भू-भागो की कुछ सास्कृतिक विशिष्टताएँ भी है, जो इस देश की सामूहिक प्रवृत्ति को पूर्णता प्रदान करती है। जिस प्रकार एक गुलदस्ता मे विविध रग और सुगध के पुष्प अपनी-अपनी विशेषताएँ रखते हुए भी उसके सामूहिक सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार क्षेत्रीय सास्कृतिक विशिष्टताएँ भी इस देश की सामूहिक सस्कृति को गरिमा और पूर्णता प्रदान करती है।

ब्रज सस्कृति अखिल भारतीय सस्कृति के अतर्गत एक क्षेत्रीय सस्कृति है। यह देश की सामूहिक सस्कृति का अग होते हुए भी कुछ अपनी विशेषताएँ रखती है। इनके कारण जहाँ इसे विशिष्ट रूप प्राप्त है, वहाँ इसने अखिल भारतीय सस्कृति के गौरव की वृद्धि करते हुए इसे पूर्णता भी प्रदान की है। इसकी पृथक् रूप मे चर्चा केवल यह बतलाने के लिए की जा सकती है कि इसने भारत की विराट् सस्कृति के निर्माण और विकास मे तथा इसकी उन्नति और समृद्धि मे अपना कितना योग दिया है।

**ब्रज संस्कृति का निर्माण और उसकी विशेषता**—इस सस्कृति के निर्माता भगवान् श्री कृष्ण थे, जिन्हे 'गोपाल' भी कहा जाता है। इसके निर्माण मे आर्य, अनार्य, जैन, बौद्ध, हिंदू और मुसलमान सभी समुदायो तथा धर्मो के सवेदनशील एव सहृदय व्यक्तियो ने अपना-अपना योग प्रदान किया है। इस प्रकार यह एक उदार और लचीली सस्कृति है। इसके प्रमुख तत्व सेवा, सौहार्द्र, स्नेह, समर्पण और समन्वय है, जो कृष्णोपासना की पृष्ठ भूमि मे ही फूले-फले हैं। इस सस्कृति

के प्रवर्तक गोपाल-कृष्ण को गायों के साथ वनों में विचरण करना और वहाँ पर गोप-गोपियों के साथ नाना प्रकार की लीलाएँ करना अत्यंत प्रिय था। इस प्रकार गोपाल इसमें परमोपास्य हैं, तथा गो, गोपी, गोप, गोकुल और गोष्ठ उनके परिकर हैं। ब्रज संस्कृति गो के समान निरीह निरापद और सर्वजनोपयोगी है, गो-रस के समान कोमल, मृदु और पोषक है, तथा वन के समान व्यापक, शांत और स्वाभाविक है। ब्रज संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता सरल, स्वाभाविक और उल्लासपूर्ण जीवनचर्या तथा त्याग-तपस्या, सेवा-समर्पण और आनंद-प्राप्ति की भावना है। इन बातों की आवश्यकता मानव-समाज को सदैव रही है और रहेगी।

संस्कृति का प्रतिबिंब धर्मोपासना में झलकता है और वह कला एवं साहित्य के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करती है। यह बात ब्रज संस्कृति के लिए सबसे अधिक चरितार्थ होती है। ब्रज के धर्म-संप्रदायों ने त्याग-तपस्या और सेवा-समर्पण का उपदेश करते हुए मानव-समाज को सुगम, सरल और आनंदपूर्ण जीवनचर्या का मार्ग दिखलाया है। उनके द्वारा असहाय और दुखी जीवों को भगवान् पर भरोसा करने तथा अनासक्त भाव से कर्म करने की प्रेरणा मिली है। 'आचार' की कठोरता और 'विचार' की सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का प्राचीन आदर्श है, किंतु ब्रज के धर्म-संप्रदायों ने आचार को भी सरल और संतुलित करने की चेष्टा की है। उन्होंने मानव-जीवन को उच्चादर्शों की ओर प्रेरित कर उसे आनंद की प्राप्ति का मार्ग दिखलाया है। ब्रज की कलाओं में सरलता के साथ कुशलता, सरसता के साथ शुचिता और स्वच्छंदता के साथ मर्यादा का अद्भुत समन्वय हुआ है। ब्रज के साहित्य में भक्त कवियों की सरस और गेय पद-रचनाएँ हैं, कृतविद्य कवियों की कमनीय छंदों में रची हुई चमत्कारपूर्ण सूक्तियाँ हैं तथा लोक कवियों की सरल, स्वाभाविक और भाव-भरित गेय तुकबंदियाँ हैं। इन सब के कारण ब्रज संस्कृति ने भारत की सामूहिक संस्कृति को सर्वाधिक रूप से प्रभावित किया है और उसे पूर्णता प्रदान की है।

**उपकरणों की उद्भावना**—ब्रज संस्कृति मूलतः धार्मिक संस्कृति है, जिसे कला और साहित्य द्वारा पोषण प्राप्त हुआ है। इस संस्कृति की विभिन्न प्रवृत्तियों के उद्दीपन और संवर्धन के लिए कतिपय उपकरणों की उद्भावना की गई है, जिनमें मंदिर-देवालय, उत्सव-समारोह, ब्रज-यात्रा और रासलीला विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। यहाँ के मंदिर-देवालय ब्रज संस्कृति के मूर्तिमान स्वरूप हैं, जिनके दर्शन मात्र से ही उसके प्रति भक्तजनों की आस्था दृढ़ होती है। उत्सव-समारोह किसी भी देश, जाति और समाज की सजीवता, समृद्धि और उसके सुखी जीवन के मापदंड हैं। जो समाज जितना अधिक उत्सवप्रिय होगा, उसकी सांस्कृतिक चेतना उतनी ही प्रबल होगी। ब्रज में सदा से उत्सव-समारोहों की अधिकता रही है, यही कारण है कि यहाँ की संस्कृति इतनी सजीव और संपन्न है।

# ब्रज-यात्रा

## महत्व और परपरा—

ब्रज-यात्रा ब्रजमडल का सुप्रसिद्ध सास्कृतिक और धार्मिक आयोजन है। इससे ब्रज के लीला-स्थलो के दर्शन, रमणीक वन-उपवनो के पर्यटन, प्राकृतिक सुषमा सम्पन्न लता-कु जो के निरीक्षण तथा कु ड-सरोवरादि तीर्थो के स्नान-आचमन का आनद प्राप्त होता है। इसके साथ ही साथ मदिर-देवालय और देव-मूर्तियो के दर्शन, रास-लीला के सुखानुभव और विद्वत्‌जनो के प्रवचन का लाभ भी मिलता रहता है। इस यात्रा मे प्रति वर्ष हजारो यात्री भाग लेते हैं। भारत के भिन्न-भिन्न भागो से आने वाले यात्री गण जब प्रेमपूर्वक एक साथ यात्रा करते है, तब देश की परपरागत सास्कृतिक एकता का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है।

ब्रज मे इस यात्रा की परपरा भगवान् श्री कृष्ण के समय मे ही मिलती है। आरभिक यात्रियो मे अक्रूर, उद्धव और वज्रनाभ के नाम लिये जा सकते है। अक्रूर ने मथुरा मे किये जाने वाले कस के यज्ञ का निमत्रण कृष्ण-बलराम को देने के लिए, उद्धव ने श्री कृष्ण के आदेशानुसार गोपियो को ज्ञानोपदेश करने के लिए और वज्रनाभ ने उजडे हुए मथुरा राज्य को फिर से बसाने के लिए ब्रज की यात्राएँ की थी।

वज्रनाभ द्वारा मथुरामडल मे यादव राज्य की पुनर्प्रतिष्ठा किये जाने पर कृष्णोपासक सात्वत गण दूर-दूर से अपने पूर्वज कृष्ण-बलराम के लीला-स्थलो का दर्शन करने के लिए पर्याप्त काल तक आते रहे होगे, किंतु उसका प्रामाणिक विवरण इतिहास के अधकार मे विलीन हो गया है। फिर ब्रजमडल मे जैन और बौद्ध धर्मो का प्रभाव बढ जाने से श्री कृष्ण के लीला-स्थलो के प्रति लोगो का आकर्षण कम हो गया था। उस काल मे जो यात्री ब्रज-यात्रा के लिए आते थे, वे श्री कृष्ण के लीला-स्थलो की अपेक्षा जैन और बौद्ध धर्मो से सबधित स्तूप, चैत्य, सघाराम आदि के दर्शन मे स्वाभाविक रूप से अधिक रुचि रखते थे। विक्रम की ६टी और ८वी शताब्दियो मे चीन देश के दो बौद्ध यात्री फाहियान और हुएनसाग भारत मे बौद्ध तीर्थो की यात्रा के लिए आये थे। वे मथुरा भी गये थे, जहाँ उन्होने बौद्ध धर्म से सबधित विविध स्थलो का दर्शन किया था। १४वी शताब्दी मे जैन धर्माचार्य जिनप्रभ सूरि जैन स्थलो की यात्रा करते हुए मथुरा आये थे।

वैष्णव धर्म के पुनरुद्धार काल मे जब कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार होने लगा, तब कृष्णोपासक आचार्यो ने ब्रज के लुप्त गौरव को फिर से स्थापित करने के लिए ब्रज मे ही अपने केन्द्र बनाने की आवश्यकता समझी थी। उन आचार्यो मे निवार्क सप्रदाय के प्रवर्तक श्री निवार्काचार्य कदाचित पहिले महानुभाव थे, जिन्होने ब्रज की यात्रा की थी। उन्होने गोवर्धन मे निवास कर ब्रजमडल से ही अपने सप्रदाय के प्रचार का आयोजन किया था। वे गोवर्धन के जिस स्थान पर निवास करते थे, वह उनके नाम पर निबग्राम या नीमगाँव कहलाता है।

१२वी शताब्दी मे लीलाशुक बिल्वमगल और १३वी शताब्दी मे रसिकराज जयदेव के ब्रज मे आने की अनुश्रुतियाँ प्रसिद्ध है। वे दोनो ही विख्यात कृष्णोपासक महानुभाव थे, यद्यपि उनके वैष्णव धर्मावलबी होने का निश्चित प्रमाण नही मिला है। उन्होने कुछ काल तक ब्रज मे निवास किया था और यहाँ के कतिपय लीला स्थलो के दर्शन किये थे। १५वी शताब्दी मे माध्व

सम्प्रदाय के आचार्य माधवेन्द्र पुरी ने ब्रज–यात्रा की थी । वे पर्याप्त काल तक गोवर्धन मे रहे थे । ऐसी प्रसिद्धि है, उन्होने श्रीनाथ गोपाल जी के देव–विग्रह का प्राकट्य किया था और उनकी आरंभिक सेवा–पूजा की व्यवस्था की थी ।

**आकर्षण और कठिनाइयाँ**—कृष्णोपासक धर्माचार्यो और भक्त महानुभावो का ब्रज की ओर आकर्षण बढ जाने से उनके कतिपय केन्द्र भी यहाँ स्थापित हो गये थे । इससे उनके अनुयायी भक्त जन भी ब्रज की यात्रा करने और यहाँ के लीला–स्थलो के दर्शन करने को स्वभावत ही उत्सुक होने लगे, किंतु उन दिनो यह कार्य आज-कल का सा सरल और सुगम नही था । उस समय समस्त ब्रज प्रदेश विधर्मी शासको के अधीन था । उन्होने इस पुण्य भूमि के गौरव और इसके प्राचीन लीला–स्थलो को नष्ट-भ्रष्ट करने मे अपने मजहबी तास्सुब का पूरा परिचय दिया था, जिसके कारण मथुरा के आस-पास का समस्त प्रदेश निर्जन और बीहड वनो मे परिवर्तित हो गया था । उन वनो मे तस्कर लुटेरे और हिंसक पशुओ का भी आतक था ।

ऐसे वनो मे श्रीकृष्ण–लीला के वे पुराणप्रसिद्ध स्थल थे, जो शताब्दियो की विषम परिस्थिति के कारण सर्व साधारण के लिए अज्ञात और अपरिचित हो गये थे । उन वनो मे भक्ति-साधना करने वाले कुछ तपस्वी महात्माओ को ही उन लीला-स्थलो की थोडी-बहुत जानकारी थी । जो भावुक भक्त जन यात्रा के कष्टो को सहन कर उन वनो मे प्रवेश करने का साहस करते थे, वही वनवासी महात्माओ की सहायता से कतिपय लीला-स्थलो के दर्शन करने का सुयोग प्राप्त करते थे । अन्य व्यक्तियो को उन तक पहुँचना भी सभव नही था ।

विक्रम की १६वी शती मे सभी कृष्णोपासक सप्रदायो की यह चेष्टा हुई कि विविध पुराणो मे कृष्ण–लीला से सबधित जिन स्थानो का नामोल्लेख मिलता है, उन्हे ब्रज मे खोजा जाय और उनकी यात्रा करने के मार्ग को सुगम बनाया जाय । उनकी चेष्टा के फल स्वरूप ही आजकल समस्त लीला–स्थल ज्ञात है । ब्रज-यात्रा के मार्ग मे हिंसक पशु, बीहड वन, कटीली झाड़ी, ऊबड़-नागफनी के काटे और ककड-पत्थर आदि की जो कठिनाइयाँ पहिले थीं, वे सब अधिकांश मे दूर हो गई है । इसीलिए प्रति वर्ष सहस्रो यात्री समस्त भारत से आकर इन पावन स्थलो के दर्शन करते हैं ।

## ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—

करते थे। माध्व सप्रदायी भक्तो का निवास गोवर्धन मे था। वे विरक्त महात्मा गण अपनी-अपनी उपासना पद्धति के अनुसार भक्ति-साधना मे लीन रहा करते थे। उन्होंने आरंभ से ही ब्रज-यात्रा की कोई समुचित व्यवस्था की हो, इसका प्रमाण नही मिलता है। माध्व सप्रदायी श्री माधवेन्द्र पुरी अवश्य ही गोवर्धन की परिक्रमा और उसके निकटवर्ती क्षेत्र मे भ्रमण किया करते थे।

**वल्लभ सप्रदायी आचार्यों का आरंभिक योग**—वल्लभ सप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने कई बार समस्त देश की तीर्थ-यात्राएँ की थीं। उन यात्राओं के प्रसग मे वे व्रजमडल मे अवश्य आते थे और यहाँ पर गोकुल, गोवर्धन आदि के लीला-स्थलो के दर्शन तथा गिरिराज जी की परिक्रमा करते थे। उनकी प्रथम देशव्यापी यात्रा स० १५४९ मे आरंभ हुई थी। उसी अवसर पर वे सर्व प्रथम व्रज-यात्रा के लिए आये थे। इस प्रकार उनकी प्रथम ब्रज-यात्रा का काल स० १५४९-५० निश्चित होता है। उसके उपरात उन्होंने स० १५५५, १५६०, १५६८, १५७३ और १५८५ मे अनेक बार ब्रज-यात्राएँ की थीं। उनकी यात्रा ब्रज के १२ वनो तक ही सीमित थी, जिसे वे ७ दिनो मे पूरी करते थे। स० १५८७ मे श्री वल्लभाचार्य जी का देहावसान होने पर उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी वल्लभ सप्रदाय के आचार्य हुए थे। उन्होंने अपने छोटे भाई विट्ठलनाथ जी के साथ स० १५९५ मे ब्रज-यात्रा की थी। स० १५९९ मे श्री गोपीनाथ जी का भी देहावसान हो गया और श्री विट्ठलनाथ जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे। श्री विट्ठलनाथ जी ने स० १६०० मे अपनी प्रथम ब्रज-यात्रा की थी। इससे पूर्व की यात्राएँ उन आचार्यों की व्यक्तिगत होती थी। उनके साथ कतिपय निजी शिष्य-सेवको के अतिरिक्त और लोग नही होते थे। स० १६०० से सामूहिक रूप मे यात्रा करना आरंभ हुआ जिसका श्रेय श्री विट्ठलनाथ जी को है।

**चैतन्य सप्रदाय का प्रयास**—चैतन्य महाप्रभु द्वारा बगाल मे कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार होने पर बगीय भक्तो मे भी ब्रज के लीला-स्थलो के दर्शन और उनकी यात्रा करने की आकाक्षा उत्पन्न हुई थी, किंतु उन्हे तत्सबधी कोई निश्चित जानकारी नही थी। श्री माधवेन्द्र पुरी से प्रेरणा प्राप्त कर चैतन्य देव ने व्रज के लीला-स्थलो का अनुसधान और व्रज-यात्रा के मार्ग को सुगम बनाने का एक कार्यक्रम बनाया था। उसकी पूर्ति के लिए उन्होंने स० १५६८ मे अपने दो अनुचर लोकनाथ चक्रवर्ती और भूगर्भ गोस्वामी को ब्रज का सर्वेक्षण करने के लिए भेजा था। वे दोनो भक्त जन कुछ दिनो तक ब्रज के बीहड वनो मे भटक कर वापिस चले गये। उन्हे अपने कार्य मे सफलता प्राप्त नही हुई। स० १५७३ मे चैतन्य महाप्रभु स्वय ब्रज मे आये थे। उस समय उन्होंने अनेक लीला-स्थलो के दर्शन किये और कई वनो की यात्रा भी की। वे व्रज मे अधिक समय तक न रह कर शीघ्र ही वापिस चले गये, अत उन्होने अपने कार्य को पूरा करने के लिए अपने विद्वान पार्षद सर्वश्री रूप-सनातन आदि गोस्वामियो को वहाँ जाने का आदेश दिया। उक्त गोस्वामियो ने ब्रज के लीला-स्थलो को खोज कर उनकी यात्रा के मार्ग को सुगम बनाने की दिशा मे चेष्टा की और उसमे कुछ सफलता भी प्राप्त की थी।

स० १६०२ मे सुप्रसिद्ध दाक्षिणात्य विद्वान श्री नारायण भट्ट व्रज मे आये थे। वे चैतन्य सप्रदायी श्री कृष्णदास ब्रह्मचारी से दीक्षा लेकर गोवर्धन के निकटवर्ती राधाकुंड के तट पर निवास करने लगे। उन्होंने ब्रज के समग्र रूप को प्रकट करने मे सबसे अधिक कार्य किया था। वहाँ के

गोसाईं विट्ठलनाथ जी

श्री नागा जी

समस्त वन, उपवन, तीर्थ और लीला-स्थलों की उन्होंने खोज की और उनका विस्तृत वर्णन करने के लिए अनेक ग्रंथों की रचना की। उन ग्रंथों में ब्रज-यात्रा का यथोचित वर्णन होने के साथ ही साथ उसका क्रम, विधि तथा तत्संबंधी अन्य बातों पर भी विस्तार से विचार किया गया है।

ब्रज-यात्रा को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय गोसाईं श्री विट्ठलनाथ जी के अतिरिक्त नारायण भट्ट जी को है। श्री ग्राउस ने इसका आरंभिक श्रेय भट्ट जी को ही दिया है। उन्होंने लिखा है, उनके ( गोस्वामी रूप-सनातन जी के ) शिष्य नारायण भट्ट जी ने सर्व प्रथम वन-यात्रा और रास-लीला को व्यवस्थित तथा स्थिर रूप प्रदान किया था। उन्हीं ने सर्व प्रथम ब्रज के सरोवरों और निकुंज स्थलों का भी नामकरण किया था। उनसे पहिले केवल सात-आठ लीला-स्थलों के नामों का उल्लेख ही पूर्ववर्ती पुराणों में मिलता है[1]।

**नागा जी और केशव जी का नियम**—नाभा जी ने ब्रज-यात्रा के प्रेमियों में निंबार्क संप्रदायी श्री चतुरानन जी नागा और श्री केशव जी के नामों का उल्लेख किया है। नाभा जी [illegible] 'भक्तमाल' के टीकाकार श्री प्रियादास जी ने नागा जी द्वारा ब्रज की नियमित परिक्रमा किये जाने से संबंधित उनके अद्‌भुत सामर्थ्य का भी उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है, नागा जी प्रात: [illegible] वृंदावन में श्री गोविंददेव जी की मंगला-आरती के दर्शन कर मथुरा में श्री केशवदेव [illegible] शृंगार-आरती में उपस्थित होते थे। वहाँ से नंदगाँव पहुँच कर राजभोग-आरती के [illegible] थे। उसके पश्चात् गोवर्धन-राधाकुंड की परिक्रमा करते हुए सायंकाल को वृंदावन [illegible] इस प्रकार उनके चारों प्रहर ब्रज-यात्रा में बीतते थे। यही उनका दैनिक कार्य-क्रम [illegible] श्री गिरिराज जी की दंडौती परिक्रमा किया करते थे, इसीलिए उनका नाम [illegible] पड़ गया था। नाभा जी ने उन्हें इसी नाम से संबोधित किया है[3]।

स० १६२४ और स० १६२८ की यात्राओ के वृत्तात प्राय एक मे हे। इन्हे पढने मे ऐसा जान पडता हे कि इनमे से कोई एक किसी दूसरे पर आधारित हे। या तो वार्ता के वृतात को जगतनद ने पद्यात्मक रूप दिया है, अथवा जगतनद के वृतात को वार्ता के गद्य मे लिखा गया हे। यदि दोनो वृतात एक है, तब गोसाई जी की दो की अपेक्षा एक यात्रा ही मानी जा मकती हे। चूँकि दोनो यात्रा-वृत्तातो मे पृथक्-पृथक् तिथि-सवत् का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, अत दो के वजाय एक यात्रा भी मानना सभव नही जान पडता है। इसका ठीक-ठीक निर्णय काल-गणना से हो सकता है। जगतनद के वृत्तात मे तो तिथि-वार दोनो है[1], जो गणना से भी ठीक है, किंतु वार्ता के वृत्तात मे केवल तिथि-सवत् है, वार नही है[2], अत गणना द्वारा उसकी परीक्षा करना सभव नही है।

डा० हरिहरनाथ टडन ने लिखा है कि कवि जगतनद के पद्यात्मक यात्रा-विवरण का एक गद्यात्मक रूप भी है, जो काकरौली विद्या विभाग मे वध सख्या ८६ की पुस्तक म० ३ मे मिलता है। उसमे यात्रा का समय स० १६२८ दिया हुआ है[3]। ऐसी दशा मे दो यात्राएँ ही मानना ठीक होगा, जो क्रमश स० १६२४ और स० १६२८ मे हुई थी। कवि जगतनद ने दोनो यात्राओ का वृत्तात लिखा है, जो एक पद्य मे है और दूसरा गद्य मे हे। वार्ता मे केवल स० १६२८ की यात्रा का ही वृत्तात लिखा गया है।

श्री वल्लभाचार्य जी की ब्रज-यात्रा ब्रजमडल के पुराणप्रसिद्ध १२ वनो की थी, जो ७ दिनो मे पूरी हो जाती थी। श्री गोपीनाथ जी ने और श्री विट्ठलनाथ जी ने भी अपनी प्रथम यात्रा इसी प्रकार की थी। वाद मे १२ वनो के अतिरिक्त २४ उपवनो की भी यात्रा की जाने लगी, जिसे पूरी करने मे १०-११ दिन लगते थे। स० १६२४ और १६२८ मे गो० विट्ठलनाथ जी ने जो यात्राएँ की थी, वे उक्त वन-उपवनो की थी और ११ दिनो मे पूरी हुई थी। इसका उल्लेख कवि जगतनद ने किया है[4]।

**यात्रा का विस्तार**—स० १६२८ के पश्चात् ब्रज के विविध वैष्णव सप्रदायो की चेष्टा से ब्रज के अनेक वीहड वन-उपवन यात्रा करने योग्य वना दिये गये थे और अनेक प्राचीन लीला-स्थल खोज निकाले गये थे। उस काल मे जो यात्राएँ की जाती थी, वे उन सभी वन-उपवनो और लीला-स्थलो की होती थी, जिन्हे पूरी करने मे १८-२० दिन लग जाते थे। गोसाई विट्ठलनाथ जी के उत्तर काल से औरगजेब के आरभिक काल तक ब्रज-यात्रा का वही क्रम प्रचलित रहा था। उसी के अनुसार सभी सप्रदायो के भक्तगण ब्रज-यात्रा किया करते थे।

---

(१) सोरह सै सबत बन्यौ, चौबीसा ( १६२४ ) ससि वार।
भादो बदि की द्वादसी, वन कौ कियौ विचार॥

(२) स० १६२८ फागुन बदी ७ को श्री गोकुल कौ बास किये हते। तब ता उपरात भाद्रपद बदी १२ के दिन सैन आरती करिकै पाछै श्री गोकुलनाथ जी को सग लेकै समै के सकोच तें चले।

(३) वार्ता साहित्य· एक वृहत् अध्ययन, पृष्ठ १९५

(४) बन सब संपूरन किये, फिरि श्री गोकुल आय।
दिन ग्यारह चौबीस बन, कीने विट्ठलराय॥

**औरंगजेब की दमन-नीति का दुष्परिणाम**—मुगल सम्राट औरंगजेब ने धर्मान्धता से वशीभूत होकर हिंदुओं के प्रायः सभी धार्मिक कार्यों पर रोक लगा दी थी। उसके फल स्वरूप ब्रज के वैष्णव सम्प्रदायों द्वारा ब्रज-यात्रा करना भी प्रायः बंद हो गया था। सं० १७१३ में एक बीकानेरी माहेश्वरी सेठ ने ब्रज की यात्रा की थी, जिसका लिखित विवरण श्री अगरचंद जी नाहटा द्वारा प्रकाशित हुआ है[1]। वह कदाचित ब्रज की अंतिम यात्रा थी। उसके बाद सं० १७२६ में औरंगजेब ने ब्रज के सभी मंदिर-देवालयों को नष्ट करा दिया था। उनकी देव-मूर्तियाँ ब्रज से बाहर ले जाई गई थीं। उसी काल में ब्रज-यात्रा भी बंद हो गई थी।

**ब्रज-यात्रा का पुनः प्रचलन**—मुगल साम्राज्य के पतन के उपरांत जब ब्रज में राजपूत जाट और मरहठों का प्रभुत्व स्थापित हुआ, तब वैष्णव सम्प्रदायों की विविध धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ ही साथ ब्रज-यात्रा का भी पुनः प्रचलन आरम्भ हुआ था। वल्लभ सम्प्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि मथुरा के गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम जी ( जन्म सं० १८०५ ) ने १९वीं शताब्दी में ब्रज-यात्रा को पुनः प्रचलित किया था। तब से अब तक यह यात्रा प्रति वर्ष होती आ रही है।

गोस्वामी पुरुषोत्तम जी ने यात्रा का नया क्रम निर्धारित किया था। उसके अनुसार ब्रज के सभी वन, उपवन और प्रमुख लीला-स्थलों की यात्रा की जाने लगी, जिसमें ५० दिन लगते थे। गो० पुरुषोत्तम जी के वंशज गो० व्रजनाथ जी ( सं० १९०३ से १९६० ) ने उसी के अनुसार यात्रा कर इस विषय की एक पुस्तक भी लिखी थी जो 'श्री ब्रज परिक्रमा' के नाम से उपलब्ध है।

उक्त गोस्वामी व्रजनाथ जी के भतीजे और मथुरा के विख्यात सांस्कृतिक महापुरुष गो० गोपाललाल जी ( जन्म सं० १९१७ ) ने यात्रा के क्रम में पुनः परिवर्तन किया था। उसके अनुसार यात्रा लगभग २५-२६ मुकामों पर ठहरती थी और उसे पूरी करने में प्रायः ४५ दिन लगते थे। यात्रा का यही क्रम अभी तक चल रहा है।

**ब्रज-यात्रा संबंधी ग्रंथ**—

**मथुरा कल्प**—१४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे जैन धर्माचार्य जिनप्रभ सूरि जैन तीर्थों की यात्रा करते हुए मथुरा आये थे। उन्होंने प्राकृत भाषा मे अपनी यात्रा का वृत्तान लिखा है। उक्त ग्रथ के अ तर्गत 'मथुरा कल्प' मे मथुरा-यात्रा का उल्लेख किया गया है। इन ग्रथ का रचना-काल स० १३७०-८० के लगभग है। ब्रज-यात्रा सबधी यह सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रथ है। इनका परिचयात्मक विवरण श्री अगरचद जी नाहटा ने प्रकाशित कराया है[1]। जैनो का मथुरा से जो सबध रहा है, उसका प्रधान रूप से वर्णन इस ग्रथ मे हुआ है, किंतु उनके साथ ही इसमे मथुरा मडल के प्रसिद्ध स्थलो, वनो और लोकतीर्थों का भी नामोल्लेख किया गया है। इसमे मथुरामडल के ५ स्थल, १२ वन और ५ लोकतीर्थ इस प्रकार बतलाये गये है—

५ स्थल—१ अर्क स्थल, २. नीर स्थल, ३ पद्म स्थल, ४ कुश स्थल, ५ महा स्थल।
१२ वन—१. लोहजघ वन, २. मधु वन, ३ विल्व वन, ४ ताल वन, ५ कुमुद वन, ६ वृ दावन, ७ भडीर वन, ८ खदिर वन, ९ काम्यवन, १०. कोल वन, ११ वहुला वन, १२ महावन।
५ लोकतीर्थ—१ विश्राति तीर्थ, २. असिकु ड तीर्थ, ३ वैकु ठ तीर्थ, ४ कालिजर तीर्थ, ५ चक्र तीर्थ।

**श्री ब्रज-यात्रा खड**—कृष्णोपासक धर्माचार्यो मे पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्यजी की यात्राएँ प्रसिद्ध हैं। उन्होने तीन वार समस्त देश की और छै वार ब्रज की यात्राएँ की थी। उनकी देशव्यापी यात्राओ का उल्लेख "श्री वल्लभ दिग्विजय" नामक सस्कृत ग्रथ मे मिलता है। उक्त ग्रथ की रचना गो० विठ्ठलनाथ जी के छटे पुत्र श्री यदुनाथ जी ने स० १६५८ मे की थी। इसी विषय का एक ग्रथ गोसाई जी के पचम पुत्र श्री रघुनाथ जी के वशज श्री गोविंद जी के आदेशानुसार कन्हैयालाल शास्त्री ने भी बनाया था। उसके ब्रज-यात्रा खड क ब्रजभाषा गद्यानुवाद श्री शकरदयालु शास्त्री ने श्री देवकीनदनाचार्य जी के आदेश से किया था। इसमे श्री वल्लभाचार्य जी की वज-यात्रा का ब्रज-भाषा गद्य मे विवरण मिलता है। यह ग्रथ मुद्रित हो चुका है।

**ब्रज-मथुरा प्रकाश**—यह सस्कृत भाषा मे निर्मित ग्रथ की हस्त प्रति है, जो स० १८९९ मे लिपिवद्ध हुई है। इसमे ग्रथ का दूसरा नाम 'मथुरा तीर्थ प्रवेश' भी लिखा गया है। यह प्रति मथुरा निवासी वालमुकु द चतुर्वेदी के पास है। इस ग्रथ की अन्य प्रतियाँ काकरौली विद्या-विभाग मे और कामवन मे भी है। इसमे विविध पुराणो के आधार पर मथुरा माहात्म्य तथा ब्रज-यात्रा विधान का वर्णन हुआ है। इसकी पुष्पिका से ज्ञात होता है कि उक्त ग्रथ की रचना स्वय श्री वल्लभाचार्य जी ने की थी, यद्यपि आचार्य जी के ग्रथो मे इसका उल्लेख नही मिलता है। वह पुष्पिका इस प्रकार है—

**"इति श्री वल्लभाचार्य कृत मथुरा तीर्थ प्रकाशे वनयात्रा विधान निर्णय· समाप्तः समाप्तोय ग्रथ। मिती ज्येष्ठ शुदी ६ वृहस्पतिवारे संवत् १८९९ लिखित नानिकराम गौड ब्राह्मण पठनार्थ तिवारी जी श्री जवाहर जी शुभमस्तु।"**

---

(१) ब्रज-यात्रा के कुछ प्राचीन विवरण, (ब्रज और ब्रज-यात्रा, पृ० ११३)

**ब्रज-यात्रा श्लोक**—इस ग्रंथ की सं० १८८६ में लिखी हुई प्रति भी श्री बालमुकुंद चतुर्वेदी के पास है। इसमें १०॥×६॥इंची आकार के ६५६ पृष्ठ हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसमें २०० के लगभग रंगीन चित्र भी हैं, जो राजपूती शैली के हैं। इसमें सर्वश्री वल्लभाचार्य जी, विट्ठलनाथ जी और गोकुलनाथ जी की ब्रज-यात्राओं का उल्लेख हुआ है। श्री वल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा का काल इसमें सं० १५५५ और दूसरी यात्रा का काल सं० १५६५ लिखा गया है, जब कि 'निज वार्ता' और 'घरू वार्ता' के आधार पर आचार्य जी की प्रथम यात्रा सं० १५४९ में हुई मानी जाती है।

**श्री चैतन्य-चरितामृत**—श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवन-लीलाओं का यह प्रसिद्ध और प्रामाणिक बंगला ग्रंथ है। इसकी रचना श्री कृष्णदास कविराज ने सं० १६३९ के लगभग ब्रज के राधाकुंड नामक स्थान में की थी। इसका ब्रजभाषा पद्यानुवाद सुबल श्याम ने सं० १७८५ के लगभग किया था। इस ग्रंथ के मध्यलीला खंड में अध्याय १६ वें से १८ वें तक में श्रीचैतन्य महाप्रभु की ब्रज-यात्रा का वर्णन है। उनकी वह यात्रा सं० १५७३ में हुई थी।

इस ग्रंथ से ज्ञात होता है, जब चैतन्य जी अपनी चिर इच्छित ब्रज-वृंदावन की यात्रा के लिए आये थे, तब सर्व प्रथम उन्होंने मथुरा आकर यहाँ के विश्रांत घाट पर स्नान किया था। उसके पश्चात् उन्होंने श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर केशव भगवान् के दर्शन किये और उनके समक्ष नृत्य-गान किया था। मथुरा में उन्होंने यमुना के २४ घाटों पर स्नान किया, तथा स्वयंभू, दीर्घविष्णु, भूतेश्वर, महाविद्या और गोकर्णादि देव-विग्रहों के दर्शन किये थे। उसके बाद उन्होंने मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन की यात्रा की। उसी अवसर उन्होंने आरिट (अरिष्ट) गाव में जा कर श्री राधाकुंड के विषय में पूछा, किंतु वहाँ का कोई व्यक्ति उसका पता नहीं बतला सका, क्यों कि वह प्राचीन तीर्थ लुप्त हो गया था। जब वे धान्य के दो खेतों के पास पहुँचे, तब उन्हें अंतर्दृष्टि से ज्ञात हुआ कि वही श्री राधाकुंड के प्राचीन स्थल हैं। उन्होंने उन खेतों के थोड़े जल से स्नान किया और वहाँ की रज को माथे पर चढ़ाया। इस प्रकार उन्होंने ब्रज के उस लुप्त तीर्थ का उद्धार किया था।

राधाकुंड से वे गोवर्धन गये थे। वहाँ मानसी गंगा में स्नान कर उन्होंने श्री गिरिराज जी तथा श्री हरिदेव जी को प्रणाम किया। वहाँ से वे गान्ठौली गाँव गये, जहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि यवनों के आक्रमण की आशंका से ब्रजवासी गण श्रीनाथ गोपाल जी की देव-प्रतिमा को गाठोली गाव में ले गये हैं। वे गोविंदकुंड में स्नान कर गाठोली चले गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने गोपाल जी के दर्शन किये और प्रेमपूर्वक नृत्य-कीर्तन किया।

दर्शन कर वे प्रेमावेश मे मूर्छित हो गये थे। सावधान होने पर वे प्रेमपूर्वक नृत्य-गान करने लगे। उन्होने चीर घाट पर जाकर स्नान किया और वहाँ के एक इमली वृक्ष के नीचे बैठ कर भजन-कीर्तन किया। वे प्रति दिन अक्रूर घाट से वृदावन जाते थे और वहाँ दिन भर स्नान, भजन, कीर्तन कर सायकाल अक्रूर घाट पर ही लौट आते थे। इस प्रकार वे ब्रज के प्रमुख वनो की यात्रा, तीर्थो मे स्नान तथा मदिर-देवालय और लीला-स्थलो के दर्शन कर सोरो होते हुए प्रयाग चले गये। वहाँ पर उन्होने मकर स्नान किया था। श्री चैतन्य चरितामृत मे इस प्रकार श्री चैतन्य देव की ब्रज-यात्रा का विस्तृत वर्णन किया गया है[1]।

**ब्रज भक्ति विलास**—यह ब्रज-यात्रा सबधी सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्राचीन ग्रथ है। इसमे १३ अध्याय है, जिनमे ब्रज के समस्त वन, उपवन, तीर्थ, लीला-स्थल, देव-स्थान, देवी-देवता, नगर, गाँव आदि के नाम उनके माहात्म्य और उनकी यात्रा-विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। इसे हिदी टीका सहित बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है। इस वृहत् ग्रथ की रचना चैतन्य मत के विख्यात विद्वान श्री नारायण भट्ट जी ने स० १६०९ मे ब्रज के राधाकुड नामक स्थान मे की थी। इसका उल्लेख उक्त ग्रथ की पुष्पिका मे इस प्रकार हुआ है—

**श्रीकुडमास्थाय मनोहरस्थल, नवोतर षोडश शच्च वत्सरे।**
**माहात्म्य पूर्व च परिक्रम शुभ, ग्रथ प्रपूर्णो ब्रजभक्तिनाम्॥**

**वृहत् ब्रज गुणोत्सव**—श्री नारायण भट्ट जी द्वारा इस महत्वपूर्ण ग्रथ की रचना किये जाने का सकेत "ब्रज भक्ति विलास" मे मिलता है। उससे ज्ञात होता है, यह २६ हजार श्लोक परिमाण का विशाल ग्रथ है, जिसमे ब्रज-यात्रा से सबधित सभी विषयो का विशद वर्णन हुआ है। इसके सबध मे भट्ट जी ने लिखा है, जिस प्रकार हमने 'ब्रज भक्ति विलास' मे ब्रज-यात्रा का कथन किया है, उसी प्रकार २६ हजार श्लोक वाले 'वृहत् ब्रज गुणोत्सव' ग्रथ मे भी किया है[2]। यह ग्रथ अभी तक उपलब्ध नही हो सका है।

**श्री गुसाई जी की ब्रजयात्रा सं० १६०० की**—गोसाई विट्ठलनाथ जी ने अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री गोपीनाथ जी के देहावसान के पश्चात् अपनी स्वतत्र ब्रज-यात्रा स १६०० मे की थी। इसका श्री गोकुलनाथ जी द्वारा कथित विवरण ब्रजभाषा गद्य मे लिखा हुआ उपलब्ध है, जो कई वार प्रकाशित हो चुका है। इसे श्री द्वारकादास परीख ने 'वल्लभीय सुधा" के ब्रज-यात्रा अक (वर्ष ४, सख्या ३-४) मे भी प्रकाशित किया था। इसके आरभ मे कहा गया है—"प्रथम ब्रज-यात्रा श्री गुसाई जी करी, सो श्री गोकुलनाथ जी अपने सेवकन सो कहत है। सवत् १६०० भाद्रपद वदी १२ को सैन आरती करे पाछै श्री गुसाई जी मथुरा पधारे, ब्रज परिक्रमा करिवे को।"

इस ग्रथ मे ब्रज के १२ वनो, कतिपय उपवनो तथा अनेक लीलास्थलो की परिक्रमा का उल्लेख हुआ है। इसमे लीला स्थलो के माहात्म्य भी यथा स्थान सक्षिप्त रूप मे लिखे गये है।

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला खड, (परिच्छेद १७ और १८)

(२) ब्रजभक्तिविलासाख्ये ब्रजयात्रा तथैव च।
वृहत्व्रजगुणोत्साहे षर्डविशाख्य सहस्रके॥ (अध्याय ७, श्लोक ४)

इसी यात्रा के प्रसग मे श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने पुरोहित उजागर चौवे को एक वृत्ति–पत्र भी लिख कर दिया था, जो उक्त चौवे जी के वशजो के पास है । उसमे लिखा है—"स्वस्ति श्रीमद् विट्ठल दीक्षिताना मथुरा क्षेत्रे तीर्थपुरोहित उजागर शर्मा माथुरोऽस्ति । वि० स० १६००"

**श्री गुसाई जी की बन-यात्रा, सं० १६२४ की**—श्री विट्ठलनाथ जी की इस यात्रा का उल्लेख कवि जगतनद कृत व्रजभाषा पद्यवद्ध रचना मे हुआ है । इसके आरभ मे वतलाया गया है कि श्री विट्ठलनाथ जी ने स० १६२४ मे भादो वदी १२ सोमवार को बनयात्रा करने का विचार किया, अत उन्होने उसी दिन प्रात काल विश्रात घाट से यात्रा का आरभ किया था । वह यात्रा ११ दिन मे पूरी हुई थी । उसका उल्लेख इस प्रकार है—

**गोस्वामी बिट्ठलेश जू, दैवी जीव उद्धारि । कीने है बन–जातरा, भक्त संग सुखकारि ।।**
**सोरहसै सवत बन्यौ, चौबीसा ससि वार । भादो बदि की द्वादसी, बन कौ किया बिचार ।।**
**श्री गोकुल ते विजय किय, श्री मथुरा रहि रात । प्रात भई सु त्रयोदशी, न्हाये श्री विश्रांत ।।**
**बन सब संपूरन करे, फिरि श्री गोकुल आय । दिन ग्यारह चोबीस बन, कीने बिट्ठलराय ।।**

कवि जगतनद ने उक्त यात्रा-विवरण के अतिरिक्त दो पद्यबद्ध व्रजभापा रचनाएँ और भी की थी, जिनके नाम **"व्रज वस्तु वर्णन"** और **"व्रज ग्राम वर्णन"** है । इन तीनो रचनाओ मे व्रज के बन-उपवन, लीलास्थल, देवी--देवता, मदिर–देवालय, कु ड–सरोवर, घाट तथा गाँवो का नामोल्लेख किया है । जगतनद का रचना–काल स० १७२१ है । इस प्रकार श्री नारायणभट्ट जी के उपरात कवि जगतनद ने ही व्रजमडल के विस्तृत अनुसधान का महत्वपूर्ण कार्य किया था । उनकी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है ।

**श्री गुसाईं जी की यात्रा, सं० १६२८ की**—इसका उल्लेख गो० हरिराय जी कृत **"दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता"** के अतर्गत पीतावरदास की वार्ता सख्या १६० मे हुआ है । पीतावरदास गोसाई विट्ठलनाथ जी का खवास था और वह गोकुल मे निवास करता था । उसकी वार्ता के प्रसग २ मे कहा गया है—

**"पाछे एक समय पीतांवरदास कौ मनोरथ यह भयौ, जो व्रजयात्रा करिये । सो श्री गुसाई जी सो विनती कीनी । तव श्री गुसाई जी आप कहे, जो हम हू व्रजयात्रा करिवे को चलेगे, तब तुम हू चलियो । स० १६२८ फागुन बदी ८ को श्री गोकुल कौ बास किये हते । तब ता उपरात भाद्रपद वदि १२ के दिन सैन आरती करिके पाछे श्री गोकुलनाथ जी को संग लेके समै देखिके सकोच ते चले[1] ।"**

वह यात्रा भाद्रपद कृ० १३ को आरभ हुई थी और भाद्रपद शु० ७ को समाप्त हुई थी । इस प्रकार पूर्व यात्रा की भाँति यह भी १०–११ दिन मे ही पूरी हुई थी तथा २४ वन-उपवनो और अनेक लीला-स्थलो मे होकर गई थी । उस यात्रा मे वृ दावन की परिक्रमा सव के अ त मे मथुरा आने के वाद की गई थी ।

**बीकानेरी यात्रा--विवरण**—वीकानेर के एक माहेश्वरी भक्त ने स० १७१३ मे व्रज-यात्रा की थी, जिसका बीकानेरी भापा मे लिखा हुआ विवरण अनूप सस्कृत लाइव्रेरी के एक हस्त-

---

(१) **दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता ( कांकरौली )**, तृतीय खड, पृ० ८१

लिखित गुटके में संगृहीत है। उसे श्री अगरचंद जी नाहटा ने प्रकाशित किया है[1]। वह यात्रा सं० १४१३ की आश्विन शु० १३ को आरंभ हुई थी। उक्त यात्री ने मथुरा और गोवर्धन के तत्कालीन देवस्थानों का सोल्लेख करते हुए मथुरा स्थित श्री केशवराय जी तथा गोवर्धन स्थित श्रीनाथ जी के मंदिरों का महत्वपूर्ण वृत्तांत लिखा है। उसका यात्रा-विवरण औरंगजेब द्वारा ब्रज के मंदिरों का ध्वंस कराये जाने से १३ वर्ष पूर्व का है, अतः इसका ऐतिहासिक महत्व है।

औरंगजेब के शासन-काल में उसकी हिंदू विरोधी नीति के कारण सं०१७२६ में ब्रज-यात्रा बंद हो गई थी। कालांतर में जब मुगल शासकों की नीति में परिवर्तन हुआ, तब श्रद्धालु भक्त जन व्यक्तिगत रूप से ब्रज-यात्रा करने लगे। उसे पूर्ववत् सामूहिक रूप से मथुरा के वल्लभ संप्रदायी गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम जी ( जन्म सं० १८०५ ) ने आरंभ किया था। उक्त गोस्वामी जी कृत "ख्याल" नामक लोकगीत ब्रज में प्रसिद्ध है।

**श्री वृंदाबन धामानुरागावली**—इस ग्रंथ का दूसरा नाम 'चक्र देवी परिक्रमा' भी है। इसका रचयिता गोपालदास उपनाम 'गोपाल कवि' वृंदावन का रहने वाला ब्रह्मभट्ट था। उसने इस ग्रंथ को सं० १९००में लिखा था। यह ग्रंथ अप्रकाशित है। इसकी कई हस्तलिखित प्रतियाँ वृंदावन के ग्रंथ-भंडारों में सुरक्षित हैं। स्वयं लेखक के हाथ की लिखी हुई एक सुंदर और शुद्ध प्रति वृंदावनस्थ गो० राधाचरणजी के पुस्तकालय में है। इसमें छोटी साँची के ३०४ पृष्ठ हैं और वह ४० अध्यायों में पूरी हुई है। इस ग्रंथ में वृंदावन की चक्रदेवी परिक्रमा का कवितावद्ध वर्णन करते हुए मार्ग में स्थित समस्त दर्शनीय स्थल, मंदिर, मठ देवालय देव-विग्रह, संत-महात्मा और विशिष्ट व्यक्तियों का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया गया है।

**ब्रज-परिक्रमा**—इस ग्रंथ के रचयिता ब्रज-यात्रा के पुनः आरंभ करने वाले गो० पुरुषोत्तम जी के वंशज गो० ब्रजनाथ जी हैं। उन्होंने ब्रज-यात्रा करने के उपरांत उसका विवरण लिखा था। उनका काल सं० १९०३ से १९६० तक है, अतः उनकी यात्रा और इस ग्रंथ का समय सं० १९४० के लगभग अनुमानित होता है। इसमें तिथि-क्रम से ब्रज-यात्रा का वर्णन किया गया है। यात्रा का आरंभ भादों शु० १२ से किया है और उसकी समाप्ति कातिक बदी १४ को हुई है। इस प्रकार इस यात्रा की अवधि लगभग ५० दिन है।

**श्री लोकेन्द्र ब्रजोत्सव**—इस पद्यात्मक ग्रंथ का रचयिता बुंदेलखंडी कवि प्रतीतिराय लक्ष्मणसिंह है जो दतिया के राजा भवानीसिंह का आश्रित था। उक्त दतिया नरेश ने सं० १९४७ में ब्रज की यात्रा की थी। उसके साथ उसका आश्रित कवि प्रतीतिराय लक्ष्मणसिंह भी था। उसने उक्त यात्रा का आँखों देखा विवरण उक्त ग्रंथ में लिखा है, जिसका रचना-काल सं० १९४८ है। यह ५६४२ श्लोक परिमाण का वृहत ग्रंथ है। इसमें ब्रज-यात्रा से संबंधित सामग्री प्रचुर परिमाण में है, जिसका ऐतिहासिक महत्व है। यह ग्रंथ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से छप कर प्रकाशित हुआ था किंतु आजकल वह अप्राप्य है।

उक्त ग्रंथों के अतिरिक्त ब्रज-यात्रा के और भी कई छोटे-बड़े ग्रंथ समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं किंतु वे सब पुरानी शैली के हैं। उनमें से अधिकांश इस समय उपलब्ध भी नहीं है।

(१) ब्रज और ब्रज-यात्रा, पृ० ११४-११६

## ब्रज-यात्रा किंवा वन-यात्रा—

साधारणतया ब्रज-यात्रा और वन-यात्रा समानार्थक शब्द हैं। कारण यह है, ब्रज स्थित गाँवो का पर्यटन करने के लिए ब्रज के अनेक वनो में होकर जाना पडता है। इसी प्रकार वनो की परिक्रमा करने के लिए ब्रज के अनेक गाँवो का पर्यटन भी हो जाता है। वर्तमान काल में ब्रज-यात्रा को वन-यात्रा भी कहते है, किन्तु श्री नारायणभट्ट जी ने इन दोनो के आकार-प्रकार का निश्चय कर उनके भेद का भी स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने वतलाया है—

**ब्रज-यात्रा**—ब्रज के गाँवो का विधिपूर्वक पर्यटन और लीला-स्थलो के दर्शन को 'ब्रज-यात्रा' कहते हैं। इसका परिमाण ३३६ कोस का है। इसे चातुर्मास्य मे अर्थात् वैशाख कृ० १ से श्रावण शु० १५ तक करनी चाहिए। इस प्रकार प्रति दिन ढाई कोस का भ्रमण करने से परिश्रम नही होता है। यात्रा की समाप्ति पर रक्षा-बंधन और तर्पणादि करना चाहिए[1]।

**वन-यात्रा**—ब्रज ८४ कोस के वन-उपवनो की विधिपूर्वक परिक्रमा को 'वन-यात्रा' कहा जाता है। 'विष्णुयामल' ग्रंथ मे इसे २३ दिन मे पूरी करने का विधान है। भाद्रपद कृ० ८ ( श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी ) से भाद्रपद शु० १५ तक इसे करना चाहिए[2]।

'भविष्योत्तर' मे वतलाया गया है कि पापो से मुक्त होने के लिए पहिले ब्रज-यात्रा करे, उसके उपरांत सर्वार्थ सिद्धि के लिए वन-यात्रा करनी चाहिए,—"**आदौ तु ब्रज यात्रां च कुर्य्यात्पाप विमुक्तये। ततस्तु वनयात्रा च कुर्य्यात्सर्वार्थ सिद्धये।।**" यात्रा मे क्रम-भंग कभी नहीं करना चाहिए। क्रम-भंग होने से अपराध है और उसमे पुण्यो का नाश होता है[3]। भाद्रपद मास मे जो यात्रा की जाती है, वह संपूर्ण फल देने वाली होती है। इसी को कार्तिक और मार्गशीर्ष मे करने से आधा फल मिलता है[4]।

**यात्रा के वन-उपवन**—ब्रज के जिन वन-उपवनो की यात्रा की जाती है, उनके नाम और विवरण विविध पुराणो मे मिलते है। उनमे से १२ वन और २४ उपवन अधिक प्रसिद्ध हैं, जिनका उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है[5]। जैसा पहिले लिख चुके है, इन वन-उपवनो मे से अधिकांश के नाम ही शेष रह गये है। वर्तमान काल मे उनका वन्य स्वरूप समाप्त प्राय हो गया है और उनके स्थानो पर उन्ही नाम की बस्तियाँ बस गई है। ये सब तथाकथित वन-उपवन ब्रज-यात्रा के मार्ग मे पडते है।

## ब्रज-यात्रा के प्रकार—

ब्रज-यात्रा या ब्रज-प्रदक्षिणा कई प्रकार की है। ब्रज की एक छोटी यात्रा '**पंचतीर्थी**' कहलाती है। यह श्रावण मास की पंचमी को प्रारंभ होती है और मधुवनादि पाँच तीर्थो की पाँच दिनो मे की जाती है। दूसरी यात्रा को 'रामदल' कहते है। इसे रामानंदी चैतन्य और निंबार्कादि

---

(१) ब्रज भक्ति विलास, पृ० १८६
(२) वही , पृ० १७८
(३) वही पृ० १८८
(४) वही , पृ० १८०
(५) देखिये, इस ग्रंथ के पृष्ठ ३६ से ८२ तक

सप्रदायो के भक्त गरण भाद्रपद कृ० १० को वृ दावन मे आरभ करते है और समस्त यात्रा १५–१६ दिनो मे पूरी हो जाती है। यह यात्रा अत्यत द्रुत गति से की जाती है, इसीलिए लोक मे इसे **'लठामार-यात्रा'** भी कहते है। इस मे अधिकतर साधु–सत ही भाग लेते है। तीसरी यात्रा वल्लभ सप्रदाय के गोस्वामियो द्वारा भाद्रपद शु० ११ को मथुरा से आरभ होती है और प्राय ४० दिनो मे पूरी की जाती है। यही मुख्य यात्रा है और इसे **'बडी यात्रा'** भी कहते है। इसका विस्तार पूर्वक विवरण हम आगे लिखेगे।

**प्रदक्षिरणा अथवा परिक्रमा**—पूर्वोक्त यात्राओ के अतिरिक्त ब्रज के सभी लीला-स्थलो की स्थानीय प्रदक्षिरणा अथवा परिक्रमा भी होती है, जो विविध तिथियो अथवा अवसरो पर की जाती है। इनमे मथुरा, गोवर्धन और वृ दावन की परिक्रमाएँ अधिक प्रसिद्ध है। ये परिक्रमाएँ साधारणतया प्रत्येक माह की एकादशी और पूर्णमासी को तथा पुरुषोत्तम मास मे प्रति दिन की जाती है। विशेष परिक्रमाओ के विशेष दिन भी नियत है। मथुरा की विशेष परिक्रमाएँ वर्ष मे चार बार—१ वैशाख पूर्णिमा ( बन विहार ), २ आषाढ शु० ११ ( देवशयनी एकादशी ), ३ कार्तिक शु० ९ (अक्षय नवमी) और ४ कार्तिक शु० ११ (प्रबोधिनी या देवोत्थापनी एकादशी ) को की जाती है। गोवर्धन–राधाकु ड की विशेष परिक्रमा आषाढ शु० १५ ( व्यास पूर्णिमा या मुडिया पूनौ ) को होती है।

**प्रदक्षिरणा परिमारण**—जिन लीला–स्थानो की स्थानीय प्रदक्षिरणाएँ की जाती है, उनका परिमारण उनकी भौगोलिक सीमाओ के अनुसार न्यूनाधिक होता है। श्री नारायरण भट्ट जी ने ब्रज के समस्त लीला–स्थानो की प्रदक्षिरणाओ के परिमारण निश्चित किये है[1]। हम यहाँ पर कुछ अत्यत प्रसिद्ध स्थानो के परिमारण ही दे रहे है—

| | | |
|---|---|---|
| १ | मथुरा | ५ कोस |
| २ | मथुरामडल ( मथुरा, गरुणगोविद और वृ दावन ) | ९ कोस |
| ३ | गोवर्धन–राधाकु ड | ७ कोस |
| ४ | वृ दावन | ५ कोस |
| ५ | नदगॉव | २ कोस |
| ६ | बरसाना | २ कोस |
| ७ | कामवन | ७ कोस |
| ८ | गोकुल | ३ कोस |
| ९ | बलदेव | २½ कोस |
| १० | मधुवन | १½ कोस |
| ११ | तालवन | ¾ कोस |
| १२ | कुमुदवन | ½ कोस |
| १३ | बहुलावन | २ कोस |
| १४ | भाडीरवन | २ कोस |
| १५ | लोहवन | १½ कोस |

(१) ब्रज भक्ति विलास, पृ० ४०–४२

**दंडौती परिक्रमा**—पैदल परिक्रमाओं के अतिरिक्त व्रज मे दडौती परिक्रमा भी की जाती है। इसे अधिक श्रद्धालु जन साष्टाग दडवत करते हुए पूर्ण करते है। इसमे पर्याप्त समय लगता है और बहुत श्रम करना पडता है। इस परिक्रमा की भी व्रज मे पुरानी परपरा मिलती है। नाभा जी कृत 'भक्तमाल' ( छप्पय स० १०३ ) मे केशव जी नामक एक भक्त जन का उल्लेख हुआ है। वे प्रति दिन गोवर्धन मे गिरिराज की दडौती परिक्रमा किया करते थे। उनकी उस प्रवृत्ति के कारण उनका नाम ही 'केशव जी दडौती' पड गया था। इस समय भी दडौती परिक्रमा अधिकतर गोवर्धन मे होती है और इसे विशेष रूप से पुरुषोत्तम ( अधिक ) मास मे किया जाता है। कुछ साधु-सत १०८ दडौती परिक्रमा करते है। वे १०८ बार दडवत प्रणाम करते हुए एक-एक कदम आगे बढते है। इस प्रकार वे २-३ वर्ष मे एक बार की '१०८ दडौती परिक्रमा' पूरी कर पाते है।

## बड़ी यात्रा—

इस यात्रा का आयोजन प्रति वर्ष वल्लभ सप्रदाय के गोस्वामियो द्वारा किया जाता है। इसमे श्रद्धालु नर-नारी गण बडी सख्या मे भाग लेते है, इसीलिए इसे **'बडी यात्रा'** कहते है। यह यात्रा यथोचित प्रबध और पूरे सरजाम के साथ की जाती है। यात्री गण यात्रा की तिथि से प्राय एक सप्ताह पूर्व व्रज मे आ जाते है। वे मथुरा की धर्मशालाओ मे अथवा अपने पडो के घरो मे ठहरते है। कुछ यात्री गोकुल-वृदावन मे भी जाकर ठहरा करते है। वल्लभ सप्रदाय के जिन गोस्वामी जी की अध्यक्षता मे यात्रा उठती है, वे भी बहू-बेटियो, सगी-साथियो और शिष्य-सेवको के साथ यात्रा-तिथि मे दो-एक दिन पहिले ही आकर प्रबध व्यवस्था की देख-भाल करते है।

**यात्रा की तैयारी**—यात्रा का आवश्यक सामान जैसे डेरा, तबू, छोलदारी, पाल, कनात, चटाई, पट्टा, डडा, डोलची, बर्तन, औषध आदि को मथुरा मे ही खरीद लिया जाता है। वही पर सामान आदि ले जाने के लिए बैलगाडी और सेवको की भी व्यवस्था कर ली जाती है। इस प्रकार यात्रा के प्रस्थान-काल से पूर्व मथुरा मे कई दिनो तक बडी चहल-पहल और भीड-भाड रहती है।

**प्रबध व्यवस्था**—यात्रा-काल मे यात्रा की प्रबध समिति की ओर से सफाई, रोशनी और खाद्य की उपलब्धि की समुचित व्यवस्था की जाती है। औषधालय, डाकखाना, पुलिस का पूरा प्रबध रहता है। यात्रा के मुकामो पर खाद्य वस्तुओ की बिक्री के लिए बाज़ार तथा शयन-विश्रामादि के लिए डेरे-शामियानो की यथोचित व्यवस्था रहती है। स्थान-स्थान पर कथा-कीर्तन, उपदेश-प्रवचन और रासादि धार्मिक कृत्य होते रहते है, जिनके कारण यात्रा का समस्त वातावरण पूर्णतया धार्मिक और भक्तिपूर्ण बना रहता है।

जहाँ यात्रा ठहरती है, वहाँ एक अस्थायी उपनगर सा बन जाता है। विशाल मैदान मे यात्रियो के तम्बू-डेरे लग जाते है। उनके बीच मे गोस्वामी जी का सुदर शामियाना लगता है। उनके आगे उपदेश, प्रवचन, सभा, रास-लीला, कीर्तन-भजन आदि कार्यक्रमो के लिए खुला मैदान छोड दिया जाता है। यात्रा के एक ओर बाजार लगता है, जिसमे यात्रियो की आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उचित मूल्य पर बिकती है। रात्रि मे चौकी-पहरे की पूरी व्यवस्था होती है, ताकि यात्रियो के किसी सामान की चोरी न हो जाय। यात्रा के साथ लाउडस्पीकरो का पूरा प्रबध रहता है,

जिसके कारण उपदेश, प्रवचन, रास आदि के कार्य-क्रमो तथा व्यवस्था सबधी सूचनाओ और महत्व-पूर्ण घोपणाओ को सुनने की सुविधा रहती है। यदि कोई यात्री किसी अन्य यात्री को सदेश पहुँचाना चाहे, तो वह भी इसका उपयोग कर सकता हे। इस प्रकार यात्रियो को सुख-सुविधा पहुँचाने की भरसक चेष्टा की जाती है, किंतु फिर भी उन्हे भौतिक और दैविक आपत्तियो के कष्टो को सहन करना ही पडता है। उनके लिए वे पहिले से तैयार होकर भी आते है। यात्रा आरभ करने से पहिले पुष्टिमार्गीय वैष्णव प्राय गोकुल जाते हे। वे वहाँ पर ठकुरानी घाट पर स्थित सर्वश्री आचार्य जी और गोसाई जी की बैठको पर चरण-स्पर्श करते हुए ब्रज-यात्रा के लिए आज्ञा प्राप्त करते है। फिर वे मथुरा आकर यात्रा का नियम लेते है।

**नियम**—मथुरा मे भाद्रपद शु० ११ को विश्राम घाट स्थित श्री आचार्य जी की बैठक के सन्मुख यात्रा का 'नियम' लिया जाता है। यह एक साप्रदायिक अनुष्ठान हे, जिसे यात्रा आरभ करने से पूर्व किया जाता है। इसका यह अभिप्राय है कि यात्रीगण यात्रा के कतिपय नियमो को पालन करने का व्रत लेते है और उन्हे भग न करने की प्रतिज्ञा करते है। इन नियमो का पालन करने मे ही यात्रा के पूरे पुण्य प्राप्त होने की आशा की जाती हे। वे नियम प्राय इस प्रकार है—

१ यात्री को प्रात काल शौच, दाँतुन-कुल्ला और स्नानादि कर तथा शुद्ध वस्त्र पहिन कर यात्रा करनी चाहिए। रात का पहना हुआ अथवा मलीन वस्त्र धारण नही करना चाहिए।

२ यात्रा नगे पाँव करनी चाहिए। चर्म के जूता-चप्पल पहिन कर अथवा सवारी पर चढ कर यात्रा करने का निषेध है। वृद्ध और असमर्थ नर-नारी कपडे के जूते पहिन सकते हैं।

३ यात्रा काल मे क्षौर कर्म और तेल मालिश नही करनी चाहिए। उस समय भूमि पर शयन करना चाहिए और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए।

४ असत्य और आवेशपूर्ण भापण तथा अशिष्ट आचरण नही करना चाहिए।

५ यात्रा मार्ग मे स्थित तीर्थो और देव-स्थानो का परित्याग नही करना चाहिए। तीर्थो, कुड-सरोवरो पर आचमन, स्नानादि और देव-स्थानो या मदिरो मे मूर्तियो आदि के दर्शन, पूजादि अवश्य करना चाहिए।

६ मार्ग के वृक्ष, लता, गुल्म आदि को क्षति नही पहुँचानी चाहिए तथा गौ, पशु, पक्षी आदि किसी भी प्राणी को कष्ट नही देना चाहिए।

७ यात्रा दिन मे करनी चाहिए, रात्रि मे नही।

८ यात्रा धीरे-धीरे करनी चाहिए। इस प्रकार पैर रखने चाहिए, जिससे यथासभव जीव-हिसा न हो।

९ यात्रा काल मे एक बार सात्विक भोजन करना चाहिए। भोजन मे उच्छिष्ट, तामसी और आमिप वस्तुओ का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

१० यदि कोई व्यक्ति किसी स्थान पर रोगी अथवा सूतकी हो जाय, तो उसे उसी स्थान पर अपनी यात्रा स्थगित कर देनी चाहिए। फिर रोग से मुक्ति और सूतक से निवृत्ति होने पर ही उसे पुन यात्रा आरभ करनी चाहिए। रजस्वला स्त्री को भी यात्रा स्थगित कर पुन शुद्ध होने पर यात्रा करना उचित है।

११ यात्रा शक्ति के अनुसार करनी चाहिए, ताकि शरीर को अधिक कष्ट न हो।

**अंतरगृही परिक्रमा**—मथुरा के विश्रामघाट पर नियम लेने के उपरात दूसरे दिन वामन द्वादशी ( भाद्रपद शु० १२ ) को प्रात काल मथुरा की अतरगृही परिक्रमा करने की परपरा है। कभी-कभी नियम लेने के दिन ही इसे किया जाता है। इस परिक्रमा मे यात्री गण मथुरा नगर के प्रसिद्ध और प्राचीन देव-स्थानो का दर्शन करते है। सर्व प्रथम विश्रामघाट स्थित श्री यमुनाजी और आचार्य जी की वैठक के दर्शन करने के अनतर ठाकुर श्री मदनमोहन जी, श्री दाऊजी और छोटे मदनमोहन जी के दर्शन किये जाते है। उसके वाद यात्री गण तुलसी चबूतरा स्थित सतघरा मे श्रीनाथ जी की वैठक के दर्शन करने को जाते है। वहाँ वे दूध-भोग की सेवा करते है। उसके पश्चात् आदि वराह, पद्मनाभ, मथुरा देवी, दीर्घविष्णु, भूतेश्वर, केशवदेव, गोवर्धननाथ, द्वारकाधीश, गतश्रम नारायण आदि प्रसिद्ध देवी-देवताओ के दर्शन करते हुए यह परिक्रमा की जाती है।

इस परिक्रमा को करने के पश्चात् यात्री गण ब्रज-यात्रा की तैयारी करते है। यात्रा के साथ सभी मुकामो पर रास-लीला का आयोजन होता है। सर्व प्रथम मथुरा मे श्रीकृष्ण के जन्म और कस-वध की लीलाएँ होती है, जिन्हे यात्री गण रात्रि के समय देखते है। दूसरे दिन प्रात काल यात्रा मथुरा से प्रस्थान करती है।

## १–मधुबन ( यात्रा का प्रथम मुकाम ) भाद्रपद शु० १३—

मथुरा से चल कर यात्रा का पहिला मुकाम या पडाव मधुवन मे होता है। मुकाम पर पहुँच कर यात्री गण ओर-पास के लीला-स्थलो और तीर्थो के दर्शन-स्नानादि करते है और फिर मुकाम पर ही वापिस आ जाते है। इस मुकाम के प्रमुख लीला-स्थलो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**मधुबन**—यह मथुरामडल का अत्यत प्राचीन स्थान है, जो वर्तमान मथुरा नगर मे प्राय ५ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर है। ब्रज के १२ वनो मे इसकी गणना प्रथम की जाती है, किंतु इस समय वन के स्थान पर एक छोटी कदमखडी ही शेष रह गई है। इसके पास ही महोली नाम का एक छोटा सा गाँव है। ऐसा कहा जाता है, आदि कालीन मथुरा इसी के निकट वसी हुई थी। इसके प्राचीन महत्व के सबध मे कई अनुश्रुतियाँ प्रचलित है, जिनमे से चार अधिक प्रसिद्ध है—

१ विष्णु भगवान् ने इसी स्थान पर मधुकैटभ का सहार कर मधुसूदन नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

२ राजा उत्तानपाद के वालक पुत्र ध्रुव ने इसी स्थान पर तपस्या की थी।

३ त्रेता युग मे मधु दैत्य इस वन का शासक था, जिसके पुत्र लवण का सहार शत्रुघ्न जी ने किया था।

४ द्वापर युग मे श्री कृष्ण ने इस वन मे गाये चराई थी।

अत्यत प्राचीन काल मे शत्रुघ्न ने मधुवन के एक भाग को साफ कर यहाँ प्राचीन मथुरा की स्थापना की थी। वाल्मीकि रामायण और विष्णुपुराण से ज्ञात होता है कि लवण को मारने के उपरात शत्रुघ्न ने जिस पुरी की स्थापना की थी, उसका नाम पहिले 'मधुरा' रखा गया था, फिर कालातर मे उसे 'मथुरा' कहा जाने लगा। यह मधुरा अर्थात् मधुरा पुरी यमुना नदी के तट पर वसाई गई थी। वर्तमान मधुवन यमुना नदी से वहुत दूर है। इससे समझा जा सकता है कि अत्यत प्राचीन काल मे यमुना का प्रवाह वर्तमान मधुवन के निकट था।

वर्तमान मधुवन मे मधुकु ड नामक एक तालाब है, जिसे कृष्णकु ड भी कहते है । इसके पास के मदिर मे मधुवनिया ठाकुर श्री चतुर्भुजी कृष्ण और दाऊ जी के देव-विग्रह है। उनके निकट श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक है । इनके अतिरिक्त ध्रुव जी का मदिर और लवणासुर की गुफा भी दर्शनीय है । यहाँ पर भाद्रपद कृ० ११ को प्रति वर्ष मेला होता है । उसी दिन मधुवन की परिक्रमा भी की जाती है, जिसका परिमाण डेढ कोस है । मधुवन से यात्रा तालवन और कुमुदवन जाती है ।

**तालबन**—ब्रज के बारह वनो मे तालवन का स्थान दूसरा है । प्राचीन काल मे यह ताल वृक्षो का एक बडा वन था । भागवत मे लिखा है, श्री कृष्ण-बलराम के साथी गोप-बालक उस वन मे ताल के फलो को खाने के लिए गये थे । उस वन का रक्षक धेनुकासुर था, जो गधे के रूप मे वहाँ रहता था । बलराम ने उस असुर का सहार किया था । कालातर मे वह वन उजड गया और शताब्दियो के पश्चात् वहाँ तारसी नामक एक गाँव बस गया । श्री ग्राउस ने लिखा है, इस गाँव को सतोहा के कछवाहा राजपूत तारासिंह ने बसाया था । यहाँ पर बलराम जी का मदिर है और उसके निकट बलभद्र कु ड है । किसी समय यहाँ एक खाई थी, जिसका अधिकाश भाग अब भर गया है भाद्रपद कृ० ११ को यहाँ की स्थानीय परिक्रमा होती है, जिसका परिमाण पौन कोस है ।

**कुमुदबन**—ब्रज के बारह वनो मे यह तीसरा वन है । प्राचीन काल मे यहाँ के कु ड-सरोवरो मे कुमुद पुष्पो की बहुलता होगी, जिससे इसका नाम कुमुदवन पडा है । इस समय यहाँ पर एक कच्चा तालाव है, जिसे विहारकु ड या कृष्णकु ड कहते है । उसके किनारे श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक है और उसके निकट श्री कपिलमुनि का स्थान है । भाद्रपद कृ० ११ को यहाँ स्थानीय परिक्रमा होती है, जिसका परिमाण आधा कोस है । इस स्थान से यात्रा पुन मधुवन आ जाती है । और रात्रि मे वहाँ विश्राम कर दूसरे दिन प्रात सतोहा ( शातनुकु ड ) को चली जाती है ।

## २–सतोहा-शातनुकु ड ( यात्रा का दूसरा मुकाम ) भाद्रपद शु० १४, १५—

**सतोहा**—यह स्थान मथुरा-गोवर्धन सडक पर मथुरा से प्राय ३ मील पर है । यहाँ शातनुकु ड नामक एक बडा तालाव है, जिसके दोनो तरफ पक्के घाट बने हुए है । इसे शातनु राजा का स्थान कहा जाता है । शातनुकु ड के बीच मे एक ऊँचे टीले पर श्री शातनुविहारी जी का मदिर है । श्रद्धालु जनो की मान्यता है कि शातनुकु ड मे श्रद्धापूर्वक स्नान कर शातनुविहारी जी के दर्शन करने से सतानहीनो को भी सतान की प्राप्ति होती है । यहाँ पर भाद्रपद शु० ६ को मेला होता है । यहाँ से यात्रा गोवर्धन की सडक को छोडती हुई उत्तर दिशा की ओर जाती है और बहुलावन मे पहुँच कर पडाव डालती है ।

## ३–बहुलाबन ( यात्रा का तीसरा मुकाम ) आश्विन कृ० १, २—

**बहुलाबन**—यह ब्रज के बारह बनो मे चोथा वन है । इस स्थान का नाम बहुला गाय की पौराणिक अनुश्रुति के आधार पर पडा है । पद्मपुराण मे उक्त गाय की कथा लिखी गई है । उसमे बतलाया है, धर्म ने सिह का रूप धारण कर बहुला गाय के सत्य की परीक्षा की थी । उस परीक्षा मे सफल होने से उसे धर्म ने वरदान दिया था । यह वन उसी घटना का प्राचीन स्थल कहा जाता है । उक्त घटना की स्मृति मे यहाँ पर बहुला गाय का एक छोटा सा मदिर बनाया गया है। यहाँ कृष्णकु ड नामक एक तालाब है, जिसके एक ओर पक्के घाट बने हुए है । कु ड के ओर-पास

पुराने विशाल वृक्षो की पक्ति है। यह स्थान कुछ नीचा है। अधिक वर्षा होने से इसके चारो ओर पानी भर जाता है, जिससे यात्रियो को कष्ट होता है। वैसे यह स्थान बडा रमणीक है।

इस समय बहुलावन के स्थान पर वाटी नामक गाँव वसा हुआ है, जो मथुरा से प्राय साढे तीन कोस पर है। गाँव के पूर्व मे बलराम कुड, दक्षिण मे मानसरोवर और मध्य मे श्री-लक्ष्मीनारायण जी का मदिर है। यह मदिर श्री सप्रदाय का है, जिसका एक महत भरतपुर के राजा का गुरु था। उसे राज्य की ओर से यह गाँव माफी मे मिला था। कुड के निकटवर्ती एक वृक्ष के नीचे श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक है। भाद्रपद कृ० १२ को स्थानीय परिक्रमा होती है, जिसका परिमाण प्राय दो कोस है।

शातनुकुड से बहुलावन जाने वाले वाले मार्ग मे गणेशरा, दतिया और फेचरी आदि स्थान पडते है। ब्रज के इस भाग मे किसी समय गधर्व, यक्ष और दैत्यो की वस्तियाँ थी। गणेशरा को गधेश्वरा भी कहा जाता है। यहाँ पर श्री कृष्ण और उनके सखाओ द्वारा गध द्रव्य धारण करने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। इसके निकट गधर्वकुंड नामक एक तालाब है। दतिया या दतिहा मे श्री कृष्ण द्वारा शिशुपाल के भाई दतवक्र के वध किये जाने की किवदती प्रचलित है। फेचरी को पूतना का स्थान कहा जाता है। बहुलावन से यात्रा लबा मार्ग तय करती हुई राधाकुड क्षेत्र के कुसुम सरोवर पर पहुँच कर मुकाम करती है। मार्ग मे तोप और जखनगाँव नामक लीला-स्थल पडते है। तोप गाँव मे श्री राधारमण जी और श्री गोपाल जी के मदिर है और तोप कुड है। जखनगाँव के नाम से जान पडता है, यहाँ किसी काल मे यक्षो की वस्ती थी। जखनगाँव से कुछ दूर मथुरा–गोवर्धन सडक पर अडीग गाँव है। यह प्राचीन स्थान है। इसके एक ऊचे टीले पर गढी के अवशेष है। उस गढी को भरतपुर के राजा सूरजमल के एक सामंत फुदाराम जाट ने बनवाया था। अडोग के उत्तर–पश्चिम मे किलोल कुड है और यहाँ तीन छोटे मदिर है।

## ४–राधाकुड–कुसुमसरोवर ( यात्रा का चौथा मुकाम ) आश्विन कृ० ३––

राधाकुंड–यह ब्रज का प्रसिद्ध लीला-स्थल है, जो गोवर्धन से ४ मील उत्तर की ओर पक्की सडक पर स्थित है। वर्तमान काल मे यह एक छोटा कस्बा है। इसमे दो पक्के जुडवाँ सरोवर है, जो राधाकुड और कृष्णकुड कहलाते है। इसकी पूर्व दिशा मे स्थित वन को अरिष्ट वन कहा गया है, जो अरिट या अरिष्ट गाँव तक फैला हुआ था। उक्त वन मे कस के सामत अरिष्ट का निवास था। श्री कृष्ण ने अरिष्ट को मार कर जिस जलाशय मे स्नान किया था, उसी स्थान पर राधाकुड और कृष्णकुड बने हुए है। अरिष्ट वन मे किसी समय वदरो का वाहुल्य था, जिसका उल्लेख नारायण भट्ट जी ने किया है[1]।

इस पुण्य स्थल का प्राकट्य श्री चैतन्य महाप्रभु ने स० १५७३ मे किया था। उससे पूर्व वह प्राचीन तीर्थ लुप्त हो चुका था और उसके स्थान पर धान्य के खेत बन गये थे। उन्होने लोगो से तीर्थ के विषय मे पूछ–ताछ की, किंतु कोई उसका पता नही बतला सका। तब उन्होने धान्य के दो खेतो को देख कर निश्चय किया कि वही राधाकुड और कृष्णकुड के प्राचीन स्थल है। उन्होने उन खेतो से थोडा जल लेकर स्नान किया और फिर वे राधाकुड का स्तवन करने लगे। उनका

(१) यदरिष्ट वनं नाम बहु बानर संकुलम् ( ब्रज भक्ति विलास, पृ० ८३ )

वह अद्भुत आचरण देख कर ग्रामवासियो को बडा विस्मय हुआ। तब उन्होने उसका महत्व वतलाते हुए कहा था कि यह वही कुड है, जहाँ श्री कृष्ण नित्य प्रति श्री राधा जी के साथ जल-क्रीडा और रास-लीला किया करते थे। उक्त घटना का उल्लेख श्री कृष्णदास कविराज ने किया है[1]।

श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा राधाकुड का प्राकट्य किये जाने के उपरात इस स्थल का महत्व वढने लगा और शनै शनै यह चैतन्य सप्रदायी भक्तो का प्रमुख तीर्थ स्थान वन गया था। ब्रज मे आने वाले प्राचीन गौडीय महात्माओ ने अधिकतर इसी पुण्य स्थल पर निवास किया था।

राधाकुड के जिस स्थल पर श्री चैतन्य महाप्रभु ने विश्राम किया था, वह तमाल तल्ला कहलाता है। श्री नित्यानद प्रभु की धर्मपत्नी श्री जान्हवा जी के आगमन की स्मृति मे कुड का एक घाट 'जान्हवा घाट' कहलाता है। उसी के निकट श्री रघुनाथदास गोस्वामी की भजन कुटी और फूल समाधि है। उसके ओर-पास सर्वश्री माधवेन्द्र पुरी जी की वैठक, जीव गोस्वामी जी की वैठक, गोपाल भट्ट जी और भूगर्भ गोस्वामी की भजन कुटियाँ, कृष्णदास ब्रह्मचारी और कृष्णदास कविराज की समाधियाँ आदि है।

ब्रज के अन्य सप्रदायो के विख्यात महात्माओ ने भी इस स्थल पर निवास किया था, अत उनके स्मृति-चिन्ह यहाँ विद्यमान है। राधावल्लभ घाट पर श्री हित हरिवंश जी की वैठक है ओर उसके निकट हरिराम जी व्यास का घेरा है, तथा वल्लभ घाट पर श्री वल्लभाचार्य जी की वैठक है। उसके अतिरिक्त गो० विट्ठलनाथ जी और गो० गोकुलनाथ जी की वैठके भी है।

इस स्थान पर अनेक मदिर-देवालय है, जिनमे श्री गोविंददेव जी, मदनमोहन जी, गोपीनाथ जी, राधादामोदर जी, जगन्नाथ जी, राधावल्लभ जी, अष्ट-सखी जी, राधामाधव जी आदि के मदिर उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त श्री गिरिराज जी की जिव्हा-शिला, विविध रास मडल, गोप कुआ और कई घाट भी दर्शनीय है। यहाँ पर कार्तिक कृ० ८ को अर्ध रात्रि के समय स्नान करने का वडा माहात्म्य है। उस अवसर पर यहाँ पर एक मेला होता है। आषाढी पूर्णिमा (मुडिया पूनो) को यहाँ पर श्री सनातन गोस्वामी जी का उत्सव मनाया जाता है। उस अवसर पर गौडीय भक्तो की कीर्तन मडली इस स्थान से गोवर्धन जाती है और वहाँ मानसी गगा की परिक्रमा करती है।

**कुसुम सरोवर**—यह सुदर सरोवर राधाकुड-गोवर्धन के प्राय वीच मे सडक के किनारे पर स्थित है। इसके निकटवर्ती भू--भाग का प्राचीन नाम कुसुम वन हे, जिसे कुसुमा सखी की कुज तथा रास-क्रीडा के समय श्री कृष्ण द्वारा श्री राधा जी की वेणी गूथे जाने का स्थल भी कहा गया है। स्कद पुराणान्तर्गत 'भागवत माहात्म्य' के अनुसार यहाँ श्री कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ ने एक माह तक कीर्तन महोत्सव किया था, जिममे महात्मा श्री उद्धव जी और महामुनि नारद जी

---

(१) अरिटे राधाकुड वार्ता पुछे लोकस्थाने। के हो नाहि कहे सगेर ब्राह्मण ना जाने ॥
तीर्थ लुप्त जानि प्रभु सर्वज्ञ भगवान्। दुई धान्यक्षेत्रे अल्प जले कैल स्नान ॥
देखि सब ग्राम्य लोकेर विस्मय हेल मन। प्रेमे प्रभु करे राधाकुडेर स्तवन ॥
येइ कुडे नित्य कृष्ण राधिकार सगे। जले जल-केलि करे, तीरे रास रगे ॥
—श्री चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, १८ वाँ परिच्छेद

राधाकुंड
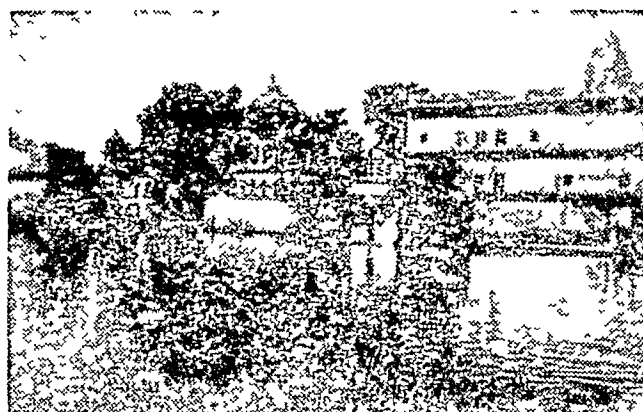
मानसी गंगा
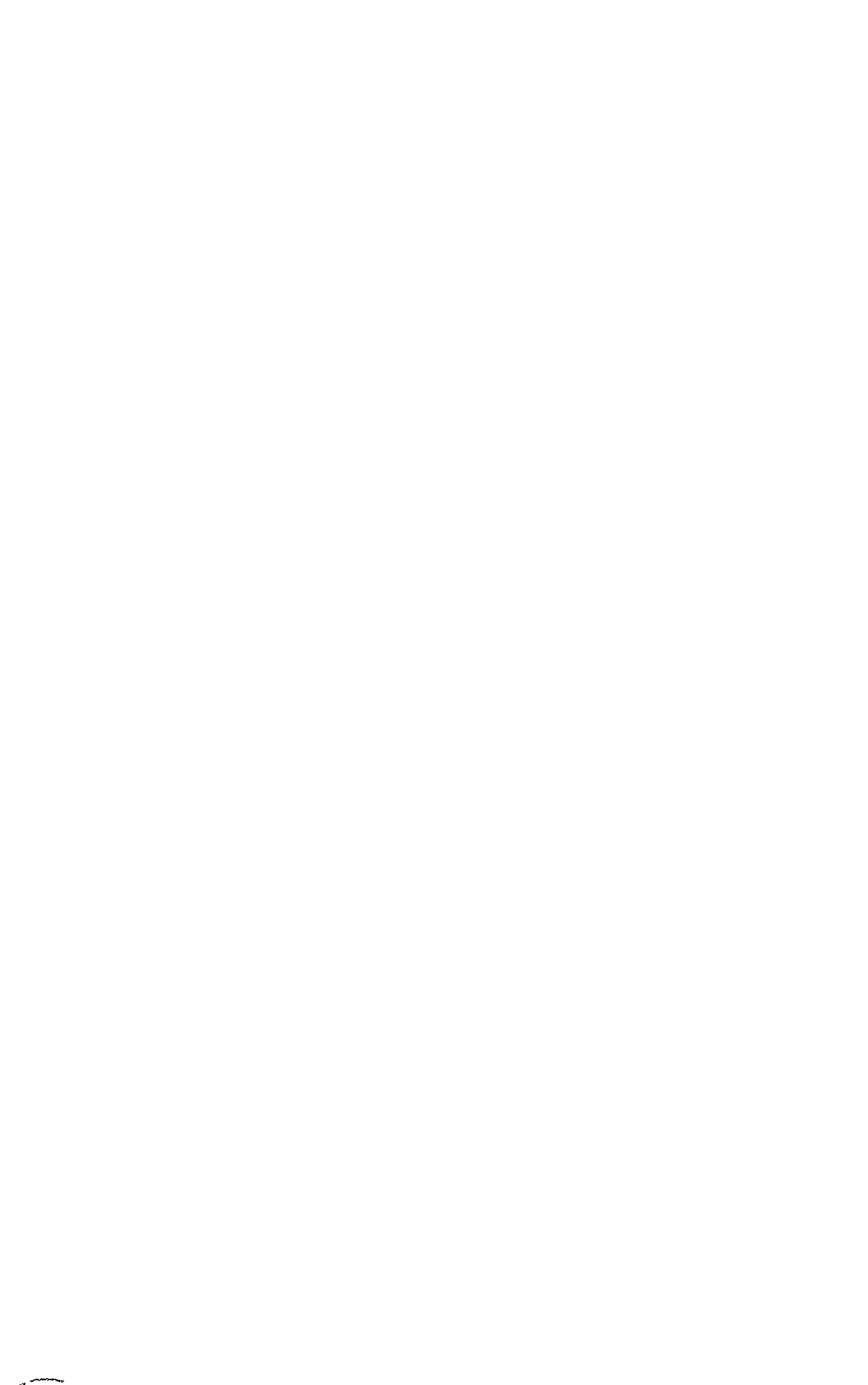
ने प्रगट होकर उपस्थित भक्तो को श्री कृष्ण का माहात्म्य वतलाया था। इस पुण्य स्थल के निकट उद्धव कु ड और नारद कु ड है,जो उस प्राचीन अनुश्रुति की स्मृति मे निर्मित किये गये है। कुसुम सरोवर एक पुराना कु ड हे। कुछ समय पूर्व तक इसके ओर-पास कदव वृक्षो का प्राचीन वनखड था, जिसे अर्थ-लोलुपता ने व्यावसायिक लाभ की वेदी पर वलिदान कर दिया। पुरातन वनश्री के नष्ट हो जाने से इस स्थान के प्राकृतिक सौन्दर्य को भारी क्षति पहुँची है।

कुसुम सरोवर के प्राचीन कच्चे कु ड को ओरछा नरेश वीरसिह देव ने स १६७५ मे पक्का वनवाया था। उसके उपरात स० १७७७ के लगभग भरतपुर के पराक्रमी राजा सूरजमल ने नये सिरे से इसे एक सु दर, विशाल और अगाध सरोवर के रूप मे निर्मित कराया था। उस समय जाट शक्ति अपने उत्थान के शिखर पर थी। श्री गिरराज जी और गोवर्धन मे विराजमान श्री हरिदेव जी जाट राजाओ के इष्ट देव थे। राजा सूरजमल का गोवर्धन मे अधिक निवास रहता था, अत इस स्थान के समीप ही उनकी सेना का युद्धाभ्यास भी चलता रहता था। जाटो के विशाल सेना-शिवर के लिए सदैव जल से भरपूर एक अगाध जलाशय की तथा युद्धाभ्यास के लिये एकात वन्य क्षेत्र की अत्यत आवश्यकता थी। उस लक्ष को दृष्टि मे रखकर ही राजा सूरजमल ने इस सरोवर के निर्माण मे और उसके निकटवर्ती वन्य प्रदेश के सरक्षण मे अपार द्रव्य लगाया था। उसके वाद सूरजमल के प्रतापी पुत्र जवाहरसिह ने उसे कलात्मक भव्य रूप प्रदान किया था। उन दोनो की कलाभिरुचि के कारण जहाँ यह सरोवर ब्रज की एक दर्शनीय स्थापत्य कृति वन गया, वहाँ उनकी सूझ-बूझ से इसे एक ऐसे अगाध जलाशय का रूप प्रदान किया गया, जो अनेक वर्षो की लगातार अनावृष्टियो के काल मे भी कभी जलविहीन नही हुआ है।

कुसुमसरोवर के निर्माण की योजना भी ब्रज के किसी कलाकुशल और सिद्धहस्त शिल्पी ने तैयार की थी। प्राचीन इमारतो की शैली पर ऊची कुर्सी वाला यह भव्य भवन हरीतिमायुक्त वन शोभा से सम्पन्न है। इसका विशाल सरोवर अपने निकट की प्राकृतिक शोभा को और भी मनोरम वना देता है। इसकी सीढियो का बनाव-कटाव, उनसे सटी हुई छतरियो का सुचारु सस्थापन, हिंदू कला से युक्त गुम्मटदार शिखर और छज्जो का स्थापत्य इस स्थान को अद्भुत शोभा प्रदान करते है।

इस स्थल की पवित्रता के सरक्षण के लिए मुगल सम्राट अकवर ने यहाँ जीव-हिंसा न करने का फरमान जारी किया था। उसका अनुकरण अ गरेजी शासन मे भी हुआ। कुसुम सरोवर के दक्षिण-पूर्वी कोण मे एक शिला-लेख लगा है, जिस पर सन् १८६६ का एक अ गरेजी फरमान अकित है। उसमे गोवर्धन क्षेत्र के चारो ओर जीव-हिसा न करने का आदेश दिया गया है, जिसकी अवज्ञा करने वाले को दड देने की भी उसमे व्यवस्था की गई है।

राधाकु ड—कुसुमसरोवर क्षेत्र मे और भी कई तीर्थ स्थान, धार्मिक स्थान और मदिर-देवालय है। इनमे उद्धव कु ड, नारद कु ड, किलोल कु ड, ग्वाल पोखरा, रत्न सिंहासन, श्याम कुटी मुखराई और ग्वालियर वाले मंदिर के नाम उल्लेखनीय है।

**मुखराई**—यह प्राचीन गाँव राधाकु ड के प्राय १ मील दक्षिण की ओर है। इसे राधा जी की मातामही मुखरा का स्थान कहा जाता है। यहाँ पर कृष्णकु ड और वजनी शिला है।

**ग्वालियर वाला मदिर**—कुसुमसरोवर के निकट ही यह मदिर है, जिसे ग्वालियर के भक्त राजपुरुष भैया बलवतराव सिंधिया ने बनवाया था। अगरेजी राज्य की स्थापना से पहिले आगरा पर ग्वालियर के सिंधिया राजा जीवाजीराव का अधिकार था। उस काल मे आगरा मे एक सु दरी नगरवधू चद्रभागा रहती थी। राजा जीवाजीराव ने उसे अपनी उपपत्नी बना लिया था। उससे उन्हे जो पुत्र प्राप्त हुआ, उसका नाम बलवतराव रखा गया। वही अपने समय का प्रसिद्ध भक्त और ब्रजभाषा का सुकवि हुआ, जो भैया बलवतराव सिंधिया के नाम से प्रसिद्ध है। उसके अनुज का नाम भैया गनपतराव था, जो अपने समय का विख्यात सगीतज्ञ था। भैया बलवतराव ब्रज के परम भक्त थे। उन्होने कुसुम सरोवर के रमणीक पुण्य स्थल मे इस मदिर को बनवा कर अपनी ब्रज-भक्ति का परिचय दिया है। उन्होने ब्रज मे विविध धार्मिक कार्यो की व्यवस्था के लिए एक ट्रस्ट बनाया था, जिससे उक्त मदिर का भी प्रबंध किया जाता है। कुसुमसरोवर मे उठ कर यात्रा गोवर्धन क्षेत्र के चद्रसरोवर पर मुकाम करती है। उससे पहिले यात्रीगण गोवर्धन स्थित मानसीगगा मे स्नान करते हैं और वहाँ के देव-स्थानो के दर्शनादि करते है।

## ५—गोबर्धन—चद्रसरोवर ( यात्रा का पाँचवा मुकाम ) आश्विन कृ० ४, ५—

**गोवर्धन**—यह ब्रजमडल का अत्यत प्राचीन और प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है। इसके सपूर्ण महत्व का आधार यहाँ की गिरिराज पहाडी है, जो कृष्ण-काल का एक मात्र स्थायी और अचल अवशेष है। उस काल का दूसरा अवशेष यमुना नदी भी है, किंतु उसका प्रवाह परिवर्तित होता रहा है। पुराणो से ज्ञात होता है कि अत्यत प्राचीन काल मे यमुना नदी गिरिराज पहाडी के निकट ही प्रवाहित होती थी, किंतु अब वह उससे बहुत दूर हो गई है।

काल के प्रवाह से जब ब्रजमडल के अन्य लीला-स्थल अज्ञात हो गये थे, तब गिरिराज पहाडी के कारण ही गोवर्धन सुविख्यात था। उस काल मे यात्रीगण वहाँ पहुँच कर ब्रज-यात्रा का पुण्य प्राप्त करते थे। वैष्णव धर्म के पुनरुत्थान काल मे यह स्थल सभी धार्मिक सप्रदायो को समान रूप से आदरणीय रहा है। इसका कारण यह है कि सभी वैष्णव सप्रदायो मे गिरिराज को श्रीकृष्ण का प्रतिरूप माना गया है। भागवतकार ने 'कृष्णास्त्वन्य तम रूप' कह कर इसके महत्व की घोषणा की है।

कृष्ण-काल से पहिले यहाँ पर वैदिक परपरा के अनुसार इद्र की पूजा होती थी। कृष्ण ने उसके स्थान पर प्रकृति-पूजा के रूप मे पर्वत और भूमि को महत्व दिया तथा उन पर आधारित गो-सवर्धन की प्रथा प्रचलित की थी। इस प्रकार उन्होने 'वेद' से बढ कर 'लोक' को मान्यता दी, और ब्रज के लोक-जीवन का आधार 'गोवर्धन' को स्वीकार किया। यह वैदिक पूजा-पद्धति पर उनके व्यावहारिक विज्ञान की विजय थी। तभी से गोवर्धन स्वरूप इस गिरिराज पहाडी और वहाँ के मानसीगगा नामक तीर्थ के प्रति श्रद्धा व्यक्त की जाती रही है।

गिरिराज पहाडी का एक नाम 'अन्नकूट' ( अन्न का पहाड ) भी मिलता है, जो ब्रज के गोपो द्वारा गोवर्धन देव की पूजा के निमित्त लाई गई प्रचुर खाद्य सामग्री की अनुश्रुति का द्योतक है। वाराह पुराण का वचन है,—"मानसी गगा मे स्नान, गोवर्धन भगवान् के दर्शन और गिरिराज पहाडी की परिक्रमा करने पर भक्त जन के मन को फिर परिताप नही होता है[1]।" गोवर्धन गिरिराज

(१) स्नात्वा मानस गगाया दृष्ट्वा गोवर्धन हरिम्।
अन्नकूट परिक्रम्य कि मन· परितप्यसे॥ —आदि वाराह

गोवर्धनधारी मूर्ति (उत्तर गुप्त काल)

गोवर्धनधारी चित्र ( पहाडी शैली—१८वी शती )

पर भक्त जनो द्वारा मनो दूध चढाया जाता है और मनो मिठाई का भोग लगाया जाता है। विशिष्ट अवसरो पर गिरिराज-शिलाखड का ऐसा सुदर शृगार किया जाता है कि वह कृष्ण के रूप मे गिरि को धारण करता हुआ जान पडता है। एक अनगढ शिला को इस प्रकार चमत्कारिक रूप प्रदान करना व्रज की भावुकता और कलात्मकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। पर्वत-पूजा का यह भव्य रूप गिरिराज के अतिरिक्त अन्य किसी स्थल पर दिखलाई देना सभव नही है।

गोबर्धन व्रज का एक कस्बा है, जो मथुरा नगर से १३ मील दूर है और गिरिराज पहाडी की घाटी मे बसा हुआ है। बस्ती के दोनो ओर गिरिराज की शृखला है, जो एक ओर कुसुमसरोवर तक और दूसरी ओर पूछरी तक फैली हुई है। मथुरा से गोवर्धन को जो पक्की सडक जाती है, वह वस्ती के निकट पहाडी को पार करती हुई डीग, कामवन चली जाती है। गोवर्धन वस्ती मे जो तीर्थ और देव-स्थान है, उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**मानसी गगा**—प्राचीन काल मे यह कदाचित एक बरसाती नदी थी, जिसे गोवर्धन के धार्मिक क्षेत्र मे प्रवाहित होने के कारण पवित्र समझा जाता था। उसे भगवान् के मन से उत्पन्न धवल धारा वाली गगा के समान माना गया है, जैसा कि 'व्रज भक्ति विलास' मे उसका स्तवन करते हुए कहा गया है—'**गगे दुग्धमये देवि भगवन्मानसोद्भवे।**'

स० १६३७ के लगभग आमेर के राजा भगवानदास ने गोवर्धन मे वहाँ के प्राचीन देव-विग्रह श्री हरिदेव जी का मदिर बनवाया था। उस समय वहाँ एक स्थायी जलाशय की भी आवश्यकता समझी गई। उसकी पूर्ति के लिए वहाँ बहने वाली उस प्राचीन वरसाती नदी को रोक कर उस पर बाध बना दिया गया, जिसके कारण वह नदी एक विशाल तालाव के रूप मे परिवर्तित हो गई। राजा भगवानदास के यशस्वी पुत्र राजा मानसिह ने उसे पक्का बनवा दिया था, जिससे 'मानसी गगा' को 'मानसिह गगा' भी कहा जाने लगा। इस प्रकार एक विशाल जलाशय की स्थायी व्यवस्था हो जाने से वहाँ बस्ती बसने लगी। इस समय गोवर्धन कस्वा मानसी गगा के आस-पास बसा हुआ है। व्रज मे और भी ऐसे कई तीर्थ है, जो छोटी बरसाती नदियो मे बनाये गये है और उनकी महत्व-वृद्धि के लिए उन्हे 'गगा' कहा जाता है। इस प्रकार के तीर्थो मे 'अलख गगा', 'पाडव गगा' और 'चरण गगा' के नाम उल्लेखनीय है। मथुरा मे 'कृष्ण गगा' तीर्थ भी इसी कोटि का है।

मानसी गगा के चारो ओर सुदर पक्के घाट बने हुए है, जिन्हे श्रद्धालु राजा-महाराजाओ और सेठ-साहूकारो ने समय-समय पर बनवाया है। इसमे सदैव काफी गहरा जल रहता है, जो वर्षा ऋतु मे और भी बढ जाता है। इसके एक सिरे पर गिरिराज पहाडी का कुछ भाग जल से ऊपर निकला हुआ है। उसे गिरिराज जी के मुखारविद के रूप मे पूजा जाता है। उसके किनारे पर भरतपुर के राजा सूरजमल की पत्नी किशोरी रानी का महल है और उसके निकट ठाकुर श्री किशोरीश्याम जी का मदिर है। इन देव-स्थानो और घाटो ने मानसी गगा की शोभा को बहुत बढा दिया है।

जाट राजा सूरजमल ने दिल्ली की लूट के उपरात अपना विजयोत्सव गोवर्धन मे मनाया था। उस समय दिवाली के अवसर पर उन्होने अपने उपास्य ठाकुर हरिदेव जी का पूजन और मानसी गगा पर वृहत् दीपदान किया था। उसी उत्सव की परपरा मे वहाँ अब भी दिवाली के

अवसर पर बडा दीपदान किया जाता है। यात्रीगण अगणित दीपक जला कर मानसी गगा को आलोकित कर देते है, जिससे वहाँ बडा सु दर दृश्य उपस्थित हो जाता है।

**श्री हरिदेव जी**—श्री कृष्ण के गोवर्धन धारी स्वरूप को यहाँ श्री हरिदेव जी के रूप मे पूजा जाता है। यह गोवर्धन का प्रमुख देव-विग्रह है। इसका भव्य मदिर अकबर के काल मे आमेर के राजा भगवानदास ने स० १६३७ मे बनवाया था, जिसे औरगजेब ने स० १७२६ मे नष्ट करा दिया था। उसके बहुत समय बाद जो मदिर बना, वही इस समय विद्यमान है। वर्तमान मदिर की तरह इसका देव-विग्रह भी प्राचीन नही है। आक्रमणकारियो ने जब ब्रज के मदिर तोडे थे, तब उनकी देव मूर्तियो के भी उन्होने नष्ट करा दिया था। ऐसा कहा जाता है, हरिदेव जी और मथुरा के केशवदेव जी की पुरानी मूर्तियाँ आक्रमणकारियो की दृष्टि से बचा कर किसी प्रकार ब्रजमडल से बाहर ले जाई गई थी। वे इस समय कानपुर जिले के गाँव रजधान-बुधौली मे विराजमान कही जाती है। हरिदेव जी की पुरानी मूर्ति के साथ जो अष्टधातु मिश्रित स्वर्ण की दो फीट ऊँची ठकुरानी जी की मूर्ति थी, वह मथुरा के एक चतुर्वेदी परिवार को प्राप्त हुई थी। उसे प्रयाग घाट की बुर्जी के एक छोटे मदिर मे पधरा दिया गया था। वह मूर्ति अब से कुछ वर्ष पहिले तक विद्यमान थी और बाद मे वह चोरी चली गई। ऐसा ज्ञात होता है, स्वर्ण-लाभ के लिए चोरो ने उसे गला दिया और इस प्रकार उन्होने उस प्राचीन ऐतिहासिक निधि को नष्ट कर दिया था। इस समय इस मदिर मे २३००) सालाना की नियमित आय का प्रबध है। भरतपुर राज्य की ओर से इसे भगौसा और लोधीपुरा गाँव दिये गये है तथा ५००) सालाना का बधान बँधा हुआ है।

**श्री लक्ष्मीनारायण जी**—गोवर्धन का यह देव-स्थान उत्तर भारत मे रामानुज सप्रदाय की सबसे प्राचीन गद्दी का केन्द्र रहा है। १९वी शताब्दी मे रामानुज सप्रदाय के आचार्य और इस मदिर के महत श्रीनिवासाचार्य जी थे, जो बडे विद्वान् पुरुष थे। उनके शिष्य श्री रगदेशिक स्वामी थे। उक्त स्वामी जी का जन्म स १८४१ मे दक्षिण प्रदेश मे हुआ था, किंतु वे अपनी युवावस्था मे ही उत्तर भारत आ गये थे और गोवर्धन मे श्रीनिवासाचार्य जी की सेवा मे रहते थे। अपने गुरु के देहावसान के पश्चात् श्री रगदेशिक स्वामी उनके उत्तराधिकारी और रामानुज सप्रदाय के आचार्य हुए थे। श्री रगदेशिक स्वामी के शिष्य मथुरा के सेठ राधाकृष्ण थे, जिन्होंने स्वामी जी के आदेशानुसार वृ दावन मे श्री रगजी का विशाल मदिर बनवाया था। जब वहाँ मदिर बन गया, तब श्री रगदेशिक स्वामी वृ दावन चले गये और वही पर रामानुज सप्रदाय की गद्दी भी कायम हुई। तब से गोवर्धन के इस मदिर का महत्व कम हो गया है। इस मदिर मे कुछ पुराने भित्ति चित्र भी हैं, किंतु अब वे अस्पष्ट हो गये है।

**श्री चक्रेश्वर महादेव**—ब्रजमडल के चार प्राचीन महादेवो मे इनकी गणना की जाती है। इनके मदिर का स्थल प्राचीन है और वह गोवर्धन मे निवास करने वाले अनेक विख्यात भक्त जनो का केन्द्र रहा है। इसके निकट चैतन्य सप्रदाय के अनेक गौडीय महात्मा सदा से निवास करते रहे है। यहाँ सदैव भजन-कीर्तन और धार्मिक आयोजन होते रहते है। इसी के पास श्री गौराग मदिर और श्री सनातन गोस्वामी जी की भजन कुटीर है। वहाँ से आगे मानसी गगा के किनारे सिद्ध कृष्णदास बाबा की भजन कुटीर और समाधि है। उसी के निकट श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक भी है।

**मनसा देवी**—यह ब्रज की एक प्राचीन देवी है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार मनसा-देवी जरत्कारू ऋषि की पत्नी और आस्तीकादि सर्पो की माता थी। इसे लोक मे सर्पमाता के नाम से पूजा जाता है। इसका मदिर मानसी गगा के तटवर्ती ब्रह्मकु ड पर एक ऊँचे स्थान पर बना है। वहाँ ब्रज की यह ऐतिहासिक लोकदेवी विराजमान है।

**नददास जी का स्थल**—मानसी गगा के तट पर पीपल के वृक्ष के नीचे श्री नददास जी का प्राचीन स्थल है।

**नीमगॉव**—गोबर्धन गॉव से कुछ दूर उत्तर की ओर गोबर्धन-बरसाना सडक के निकट यह ब्रजमडल का अत्यत प्राचीन धार्मिक स्थल है। जब श्री निवार्काचार्य जी ब्रज मे आये थे, तब उन्होने गोबर्धन क्षेत्र के इसी स्थान पर निवास कर अपनी भक्ति-साधना की थी। उन्ही के नाम पर इस स्थान का नाम निबग्राम अथवा नीमगॉव प्रसिद्ध हुआ है। यहाँ पर श्री सुदर्शन जी का मदिर, सुदर्शन कु ड और रासमडल है। ब्रज मे निवार्क सप्रदाय का यह आदि स्थान है।

**दानघाटी**—गोवर्धन गॉव के निकट की 'दानघाटी' नामक स्थल को श्रीकृष्ण की दानलीला का प्राचीन स्मृति चिन्ह समझा जाता है। यहाँ गिरिराज जी का एक छोटा देवालय है, जिसे दानीराय जी का मदिर कहते है।

**चंद्रसरोवर**—गोबर्धन गॉव के देव-स्थानो के दर्शन करती हुई यात्रा इस स्थल पर मुकाम करती है। यह वल्लभ सप्रदाय का प्रमुख स्थान है, जो गोवर्धन से प्राय एक मील पश्चिम की ओर है। इसे प्राचीन वृ दावन और महारास का स्थल माना जाता है। यहाँ पर सर्वश्री वल्लभाचार्य जी, गोसाई विट्ठलनाथ जी और गोकुलनाथ जी आदि की बैठके है। इस स्थान का सवध वल्लभ सप्रदाय के इतिहास की एक विशिष्ट घटना से भी रहा है। स० १६०५ के लगभग जब श्रीनाथ जी के मदिर के अधिकारी कृष्णदास ने गोसाई विट्ठलनाथ जी से झगडा कर उन्हे मदिर मे जाने से रोक दिया था, तब वे ६ महीने तक इसी स्थान पर रहे थे। उस काल मे वे विप्रयोगावस्था मे केवल दुग्धाहार करते हुए अहर्निश श्रीनाथ जी का स्मरण-ध्यान किया करते थे। उस समय उन्होने जो रचनाएँ की थी, वे 'विज्ञप्ति' और 'सवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी स्थल पर महात्मा सूरदास ने अपनी साहित्य-साधना की थी। यहाँ पर उनकी कुटी है और उनके बैठने का चबूतरा है। यही पर उनका देहावसान भी हुआ था। उत्तर प्रदेश सरकार ने यहाँ सूर-स्मारक के रूप मे सूरदास जी का सक्षिप्त परिचय युक्त एक शिलापट्ट स्थापित किया है।

इस पुण्य स्थल का नाम यहाँ के प्राचीन कु ड के कारण पडा है, जो 'चद्रसरोवर' कहलाता है। यह एक पक्का कु ड है, जो अष्टदल कमल के कलात्मक आकार का बनाया गया है। इसका पुनर्निर्माण जाट राजा सूरजमल के पुत्र जवाहरसिह ने स० १८११ मे किया था। इस समय यह जीर्णावस्था मे है। कु ड के ऊपर श्री चद्रबिहारी जी और श्री दाऊजी के मदिर है।

**परासोली**—चद्रसरोवर के समीप का यह गॉव परासोली कहलाता है, जो 'पलाश अवलि' का परिवर्तित रूप है। ऐसा अनुमान होता है, यहाँ किसी समय पलाश ( ढाक ) का बन था। मुसलमानी शासन मे इसका प्राचीन नाम बदल कर मुहम्मदपुर रखा गया था, जिसे बडे प्रयत्न के बाद बदला गया है। यह गाँव महात्मा सूरदास जी के निवास-स्थल के रूप मे प्रसिद्ध है। वे स०१५६८ मे गोबर्धन आये थे और स० १६४० के लगभग उनका देहावसान हुआ था। इस प्रकार वे ७० वर्ष

से भी अधिक काल तक इस स्थल पर रहे थे। इमी स्थान पर अष्टछाप के वयोवृद्ध भक्त-कवि कु भनदास और उनके सुपुत्र चतुर्भु जदास के खेत थे, जिन पर उनकी जीविका आधारित थी। इम प्रकार ब्रजभाषा के तीन विख्यात भक्त-कवियो से सबधित होने के कारण इम स्थान का महत्व स्वयसिद्ध है।

**जमुनावतौ**—यह चद्रसरोवर-परासोली के निकट का एक छोटा गॉव है। प्राचीन काल मे यहॉ यमुना नदी की धारा का प्रवाह था, जिसके कारण इस गॉव का नाम 'जमुनावतौ' हुआ है। अष्टछाप के भक्त-कवि कु भनदास और उनके पुत्र चतुर्भु जदास इसी गॉव के रहने वाले थे। उनके स्मारक स्वरूप यहॉ कु भनदास की वैठक, कु भन कूआ और कु भन तलाई है।

**पैठा**—गोवर्धन से सोख जाने वाली पक्की सडक पर पैठा नाम का गॉव है। इसके सबध मे यह किवदती है कि गोवर्धन को धारण करने के लिए श्रीकृष्ण ने उसके अदर जाने वाली यहॉ की एक कदरा मे प्रवेश किया था। इससे ज्ञात होता है, गिरिराज की कदराओ मे जाने के लिए यहॉ प्राचीन काल मे कोई भूमिगत मार्ग था। इसके समीप ही नारायण सरोवर और लक्ष्मी कूप नाम के तीर्थ है। श्री ग्राउस ने लिखा है, यहॉ चतुर्भु ज भगवान् का एक पुराना मदिर था, जिसे औरगजेब ने नष्ट करा दिया था। उसके बाद जो दूसरा मदिर बना, वह भी कालातर मे नष्ट हो गया था। इस गॉव मे कदब का एक ऐसा वृक्ष है, जो निचोडे हुए वस्त्र की तरह बल खाया हुआ है। इसे 'ऐठा कदब' कहते है। इस स्थल से कुछ दूर 'खेडा की कदमखडी' है। उससे आगे बच्छगॉव है, जहॉ कई तीर्थ है। इन स्थानो पर ब्रजयात्रा नही जाती है।

चद्रसरोवर और उसके निकटवर्ती तीर्थ स्थलो के दर्शन-स्नानादि के बाद ब्रज-यात्रा जतीपुरा पहुँच कर पडाव डालती है। चद्रसरोवर से जतीपुरा जाते समय यात्रा-मार्ग मे जो धार्मिक और दर्शनीय स्थल पडते है, उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**आन्यौर**—श्री गिरिराज जी की तलहटी मे बसा हुआ यह एक छोटा सा सु दर गॉव है। यही पर गिरिराज की एक कदरा से श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ था, अत यह स्थान वल्लभ सप्रदायी भक्तो के लिए अत्यत प्रिय रहा है। श्री वल्लभाचार्य जी जब गोवर्धन आये थे, तब वे इसी गॉव के सद्दू पाडे के निवास स्थान पर ठहरे थे और उन्होने श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की आरभिक व्यवस्था की थी। यहॉ सद्दू पाडे के घर मे श्री वल्लभाचार्य जी की वैठक है, जिसके मुखिया सद्दू पाडे के वशज है। इस स्थान के दूसरी ओर गिरिराज पहाडी की तलहटी मे जतीपुरा गॉव बसा हुआ है। दोनो के बीच मे एक पतला पहाडी मार्ग है। उसी के निकट श्रीनाथ जी का प्राकट्य स्थल है और उनका पुराना मदिर है।

**सकर्षण कु ड**—आन्यौर गॉव के बाहर कुछ दूरी पर यह कु ड है। स० १६४२ मे एक नीम वृक्ष के नीचे यहॉ कु भनदास जी का देहावसान हुआ था, अत यह उनका स्मारक स्थल है। यहॉ श्री सकर्षण जी ( दाऊजी ) का मदिर भी है।

**गोविद कु ड**—यह आन्यौर गॉव के समीप का एक बडा कु ड है। इससे सबधित पौराणिक अनुश्रुति है कि श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन धारण करने के उपरात पराजित इद्र ने यहॉ श्रीकृष्ण का पूजन-अभिषेक किया था। स० १६७६ मे इसे ओडछा के राजा वीरसिह देव ने पक्का बनवा दिया था। इस कु ड के किनारे पर श्री गोविददेव जी और श्री बलदेव जी के पुराने मदिर थे।

श्री ग्राउस ने लिखा है, उन मंदिरों को रानी पद्मावती ने बनवाया था। कुंड का जल कुष्ठ रोग के लिए अक्सीर माना जाता था। पुराने समय मे इस कुंड पर पिंडदान भी होते थे। यहाँ श्री गिरिराज जी और गोसाईं जी की बैठकें हैं।

**नागाजी की समाधि**—गोविंदकुंड से आगे वन मे ब्रज के संत श्री चतुरानन नागा की समाधि है। इसी स्थल पर नागा जी का देहावसान हुआ था।

**पूंछरी**—राजस्थान की सीमा का यह छोटा गाँव गिरिराज पहाडी की पश्चिम दिशा वाले अंतिम छोर पर स्थित है। गो स्वरूप श्री गिरिराज जी का मुख मानसी गंगा मे और पूंछ यहाँ पर मानी जाती है, इसीलिए इसे पूंछरी कहते हैं। गिरिराज जी की पूरी परिक्रमा ७ कोस की है, जिसके दो भाग हैं। पहिला भाग पूंछरी की परिक्रमा का है, जो ४ कोस का है। दूसरा भाग राधाकुंड की परिक्रमा का है, जो ३ कोस का है। पहिले भाग की परिक्रमा दानघाटी से आरंभ होकर पूंछरी तक जाती है और वहाँ से लौट कर फिर दानघाटी पर ही वापिस आ जाती है। इस प्रकार पूंछरी गिरिराज पहाडी का अंतिम छोर और एक महत्वपूर्ण धार्मिक स्थान है। इसके आस-पास कई प्राचीन दर्शनीय स्थल हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**अप्सरा कुंड**—पूंछरी के निकट सघन वृक्षावली से घिरा हुआ यह पुराना जलाशय है। इसके समीप 'नवल कुंड' है, जिसके एक ओर **'रामदास अथवा राघवदास की गुफा'** है और दूसरी ओर **'छीतस्वामी का स्थान'** है। रामदास चौहान श्रीनाथ जी के प्रथम पुजारी थे और वे इसी स्थल पर अपनी भक्ति-साधना किया करते थे। छीतस्वामी का निवास स्थान एक तमाल वृक्ष के नीचे था।

**पूंछरी की लौठा**—पूंछरी गाँव के बाहर एक छोटे से मंदिर मे एक पहलवान की सी मूर्ति है, जिसे 'पूंछरी का लौठा' कहा जाता है। हनुमान जी के समान सिंदूर चढा हुआ तथा काली-पीली रेखाओं और चमकदार पन्नी से अलंकृत उसका वेश बडा अद्भुत है। इस विचित्र मूर्ति का यथार्थ रहस्य अभी तक अज्ञात है। किंवदंती के अनुसार इसे श्री कृष्ण जी का गोप सखा और इस वन का रक्षक देवता माना जाता है।

**कृष्णदास का कूआ**—पूंछरी के निकट वन मे एक पुराना सूखा हुआ कूआ है, जिसे 'कृष्णदास का कूआ' कहा जाता है। वार्ता से ज्ञात होता है, श्रीनाथ जी मंदिर के अधिकारी और अष्टछाप के भक्त-कवि कृष्णदास जी की मृत्यु इसी कूए मे अकस्मात गिरने से हुई थी।

**सुरभी कुंड**—इस कुंड के तट पर तमाल वृक्ष के नीचे अष्टछाप के भक्त-कवि परमानंद-दास जी का निवास स्थान था। यहा पर उनके स्मारक बनाने का आयोजन हो रहा है।

## ६–जतीपुरा ( यात्रा का छठा मुकाम ) आश्विन कृ० ६ से १२ तक—

**जतीपुरा**—इसका पुराना नाम गोपालपुर है। यतिराज श्री माधवेन्द्र पुरी का निवास-स्थल होने से अथवा श्री गिरिधर जी ( यति जी ) के नाम पर इसे यतिपुरा अथवा जतीपुरा कहा जाने लगा। पुरी जी माध्व सम्प्रदाय के विरक्त धर्माचार्य थे, जो श्री वल्लभाचार्य जी से भी पहिले गोवर्धन मे आकर रहे थे और उन्होंने श्रीनाथ जी के प्राकट्य मे योग दिया था। यति नाम से प्रसिद्ध गिरिधर जी श्री वल्लभाचार्य जी के पौत्र और गो० विट्ठलनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। जब वल्लभ सम्प्रदाय के कारण श्रीनाथ जी का वैभव बढ गया तब जतीपुरा भी ब्रज का सुप्रसिद्ध धार्मिक—

स्थान हो गया था। वहाँ पर अनेक मदिर-देवालय निर्मित हुए और वस्ती वस गई। इस प्रकार यह स्थान वल्लभ सप्रदाय का एक प्रमुख केन्द्र वन गया था। औरगजेव की धर्मान्धता के कारण जव श्रीनाथ जी के स्वरूप को जतीपुरा से हटाना आवश्यक हो गया, तव इस स्थान का महत्व भी कम हो गया था।

इस स्थान मे वल्लभ सप्रदाय के अनेक प्राचीन स्मृति-स्थल है, जिनमे श्रीनाथ जी का पुराना मदिर, श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक, गोसाई जी का तुलसी क्यार, गिरिराज जी का मुखारविद, सातो स्वरूपो के मदिर, गोसाईयो की समाधियाँ, अष्टछाप के भक्त-कवियो के स्थान तथा कु ड-सरोवर आदि है। इनमे से कतिपय पुण्य स्थलो का सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

**श्रीनाथ जी का पुराना मदिर**—गिरिराज पहाडी की एक कदरा से श्रीनाथ जी के स्वरूप का प्राकट्य होने पर अम्वाला के पूरनमल खत्री ने इस मदिर का निर्माण स० १५५६ की वैशाख शु० ३ ( अक्षय तृतीया ) को कराया था। कई कारणो से वह मदिर पूरा नही वन सका, अत श्री वल्लभाचार्य जी ने स० १५६४ मे श्रीनाथ जी को उस अधूरे मदिर मे ही विराजमान कर दिया था। वाद मे स० १५७६ मे वह मदिर पूरा हुआ था। तव उक्त सवत् की अक्षय तृतीया को एक वडा धार्मिक समारोह किया गया। वल्लभ सप्रदाय के आरभिक प्रचार मे इस मदिर का वडा योग रहा है। औरगजेव ने स० १७७६ मे उस मदिर का ध्वस कराया था। उस आपत्ति काल मे श्रीनाथ जी के स्वरूप को वहाँ से हटा कर गुप्त रूप से मेवाड भेज दिया था। उनके साथ वल्लभ सप्रदाय के अन्य देव-विग्रह भी व्रज से स्थानान्तरित कर दिये गये थे। तव से वह मदिर ध्वसावस्था मे पडा हुआ है। इसमे कई पुराने चिन्ह अभी तक विद्यमान है।

**श्री गिरिराज जी का मुखारविंद**—यह एक प्राकृतिक शिला खड है, जिसकी सेवा-पूजा यहाँ वडी श्रद्धा-भक्ति के साथ की जाती है। इस पर दर्शनार्थियो द्वारा प्रति दिन इतना दूध चढाया जाता है कि वह भूमि पर वहता रहता है। वल्लभ सप्रदाय की मान्यता है कि इसी स्थान पर नदराय जी ने इद्र की पूजा वद कर गिरिराज की पूजा का आयोजन किया था। उस समय जो प्रचुर सामग्री का भोग लगाया गया था, उसे स्वय श्रीकृष्ण ने गिरिराज के रूप मे आरोगा था। इसीलिए गिरिराज पहाडी को श्रीकृष्ण का ही स्वरूप माना जाता है। श्री सूरदास ने कहा है—**"गिरिवर स्याम की अनुहारि। करत भोजन अधिक रुचि सो, सहस भुजा पसारि॥"** जव जतीपुरा मे यात्रा का मुकाम होता है, तव मुखारविद का मनोहर शृ गार कर उन्हे वृहद् भोग धराया जाता है, जिसे 'कुनवाडा'[1] कहते है। यह उत्सव गोवर्धन-पूजा की स्मृति मे किया जाता है। मुखारविद का दूसरा नाम 'पूजनीय शिला' भी है। उसके निकट 'सु दर शिला' है, जिसे श्रीकृष्ण के खेलने का स्थान माना जाता है,—**सु दर सिला खेल की ठौर।"**

**गोसाई जी का तुलसी क्यार**—मुखारविंद के समीप गिरिराज की एक कंदरा मे गोसाई विट्ठलनाथ जी का तिरोधान हुआ था। यह उक्त स्मृति का पुण्य स्थल है।

---

(१) कुनवाडा का विस्तृत वर्णन 'वल्लभ प्रकाश' के 'व्रजयात्रा अक' का परिशिष्ट, पृष्ठ १४ मे देखिये।

श्रीनाथ जी का स्वरूप
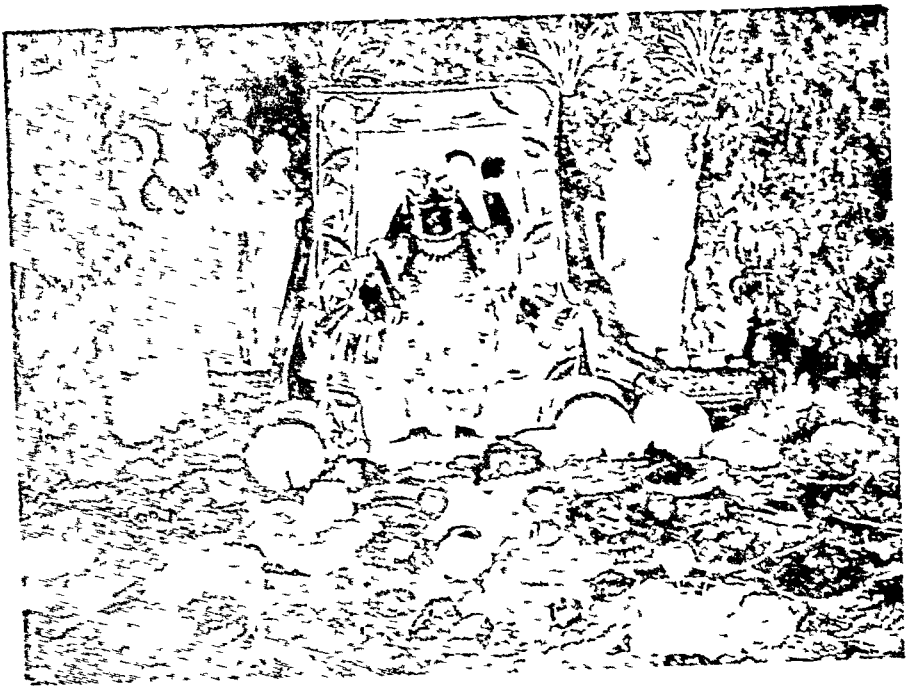
श्रीनाथ जी के रूप मे गिरिराज जी के मुखारविंद का 'कुनवाडा'

**सात स्वरूपो के मदिर**—वल्लभ सप्रदाय की सुप्रसिद्ध सातो गद्दियो के यहाँ मदिर-देवालय है । इनमे श्री मथुरानाथ जी के मदिर मे गोसाई जी की और श्री गोकुलनाथ जी के मदिर मे गोकुलनाथ जी की बैठके है । श्री मथुरेश जी का प्राचीन स्वरूप, जो औरगजेव के काल मे कोटा चला गया था, अव जतीपुरा के मदिर मे ही विराजमान है ।

**श्यामढाक**—यह एक सु दर सघन वन खड है । यहाँ के कदव वृक्षो के पत्ते दोना की तरह मुडे हुए होते है । यहाँ पर रास चवूतरा आदि कई दर्शनीय स्थल है ।

**हरजी कु ड**—जतीपुरा के इस कु ड का सबध श्रीनाथ जी के एक सखा हरजी गोप से वतलाया जाता है, किंतु ऐतिहासिक शोध से यह अनुश्रुति ठीक नही है । हरजी एक गूजर था, जो भरतपुर के जाट राजा सूरजमल का वीर सरदार था । उसने दिल्ली की चढाई मे वडी वीरता प्रदर्शित की थी, जिसके उपलक्ष मे राजा ने उसे ससन्मान प्रभूत द्रव्य प्रदान किया था । उक्त वीर पुरुप ही ने इस जलाशय को वनवाया था ।

**गोस्वामियो की समाधियाँ**—जतीपुरा के एक कौने पर गिरिराज की तलहटी मे अनेक छोटे-वडे थामले है, जो वल्लभ सप्रदायी गोस्वामियो की फूल-समाधियाँ है । इनमे सवसे प्राचीन समाधि गो० वडे दाऊजी की है ।

**ताज का चबूतरा**—अकवर की वेगम और व्रजभाषा की भक्त-कवयित्री ताज बीबी का इसी स्थल पर देहावमान होने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है । मृत्यु से पहिले उसने श्रीनाथ जी के समक्ष जिस 'धमार' का गायन किया था, उसकी टेक इस प्रकार है—**'बहुरि ढफ बाजन लागे हेली'** ।

**गोबिद स्वामी की कदमखडी**—जतीपुरा गाँव के वाहर सघन वृक्षो का एक रमणीक स्थल है, जहाँ किसी समय कदम के वृक्षो की वहुतायत थी । यहाँ अष्टछाप के भक्त-कवि गोविद स्वामी का निवास स्थल था । इसके निकट 'ऐरावत कु ड' नामक एक जीर्ण तालाव है ।

**रुद्र कु ड**—इस कु ड के तट पर इमली के वृक्ष के नीचे अष्टछाप के कवि चतुर्भु जदास का देहावसान हुआ था । उसी स्मृति मे यहाँ उनका स्मारक वनाया गया है । उसके निकट यादवेन्द्र-दास का कूआ है ।

**बिलछू कु ड**—यह प्राचीन रास-स्थल है और यहाँ श्री हरिदेव जी मूर्ति प्राप्त हुई थी । अधिकारी कृष्णदास का यह निवास-स्थल था । इसके निकटवर्ती वन मे अनेक प्रकार के विचित्र पशु-पक्षी होते थे, जिनकी नस्ल अव समाप्त होती जा रही है ।

जतीपुरा मे यात्रा का मुकाम प्राय एक सप्ताह का होता है । उस अवधि मे वहाँ अनेक समारोह होते है, जिनमे से निम्नलिखित उल्लेखनीय है—

१ श्री गिरिराज जी की परिक्रमा, २ विलछू वन और श्यामढाक का रास, ३ गोविद स्वामी की कदमखडी मे झूलोत्सव तथा ४, गुलाल कु ड पर होलिकोत्सव ।

इन उत्सव–समारोहो के कारण यात्रा मे कई दिनो तक वडी चहल–पहल रहती है । इनसे यात्रियो को व्रज के आनददायी लोकरजक रूप के देखने का सुयोग प्राप्त होता है ।

**अष्टछाप के पुण्य स्थल**—ब्रज साहित्य के सुप्रसिद्ध भक्त-कवि और बल्लभ-सम्प्रदाय के आरभिक कीर्तनकार अष्टछापी महानुभावो के स्मृति-स्थल जतीपुरा मे विद्यमान है। उनका सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

१ **महात्मा सूरदास जी**—उनका निवास परासौली-चद्रसरोवर के जिस स्थल पर था, और जहाँ उन्होने अपनी काव्य-साधना की थी, वहाँ उनके स्मारक स्वरूप एक कुटिया बनी हुई है। सूरदास जी ने वहाँ स० १५६७ से स० १६४० तक प्राय ७३ वर्ष के दीर्घ काल तक निवास किया था। उस कुटी के निकटवर्ती एक चबूतरे पर वृक्ष के नीचे उनका देहावसान हुआ था। उत्तर प्रदेश सरकार ने उनके स्मारक मे उस चबूतरा पर उनके रेखा-चित्र और सक्षिप्त परिचय सहित एक शिलाखड स्थापित किया है।

२ **श्री कु भनदास जी**—उनका निवास स्थान जमुनावतौ गाँव मे था, जो चद्रसरोवर के निकट है। उसके समीपवर्ती परासोली गाँव मे उनके खेत थे। आन्यौर के पास वाले सकर्षण कु ड पर उनका निधन हुआ था। उनका स्मारक जमुनावतौ गाँव मे बनाया गया है।

३ **श्री कृष्णदास जी**—जतीपुरा के निकटवर्ती बिलछूवन मे एक श्याम तमाल वृक्ष के नीचे उनका निवास स्थल था और पू छरी के निकट एक सूखे कूए मे गिर कर उनकी मृत्यु हुई थी। उनके स्मारक स्वरूप बिलछू वन मे एक चबूतरा है। जहाँ उनकी मृत्यु हुई थी, वह कूआ अभी तक विद्यमान है।

४ **श्री परमानददास जी**—जतीपुरा के निकटवर्ती सुरभीकु ड पर एक तमाल वृक्ष के नीचे उनका साधना-स्थल था और वहाँ पर ही उनका निधन हुआ था। उस प्राचीन तमाल वृक्ष के स्थान पर उनके स्मारक मे नया तमाल का वृक्ष लगाया गया है।

५ **श्री गोविदस्वामी जी**—सुरभीकु ड से थोडा आगे एक वन स्थली है, जिसे गोविदस्वामी की कदमखडी कहते है। वहाँ एक टीले के नीचे की कदरा मे उनका साधना स्थल था और वही पर उनका देहावसान भी हुआ था। पहिले यह कदमखडी अत्यत सघन और रमणीक थी, किंतु गाँव के समीप होने से उसका वह सु दर रूप अब नही रहा। उनके स्मारक मे वहाँ उनकी समाधि बनी है।

६ **श्री छीतस्वामी जी**—वे मथुरा के निवासी थे, जहाँ उनका मकान बताया जाता है। उनका साधना स्थल पू छरी गाँव के समीपवर्ती नवल अप्सरा कु ड पर एक श्याम तमाल वृक्ष के नीचे था। वह स्थल 'रामदास की गुफा' के निकट है। वहाँ उनका स्मारक बनाने की योजना है।

७ **श्री चतुर्भु जदास जी**—वे कु भनदास जी के पुत्र थे, अत उनका निवास स्थान और खेत उनके पिता की भाँति क्रमश जमुनावतौ और परासोली गाँवो मे थे। उनका निधन रुद्रकु ड पर एक इमली वृक्ष के नीचे हुआ था। उक्त कु ड जतीपुरा के निकट गुलालकु ड जाने वाले मार्ग पर है। वहाँ एक पुराना इमली का वृक्ष है, जिसे उनका स्मारक चिन्ह समझा जाता है। उस स्थल पर उनका नवीन स्मारक बनाया गया है।

८ **श्री नददास जी**—उनका साधना-स्थल गोवर्धन गाँव मे मनसा देवी मदिर के नीचे और मानसी गगा के तटवर्ती एक पीपल वृक्ष की छाया मे था। वही पर उनका निधन भी हुआ था। इस समय भी उक्त स्थल पर एक पीपल वृक्ष है, जो उनके स्मारक-चिन्ह का सूचक है। नददास जी के समय मे वह एकात स्थल था, किंतु अब वहाँ बस्ती बस गई है और मकान बन गये है।

जतीपुरा से आगे डीग जाते समय यात्रा मार्ग मे जो दर्शनीय स्थल पडते है, उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**गुलाल कुंड**—यह कु ड जतीपुरा से २ मील पश्चिम की ओर डीग की सडक के किनारे पर है। ऐसी किवदती है कि श्री कृष्ण और गोप-गोपियो के होली खेलने से रग-गुलाल के कारण यहाँ की भूमि लाल हो गई थी, इसीलिए इसे गुलाल कु ड कहा जाने लगा। यात्रा के अवसर पर अब भी यहाँ पर होलिकोत्सव होता है। किसी समय यहाँ पर श्रीनाथ जी की गायो के खिरक थे। उनकी देख-रेख के लिए यहाँ जो ग्वाले रहते थे, उनमे गोपीनाथ, गोपाल, कृष्णदास और गगा के नाम प्रसिद्ध है। उनके नामो का उल्लेख बल्लभ सप्रदायी वार्ताओ मे भी हुआ है।

**गाठोली**—गुलाल कु ड के समीप यह छोटा सा गॉव है। यवन आक्रमणकारियो के आतक के कारण श्रीनाथ जी को यहाँ छिपा कर रखा गया था। उसी समय चैतन्य महाप्रभु ने यहाँ पर श्रीनाथ जी के दर्शन किये थे, क्यो कि वे भगवत् रूप गिरिराज पर चरण रख कर उनके मदिर मे दर्शनार्थ नही जाना चाहते थे। इस गॉव की 'पाथो गूजरी' और 'श्याम पखावजी' का उल्लेख वार्ता मे मिलता है। श्याम और उसकी पुत्री ललिता दोनो बडे कला कुशल थे। श्याम पखावज बजाता था और ललिता वीणा बजाती थी। वे दोनो श्रीनाथ जी के कीर्तन मे अष्टछाप के गायको साथ वाद्यो की सगत करते थे।

**टोड का घना**—यह सघन वन गाटौली से ४ मील आगे है। यहाँ की काटेदार झाडियो मे यवन आतक के कारण श्रीनाथ जी को छिपाया गया था। उसी घटना का उल्लेख करते हुए कु भन-दास जी ने गाया था— 'भावहि तोहि टोड कौ घनौ'। यहाँ का मार्ग अब भी क्रटकाकीर्ण है।

जतीपुरा से उठ कर यात्रा गाठोली, टोड का घना और बहज होकर डीग ( दीग या दीर्घ पुर ) पहुँचती है और वहाँ पडाव डालती है। अब तक यात्रा के मुकाम उत्तर प्रदेश राज्य के मथुरा जिला मे थे। डीग से यात्रा राजस्थान के पुराने भरतपुर राज्य की सीमा मे मुकाम करती है।

## ७—डीग ( यात्रा का सातवाँ मुकाम ) मि० आश्विन कृ० १३, १४—

**डीग**- यह राजस्थान का पूर्वी सीमावर्ती एक ऐतिहासिक स्थान है। इसका पुराना नाम 'दीर्घपुर' कहा जाता है। जाटो के नेता ठाकर बदनसिह और उसके प्रतापी पुत्र राजा सूरजमल ने इसको नये रूप मे बसा कर अपनी राजधानी का महत्व प्रदान किया था। भरतपुर दुर्ग के बनने से पहिले तक डीग नगर ही जाट शासन का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ पर एक सुदृढ दुर्ग है, जिसकी ऊँची दीवारे और उन पर जहाँ-तहाँ बने हुए बडे-बडे बुर्ज जाट राजाओ की नगर-सुरक्षा के प्रति सतर्कता के साक्षी है। इस विशाल दुर्ग के चारो ओर गहरी खाई है, जिसमे जल भरा रहता है।

डीग के राज महल भी अत्यत कलापूर्ण और सु दर है। इनके अलकरण मे जाट नरेशो ने अपने दिल्ली-अभियान मे उपलब्ध प्रभूत द्रव्य का उपयोग किया था। इन राज भवनो मे 'गोपाल भवन' और 'सूरज भवन' प्रधान है, जिनमे विजय-अभियान मे प्राप्त अनेक मूल्यवान वस्तुएँ सम्हाल कर रखी गई है। भवनो के चारो ओर का उपवन भी बडा सुदर है। उसके दोनो ओर दो विशाल पक्के सरोवर है, जो 'रूप सागर' और 'गोपाल सागर' कहलाते है। डीग भवनो के फव्वारे प्रसिद्ध है। इनके लिए पानी का बहुत बडा हौज बनाया गया है, जिसमे बहु सख्यक छिद्रो वाले अनेक नल है। उनसे विविध रगो के फव्वारे चलाये जाते थे, जो एक रोचक कला-कौशल का काम था। इन भवनो

में मुगलों के शाही महलों की तरह ही संगमरमर पर बढ़िया मीनाकारी पत्थरों की पच्चीकारी का काम किया गया है। इमारतों में पत्थर की जाली और कटाव का काम भी कलापूर्ण है। यहाँ दिल्ली की बेगम का सुन्दर झूला तथा मेवाड़ का शाही पलंग भी दर्शनीय वस्तुएँ हैं। इन्हें देखने के लिए भादों की अमावस्या को एक बड़ा मेला लगता है।

यहाँ पर लोहे की वस्तुएँ बनाने की कारीगरी बहुत समय से चली आती है। नगर में अनेक पुरानी इमारतें मंदिर और तालाब हैं। उसके चारों ओर पक्की खाइयाँ हैं तथा मिट्टी का ऊँचा धूलकोट है। इसे ब्रज-वीरों के पराक्रम का स्मारक स्थल भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। यहाँ पर साक्षी गोपाल जी लक्ष्मण जी और दाऊजी के मंदिर हैं।

इस स्थान से चल कर यात्रा आदि बद्री परमदरा ( सुदामा जी का गाँव ) होकर सेऊ गाँव ( सैन सरोवर ) अथवा घाटा ( आनन्दाद्रि ) पर मुकाम करती है। आदि बद्री से पहिले पश्चिम के पहाड़ी मार्ग में बूढ़े बद्री का धार्मिक स्थल है किंतु वह काफी दूर पड़ता है।

## ८—घाटा ( ब्रज-यात्रा का आठवाँ मुकाम ) मि० आश्विन कृ० ३०—

**घाटा**—इसे आनंदाद्रि भी कहते हैं। यह कामवन का एक पहाड़ी मुकाम है, जो दो पहाड़ियों के बीच में से निकलने वाली सड़क पर स्थित है। यहाँ पर कामवन के वल्लभ सम्प्रदायी गोस्वामियों का सुंदर बाग है। उसमें गोस्वामियों के रहने के मकान धर्मशाला और कुंड हैं। यह अत्यंत स्वास्थ्यप्रद निवास-स्थल है।

यहाँ पर यात्रा एक दिन मुकाम करती है। फिर वह इन्द्रौली होती हुई कामवन में पहुँच कर पड़ाव डालती है।

## ९—कामवन ( ब्रज-यात्रा का नौवां मुकाम ) मि० आश्विन शु० १ व २—

**कामवन**—ब्रज के पुराणप्रसिद्ध बारह वनों में यह पाँचवा वन है। इस समय यह एक धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक स्थान है, जो डीग से १३ मील और मथुरा से प्रायः ३७ मील दूर राजस्थान के भरतपुर जिला में है। इसे आजकल कामा भी कहते हैं किंतु इसका प्राचीन नाम कामवन या काम्यवन है। एक काम्यवन का उल्लेख महाभारत में भी हुआ है जहाँ पांडवों ने वनवास-काल में निवास किया था। वह कुरुजांगल प्रदेश में संलग्न एक बीहड़ वन था। उसकी भौगोलिक स्थिति के अनुसार वह वर्तमान कामवन से पृथक् ज्ञात होता है। महाभारत के काम्यवन को वर्तमान कामवन से तभी मिलाया जा सकता है, जब कुरुजांगल प्रदेश की सीमा कामवन तक मानी जाय। वैसे वर्तमान कामवन में भी महाभारत काल के अवशेष माने जाते हैं। यहाँ पाँचों पाँडवों की मूर्तियाँ स्थापित हैं तथा धर्मराज युधिष्ठिर के नाम पर 'धर्म कूप' और 'धर्म कुंड' हैं। इससे समझा जा सकता है कि इस स्थान का पांडवों से घनिष्ट संबंध रहा है। ऐसी दशा में इसे महाभारत का काम्यवन भी माना जा सकता है।

कामवन की पहाड़ी में श्रीकृष्ण की बाल-लीला से संबंधित कई प्राचीन चिन्ह हैं जिनमें खिसलनी शिला और भोजन थाली ( भोजन स्थली ) उल्लेखनीय हैं। उनसे ज्ञात होता है कि यह स्थान उस काल के सुविस्तृत वृंदावन का एक भाग था। कृष्णकालीन वृंदावन वर्तमान गोवर्धन से नंदगाँव बरसाना और कामवन तक का एक विशाल वन्य प्रदेश था जहाँ श्री कृष्ण गोप-बालकों के साथ गो-चारण करते हुए विचरण किया करते थे।

यहाँ पुरानी ऐतिहासिक इमारतो के अवशेप भी अत्यधिक सख्या मे मिलते है, जो छटी से दमवी शती तक के है। उनसे ज्ञात होता है कि उस काल मे यह एक समृद्धिशाली नगर था। यहाँ के प्राचीन मदिरो और मूर्तियो के अवशेपो से इस स्थान की उन्नत प्राचीन कला के दर्शन होते है। यहाँ पर ८४ मदिर, ८४ कुड, ८४ खभे और ७ दरवाजे प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त तथ्यो से सिद्ध होता है कि धार्मिक, सास्कृतिक और ऐतिहासिक सभी दृष्टियो से कामवन व्रज का अत्यत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यहाँ पर जो वहुसख्यक प्राचीन देवस्थान और तीर्थस्थल है, उनमे से कुछ का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**कामेश्वर मदिर**—व्रज के प्रधान महादेवो मे श्री कामेश्वर की भी गणना की जाती है। इस स्थान के प्राचीन देवता होने के कारण कामेश्वरनाथ जी के इस मदिर का ऐतिहासिक महत्व है। उक्त मदिर मे शिव की विशाल प्रतिमा है। उसके साथ ही इसमे सूर्य, वलराम, कार्तिकेय, गणेश आदि देवताओ की कलापूर्ण मूर्तियाँ भी है। इनका निर्माण-काल छटी से दसवी शती तक का माना जाता है।

**चौरासी खभा**—यहाँ की पहाडी पर स्थित किसी प्राचीन विशाल विष्णु मदिर का यह ध्वसावशेप है। उक्त मदिर के सभा मडप मे वहुसख्यक स्तभ थे, जिनमे से कितने ही अव भी विद्यमान है। इनके कारण ही इसे 'चौरासी खभा' का नाम प्राप्त हुआ है

**व्योमासुर की गुफा**—वस्ती के वाहर पश्चिमोत्तर कौने की पहाडी मे एक गुफा है, जिसे व्योमासुर की गुफा कहा जाता है। उस असुर का सहार श्री कृष्ण द्वारा किये जाने की किवदती प्रसिद्ध है। वैसे यह कदाचित उस किर्मीर राक्षस की गुफा है, जिसे काम्यवन मे प्रवेश करते समय भीमसेन ने मारा था। इस प्रकार कामवन का महाभारत के काम्यवन से साम्य होने की पुष्टि होती है।

**पच पाडव**—कामेश्वर मदिर के निकटवर्ती ऊचे टीले पर एक पुराने मदिर मे पाँचो पाडवो की मूर्तियाँ है। उनके साथ ही कृष्ण, कुती और द्रोपदी की प्रतिमाएँ भी है, जो उत्तर गुप्त काल की है। यवन आक्रमण के समय उन्हे भूमि मे गाढ दिया गया था, अत वे वच गई थी।

**विविध देव मूर्तियाँ और देव स्थान**—यहाँ वराह भगवान् और वृदा देवी की भी प्राचीन मूर्तियाँ है। वृदा देवी की मूर्ति यवन आक्रमण काल मे वृदावन से लाकर यहाँ स्थापित की गई थी। यहाँ के श्री गोविद देव जी और श्री गोपीनाथ जी के मदिर भी व्रज की प्राचीन स्थापत्य कला के परिचायक है।

कामवन मे वल्लभ सप्रदाय की पाँचवी गद्दी का केन्द्र है, अत यहाँ पर इस सप्रदाय के मदिर और गोस्वामियो की हवेलियाँ है। मदिरो मे श्री गोकुलचद्रमा जी और श्री मदनमोहन जी के मदिर उल्लेखनीय है। इनमे ठाकुर जी की सेवा-पूजा पुष्टिमार्गीय विधि के अनुसार होती है। चैतन्य सप्रदायी मदिरो मे श्री गोविददेव जी, उनके साथ श्री वृदादेवी जी, श्री गोपीनाथ जी और श्री मदनमोहन जी के देव स्थान है।

**श्री गोकुलचद्रमाजी**—यह गोसाई विट्ठलनाथ जी के पचम पुत्र श्री रघुनाथ जी के सेव्य स्वरूप है, जिनका कामवन मे प्रसिद्ध मदिर है। इसमे जो और स्वरूप विराजते है, उनके नाम श्री नवनीत प्रिय जी, श्री लाड़िलेश जी और श्री ललित त्रिभगी जी है।

**श्री मदनमोहन जी**—यह वल्लभ सप्रदाय की सातवी गद्दी के निधि स्वरूप है। गोस्वाई जी के सातवे पुत्र श्री घनश्याम जी के सेव्य स्वरूप श्री वालकृष्ण जी इसी मदिर मे विराजते है।

**कु ड, सरोवर, कूपादि**—कामवन क्षेत्र मे प्राचीन कु ड–सरोवरो की इतनी अधिकता है, जितनी ब्रज के किसी अन्य स्थान मे शायद ही हो। कवि जगतनद ने अपने 'ब्रज वस्तु वर्णन' ग्रथ मे वतलाया है कि ब्रजमंडल के १५९ कु डो मे से ८४ केवल कामवन मे ह। यहाँ के प्रमुख जलाशयो के नाम विमला कु ड, गोपिका कु ड, सुवर्ण कु ड, गया कु ड, धर्म कु ड, मणिकर्णिका कु ट, यशोदा कु ड, मनोकामना कु ड, समुद्रसेतुवध कु ड, तप्त कु ड, जलविहार कु ट, वलभद्र कु ट, चतुर्भु ज-कु ड, गोविद कु ड, वराह कु ड, सहस्रतीर्थ सरोवर, पचतीर्थ सरोवर, धर्म कूप, कृष्ण कूप, राधा पुष्करिणी, ललिता--विशाखा पुष्करिणी आदि हे।

**विमला कु ड**—यह कामवन का सर्वाधिक प्रसिद्व कु ड है, जो नगर से २ फर्लां ग दूर उसके दक्षिण--पश्चिम कौने मे स्थित है। इसके चारो ओर पक्के घाट वने हुए है। उनके किनारो पर पुरानी छतरियाँ और मदिर है। छतरियाँ यहाँ के प्रसिद्ध व्यक्तियो की समाधि के रूप मे वनाई गई है। मदिरो मे श्री दाऊजी, सूर्यदेव, नीलकठेश्वर महादेव, गोवर्धननाथ, मदनगोपाल, कामवनविहारी, विमलविहारी, विमलादेवी आदि के हे। इस कु ड मे स्नान कर चतुर्भु ज भगवान् के दर्शन करने का माहात्म्य है।

**धर्म कु ड**—यहाँ के एक वाग के अदर 'धर्मकु ड' है और उसके निकट ही 'धर्मकूप' हे। कूए की दीवालो मे तथा कु ड के समीप पुरानी मूर्तियाँ और भग्नावशेषो को चुन दिया गया है।

कामवन की स्थानीय परिक्रमा भाद्रपद शु० १ को होती हे। इस परिक्रमा का परिमाण ७ कोस का है। यहाँ पर यात्रा तीन दिनो तक ठहरती हे। यात्रीगण दो दिनो तक निकटवर्ती तीर्थो की यात्रा करते है। प्रथम दिन 'चरणपहाडी' की यात्रा की जाती हे और दूसरे दिन यात्री 'भोजन-याली' की यात्रा करते है। वहाँ से प्रति दिन वे सायकाल को कामवन वापिस आ जाते है।

**चरण पहाडी**—यह एक दर्शनीय स्थल है। यहाँ पर श्री कृष्ण के चरण-चिन्ह होने की मान्यता है। **'भोजन थाली' (भोजन स्थली)** नामक स्थान मे श्री कृष्ण और गोप वालको द्वारा वन मे छाक आरोगने की भावना है।

कामवन से यात्रा कनवारा होती हुई सुनहरा गाँव जाती हे, जहाँ राजस्थान की सीमा समाप्त होती है। फिर वह उत्तर-प्रदेश के मथुरा जिला मे प्रवेश करती है। यहाँ से यात्रा सुनहरा की कदमखडी, स्वर्णगिरि पहाडी, चित्र--विचित्र शिला, देह कु ड, ऊचागाँव, गेदोखर, राधावाग, पीरी पोखर ( प्रिया सरोवर ) आदि देवस्थान, लीला स्थल और तीर्थो के दर्शन--स्नानादि करती हुई वरसाने पहुँच कर पडाव डालती है।

## १०–बरसाना (यात्रा का दसवाँ मुकाम) मि० आश्विन शु० ३, ४, ५—

**बरसाना**—यह ब्रज का अत्यत रमणीक और पुनीत धार्मिक स्थान है। इसे श्री राधाजी का निवास स्थल और उनके पिता वृषभानु गोप का गाँव माना जाता है। इस प्रकार यह ब्रज का अत्यत प्राचीन स्थान है। कस के आतक से जव गोप समुदाय ने गोकुल छोडकर वृ दावन मे निवास किया, तव उन्हे इद्र के कोप के कारण भीषण वर्षा से कष्ट उठाना पडा था। उस समय उन्होने

गिरिराज पहाडी पर शरण लेकर अपनी रक्षा की थी। उसके बाद गोपो के विभिन्न दल सुविस्तृत वृ दावन मे दूर-दूर तक फैल गये और उन्होने विभिन्न पहाडियो पर अपनी वस्तियाँ वसाई थी। नदराय गोप का दल जिस पहाडी पर वसा था, उसे नदिग्राम अथवा नदगाँव कहा जाने लगा तथा वृपभानु गोप के दल का पहाडी आवास वृपभानुपुर, वृहत्सानु अथवा वरसाना के नामो से प्रसिद्ध हुआ। पहाडी के ऊपर से देखने पर ब्रज की प्राकृतिक छटा का मनोरम दृश्य दिखलाई देता है। इसके एक ओर नदगाँव की तथा दूसरी ओर कामवन की पहाडियाँ है और उनके बीच मे ब्रज की शस्य श्यामला हरित भूमि एव उसके वन-उपवन, कु ड-सरोवर, लता-गुल्मादि की अनुपम शोभा बिखरी हुई है, जो दर्शक के मन को मोह लेती है।

ब्रज मे गिरिराज, वरसाना और नदगाँव की तीन पहाडियाँ प्रसिद्ध ह, जिन्हे त्रिदेव के रूप मे पूज्य माना जाता है। यह आश्चर्य की बात है, इनके पापाण के रग भी त्रिदेव के रगो के ही समान है। गिरिराज विष्णु रूप है, जिसका रग श्याम है, बरसाना ब्रह्म रूप है, जिसका रग श्वेत है और नदगाव रुद्र रूप है, जिसका रग अरुणिमायुक्त है। ब्रह्म स्वरूप वरसाना पहाडी के चतुर्मु ख रूप चार शिखर है, जिनके नाम दानगढ, मानगढ, विलासगढ और मोरकुटी है।

राधा-कृष्ण की वाल क्रीडाओ का कमनीय केन्द्र होने के कारण बरसाना और नदगाँव का निकटवर्ती क्षेत्र ब्रज का हृदय-स्थल है। ब्रज सस्कृति के स्वाभाविक स्वरूप की मनोहर झाकी इसी भू-भाग मे देखने को मिलती है। यहाँ के ब्रजवासियो के रहन-सहन, आचार-विचार, वेप-भूपा और उनकी बोली-भापा का अजस्र प्रवाह ही ब्रज के लोक-जीवन को सदा से रस-सिक्त करता रहा है।

**लाडिली जी का मदिर**—कृष्ण-काल मे श्री वृपभानु गोप वरसाना की पहाडी पर अपनी लाडिली पुत्री राधा और अपने परिवार के साथ रहते थे। उसी की स्मृति मे यहाँ श्री राधा जी का मदिर वनाया गया है, जिसे 'लाड़िली जी का भवन' कहते है। पहाडी के ओर-पास तथा उसकी गोद मे वर्तमान वस्ती वसी हुई है, जो मदिर के ऊपर से देखने पर वडी सु दर मालूम होती है। यहाँ पर लाडिली जी का सबसे पुराना मदिर कब बना, इसका उल्लेख प्राप्त नही होता है। इस समय पुराने मंदिर के नाम से जो देवालय विद्यमान है, उसकी नीव ओरछा के राजा वीरसिह देव ने अपने अन्य निर्माण कार्यो के साथ स० १६७५ की माघ शु० ५ को रखी थी। इस प्रकार वह मदिर स०१६८० के लगभग वना होगा। उसी के समीप का नया सु दर मदिर अब से कुछ वर्प पहिले ही वना है। उसके निर्माण कराने का श्रेय वृ दावन निवासी भक्तवर सेठ हरगूलाल को है। यह मदिर पुराने मदिर से वडा और अधिक कलापूर्ण है। पहाडी के नीचे से ऊपर तक सगीन सीडियाँ बनाई गई है, जिनके कारण मदिर तक पहुँचने मे सुविधा हो गई है। मदिर मे सगमरमर का फर्श है और उसकी दीवालो पर विविध लीलाओ के चित्र है। जगमोहन मे नीचे के प्रागण मे सगमरमर की एक सु दर छतरी है, जिसे **'श्रीजी की वैठक'** कहते है। श्रावणी तीज का उत्सव इसी स्थान पर होता है। उस समय श्री लाडिली जी का देव-विग्रह मदिर से लाकर इस छतरी मे विराजमान किया जाता है।

**बरसाने के निकटवर्ती लीला-स्थल**—वरसाना क्षेत्र मे चारो ओर अनेक लीला-स्थल और धार्मिक स्थान विद्यमान है। वरसाना मे मुकाम करने पर यात्रीगण इन पुनीत स्थलो की यात्रा करते है। उनमे से कुछ का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**विलासगढ**—यह पहाडी श्री राधा-कृष्ण के विलास की क्रीडा-स्थली है। यहाँ पर श्री राधा जी का प्रमुख मदिर है।

**दानगढ**—इस पहाडी पर श्रीकृष्ण अपने वाल सखाओ के साथ वरसाने की गोपियो को रोकते थे और उनसे दूध-दही का दान (कर) प्राप्त करते थे।

**मानगढ**—इस पहाडी पर श्री कृष्ण से रुष्ट होकर राधा जी ने मान किया था, तव कृष्ण जी ने नृत्य द्वारा उन्हे प्रसन्न किया था।

**मोरकुटी**—इस पहाडी पर श्री कृष्ण ने मयूर नृत्य के कलात्मक अभिनय द्वारा मानिनी राधा को मत्रमुग्ध किया था। यहाँ पर राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप वाले चित्र की सेवा की जाती है। राधावल्लभ सप्रदाय के भक्त कवि नेही नागरीदास जी की यह भजन-स्थली है। ऐसी प्रसिद्धि है कि एक सिह उनकी कुटी पर रहता था, जो कुत्ता की भाँति सदैव उनके पीछे लगा फिरता था। नागरीदास जी ने रानी भागमती की सहायता से वरसाने मे श्री राधा जी का मदिर वनवाया था।

**साँकरी खोर**—विलासगढ और दानगढ की पहाडियो के वीच मे एक सकीर्ण गली है, जिसे 'साँकरी खोर' कहते है। वरसाने की गोपियाँ इसी मार्ग से दूध-दही वेचने जाया करती थी। श्री कृष्ण के साथी गोप-वालक इसी स्थल पर उन्हे रोक कर वालसुलभ नटखटी करते थे। यहाँ पर भाद्रपद शु० १३ को **'मटकी फोरनी लीला'** का उत्सव होता है। आश्विन मास मे जव व्रज-यात्रा यहाँ आती है, तव दान लीला का रास भी होता है।

**गह्वर वन**—मोरकुटी के नीचे के पहाडी अचल मे एक सु दर सघन वन है, जिसे 'गह्वर वन' कहते है। यह श्री राधा-कृष्ण के मिलन का स्थल है। इसके समीप मानपुर गाँव, दोहनी कु ड और कदमखडी है। यहाँ के कदव वृक्षो मे दोनेदार पत्ते होते है। गह्वर वन के समीप चिकसोली गाँव मे साँभी वहुत सु दर वनती है। इस वन की सघन वृक्षावली मे श्री कृष्ण की लीलाओ से सबधित अनेक रमणीक स्थल है, जिनमे मोहिनी कु ड, मोर कु ड, ललिता कु ड और जल विहार प्रमुख है। यहाँ पर रासमडल भी है।

**जयपुर वाला मदिर**—श्री लाडिली जी के मुख्य मदिर से कुछ दूर की पहाडी पर पत्थर के काम का यह विशाल मदिर है। इसका निर्माण जयपुर के राजा ने कराया था। इसमे निवार्क सप्रदाय के अनुसार सेवा-पूजा होती है। इसकी प्रमुख मूर्ति श्री राधागोपाल जी की है। उनके साथ श्री हस भगवान, सनकादि और नारद जी की भी मूर्तियाँ है।

**भानोखर**—वरसाने मे कई कु ड-सरोवर है, जिनमे भानोखर या वृषभानु सरोवर अधिक प्रसिद्ध है। यह वरसाना गाँव के समीप का एक पक्का कु ड है। उसके चारो ओर पक्की ऊ ची चार दीवारी है, जिसमे जहाँ-तहाँ वुर्जियाँ और छतरियाँ वनी हुई है। उन्हे वरसाने के विख्यात निर्माता रूपराम कटारा ने वनवाया था। वरसाना मे व्रज-यात्रा इसी स्थान पर पडाव डालती है।

**सुनहरा की कदमखडी**—कामवन से वरसाना आते समय यात्रा मार्ग मे जो सुनहरा गाँव पडता है, उसके समीप की एक रमणीक वन-स्थली को 'सुनहरा की कदमखडी' कहा जाता है। यहाँ पर रत्नकु ड है और रासमडल है, जहाँ भाद्रपद शु० १४ को रास-लीला होती है।
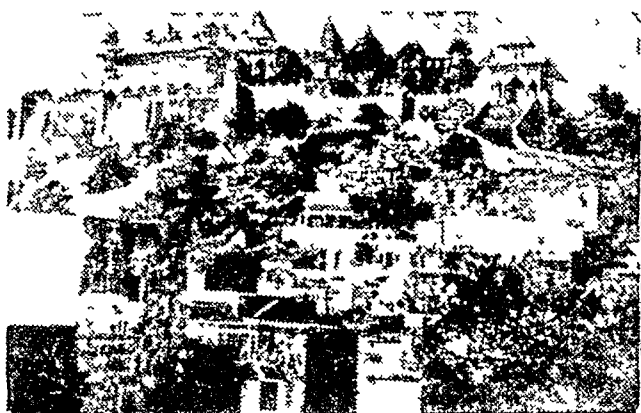
बरसाना
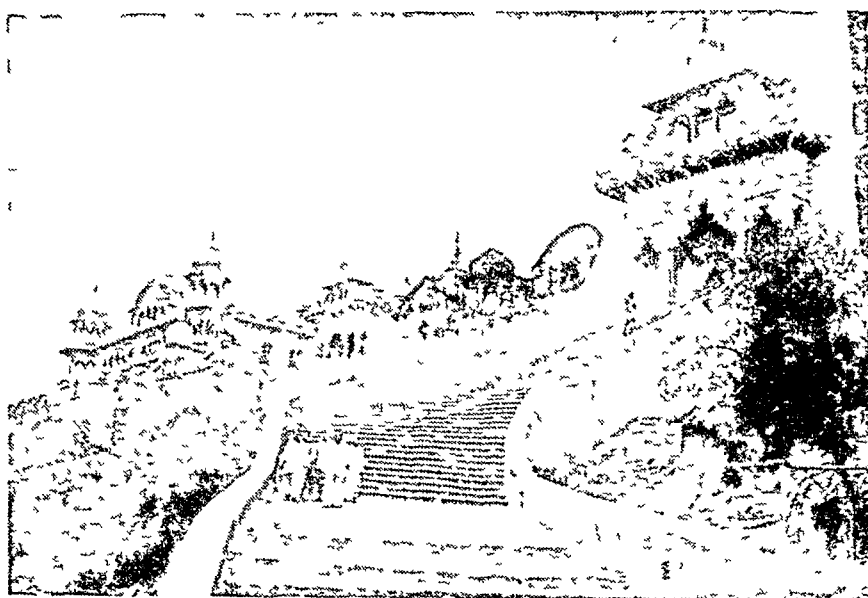
बरसाना में लाडिली जी का मदिर

नदगाँव

नदगाँव पहाडो पर नंदराय जी का मंदिर

**ऊँचागाँव**—यह बरसाना के समीप का एक धार्मिक स्थल है। ब्रजोद्धारक श्री नारायण भट्ट का इस स्थान से घनिष्ट सबध था। भट्ट जी ने यहाँ श्री बलदेव जी की स्थापना की थी, जिनका मदिर यहाँ विद्यमान है। यहाँ भट्ट जी की समाधि भी है। इस गाँव के निकट की छोटी पहाडी को 'सखी गिरि' कहा जाता है। वहाँ खिसलनी शिला, चित्र शिला, ललित-विवाह मडप, त्रिवेणी कूप, सखी कूप और राममडल आदि दर्शनीय स्थल है। भाद्रपद शु० १२ को यहाँ जो रासलीला होती है, उसे 'बूढी लीला' कहा जाता है।

**कमई**—इसे राधा जी की सखी विशाखा का जन्म-स्थान कहा जाता है। यहाँ की रास-मडलियाँ प्रसिद्ध है।

**करहला**—बरसाना से प्राय ४ मील पूर्व की ओर यह प्रसिद्ध लीला-स्थल है। इसे श्री राधा जी की अष्टसखियो मे प्रधान कलाकोविदा ललिता जी का जन्म-स्थान कहा जाता है। इस गाँव का अधिक महत्व यहाँ की रास मडलियो के कारण है। ब्रज की रास-लीला के प्रचार और प्रसार मे यहाँ के रासधारियो का बडा योग रहा है। इस गाँव के निवासी श्री घमडी जी ने रास मडली का आरभिक सगठन किया था तथा उनके वशज उदयकरण और खेमकरण ने अपने बालको के साथ इसमे सक्रिय सहयोग दिया था। उनके कारण यह गाँव रासधारियो का प्रमुख केन्द्र बन गया था। यहाँ की रास मडलियाँ दूर-दूर तक जा कर ब्रज की इस मनोरम कला का प्रदर्शन करती रही है। वल्लभ सप्रदाय के गोस्वामियो ने यहाँ के रासधारियो को बहुत प्रोत्साहित किया था। उनके द्वारा दिये हुए श्रीनाथ जी के मुकुट को कृष्ण का स्वरूप बनने वाला बालक धारण करता था। ऐसे कई प्राचीन मुकुट यहाँ के रासधारियो के घरो मे सुरक्षित हैं। आमेर के राजा जयसिंह ने ब्रज के रासधारियो की परीक्षा ली थी, जिसमे करहला के रासधारी ही उत्तीर्ण हुए थे। उससे प्रसन्न होकर आमेर-नरेश ने उनके लिए पक्की हवेलियाँ बनवा दी थी, जिनके ध्वसावशेष अभी तक विद्यमान है। करहला के रासधारियो के कई घराने उनके कारण 'महल वाले' और 'हवेली वाले' कहलाते है। इस गाँव के निकटवर्ती कृष्णकुड पर सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और गो० विट्ठलनाथ जी की बैठके है। यहाँ की कदमखडी प्रसिद्ध है, जो अब बहुत-कुछ नष्ट हो गई है।

**उत्सव**—बरसाना मे कई उत्सव और मेले आदि होते हैं, जिनमे 'राधा अष्टमी का उत्सव' और 'होली का मेला' अधिक प्रसिद्ध है। भाद्रपद शु० ८ को यहाँ लाडिली जी के मदिर मे जन्मोत्सव होता है, जिसमे हजारो दर्शक उपस्थित होते हैं। फाल्गुन शु० ८ को यहाँ पर होली का बडा मेला होता है, जिसे **'लठामार होली'** कहते है। उस दिन बरसाने के गोस्वामियो की महिलाएँ नदगाँव के गोस्वामियो से होली खेलती हैं। उस होली मे महिलाएँ बडे-बडे लट्ठो से पुरुषो पर प्रहार करती है। पुरुष गण अपनी ढालो पर उन प्रहारो को बचाते हैं। उस विचित्र होली को देखने के लिए हजारो नर-नारी एकत्र होते है।

ब्रज की सांझी कला प्रसिद्ध है, जो आश्विन माह मे कई रूपो मे प्रदर्शित की जाती है, जैसे रग की सांझी, जल की सांझी, गोबर की सांझी, फूलो की सांझी, कौड़ियो की सांझी आदि। बरसाने की स्त्रियाँ गोबर की बडी सुदर सांझी बनाती है। यहाँ के प्राय सभी घरो की दीवारे आश्विन मास मे सांझी से चित्रित दिखाई देती है।

बरसाने की स्थानीय परिक्रमा भाद्रपद शु० ३ को होती है। इस परिक्रमा का परिमाण दो कोस है। यहाँ से यात्रा प्रेम सरोवर होकर मोरन पर मुकाम करती है।

## ११—सकेत ( ब्रज-यात्रा का ग्यारहवॉ मुकाम ) मि. आश्विन शु० ६—

**सकेत**—इसका अर्थ है, गुप्त सूचना द्वारा निर्धारित मिलन-स्थल। इसके सबध मे प्राचीन मान्यता है कि श्री राधा-कृष्ण इसी स्थल पर गुप्त रीति से मिला करते थे। यह स्थान बरसाना से नदगॉव जाने वाले पक्के सडक मार्ग पर दोनो के प्राय बीच मे स्थित है। पुराने समय मे यहाँ पर एक विशाल वट वृक्ष था, जिसे 'सकेत वट' कहते थे। यहॉ पर श्री सकेतविहारी जी, सकेती देवी और श्री राधाविहारी जी के मदिर है तथा राम चबूतरा और झूला मडप है। श्री राधाविहारी जी के मदिर को बरसाना के रूपराम कटारा ने बनवाया था। इसकी वास्तु शैली नदगाँव के मदिर जैसी है, यद्यपि यह उससे छोटा है। यह मदिर काफी दूर से दिखाई देता है। दूसरा मदिर, जो चारदीवारी वाले बाग मे है, बर्धमान के राजा का बनवाया हुआ है। राम चबूतरा और झूला मडप श्री नारायण भट्ट जी ने बनवाया था। इनके समीप गोसाई विट्ठलनाथ जी और श्री गोपाल भट्ट जी की बैठके है। जब यात्रा का यहॉ मुकाम होता है, तब इस स्थल पर राधा-कृष्ण के विवाह की रास-लीला होती है। सकेत गॉव से थोडी दूर खेतो मे विह्वल कुड है और विह्वला देवी का देवालय है। इन्हे विमल कुड और विमला देवी भी कहा जाता है। ओरछा के राजा वीरसिंह देव ने स० १६७५ मे कुड को पक्का करावाया था और देवी का मदिर बनवाया था।

**प्रेम सरोवर**—बरसाने से नदगॉव जाने वाले मार्ग मे प्राय आधा कोस पर यह सुदर सरोवर है। इसके तट पर श्री प्रेमविहारी जी और श्री राधागोपाल जी के मदिर है। दूसरा मदिर मथुरा के मारवाडी सेठ लक्ष्मीनारायण पोद्दार ने बनवाया था। इसके प्रबध के लिए एक ट्रस्ट है, जिसके द्वारा दातव्य अन्न क्षेत्र और नि शुल्क सस्कृत पाठशाला का भी सचालन होता है। प्रेम सरोवर पर नौका लीला का उत्सव होता है। भाद्रपद शु० १२ को यहाँ रास लीला होती है। इसके समीप का गॉव गाजीपुर कहलाता है।

सकेत से यात्रा रीठौरा होती हुई नदगॉव पहुँच कर पडाव डालती है।

## १२—नदगॉव ( ब्रज-यात्रा का बारहवॉ मुकाम ) मि आश्विन शु. ७,८,९—

**नदगॉव**—यह श्री कृष्ण के बाल्य काल का निवास-स्थल और उनके पालक पिता नदराय जी का गॉव है। कृष्ण-काल मे यहॉ से गोवर्धन पहाडी और यमुना तट तक प्राचीन वृदावन था, जिसका विस्तार बीस कोस था। नदगॉव की वर्तमान बस्ती यहॉ की रुद्र पहाडी के चारो ओर बसी हुई है। पहाडी के ऊपर से देखने पर बस्ती का सुदर दृश्य दिखाई देता है। जब श्री निंबार्काचार्य जी ने ब्रज मे आकर निवास किया था, तब उन्होने इस प्राचीन लीला स्थल के महत्व की पुनर्स्थापना का प्रयास किया होगा, जिसका सकेत उनकी सहस्र-नामावली मे मिलता है[१]। यहॉ के मदिर के गोस्वामी भी निंबार्क सप्रदाय के अनुयायी है।

**श्री नदराय जी का मदिर**—नदगॉव की रुद्र पहाडी के शिखर पर, जहॉ कृष्ण-काल मे श्री नदराय जी का निवास स्थल था, यह मदिर बना हुआ है। इसे नदालय अथवा नद महल कहते हैं। इसमे श्री कृष्ण, बलदेव जी, नदराय जी और यशोदा जी की मूर्तियॉ है। जब चैतन्य

---

(१) नदग्राम सुसस्थाता यशोदानंदवर्धन।
कीर्तिवृषभानु वपु दर्शी सु सूक्ष्म दृष्टि कृत्॥ ( नैमिषखड मे वर्णित 'सहस्रनामावली' )

महाप्रभु ब्रज-यात्रा के लिये आये थे, तव वे गोवर्धन और कामवन के लीलास्थलो के दर्शन करने के उपरात नदगाँव भी गये थे । कृष्णदास कविराज ने लिखा है, —'महाप्रभु जी ने नदगॉव के पावन कुडो मे स्नान कर वहाँ की देवमूर्तियो के दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की थी । तव लोगो ने उन्होने वतलाया कि पहाडी के ऊपर एक गुफा मे कुछ देव मूर्तियॉ है । उनमे दो मूर्तियॉ पुष्ट कलेवर माता-पिता की है और एक उनके बीच मे त्रिभगी सु दर वालक की है । यह सुन कर चैतन्य देव आनद पूर्वक गुफा मे गये और वहॉ उन्होने श्री नदराय जी, यशोदा जी और श्री कृष्ण जी के दर्शन किये[1] ।' कविराज के उक्त कथन से ज्ञात होता है कि १६वी शताव्दी मे नदगॉव मे कोई मदिर नही था । वहॉ की पहाडी की गुफा मे तीन देवमूर्तियो के दर्शन होते थे ।

श्री नदराय जी का मदिर सब से पहिले कव वना, इसका उल्लेख नही मिलता है । वर्तमान मदिर रूपसिह नामक एक जाट सरदार ने स० १६०७ मे वनवाया था । मदिर की दीवारे काफी ऊँची और मजवूत है । उनके कोनो पर वुर्जियाँ और छतरियॉ वनी हुई है । इस मदिर मे श्रीकृष्ण जी, वलदेव जी, नदराय जी और यशोदा जी की चार मूर्तियॉ है । ये मूर्तियॉ व्रज के विख्यात भक्त–कवि आनदघन जी द्वारा स्थापित कही जाती है । उनके वशज ही वर्तमान मदिर के अधिकारी है[2] ।

उक्त मदिर और नदगाँव के ओर-पास अनेक देव-स्थान, तीर्थ और धार्मिक स्थल है । इनमे वूढेवावू, एक प्राण दो देह, नदीश्वर, हाऊ-विलाऊ, दधिमथन का माट, गाय वॉधने के खू टे, पावन सरोवर, श्री वल्लभाचार्य जी की वैठक, श्री सनातन गोस्वामी जी और रूपगोस्वामी जी की भजन-कुटियॉ, विविध कु ड-सरोवर, टेढ कदव, चरण चिन्ह, अक्रूर वैठक, उद्धव क्यारी आदि है । इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**वूढे वावू**—श्री नदराय जी के मदिर के प्रवेश द्वार के निकट शिव जी की एक छोटी सी लिगमूर्ति है, जिसे 'वूढे वावू' कहते है । पौराणिक अनुश्रुति के अनुमार शिव जी वालक श्री कृष्ण का दर्शन करने के लिए नद-भवन मे आये थे । उसी स्मृति मे इस शिवमूर्ति की स्थापना की गई है ।

**एक प्राण दो देह**—मदिर के वडे द्वार के सामने नीचे की ओर यह अद्‌भुत मूर्ति है । इसके अर्ध भाग मे श्री कृष्ण का और आधे मे श्री राधा जी का स्वरूप है । मूर्ति के पाषाण का रग भी आधा श्याम और आधा गौर है । ऐसी विचित्र प्रतिमा व्रज मे अन्यत्र नही है । पहिले यह टूटे-फूटे मदिर मे थी, किंतु अव मदिर का जीर्णोद्धार हो गया हे ।

---

(१) ताहाँ लीलास्थली देखि गेला नंदीश्वर । नंदीश्वर देखि प्रेमे हइला विह्वल ।।
पावनादि सब कु डे स्नान करिया । लोकेर पुछिल पर्वत उपरे याइया ।।
किछु देवमूर्ति हय पर्वत उपरे ? लोक कहे मूर्ति हय गोफार भितरे ।।
दुइदके माता-पिता पुष्ट कलेवर । मध्ये एक शिशु हय, त्रिभंग सु ंदर ।।
शुनि महाप्रभु मने आनद राइया । तिन मूर्ति देखिला सेइ गोफा उघाड़िया ।।
व्रजेन्द्र व्रजेश्वरी कैल चरण वंदन । प्रेमावेश कृष्णेर कैल सर्वांग स्पर्शन ।।
—श्री चैतन्य-चरितामृत, मध्यलीला, १८ वाँ परिच्छेद, मं० ५१–५६

(२) घनआनंद, ( वाङ्‌मुख, पृष्ठ ६७–६८ )

**नदीश्वर**—यह नदगाँव के अधिष्ठाता रुद्र देवता हैं। यहाँ की पहाडी को भी रुद्र का स्वरूप कहा जाता है, अत इस देव-मूर्ति की यहाँ अच्छी मान्यता है।

**हाऊ-विलाऊ**—यशोदा जी बालक कृष्ण की नटखटी रोकने के लिए उन्हे हाऊ का डर दिलाती थी। उसी स्मृति मे इस मूर्ति की स्थापना की गई है।

**दधि मंथन माट**—इन विशाल मृतिका पात्रो को यशोदा जी के दधि-मथन के माट कहते हैं। ये इतने बडे है कि इनके अदर दो आदमी बैठ सकते हे। ये ब्रज की पात्र निर्माण कला के दर्शनीय नमूने हैं।

**खिरक और खू टे**—इन्हे नद-यशोदा जी की गायो को बाँधने का स्थल कहा जाता है।

**पावन सरोवर**—वह नदगाँव का प्राचीन और पवित्र कुड हे। इसे पान सरोवर भी कहते है। इसमे सदैव अगाध जल भरा रहता है। स० १८०४ मे इसे वर्धमान की रानी ने पक्का बनवा दिया था। इसके तट पर और समीप मे पुराने मदिर तथा ब्रज के अनेक सत-महात्माओ के निवास स्थल है। इसके निकट श्री सनातन गोस्वामी का भजन स्थल, मुक्ता कुड, फुलवारी कुड, विलास वट, टेर कदव, श्री रूप गोस्वामी जी की भजन कुटी आदि कई दर्शनीय स्थल हे।

नदगाँव के समीप अनेक लीला-स्थल है, जिनमे रीठौरा, आजनोख, पिसाया, खदिर वन और उद्धव क्यारी उल्लेखनीय है। यहाँ पर उनका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

**रीठौरा**—यह चद्रावली जी का स्थान माना जाता है। यहाँ चद्रावली कुड है, जिसके निकट श्री गोसाई जी की बैठक है।

**आंजनोख**—ब्रज के इस लीला-स्थल पर श्रीकृष्ण द्वारा राधा जी की आंखो मे अजन लगाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है, इसीलिए इसे 'आजनोख' कहा जाता है। इसे विशाखा सखी का निवास-स्थान भी कहते है।

**पिसाया**—यह स्थान लीला-भूमि होने के साथ ही साथ ब्रज का अत्यत रमणीक स्थल भी है। इसका प्राचीन नाम 'पिपासा वन' कहा जाता है। यहाँ मनोरम कदमखडी है तथा तृष्णा-कुड और विशाखा कुड है। इसके प्राकृतिक सौन्दर्य के सबध मे इस ग्रथ के विगत पृष्ठो मे प्रकाश डाला जा चुका है[1]।

**खदिर वन**—ब्रज के सुप्रसिद्ध बारह वनो मे इसे छठा वन कहा गया है, किंतु वर्तमान काल मे इसका प्राचीन वन्य स्वरूप समाप्त प्राय हो गया है। इस समय वहाँ एक छोटा गाँव बसा है, जिसे 'खायरा' कहते है। यहाँ की स्थानीय परिक्रमा भाद्रपद शु० ४ को होती है, जिसका परिमाण सवा कोस है। यहाँ के कुड को कृष्ण कुड अथवा सगम कुड कहते हैं। इसके निकट रास मडल और कदमखडी है। जब चैतन्य महाप्रभु के आदेशानुसार सर्वश्री लोकनाथ जी और भूगर्भ जी ब्रज मे आये थे, तब वे इसी स्थान पर रहे थे। यहाँ के सगम कुड के निकट उनकी भजन कुटियाँ है।

**उद्धव क्यारी**—यह एक सघन कदवखडी है, जिसमे कदब वृक्षो के कई चौक हैं। यहाँ पर गोपियो की भक्ति से प्रभावित होकर उद्धव जी द्वारा ब्रज से तादाम्य स्थापित करने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। उसी स्मृति मे ब्रज-यात्रा के अवसर पर यहाँ उद्धव लीला का रास होता है। उस समय उद्धव-गोपी सवाद के रूप मे करुण रस का जो स्रोत उमडता है, वह सभी दर्शनार्थियो को आनद मग्न कर देता है।

---

(१) देखिये इस ग्रंथ का पृष्ठ ४४

नदगाँव की स्थानीय परिक्रमा भाद्रपद शु० ४ और कार्तिक शु० ८ को की जाती है। परिक्रमा का परिमाण दो कोस है। परिक्रमा मे अनेक तीर्थ और लीला स्थल पडते है। यहाँ से यात्रा उठ कर जाव होती हुई वडी वठैन मे जाकर पडाव डालती है।

## १३–वडी बठैन ( ब्रज-यात्रा का तेरहवाँ मुकाम ) मि आश्विन शु १०——

**वड़ी बठैन**—कोसी के निकट पश्चिम दिशा मे वडी-छोटी वठैन नाम की दो जाट वस्तियाँ हैं। इनमे वडी वठैन मे यात्रा का मुकाम होता है। इस स्थान का श्री वलराम जी से घनिष्ट सवध रहा है। यहाँ पर वलभद्र कु ड है और श्री वलदेव जी का मदिर है। कु ड का पक्का घाट वरसाना के रूपराम कटारा ने वनवाया था। यहाँ पर चैत्र कृ० ३ को लठामार होली का मेला होता है। उसमे वठैन की स्त्रियो से जाव गाँव के पुरुप होली खेलते है। इसे 'हुरगा' कहते है, जो ब्रज मे वरसाना–नदगाँव के वाद सवसे प्रसिद्ध होली का मेला है।

नदगाँव से वडी वठैन पर यात्रा मार्ग मे जो दर्शनीय स्थल पडते है, उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**जाव**—वडी वठैन के दक्षिण मे यह एक छोटी जाट वस्ती है। अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन काल मे श्री कृष्ण की वशी का नाद सुनकर ब्रज की गोपियाँ रास से पहिले इसी स्थल पर एकत्र हुई थी। पहिले यहाँ पर जाव वट और किशोरी वट नामक दो विशाल वट वृक्ष थे। वार्ता के अनुसार यहाँ चतुरा नागा जी श्री वल्लभाचार्य जी से मिले थे। यहाँ के कृष्ण कु ड पर छोकर वृक्ष के नीचे श्री वल्लभाचार्य जी की वैठक है। यहाँ की होली प्रसिद्ध है। इस स्थान को राधा जी की सास जटिला का निवास-स्थल कहा जाता है।

**कोकिला बन**—जाव के निकट कोकिला वन नाम की एक वनस्थली है। यहाँ की भूमि कुछ नीची है, जिसमे वर्षा का पानी भर जाता है। यहाँ एक लवा कच्चा कु ड है, जिस पर एक ओर कुछ घाट वने है। इस कु ड को ओरछा के राजा वीरसिह ने वनवाया था। भादो शु० १० को यहाँ रासलीला होती है। यहाँ भी श्री वल्लभाचार्य जी की वैठक है तथा एक मदिर है।

**छोटी बठैन**—वडी वठैन के उत्तर मे यह एक छोटी वस्ती है। यहाँ पर कृष्ण कु ड है और साक्षी गोपाल का मदिर है। यहाँ पर श्री कृष्ण द्वारा वशी वजा कर गोपियो को वुलाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। उसी स्मृति मे श्री कृष्ण के चरण–चिन्ह स्थापित किये गये है। यहाँ के निकट की छोटी पहाडी को 'चरण पहाडी' और कु ड को 'चरण गगा' कहते है। पहाडी के चारो ओर करील, पीलू, पसेदू, हिंगोट, वरना और अजनरूख के जगली झाड है।

वडी वठैन से यात्रा उठकर चरण गगा, कामर, दुर्वासा आश्रम, दहगाँव, रानौली होती हुई कोटवन पहुँच कर मुकाम करती है।

## १४–कोटवन ब्रज-यात्रा का चौदहवा मुकाम ) मि. आश्विन शु. ११ —

**कोटबन**—यह मथुरा–देहली रोड पर स्थित एक प्राचीन गाँव है। इसके निकट बहुत दूर तक फैली हुई वनस्थली है। राज्य सरकार द्वारा सुरक्षित यहाँ एक वनखडी भी है, जो पुराने समय मे कदवखडी थी। यहाँ एक छोटे कु ड के किनारे श्री गोसाई जी की वैठक है। गाँव की वस्ती एक ऊचे टेकरे पर वसी हुई है। यहाँ पर शीतल कु ड तथा सूर्यकु ड नामक तीर्थ हैं।

वडी वठैन से कोटवन आने वाले यात्रा-मार्ग मे जो लीला-स्थल विद्यमान है, उनमे से कुछ का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

**कामर**—इस लीला-स्थल मे गोपीकुंड, गोपी जल-विहार, हरिकुंड, मोहनकुंड आदि तीर्थ है, जिनमे निकटवर्त्ती जंगल मे से वरसाती पानी आता है। यहाँ जाट राजा सूरजमल का वनवाया हुआ मंदिर है।

**दुर्वासा आश्रम**—यह एक प्राचीन तप-स्थल है, जिसे दुर्वासा ऋषि का स्थान माना जाता है।

**दहगाँव**—इसका प्राचीन नाम दधिग्राम है, जहाँ श्री कृष्ण द्वारा गोपियो के दूध-दही की लूट किये जाने की अनुश्रुति प्रचलित है। यहाँ दधिकुंड तीर्थ है तथा दधिहारी देवी और श्री व्रजभूषण जी के मंदिर है।

**रासौली**—यह प्राचीन रास-स्थल है। यहाँ श्री गोकुलनाथ जी की वैठक है।

कोटवन से यात्रा उठ कर चमेली वन, भूषन वन होती हुई शेषशायी पहुँचती है। वहाँ से यात्रा दक्षिण की ओर मुड कर नंदनवन होती हुई कोसी मे पहुँच कर मुकाम करती है।

## १५—कोसी ( व्रज-यात्रा का पंद्रहवाँ मुकाम ) मि आश्विन शु १२—

**कोसी**—यह एक व्यापारिक कस्वा है, जो मथुरा–दिल्ली सडक पर मथुरा से २६ मील दूर है। मथुरा जिला की प्रसिद्ध व्यापारिक मंडी होने के कारण यहाँ रेल, तार, डाक, नहर, मोटर आदि सभी प्रकार की सुविधाएँ हैं। दिल्ली के निकट ओखला वंद से यमुना की जो नहर निकाली गई है, वह यहाँ वहती है। उससे इस कस्वा की जल-पूर्ति भली भाँति हो जाती है। कोसी से होडल तक की भूमि कुछ नीची है, अत अधिक वर्षा होने पर यहाँ वाढ और गरकी की आशंका वनी रहती है। वाढ का पानी यहाँ होडल की ओर से आता है, जिसके निकास का कोई खास प्राकृतिक मार्ग नही है। सन् १८७३ मे इसी प्रकार की वाढ से यहाँ वडी हानि हुई थी। कस्वा के वीचो वीच एक वडी सराय है, उसके चारो ओर पक्की दीवारे हैं, जिनमे दो संगीन महरावदार दरवाजे भी है। इस सराय को अकवर के शासन-काल मे दिल्ली के राज्यपाल ख्वाजा इतिवारखा ने वनवाया था। यहाँ के प्राचीन रत्नाकर कुंड को उसी काल मे पक्का वनवाया गया था। कस्वे के मुख्य वाजार तथा अधिकांश वस्ती इस सराय के दोनो दरवाजो के अंदर ही है।

कोसी का धार्मिक महत्व भी कम नही है। इसका प्राचीन नाम कुशस्थली है। इसे व्रज मंडल की द्वारकापुरी माना जाता है। यहाँ पर कई तीर्थ और देव स्थान भी हैं। तीर्थो मे रत्नाकर सागर, माया कुंड, विशाखा कुंड और गोमती कुंड उल्लेखनीय है। ये सभी तीर्थ द्वारकापुरी के प्रतीक है। गोमती कुंड रमणीक स्थल पर स्थित है और इसे अत्यंत पवित्र माना जाता है। यहाँ पर गिरिराज जी, दाऊजी और विहारी जी के मंदिर तथा पक्के घाट है। मंदिरो मे चैत्र कृ० २ को फूलडोल होता है। यहाँ पर जैनियो के कई मंदिर और मुसलमानो की मसजिदे भी है। जैन मंदिरो मे श्री पद्मप्रभु, नेमिनाथ जी और महावीर जी के है। यहाँ कई उत्सव-मेले भी वडी धूम-धाम से होते है। इनमे सवसे प्रसिद्ध दशहरा का मेला है, जो आश्विन शु० १० को होता है। इसमे हजारो देहाती नर-नारी एकत्र होते है। जैनी और मुसलमान भी अपने उत्सव-त्यौहारो को धूम-धाम से करते है।

कोटवन और कोसी के मार्ग मे जो प्रसिद्ध धार्मिक स्थान है, उनका परिचय इस प्रकार है—

**चमेली बन**—यह अत्यत सघन और रमणीक वनस्थली है। इसे 'भूलन वन' भी कहते है। यहाँ पर वृक्ष, लता, कु जो की इतनी सघनता है कि मार्ग भूल जाने का अदेशा रहता है।

**शेषशायी**—यहाँ शेषशायी नारायण का मदिर है और क्षीर सागर कु ड है तथा श्री वल्लभाचार्य जी बैठक है। यह ब्रज की उत्तरी सीमा पर ब्रज--यात्रा का सर्वाधिक दूरस्थ स्थान है, जो पजाब की सीमा के निकट है। यहाँ से ब्रज–यात्रा वापिस लौटती है।

कोसी से यात्रा उठ कर पूर्व की दिशा मे चलती हुई पैगाम पहुँच कर मुकाम करती है।

## १६–पैगाम ( ब्रज–यात्रा का सोलहवाँ मुकाम ) मि आश्विन शु. १३—

**पैगाम**—यह स्थान कोसी से ६ मील दूर पूर्व दिशा मे है। इसका प्राचीन नाम पयग्राम है, और यह श्री चतुरा नागा जी का जन्म स्थान है। यहाँ पर पय सरोवर, गोपाल कु ड और गोपी कु ड नामक तीर्थ है तथा कदब और तमाल वृक्षो से युक्त एक सु दर वनस्थली है।

**फालैन**—कोसी से पैगाम आने पर यात्रा मार्ग से कुछ हट कर यह गाँव पडता है। यहाँ पर फाल्गुन शु० १५ को होलिका दहन का प्रसिद्ध मेला होता है। उस समय यहाँ के मदिर का पुजारी जलती हुई होली की ज्वालाओ मे से नगे शरीर निकलता है। उस आश्चर्यजनक घटना को देखने के लिए दूर-दूर से हजारो नर-नारी आकर वहाँ एकत्र होते है[1]।

पैगाम से यात्रा उठकर खेलन वन, लाल बाग और उजानी होती हुई शेरगढ पहुँच कर मुकाम करती है। मथुरा मे यमुना जी को छोडने के पश्चात् यात्रियो को इसी क्षेत्र मे सर्वप्रथम उनके दर्शन होते है। वे बडी श्रद्धा–भक्ति पूर्वक यमुना जी पर भोग चढाते है और आचमन–स्नानादि करते है।

## १७--शेरगढ ( ब्रज-यात्रा का सतरहवाँ मुकाम ) मि आश्विन शु १४—

**शेरगढ़**—यह यमुना तट पर बसा हुआ ब्रज का एक धार्मिक, ऐतिहासिक और औद्योगिक कस्बा है। यहाँ श्री रेवती बलदेव जी, श्री गोपीनाथ जी और धर्मराय जी के मदिर है तथा बलभद्र कु ड नामक तीर्थ है। शेरशाह बादशाह ने यहाँ एक मजबूत किला बनवाया था, जिसके अब केवल खडहर रह गये है। यह स्थान ब्रज के गृह उद्योगो का केन्द्र था। यहाँ पर काँच का काम होता था। काँच की चूडियाँ–छल्ले यहाँ बहुतायत से बनाये जाते थे। कपडो के बने हुए खिलौने जैसे हाथी, घोडे, ऊँट, गेद, थैले, बटुए, शतरज, चौपड के पट, गोल ताश आदि यहाँ की प्राचीन कारीगरी की वस्तुएँ है। घोडे की जीन भी यहाँ बहुत अच्छी बनाई जाती है।

शेरगढ से यात्रा उठ कर रामघाट, भूषण वन, गु जा वन, निवारण वन, विहार वन, अक्षयवट, गोपीघाट होती हुई चीरघाट पर पहुँच कर मुकाम करती है।

---

(१) इसी प्रकार का आश्चर्यजनक उत्सव उड़ीसा राज्य मे चर्चिका देवी के मदिर मे भी होता है। यह मदिर कटक से ३० मील दूर महानदी के तट पर है और वह उत्सव प्रति वर्ष वैशाख कृ० १ को होता है। इसे 'झामु यात्रा' या अग्नि उत्सव कहते हैं।

## १८–चीरघाट ( ब्रज-यात्रा का अठारहवाँ मुकाम ) मि. आश्विन शु० १

**चीरघाट**—यह घाट वह पुराणप्रसिद्ध स्थल कहा जाता है, जहाँ ब्रज की गोप कुमारियाँ यमुना स्नान करती थी और जहाँ श्री कृष्ण ने उनके वस्त्रो का हरण किया था। गोप-कुमारियाँ जिस कात्यायिनी देवी का पूजन करती थी, उनका देवालय भी यहाँ है, किन्तु वह अब भग्नावस्था मे है। इसके साथ ही श्री कृष्ण गोपियो के वस्त्र लेकर जिस कदब पर चढ गये थे, उनका प्रतिनिधि वृक्ष भी यहाँ बतलाया जाता है। यहाँ पर गोपीघाट और गोपतलाई हैं, तथा श्री गोसाई जी की बैठक है। इस स्थल के समीपवती गाँव का वर्तमान नाम स्यारहा है।

शेरगढ़ से चीरघाट तक के यात्रा-मार्ग मे जो प्रमुख लीला-स्थल विद्यमान हैं उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**रामघाट**—यह स्थल शेरगढ के समीप पूर्व दिशा मे यमुना तट पर स्थित है। इसे श्री बलराम जी का विहार स्थल कहा जाता है। जब श्री बलराम जी द्वारका से ब्रज आये थे, तब उन्होंने इस स्थल पर वारुणी पीकर रास-विलास किया था। यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने हल की नोक से यमुना को खीच लिया था। इसका यह अभिप्राय जान पडता है कि उस काल मे यमुना का प्रवाह वहाँ से कुछ दूर हो गया था, जिससे ब्रजवासियो को असुविधा होती थी। उनकी सुविधा के लिए बलराम जी ने बाध आदि बनवा कर यमुना की धारा को बदल दिया था। इस समय भी इस स्थल पर यमुना का परिवर्तित प्रवाह दिखलाई देता है। बलराम जी के नाम पर ही इस स्थल का नाम 'रामघाट' पडा है। यहाँ बलराम जी का मदिर है। १६वीं शताब्दी मे जब गौडीय धर्माचार्य श्री नित्यानद जी ब्रज मे आये थे, तब उन्होंने यहाँ नृत्य–कीर्तनादि किया था। इस स्थल के निकटवर्ती गाँव का वर्तमान नाम ओवे है।

रामघाट के निकट ब्रह्मघाट है, जहाँ ब्रह्मा जी द्वारा गोप-बालको और गो-वत्सो का हरण किये जाने के उपरात श्री कृष्ण से क्षमा माँगने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। इस स्थल के आगे विलास वन, भूषण वन, निवारण वन, गुजा वन, विहार वन और अक्षयवट आदि लीला स्थल है। इनके सबध मे अनेक पौराणिक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। विहार वन मे विहार कुड है और श्री विहारी जी का मदिर है।

चीरघाट से यात्रा उठ कर नदघाट, भैगाँव, बनई गाँव होती हुई बच्छवन पहुँचती है। फिर वह बच्छवन अथवा उसके निकट सेई मे मुकाम करती है।

## १९- बच्छबन-सेई ( ब्रज-यात्रा की उन्नीसवाँ मुकाम ) मि. कार्तिक कृ० १—

**बच्छबन**—इसका प्राचीन नाम वत्स वन है जिसके सबध मे एक पौराणिक उपाख्यान प्रसिद्ध है। कहते हैं, जब ब्रह्मा जी श्री कृष्ण के दर्शनार्थ ब्रज मे आये थे, तब उन्होने गोप-बालको और गो-वत्सो के साथ श्रीकृष्ण को खाते-पीते देखा था। उससे ब्रह्मा जी को श्री कृष्ण के अवतार होने मे शका हुई थी। उसकी परीक्षा के लिए ब्रह्मा जी ने गोप-बालको और बछडो का हरण कर लिया था। श्री कृष्ण ने उनके स्थान पर वैसे ही दूसरे बालक और बछडे प्रस्तुत कर दिये थे, जिससे ब्रह्मा जी ने लज्जित होकर श्री कृष्ण से क्षमा माँगी थी। यहाँ पर चार स्तभो वाला एक अद्भुत

वृक्ष है, जिसे चतुर्मुख ब्रह्मा का प्रतीक समझा जाता है। उसके अतिरिक्त यहाँ ब्रह्मकुंड और ओरछा नरेश वीरसिंह द्वारा निर्मित श्री विहारी जी का मदिर है। ब्रह्मकुंड पर छोकर वृक्ष की छाया मे श्री गोसाई जी की बैठक है।

चीरघाट से वच्छवन आते हुए मार्ग मे नदघाट नामक एक पुराणप्रसिद्ध स्थल पड़ता है। उसके सबध मे अनुश्रुति है कि वहाँ स्नान करते हुए नदराय जी को वरुण के सेवकों ने पकड़ लिया था, तब श्री कृष्ण ने उन्हे छुडाया था। १७वी शताब्दी के आरभ मे रूप गोस्वामी जी ने जब बिना किसी विशेष कारण के जीव गोस्वामी का परित्याग किया था, तब वे क्षुब्ध होकर कुछ काल तक यहाँ रहे थे। उसी समय जीव गोस्वामी ने 'षट्सदर्भ' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रथ की रचना की थी। जिस गुफा मे जीव गोस्वामी रहते थे, वह अभी तक विद्यमान है।

वच्छवन से यात्रा उठ कर विविध लीला-स्थलो मे होती हुई वृदावन पहुँच कर मुकाम करती है। वृदावन जाने के दो मार्ग है—

**प्रथम मार्ग**—वच्छवन से आगे यमुना नदी को पार कर भद्रवन, मुजवन, बेलवन (विजौली गाँव), भाडीरवन, माट, बेलवन होती हुई यात्रा यमुना पार कर वृदावन पहुँचती है।

**द्वितीय मार्ग**—वच्छवन से सेई, तरौली, मेमरी, नरी, आभई, चौमुहा, जैत, छटीकरा, गरुडगोविंद आदि ब्रज के गाँवो की लबी परिक्रमा करती हुई यात्रा वृंदावन पहुँचती है।

प्रथम मार्ग की अपेक्षा द्वितीय मार्ग लबा है, किंतु उसमे यमुना को पार नही करना पड़ता है, जब कि प्रथम मार्ग से दो-दो बार यमुना को पार करना आवश्यक होता है। एक मार्ग से जाने पर दूसरे मार्ग के लीला-स्थल छूट जाते है। यहाँ पर हम दोनो मार्गों के कतिपय प्रमुख स्थलो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं।

## प्रथम मार्ग के प्रमुख स्थल—

**भद्र वन**—ब्रज के प्राचीन बारह वनो मे यह आठवाँ और यमुना पार के पाँच वनो मे यह पहिला वन था, जो कालातर मे समाप्त प्राय हो गया। इस समय उक्त नाम की एक छोटी बस्ती है, जहाँ श्री मधुसूदन जी और हनुमान जी के मदिर है तथा मधुसूदन कुड और सूरज कुड हैं। यहाँ स्थानीय परिक्रमा भी की जाती है, जिसका परिमाण पौने दो कोस है।

**मुंज वन**—इसे मुजाटवी भी कहते है। यह श्री कृष्ण द्वारा दावाग्नि शात किये जाने का प्राचीन स्थल माना जाता है।

**भांडीर वन**—ब्रज के प्राचीन बारह वनो मे यह नौवाँ और यमुना पार के पाँच वनो मे यह दूसरा वन था, जिसका सबध भडीर नामक वृक्ष से था। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यहाँ प्रलबासुर रहता था, जिसे श्री कृष्ण–बलराम ने मारा था। यहाँ श्री बलदेव जी और श्री बिहारी जी के मदिर हैं, तथा भाडीर वट और भांडीर कूप है।

**मांट**—यह ब्रज का एक प्राचीन गाँव है, जिसका नाम-करण गोपियों द्वारा दधि-मथन करने के मिट्टी के बर्तन ( माट अथवा मांट ) के नाम पर हुआ है।

**बेल वन**—यह ब्रज के बारह वनो मे दसवाँ और यमुना पार के पाँच वनो मे तीसरा वन था, जो अब समाप्त प्राय है। उसके स्थान पर जहाँगीरपुर नामक गाँव बस गया है। यहाँ पर यमुना किनारे श्याम तमाल वृक्ष के नीचे श्री गुसाई जी की बैठक है।

**द्वितीय मार्ग के प्रमुख स्थल—**

**सेई**—यहाँ पर ब्रह्मा जी द्वारा ब्रज के गोप-बालको और गो-वत्सो के छिपाये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है ।

**नरी-सेंमरी**—ये दो छोटे गाँव हैं, जिन्हे श्री राधा जी की किन्नरी और साँवरी नामक दो सखियो के स्थान कहे जाते है । वर्तमान काल मे इनकी प्रसिद्धि ब्रज की दो लोक देवियो के कारण है । चैत्र शु० ८ को यहाँ उक्त देवियो का बडा मेला होता है । नरी मे किशोरी कु ड और सकर्षण कु ड है तथा सेमरी मे नारायण कु ड है ।

**चौमुहा-आझई**—मथुरा-कोसी मार्ग पर ये दो छोटे गाँव है । चौमुहा चतुर्मु ख ब्रह्मा का स्थान माना जाता है । उसके निकटवर्ती आझई गाँव मे ब्रह्मा जी की चतुर्मु खी मूर्ति है । आझई रेल का स्टेशन भी है ।

**जैत**—यहाँ अघासुर नामक एक भयकर सर्प का श्री कृष्ण द्वारा वध किये जाने पर देवताओ ने उनका जय-जयकार किया था । उसी अनुश्रुति के आधार पर इस स्थल का जैत ( जयति ) नाम पडा है । यहाँ के तालाब मे सर्प की मूर्ति थी । उसे इस प्रकार कारीगरी मे बनाया गया था कि तालाब मे चाहे जितना पानी बढ जावे अथवा कम हो जावे, वह सर्प मूर्ति सदैव पानी के ऊपर ही दिखलाई देती थी । अब मे कुछ समय पहिले वह कलात्मक मूर्ति नष्ट हो गई थी ।

**छटीकरा-गरुडगोविंद**—छटीकरा ब्रज का एक छोटा गाँव है । यह रेल का स्टेशन भी है, जिसे अब 'वृ दावन रोड' कहा जाता है । छटीकरा के निकटवर्ती जगल मे **'गोपालगढ'** नामक एक देव-स्थान है, जिसका निर्माण निंबार्क सप्रदायाचार्य ब्रह्मचारी गिरिधारीशरण जी ने स०१९४९ मे कराया था । छटीकरा गाँव के समीप गरुडगोविंद मदिर है, जिसमे गरुड पर आसीन विष्णु भगवान् की मूर्ति विराजमान है । यहाँ से वृ दावन के लिए कच्चा मार्ग गया है । मथुरामडल की जो बडी परिक्रमा की जाती है, उसमे मथुरा से वृ दावन जाने के लिए गरुडगोविंद मदिर के पास होकर जाना पडता है ।

## २०-वृ दाबन ( ब्रज-यात्रा का बीसवा मुकाम ) मि. कार्तिक कृ० २, ३, ४—

**वृ दाबन**—यह ब्रजमडल का अत्यत प्रसिद्ध धार्मिक स्थल है । जैसा पहिले लिखा गया है, प्राचीन काल मे यह एक विशाल सघन वन था, जो अपने प्राकृतिक सौन्दर्य और रमणीक वन-शोभा के लिए विख्यात था । इसे ब्रज के सुप्रसिद्ध बारह वनो मे सातवाँ वन माना गया है । प्राचीन उल्लेखो से ज्ञात होता है कि कृष्ण-काल के वृ दावन मे गोवर्धन पहाडी थी और उसके निकट ही यमुना प्रवाहित होती थी । जब मथुरा के अत्याचारी राजा कस ने कृष्ण-बलराम को छल पूर्वक मारने के लिए उन्हे बुलाने को अक्रूर भेजा था, तब वह प्रात काल मथुरा से चल कर सायकाल को वृ दावन की गोप बस्ती मे पहुँचा था[1] । इससे ज्ञात होता है, उस काल का वृ दावन मथुरा से काफी दूर था । वह वर्तमान गोवर्धन, राधाकु ड, वृ दावन से नदगाँव, बरसाना और कामवन तक विस्तृत

---

(१) श्रीमद् भागवत, दशम स्कध ।

२० कोस परिधि का एक बडा वन था। वर्तमान वृंदावन मे यमुना नदी का प्रवाह तो है, किंतु गोवर्धन पहाडी नही है। यह मथुरा से अधिक दूर भी नही है। इससे समझा जा सकता है कि इस समय का वृदावन कृष्ण कालीन विशाल वृदावन का एक भाग मात्र है, जिसकी परिधि केवल ५ कोस मानी जाती है।

प्राचीन वृदावन का महत्व श्री कृष्ण के प्रमुख लीला-स्थल, ब्रज के एक रमणीक वन और एकात तपोभूमि होने के कारण ही था। उन विशेपताओ के अतिरिक्त वहाँ कोई बडी वस्ती अथवा कोई दर्शनीय इमारत रही हो, इसका उल्लेख नही मिलता है। वर्तमान काल मे वहाँ के कतिपय मकानो की नीव खोदते समय कुछ टूटी हुई मूर्तियाँ मिली है, जो कुषाण और गुप्त काल की मानी जाती है। श्री मदनमोहन जी के पुराने मदिर के निकट एक प्राचीन देवालय के अवशेष भी मिले है। इनसे अनुमान होता है कि कुषाण, गुप्त और मध्य काल मे वहाँ पर कुछ मदिर-देवालय विद्यमान थे। उन कालो मे मथुरा के अतिरिक्त उसके निकटवर्ती यमुना के किनारे पर भी अनेक मदिर, स्तूप, मठ और सघाराम वनाये गये थे। उनका सिलसिला वर्तमान वृदावन तक रहा होगा। विदेशियो के आक्रमणो द्वारा मथुरामडल की वडी हानि हुई थी। फलत प्राचीन काल का वह सुरम्य वृदावन भी उपेक्षित और अरक्षित होकर एक वीहड वन हो गया था। उसका पुर्ननिर्माण १६वी शती मे हुआ है।

**नाम का अभिप्राय**—वृदावन नाम से स्पष्ट होता है कि 'वृदा का वन' अथवा 'वृदा द्वारा रक्षित वन' होने से इसका यह नाम पडा है। वाराह पुराण मे लिखा है कि ब्रज के वारह वनो मे से वृदावन वृदा देवी द्वारा रक्षित वन है[1]। 'वृदा' शव्द से कई अभिप्राय लिये गये है—१ तुलसी, २ केदार राजा की कन्या, ३ श्री राधा जी, ४ राधा जी की एक सखी और ५ एक यक्षी।

जहाँ तक पहिले अभिप्राय की वात है, तुलसी के पौधो से वृदावन का सदैव घनिष्ट सवध रहा है। प्राचीन काल मे यहाँ तुलसी के पौधे अत्यधिक सख्या मे थे। अब भी वे इस क्षेत्र मे पर्याप्त परिमाण मे पैदा होते है। तुलसी–काष्ठ की माला का निर्माण यहाँ की विशेपता रही है। दूसरे अभिप्राय का सवध ब्रह्मवैवर्त पुराणोक्त केदार राजा की कन्या वृदा की कथा से है। उससे ज्ञात होता है, वृदा ने भगवान् श्री कृष्ण को पति के रूप मे प्राप्त करने के लिए घोर तप किया था। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् ने उसे गोपियों मे श्रेष्ठ राधा के समान सौभाग्य प्रदान किया। जिस वन मे वृदा ने तप किया और जहाँ उसने क्रीडा की, वह उसके नाम पर वृदावन कहलाया[2]। तीसरे अभिप्राय का सकेत भी ब्रह्मवैवर्त पुराण मे मिलता है। उसमे लिखा है, राधा जी के सोलह नामो मे श्रुति प्रसिद्ध एक नाम 'वृदा' भी है और उसकी क्रीडा के वन को वृंदावन कहा गया है। इसीलिए राधा को 'वृदावनी' तथा 'वृदावन की अधिष्ठात्री देवी' की सज्ञा मिली

---

(१) वृंदावन द्वादशकं वृन्दया परिरक्षितम् ( वाराह, अध्याय १५३, श्लोक ४८ )

(२) राधा समा सा सौभाग्याद् गोपी श्रेष्ठावभूवह।
वृन्दा यत्र तपस्तेपे तत्तु वृदावन स्मृतम्॥ ( ब्रह्मवैवर्त, १७–२०४ )
वृंदयात्र कृता क्रीड़ा तेन ता मुनि पुंगवः॥ ( ब्रह्मवैवर्त, १४७, १६१, २०६ )

है[1]। चौथे अभिप्राय के सबध मे श्री रूप गोस्वामी का कथन है कि राधा की पौर्णमासी--वीरा आदि अनेक अतरगा सखियो मे एक 'वृ दा' भी थी, जो सब मे वरिष्ठ थी। उसका निवास वृ दावन मे था[2]। पाँचवे अभिप्राय का उल्लेख बौद्ध साहित्य मे मिलता है। उसमे मथुरामडल स्थित जिन अनेक यक्षी–यक्षो के नाम बतलाये गये हैं, उनमे एक वृ दा या वेदा नामक यक्षी का भी है[3]। वे यक्षी-यक्ष अत्यत शक्ति सम्पन्न थे, जो कालातर मे देवी-देवताओ की तरह व्रज मे पूजित हुए है। सभव है, उस वृ दा या वेदा यक्षी के निवास-स्थल को ही वृ दावन कहा जाने लगा हो। इस प्रकार वृ दावन नामकरण की कितनी ही सभावनाएँ बतलाई गई है, किंतु इनमे श्री कृष्ण-प्रिया राधा जी से इसका सबध सर्वाधिक प्रसिद्ध और मान्य है।

**वर्तमान वृ ंदावन**—इसके निर्माण का अधिकाश श्रेय सर्वश्री चैतन्य महाप्रभु, हित हरिवश और स्वामी हरिदास जी के धार्मिक सप्रदायो को है। इन सप्रदायो के धर्माचार्यो और भक्त महानुभावो ने वर्तमान वृ दावन मे निवास कर समस्त उत्तरी भारत को राधा-कृष्ण की माधुर्यमयी उपासना के रग मे रँग दिया था। उनके कारण वृ दावन के विगत गौरव की पुनर्स्थापना हुई। बीस कोसी आकार के प्राचीन विशाल वृ दावन से पाँच कोसी परिधि के नये वृ दावन को पृथक् करने के लिए पहिले इसे 'निज वृ दावन' कहा जाने लगा। फिर इसी को पुराण कालीन वृ दावन का महत्व दिया गया और श्रीकृष्ण-लीला के प्राचीन उल्लेखो का सबध इसी के विभिन्न स्थलो से माना जाने लगा। चीरघाट, नदघाट, कालियदह, वशीवट, केशीघाट आदि वृ दावन के अनेक पुराने और नये स्थल श्रीकृष्ण-लीला के प्राचीन चिन्हो के रूप मे भक्त जनो द्वारा पूजित होने लगे। इस प्रकार वृ दावन का बीहड वन्य प्रदेश एक नागरिक बस्ती के रूप मे परिणित हो गया। इससे वृ ंदावन का धार्मिक महत्व तो बढ गया, किंतु इसका वन-वैभव लुप्तप्राय हो गया। यदि इसके धार्मिक रूप के साथ ही साथ इसकी प्राचीन वन–श्री के सरक्षण की भी चेष्टा की जाती, तो वृ दावन के भावुक भक्तो को यह कहने का अवसर न मिलता—

पहिले कौ सौ, अब न तिहारौ यह वृ दावन। या के चारो ओर, भये बहुविधि परिवर्तन॥
बने खेत चौरस नये, काटि घने वन–पु ंज। देखन को बस रहि गये, निधुवन सेवाकु ंज॥
कहाँ चरिहैं गऊ[4] ?

---

(१) राधा षोडशनाम्नां च वृन्दानाम श्रुतौ श्रुतम्।
तस्याः क्रीडावन रम्यं तेन वृ दावन स्मृतम्॥ ( ब्रह्मवैवर्त, १७–२१९ )
अस्ति वृ ंदावन यस्यास्तेन वृ दावनी स्मृता।
वृन्दावनस्याधिदेवी तेन वार्थ प्रकीर्तिता॥ ( ब्रह्मवैवर्त, १७–२३७ )

(२) पौर्णमासी वीरा वृन्दा वशी नन्दीमुखी तथा॥ ८४॥
कु ंजादि सात्क्रियाभिज्ञा वृन्दा तासु वरीयसी॥ ८८॥
वृन्दावन सदावासा नाना केलिरसोत्सुका॥ ९७॥ ( श्री राधाकृष्णोपदेश दीपिका )

(३) गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स,

(४) श्री सत्यनारायण कविरत्न कृत 'भ्रमरदूत' ( हृदय तरग, पृ० ५९ )

**शृंगारवट**—यह प्राचीन स्थल है। यहाँ पर गोप सखाओ द्वारा श्रीकृष्ण के शृंगार किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। गौडीय धर्माचार्य श्री नित्यानद जी का विश्राम स्थल होने से इसे 'नित्यानद वट' भी कहते है।

**बशीवट**—शरद की रमणीक रात्रि मे रास-क्रीडा करने की इच्छा से श्री कृष्ण ने वट वृक्ष पर चढ कर वेणु नाद करते हुए ब्रज की गोप-बालाओ का आह्वान किया था। यह स्थान उसी माधुर्य लीला का उपक्रम स्थल कहा जाता है। प्राचीन स्थान यमुना जी की बाढ मे वह गया था। बाद मे श्री हित हरिवश जी अथवा श्री मधु गोस्वामी ने इसे प्रसिद्ध किया था। इस समय यह स्थल निंबार्क सप्रदाय के अधिकार मे है और यहाँ श्री बशीवटविहारी तथा हसगोपालजी आदि के दर्शन है। इसी स्थान पर श्री वल्लभाचार्य जी, गोसाई विट्ठलनाथ जी, गोकुलनाथ जी और दामोदर दास हरसानी की बैठके भी है।

**निधुबन**—इसे 'निधिवन' भी कहा जाता है। स्वामी हरिदास जी और उनकी परपरा के सतो का यह निवास-स्थल रहा है। यहाँ पर श्री बिहारी जी का प्राकट्य स्थल है तथा स्वामी हरिदास जी और उनके अनुयायी कई सतो की समाधियाँ है।

**सेवाकुंज**—राधावल्लभ सप्रदाय के प्रवर्तक श्री हित हरिवश जी का यह पुण्य स्थल है। इस रमणीक वन-खड मे श्रीजी का मदिर है और ललिताकुड है। भक्तो की मान्यता है, यहाँ श्री राधा-कृष्ण की अब भी रास-क्रीडा हुआ करती है, अत रात्रि मे यहाँ कोई व्यक्ति नही रह पाता है।

**रासमडल**—वृदावन को श्री राधा-कृष्ण का रास स्थल कहा जाता है, अत यहाँ के 'रास मडल' नामक लीला-स्थल का महत्व स्वयसिद्ध है। हित हरिवश जी ने वृदावन आने पर इसे लोक प्रसिद्ध किया था और स० १५९५ के लगभग इस स्थल पर रज का एक मडल ( मिट्टी का गोल चबूतरा ) बनवा दिया था। वहाँ पर बैठकर वे और उनके सहकारी स्वामी हरिदास जी, व्यास जी तथा उस काल के अन्य 'रसिक' महानुभाव 'रास' और 'समाज' का आयोजन करते थे। बाद मे स० १६४१ मे हित जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचद्र जी के काल मे उनके कृपा-पात्र भगवानदास स्वर्णकार ने इसे पक्का बनवा दिया था। यह ब्रज का सबमे पुराना रासमडल कहा जाता है।

इस समय यह स्थान वर्तमान गोविंद घाट पर है। यह राधावल्लभ सप्रदाय का एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल रहा है। यहाँ पर नरवाहन जी के चरण चिन्ह है। सेवक जी और ध्रुवदास जी ने इसी स्थल पर अपने नश्वर शरीरो का परित्याग किया था, अत उनके स्मृति चिन्ह भी यहाँ है। इस समय यह राधावल्लभ सप्रदायी विरक्त साधुओ के अधिकार मे है। उसी के निकट राधा-वल्लभीय निर्मोही अखाडा भी है।

**ज्ञान गूदडी**—यहाँ पर उद्धव जी द्वारा गोपियो से ज्ञान-चर्चा किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। आषाढ शु० २ को यहाँ रथ-यात्रा का उत्सव होता है। उस दिन विविध मदिरो के रथ यहाँ आकर एकत्र होते है।

**ब्रह्मकुंड** यह प्राचीन कुड श्री रगजी के मदिर के उत्तरी द्वार के निकट है। इस स्थल पर ब्रह्मा जी द्वारा श्री कृष्ण जी के गो-वत्स और गोप-बालको के हरण किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। यहाँ ब्रह्मा जी और गाय-बछडो के दर्शन है। जिस समय वृदावन मे बस्ती न होकर घोर वन था और यहाँ सिह-व्याघ्रादि हिसक पशुओ का निवास था, उस समय करमैती बाई नामक एक
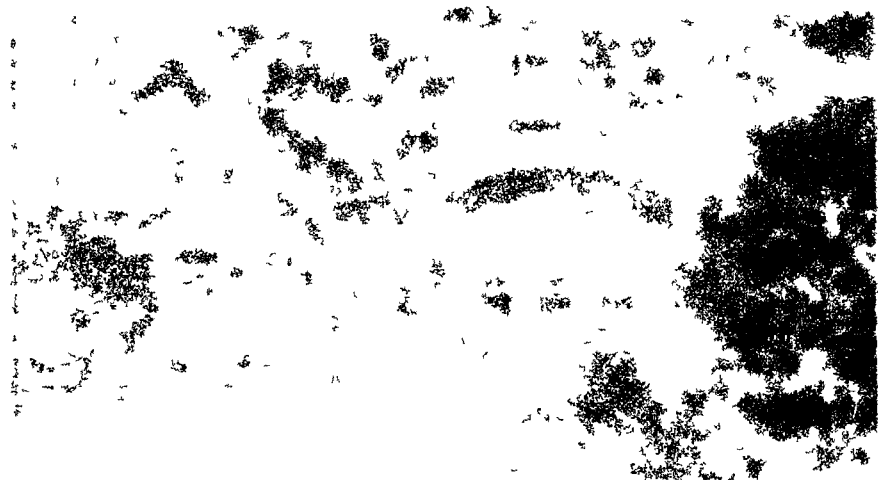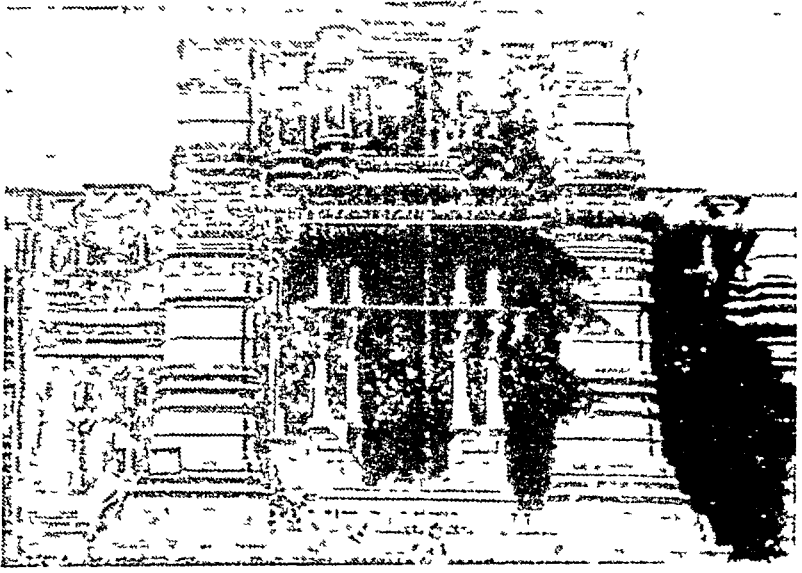
श्री गोविंददेव जी का प्राचीन मंदिर
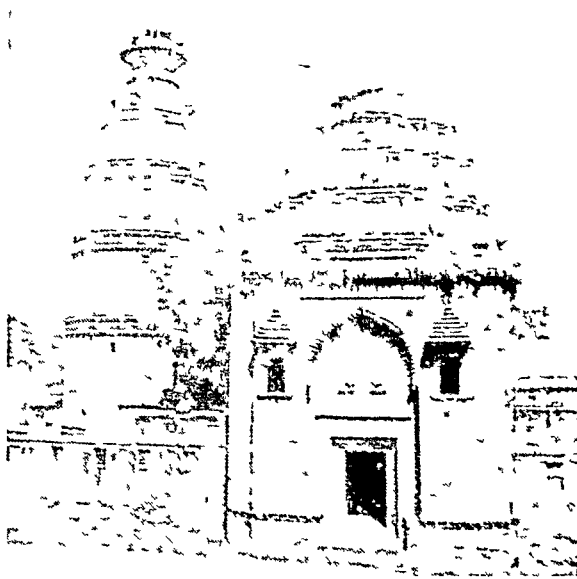
श्री मदनमोहन जी का प्राचीन मंदिर

के कारण वृंदावन के गौडीय भक्तो ने उनका प्रतिभू विग्रह भी स० १८०५ मे स्थापित किया था। नदकुमार नामक एक बगाली भक्त ने पुराने मदिर के निकट एक नया मदिर स० १८७७ मे बनवाया था, जिसमे श्री मदनमोहन जी के प्रतिभू विग्रह को विराजमान किया गया।

इस मदिर के निकट सुप्रसिद्ध भक्त-कवि सूरदास मदनमोहन जी की समाधि बनी हुई है।

**श्री गोपीनाथ जी**—यह चैतन्य सप्रदायी गौडीय भक्त मधु गोस्वामी के उपास्य देव है। इनका पुराना मदिर वशीवट पर है, जिसे रायसेन नामक एक राजपूत सरदार ने बनवाया था। इस स्थल को 'गोपीनाथ जी का घेरा' कहते है। श्री ग्राउस ने लिखा है, यह मदिर स० १६४६ मे ही बन कर तैयार हो गया था। इस प्रकार यह वृंदावन के सबसे पुराने मदिरो मे है और गोविंददेव जी के पुराने मदिर के साथ ही साथ बना था। औरगजेब के समय मे इस मदिर को भी तोडा-फोडा गया था, किंतु उसकी अधिक क्षति नहीं हुई थी। इस प्रकार इस पुराने मदिर का प्राय असली रूप बच गया है। उस समय गोपीनाथ जी की प्रतिमा भी जयपुर चली गई थी, जो वहाँ पुरानी बस्ती के मदिर मे अभी तक विराजमान है। गोपीनाथ जी का प्रतिभू विग्रह स० १८०५ मे वृंदावन मे स्थापित किया गया और उनका नया मदिर नदकुमार वसु ने स० १८७७ मे बनवाया था। उसके निकट ही मधु गोस्वामी की समाधि भी है। पुराने मदिर के बाद उनका दूसरा मदिर जयपुर के सवाई राजा जयसिह ने तथा तीसरा मदिर बगाली भक्त नदकुमार बोस ने बनवाया था[1]। इस समय पुराना मदिर भारत सरकार के सरक्षण मे है।

**श्री युगलकिशोर जी**—यह भी वृंदावन के प्रसिद्ध ठाकुर है। इनके वृंदावन मे कई विग्रह और कई मदिर है। प्रथम देव विग्रह वृंदावन के विख्यात भक्त-कवि श्री हरिराम जी व्यास के सेव्य हैं। इनका प्राकट्य स० १६२० की माघ शु० ११ को वृंदावन मे हुआ था। श्री हरिराम जी व्यास ने उनका सुदर मदिर वृंदावन की पुरानी बस्ती के जिस स्थान पर बनवाया था, वह 'व्यास घेरा' कहलाता है। वहाँ की देव-मूर्ति इस समय पन्ना मे विराजमान है। उनके मदिर के भग्नावेष व्यास घेरा, वृंदावन मे बिखरे पडे है। उक्त स्थल के निकट किशोरी वन मे व्यास जी और उनकी पत्नी की समाधियाँ भी हैं। द्वितीय मदिर वृंदावन के केशीघाट पर बना हुआ है। इसे नौनकरन नामक एक राजपूत सरदार ने जहाँगीर के शासन-काल मे स० १६८४ मे बनवाया था। नौनकरन को चौहान राजपूत कहा गया है, किंतु श्री ग्राउस का अनुमान है कि वह कदाचित गोपीनाथ जी के मदिर के निर्माता रायसेन का बडा भाई था, इसलिए कछवाहा राजपूत था। इस मदिर को भी मुसलमानी आक्रमण मे क्षति पहुँची थी, किंतु अन्य प्राचीन मदिरो की अपेक्षा यह कुछ ठीक दशा मे है। तृतीय मदिर वृंदावन के युगलघाट पर बना हुआ है। इसे जयपुर राज्य के तोमर ठाकुर गोविंददास और हरिदास नामक दो भाइयो ने बनवाया था। इसमे श्री युगलबिहारी जी के दर्शन है और निंबार्क सप्रदाय की सेवा है।

---

(१) तहँ तट गोपीनाथहि जी कौ घेरौ परम सुहायौ।
तहाँ पुरानौ मंद्र, सिखावत रायसेन बनवायौ ॥
पुनि जयसिह सवाई नृप कौ, दूजौ मदिर सोहै।
नंदकुमार बोस कौ मंदिर, तीजौ अति मन मोहै ॥ (वृंदावन धामानुरागावली)

**श्री राधावल्लभ जी**—यह श्री हित हरिवंश जी के उपास्य देव है। इनका पुराना मंदिर भी वृंदावन के प्राचीन मंदिरो की परंपरा मे आता है। उस मंदिर को श्री बनचंद्र जी के शिष्य देवबन निवासी कायस्थ सुंदरलाल खजाची ने बनवाया था। इस मंदिर का निर्माण--काल विवादग्रस्त है, किंतु वह सं० १६४७ से सं० १६६५ के बीच किसी समय बना होगा। उस मंदिर का ध्वंस सं० १७२६ मे औरंगजेब ने कराया था। उसके बाद नया मंदिर सं० १८७१ मे बना, जिसमे श्री राधाबल्लभ जी की मूल प्रतिमा ही विराजमान है। पुराना मंदिर भारत सरकार के संरक्षण मे है।

**श्री राधादामोदर जी**—यह श्री जीव गोस्वामी के उपास्य देव हैं। इनकी सेवा का प्राकट्य सं० १५९९ की माघ शु० १० को हुआ था। इनका मंदिर यमुना तट पर शृंगार वट के समीप है। उससे संलग्न जीव गोस्वामी जी की समाधि है। उसके साथ ही श्री रूप गोस्वामी जी तथा श्री कृष्णदास कविराज की समाधियाँ भी है। यहाँ पर श्री सनातन गोस्वामी द्वारा पूजित गोवर्धन शिला है, जिसका दर्शन केवल जन्माष्टमी के दिन होता है। मंदिर के उत्तर मे एक जीर्ण इमली का वृक्ष है। ऐसा कहा जाता है, जब श्री चैतन्य महाप्रभु वृंदावन आये थे, तब वे इसी स्थल पर विराजे थे। श्री राधादामोदर जी की मूल प्रतिमा इस समय जयपुर के मंदिर मे है। उनका प्रतिभू विग्रह वृंदाबन के मंदिर मे विराजमान है।

**श्री राधारमण जी**—यह श्री गोपाल भट्ट जी के उपास्य देव है। ऐसा कहा जाता है, यह देव विग्रह पहिले शालिग्राम शिला के रूप मे था, जो बाद मे गोपाल भट्ट जी की भावना के अनुसार सुंदर मूर्ति के स्वरूप मे परिवर्तित हो गया था। उनका अभिषेक महोत्सव सं० १५९९ की वैशाखी पूर्णिमा को हुआ था। राधारमण जी के साथ राधा जी का विग्रह नही है, बल्कि उनकी मुकुट सेवा होती है। मंदिर मे मूल प्रतिमा ही विराजमान है, जो अन्य देव मूर्तियो की भाँति वृंदाबन से बाहर नही गई थी। वर्तमान मंदिर लखनऊ के शाह कुंदनलाल और उनके भ्राता शाह फुंदनलाल द्वारा बनवाया हुआ है। मंदिर के निकट श्री राधारमण जी का प्राकट्य स्थल और गोपाल भट्ट जी की समाधि है।

**श्री राधाविनोद जी तथा श्री गोकुलानंद जी**—ये सर्वश्री लोकनाथ जी और विश्वनाथ चक्रवर्ती जी के सेव्य स्वरूप है। इनका मंदिर श्री राधारमण जी के मंदिर के समीप है। दोनो मूल प्रतिमाएँ जयपुर मे है। उनकी प्रतिभू मूर्तियाँ वृंदाबन के इस मंदिर मे विराजमान है। यहाँ पर वह गोवर्धन शिला भी है, जिसे श्री चैतन्य महाप्रभु ने रघुनाथदास गोस्वामी को अर्पित की थी। यहाँ सर्वश्री लोकनाथ जी, नरोत्तमदास ठाकुर और विश्वनाथ चक्रवर्ती की समाधियाँ भी है।

**श्री राधामदनमोहन जी**—यह श्री गदाधर भट्ट जी के सेव्य स्वरूप है, जिनका मंदिर श्री राधावल्लभ जी के मंदिर के समीप भट्ट मुहल्ला मे है। यहाँ का समाज गायन प्रसिद्ध है।

**श्री श्यामसुंदर जी**—यह श्री श्यामानंद जी के सेव्य स्वरूप है। इनका मंदिर श्री राधा-दामोदर जी के मंदिर के निकट है। मंदिर के सामने वाले मार्ग के एक घर मे श्री श्यामानंद जी की समाज वाडी और उनकी समाधि है।

**श्री बाँकेबिहारी जी**—वृंदाबन के सबसे प्रसिद्ध ठाकुर श्री बाँकेबिहारी जी है, जो स्वामी हरिदास जी के सेव्य स्वरूप है। इनका मणि विग्रह स्वामी जी को निधुवन के एक विशिष्ट स्थल से मार्गशीर्ष शु० ५ को प्राप्त हुआ था। उनका मंदिर वृंदाबन की पुरानी बस्ती मे बना हुआ

है। यहाँ की सेवा-प्रणाली की यह विशेपता है कि सभी उत्सव, जैंमे झूला के दर्शन, होली के दर्शन, चरण के दर्शन आदि वर्प मे केवल एक-एक दिन ही होते है। दैनिक झाँकी मे थोडी-थोडी देर पर पर्दा आता रहता है।

**श्री रसिकबिहारी जी**—स्वामी हरिदास जी की शिष्य परपरा के छटे आचार्य रसिकदास जी के यह सेव्य स्वरूप है। वृ दावन निवासी गोपाल कवि का कथन है कि इस स्वरूप का प्राकट्य भी निधुबन से हुआ था। श्री रसिकदास जी ने निधुवन से आकर उनका पुराना मदिर वनवाया और उनकी सेवा-पूजा की यथोचित व्यवस्था की थी[१]। यवनो के आतक काल मे यह देव-मूर्ति सुरक्षा के लिए उदयपुर-डू गरपुर आदि राज्यो मे रखी गई थी। रसिकदास जी की शिष्य परपरा मे गोवर्धनदेव जी ने इनका नया मदिर स० १८१२ मे वनवाया था। उसमे प्रतिष्ठित रसिकविहारी जी की प्रतिमा को कदाचित उसी समय डू गरपुर राज्य से लाया गया था।

**श्री गोरेलाल जी**—ठाकुर श्री रसिकविहारी जी के मदिर के निकट ही श्री गोरेलाल जी विराजमान है, जो हरिदासी सप्रदाय के पाँचवे आचार्य नरहरिदास जी के सेव्य स्वरूप हैं। इस मदिर का निर्माण छटे आचार्य रसिकदास जी के शिष्य गोविंददास जी ने कराया था।

**टट्टी सस्थान के श्री मोहिनीविहारी जी**—स्वामी हरिदास जी की विरक्त शिष्य परपरा के सातवे आचार्य ललितकिशोरी दास जी ने निधुवन से हट कर यमुना किनारे पर 'टट्टी सस्थान' की स्थापना की थी। उनके शिष्य ललितमोहिनी दास जी स० १८२३ मे यहाँ के प्रथम महत हुए थे। उन्होने इस सस्थान मे ठाकुर श्री मोहिनीविहारी को प्रतिष्ठित किया था। इस सस्थान के अतर्गत श्री राधिकाविहारी जी, दाऊजी, प्राणवल्लभ जी, दपतिकिशोर जी आदि ठाकुरो के म दिर भी हैं।

**श्री गोपीश्वर महादेव**—व्रज के चार प्रमुख महादेवो मे इनकी भी गणना की जाती है। यह वृ दावन के प्रसिद्ध और प्राचीन शिव हैं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार श्री कृष्ण के महारास के समय शिव जी वृ दावन आये थे, तव उन्होने गोपी का वेश धारण कर रास लीला का सुखानुभव किया था। उसी स्मृति मे इन गोपीश्वर महादेव की स्थापना की गई है। इनके नाम पर वृ दावन का यह भाग 'गोपीश्वर महल्ला' कहलाता है। यह शिव मूर्ति काफी पुरानी है और इनका म दिर भी वृ दावन का प्रतिष्ठित देव स्थान हे।

**श्री वनखडी महादेव**—यह भी वृ दावन के प्रसिद्ध महादेव है। इनके नाम पर 'वनखडी मुहल्ला' कहलाता है।

**मीराबाई का मदिर**—शाहजी के म दिर के निकटवर्ती गोविदबाग मुहल्ला मे एक छोटा सा म दिर है, जिसे मीरावाई का म दिर कहा जाता है। ऐसी किंवदती हे, जव मीरावाई वृ दावन आई थी और जीव गोस्वामी प्रभृति यहाँ के सतो से मिली थी, तव वह इसी स्थल पर ठहरी थी। उसी स्मृति मे इस म दिर की स्थापना होने की बात कही जाती है। इसके सवध मे जाँच

---

(१) पुनि स्वामी श्री रसिकदेव के रसिकबिहारी जोई।
निधुवन मधि जे प्रगट भये, श्री ललितभान हित सोई॥
तिनकौ प्रथम पुरानौ मदिर, रसिकदेव बनवायौ।
निधुवन मे तें आय यहाँ, तिनको वहु भाँति लडायौ॥
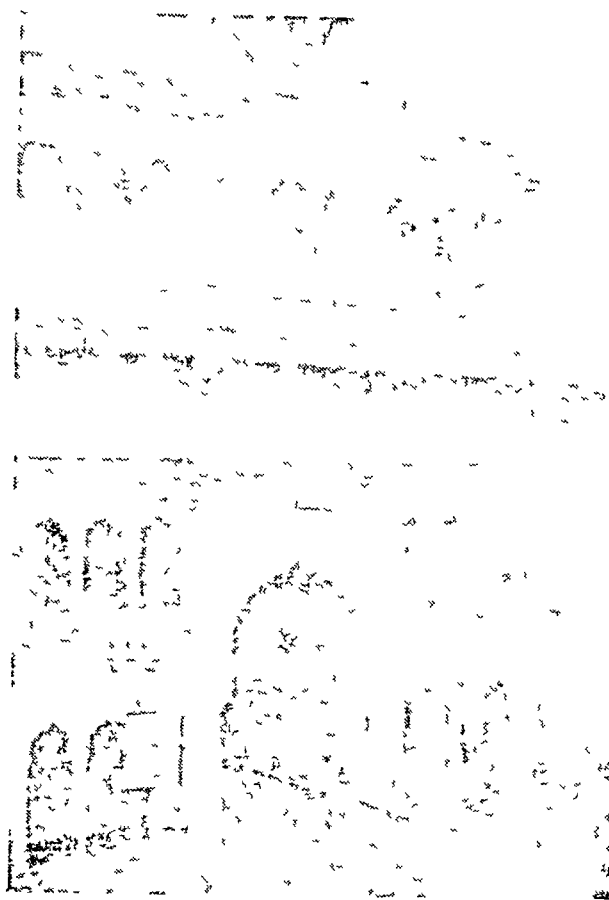
श्री बाकेबिहारी जी का मदिर
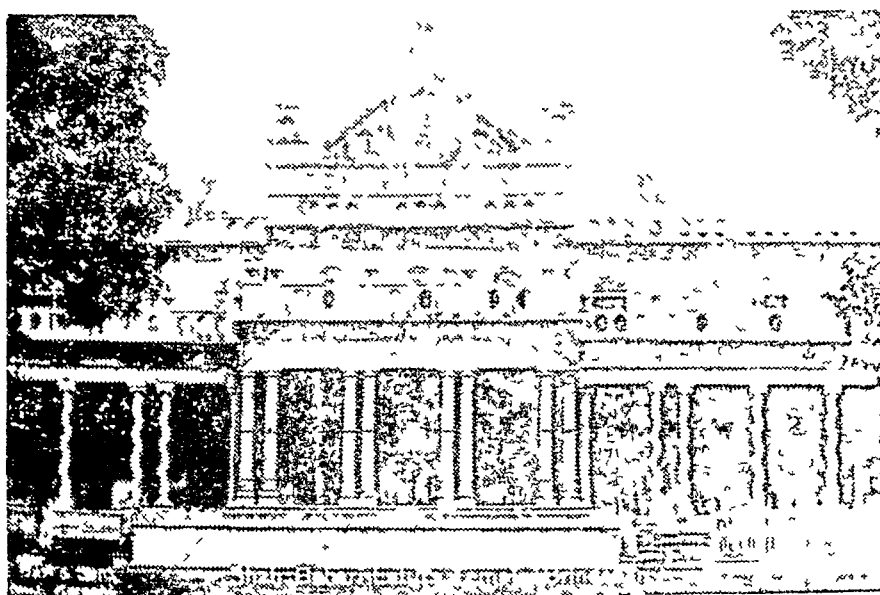
शाह जी का मदिर
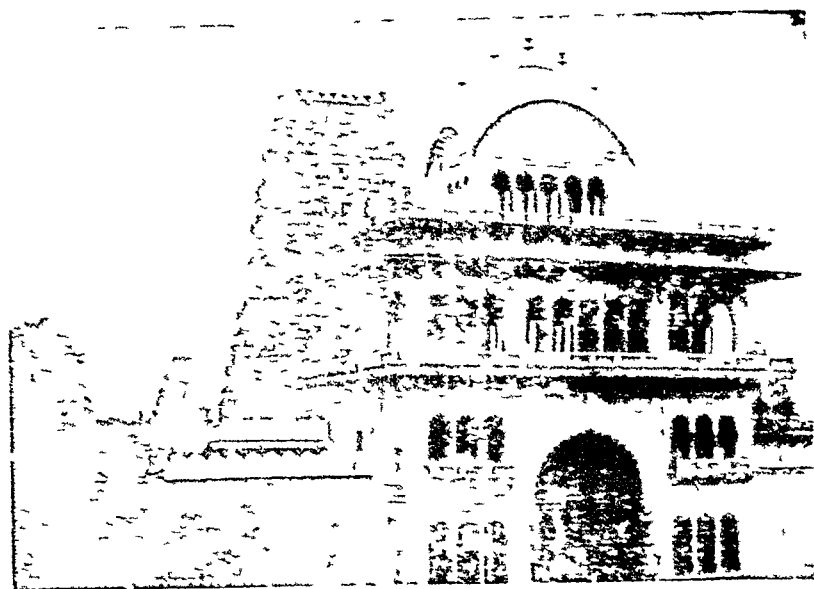
श्री रंग जी का मंदिर

श्री रंग जी के मंदिर का रथ

करने पर ज्ञात हुआ कि इस म दिर के निर्माण की प्रेरक सुप्रसिद्ध मीराबाई जी से भिन्न एक दूसरी मीरा थी और यह म दिर भी २०वी शताब्दी के आरभ मे बना है। ऐसी दशा मे यह कहना कठिन है कि इसका सबध मीराबाई जी से जोडना कहाँ तक ठीक है। वैसे मीराबाई जी के वृ दावन आने की किवदती बहुत प्रसिद्ध है।

इस मदिर मे पाँच मूर्तियाँ है। ऊपर के सिहासन पर ठाकुर सूर्यविहारी जी की श्याम पाषाण की मूर्ति है। उनके एक ओर राधा जी और दूसरी ओर मीराबाई की श्वेत पाषाण की मूर्तियाँ है। नीचे के सिंहासन पर श्री राधा–मनोहर जी की युगल मूर्तियाँ है। यहाँ पर श्रावण मे झूलो के तथा शरद पूर्णिमा और बसत पचमी आदि के उत्सव होते रहे है। इस समय यह म दिर राधा-मनोहर जी के नाम से प्रसिद्ध है और इसकी स्थिति अच्छी नही है।

**श्री रामजी का मदिर**—केशीघाट पर यह मलूकदासी पथ का मदिर है। मलूकदास एक सत कवि थे, जो औरगजेब के समय मे विद्यमान थे। उनकी एक रचना "दश रत्न" है, जिसमे उनके रचे हुए साखियो के दोहे और पद है।

**लाला बाबू का मदिर**—इसे बगाल के धनी जिमीदार कृष्णचद्रसिह ने स० १८६७ मे बनवाया था। उक्त कृष्णचद्र जी ब्रज मे 'लाला बाबू' के नाम से प्रसिद्ध थे, अत उनका यह म दिर भी 'लाला बाबू का म दिर' कहलाता है, जिसमे ठाकुर श्री कृष्णचद्र जी की मूर्ति है। इस म दिर के साथ धर्मशाला है, जहाँ यात्री गण ठहरते है और भिक्षुको को भोजन कराया जाता है। म दिर के प्रबध और उससे लगे हुए धर्मादे की व्यवस्था के लिए लाला बाबू ने बहुत बडी जिमीदारी लगाई थी, जिससे हजारो रुपया वार्षिक आय होती थी। श्री ग्राउस ने लिखा है, उन सब कार्यो मे लाला बाबू के २५ लाख रुपये लगे थे और उन्होने जो जिमीदारी लगाई थी, उससे बाईस हजार रुपया की वार्षिक आय होती थी[1]।

**रगजी का मदिर**—यह वृ दावन का सबसे विशाल और वैभवशाली म दिर है। इसे मथुरा के प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचद जी के छोटे भाई सेठ राधाकृष्ण जी और गोविंददास जी ने बनवाया था। उक्त सेठ बधुओ ने रामानुज सप्रदाय की दीक्षा ली थी। इस म दिर से पहिले उत्तर भारत मे दाक्षिणात्य शैली पर बना हुआ श्री सप्रदाय का कोई म दिर नही था। उस कमी की पूर्ति के लिए इस विशाल म दिर का निर्माण स० १६०८ मे हुआ था।

इसके बनवाने मे ४५ लाख रुपया लगा था। मदिर के उत्सव और सेवा आदि के लिए बहुमूल्य साज-सज्जा की व्यवस्था की गई थी तथा उसके व्यय के लिए ३३ गाँवो की जिमीदारी लगाई गई थी। इन सब कार्यो पर प्राय एक करोड रुपया की लागत आई थी। सेठो की ओर से इस मदिर का भेटनामा स० १६१४ ( १८ मार्च, सन् १८५७ ) मे श्री रगाचार्य जी के लिए कर दिया गया था। उन्होने स० १६२५ मे एक ट्रस्ट बना कर मदिर की प्रबध व्यवस्था का समस्त उत्तरदायित्व उसे सोप दिया था। तब से अब तक ट्रस्टीगण ही सब कार्यो की देख-भाल करते है।

मदिर मे सात परिक्रमाएँ है, जिनमे अनेक छोटे-बडे देवालय बने हुए हुए हैं। मुख्य मदिर मे श्री रगनाथ जी, लक्ष्मी जी और गरुड जी की विशाल प्रतिमाएँ है। इतनी बडी देव–

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, ( तृ० सं० ), पृ० २५७

मूर्तियाँ वृदावन के किसी अन्य मदिर मे नही है और इतना वडा मदिर भी दूसरा नहीं है। इसे 'वडा मदिर' या 'सेठ जी का मदिर' भी कहा जाता है।

इस मदिर मे रामानुज सप्रदाय के अनुसार सेवा होती हे। नित्य की सेवा-पूजा और नैमित्तिक उत्सवो पर वडा व्यय किया जाता हे। प्रति दिन अनेक वैष्णवो और भिक्षुओ को अन्न तथा भोजन का वितरण किया जाता है। उत्सवो मे ठाकुर जी की सेवा-पूजा और उनकी सवारी की व्यवस्था शुद्ध शास्त्रीय रीति से दाक्षिणात्य ढग पर की जाती है। सवारी सोने-चाँदी के वाहनो पर वडी धूम-धाम से निकाली जाती है। उस समय ठाकुर जी पर वडे-वडे छत्रो की छाया की जाती है और साथ मे मसाले तथा वाजे होते हैं। यहाँ का सवसे वडा उत्सव चैत्र मास मे होता है, जिसे "ब्रह्मोत्सव" कहा जाता है। यह दस दिन तक होता है। इसके अतिम दिनो मे रथ और आतिश-वाजी के मेले होते है। उनमे ठाकुर जी की सवारी मदिर मे वगीचे तक जाती है, जहाँ पर हजारो दर्शनार्थी एकत्र होते है। यह वगीचा वहुत वडा है और मदिर से कुछ दूरी पर है।

**ब्रह्मचारी जी का मदिर**—ग्वालियर के राजा जीवाजीराव सिंधिया ने इसे स० १९१७ मे बनवा कर अपने गुरु गिरिधारी दास जी ब्रह्मचारी को अर्पित किया था। इसके सेव्य स्वरूप श्री राधागोपाल जी है तथा इसमे निंवार्क सप्रदाय के मूल आचार्यो की भी प्रतिमाएँ विराजमान है।

**शाह जी का मदिर**—लखनऊ के अग्रवाल जोहरी शाह कुदनलाल फुदनलाल ने सग-मरमर के इस सुदर कलापूर्ण मदिर का निर्माण स० १९२५ मे कराया था। शाह कुदनलाल जी प्रसिद्ध भक्त और उत्कृष्ट कवि थे। उनका काव्योपनाम "ललित किशोरी" था। इस मदिर का नाम भी "ललित कुज" रखा गया, किंतु यह शाह जी के मदिर के नाम से प्रसिद्ध है। यह मदिर अपने रूप-रग और सज-धज मे वृदावन के सभी मदिरो से निराला है।

**अन्य मदिर-देवालय**—उपर्युक्त प्रसिद्ध मदिरो के अतिरिक्त वृदावन मे अनेक छोटे-बडे देवालय है। उनमे से कुछ के नाम इस प्रकार हे—

सवामन शालग्राम का मदिर, टिकारी वाला मदिर, शाहजहाँपुर वाला मदिर, अष्टसखी मदिर, तरास वाला मदिर, जयपुर वाला मदिर, श्रीजी का मदिर, स्वर्णमयी जी का मदिर, वर्मा वाला मदिर, काँच वाला मदिर, श्री कात्यायिनी देवी का मदिर, श्रीराम मदिर, आनदमयी माँ का मदिर, वर्धमान कुज, बरसानियाँ कुज, कानपुर वाली कुज, षडभुज महाप्रभु जी का मदिर, चतुर-विहारी जी का मदिर, यमुना मदिर, जगन्नाथ मदिर, साधु माँ का मदिर, चरखारी वाला मदिर, राधा निवास, दाऊजी का मदिर, मूगेर वाला मदिर, कलाधारी का मदिर, सत्यनारायण जी का मदिर, यशोदानद जी का मदिर, कालीयमर्दन जी का मदिर, नद भवन आदि।

**अन्य दर्शनीय स्थल**—वृदावन मे मदिर-देवालयो के अतिरिक्त जो दर्शनीय स्थल है, उनमे उडिया वावा, काठिया वावा और चार सप्रदाय के आश्रम, अनी-अखाडे, भजनाश्रम, मानव सेवा सघ, गुरुकुल और प्रेम महाविद्यालय आदि है।

वृदावन मे यात्रा तीन दिन तक ठहरती है। उस काल मे यात्री गण प्रथम दिन वहाँ के मदिर-देवालयो के दर्शन करते है और रास देखते है। दूसरे दिन वृदाबन की स्थानीय परिक्रमा

की जाती है, जिसका परिमाण ५ कोस का है। इस परिक्रमा मे वृ दावन के सभी लीला स्थलो, म दिर-देवालयो और कु ज-घाटो आदि के दर्शन हो जाते है। तीसरे दिन यात्री गण वृ दावन के निकटस्थ लीला–स्थलो के दर्शनार्थ जाते है। ऐसे स्थलो मे भतरौड–अक्रूरघाट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

**भतरौड–अक्रूरघाट**—व्रज का यह प्राचीन स्थल वृ दावन से मथुरा जाने वाले कच्चे मार्ग मे यमुना की धारा के निकट है। कृष्ण-काल मे यहाँ ब्राह्मणो ने यज्ञ किया था और उनकी पत्नियो ने श्री कृष्ण के साथी गोप-बालको को भोजन कराया था। उसी स्मृति मे यहाँ के एक टीले पर श्री भतरौडविहारी जी का म दिर बनाया गया है। जब कस की इच्छानुसार अक्रूर जी कृष्ण-बलराम को साथ लेकर वृ दावन की गोप–बस्ती से मथुरा गये थे, तब उन्होने इसी स्थल पर यमुना-स्नान और सध्या-वदन किया था। उक्त स्मृति मे भतरौड के निकटवर्ती यमुना किनारे का यह घाट **'अक्रूर घाट'** कहलाता है। वृ दावन की वर्तमान बस्ती बसने से पहिले जो यात्री मथुरा से वृ दावन की यात्रा के लिए आते थे, वे प्राय इसी स्थल से वापिस लौट जाते थे, क्यो कि उस काल मे यहाँ से आगे ऐसा बीहड वन था, जिनमे प्रवेश करना साधारण यात्रियो के लिए सभव नही था। जब चैतन्य महाप्रभु ब्रज-यात्रा के लिए आये थे, तब उन्होने इसी स्थल पर निवास किया था। यहाँ श्री अक्रूरविहारी जी और श्री गोपीनाथ जी के म दिर है।

वृ दावन से यात्रा का पडाव उठने पर यात्री गण नावो द्वारा यमुना पार करते है। फिर वे मानसरोवर, पानीगाँव और कल्याणपुर होते हुए और यमुना के किनारे-किनारे चलते हुए लोहवन पहुँच कर मुकाम करते है।

**मानसरोवर**—यह वृ दावन के सामने यमुना के पार एक रमणीक सरोवर है। इस स्थल पर श्री राधा जी द्वारा मान किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। श्री हित हरिवश जी को यह स्थान अत्यंत प्रिय था। यहाँ पर उनकी बैठक हे, जो उनके अनुयायी विरक्त साधुओ के अधिकार मे है। इसी के समीप श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक भी है।

**पानीगाँव**—यह स्थान मानसरोवर से दो मील दक्षिण की ओर यमुना की खादर मे बसा हुआ है। वर्षा ऋतु मे यहाँ प्राय सभी जगह पानी भर जाता है, इसी लिए इसे 'पानीगाव' कहते है। यह दुर्वासा ऋषि का प्राचीन स्थल कहलाता है। कृष्ण-काल मे ब्रज की गोपियो ने यमुना पार कर यहाँ दुर्वासा ऋषि को भोजन कराया था। जाट राजा सूरजमल की रानी का बनवाया हुआ यहाँ एक म दिर है।

## २१–लोहवन (ब्रज-यात्रा का इक्कीसवाँ मुकाम) मि कार्तिक कृ० ६—

**लोहवन**—यह स्थान मथुरा के सामने यमुना के उस पार है। इससे सबधित अनुश्रुति है कि यहाँ श्री कृष्ण ने लोहजघ नामक एक असुर का सहार किया था। उक्त असुर की गुफा भी यहाँ बतलाई जाती है। यहां पर श्री गोपीनाथ जी का म दिर है तथा लोह कु ड और कृष्ण कूप है। भागवतादि पुराणो मे श्रीकृष्ण द्वारा उक्त असुर के वध किये जाने की कथा नहीं मिलती है। इस पर श्री ग्राउस का मत है, लोहजघ कोई असुर नही था। वह मथुरा का एक ब्राह्मण था, जो बडे चमत्कारिक ढग से लका गया था। उसी के नाम पर कदाचित इस स्थान का लोहवन नाम पडा है।

उक्त ब्राह्मण की कथा सोमदेव कृत सस्कृत ग्रथ 'वृहत् कथा' मे है, जिसकी रचना काश्मीर के राजा हर्षदेव के शासन काल ( स० ११११६–११२८ ) मे हुई थी[1]।

लोहवन मे यात्रा का मुकाम एक दिन रहता है। वहाँ से उठ कर यात्रा आनदी तथा वदी नामक स्थलो पर होती हुई बलदेव पहुँच कर पडाव डालती है।

**आनंदी और वदी**—यहाँ पर उक्त नामो की लोक देवियो के म दिर है और आनदी कु ड है। आनदी और वदी को यशोदा जी की परिचारिकाएँ कहा जाता है।

## २२–बलदेव ( ब्रज-यात्रा का बाईसवा मुकाम ) मि कार्तिक कृ० ७—

**बलदेव**—यह स्थान मथुरा-सादाबाद सडक पर है, जो मथुरा से १४ मील और महावन से ६ मील दूर है। यहाँ की प्रसिद्धि श्री बलदेव जी ( दाऊजी ) के म दिर के कारण हुई है। इस गाँव का पुराना नाम रीढा है, किंतु अब यह बलदेव कहलाता है। यहाँ के म दिर मे श्री दाऊजी और रेवती जी की सु दर विशाल मूर्तियाँ हैं। ब्रजम डल की वर्तमान उपास्य मूर्तियो मे बलदेव जी की यह मूर्ति कदाचित सबसे प्राचीन है। मुगल सम्राट अकबर के शासन-काल मे इसे स्थानीय कु ड मे से प्राप्त किया गया था और गो० गोकुलनाथ जी ने इसे पूजनार्थ प्रतिष्ठित किया था। उन्होने यहाँ के कल्याण जी अहिवासी को उनकी सेवा-पूजा करने का आदेश दिया था। तब से उन्ही के वशज अहिवासी गण मदिर के पुजारी होते है। कालातर मे वहाँ म दिर बन गया और धर्मशालाएँ निर्मित हुई तथा बस्ती बस गई। इस प्रकार रीढा गाँव बलदेव अथवा दाऊजी के नाम से ब्रज का एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल हो गया। ब्रज मे दाऊजी की बडी मान्यता है। हजारो नर-नारी दूर-दूर से उनके दर्शनो के लिए आते रहते है। वैसे तो सभी जातियो के यह पूजनीय है, किंतु ब्रज की जाटव जाति इन्हे अपना मुख्य देवता मानती है। इनका भोग माखन, मिश्री और भाँग का लगाया जाता है। यहाँ का कु ड 'क्षीर सागर' कहलाता है। यह ब्रज का एक प्राचीन तीर्थस्थल है, किंतु इस समय इसकी दशा अच्छी नही है। यहाँ दो बडे मेले होते हे,—एक देवछट का, जो भाद्रपद शु० ६ को होता है और दूसरा दाऊजी की पूनौ का, जो अगहन शु० १५ को होता है। यहाँ की मिश्री और मिट्टी के बर्तन प्रसिद्ध है।

बलदेव ब्रज-यात्रा का सुदूरवर्ती दक्षिणी–पूर्वी स्थल है। यहाँ से यात्रा लौट पडती है और महावन होती हुई गोकुल मे जाकर पडाव डालती है।

## २३–गोकुल ( ब्रज-यात्रा का तेईसवाँ मुकाम ) मि कार्तिक कृ० ८—

**महावन**—बलदेव से गोकुल आने के मार्ग मे सबसे प्रमुख स्थान महावन पडता है। इसे पुराना गोकुल भी कहा जाता है। अत्यत प्राचीन काल मे यह एक विशाल सघन वन था, जो यमुना पार के वर्तमान दुर्वासा आश्रम तक विस्तृत था। पुराणो मे इसका उल्लेख वृहद्वन, महावन, नदकानन, गोकुल, गो-ब्रज आदि नामो से हुआ है। ब्रह्माडपुराण के 'वृहद् वन माहात्म्य' मे महावन की धार्मिक महत्ता का वर्णन किया गया है। उसमे महावन क्षेत्र के जिन २१ धार्मिक स्थलो का नामोल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार है—१ यमलार्जुन, २ नदकूप, ३ चिंताहरण,

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर ( तृ० स० ) पृष्ठ ३३६

४. ब्रह्मांड घाट, ५. सरस्वती कुंड, ६. सरस्वती शिला, ७ विष्णु कुंड. ८. कर्ण कूप ९. कृष्ण कुंड, १०. गोप कूप, ११. रमणरेती, १२. रमण स्थान, १३ नारद स्थान, १४. पूतना पातन, १५ तृणावर्त पातन, १६. नंद अंतपुर, १७ नदालय, १८. रमण घाट, १९ मथुरानाथ जी का स्थान, २०. बलदेव जन्म स्थान और २१. योगमाया का जन्म स्थान[२]।

उपर्युक्त धार्मिक स्थलो में से कुछ तो महावन की सीमा के अदर है और कुछ उसके आस-पास हैं। उनमे से प्रमुख स्थलों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

**श्यामलला जी का मदिर**—यह देवालय नदराय जी के निवास स्थल की स्मृति मे बनाया गया है। ऐसा कहा जाता है, वसुदेव जी इसी स्थान पर नवजात शिशु कृष्ण को छोड गये थे। यहाँ बालक श्री कृष्ण के दर्शन है।

**छटी पालना ( चौरासी खभा ) का मंदिर**—इसे रोहिणी जी का भवन और बलराम जी का जन्म स्थान कहा जाता है। प्राचीन काल में यहां पर बलराम जी का विशाल सुदर मंदिर था, जो मुसलमान आक्रमणकारियो ने नष्ट कर दिया था। उसके कलात्मक स्तभ तथा सुदर पाषाण खंड शताब्दियो तक बिखरे पड़े रहे थे। बाद मे उन्ही पुराने अवशेषो को जोड कर बहुसंख्यक खंभो वाला एक मडपदार मंदिर बना लिया गया। उसके खभो के कारण इसे 'चौरासी खभा का मदिर' कहा जाता है; यद्यपि इसके खभे इतनी सख्या में नही है। वहां के लोगो की मान्यता है, प्राचीन काल मे यह नदराय जी का भवन था, जहाँ यशोदा जी और रोहिणी जी ने अपने नवजात बालक कृष्ण-बलराम को पालने मे झुलाया था, इसीलिए इसे 'छटी पालना का मंदिर' कहते है। स्थानीय माताएँ अपने नवजात शिशुओं की छटी के दिन इस मंदिर मे दर्शनार्थ आती है।

**योगमाया का मदिर**—यशोदा जी ने जिस कन्या को जन्म दिया था और कस ने बालक कृष्ण के धोखे मे जिसका वध किया था, उसे योगमाया का अवतार माना जाता है। यह मदिर उसी देवी का है। यह एक ऊँचे टीले पर बना हुआ है, जो किसी पुराने किले या बुर्ज सा जान पडता है।

**तृणावर्तारि भगवान् का मदिर**—पुराणो से ज्ञात होता है, बालक कृष्ण को मारने के लिए एक असुर तृणावर्त ( धूल का बवडर ) बन कर आया था, जिसे कृष्ण जी ने समाप्त कर दिया था। उसी स्मृति मे यह मंदिर बनाया गया है।

**महामल्लराय जी का स्थान**—कृष्ण-बलराम अपने बाल्य काल मे ही मल्ल विद्या मे इतने निपुण हो गये थे कि उन्होने कस के बडे-बडे मल्लो और योधाओ को सरलता से पराजित कर दिया था। वे मल्लो के लिए 'महामल्ल' दिखलाई पडते थे। उनके उसी रूप के दर्शन इस स्थान पर होते है।

---

(२) एकाविंशति तीर्थना युक्तं भूरिगुणान्वितम्। यमलार्जुन पुण्यात्मानम्, नंदकूपं तथैव च॥
चिताहरण ब्रह्मांडं, कुंडं सारस्वत तथा। सरस्वती शिला तत्र, विष्णुकुंड समन्वितम्॥
कर्णकूपं कृष्णकुंड, गोपकूपं तथैव च। रमण रमणस्थानं, नारदस्थान एव च॥
पूतनापातन स्थान, तृणावर्ताख्य पातनम्। नंदहर्म्यं नंदगेहं, घाट रमण संज्ञकम्॥
मथुरानाथोद्भवं क्षेत्रं पुण्यं पापप्रनाशनम्। जन्मस्थान तु शेषस्य, जन्मयोगमायया॥
—ब्रह्मांड पुराण, बृहद्वन माहात्म्य।

**मथुरानाथ जी का मदिर**—यह प्राचीन देव मूर्ति एक साधारण से शिखरदार मदिर के चबूतरे पर रखी हुई है। उसे देखने पर ऐसा लगता है कि वह किसी अन्य स्थान से लाकर वहाँ रख दी गई हो। औरगजेब ने श्रीकृष्ण जन्म स्थान मथुरा के जिस ऐतिहासिक मदिर को तोडा था, उसमे श्री केशवदेव जी की प्रधान मूर्ति के साथ दो मूर्तियाँ श्री मथुरानाथ जी और श्री कल्याण राय जी की भी थी। इसका उल्लेख उस काल के एक मारवाडी यात्री ने किया है[1]। ऐसा अनुमान होता है, औरगजेब के आक्रमण काल मे मथुरानाथ जी की वह प्राचीन मूर्ति मदिर से हटा कर यहाँ छिपा दी गई थी और बाद मे उसे इस मदिर रख दिया गया था। इस देव मूर्ति के निकट वराह भगवान् की भी एक प्राचीन प्रतिमा है। वह भी किसी काल मे मथुरा से ही लाकर यहाँ रखी गई होगी।

**चिताहरण**—महावन से कुछ दूर यमुना तट के घाट को चिताहरण घाट कहते है। वहाँ चिताहरण महादेव का एक मदिर भी है।

**ब्रह्माड घाट**—महावन से कुछ दूर यमुना तट का यह एक रमणीक स्थल है, जहाँ सघन वृक्षो की छाया मे शातिपूर्ण तपोवन का सा दृश्य दिखलाई देता है। बालक कृष्ण के मिट्टी खाने पर जब यशोदा जी ने उनका मुख खोल कर देखा था, तब उसमे उन्हे समस्त ब्रह्माड की रचना दिखलाई दी थी। उक्त पौराणिक अनुश्रुति का सबध इस स्थल से बतलाया जाता है। उस दिव्य घटना की स्मृति मे यहाँ श्री ब्रह्माडबिहारी जी का एक छोटा सा मदिर बनाया गया है। उसके समीपवर्ती एक बगीचे मे कतिपय सन्यासियो की भजन कुटियाँ है और एक सस्कृत पाठशाला है।

**यमलार्जुन का मदिर**—यशोदा जी के आँगन मे लगे हुए अर्जुन के दो जुडवाँ वृक्षो को श्री कृष्ण द्वारा गिराये जाने की घटना का पुराणो मे उल्लेख हुआ है। उसी की स्मृति मे यहाँ एक प्राचीन देवालय था। ओरछा के राजा वीरसिहदेव ने स० १६७६ मे यहाँ एक बडा मदिर बनवाया था, जो यवन आक्रमणकारियो द्वारा किसी समय नष्ट कर दिया गया था। इस समय यहाँ एक पक्की तिवारी बनी हुई है और एक शिलालेख लगा हुआ हे।

**पूतना खार**—महावन गाँव के बाहर एक नीचे स्थल को पूतना खार कहा जाता है। यहाँ पूतना राक्षसी की दाह-क्रिया किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। इस स्थल पर कार्तिक शु० ६ को पूतना का मेला होता है।

**रमणरेती**—यह धार्मिक स्थल महाबन से गोकुल जाने वाले कच्चे मार्ग मे यमुना पुलिन पर स्थित है। इसे बाल कृष्ण के खेल-कूद का स्थान कहा जाता है। यहाँ श्री रमणबिहारी जी का मदिर है। इसके निकटवर्ती बनखड को **'खेलन बन'** कहते है। श्री ग्राउस ने लिखा है,—"इस बन मे कुछ वृक्ष 'पारस पीपर' की जाति के है, जिनमे शीत काल मे कपास की तरह के फूल निकलते है। ऐसे वृक्ष ब्रज मे अन्यत्र नही है[2]।" इस स्थल का वर्तमान महत्व **'कार्ष्णि पथ'** के केन्द्र स्थान होने के कारण है। उक्त पथ की स्थापना महात्मा गोपालदास जी ने की थी और उनके शिष्य श्री हरिनामदास जी ने यहाँ एक सुदर आश्रम बनवाया है। इस आश्रम मे कृष्णोपासक विरक्त

---

(१) **ब्रज और ब्रज-यात्रा**, पृष्ठ ११७

(२) **मथुरा–ए–डिस्ट्रक्ट मेमोग्रर**, पृ० २८०

साधु गण भजन–कीर्तन और कथा–प्रवचन मे तल्लीन रह कर गो-सेवा एव साधु-सत्कार करते है। उक्त आश्रम से कुछ दूर गोकुल के मार्ग मे दो भग्न छतरियाँ है, जिन्हे अलीखान पठान और उसकी कृष्णोपासक पुत्री की समाधियाँ कहा जाता है। उन मुसलमान पिता-पुत्री के भक्ति-भाव का उल्लेख वल्लभ सप्रदायी वार्ता मे हुआ है[1]। उस स्थल के निकटवर्ती एक कूप को 'गोप कूआ' कहते है और उसके समीप के टीले को 'गोविदस्वामी का टीला' कहा जाता है। वही पर लाल पत्थर की एक सु दर छतरी है, जिसे भक्तवर रसखान की समाधि बतलाया जाता है, किंतु यह भ्रमात्मक कथन ज्ञात होता है।

**उत्सव-मेले**—महाबन मे कई उत्सव–मेले होते है। उनमे दशहरा पर होने वाली रामलीला, कार्तिक शु० ६ को होने वाला पूतना का मेला, माघ के चारो रविवारो को होने वाला 'जखैया का मेला' तथा फाल्गुन शु० ११ को होने वाला रमणरेती का उत्सव मुख्य है।

यहाँ की स्थानीय परिक्रमा कार्तिक शु० ५ को की जाती है।

**गोकुल**—इस धार्मिक स्थल की प्रसिद्धि भगवान् कृष्ण के शैशव काल की लीलाओ के कारण हुई है। भागवतादि पुराणो से ज्ञात होता है, मथुरा स्थित कस के कारागर मे जन्म लेते ही बालक कृष्ण को कस से छिपा कर यमुना पार की गोप-बस्ती अर्थात् गोकुल मे भेज दिया था। वही पर उनका शैशव काल व्यतीत हुआ था। कृष्णकालीन गोकुल कहाँ था, यह पुरातत्ववेत्ताओ और शोधकर्ताओ के अनुसधान का विषय रहा है। कुछ लोगो का मत है, नवजात शिशु कृष्ण को कस के भय से जहाँ छिपाया गया था, उस स्थल को अब 'महाबन' कहते है, अत वही पुराना गोकुल है। वर्तमान गोकुल वल्लभ सप्रदायी गोस्वामियो द्वारा १६वी शती मे बसाया गया है।

वल्लभ सप्रदायी साहित्य से ज्ञात होता है कि गोकुल की वर्तमान बस्ती को गोसाई विट्ठलनाथ जी ने स० १६२८ मे बसाया था। इसका यह अभिप्राय नही है कि उससे पहिले गोकुल का अस्तित्व ही नही था। ऐसे कई प्रमाण मिलते है, जिनसे सिद्ध होता है कि स० १६२८ से पहिले भी 'गोकुल' नामक स्थान था, जो 'महाबन' से पृथक् था। जब चैतन्य महाप्रभु के परिकर जगतानद जी ब्रज की यात्रा के लिए आये थे, तब उन्होने 'गोकुल' और 'महाबन' दोनो स्थानो को देखा था और वहाँ निवास किया था। इसका उल्लेख श्री कृष्णदास कविराज ने किया है[2]। कृष्ण-कालीन गोकुल एक विस्तृत बनखड था, जो वर्तमान महाबन से वर्तमान गोकुल तक फैला हुआ था। इस प्रकार इन दोनो स्थानो को प्राचीन गोकुल के अतर्गत माना जा सकता है। कालातर मे जब प्राचीन बनो के स्थान पर बस्तियाँ बसने लगी, तब उस बन मे महाबन और गोकुल के नाम से दो पृथक्-पृथक् स्थान बस गये थे। इनमे वर्तमान महाबन निश्चय ही वर्तमान गोकुल से पुराना है और उसका ऐतिहासिक महत्व भी अधिक है।

---

(१) पीरजादी और अलीखान पठान की वार्ता—

—दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, प्रथम खड, पृष्ठ २६६

(२) सनातन कराइल तारे द्वादशादि बन। 'गोकुले' रहिला दुहे देखि 'महाबन'॥
सनातन गुफा तें दुहे रहे एक ठाई। पंडित करेन पाक देवालय जाई॥

—श्री चैतन्य चरितामृत (अन्त्य लीला, १३वाँ परिच्छेद, पृ० २४४)

भागवतादि पुराणो मे और उनके आधार पर सूरदासादि भक्त कवियो की रचनाओ मे 'गोकुल' का उल्लेख किसी निश्चित स्थान के लिए न होकर चलती–फिरती गोप-वस्ती के लिए किया गया है। वही वस्ती पहिले मथुरा के सामने यमुना पार के एक वडे वन ( वृहत्वन अथवा महावन ) मे थी। जब वहाँ कस का उपद्रव वढ गया, तव उसे वृंदावन के सुदूर सघन वन मे वसाया गया था। सूरदास की रचनाओ मे वृदावन की उस गोप वस्ती को भी 'गोकुल' कहा गया है। कस ने अपने दूत अक्रूर को वृदावन की गोप-वस्ती मे भेज कर वहाँ से कृष्ण-वलराम को मथुरा आने के लिए निमत्रित किया था। सूरदास ने उस गोप-वस्ती को भी 'गोकुल' कहा है[1]। जव कृष्ण मथुरा आ गये और उनके द्वारा कस का वध हो गया, तव एक दिन उन्होने अपने सखा उद्धव को इसलिए वृदावन भेजा कि वह कृष्ण के विरह मे दुखित गोप समुदाय को ज्ञानोपदेश देकर उन्हे सान्त्वना प्रदान करे। उद्धव जी अपने ज्ञान के अभिमान मे भरे हुए वृदावन गये थे। सूरदास ने उस प्रसग पर भी वृदावन की गोप-वस्ती को 'गोकुल' की सज्ञा दी है[2]।

इस समय 'गोकुल' के नाम से जो स्थान प्रसिद्ध है, वह वल्लभ सप्रदाय की देन है। उसके महत्व का सूत्रपात श्री वल्लभाचार्य जी ने किया था। वाद मे उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथ जी ने उसे अपना निवास–स्थान वना कर उसके गौरव की वृद्धि की थी। श्री वल्लभाचार्य जी का स्थायी निवास तो प्रयाग के निकट अडैल मे था, किंतु जव वे ब्रज मे आते थे, तव वे गोकुल मे विश्राम कर गोवर्धन चले जाते थे। उनकी ८४ वैठको मे सवसे प्रथम गोकुल के गोविंद घाट की है, जिसकी स्थापना स १५५० मे ही हो गई थी। वल्लभाचार्य जी के उपरात उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी अडैल की अपेक्षा गोकुल मे रहना अधिक पसद करते थे। उन्होने सम्राट अकव्वर से सुविधा प्राप्त कर स० १६२८ से गोकुल मे स्थायी रूप से रहना आरभ किया था। उनके कारण वहाँ अनेक मदिर–हवेलियो का निर्माण हुआ और उनके अनुयायी भक्तगण वहाँ अधिक सख्या मे आकर रहने लगे। इस प्रकार गोकुल की नई वस्ती वस गई। सम्राट अकवर ने स० १६३४ और स० १६३८ के फरमानो द्वारा गो० विट्ठलनाथ जी को गोकुल मे रहने के लिए राजकीय सुविधाएँ प्रदान की थी। वाद मे स० १६५१ के फरमान द्वारा सम्राट ने गोकुल गाँव की जिमीदारी भी गो० विट्ठलनाथ जी के वशजो को सदा के लिए माफी मे दे दी थी। इस प्रकार गोकुल पर वल्लभ सप्रदाय के गोस्वामियो का वशपरपरागत अधिकार कायम हो गया और यह स्थान इस सप्रदाय का प्रमुख केन्द्र वन गया।

---

(१) तव रथ वैठि चले सुफलक–सुत, सध्या 'गोकुल' आये।
मथुरा तें 'गोकुल' नहिं पहुँचे, सुफलक सुत को साझ भई ॥३५६८॥

(२) १ ऊधौ मन अभिमान वढायौ।
सूरदास प्रभु 'गोकुल' पठवत, मै क्यो कहो कि आन ॥४०४७॥

२ तुम पठवत 'गोकुल' को जैहो।
जो मानि हैं ब्रह्म की वातें, तो उनसो मै कैहो ॥४०४८॥

३ मधुवन तें चल्यौ, तवहिं 'गोकुल' नियरान्यौ।
देखत ब्रज के लोग, स्याम आयौ अनुमान्यौ ॥४०७५॥

यहाँ पर वल्लभ सप्रदाय के सातो सेव्य स्वरूपो के मदिरो का निर्माण हुआ और गोस्वामियो की बैठके बनाई गई। इस प्रकार स० १६२८ से १७२६ तक प्राय एक शताब्दी के काल मे गोकुल का धार्मिक महत्व चरमोत्कर्ष पर रहा था। स० १७२६ मे मुगल सम्राट औरगजेब ने ब्रज के मदिरो और देव मूर्तियो को नष्ट करने का आदेश जारी किया था। उसके कारण वल्लभ सप्रदाय के सभी सेव्य स्वरूप गोकुल से हटा कर हिंदू राजाओ के राज्यो मे भेज दिये गये थे, जिनमे से अधिकाश वहाँ ही विराजमान है। केवल श्री गोकुलनाथ जी का प्राचीन स्वरूप ही वाद मे वापिस आ सका था। इस प्रकार औरगजेब की दमन नीति के फलस्वरूप गोकुल का प्राचीन धार्मिक वैभव समाप्त प्राय हो गया और वह वस्ती एक प्रकार से उजड गई।

श्री ग्राउस ने गोकुल का वर्णन करते हुए सर्वश्री वल्लभाचार्य जी, विट्ठलनाथ जी और उनके द्वारा प्रचारित भक्ति सप्रदाय का भी उल्लेख किया है, किंतु वे उसे ठीक तरह से नही लिख सके है। उन्हे इस सप्रदाय के धार्मिक सिद्धात को भली भाँति समझने का सुयोग नही मिला था, और उनके काल मे इस सप्रदाय की दशा भी अच्छी नही थी, इसलिए उन्होने इसके सबध मे कुछ भ्रमात्मक विचार प्रकट किये है। वल्लभ सप्रदाय के प्रसिद्ध पारिभाषिक नाम 'पुष्टि मार्ग' का अर्थ उन्होने भ्रम मे 'आनद प्राप्ति अथवा सुखोपभोग का मार्ग' ( Way of happiness ) समझा है[1], जब कि वास्तव मे इसका अभिप्राय 'भगवान् के अनुग्रह का मार्ग' है।

यहाँ पर गोकुल के प्रमुख धार्मिक स्थलो का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

**श्री गोकुलनाथ जी का मंदिर**—यह गोकुल का प्रधान मदिर है। यहाँ के सेव्य स्वरूप वल्लभ सप्रदाय के प्रसिद्ध सात स्वरूपो मे से है। इस मदिर मे श्री वल्लभाचार्य जी और श्री विट्ठल नाथ जी की पादुका, माला, उपरना और हस्ताक्षर–लेख आदि प्राचीन दर्शनीय वस्तुएँ है।

**श्री राजा ठाकुर का मदिर**—यहाँ के मुख्य स्वरूप श्री नवनीतलाल जी है, जिन्हे राजा ठाकुर कहा जाता है। उन्ही के निकट श्री वालकृष्ण जी विराजमान है। यहाँ गोस्वामी वडे दाऊजी की बैठक भी है। यह गोकुल का अत्यत प्राचीन मदिर है।

**श्री गोपाललाल जी का मदिर**—इसे चौकी वाला मदिर भी कहते है। इसमे श्री नवनीत प्रिय जी और श्री वालकृष्ण जी के स्वरूप है।

**मोरवाला मंदिर**—इसमे श्री नवनीत प्रिय जी और श्री मदनमोहन जी के स्वरूप है।

इनके अतिरिक्त कटरा वाला मदिर, श्री दाऊजी का मदिर, श्री राधा माजी (जामनगर वाला) मदिर, श्री व्रजेश्वर जी का मदिर, श्री गगावेटी जी का मदिर, श्री मथुरेश जी का मदिर, श्री नत्थू जी का मदिर, श्री पार्वती वहू और श्री भामिनी वहू के मदिर, श्री वल्लभलाल कामवन वालो का मदिर आदि हैं। यहाँ पर महादेव जी के भी दो मदिर है, जिन्हे जोधपुर के राजा विजयसिंह ने स० १६५६ मे वनवाया था। यहाँ एक पक्का सुदर तालाव है, जिसे चुन्ना का तालाव कहते है। यहाँ की एक वावड़ी को रीवा के सचिव मनोहरलाल भाटिया ने वनवाया था। ववई के मोटा मदिर द्वारा सचालित यहाँ पर एक वडी गोशाला भी है।

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोयर, ( तृ० स० ) पृ० १८६ की पाद–टिप्पणी।

**घाट**—गोकुल मे यमुना जी के १२ घाट है, जिनमे गोविद घाट और ठकुरानी घाट विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

**बैठकें**—गोकुल मे वल्लभ सप्रदायी गोस्वामियो की अनेक बैठके है। उनमे सबसे प्राचीन बैठक महाप्रभु श्री बल्लभाचार्य जी की है, जो गोविदघाट पर छोकर के नीचे बनी हुई हे। वह बैठक आचार्य जी के सर्व प्रथम ब्रज मे पधारने की स्मृति मे बनाई गई थी। वही पर स० १५५० की श्रावण शु० ११ को आचार्य जी ने दामोदरदास हरसानी को सर्व प्रथम ब्रह्म सबध की दीक्षा दी थी। उक्त प्राचीन बैठक के अतिरिक्त आचार्य जी की बडी बैठक ( द्वारकाधीश जी के म दिर मे ), शैया बैठक और सध्या वदन की बैठके है। उनके अतिरिक्त गोसाई विट्ठलनाथ जी की ३ बैठके है, तथा सर्वश्री गिरिधर जी, गोकुलनाथ जी, रघुनाथ जी, घनश्याम जी, हरिराय जी, दामोदरदास जी और गोवर्धननाथ जी की १–१ बैठके है।

**उत्सव-मेले**—गोकुल मे कई उत्सव-मेले होते है, जिनमे जन्माष्टमी ( भाद्रपद कृ० ८ ), तृणावर्त बध ( कार्तिक कृ० ४ ) और अन्नकूट ( कार्तिक शु० १ ) के नाम उल्लेखनीय है।

ब्रह्माड घाट और गोकुल के सामने यमुना पार भी कई दर्शनीय स्थल हे, जिनमे करणा-वल और कोइला उल्लेखनीय है।

**करणावल**—इसे श्री मथुरेश जी का प्राकट्य स्थल कहा जाता है। यहाँ श्री मथुरेश जी की बैठक, करणावल कूप तथा श्री मदनमोहन जी और श्री माधवराय जी के मंदिर हे।

**कोइला**—यह वह प्राचीन स्थल कहा जाता हे, जहाँ से श्री वसुदेवजी ने यमुना पार कर बालक कृष्ण को गोकुल पहुँचाया था।

गोकुल से यात्रा का पडाव उठने पर यात्रीगण रावल होते हुए मथुरा जाते हे।

**रावल**—यह यमुना के तट पर एक छोटा सा प्राचीन लीला स्थल हे। इसका नामोल्लेख ब्रज के २४ उपवनो मे किया गया है। इसे श्री राधा जी का जन्म-स्थान और उनके नाना का निवास-स्थल कहा जाता है। राधा जी की माता कीर्ति जी ने अपने पिता के घर पर ही राधा जी को जन्म दिया था। उसी स्मृति मे यहाँ पर श्री राधा जी का प्राचीन मदिर बनाया गया था। बरसाना मे श्री लाडिली जी का मदिर बनने से पहिले उस मदिर का बडा महत्व था। १७वी शताब्दी मे यमुना की बाढ से रावल के प्राचीन मदिर को बडी हानि पहुँची थी। उस समय वहाँ के मदिर से श्री राधा जी की प्राचीन प्रतिमा को हटा कर बरसाना के मदिर मे विराजमान कर दिया था। बाद मे यहाँ पर नया मदिर बना था। श्री ग्राउस ने लिखा है, इस मदिर के पुजारी छोटेलाल के पास महम्मदशाह के समय ( स० १७६८ ) की एक सनद है, जिसमे वजीर करमुद्दीन खाँ ने उस समय के पुजारी रूपचद्र को महावन की तहसील से १) प्रति दिन दिये जाने का आदेश दिया था।

रावल से यात्रा मथुरा पहुँचती है। वहाँ पहिले दिन मथुरा म डल की पचकोसी परिक्रमा की जाती है। उसके बाद यात्री गण नियम विसर्जन कर अपनी यात्रा को समाप्त करते है।

## मथुरा की परिक्रमा—

मथुरा की स्थानीय परिक्रमा का परिमाण ५ कोस का माना जाता है, इसीलिए इसे **'पंच कोसी परिक्रमा'** कहते हैं। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, यह परिक्रमा साधारणतया प्रत्येक माह की एकादशी और पूर्णमासी को तथा पुरुषोत्तम (अधिक) मास मे प्रति दिन की जाती है। इसे विशेष रूप से वर्ष मे चार बार—१ वैशाखी पूर्णिमा ( वनविहार की पूनी ) २. आषाढ शु० ११ ( देवशयनी एकादशी ), ३ कार्तिक शु० ६ ( अक्षय नवमी ) और ४ कार्तिक शु० ११ ( प्रबोधिनी अथवा देवोत्थापनी एकादशी ) को किया जाता है। ब्रज–यात्रा पूरी होने पर जब यात्री गण नियम–विसर्जन अर्थात् यात्रा का समापन करते हैं, उससे पहिले भी वे मथुरा की परिक्रमा करते हैं।

यह परिक्रमा मथुरा के विश्राम घाट से आरंभ की जाती है। वहाँ से परिक्रमार्थी यमुना के दक्षिणवर्ती घाटो पर होते और मार्ग के 'मंदिर–देवालयो के दर्शन करते हुए ध्रुव टीला, बलि टीला और सप्तर्षि टीला पर आते हे। वहाँ से परिक्रमा का मार्ग पश्चिम की ओर मुडता है। विश्राम घाट से सप्तर्षि टीला तक के मार्ग मे जो घाट–मंदिर आदि दर्शनीय स्थल विद्यमान है, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**घाट**—मथुरा मे यमुना नदी पर अनेक घाट बने हुए हे। प्राचीन काल मे यमुना तटवर्ती जिन स्थलो पर पावन तीर्थ थे, अथवा तपस्वी ऋषि–मुनियो के आश्रम थे, वहाँ ये घाट बनाये गये है। इस समय इन घाटो पर अनेक मंदिर–देवालय, बुर्जियाँ और छतरियाँ आदि है, जिनसे उनके निर्माताओ की धार्मिक भावना और कलाभिरुचि का परिचय प्राप्त होता है। इनके कारण मथुरा में यमुना तट की शोभा अत्यंत दर्शनीय हो गई है। इसकी तुलना केवल काशी स्थित गंगा तट के घाटो मे ही की जा सकती है। इन घाटो और उन पर निर्मित बुर्जियो–छतरियो आदि के बनवाने मे विगत युग के धर्म-प्राण राजा–महाराजाओ और समृद्ध व्यक्तियो ने प्रचुर द्रव्य लगाया था। इस समय इनमे से अधिकांश जीर्णावस्था मे है, जिनके सुधार की आवश्यकता है।

इन घाटो की संख्या बहुत अधिक है, किंतु इनमे विश्रामघाट सहित २५ प्रमुख माने जाते है। इनमे मे १२ घाट विश्रामघाट के उत्तर मे हैं और १२ दक्षिण मे। परिक्रमा के आरंभ मे विश्रामघाट के दक्षिणवर्ती घाट मिलते है, जिनके नाम क्रमश १ गुह्यतीर्थ घाट, २ योगमाया घाट, ३ प्रयाग घाट, ४ श्याम घाट, ५ राम घाट, ६ कनखल घाट, ७ तिंदुकतीर्थअथवा बंगाली घाट, ८. सूर्य घाट, ६ ध्रुव घाट, १० मोक्षतीर्थ घाट, ११ रावणकोटि घाट और १२ बुद्ध घाट हैं। यहाँ पर इनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

**विश्रामघाट**—यह मथुरा का प्रधान तीर्थ और यमुना का प्रमुख घाट हे। वाराह पुराण मे लिखा है, मथुरा मे विश्राम तीर्थ, दीर्घविष्णु और केशव भगवान् के दर्शन करने से पुण्य फल प्राप्त होता है[1]। ऐसी अनुश्रुति है, श्री कृष्ण ने कंस का वध करने के अनंतर यहाँ विश्राम किया था। इसी के कारण इसका यह नाम पडा है। इस समय दाह–क्रिया से पहिले शवो को यहाँ विश्राम दिया जाता है। विगत युग मे अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियो द्वारा इस स्थल पर प्राण-विसर्जन करने अथवा उनके शवो की दाह–क्रिया करने के उल्लेख मिलते है।

---

(१) विश्रांति संज्ञकं दृष्ट्वा दीर्घविष्णुं च केशवम्।
सर्वेषां दर्शनं पुण्यमेभिर्दृष्टैः फलं लभेत्॥ ( वाराह पुराण )

मुसलमान सुलतानो के शासन काल मे इस तीर्थ का कोई महत्व नही था। उस समय मथुरा की वस्ती ऊँचे टीलो पर वसी हुई थी। इस समय का कसखार वाजार तव वास्तव मे एक गहरा 'खार' था, जिसमे वहता हुआ नाला विश्रामघाट के पास यमुना मे गिरता था। उस समय विश्रामघाट और उसके निकटवर्ती यमुना तट पर श्मशान था, जहाँ हिंदुओ के मुर्दे जलाये जाते थे। आमेर के राजा विहारीमल की रानी इसी स्थान पर सती हुई थी। अकवर के प्रसिद्ध दरवारी पृथ्वीराज अथवा पृथ्वीसिंह द्वारा यहाँ देह–त्याग करने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है[1]। प्रतिष्ठित व्यक्तियो के शव–दाह के उपरात उनकी स्मृति मे वुर्ज-वुर्जियाँ और छतरियाँ वनवाई जाती थी।

सिकदर लोदी के शासन–काल मे मथुरा के धर्माध मुसलमान शासक ने यहाँ यमुना–स्नान करने और क्षौरादि कराने मे वाधा उपस्थित कर दी थी, जिसके कारण हिंदुओ को वडा कष्ट होता था। उस काल के वैष्णव धर्माचार्य, जिनमे निंवार्क सप्रदाय के दिग्विजयी आचार्य श्री केशव काश्मीरी जी और पुष्टि सप्रदाय के प्रवर्त्तक महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी के नाम उल्लेखनीय है, अपने भक्ति–प्रभाव और तपोवल के चमत्कार से इस तीर्थ की उक्त वाधा को दूर करने मे सफल हुए थे। श्री वल्लभाचार्यजी ने यहाँ से श्मशान को हटवाया और इस स्थल को शुद्ध कर यहाँ भागवत पारायण किया था। उसी स्मृति मे यहाँ पर उनकी 'वैठक' वनाई गई है। उसके वाद यहाँ शव को केवल विश्राम और एक पिंड देने की परपरा चली, जो अभी तक प्रचलित है।

मुगल सम्राट अकवर के शासन–काल मे मथुरा के हिंदुओ को अपने धार्मिक कृत्यो के सपादन की स्वतत्रता प्राप्त हुई थी। तभी से विश्रामघाट का महत्व भी वढा है। उस काल के विशिष्ट धार्मिक व्यक्तियो के अतिरिक्त राजा–महाराजा और राजकीय पदाधिकारी गण भी इसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने लगे थे। उन्होने समय–समय पर यहाँ दान-पुण्य और तुलादि द्वारा अपनी धार्मिक भावना व्यक्त की है। उसी स्मृति मे उनके वनवाये हुए यहाँ कई तुला–द्वार है, जिन पर वडे-वडे घटे लटके हुए है।

यहाँ प्रति दिन प्रात काल और सायकाल को यमुना जी की आरती होती है। उस समय अनेक दर्शक यमुना जी मे दीपदान करते है। आरती के सामूहिक गान की ध्वनि, घटो के तुमुल घोप और दीपको की सु दर आभा से उत्पन्न यहाँ का वातावरण उपस्थित दर्शनार्थियो के मन को मोह लेता है। यहाँ पर प्रति दिन सैकडो व्यक्ति स्नान–दर्शनादि के लिए आते रहते है। श्रावण, भाद्रपद और कार्तिक के महीनो मे यहाँ आने वाले यात्रियो की वहुत वडी सख्या होती है। चैत्र शु० ६ को यहाँ यमुना जी का जन्मोत्सव मनाया जाता है और कार्तिक शु० २ को यमुना–स्नान का वडा मेला होता है। भारतवर्ष के अनेक भागो से आने वाले हजारो यात्री तथा सैकडो भाई–वहिन उस दिन यमद्वितीया अथवा भैयादोज का स्नान करते है। कार्तिक मे महीना भर तक महिलाओ द्वारा राधा–दामोदर का पूजन होता रहता है। पहिले यहाँ पर दिन--रात मे कई वार नौवत वजती थी, सायकाल को वारहमासी कथा होती थी और कभी-कभी रास भी होता था, किंतु कुछ समय से ये धार्मिक कृत्य वद हो गये है।

---

(१) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता मे स० २३८ पर 'पृथ्वीसिंह की वार्ता' तथा प्रियादास कृत 'भक्तिरस बोधिनी' का कवित्त स० ५३९

मथुरा नगर

मथुरा नगर का विश्राम द्वार
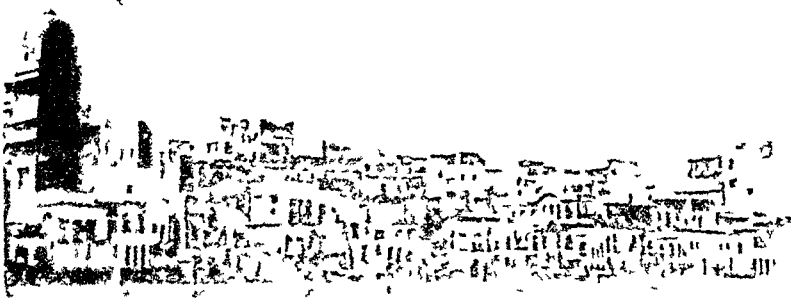
विश्रामघाट

सती का बुर्ज

यहाँ पर कई दर्शनीय स्थल और मदिर–देवालय हैं, जिनमे श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक, मुकुट मदिर तथा श्री कृष्ण-बलदेव, मुरलीमनोहर, राधा–दामोदर, यमुना–कृष्ण, नीलकठेश्वर महादेव और अन्नपूर्णा, लागुली हनुमान, नृसिंह जी आदि देवी–देवताओ के छोटे–बडे मदिर उल्लेखनीय है। विश्राम घाट की परिधि नकटा बुर्ज से सती के बुर्ज तक मानी जाती है। इसके उत्तर मे मथुरा के सेठो की विशाल हवेली है। उसी के निकट मणिकर्णिका घाट है जो एक जनाना घाट है। उसे जयपुर के राजा ने पक्का बनवाया था।

**सती का बुर्ज**—यह विश्रामघाट के निकट बना हुआ लाल पत्थर का एक चौकोर स्तभ है। जिस समय इस स्थल पर श्मशान था, उस समय आमेर के राजा बिहारीमल की रानी यहाँ सती हुई थी। उसकी स्मृति मे उसके पुत्र राजा भगवानदास ने इसे स० १६२७ मे बनवाया था। इस प्रकार मथुरा की विद्यमान इमारतो मे यह सबसे प्राचीन है। यह बुर्ज ५५ फीट ऊँचा है और चौमजिला बना हुआ है। ऐसा कहा जाता है, पहिले यह और भी अधिक ऊँचा था, किन्तु उसका ऊपरी भाग औरगजेब के काल मे गिरा दिया गया था।

**दुर्वासा मुनि का आश्रम**—यह प्राचीन स्थल विश्रामघाट के सामने यमुना के उस पार है। पुराणो मे दुर्वासा मुनि के तपोबल और उनके क्रोधी स्वभाव से सबधित कई कथाओ का उल्लेख मिलता है। उन्हे यादवो का गुरु कहा गया है। यमुना पार के एक रमणीक और एकात स्थल पर उनका मदिर बना हुआ है। प्राचीन काल मे यहाँ से महावन तक का वन्य प्रदेश 'वृहद् वन' कहलाता था, जहाँ गोकुल स्थित नदराय जी की गाये चरती थीं। बौद्ध काल मे इसके निकटवर्ती स्थल से महावन तक विहारो की शृ खला थी, जिनमे कई सहस्र बौद्ध भिक्षु साधना करते थे।

**घाटो के मदिर-देवालय**—विश्रामघाट से आगे चलने पर परिक्रमा का पहिला घाट 'गुह्य तीर्थ' कहलाता है। वहाँ के दर्शनीय ऐतिहासिक स्तभ सती के बुर्ज का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। उसके बाद योगमाया घाट पर चर्चिका देवी का मदिर है। कस ने श्री कृष्ण की बाल भगिनी के रूप मे उत्पन्न योगमाया के वध करने का प्रयत्न किया था। यह स्थल उसी स्मृति मे निर्मित हुआ है। यहाँ पिप्पलेश्वर महादेव और वटुक भैरव के मदिर हैं। पिप्पलेश्वर जी मथुरा के रक्षक चार महादेवो मे है, जो पूर्वी दिशा के क्षेत्रपाल माने जाते है। उसके आगे प्रयागघाट पर श्री वेणीमाधव जी का मदिर और रामानुज सप्रदाय की 'गलता वाली कु ज' है। श्यामघाट पर अष्टछापी भक्त-कवि छीतस्वामी के उपास्य श्री श्यामाश्याम जी का मदिर है। रामघाट पर श्री रामेश्वर महादेव और कनखल घाट पर कनखल तीर्थ की मान्यता है। यहाँ पर श्री दाऊजी मदन-मोहन जी के सुप्रसिद्ध मदिर है, जो वल्लभ सप्रदाय के छटे घर से सबधित है। उनके बाद तिंदुक तीर्थ, सूर्यघाट और ध्रुवघाट है, जहाँ कई ऐतिहासिक टीले हैं। इनका धार्मिक महत्व भी परपरा से मान्य है। यहाँ पर इनमे से प्रमुख देव-स्थानो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

**चर्चिका देवी**—यह प्राचीन देव स्थान विश्राम घाट के आगे सतीबुर्ज के निकट है। धार्मिक ग्रथो मे चर्चिका को श्मशान वासिनी देवी बतलाया गया है। इस प्रकार उक्त देवी की विद्यमानता मे विश्रामघाट पर पुराने समय मे श्मशान होने की पुष्टि होती है।

**वटुक भैरव**—यमुना के तटवर्ती योगमाया घाट पर यह 'नाथ सप्रदाय' का प्राचीन स्थान है। इसमे वटुक भैरव की सु दर मूर्ति है। यहाँ और भी कई पुरानी मूर्तियाँ रखी है, जो इस स्थल की प्राचीनता की सूचक है।

**श्री दाऊजी-मदनमोहन जी**—रामघाट के निकट यमुना के तट पर वल्लभ सम्प्रदाय के ये स्वरूप विराजमान हैं। इनके देवालय मथुरा के वल्लभ सम्प्रदायी मंदिरों में सबसे पुराने और सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। यहाँ वल्लभ संप्रदाय के छटे घर की गद्दियाँ हैं। इन मंदिरों में पुष्टि मार्गीय पद्धति के अनुसार सेवा-पूजा होती है। ठाकुर जी की ८ झाँकियों में शृंगार, भोग, राग आदि की यथोचित व्यवस्था है जिसके लिए साम्प्रदायिक नियमों का पूरी तरह पालन किया जाता है। यहाँ नित्य, नैमित्तिक और वार्षिक उत्सवों के अतिरिक्त जन्माष्टमी अन्नकूट और झूलों के विशेष उत्सव-समारोह होते हैं।

यहाँ एक मंदिर श्री दाऊजी का और दो मंदिर श्री मदनमोहन जी के हैं तथा एक श्री गोकुलनाथ जी का है। श्री मदनमोहन जी और श्री गोकुलनाथ जी की प्रतिमाएँ छोटी हैं, किन्तु श्री दाऊजी की मूर्ति विशाल है। ऐसा कहा जाता है, दाऊजी की यह दर्शनीय मूर्ति मथुरा जिला के अडींग गाँव से प्राप्त हुई थी। वास्तु कला की दृष्टि से यहाँ के मंदिर तो साधारण हैं किन्तु श्री दाऊजी के मंदिर का शिखर अत्यंत कलापूर्ण है।

**ध्रुवटीला और नारद टीला**—ये मथुरा के प्रसिद्ध धार्मिक स्थल हैं। पौराणिक काल के दो प्राचीनतम हरिभक्त ध्रुव जी और नारद जी के नामों से संबंधित होने के कारण इनकी प्राचीनता स्वयंसिद्ध है। बौद्ध काल में उनके आस-पास बौद्ध विहार थे, जिनके अवशेष यहाँ से प्राप्त हुए हैं। जब निंबार्काचार्य जी ब्रज में आये थे, तब उन्होंने इन टीलों को और गोवर्धन के निंबग्राम को अपना निवास स्थान बनाया था। बाद में निंबार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी, श्री भट्ट जी और हरिव्यास जी ने भी यहाँ निवास किया था। उन तीनों आचार्यों की समाधियाँ नारद टीले पर बनी हुई हैं। यहाँ पर निंबार्क सम्प्रदाय के जो प्राचीन मंदिर थे, वे औरंगजेब के काल में नष्ट कर दिये गये थे। इस समय ध्रुव टीला पर इस सम्प्रदाय का एक छोटा मंदिर है, जो सं० १८९४ में बनवाया गया था। इसमें श्री राधा-कृष्ण की मूर्तियाँ हैं। नारद टीला पर नारद जी का मंदिर है।

**नाग टीला**—ध्रुवटीला के निकटवर्ती यह टीला मथुरा के नाग राजाओं का धार्मिक स्थल है। यहाँ पर सर्प देवताओं की मूर्तियाँ हैं। मथुरा की महिलाएँ भाद्रपद मास की नाग पचमी को यहाँ अब भी सर्पों का पूजन करने के लिए एकत्र होती हैं।

**बलि टीला और सप्तर्षि टीला**—ये दोनों टीले नारद टीले के पास हैं। पहिले ये सब टीले मिले हुए थे, जो मथुरा की बाहरी सीमा 'बुरकोट' के भाग थे। बरसाती जल के कटाव और सड़क के निकास से ये पृथक् खंडों में विभाजित हो गये हैं। यहाँ पर शक-कुषाण काल में बौद्ध विहार थे, जिनके अवशेष इन दोनों स्थलों से मिले हैं।

सप्तर्षि टीला के समीप से परिक्रमा मार्ग पश्चिम दिशा की ओर मुड़ता है और राजकीय महाविद्यालय के पास की सड़क को पार कर खार में होता हुआ 'रंगभूमि' नामक प्राचीन स्थल पर आता है। यात्रा मार्ग से कुछ हट कर मैनागढ़ का विशाल टीला है, जो किसी काल में मैना जाति का निवास स्थल होगा। अब इसके अधिकांश भाग को काट कर 'कृष्णापुरी' नाम की नई बस्ती बसाई गई है। नाले के ऊपर एक बगीची में कुब्जा-कृष्ण के दर्शन हैं तथा दूसरी में कंस के पहलवान और कुवलयापीड़ हाथी की मूर्तियाँ हैं।

**रंगभूमि**—इस स्थान का संबंध उस प्राचीन 'रंग-महोत्सव' से बतलाया जाता है, जिसे कंस ने कृष्ण-बलराम को युक्तिपूर्वक समाप्त करने के उद्देश्य से आयोजित किया था। यहाँ का एक टीला 'कंस टीला' कहलाता है, जहाँ कार्तिक शु० १० को कंस-वध का मेला होता है।

**श्री रंगेश्वर महादेव**—रंगभूमि के इस प्राचीन स्थल में श्री रंगेश्वर महादेव का मंदिर है। श्री रंगेश्वर जी मथुरा के रक्षक चार महादेवों में दक्षिण दिशा के क्षेत्रपाल माने जाते हैं। इधर कुछ वर्षों से इस देवस्थान की मान्यता बहुत बढ़ गई है। सैंकड़ों नर-नारी प्रति दिन इसके दर्शनार्थ आते हैं। यह पुराना शैव स्थान है। इसके निकट की चाउल-माउल बगीची से गुप्त काल का अभिलेख युक्त स्तंभ मिला है। उससे ज्ञात होता है कि उस काल में यह शैव धर्म के पाशुपति संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र था।

रंगभूमि से आगे परिक्रमा का मार्ग सड़क को पार कर डेम्पियर पार्क में होकर जाता है। वहाँ पुरातत्व संग्रहालय है और उसके निकट सप्तसमुद्री कूप है। उससे कुछ दूर नसवारा कूआ, बनखंडेश्वर हनुमान का मंदिर, गायत्री टीला और शिव ताल है।

**सप्तसमुद्री कूप**—यह प्राचीन काल का एक ऐतिहासिक कूआ है। यहाँ नागों के शासन-काल में सर्प देवता का पूजन होता था। उसी परंपरा में अब भी मथुरा नगर की नव विवाहिता वधुएँ यहाँ नाग पंचमी ( भाद्रपद शु० ५ ) को कूप स्थित देवता का पूजन करती हैं। गुप्त काल में जब मथुरा के वणिक द्रव्योपार्जन के लिए समुद्र-यात्रा को जाते थे, तब वापिस आने पर विदेशी संसर्ग दोष की निवृत्ति के लिए यहाँ दान-पुण्य कर स्नानादि करते थे। डा० वासुदेवशरण जी ने लिखा है—"विदेशों के साथ व्यापार करके घर लौटने पर धनी व्यापारी सवा पाव से लेकर सवा मन तक सोने के बने हुए सप्तसमुद्र रूपी सात कुंडों का दान करते थे। उन जलाशयों को 'सप्त समुद्र कूप' या 'समुद्र कूप' कहा जाता था। ऐसे कूप मथुरा के अतिरिक्त प्रयाग-काशी में भी बने हुए हैं। उस दान को मत्स्य पुराण ( षोडश महादान प्रकरण ) में महादान कहा गया है[1]।" हूणों के आक्रमण काल में जब यहाँ के प्राचीन मंदिर-देवालय तोड़े गये थे, तब उनकी देव-मूर्तियों को लोगों ने कुंड, सरोवर और कूओं में डाल दिया था। पुरातत्व विभाग की ओर से जब इस कूए की सफाई कराई गई थी, तब इसमें से कुछ पुरानी मूर्तियाँ निकली थीं। इस समय मथुरा नगरपालिका ने इस ऐतिहासिक कूप में जल खींचने के लिए बिजली का पम्प लगा कर इसके स्वरूप को बिगाड़ दिया है।

**नसवारा कूआ**—जब मथुरा में नल नहीं लगे थे, तब इस कूआ का पानी स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वोत्तम माना जाता था और नगर के अनेक व्यक्ति प्रति दिन इसी का पानी पीते थे। अब सिंचाई न होने से इसका वह महत्व समाप्त हो गया है।

**बनखंडेश्वर हनुमान**—पुराने समय में यहाँ सघन बनखंड था। यहाँ के एक टीले पर हनुमान जी की जो मूर्ति है, उसे बनखंडेश्वर हनुमान कहते हैं। इसके पास विहारी जी का एक पुराना मंदिर है, जो अब जीर्णावस्था में है।

**गायत्री टीला**—यह एक प्राचीन स्थल है, जो अब भग्नावस्था में पड़ा हुआ है।

---

(१) हर्ष चरित्–एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १७

**शिवताल**—यह एक पुराना कुंड है, जिसका जीर्णोद्धार राजा पटनीमल ने सं० १८६४ में कराया था। इसमें चारों ओर पक्के घाट, संगीन सीढ़ियाँ, चौड़े चबूतरे तथा सुंदर बुर्जियाँ और छतरियाँ हैं।

**कंकाली टीला**—शिवताल से कुछ आगे पश्चिम दिशा में कंकाली टीला का ऐतिहासिक स्थान है, जो विगत काल में जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। मथुरा में कृष्ण-जन्मस्थान के बाद यह दूसरा महत्वपूर्ण प्राचीन स्थल है। यहाँ 'देवनिर्मित स्तूप' और नरवाहना कुबेरा देवी का मंदिर जैसे प्राचीन देव स्थानों के अतिरिक्त जैन धर्म के मंदिर, मठ और देवालय थे। हूणों के आक्रमण काल में इस महत्वपूर्ण धार्मिक स्थल की भीषण क्षति हुई थी। उस समय यहाँ के प्रमुख मंदिर-देवालयों के साथ ही साथ सुप्रसिद्ध 'देवनिर्मित स्तूप' भी नष्ट कर दिया गया था। उसके बाद इस प्राचीन स्थान का महत्व समाप्त प्रायः हो गया था। पुरातत्व विभाग की ओर से जब इस स्थान की खुदाई कराई गई थी, तब यहाँ से विक्रम पूर्व छटी शती से लेकर विक्रम की ५वीं शताब्दी तक की १५०० जैन मूर्तियाँ, १०० शिलालेख और मंदिर-देवालयों के बहुसंख्यक कलावशेष प्राप्त हुए थे। एक ही स्थान से पुरातत्व के इतने विशाल भंडार का उपलब्ध होना यहाँ की गौरवपूर्ण धार्मिक समृद्धि का सूचक है।

इस समय यहाँ पर देवी का एक छोटा सा मंदिर है, जिसमें 'कंकाली' के नाम से देवी की एक लघु प्रतिमा प्रतिष्ठित है। उसी के नाम पर इस स्थान को भी 'कंकाली टीला' कहा जाता है। मथुरा की चार प्रसिद्ध देवियाँ मानी गई हैं, जिनके नाम चर्चिका, अंबिका, कंकाली और चामुंडा हैं। मथुरा के रक्षक चारों महादेवों की तरह इन चारों देवियों के स्थान भी परिक्रमा में पड़ते हैं।

कंकाली टीला से परिक्रमा मार्ग उत्तर दिशा की ओर प्राचीन मथुरा के उस इतिहास-प्रसिद्ध स्थल पर आता है, जहाँ बलभद्र कुंड, भूतेश्वर महादेव, पोतरा कुंड, मल्लपुरा और श्री केशवदेव जी का मंदिर जैसे दर्शनीय स्थान हैं।

**बलभद्र कुंड**—यह एक प्राचीन कच्चा कुंड है। पहिले यह अगाध जल से भरा रहता था और इसमें बहुत सिंघाड़े होते थे। पिछले कुछ वर्षों से यह प्रायः सूखा पड़ा रहता है। इसके ऊपर एक बगीचे में श्री बलदेव जी का मंदिर है।

**भूतेश्वर महादेव**—यह मथुरा के रक्षक चार सुप्रसिद्ध महादेवों में पश्चिम दिशा के क्षेत्रपाल माने जाते हैं। इनके महत्व का वर्णन 'पद्म पुराण' में हुआ है। इन्हीं के नाम पर मथुरा को 'भूतेश्वर क्षेत्र' कहते हैं। महादेव जी का यह देव-विग्रह और उनका यह स्थान अत्यंत धार्मिक और ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। मथुरा के इतिहास प्रसिद्ध धार्मिक "पंच स्थल" में से यह स्थान कदाचित "वीर स्थल" कहलाता था। नागों के शासन काल में इस स्थान का बड़ा महत्व था। उस काल में यहाँ पर कई शिव मंदिर और शैव मठ थे, जो कालांतर में विदेशियों के आक्रमण में नष्ट हो गये थे। इस समय जो मंदिर विद्यमान है, वह मरहठों के आधिपत्य काल में बनाया गया था। इसकी शिव मूर्ति काफी पुरानी है।

**पोतरा कुंड**—यह मथुरा का प्राचीन कुंड है। पहिले यह कच्चा था, किंतु महादजी (माधव जी) सिंधिया ने सं० १८३९ में इसे विशाल रूप में पक्का बनवाया था। इस कुंड की निर्माण शैली बड़ी अद्भुत और दर्शनीय है।

**महाविद्या नदिर**—यह मदिर परिक्रमा मार्ग मे एक ऊँचे टीले पर बना हुआ हे। अत्यत प्राचीन काल मे इसके निकट का गहन वन '**अबिका वन**' के नाम से प्रसिद्ध था। उस सघन वन मे हिंसक जीव-जतु रहते थे। श्रीमद् भागवत् से ज्ञात होता है, जब नदराय जी उस वन मे दुर्गा--पूजा के लिए आये थे, तब उन्हे एक विशालकाय अजगर ने पकड लिया था। ऐतिहासिक काल मे यहाँ तक मथुरा की प्राचीन बस्ती थी। उस काल मे यह एक बौद्ध स्थान था और यहाँ महाविद्या नाम की एक बौद्ध देवी थी। जैन धर्म मे सिहवाहना अबिका देवी की मान्यता है, अत सभव हे प्राचीन काल मे इस स्थान का जैन धर्म से भी सबध रहा हो। बौद्ध--जैन धर्मों का प्रभाव कम हो जाने पर जब यहाँ शैव-शाक्त मतो की प्रबलता हुई, तब यह एक शाक्त स्थान बन गया और महाविद्या शाक्तो की देवी के रूप मे पूजित होने लगी। १७वी शताब्दी मे यहाँ सम्राट दीक्षित नामक एक तात्रिक महात्मा का निवास था। वे अपनी सिद्धि के बल पर दो सिहो के साथ इस निर्जन स्थान मे निर्भय विचरण किया करते थे। इस समय जो म दिर हे, वह मरहठो का बनवाया हुआ है। तात्रिक विद्वान् शीलचद्र जी ने यहाँ स० १९०७ मे देवी की वर्तमान प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया था। पहिले इसमे तीन देवियो मूर्तियाँ थी।

**रामलीला मैदान और सरस्वती नाला**—महाविद्या देवी के मदिर के नीचे एक बडा मैदान है, जहाँ आश्विन महीने मे रामलीला का मेला होता है। इसीलिए इसे 'रामलीला का मैदान' कहा जाता है। प्राचीन काल मे यहाँ सरस्वती नदी प्रवाहित होती थी, जो आगे जाकर यमुना मे मिल जाती थी। कालातर मे वह नदी सूख गई, किंतु उसके स्थान पर एक बरसाती नाला बहने लगा, जो आगे गोकर्णेश्वर मदिर के पास यमुना मे मिलता है। उस प्राचीन सरस्वती नदी की स्मृति मे यह नाला 'सरस्वती नाला' कहलाता हे।

**सरस्वती कु ड**—ब्रज की प्राचीन सरस्वती नदी के अवशेष रूप मे यह कु ड भी हे, जो 'सरस्वती कु ड' कहलाता है। मथुरा के बलदेव गोसाई ने इस कु ड का जीर्णोद्धार करा कर यहाँ एक म दिर बनवाया था, जिसमे सरस्वती देवी की प्रतिमा है।

मथुरा की परिक्रमा का यह एक विश्राम स्थल है और यहाँ बडी परिक्रमाओ के अवसर पर मेला लग जाता है। परिक्रमार्थी यहाँ पर विश्राम और कुछ खान--पान करने के अनतर विश्राम घाट की ओर लौट पडते है। मार्ग मे जो दर्शनीय स्थल है, उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**चामु डा देवी**—परिक्रमा मार्ग मे यह एक प्रसिद्ध देवी है, जिसकी यथेष्ट मान्यता है। चड दैत्य सहारिणी काली की इस प्रतिमा को 'चामु डा' कहा जाता है। 'पद्मपुराण' मे रुरु नामक एक दैत्य की कथा है। उससे ज्ञात होता है, वह दैत्य बडा बलशाली था और देवताओ को बडा कष्ट देता था। भगवती शिवदूती ने देवताओ की प्रार्थना पर उस दैत्य का मु ड-छेदन किया था[1]। उस रुरु-मु ड को धारण करने वाली देवी की जो स्तुति की गई है, उसमे उसे 'चामु डा' नाम से सबोधन किया गया है[2]। 'देवी माहात्म्य' का उल्लेख है, जब काली ने चड और मु ड नामक दैत्यो

---

(१) **पद्मपुराण, सृष्टि खड**, अध्याय ३१, श्लोक ६२–१४१

(२) **जयस्व देवि चामु डे, जय भूतापहारिणी।**
**जय सर्व गते देवि, कालरात्रि नमोऽस्तुते॥** (पद्मपुराण, सृष्टिखड, ३१–१३५)

निकट का यमुना तटवर्ती घाट 'गणेश घाट' कहलाता है। यह मथुरा की परिक्रमा के मार्ग से कुछ हट कर है, किंतु वृंदावन–मथुरा की परिक्रमा मे मथुरा आते समय पडता है।

**दशाश्वमेध घाट**—गोकर्ण महादेव के समीप 'नील कंठेश्वर महादेव' का मंदिर है और वामन भगवान् का स्थान है। वहाँ की निकस्थ भूमि मे अनेक समाधियाँ बनी हुई है, जो संभवत विगत युग के शैव साधुओ की है। वहाँ के निकटवर्ती यमुना के घाट को 'दशाश्वमेध घाट' कहा जाता है। नाग काल मे मथुरा के नाग राजाओ ने यहाँ अनेक अश्वमेध यज्ञ किये थे। संभवत यह घाट उन्ही यज्ञो की स्मृति का स्थल है।

**सरस्वती संगम घाट**—महाविद्या के मैदान मे बहती हुई प्राचीन सरस्वती नदी जिस स्थल पर यमुना नदी मे मिलती थी, उसे सरस्वती संगम घाट कहा जाता है।

**अंबरीष टीला और चक्रतीर्थ घाट**—पुराणो मे भक्तवर राजा अंबरीष की कथा है। वह राजा बडा हरि–भक्त था। उसकी अनन्य भक्ति की परीक्षा के लिए दुर्वासा मुनि ने उस पर कृत्या का मारण प्रयोग किया था। ऐसी अनुश्रुति है, भगवान् ने अंबरीष की रक्षा के लिए अपने सुदर्शन चक्र को प्रेरित किया था। उसी की स्मृति मे 'अंबरीष टीला' और यमुना का 'चक्रतीर्थघाट' है। बौद्ध काल मे इस टीले पर भी विहार और स्तूप थे।

**सोमतीर्थ घाट, वैकुंठ घाट, कृष्णगंगा घाट**—ये तीनो घाट प्राय पास-पास है। 'वाराह पुराण' का उल्लेख है, सोम और वैकुंठ तीर्थो के बीच मे कृष्णगंगा नामक तीर्थ है, जहाँ महर्षि व्यास ने मथुरा मे तप किया था[1]। उक्त उल्लेख के अनुसार कृष्णगंगा घाट महर्षि व्यास का तप-स्थल है। कुछ विद्वानो का मत है, इसी स्थल पर व्यास जी ने पुराणो की भी रचना की थी। ऐसा जान पडता है, प्राचीन काल मे कोई छोटी बरसाती नदी इस स्थल पर यमुना मे गिरती थी। महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास का वहाँ तप स्थल होने से उनके नाम पर उक्त नदी को 'कृष्ण गंगा' कहा जाने लगा था। कालांतर मे उस बरसाती नदी का प्रवाह बदल गया। इधर अनेक वर्षो से वह बरसाती जल–धारा चौक बाजार के पानी को समेटती हुई स्वामी घाट पर यमुना मे गिरती है। वर्षा ऋतु मे उसका वेग कभी-कभी बडा प्रबल और घातक हो जाता है।

**धारापतन और घंटाभरण घाट**—ये दोनो घाट भी परिक्रमा के मार्ग मे स्थित है। इनका नाम कदाचित कृष्णगंगा जैसी छोटी बरसाती नदियो के कारण पडा हुआ जान पडता है। वे नदी--नाले वर्षा ऋतु मे जल--प्रपात का सा रूप धारण कर गंभीर घोष करते हुए ऊँचे स्थान से यमुना मे गिरते थे।

**कंस किला**—यमुना तट के इस भग्न दुर्ग को कंस का किला कहा जाता है। इसका यह नाम क्यो पडा, इसे जानने का कोई साधन नही है। मथुरा गजेटियर मे इसे मुगल सम्राट अकबर के विख्यात दरबारी राजा मानसिंह द्वारा बनवाया हुआ बतलाया गया है, किंतु इसकी खुदाई मे जो पुरातत्व की सामग्री मिली है, उसके कारण यह स्थल काफी पुराना सिद्ध होता है। उसमे उपलब्ध मूर्तियो से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे वहाँ कोई हिंदू मंदिर था, जो हूणो अथवा

---

(१) सोम वैकुंठयोर्मध्ये कृष्णगंगेति कथ्यते।
तत्रा तप्यत्तपो व्यासो मथुराया स्थितोऽमलः ॥—वाराह पुराण, अध्याय १७५–३
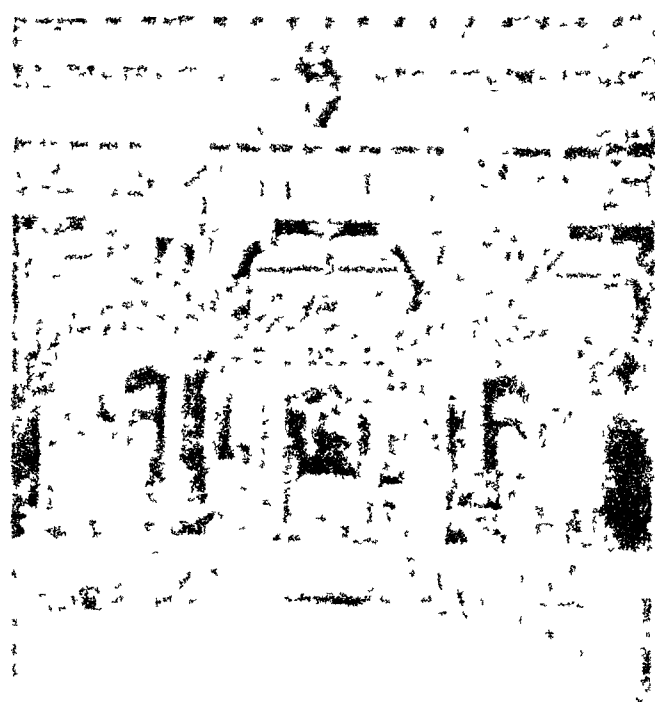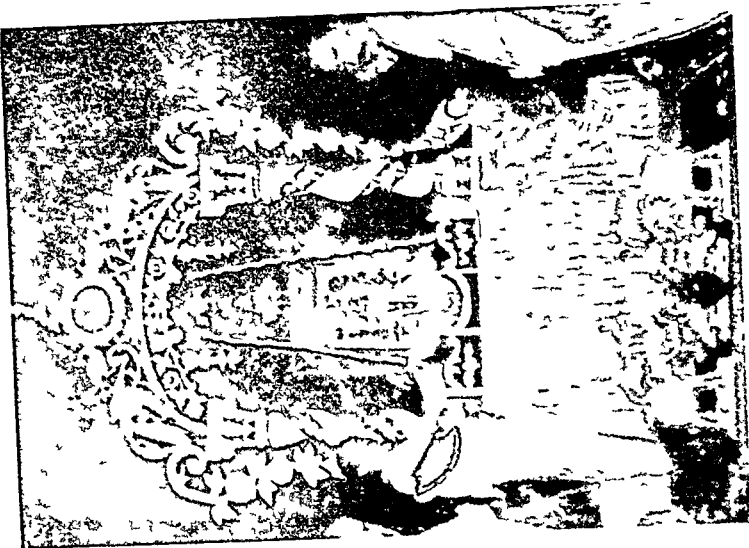
श्री द्वारकाधीश जी

श्री द्वारकाधीश का हिंडोला
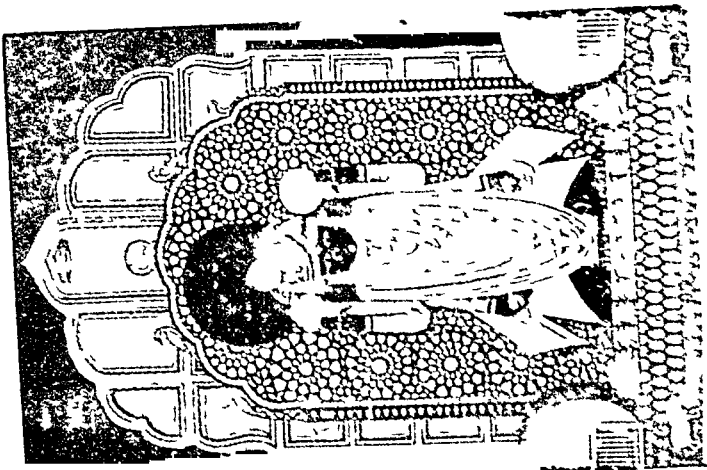
मुसलमानो के आक्रमणो मे नष्ट हो गया था। अकबर के शासन काल मे राजा मानसिंह ने उसके ध्वसावशेषो पर एक विशाल दुर्ग का निर्माण कराया था। उस दुर्ग को यमुना की ओर से ऐसी चौडी और ऊँची सुदृढ दीवारो से घेरा गया था कि वह एक बाध के रूप मे यमुना नदी की बाढ को रोकने का उत्तम साधन बन गया था। उस दुर्ग ने यमुना की अनेक भीषण बाढो की टक्करे झेल कर नगर की रक्षा की थी। १८वी शताब्दी के अत मे जब मथुरा नगर आमेर के सवाई राजा जयसिह के प्रभाव क्षेत्र मे आया, तब राजा मानसिह का बनवाया हुआ वह दुर्ग कुछ जीर्ण हो गया था। सवाई राजा ने उसका जीर्णोद्धार कर वहाँ एक सुंदर वेधशाला बनवाई थी। कालातर मे यह स्थान पुन जीर्ण और उपेक्षित होने से ध्वस हो गया था।

इस समय यहाँ पर 'राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ' का कार्यालय और उसके द्वारा सचालित विद्यालय है। इसके एक भाग मे महादेव और भैरवनाथ के पुराने मदिर है तथा दूसरे भाग मे नगरपालिका का विद्यालय है।

**संयमन घाट**—इसे अब स्वामी घाट कहते है। ऐसी अनुश्रुति है कि प्राचीन काल मे यहाँ स्वायभुव मनु का स्थान था।

**सतघाट**—यमुना तटवर्ती नवसज्ञक तीर्थ को इस समय सतघाट कहते है। पहिले यहाँ पर श्री कृष्ण का एक प्राचीन मदिर था, जो अलाउद्दीन खिलजी के शासन--काल मे नष्ट कर दिया था। बाद मे वहाँ एक मुस्लिम फकीर मकदूम साहब का स्थान था। इस समय इस घाट पर शिवजी का एक मदिर है।

**असिकुंड घाट**—यह प्राचीन वाराह क्षेत्र कहा जाता है। किसी समय यहाँ वाराही, नारायणी, वामना और लागली नामक चार शक्तियाँ प्रतिष्ठित थी। वाराह पुराण मे कहा है, जो व्यक्ति असिकुड तीर्थ मे स्नान कर इन देवियो का दर्शन करता है, वह मथुरा के समस्त तीर्थो का फल प्राप्त करता है[1]। इस समय यहाँ वराह, नृसिह, गणेश और हनुमान आदि देवताओ के छोटे मदिर है। असिकुड घाट के समीप बाजार मे श्री द्वारकाधीश जी का मदिर है।

**श्री द्वारकाधीश जी**—मथुरा के मदिरो मे श्री द्वारकाधीश जी का मदिर सबसे बडा, सबसे अधिक प्रसिद्ध और वैभवशाली है। श्री कृष्ण के जन्म-स्थान मथुरा मे उनकी दर्शन--झाँकी, सेवा--पूजा, कथा--वार्ता तथा उनके कीर्तन--रासादि की थोडी--बहुत सम्मिलित व्यवस्था यदि कहीं है, तो इसी मंदिर मे है। ब्रज की धार्मिक परपरा से आकर्षित होकर देश के कौने--कौने से जो लाखो यात्री प्रति वर्ष मथुरा आते है, उनके आकर्षण का सबसे बडा केन्द्र यही मदिर होता है। इस प्रकार वर्तमान काल मे मथुरा नगर का अधिकाश धार्मिक, सास्कृतिक और भौतिक महत्व इसी मदिर पर आधारित है। नगर के प्राय मध्य मे असिकुडा बाजार के बीचो बीच बने हुए इस मदिर को 'राजाधिराज का मदिर' अथवा 'सेठ जी का मदिर' भी कहते हैं। इसमे ठाकुर जी की सेवा वल्लभ सप्रदाय के अनुसार होती है। इसे ग्वालियर राज्य के खजाची गोकुलदास पारिख ने स० १८७१ मे बनवाया था।

---

(१) एका वराह संज्ञा च तथा नारायणी परा। वामना च तृतीया वै चतुर्थी लांगली शुभा॥
एताश्चतस्रो यः पश्येत् स्नात्वा कुंडेऽसि संज्ञके। तीर्थानां मथुरानांच सर्वेषां फलमश्नुते॥
—श्री मथुरा माहात्म्य, श्लोक २६३–२६४

यहाँ प्रात काल शृ गार के बाद माखन--मिश्री का और रात्रि को शयन के उपरात मोहनभोग का प्रसाद दर्शनार्थियो को बाँटा जाता है। मध्यान्ह मे अभ्यागतो और साधुओ को दाल-भात और रोटी का प्रसाद दिया जाता है। ठाकुर जी का खास भोग वर्फी का हे, जो मदिर मे ही बनती है। भेट चढाने वाले दर्शको को वर्फी का प्रसाद दिया जाता है।

इस मदिर से सलग्न एक बडा बाग और बडी गोशाला है। बाग के फल–फूल और गोशाला की बहुसख्यक गायो के दूध का उपयोग ठाकुर--सेवा के लिए किया जाता है। इसमे नि शुल्क सस्कृत महाविद्यालय और दातव्य चिकित्सालय है, जिनसे जनता का बडा उपकार होता है।

कला की दृष्टि से भी मूर्ति और मदिर महत्वपूर्ण है। श्री द्वारकाधीश की मूर्ति श्याम वर्ण की चतुर्भु ज स्वरूप अत्यत आकर्षक है। मदिर भी मथुरा की आधुनिक वास्तु कला का एक नमूना है। इसमे सु दर और सुदृढ खभे, उन पर आधारित विशाल मडप, कलापूर्ण महराव, सुवर्ण-मडित शिखरे तथा छत्त के सु दर चित्र दर्शनीय एव कलात्मक वस्तुएँ है।

इस मदिर मे नित्य और वर्ष के नियमित उत्सवो के अतिरिक्त चैत्र मे फूल–बगला, वैशाख मे नृसिह लीला, आपाढ मे रथ–यात्रा, श्रावरण मे झूला और रगीन घटा, भाद्रपद मे जन्माष्टमी, आश्विन मे साझी, कार्तिक मे दीपावली और अन्नकूट तथा फाल्गुन मे होली के विशेप समारोह होते है। विशिष्ट उत्सवो और पर्वो पर शृ गार, भोग, रागादि का विशेप आयोजन किया जाता है। यहाँ ठाकुर–सेवा से सबधित बडा कीमती साज–सामान है। सोने और जवाहरात के आभूपरण, चाँदी के बर्तन, सोने- चाँदी के बहुमूल्य हिंडोले, जरी के काम की कीमती पिछवाई आदि मे लाखो रुपया लगा है। इस मदिर की मथुरा मे बडी मान्यता है। प्रति दिन हजारो दर्शनार्थी नियमित रूप से आकर श्री द्वारकाधीश जी की आठो झाँकियो का आनद प्राप्त करते है। इसमे प्रति दिन भजन-कीर्तन, कथा-वार्ता आदि की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त भक्तो के मनोरथ स्वरूप विशेप धार्मिक आयोजन भी होते रहते है। मदिर के सामने इसके निर्माता सेठो की विशाल हवेली है।

**श्री गतश्रम नारायरण जी का मदिर**—असिकु डा बाजार से आगे विश्राम बाजार मे गतश्रम टीला पर यह मदिर बना हुआ है। वाराह पुराण मे श्री गतश्रम भगवान् का माहात्म्य बतलाते हुए कहा गया है,—"समस्त तीर्थो मे स्नान करने का जो फल है, वह गतश्रम देव के दर्शन मात्र से प्राप्त होता है[१]।" यह मदिर रामानुज सप्रदाय का है। इसे श्री प्राणनाथ शास्त्री ने स० १८५७ मे बनवाया था।

इस मदिर के सामने विश्राम घाट है, जहाँ मथुरा की परिक्रमा समाप्त होती है।

●

(१) सर्वतीर्थेषु यत् स्नान सर्वतीर्थेषु यत्फलम्।
तत्फलं लभते देवि दृष्ट्वा देव गतश्रम॥

—श्री मथुरा माहात्म्य, श्लोक २५२

## षष्टम अध्याय

# ब्रज की रास लीला

●

### रास की रूपरेखा—

**स्वरूप और उद्देश्य**—रास ब्रज का एक 'धर्मप्रधान सगीत–रूपक' अथवा 'धार्मिक नृत्य-नाट्य' है। इसे ब्रज के राधा-कृष्णोपासक धर्माचार्यो तथा भक्त महानुभावो ने अपने भक्ति–सिद्धात की सिद्धि एव उपासना की उपलब्धि के लिए एक प्रभावशाली साधन के रूप मे अपनाया था। इसमे नृत्य, नाट्य, गायन, वादन, काव्य और चित्र आदि सभी कलाओ का धर्मोपासना के साथ ऐसा समन्वय किया गया कि वह ब्रज सस्कृति का सर्वाधिक समर्थ उपकरण ही नही, वरन् उसके सामूहिक स्वरूप का प्रतीक ही वन गया था। ब्रज सस्कृति को यदि एक विशाल वृक्ष की उपमा दी जाय और उसके समस्त अगोपागो को उसकी शाखा–प्रशाखाएँ समझा जाय, तो 'रास' को उसका आनदायी मधुर फल कहा जावेगा।

रास का वह माधुर्य मडित स्वरूप धर्म समन्वित शास्त्रीयता की उच्चतम भाव–भूमि पर स्थापित हुआ था, अत उसमे नृत्य, नाट्य, गायन, वादन, काव्यादि को भी शास्त्रोक्त परपराबद्ध रूप मे ही स्वीकार किया गया था। इस प्रकार उस काल के वैष्णव धर्माचार्यो एव सत-महात्माओ ने रास के माध्यम से ब्रज की समस्त प्राचीन कलाओ के पुनरुद्धार का पथ धर्मोपासना के प्रकाश मे प्रशस्त करने का प्रशसनीय कार्य किया था। उनका उद्देश्य उसके द्वारा अपने भजनानद की प्राप्ति के साथ ही साथ भक्तजनो मे सात्विक मनोविनोद और श्रद्धालु जनता मे राधाकृष्णोपासना का प्रचार करना भी था।

**परिभाषा और पर्याय**—'रास' शव्द की व्युत्पत्ति के सवध मे विद्वानो ने विभिन्न मत प्रकट किये है। साधारणतया इसे सस्कृत भाषा का शव्द माना गया है, किंतु कुछ विद्वानो के मतानुसार यह मूल रूप मे देशज शव्द है, जो वाद मे सस्कृत भाषा मे गृहीत हुआ है[1]। इसकी व्युत्पत्ति किसी भी प्रकार से मानी जाय, किंतु इसकी परिभाषा—**"रसानां समूहो रासः"** अर्थात् रस का समूह ही रास है, अधिक उपयुक्त ज्ञात होती है। रास मे रस-रूप भगवान् श्री कृष्ण की रसात्मक लीलाओ को जैसी सरस पद्धति से प्रस्तुत किया जाता है और उसमे विविध कलाओ के समूह का जिस प्रकार सतुलन और सामजस्य होता है, उसे देखते हुए उपर्युक्त परिभाषा ही सर्वथा सगत जान पडती है।

प्राचीन और अर्वाचीन ग्रथो मे रास के न्यूनाधिक अर्थ को व्यक्त करने वाले अनेक शव्द मिलते है, जिनमे रासक, हल्लीसक, छालिक्य, रासा, रासो, रसायण और रहस उल्लेखनीय है। ये शव्द विविध कालो मे विभिन्न अर्थो के द्योतक रहे है, किंतु रास के मूल अभिप्राय से वे पूरी तरह

---

(१) डा० दशरथ ओझा ('हिंदी नाटक उद्भव और विकास', पृ० ७५–७६)

कभी विलग नही हुए। १९वी शताब्दी मे जब वैष्णव धर्माचार्यों ने उस पुरातन रस-पद्धति का पुनरुद्धार किया, तब उन्होंने उसके लिए प्राचीन शब्द **'रास'** ही स्वीकार किया था। इस प्रकार उन्होंने विगत युग की टूटी कडियो को जोड कर रास को उसकी गौरवपूर्ण प्राचीन परपरा मे सम्बद्ध कर दिया था।

**नृत्य और लीला**—राधा-कृष्ण की दान, मान, चीर-हरण आदि समस्त सयोगात्मक लीलाओ के माधुर्य भाव की चरम परिणति रास मे हुई है, इसीलिए इसे 'रास लीला' भी कहा जाता है। असल मे यह एक धार्मिक नृत्य-नाट्य अथवा सगीत-रूपक है और 'नृत्य' एव 'लीला' इसके दो प्रमुख अग हैं। इन दोनो अगो के पृथक्-पृथक् विवेचन से ही इसकी परपरा और इसके स्वरूप को भली भाँति समझा जा सकता है।

**नृत्य**—रास मूल रूप मे एक नृत्य था, जो प्राचीन व्रज अर्थात् शूरसेन प्रदेश की गो-पालक जाति मे प्रचलित था। जब श्री कृष्ण अपनी बाल्यावस्था मे मथुरा के निकट की गोप-बस्ती मे निवास करते थे, तब उन्होंने गोप-बालाओ के साथ उस नृत्य का आयोजन किया था। श्रीमद् भागवतादि पुराणो मे रास का जैसा वर्णन किया है, उससे ज्ञात होता है कि उस नृत्य मे केवल नारियाँ ही भाग लेती थी। अगणित गोप-बालाओ मे पुरुष के नाम पर केवल बालक कृष्ण ही उसमे थे, कृष्ण के बाल सखाओ मे से भी कोई उसमे सम्मिलित नही हुआ था।

इस समय जो रास होता है, उसमे भी सर्व प्रथम नृत्य ही प्रस्तुत किया जाता है, जिसे **'नित्य रास'** कहते हैं। उसकी एक बँधी हुई परिपाटी है, जिसका उल्लेख आगे किया जावेगा। यद्यपि रास का प्राचीन कलात्मक रूप इस समय उक्त 'नित्य रास' मे ही थोडा-बहुत सुरक्षित है, तथापि आजकल के दर्शको को उसमे अधिक रुचि नही होती है। ये लोग 'नृत्य' की अपेक्षा 'लीला' देखना अधिक पसद करते हैं और वही इस समय रास का प्रधान अग भी बन गई है।

**लीला**—रास के इस भाग मे श्री कृष्ण द्वारा व्रज मे किये गये विविध कार्य-कलाप का अभिनय किया जाता है। इस प्रकार रास लीला वस्तुत 'कृष्ण लीला' है। इस समय श्री कृष्ण की जिन लीलाओ का अभिनय होता है, उनमे माखनचोरी लीला, चीरहरण लीला, पनघट लीला, मान लीला, विवाह लीला, महारास लीला और उद्धव लीला प्रमुख है। ये लीलाएँ श्री कृष्ण द्वारा व्रज मे किये गये रहस्यात्मक कार्यो के अनुकरण की चेष्टा है। यह 'लीलानुकरण' भी सर्व प्रथम व्रज की गोप-बालाओ ने ही आरभ किया था। श्रीमद् भागवत की 'रास पचाध्यायी' मे कहा गया है, जब रास के मध्य मे गोपियो को अभिमान हो गया था, तब उसे दूर करने को कृष्ण अतर्धान हो गये थे। उनके विरह मे व्याकुल गोपियाँ उनकी लीलाओ का स्मरण करती हुई विलाप और प्रलाप करने लगी थी। उसी समय उन्होंने श्री कृष्ण की विविध लीलाओ का अनुकरण करते हुए प्रदर्शन किया था। इस प्रकार 'नृत्य' के साथ 'लीला' की परपरा भी अत्यत प्राचीन है।

'लीला' को कभी-कभी **'चरित्र'** भी कहा जाता है, किंतु इस प्रकार का कथन अधिक सार्थक नही है। लीला और चरित्र मे कुछ भेद है। लीला का प्राय प्रदर्शन किया जाता है और चरित्र का कथन। लीला शब्द प्राय श्री कृष्ण के साथ लगाया जाता है, और चरित्र शब्द श्री राम के साथ। वैसे कभी-कभी राम चरित्र को 'राम लीला' और कृष्ण लीला को 'कृष्ण चरित्र' भी कहते हैं, किंतु इस प्रकार के कथन मे अधिक सार्थकता नही है।

उसे शास्त्रीय रूप प्रदान किया गया और वह मथुरा से द्वारका तक के विस्तृत भू--भाग की विविध जातियो मे प्रचलित हो गया था। कालातर मे उसका प्रचार जब आभीर जाति मे हुआ, तव उसका सबध देशज प्राकृत भापाओ से भी हो गया था।

**रूप और अर्थ का विस्तार**—रास के अधिक प्रचलन से उसका क्षेत्र नृत्य--नाट्य तक ही सीमित नही रहा, वरन् वह काव्य के विशाल परिवेश से सम्बद्ध होकर उसके दोनो अग दृश्य और श्रव्य काव्य-रूपो मे गृहीत कर लिया गया था। उस समय उसके दो प्रकार हो गये – एक नृत्य और नाट्य के लिए तथा दूसरा गायन और वाचन के लिए। नाट्य तत्व से परिपूर्ण रास 'हल्लीसक' के नाम से गेय रूपक बन गया, जिसे नाट्य शास्त्र मे उपरूपको मे माना गया है। उस समय उसमे और 'रासक' मे अतर करना कठिन हो गया था, क्यो कि रासक भी रूपक का एक भेद था। भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' मे रासक को रूपक और हल्लीसक को उपरूपक की सज्ञा दी गई है, तथा रासक के ताल रासक, दड रासक और मडल रासक नामक तीन भेद बतलाये गये है। रास का जो प्रकार गायन और वाचन के रूप मे प्रचलित हुआ था, उसमे और 'रासो' मे भी अतर करना कठिन हो गया, क्यो कि चरित्र-प्रधान गेय काव्य को रासो भी कहा जाता था। इस उलझन का कारण यह था कि रास, रासक और रासो की निश्चित शैलियाँ और उनकी स्पष्ट परिभापाएँ सभी युगो मे एक सी नही रही है।

**उल्लेख और परपरा**—रास के रूप और क्षेत्र का विस्तार होने से उससे सबधित ग्रथो की भी रचना होने लगी थी। इस प्रकार के ग्र थ सस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्र श भापाओ मे भी मिलते है। प्राकृत रचनाओ के कारण ही कुछ लोगो को भ्रम हो गया है कि रास का प्रारभ सबसे पहिले आभीर जाति मे हुआ था। प्राकृत और अपभ्र श जैसी देशज भापाओ की रचनाओ की भी दो परपराएँ प्रचलित हुई —एक जैन कवियो की और दूसरी चारण कवियो की। जैन कवियो ने अधिकतर चरित्र प्रवधो की रचना की थी, जिसका एक उदाहरण 'भरतेश्वर वाहु वली रास' है। इसे अपभ्र श अथवा पुरानी हिंदी भापा का सर्व प्रथम रास ग्रथ माना जाता है। चारण कवियो ने प्राय गेय रूपक रचे थे, जिनका एक उदाहरण 'बीसलदेव रास' है। राधा--कृष्णोपासक भक्तो द्वारा जिस 'रास' का विकास किया गया, वह इनसे पृथक् एक तीसरी परपरा है। १६वी शताब्दी से उसे ही 'रास' कहा जाने लगा और उससे पूर्व की परपराएँ ग्र थो मे ही रह गई थी।

## सस्कृत साहित्य मे रास—

रास की प्राचीन परपरा का अनुसधान करने वाले कुछ विद्वानो ने ऋग्वेद की ऋचाओ मे भी उसके सूत्र खोज निकाले है। एक ऋचा मे कृष्ण के दोनो ओर दो गोपियो के दर्शन करते हुए उन्हे रास का सकेत मिल गया है[1], किंतु यह उनकी दूरस्थ कल्पना मात्र है। सायण के भाष्य मे उस ऋचा का सबध आकाश और पृथ्वी से बतलाया गया है, इसलिए उसमे कृष्ण, गोपियाँ और रास के सकेत की वात असगत है। रास का सर्व प्राचीन उल्लेख हरिवश और विविध पुराणो मे ही मिलता है।

---

(१) पद्मावस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा।
ऋतुस्य सद्‌म विचरामि द्विद्वान्महददेवानामसुरत्वमेकम्॥ ( म० ३, अ० ३, ५५–१४ )
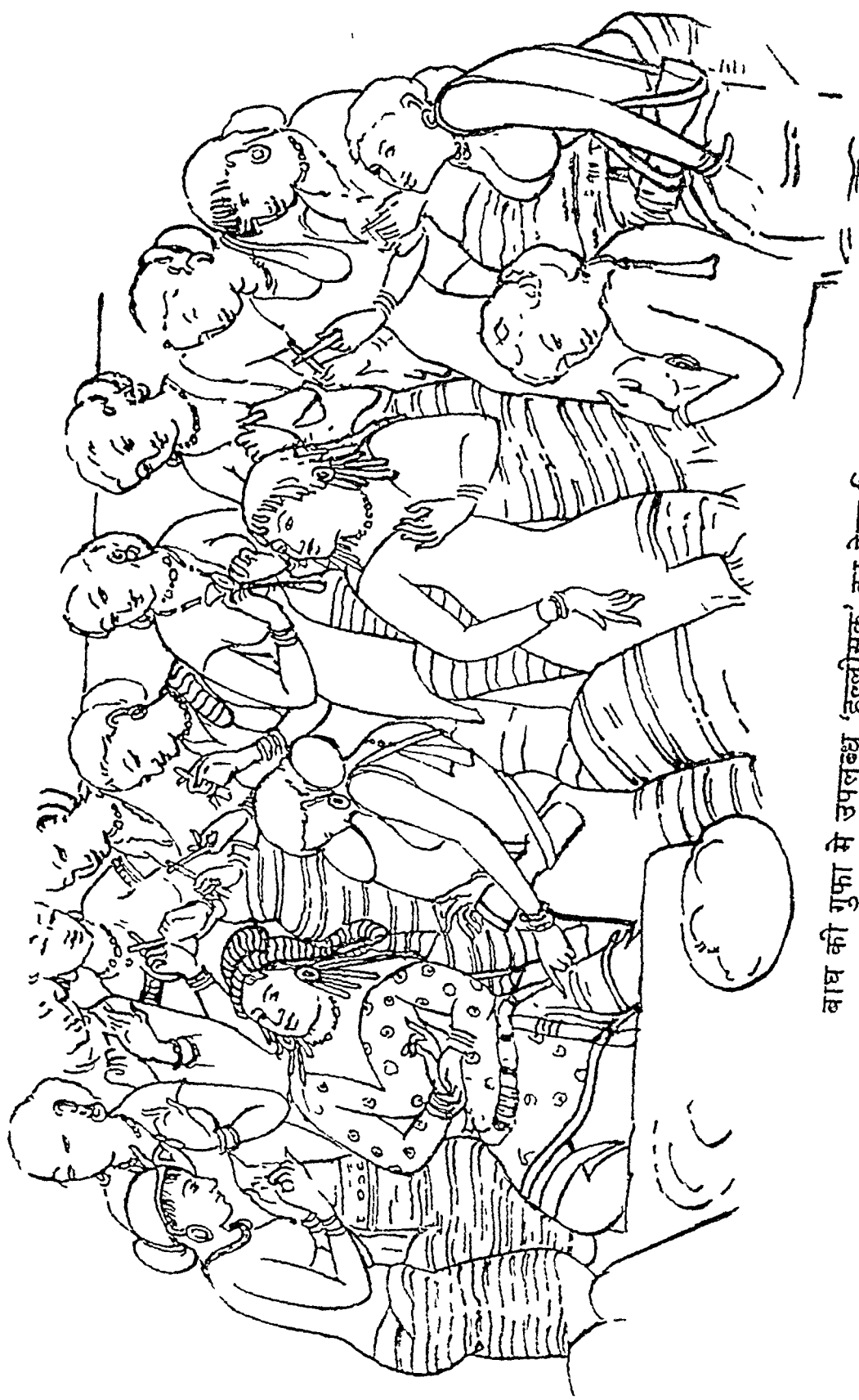
बाघ की गुफा मे उपलब्ध 'हल्लीसक' का रेखा-चित्र

रासलीला का आधुनिक चित्र

**हरिवंश**—इसके 'विष्णु पर्व' मे श्री कृष्ण की बाल--लीलाओ के अंतर्गत गोप--बालाओ के साथ और द्वारका-निवास के समय पिंडार यात्रा के समुद्र--विहार के प्रसग मे यादव नारियो के साथ रास--क्रीडा का उल्लेख हुआ है। उसमे बाल लीलाओ के प्रसग का वर्णन अत्यत सक्षिप्त और सयत है। शरद ऋतु की चाँदनी रात मे गोप--कन्याओ द्वारा पक्ति बना कर श्री कृष्ण के चरित्र का गान, उनकी लीलाओ का अनुकरण तथा हाथो से ताली बजाते हुए नृत्य करने का उल्लेख उसमे किया गया है[1]। उस गान-वाद्य-अभिनय सयुक्त नृत्य को 'हरिवश' मे 'रास–क्रीडा' कहा है, जिसमे गोप-कन्याओ और गोप-नारियो के साथ श्री कृष्ण ने भाग लिया था। इस प्रकार वह केवल नारियो का नृत्य था और बालक कृष्ण के अतिरिक्त किसी भी पुरुष ने उसमे भाग नही लिया था।

द्वारका की पिंडार-यात्रा का समुद्र–विहार तथा उससे सबधित जल-क्रीडा, गायन, वादन और नृत्य का विस्तृत वर्णन अत्यत असयत और वासनापूर्ण है। उसे कुत्सित और कुरुचिपूर्ण भी कहा जा सकता है। उस अवसर पर द्वारका के समस्त यादव युवको ने अपनी पत्नियो तथा प्रेयसी गणिकाओ के साथ उसमे भाग लिया था और उसमे श्री कृष्ण–बलराम अपनी पत्नियों–पुत्रो तथा अर्जुन और नारद के साथ सम्मिलित हुए थे। सब लोगो ने अपनी पत्नियो और प्रेयसियो तथा गणिकाओ और अप्सराओ के साथ निस्सकोच तथा खुले-आम विहार किया था। आश्चर्य की बात है, शाक्तो के भैरवी–चक्र के सदृश उस बीभत्स आयोजन को हरिवश मे 'रास' कहा गया है[2]। जल-विहार के अनतर होने वाले भोज मे विविध खाद्य पदार्थो के साथ पशु-पक्षियो के मास और मदिरा का भी प्रचुरता से प्रयोग किया गया था[3], जो उस कुत्सित प्रसग की बीभत्सता को और भी बढाने वाला था। जल-विहार और खान–पान के पश्चात् रात्रि मे सगीत और अभिनय का कार्यक्रम हुआ था। उसमे नारद ने वीणा, श्री कृष्ण ने वशी और अर्जुन ने मृदग का वादन किया था तथा अप्सराओ ने गायन, वादन, नृत्य और अभिनय के कलापूर्ण एव रोचक कार्यक्रम प्रस्तुत किये थे। उस आयोजन को हरिवश मे 'हल्लीसक' अथवा 'छालिक्य गाधर्व' कहा गया है[4]।

हरिवश-कार ने बतलाया है कि 'छालिक्य गाधर्व' स्वर्ग का दिव्य सगीत था, जिसे श्री कृष्ण ने इस भूतल पर यादवो मे प्रचलित किया था। उस समय के पाँच वीर—श्री कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और साम्ब इसके विशेषज्ञ थे। उनके अतिरिक्त नारद जी भी उस 'विज्ञान' को यथावत् जानते थे। अत मे 'छालिक्य गाधर्व' के महत्व का कथन किया है[5]। हरिवश का रचना-काल तीसरी शती के लगभग माना जाता है और इसकी गणना उप पुराणो मे की गई है।

**विविध पुराण**—कृष्ण-चरित्र से सबधित पुराणो मे विष्णुपुराण सबसे प्राचीन है। उसका रचना-काल चौथी शताब्दी माना गया है। इसके अश ५, अध्याय १३ मे शरद रात्रि की रास गोष्ठी का

---

(१) हरिवंश, ( विष्णु पर्व, अध्याय २०, श्लोक स० २४ से ३५ तक )
(२) वही, ( विष्णुपर्व, अध्याय ८९, श्लोक स० ७ से ३० तक )
(३) वही, ( श्लोक स० ५७ से ६५ तक )
(४) वही, ( श्लोक स० ६७ से ७८ तक )
(५) वही, ( अध्याय ९९, श्लोक स० ७३ से ८९ तक )

वर्णन हुआ है। विष्णु पुराण के अतिरिक्त ब्रह्मपुराण ( अध्याय १८६ ), पद्म पुराण ( उत्तर खड, अध्याय २७–२–२७३ ) और ब्रह्मवैवर्त ( श्री कृष्ण जन्म खड, अध्याय ५२, ५३, ६६, ६७, ६८ ) मे भी रास का वर्णन है। पुराणो मे श्रीमद् भागवत का रास-वर्णन सबसे अधिक महत्वपूर्ण और विस्तृत है। भागवत का रचना–काल विष्णु पुराण से कुछ बाद का माना जाता है। हरिवश और विष्णु पुराण की तरह भागवत मे भी शरद रास का ही वर्णन हुआ हे।

**श्रीमद् भागवत**—यह सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित पुराण है। इसे वैष्णव सप्रदायो का एक मात्र उपजीव्य ग्रथ और ब्रज के भक्त महानुभावो का सबसे बडा प्रेरणा–स्रोत माना गया है। उसके दशम स्कध मे कृष्ण–लीलाओ का जो विस्तृत वर्णन है, उसी के आधार पर ब्रज के प्राय सभी भक्त–कवियो ने अपने कृष्ण–काव्य की रचना की है। इसके दशम स्कध के २९ से ३३ तक के ५ अध्यायो मे रास का वर्णन है, इसीलिए उन्हे **"रास पचाध्यायी"** कहा जाता है और ये पाँच अध्याय भागवत के प्राण स्वरूप माने जाते हैं। इससे सिद्ध है कि ब्रज के भक्ति सप्रदायो मे रास को कितना महत्व दिया गया है। यहाँ पर रास पचाध्यायी के रास वर्णन का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

**रास पचाध्यायी**—भागवत दशम स्कध के २९ वे अध्याय मे रास का वर्णन करते हुए कहा है कि शरद ऋतु की पूर्णिमा को जब चद्रमा का उदय पूर्ण प्रकाश के साथ हुआ और उसकी उज्ज्वल–निर्मल चद्रिका का सौरभ समस्त वनखड मे फैला गया, तब श्री कृष्ण को गोप–बालाओ के साथ क्रीडा करने की इच्छा हुई। उन्होने अपनी वशी से एक मीठी तान छेडी, जो समस्त ब्रज क्षेत्र मे व्याप्त हो गई। उसे सुन कर सभी गोप-बालाएँ मुग्ध हो गई और वे हठात् अपने-अपने घरो से निकल कर वशी की ध्वनि की ओर बेसुध होकर दौड पडी। उस समय जो जिस स्थिति मे थी, वे उसी स्थिति मे चल दी। गायो को दुहती हुई, बच्चो को दूध पिलाती हुई, घर-गृहस्थी का काम करती हुई, पतियो की सेवा-सुश्रुषा करती हुई गोप बालाएँ अपने–अपने कामो को छोड कर चल पडी थी। उस समय वे इतनी व्यग्र और बेसुध थी कि उन्हे अपने वस्त्राभूषणो का भी ध्यान नही था। वे अपर्याप्त और उलटे-सीधे वस्त्राभूषणो को पहिने हुए ही भाग रही थी। उनके माता–पिता, बधु-बाधव यहाँ तक कि पतियो ने भी उन्हे रोका, किंतु वे किसी की ओर ध्यान न देकर उतावली मे चलती हुई कृष्ण के पास पहुँच गई। श्री कृष्ण ने गोपियो को देख कर कहा,— "इस रात्रि के समय तुम यहाँ क्यो आई हो ? अपने घरो और पति-पुत्रो को छोड कर इस प्रकार तुम्हारा यहाँ आना उचित नही हुआ। तुमने वन का भ्रमण कर लिया, अब तुम अपने-अपने घरो को लौट जाओ।" कृष्ण के मुख से इस प्रकार की कठोर बाते सुन कर गोपियाँ उदास हो गई। उन्होने कहा—"तुम हमारे हार्दिक भावो को भली भाँति जानते हो। फिर ऐसी बाते कह कर हमे क्यो दुखी करते हो ? हम तुम्हारे साथ क्रीडा करना चाहती है।" गोपियो की उस अनन्य भक्ति से कृष्ण बडे प्रसन्न हुए और उन्होने उनकी मनोभिलाषा पूर्ण करने का आयोजन किया। यमुना के पावन पुलिन पर उस मनोरम रात्रि मे रास लीला आरभ हुई। गान-वाद्य के साथ नृत्य हुआ, और साथ ही साथ रति-क्रीडा भी हुई। गोपियाँ आनदविभोर हो गई। उन्हे अपने सौभाग्य पर गर्व होने लगा। उसी समय कृष्ण उनके गर्व को नष्ट करने के लिए अकस्मात वहाँ से अत-र्ध्यान हो गये।

३०वे अध्याय मे कहा गया है कि रास–क्रीडा में से कृष्ण के अकस्मात अंतर्धान हो जाने से गोपियाँ बड़ी दुखी हुई। वे व्याकुल होकर उन्हे ढूँढने लगी। उन्होने प्रत्येक वन को छान डाला। लता-गुल्म वृक्ष-वल्लरी, जीव-जंतु, पशु-पक्षी सबसे पूछ लिया, किंतु कृष्ण का पता न चला। तब वे दीनतापूर्वक विलाप करने लगी। कृष्ण के साथ की हुई समस्त लीलाओं का स्मरण करती हुई वे आर्तनाद कर रही थी। उस समय वे सब कृष्णमयी हो गई थी। उसी दशा मे वे कृष्ण की विभिन्न लीलाओ का अनुकरण करने लगी। एक गोपी कृष्ण बन गई। कुछ गोपियाँ ग्वाल--वाल वन गई। फिर वे एक-एक कर कृष्ण की समस्त लीलाओ का अभिनय करने लगी।

इस प्रकार 'लीलानुकरण' करते हुए उन्हे एक स्थान पर कृष्ण के चरण--चिन्ह दिखलाई दिये। वही पर उन्होंने किसी नारी के पद--चिन्ह भी देखे। उन्होने समझा कि कृष्ण अपनी उस 'आराधिका' के साथ एकात मे क्रीडा करने को कही चले गये है। भागवत मे आये हुए इस **'आराधिका'** शब्द से ही भक्तजनो ने 'राधा' का सकेत प्राप्त किया है। समस्त गोपियां उन्ही पद चिन्हो की दिशा मे चल दी। आगे जाकर उन्होने उस भाग्यशालिनी कृष्ण-प्रिया को भी वेसुध दशा मे पडी हुई पाया। उससे कृष्ण का पता पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसे भी अभिमान हो गया था, अत कृष्ण उसे वही छोड कर कही चले गये थे। ३१वे अध्याय मे गोपियो की उत्कट विरह--वेदना और उनके प्रलाप का वर्णन है। उन्होने नेत्रो से अश्रु--पात करते हुए अपनी व्यथा का जो मर्मस्पर्शी गायन किया है, उसे 'गोपिका गीत' की सज्ञा दी गई है।

३२वे अध्याय मे भी पहिले गोपियो की विरह--व्यथा का वर्णन है। फिर कहा गया है कि जब गोपियाँ कृष्ण को ढूँढते--ढूँढते, उनकी लीलाओ का स्मरण और अनुकरण करते--करते **'तन्मनस्का, तदालापा, तद्विचेष्टा और तदात्मिका'** होकर सब की सब एक मात्र कृष्ण के रग मे ही रँग गई थी, उनके मन मे गर्व या अभिमान का लेश भी नही रहा, तब कही मृदु मुस्कान करते हुए कृष्ण प्रकट हुए थे। उन्हे अकस्मात अपने वीच मे पाकर गोपियाँ अत्यत प्रसन्न हुई। कृष्ण उन सब को लेकर यमुना--पुलिन पर गये। शरद पूर्णिमा की शेष रात्रि मे कृष्ण ने गोपियों के साथ प्रेमपूर्ण वार्ता की, उन्हे प्रेम--मार्ग का उपदेश दिया। इससे उनकी विरह--वेदना शात हो गई।

३३वे अध्याय मे कहा गया है कि यमुना--पुलिन पर पुन गोपियो के साथ कृष्ण की रसमयी रास--क्रीडा आरभ हुई। कृष्ण गोपियो के साथ गायन--वादन के साथ नृत्य करने लगे। उस समय गोप-वालाओ को ऐसा अनुभव हुआ कि कृष्ण अनेक रूप धारण कर दो--दो गोपियों के वीच मे एक--एक रूप से उन्हे आनदित करते हुए क्रीडा कर रहे है। इस प्रसग को 'महारास' कहा गया है[1]। महारास के उपरात उसके श्रम को दूर करने के लिए सबने यमुना-स्नान किया [illegible] समय उन्होंने पहिले जल--क्रीडा की और फिर वन--विहार किया था।

---

(१) उक्त प्रसग से सबधित दशम स्कंध, ३३वे अध्याय के कुछ [illegible]

तत्रारमत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः। स्त्रीरत्नैरन्वित प्रीतैर[illegible]
रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमंडलमडितः। योगेश्वरेण कृष्णेन तासां [illegible]
प्रविष्टेन गृहीतानां [illegible] ॥३॥
वलयानां नूपुराणां किंकिणीनां च योपिताम्। स प्रियाणाम[illegible] ॥६॥
उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकठ्यो रतिप्रियाः। कृष्णाभिमर्शमुदिता [illegible] ॥६॥
काचित्समं मुकुंदेन स्वरजातीरमिश्रिताः। उन्निन्ये पूजिता [illegible]
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये [illegible]

इस प्रकार भागवत की 'रास पचाध्यायी' १७४ श्लोकों मे समाप्त हुई है। रास का वास्तविक वर्णन इसके आरभिक और अतिम अर्थात् २६वे और ३३वे अध्यायो मे हुआ है। शेप तीन अध्यायो मे गोपियो का विरह वर्णन, कृष्णान्वेषण और उनकी लीलाओं के अनुकरण करने का कथन है। २६वे अध्याय के वर्णन को **'रास'** और ३३वे को **'महारास'** कहा गया है। २६वे अध्याय के आरभिक वशी--वादन प्रसग को **'वेणु गीत'** और गोपियो के विरह निवेदन को **'गोपिका गीत'** की सज्ञा दी गई है।

**ब्रह्मवैवर्त पुराण**—इसके रास-वर्णन की यह विशेषता है कि इसमे रासेश्वरी राधा का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही इसमे रास का भी विस्तारपूर्वक कथन हुआ है, किंतु वह कामुकता और विलासतापूर्ण सा लगता है। नाना प्रकार के सुरति-सगम और केलि--क्रीडाओं के कारण उसका वर्णन भागवतादि की मूल भावना से भिन्न हो गया है।

**गर्ग सहिता**—कृष्ण--लीला के इस ग्रथ मे रास का विस्तृत वर्णन मिलता है, किंतु वह ब्रह्मवैवर्त की तरह विलासितापूर्ण नही है। उसमे कहा गया है, कृष्ण ने अनेक रूप धारण कर बन--बालाओ, गोबर्धन निवासिनी नारियो, सयूथा यमुना--गगा, तथा परिकर सहित ८ सखियो और ३२ सखियो के साथ क्रमश वृ दावन, तालवन, मधुवन, कामवन और कोकिलावन मे रास किया था[1]। इसके उल्लेखानुसार रास का आरभ वैशाख शु० ५ की चाँदनी रात मे हुआ था[2]। इस प्रकार वह विष्णु और भागवत पुराणो के शरद रास से भिन्न है।

**नाटक और काव्य**—सस्कृत के नाटक तथा काव्य ग्रथो मे भी रास का उल्लेख मिलता है। भास कृत 'बाल चरित्र' नाटक मे तथा बाणभट्ट कृत 'हर्ष चरित', माघ कृत 'शिशुपाल वध', बिल्वमगल कृत 'बाल गोपाल स्तुति' एव 'कृष्ण कर्णामृत' और जयदेव कृत 'गीत गोविंद' काव्यो मे रास का थोडा-बहुत वर्णन हुआ है। इनमे 'गीत गोविंद' का कथन अत्यत सरस और मनोमुग्धकारी है। उसमे 'गर्ग सहिता' की तरह वसत रास का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

> **ललित लवग लता परिशीलन, कोमल मलय समीरे।**
> **मधुकर निकर करबित कोकिल, कूजित कुंज कुटीरे॥**
> **विहरति हरि रिह सरस बसते।**
> **नृत्यति युवति जनेन सम सखि, विरहि जनस्य दुरते॥**

कृष्णोपासक धर्माचार्यो द्वारा ब्रज मे रास का पुनरुत्थान किये जाने से पहिले हिंदू धर्म ग्रथो मे रास की यह लिखित परपरा मिलती है। १६वी शताब्दी से पहिले वैष्णव सप्रदायो मे रास का कोई व्यवहारिक रूप भी प्रचलित था, इसका कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नही हुआ है।

---

(१) गर्ग सहिता, वृ दावन खड, अध्याय १६, श्लोक १–४१

(२) वृ दाबने समारभे रास रासेश्वर. स्वयम्॥
वैशाख मासि पचम्या जाते चन्द्रोदये शुभे।
यमुनोपवनेरे मे रासेश्वर्या मनोहर॥
—वृ दावन खड, अध्याय १६, श्लोक २–३

### जैन धर्म और साहित्य में रास—

कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदायों में रास के अपनाये जाने से पहिले उसका प्रचार जैन धर्मावलम्बियों में रहा था। जैन धर्म में रास को धार्मिक भावना के प्रचार का एक शक्तिशाली और रोचक साधन माना जाता था, अतः जैन भक्त-कवियों ने बहुत बड़ी संख्या में रास ग्रंथों की रचना की थी। वे ग्रंथ प्राकृत, अपभ्रंश और पुरानी हिंदी भाषाओं में रचे गये थे। उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे ग्रंथ पढ़ने-सुनने के अतिरिक्त अभिनय के लिए भी लिखे जाते थे। मुनि जिनविजय जी का मत है, प्रारंभ में रास या रासक ग्रंथों की रचना पढ़ने—सुनने की अपेक्षा नृत्य-गान के लिए हुई थी। उस समय रास लोक नृत्य एवं लोक गीतों के रूप में साहित्य में आया था। कालांतर में जब वे ग्रंथ पढ़ने और अभिनय के लिए लिखे जाने लगे, तब रास का भी अभिनय किया जाने लगा। इस प्रकार रास ग्रंथों के दो भेद हो गये—१ नृत्य तथा गान के लिए और २ पढ़ने तथा अभिनय के लिए[1]।

'रेवन्तगिरि रास' की पुष्पिका में लिखा गया है, "श्री विजयदेव सूरि कृत इस रास का जो उत्साह पूर्वक अभिनय करेगा, उस पर जिन नेमिनाथ जी प्रसन्न होंगे और देवी अंबिका उसकी इच्छाओं को पूर्ण करेंगी[2]।" उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि रेवन्तगिरि रास की रचना के समय रास ग्रंथ जैन जनता के समक्ष अभिनय के लिए लिखे जाते थे। उसकी समीक्षा करते हुए डा० रामबाबू शर्मा का कथन है—"विक्रम की १२, १३ और १४वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक जैन मंदिरों में ताल, लकुट आदि रासों का प्रचलन था और उन नृत्यों में विकृतता आ गई थी, जिसे समाप्त करने के लिए जैन आचार्यों ने प्रयत्न आरंभ कर दिये थे। कालांतर में जैन मंदिरों में से गीत एवं नृत्य को समाप्त करके धार्मिक नाटकों के अभिनय एवं पौराणिक पुरुषों के चरित्र का गान करने का विधान हुआ। फलतः १५वीं शताब्दी से कथावस्तु का विस्तार से वर्णन करके अंत में जैन धर्म का आरोप कर दिया जाता था। ऐसे रास पढ़ने तथा सुनने के लिए भी लिखे जाते थे। उस काल के अनेक रास ग्रंथों में उनके कहने—सुनने के उल्लेख मिलते हैं। दो उदाहरण लीजिये—

१. रतन विमल ए रचीउ रास॥
भणतां सुणतां पूरइ आस॥४६॥
—धर्मबुद्धि मंत्री रास ( हस्त लिखित प्रति )

२. तहन एहु प्रबंध भणसिइ जानिरा।
तासु दुख टलसि, सुख मिलसि, घरहि विलसइ ऋद्धि॥३६॥
—राजपाल कृत जम्बूस्वामि रास ( हस्त लिखित प्रति )

---

(१) सिंघी जैन सीरीज, ( सं० ३२, पृ० १४० )

(२) रंगहि एहु रमइ जो रासु, सिरि विजयसेन सूरि निम्मविउए।
नेमि जिणु तूसइ तासु अंबिक पूरइ मणि रलीए॥

श्री अगरचद नाहटा का मत है कि लबे कथानक युक्त रास अभिनय के लिए न लिखे जा कर व्याख्यानो आदि मे लबे समय तक गा-गाकर सुनाये जाते थे। आज भी श्वेताम्बर जैन समाज मे नियमित रूप से दो पहर तथा रात का व्याख्यान इन रासो को गाकर ही किया जाता है[1]।

## प्रेरणा और प्रचलन—

कृष्णोपासक धर्माचार्यों एव भक्त महानुभावो ने कुछ तो जैन धर्म से और अधिकतर श्रीमद् भागवत से प्रेरणा प्राप्त कर रास का प्रचलन आरभ किया था। सभी वैष्णव सप्रदायो मे भागवत की 'रास पचाध्यायी' का प्रवचन होता रहता था, अत. उनके अनुयायी भक्तगण की रास के प्रति अत्यत आस्था थी। जब विभिन्न सप्रदायो के आचार्यों ने जैनियो की भाँति धर्म–प्रचार के लिए भी रास का उपयोग किया, तब उन्हे कोई कठिनता ज्ञात नही हुई थी। कुछ रूढिग्रस्त हिंदुओ ने "न गच्छति जैन मदिरम्" का नारा लगाते हुए जैन मदिरो मे जाने तक का निषेध कर रखा था, किंतु जिस प्रकार जैनियो की पूजा-पाठ विषयक अनेक बाते जाने–बेजाने रूप मे वैष्णव सप्रदायो मे भी प्रचलित हो गई थी, उसी प्रकार जैनियो की रास सबधी परपरा भी उक्त सप्रदायो मे अनायास ही स्वीकृत कर ली गई। फिर धीरे-धीरे वह कृष्णोपासना की पुष्टि और कृष्ण-भक्ति के विस्तार का एक शक्तिशाली तथा प्रभावोत्पादक साधन बन गई थी।

कृष्णोपासक भक्तो ने जैनियो से रास की प्रेरणा तो प्राप्त की, किंतु उसका प्रचलन उन्होंने पौराणिक और विशेष कर भगवतोक्त विधि से किया था। पहिले उन्होंने भगवान् की रास लीला के चिंतन–मनन के लिए 'रास पचाध्यायी' की कथा-वार्ता करना आरभ किया। फिर वे रास सबधी सरस पदो की रचना कर उन्हे वाद्य यत्रो के साथ ताल-स्वर से गाने लगे। उस समय ठाकुर जी के कीर्तन मे रास के पदो का गायन होने लगा। उसके बाद रास मडलियो का सगठन हो जाने पर कृष्ण-लीलाओ के नृत्य-नाट्य द्वारा रास का अभिनय भी किया जाने लगा था। इस प्रकार क्रमश रास का प्रचलन बढने लगा और शीघ्र ही 'रासलीलानुकरण' के रूप मे उसका व्यापक प्रचार हो गया।

## वैष्णव सप्रदायो मे रास के आरभकर्ता—

ब्रज मे रास का आरभ किसने किया, इसके विषय मे बडा मतभेद है। चू कि इसका श्रेय वैष्णव धर्म के कई सप्रदाय लेना चाहते हैं, अत उक्त मतभेद ने कुछ काल से साप्रदायिक विवाद का सा रूप धारण कर लिया है। इस विवाद को इसलिए अधिक बल मिला है कि ऐसा कोई निश्चित प्राचीन उल्लेख नही मिलता है, जिससे इसके आरभकर्त्ता के सबध मे प्रामाणिक रूप से ज्ञात हो सके। इस विषय की एक मात्र पुस्तक 'रास सर्वस्व' है, जिसमे रास के आरभ किये जाने के सबध मे कुछ विस्तार से लिखा मिलता है। इसमे रास के आरभकर्त्ताओ के रूप मे जिन धर्माचार्यों और भक्त महानुभावो के नाम आये है, उनके सप्रदाय वालो ने उनकी प्रामाणिकता की जाँच किये बिना ही उन्हे स्वीकार कर लिया है। फिर उन्होंने अपने–अपने तर्क–कुतर्कों से उसके अप्रामाणिक कथन को भी प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया है। इससे यह समस्या और भी अधिक जटिल हो गई है।

---

(१) साहित्य सदेश, भाग २२, अंक १० (अप्रैल, १९६१)

'रास सर्वस्व' एक आधुनिक रचना है, जिसमे अनुश्रुतियो और किवदतियो के आधार पर रास के आरभ और उसके विकास का अप्रामाणिक विवरण लिखा गया है। इसका रचयिता और उसका घराना श्री विष्णुस्वामी अथवा श्री वल्लभाचार्य के सप्रदाय का अनुयायी ज्ञात होता है। इस पुस्तक मे रास के आरभ और उसके विकास का श्रेय स्वामी हरिदास, विष्णुस्वामी मत के पोषक आचार्य जी ( वल्लभाचार्य ), घमड स्वामी, विक्रम, नारायण भट्ट और वल्लभ नर्तक तथा करहला के दो अन्य ब्राह्मण रामराय और कल्याण को दिया गया है। इसमे रास के प्रत्यक्षदर्शी तथा आचार्यो के रूप मे कुछ अन्य भक्त जनो के नामो का भी उल्लेख हुआ है, जिनमे प्रमुख सूरदास, विट्ठलविपुल, हित हरिवश, व्यास जी और चदसखी है। रचयिता ने करहला के पूर्वोक्त ब्राह्मणो को अपना पूर्वज बतलाया है और उदयकरण से लेकर अपने समय तक की पीढियो का नामोल्लेख किया है। उक्त पुस्तक मे ऐसा अस्तव्यस्त, उलझा हुआ और पूर्वापर विरुद्ध मत प्रकट किया है कि उससे अनेक साप्रदायिक और साहित्यिक विद्वानो को उसका खडन-मडन करने की प्रेरणा मिली है। इस के पक्ष और विपक्ष मे कई पुस्तिकाएँ भी निकली है। इनमे किसी ने स्वामी हरिदास को, किसी ने वल्लभाचार्य को, किसी ने निंबार्क सप्रदाय के आचार्य घमडदेव को और किसी ने [illegible] सप्रदाय के विद्वान नारायण भट्ट को रास के आरभ करने का श्रेय दिया है। इनके कथनो मे अनुश्रुतियो पर आधारित साप्रदायिक आग्रह के अतिरिक्त न तो कोई वैज्ञानिक [illegible] है और न किसी ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन है। हम इस सबध मे अपना मत [illegible] 'रास सर्वस्व' के कथन और उसी से प्राय मिलता हुआ श्री लाडिलीशरण [illegible] प्रस्तुत करते है।

हित दामोदर, नागरीदास, हरिवश, हरिनाथ, वल्लभरसिक, हरिदास, वालकृष्ण तुलाराम, चदसखी, श्यामाचरण दास का क्रमश वर्णन किया गया है। राम रसिको मे से कुछ महानुभावो का परिचय छप्पय छदो मे है। वे छद स्वय रचयिता के न होकर चाचा वृ दावनदास कृत अप्रकाशित रचना 'रसिक अनन्य परिचावली' के हैं, यद्यपि उसमे उनके नाम का उल्लेख नही किया गया है। उन छदो को रचयिता ने अपनी इच्छानुसार तोड-मोड कर विकृत रूप मे प्रस्तुत किया है।

दूसरे परिच्छेद मे लिखा गया है कि सर्व प्रथम स्वामी हरिदास जी को रासानुकरण की इच्छा हुई। वे निंवार्क सप्रदाय के घमडदेव जी के साथ मथुरा गये। वहाँ विष्णुस्वामी मत के पोपक आचार्य जी ( वल्लभाचार्य जी ) से उन्होंने रास रस के प्रकट करने का उपाय करने को कहा। आचार्य जी ने प्राणायाम चढाया, तव आकाश से एक विशाल मुकुट उतरा। उस अवसर पर मथुरा मे कोई पर्व था, जिसके लिए ५२ राजा वहाँ आये थे। आचार्य जी की आज्ञा से उन ५२ राजाओ ने ताम्रपत्र द्वारा उसे प्रमाणित किया। फिर आचार्य जी और स्वामीजी ने माथुर व्राह्मणो से उनके ८ वालको को लेकर रास किया। उस समय आचार्य जी ने कृष्ण का तथा स्वामी जी ने राधा का शृ गार किया था। रास के प्रसग मे लाल जी का स्वरूप अतर्धान हो गया और फिर वह वापिस नही आया। वालक के पिता ने आकर अपने पुत्र को माँगा, तव आचार्य जी ने योग वल से वालक को ला दिया। इस पर वे व्राह्मण अपने वालक को लेकर घर चले गये। फिर आचार्य जी ने घमडदेव जी से कहा, "तुम व्रजवासियो को अपने शिष्य वनाओ और उनके द्वारा इस मार्ग को चलाओ।" यह आज्ञा देकर सव महानुभाव अपने-अपने स्थानो को चले गये और घमडदेव ललिता सखी के ग्राम करहला को गये। वहाँ के उदयकरण और खेमकरण नामक दो व्राह्मण वधुओ से फिर रास की प्रथा प्रचलित हुई—

अपने-अपने घरन माथुरन किये पलायन। घमडदेव सो कह्यौ सुनो हरि भक्ति परायन॥
तुम व्रज के वासीन माँहि कीजे शिष शाखा। तिनसो यह मारग जु चलाओ सुनि मम भाखा॥
ऐसैं आज्ञा दई गये अपने-अपने थल। घमंडदेव पुनि गये ग्राम ललिता जहँ करहल॥
उदयकरण अरु खेमकरण द्वै भ्राता द्विजवर। तिनही सो यह रास प्रथा चली सुनो रसिकवर॥

इस प्रकार रचयिता ने स्वामी हरिदास, श्री वल्लभाचार्य और श्री घमडदेव के सम-कालीन करहला निवासी उदयकरण और खेमकरण व्राह्मणो को, जो रचयिता के पूर्वज थे, रास लीला को प्रचलित करने वाले कहा है। आगे वतलाया गया हे कि उदयकरण के पुत्र विक्रम ने औरगजेव के समय मे रास कर वादशाह को उसका परिचय दिया था। फिर उसने राजा जयसिंह को इतना प्रभावित किया कि उसने अन्य रासधारियो के तो मुकुट छीन लिये, किंतु विक्रम के परिवार वालो के लिए महल-हवेलियो का निर्माण कराया। उसने झूला वाला रास चवूतरा भी वनवाया और घमडदेव जी के समाधि-स्थल को जाकर देखा—

उदयकरण कौ पुत्र नाम विक्रम है जाकौ। अति प्रताप वल पौरुष वरनौ जाय न ताकौ॥
नौरंग साह के समय रास तिनही ने कीनौ। परचौ दीनौ ताहि मारि कर वर जस लीनौ॥
पुनि राजा जैसिंह मुकुट जव छीने सवके। महल-हवेली हू जु वनाये हैं ताही के॥
झूला वारौ रास चौतरा हू जु वनायौ। घमडदेव जू की समाधि कौ थल जु लखायौ॥

रचयिता का कहना है, उसके उपरात रास की प्रणाली लुप्त हो गई थी। फिर तीन सौ वर्ष बाद विहारीलाल ब्राह्मण ने इसे पुन प्रचलित किया और विभिन्न स्थानो मे जा-जाकर उस पद्धति का प्रचार किया था। उस विहारीलाल का देहान्त मथुरा मे स० १६३५ के अगहन माह की शुक्ला सप्तमी को हुआ था—

इहि विधि जग मे लुप्त भौ, त्रिशत वर्ष रस ग्रंथ।
विप्र बिहारीलाल पुन, प्रकट कियौ यह पंथ॥
देस–देस मे जाय रास की रीति द्रढाई। कहँ लगि वर्णन करौं, सुखद अति अमित वडाई॥

इस प्रकार ग्रथकार ने रास के प्रचलन का श्रेय अपने सप्रदाय के आद्याचार्य और अपने पूर्वजो को देने के प्रयास मे जो ऐतिहासिक भूल की है, उसका उल्लेख हम आगे करेगे। इस पुस्तिका के तीसरे परिच्छेद मे श्री नारायण भट्ट का वृत्तात लिखा गया है। उन्हे नारद जी का अवतार वतलाये हुए स० १६८८ मे उनका जन्म होना लिखा है। इसमे वतलाया गया है, उन्हे १२ वर्ष की आयु मे व्रज मे जाने की और वहाँ पर तीर्थोद्धार करने की आज्ञा उनके गुरु ने दी थी। भट्ट जी उक्त आज्ञा के अनुसार व्रज को चल दिये और घूमते-फिरते तीन वर्ष मे व्रजमडल मे पहुँच कर वहाँ के राधाकु ड नामक स्थान पर रहने लगे। वे सात वर्ष तक वहाँ रहे थे। फिर उन्होने स० १७१० मे वरसाने के ऊँचेग्राम मे जाकर निवास किया। स० १७१४ मे उन्हे श्री कृष्ण का आदेश मिला कि जिसके लिए तुम्हारा जन्म हुआ है, उस रास-रीति को उजागर करो। ठाकुर जी की उस आज्ञा से उन्हे हरि के विहार की स्फूर्ति हुई। तव उन्होने करहला के दो व्राह्मण रामराय और कल्याण को वुला कर अपना शिष्य किया और उन्हे उपदेश दिया—

तव सत्रासै चौदह साली। अनुशासन दीन्हीं वनमाली॥
करहु रास रस रीति उजागर। जेहि कारण प्रगटेउ गुण आगर॥
आज्ञा दई लाडिले ठाकुर। हरि विहार भौ हिय तवही फुर॥
तव सनाढ्य द्वय विप्र बुलाई। रामराय कल्याणहु राई॥
वासी रहै करहला केरे। किये शिष्य उपदेश घनेरे॥

आगे लिखा गया है, वादशाह का एक खास नर्तक वल्लभ, जो ज्ञान प्राप्त होने से नौकरी छोडकर व्रजवास करता था, लीला–अनुकरण मे लग गया। इस प्रकार रसिक नारायण भट्ट ने (रास द्वारा) ससार को उपकृत किया—

पुन इक वल्लभ नृतक वर, वादशाह कौ खास।
ज्ञान भये तजि चाकरी, करत रह्यौ व्रजवास॥
अस विचारि हरि की ललित लीलन कौ अनुकार।
रसिक नरायण भट्ट ने प्रथित कियौ ससार॥

इस पुस्तिका के चौथे 'प्रत्यक्ष निरूपण' परिच्छेद मे रास द्वारा प्रभु का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले राजा रास, व्यास जी, चदसखी, विट्ठलविपुल और मथुरा वाले गोस्वामी (?) का वर्णन किया गया है। पाँचवें परिच्छेद मे सस्कृत भाषा के उद्धरण द्वारा रास का विवेचन है। छठे परिच्छेद मे रास का प्रयोजन और सातवें परिच्छेद मे रास के स्वरूप का निरूपण किया गया है। आठवाँ परिच्छेद रासधारी–परपरा निरूपण का है। उसमे लिखा गया है कि ग्वालियर के निकट

परेवा नामक ग्राम मे घमडदेव जी को मुकुट का दर्शन हुआ था। उसी समय उन्हे आज्ञा हुई कि रास का प्रचार मथुरा मे गये हुए विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य की सम्मति से करो। इस प्रकार जो रास प्रचलित हुआ, उसका वर्णन पहिले किया जा चुका है। स्वामी घमडदेव ने करहला के दो वाह्मण वधु उदयकरण और खेमकरण को बुलाकर रास करने को कहा और उन्हे आशीर्वाद दिया कि तुम्हारी वंश-परपरा मे यह सेवा सदा रहेगी—

> पुनि घमंड स्वामी गये, ग्राम करहला माँहि।
> उदयकरण अरु खेमकरण, द्विज भ्राता दुइ ताँहि॥
> तिनहिं बुलाकर अस कही, करहु रास महिदेव।
> इहि विधि बंस-परंपरा, सदा रहे तुम सेव॥

फिर उदयकरण के वाद की २७ पीढी का उल्लेख करते हुए उसके वशजो के नाम विहारीलाल तक लिखे गये है। विहारीलाल के वडे पुत्र का नाम गोवर्धन और छोटे का नाम राधाकृष्ण लिखा है। राधाकृष्ण इस पुस्तक का रचयिता था। इसी परिच्छेद मे 'रासानुकरण के पाँच आचारी' सूरदास, स्वामी हरिदास, विट्ठलविपुल, हित हरिवंश और व्यास जी का गद्य मे सक्षिप्त वर्णन लिखा है, जिसमे कोई महत्वपूर्ण वात नही है। तत्पश्चात् कुछ अन्य व्यक्तियो का भी वर्णन हुआ है।

अत के नवे परिच्छेद मे विजय सखी कृत रासानुकरण की १८ लीलाएँ लिखी गई हैं। इनमे कुछ पद्य अन्य कवियो के भी सम्मिलित हैं। इन लीलाओ के नाम इस प्रकार हैं—१ विदुषी लीला, २ अद्भुत रस लीला, ३. दिवारी लीला, ४ साझी लीला, ५ राजवैद्य लीला, ६ सिद्धेश्वरी लीला, ७ गोपाष्टमी लीला, ८ आँख मिचौनी लीला, ९. अनुभव जनित लीला, १० धन तेरस लीला, ११ वशी-प्रस्ताव लीला, १२. दान-प्रस्ताव लीला, १३ व्यास जी के पद की लीला। अत की द्वितीय धनतेरस लीला भी विजय सखी कृत है। इन लीलाओ के अतिरिक्त विनय, दीनता-आश्रय के कवित्त और फुटकर पद हैं, जिनमे कुछ अन्य कवियो के भी हैं। अनुराग दधिमथन लीला और चद-खेलन लीला अन्य कवियो की रचनाएँ हैं, जो इनके साथ सकलित की गई हैं। इस प्रकार इस पुस्तक मे रास सवधी पर्याप्त सामग्री का सकलन किया गया है, किंतु वह न तो सुसगत है और न अधिक प्रामाणिक ही है।

**श्री लाड़िलीशरण रासधारी का मत**—'रास सर्वस्व' की रास-प्रचलन सबधी वातो से मिलती-जुलती वाते राधाकृष्ण जी के प्रायः ५० वर्ष वाद उसी परपरा के एक दूसरे रासधारी लाड़िलीशरण जी ने भी कही हैं। दोनो के कथन मे थोडा सा अतर है। लाडिलीशरण जी ने वतलाया है—

"रास मे जिस समय गोपी वेशधारी वालक गोपी-भाव मे निमग्न होकर श्री कृष्ण प्रेमामृत का पान कर रहे थे, तभी श्री ठाकुर जी का स्वरूप वनने वाला लड़का यकायक अतर्ध्यान हो गया।. .मथुरा वासी ब्राह्मणो के द्वारा यह खवर वादशाह तक पहुँची। वादशाह ने आकर आचार्य जी से सारा हाल मालूम किया, तो उत्तर मे आचार्य जी ने कहा कि वच्चे की तदाकार वृत्ति हो गई और उस वच्चे को उन्होंने श्रीनाथ जी के पास दिखा दिया। लोगो को विश्वास हो गया और श्री आचार्य जी का माहात्म्य दिन–दिन वढने लगा। उस घटना के वाद फिर रासानुकरण करने की

किसी को हिम्मत न होती थी। उसी समय के एक महात्मा करहला निवासी, जिनका नाम घमडी स्वामी कहा गया है, बल्लभाचार्य जी से पुन आज्ञा प्राप्त कर 'रासानुकरण' करने का आयोजन करने लगे; किंतु पहिली बात का ख्याल कर किसी ने उन्हे अपने वालक नही दिये। तब उन्होने अपने दो भाई देवकरन और खेमकरन से उनके बालको को इसके लिए प्राप्त किया। इस वार रास विना किसी विशेष घटना के आनद पूर्वक सम्पन्न हुआ और तभी से करहला निवासी श्री घमडी स्वामी के वशजो को श्री आचार्य जी की आज्ञानुसार श्रीनाथ जी से मुकुट मिलने लगा। लीलानुकरण का अधिकार करहला ग्राम निवासी उन्ही महानुभावो को है, जो महल वाले ( हवेली वाले ) के नाम से प्रसिद्ध है।

धीरे-धीरे लीलानुकरण करने के लिए बहुत सी मडलियाँ वन गई। राजा जयसिह ने एक वार श्री वृदाबन मे सब मडलियो को इकट्ठा किया और वशीवट पर उनकी परीक्षा लेने के विचार से एक अति ऊँचा सिहासन बनवाया, जिस पर स्वरूप धारी बच्चो का चढना असभव था। कहा जाता है, उस समय किसी भी मडली के वालक उस पर न बैठ सके, किंतु करहला निवासी ब्राह्मणो की एक मडली के स्वरूप (लडके) उस पर जा विराजे। राजा को बडा कौतूहल हुआ। उसने अन्य मडलियो को आज्ञा दी कि रासानुकरण न करे और इनसे कहा कि कुछ मेरे लिए सेवा वतलाइये। रासधारी ब्राह्मणो ने कहा—'राजन्, हमारे मकान पक्के बनवादो।' महाराज जयसिंह ने इनके लिए महल बनवाने की आज्ञा दी। कुछ ही दिनो बाद राजा साहव का देहावसान हो जाने पर महल पूरे तौर से न बन पाये। तभी से करहला ग्राम निवासी रासधारी महल वाले या हवेली वाले के नाम से प्रसिद्ध है[1]।"

लाडिलीशरण जी ने फिर १७ वर्ष वाद उसी घटना को लिखते हुए जयपुर के राजा जयसिह द्वारा रासधारियो की परीक्षा करने का उल्लेख किया है, किंतु इस वार उन्होने जयसिह के साथ 'जोधपुर नरेश किशनसिह' का भी वृदाबन मे उपस्थित होना वतलाया है। उक्त घटना के अतिरिक्त उन्होने और भी कई चमत्कारपूर्ण अनुश्रुतियो और किंवदतियो का उल्लेख किया है[2]।

**उक्त कथनो की समीक्षा**—राधाकृष्ण जी और लाडिलीशरण जी जैसे रासधारियो द्वारा कही हुई उक्त बाते अनुश्रुतियो और किवदतियो पर आधारित है। उनका उद्देश्य किसी ऐतिहासिक तथ्य को यथार्थ रूप मे प्रकट करना नही है, वल्कि अपने पूर्वजो को रास के परपरागत प्रचारक होने का गौरव देना है। उनके कथन मे जो इतिहास विरुद्ध वाते मिलती है, उनसे वडा भ्रम फैला है। ब्रज के कई साप्रदायिक व्यक्तियो और कुछ साहित्यिक विद्वानो ने अपने-अपने कारणो से इस भ्रम के फैलाने मे योग दिया है। हम उनकी भ्रमात्मक बातो का निराकरण करते हुए रास के आरभ किये जाने के सबध मे यथार्थ मत प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेगे। इसके लिए आवश्यक है कि पहिले यह जान लिया जाय कि भक्ति काल मे व्रज के वैष्णव आचार्यो और उनके अनुयायी भक्त जनो ने 'रास' का क्या अभिप्राय समझा था और उन्होने उसके किस रूप को स्वीकार किया था।

---

(१) **ब्रज भारती ( वर्ष १, अंक ४—श्रावण सं० १९९८ )** पृष्ठ १२–१५

(२) **ब्रज भारती ( वर्ष १६, अंक ७, ८, ९—मार्गशीर्ष सं० २०१५ )** पृष्ठ ७८–७९

ब्रज के कृष्णोपासक वैष्णव महानुभावो ने परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण को रसरूप माना है—'रसो वै स' और इन रसरूप श्री कृष्ण की रसात्मक क्रीडा को 'रास' कहा है। उन्होंने रास का उद्गम स्थान परम रस स्थल श्री वृदावन को माना है। उनकी मान्यता के अनुसार रास के तीन रूप है—१ नित्य रास, २ नैमित्तिक अर्थात् अवतरित रास और ३ अनुकरणात्मक रास। इसी तरह वृदावन के भी तीन रूप है—१ गोलोक स्थित दिव्य अर्थात् निज वृदावन, २, अवतरित वृदावन और ३ स्थूल वृदावन। इस प्रकार रास और वृदावन का अन्योन्याश्रित सबध स्वीकार किया गया है।

भगवात् श्री कृष्ण अपने आनद विग्रह मे अपनी आनद प्रसारिणी शक्तियो के साथ गोलोक स्थित दिव्य वृदावन मे क्रीडा करते हुए सदैव रस मग्न रहते है। यह क्रीडा अनादि, अनत और चिरतन होने के कारण 'नित्य' है, इसलिए इसे **'नित्य रास'** कहा जाता है। द्वापर युग मे जब भगवान् श्री कृष्ण ने अवतार लिया था, तब उनकी इच्छानुसार उनके निज धाम वृदावन को और गोपिका रूप उनकी आनदप्रसारिणी शक्तियो को भी अवतरित होना पडा था। उस काल मे श्री कृष्ण ने गोपियो के साथ क्रीडा करने के निमित्त अवतरित वृदावन मे जो रसात्मक लीला की थी, उसे **'नैमित्तिक या अवतरित रास'** कहा गया हे। ब्रज के भक्त महानुभावो ने भगवान् श्री कृष्ण की उस रसात्मक लीला के रसास्वादन के लिए और उसके द्वारा भजनानद की प्राप्ति के लिए अवतरित वृदावन की प्रतिमा स्वरूप स्थूल वृदावन मे जिस रास का आयोजन किया था, वह **'अनुकरणात्मक रास'** कहा जाता हे। इसके भी दो रूप माने गये है—१ भावनात्मक अर्थात् मानसिक और २ देहात्मक अर्थात् प्रत्यक्ष। भावनात्मक अर्थात् मानसिक रास से अभिप्राय भगवान् श्री कृष्ण की लीलाओ का चितन–मनन, पठन–पाठन और गायन–वादन करना है। देहात्मक अर्थात् प्रत्यक्ष रास से अभिप्राय भगवान् श्री कृष्ण की लीलाओ का अभिनय करना है। आरभ मे कृष्णोपासक धर्माचार्यो और भक्त कवियो ने अनुकरणात्मक रास के प्रथम रूप अर्थात् भावनात्मक रास को ही स्वीकार किया था। बाद मे युग की आवश्यकता के अनुसार उसका दूसरा रूप अर्थात् प्रत्यक्ष रास भी स्वीकृत हुआ था।

ब्रज मे रास के आरभ करने का श्रेय किस को है, इस पर प्रकाश डालने के लिए यह आवश्यक है कि उन विभिन्न महानुभावो के रास विषयक सबध की समीक्षा की जाय, जिनके नाम रास के आरभकर्त्ता के रूप मे लिये जाते है। यहाँ पर उक्त महानुभावो का क्रमश उल्लेख किया जाता है।

**श्री बल्लभाचार्य जी**—'रास सर्वस्व' मे रास के प्राकट्य करने का सर्वाधिक श्रेय 'विष्णु स्वामी मत के पोषक आचार्य' अर्थात् श्री बल्लभाचार्य जी को दिया गया है। उसमे लिखा है, स्वामी हरिदास जी के अनुरोध पर आचार्य जी ने मथुरा के विश्रामघाट पर रास के प्राकट्य का आयोजन किया था। उस अवसर पर कोई पर्व था, जिसमे उपस्थित होने के लिए ५२ राजागण मथुरा मे एकत्र हुए थे। 'रास सर्वस्व' का उक्त कथन सर्वथा अनैतिहासिक और कपोलकल्पित है। जिस काल मे वल्लभाचार्य जी मथुरा आये थे, उस समय यहाँ पर सिकदर लोदी की हिंदू विरोधी नीति के कारण वडे आतक और भय का वातावरण था। हिंदुओ द्वारा कोई भी धार्मिक आयोजन खुले आम किया जाना सभव नही था। उस काल मे जो धार्मिक जन साहसपूर्वक ब्रज–दर्शन करने को आते थे, वे मथुरा मे किसी प्रकार यमुना जी मे स्नान और केशवराय जी के दर्शन कर चुपचाप

श्री बल्लभाचार्य जी

स्वामी हरिदास जी

गोवर्धन चले जाते थे। वहाँ पर गिरिराज जी की परिक्रमा और ब्रज के कुछ बनो मे प्राचीन लीला स्थलो के दर्शन कर सही सलामत घर लौट जाने मे ही अपने भाग्य की सराहना करते थे। ऐसी दशा मे मथुरा मे ५२ हिंदू राजाओ को भीड के एकत्र होने और वहाँ रास के आयोजन की कल्पना भी नही की जा सकती थी। 'रास सर्वस्व'–कार के मतानुसार मथुरा मे रास के आरभिक आयोजन के बाद वृंदाबन मे रासमडल बनाया गया था, किंतु उक्त मत की सत्यता का कोई प्रमाण नही मिलता है। यह प्राय निश्चित हो चुका है कि वृदाबन मे सर्व प्रथम रासमडल हित हरिवश जी द्वारा उक्त घटना के लगभग ४० वर्ष बाद बनाया गया था। श्री लाडिलीशरण रासधारी ने तो उस अवसर पर 'बादशाह' को बुला कर अपने कथन को और भी हास्यास्पद बना दिया है।

अब हमे यह देखना है कि वल्लभ सप्रदाय मे रास के आरभ किये जाने की क्या परपरा और मान्यता है। इस सप्रदाय के शोधक विद्वान श्री द्वारकादास पारीख के मतानुसार रास लीला के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी थे। उन्होने स० १६१६ से कुछ पहिले अडैल मे रास का सर्व प्रथम आयोजन किया था[1]। उसके बाद कृष्ण भट्ट द्वारा उज्जैन मे[2] और गोसाई जी के पुत्र श्री गोकुलनाथ जी द्वारा गोवर्धन के चद्रसरोवर पर[3] रास कराये जाने के उल्लेख मिलते है। वल्लभ सप्रदाय मे रास का अधिक प्रचार स० १६२८ के बाद उस समय हुआ, जब गोसाई जी स्थायी रूप से गोकुल मे आकर बस गये थे।

वल्लभ सप्रदाय की मान्यता के अनुसार रास के तीन रूप है—१ रहस्यात्मक, २ रसात्मक और ३. अनुकरणात्मक। 'रहस्यात्मक रास' गोलोक–स्थित दिव्य वृंदावन मे होता है। इसे परब्रह्म श्री कृष्ण ऋचा रूपी गोपियो के साथ दिव्य यमुना के पावन पुलिन पर अखड रूप से नित्य–निरतर करते है। इसीलिए इसे 'नित्य रास' कहा जाता है। 'रसात्मक रास' द्वापर युग मे ऋचा अवतार गोपियो के साथ अवतरित वृदावन मे हुआ है। इसे कृष्णावतार का रास कहते है। ये दोनो रास मानव–जगत् से बाहर होने के कारण अलौकिक और भावनाजन्य है। तीसरा 'अनुकरणात्मक रास' अलौकिक वृदावन की प्रतिमा रूप प्रकट वृदाबन मे होने से प्रेमी जनो के प्रत्यक्ष अनुभव और रसास्वादन की वस्तु है। इसी को मध्यकालीन वैष्णव भक्तो ने श्री कृष्ण-लीला के अनुकरण रूप मे भक्ति-रस का विस्तार करने के लिए आरभ किया था।

श्री वल्लभाचार्य जी कृत **'सुबोधिनी'** श्रीमद् भागवत की सुप्रसिद्ध टीका है। इसमे 'रामपचाध्यायी' की अत्यत मार्मिक व्याख्या की गई है। वल्लभाचार्य जी के मतानुसार भागवत की रास–पचाध्यायी मे वर्णित रास सारस्वत कल्प के कृष्णावतार का रास है, जो गिरिराज के निकटवर्ती चद्रसरोवर पर हुआ है। इस प्रकार उन्होने गोवर्धन क्षेत्र को अवतरित वृदावन का अत्यत पुरातन रूप स्वीकार किया है। वृदावन मे यमुना का होना आवश्यक है। इसके सबध मे वल्लभ सप्रदाय की मान्यता है कि सारस्वत कल्प मे यमुना की एक धार गिरिराज–चद्रसरोवर के निकट

---

(१) **बल्लभीय सुधा,** ( वर्ष ७, अक २, पृ० १८ )
(२) **कृष्ण भट्ट की वार्ता,** ( दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, प्रथम खड, पृष्ठ ४८ )
(३) **चतुर्भुजदास की वार्ता,** ( दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तृतीय खड, पृष्ठ ३४६ )

भी वहती थी, जिसके कारण वहाँ का जमुनावतौ ग्राम प्रसिद्ध हुआ है। श्वेत वाराह कल्प का रास वर्तमान वृदावन मे कालियदह–वशीवट के निकट हुआ है, जहाँ यमुना नदी आजकल भी प्रवाहित होती है। सारस्वत कल्प के रास के समय शरद ऋतु और श्वेत वाराह कल्प के रास के समय वसत ऋतु मानी गई है। कुभनदास की वार्ता के 'भाव प्रकाश' मे इसी मान्यता की पुष्टि की गई है[१]।

वल्लभ सप्रदायी कवियो ने अपनी रास सवधी रचनाओ मे प्राय कृष्णावतार के आध्यात्मिकतापूर्ण रसात्मक रास का कथन किया है। सूरदास कृत 'सारावली' मे गोलोक स्थित दिव्य वृदावन के नित्य रास का भी उल्लेख मिलता है, किंतु उनकी रचनाओ मे प्रकट वृदावन के अनुकरणात्मक रास के सकेत नही मिलते हैं।

गोसाई विट्ठलनाथ जी के समय मे अनुकरणात्मक रास का भी प्रचलन हो गया था, किंतु उसमे श्रीनाथ जी की इच्छा को प्रधानता दी गई थी। उनकी इच्छा के विना अनुकरणात्मक रास का किया जाना उचित नही समझा जाता था। गोसाई विट्ठलनाथ जी के काल मे उनके पुत्र गोकुलनाथ जी द्वारा चद्रसरोवर पर जिस रास के किये जाने का उल्लेख मिलता है, वह चतुर्भुजदास की वार्ता के पचम प्रसग का है। उसमे लिखा है—एक वार आन्यौर मे रासधारी आये थे। उन्होने गोकुलनाथ जी से आन्यौर मे रास करने की अनुमति माँगी। उसके लिए गोकुलनाथ जी ने अपने वडे भाई गिरिधर जी से आज्ञा माँगते हुए उनसे भी उसमे सम्मिलित होने की प्रार्थना की। गिरिधर जी ने उत्तर दिया कि वे गोसाई जी की स्वीकृति विना न तो वहाँ रास करने की आज्ञा दे सकते है और न स्वय उसमे सम्मिलित हो सकते है। इस पर उनकी आज्ञानुसार चद्रसरोवर पर रास किया गया। वार्ता मे लिखा है कि उस रास मे स्वय श्रीनाथ जी गिरिधर जी को लेकर उपस्थित हुए थे। जव इसका समाचार गोसाई विट्ठलनाथ जी को मिला, तव उन्होंने कहा कि इस प्रकार के आयोजन मे श्रीनाथ जी को श्रमित करना उचित नही है। वे अपनी इच्छानुसार रास करते है। इस वार्ता मे यह भी लिखा है कि उस समय तक गोसाई विट्ठलनाथ जी के अतिम पुत्र घनश्याम जी का जन्म नही हुआ था। इससे सिद्ध होता हे कि स० १६२८ तक व्रज मे रासधारियो की मडलियाँ वन गई थी, जो अनुकरणात्मक रास किया करती थीं, किंतु उन्हे वल्लभ सप्रदाय की ओर से अधिक प्रोत्साहन नही मिला था।

---

(१) "श्री यमुना जी के प्रवाह सारस्वत कल्प मे दो हते। एक तो जमुनावतौ होइके आगरे के पास जात हतो और एक चीरघाट होइके श्री गोकुल। आगे दोऊ धारा एक मिलि सारस्वत कल्प मे वहती सो चीरघाट मे धारा होइके गिरिराज आवती, तासो पचाध्यायी कौ रास परासोली मे चंद्रसरोवर ऊपर किये और कालीदह के घाट तें हू श्री वृदावन कहत हैं। तहाँ हू बंसीबट है। तहाँ अनेक श्वेत वाराह कल्प मे पंचाध्यायी कौ रास उहाँ ही किये है। और सारस्वत कल्प मे शरद ऋतु किए सो परासोली श्री गिरिराज ऊपर किये। पाछे वसत चैत्र–बैशाख कौ रास केसीघाट पास बसीबट के नीचे किये। सो या प्रकार दोऊ ठिकाने। परतु मुख्य पचाध्यायी सारस्वत कल्प कौ रास गिरिराज कौ।" ( अष्टछाप, काकरौली, पृष्ठ २००–२०२ )

अनुकरणात्मक रास अर्थात् रासलीलानुकरण का सबध जिस वर्तमान वृंदावन से माना जाता है, उसके प्रति वल्लभ सप्रदाय के आरभिक भक्तो की उपेक्षा ही नही, वरन् अरुचि दिखलाई देती है। कारण यह है कि उनकी मान्यता के अनुसार गोवर्धन स्थित चद्रसरोवर ही वृदावन है। अधिकारी कृष्णदास की वार्ता के 'भावप्रकाश' मे लिखा है कि उन्होने गोसाई जी की इच्छा के विरुद्ध वृदावन मे जाकर कष्ट उठाया था। उस समय तक वहाँ पर एक भी वल्लभ सप्रदायी वैष्णव नही था, इसलिए उन्होने ज्वर मे प्यासा रहना स्वीकार किया, किंतु वृदावन निवासी किसी भी व्यक्ति का पानी नही पिया[1]। उक्त घटनाओ के बाद ही वल्लभ सप्रदाय मे रासलीला विशेष रूप से प्रचलित हुई तथा वर्तमान वृदावन मे भी वल्लभ सप्रदायी बैठको और मदिरो का निर्माण हुआ। इस समय भी गोवर्धन और गोकुल की अपेक्षा वृदावन का महत्व वल्लभ सप्रदाय मे कम ही माना जाता है।

**स्वामी हरिदास जी**—'रास सर्वस्व' के मतानुसार रास के आरभ करने का सर्वाधिक श्रेय श्री वल्लभाचार्य जी के बाद स्वामी हरिदास जी को है। उसमे लिखा गया है, स्वामी जी को सर्व प्रथम रासानुकरण की इच्छा हुई थी। उसके लिए वे निबार्क सप्रदाय के घमडदेव जी को अपने साथ लेकर मथुरा गये। वहाँ उन्होने वल्लभाचार्य जी को उसके लिए प्रेरित किया था। उस समय माथुर ब्राह्मणो के ८ बालको को लेकर रास के जो 'स्वरूप' बनाये गये थे, उनमे से कृष्ण का शृगार आचार्य जी ने और राधा का शृगार स्वामी जी ने किया था। उक्त घटना के मथुरा मे होने की असामयिकता और अप्रमाणिकता हम गत पृष्ठो मे बतला चुके है। ऐसी दशा मे स्वामी हरिदास का भी उससे सबध सिद्ध नही होता है। फिर स्वामी जी जैसे एकात सेवी विरक्त सत का वृदावन छोडकर मथुरा जाना किसी भी प्रामाणिक सूत्र से ज्ञात नही होता है।

स्वामी जी का रास से जो कुछ भी सबध था, वह हित हरिवश जी के वृदावन आगमन-काल स० १५९० से पहिले हुआ नही जान पडता है। ऐसी प्रसिद्धि है, जब हित हरिवश जी द्वारा वृदावन मे रासमडल बनाया गया, तब वहाँ पर हित जी ने स्वामी जी और व्यास जी के सहयोग से रास का प्रचलन किया था। उस काल मे रास के सर्व प्रधान आयोजक वृदावन मे श्री हित जी, स्वामी जी और व्यास जी थे।

स्वामी जी की उपासना नित्य विहार की है। उनकी रचनाओ मे भी 'नित्य रास' के उस रूप का कथन हुआ है, जिसमे प्रिया-प्रियतम सर्वथा एकात मे क्रीडा करते है और जहाँ किसी अतरगा सखी-सहचरी का भी प्रवेश नही है[2]। ऐसी दशा मे हमे बडा सदेह है कि स्वामी जी ने रासलीलानुकरण के सार्वजनिक प्रदर्शन मे कभी सक्रिय भाग लिया हो।

---

(१) भाव प्रकाश वाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता,' (प्रसग ८)

(२) १. चलि री, भोर तें न्यारेई खेलें। कुंज-निकुंज मंजु में झेलें॥
पंछिन सहित सखी न संग कोऊ, तिहिं बन चलि, मिलि केलें॥
२. खेलत बसंत न्यारेई खेलें काहू सों न मिलि खेलें, तेरी सौं।
उचित नाहिं काहू न सच पईयत, तू काहू सखी सों न मिलि, मेरी सौं॥
—केलिमाल

**श्री घमंडदेव जी**—'रास सर्वस्व' मे रास से सबधित प्रमुख महानुभावो मे श्री घमडदेव का नाम भी आया है, यद्यपि उन्हे रास के आद्याचार्य अथवा प्राकट्यकर्ता होने का श्रेय नही दिया गया है। जैसा उसमे लिखा गया है, जब आरभिक रास के समय कृष्ण का स्वरूप बना हुआ बालक अतर्धान हो गया, तब आगे रास किये जाने की समस्या उत्पन्न हो गई थी। उस समय वल्लभाचार्य जी ने घमडदेव जी से कहा कि वे व्रज के करहला ग्राम के ब्राह्मणो को अपना शिष्य बनावे और उनके द्वारा रास कराने का प्रयत्न करे। इस पर घमडदेव जी ने करहला निवासी दो ब्राह्मण बधुओ उदयकरण और खेमकरण को इस कार्य के लिए प्रेरित किया था। फलत उन्होंने अपने बालको के साथ रासानुकरण की परपरा प्रचलित की थी। इस प्रकार 'रास सर्वस्व'–कार का उद्देश्य सर्वश्री वल्लभाचार्य, हरिदास स्वामी और घमडदेव जी के नामोल्लेख की भूमिका मे करहला निवासी अपने पूर्वज उक्त ब्राह्मण बधुओ को ही रासानुकरण के प्रचलन करने का वास्तविक श्रेय देना है।

श्री घमडदेव जी निंबार्क सप्रदाय की आचार्य परपरा मे श्री हरिव्यास देव जी के प्रमुख शिष्यो मे से थे। उक्त सप्रदाय मे कोई ऐसा प्राचीन उल्लेख नही मिलता है, जिसमे घमडदेव जी को रास का आद्याचार्य बतलाया गया हो। निंबार्क सप्रदाय के एक उत्साही साधु बिहारीशरण जी ने 'रास सर्वस्व' के उक्त कथन को अपने सप्रदाय के उत्कर्ष का साधन मान कर यह प्रचलित करने का प्रयत्न किया कि घमडदेव जी ने ही रास का सर्व प्रथम प्राकट्य किया था। उसके समर्थन मे उन्होंने 'श्री सुदर्शन' मासिक पत्र, 'मुकुट की लटक' पुस्तिका और 'निंबार्क माधुरी' ग्रथ की भूमिका मे अपने विचार विस्तार पूर्वक व्यक्त किये है[1]। उनके मत का खडन सर्व प्रथम व्रज के गौडीय विद्वान बाबा कृष्णदास ने 'रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट' नामक पुस्तिका की रचना द्वारा किया था। बाबा जी के मतानुसार रास के आरभ करने का श्रेय नारायण भट्ट जी को है, न कि घमडदेव जी को। उक्त भट्ट जी के सबध मे हम आगे विचार करेंगे।

बिहारीशरण जी ने अपने लेखो मे श्री घमडदेव जी का जो काल लिखा है, उसमे परस्पर इतना विरोध है कि वह स्वत अप्रामाणिक हो गया है। 'श्री सुदर्शन' पत्र मे उन्होंने घमड-देव जी का जन्म स० १४५९ मे और देहावसान स० १५६५ के लगभग होना लिखा है। 'मुकुट की लटक' पुस्तिका मे उन्होने पहिले उनकी विद्यमानता अब से ४२५ पूर्व की लिखी है और फिर उन्हे अकबर के शासन–काल मे होना बतलाया है। इस काल–विरोध का कारण यह है कि घमडदेव जी का वास्तविक समय अभी तक अनिश्चित है। निंबार्क सप्रदाय के कुछ विद्वान श्री भट्ट जी कृत 'आदि वाणी' का रचना–काल स० १३५२ मान कर उनके शिष्य हरिव्यास देव जी का समय १४वी शताब्दी का उत्तरार्ध और हरिव्यास जी के शिष्य घमडदेव जी का १५वी शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध करना चाहते है, किंतु साहित्यिक और ऐतिहासिक प्रमाणो से उक्त कथन की सगति नही बैठती है। घमडदेव जी का काल अकबर के शासन–काल से पहिले का सिद्ध नही होता है। दूसरी बात यह है कि जिस 'रास सर्वस्व' के प्रमाण मे घमडदेव जी का रास से सबध बतलाया

---

(१) श्री सुदर्शन, ( चतुर्थ किरण, पृ० १९ ), मुकुट की लटक, ( पृ० १–२ ) और निंबार्क माधुरी, ( भूमिका, पृ० 'ग' )

आचार्य घमडदेव जी, जिनका पूरा नाम 'उद्धव घमडदेव' था, उक्त घमडी स्वामी के पूर्ववर्ती थे। उन्हे 'रास सर्वस्व' के मतानुसार भी रास के प्राकट्य का श्रेय नही दिया गया है। इस प्रकार न तो रासधारियो की अनुश्रुतियो से और न विहारीशरण जी के प्रयत्न मे घमडदेव जी को रास का प्राकट्यकर्ता सिद्ध किया जा सका है। नाभा जी, प्रियादास जी और ध्रुवदास जी ने उस काल के विख्यात संत–महात्माओ और भक्तजनो का गुण-गान करते हुए उनकी कतिपय विशिष्टताओ का भी उल्लेख किया है, किंतु उनमे से किसी ने भी घमडदेव जी की रास विषयक विशेषता का बखान नही किया। नाभा जी ने वृ दावन–माधुरी के आस्वादक १३ महात्माओ मे 'घमडी' का नामोल्लेख मात्र किया है[1]। प्रियादास ने जहाँ कई महात्माओ पर विस्तृत टिप्पणियाँ लिखी है, वहाँ उन्होने 'घमडी' पर कुछ नही लिखा। ध्रुवदास जी ने उन्हे 'रस मे घुमडा हुआ' और 'श्यामाश्याम के गायक' बतलाया है[2], किंतु उनके कथन के एक पाठ-भेद से उनके द्वारा रास किया जाना भी ज्ञात होता है[3]। घमडदेव जी के रास से संबंधित होने की अनुश्रुति प्रचलित है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि वे रास–रसिक महात्मा थे। संभवत उन्होने रास के प्रचार मे भी योग दिया था, किंतु वे उसके आरंभकर्ता नही थे।

**श्री नारायण भट्ट**—वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और ब्रज मे आकर गौडीय महात्मा कृष्णदास ब्रह्मचारी के शिष्य हुए थे। इस प्रकार वे चैतन्य मत के अनुयायी थे। श्री चैतन्य देव की प्रेरणा से नवद्वीप और जगन्नाथपुरी मे कथा–कीर्तन, भगवद्-भजन और हरि–भक्ति का सदैव वातावरण बना रहता था, किंतु उनके जीवन–काल मे वहाँ कभी रास लीला हुई हो, इसका प्रमाण नही मिलता है। वृ दावनदास कृत बंगला ग्रंथ 'श्री चैतन्य भागवत' मे एक नृत्य–नाट्य का उल्लेख हुआ है, जिसमे श्री चैतन्य देव ने अपने परिकर सहित उस समय भाग लिया था, जब वे नवद्वीप मे थे। उसमे उन्होने लक्ष्मी का वेश धारण कर नृत्य किया था[4]। वह घटना सं० १५६५ लगभग की है। उसके बाद जब चैतन्य जी सन्यासी होकर जगन्नाथपुरी चले गये थे, तब वहाँ राय रामानंद कृत संस्कृत नाटक 'जगन्नाथ वल्लभ' का अभिनय हुआ करता था। श्री चैतन्यदेव के जीवन–काल से संबंधित उन दो अभिनयात्मक प्रसंगो के अतिरिक्त कोई ऐसा उल्लेख नही मिलता है, जिससे ज्ञात हो सके कि उनके काल मे कभी कृष्ण लीला का प्रदर्शन हुआ हो, अथवा रासानुकरण किया गया हो। इसका कारण कदाचित यह था कि वल्लभ संप्रदाय की तरह चैतन्य मत मे भी कृष्णावतार के आध्यात्मिक रास की भावना मान्य है। किंतु नारायण भट्ट जी के काल मे ब्रज मे अनुकरणात्मक रास ( रास लीला ) का प्रचलन हो गया था। उस समय भट्ट जी ने उसे व्यवस्थित रूप प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य किया था।

---

(१) 'घमडी' जुगलकिसोर भृत्य, भूगर्भ जीव द्रढ व्रत लियौ।
वृ दावन की माधुरी, इन मिलि आस्वादन कियौ॥ ( भक्तमाल, छप्पय सं० ९४ )

(२) ध्रुवदास कृत 'बयालीस लीला' मे दी हुई 'भक्त नामावली' की प्राय सभी प्रतियो मे इस प्रकार का उल्लेख है—
'घमडी रस मे घुमडि रह्यौ, वृ दावन निज धाम। बंसीवट तट बास किय, गाये स्यामा–स्याम॥'

(३) श्री राधाकृष्ण जी द्वारा संपादित 'भक्त नामावली' मे यह पाठ मिलता है—
घमडी रस मे घुमडि रह्यौ, वृ दावन निज धाम। बंशीवट तट रास के सेए स्यामा-स्याम॥

(४) श्री चैतन्य भागवत, ( मध्य खंड, १८ वाँ अध्याय )

गौडीय विद्वान बाबा कृष्णदास ने 'रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट' नामक पुस्तिका मे घमडदेव जी के स्थान पर नारायण भट्ट जी को रासलीलानुकरण का प्राकट्यकर्ता सिद्ध करने की चेष्टा की है। उन्होंने अपने मत के समर्थन मे नाभा जी, प्रियादास जी, ध्रुवदास जी के कथनो के अतिरिक्त और भी कई प्रमाण दिये है। संत–महात्माओ और भक्तजनो के गुण-गान करने वालो मे नाभा जी, प्रियादास जी और ध्रुवदास जी के नाम अधिक प्रसिद्ध है। नाभा जी तो भक्तो की विशेषताओ के सर्व प्रथम समीक्षक ही माने जाते है। उन तीनो महात्माओ ने नारायण भट्ट जी की विशिष्टताओं का कथन करते हुए उनकी रास विषयक देन का भी उल्लेख किया है। इसका महत्व इसलिए अधिक है कि उन तीनो ने सर्वश्री वल्लभाचार्य जी, स्वामी हरिदास जी और घमडदेव जी के रास विषयक मतवो की चर्चा नही की है।

नाभा जी ने श्री नारायण भट्ट और उनके प्रतिभाजन ब्रजवल्लभ का गुण–गान एक-एक स्वतत्र छप्पयो मे साथ–साथ किया है। नारायण भट्ट जी को उन्होने 'मथुरामडल के गोपनीय स्थलो का प्राकट्यकर्ता' वतलाते हुए 'भक्ति रूपी अमृत का सागर', 'सतसग का सदैव समाज करने वाला', 'परम रसज्ञ' और 'कृष्ण-लीला का अनन्य प्रेमी' कहा है[1]। उन्होने स्पष्ट रूप से भट्ट जी की रास विषयक देन का उल्लेख नही किया है, वैसे उनके कथन से रास की भी व्यजना होती है। इसका प्रमाण यह है कि जहाँ उन्होने ब्रजवल्लभ जी की नृत्य–गान और रास विषयक निपुणता का स्पष्ट कथन किया है, वहाँ उन्होने उनके सरक्षक ( प्रभु ) नारायण भट्ट जी को भी उनके देन

लिखा है—"इन तीनो महानुभावो के सकेतो से यह तो स्पष्ट है कि श्री नारायण भट्ट रासलीला मे विशेष अभिरुचि रखते थे और जहाँ-तहाँ रासलीला करवा कर रसिक जनो को तृप्त करते थे। श्री नारायण भट्ट जी की इस प्रवृत्ति को स्वीकार करने मे हमे कोई आपत्ति नही। हमारी भी उक्त उल्लेखो के आधार पर यह धारणा वन गई है कि उस काल मे आप रासलीला के सबसे प्रवल प्रचारक रहे होगे[1]।"

अब प्रश्न यह है कि नारायण भट्ट जी रास के प्राकट्यकर्ता थे या नही ? मथुरामडल से सवधित अपने सुप्रसिद्ध ग्रथ मे श्री ग्राउस महोदय ने लिखा है—"नारायण भट्ट ने सर्व प्रथम वन-यात्रा और रास-लीला को दृढतापूर्वक स्थापित ( Established ) किया था[2]।" ग्राउस द्वारा प्रयुक्त ( Established ) शब्द से 'प्राकट्य किया' की अपेक्षा 'दृढता पूर्वक स्थापित किया' या 'स्थिरता एव व्यवस्था के साथ चलाया' जैसा अभिप्राय लेना ही अधिक सार्थक है। यही बात भट्ट जी के जीवन-वृत्तात से भी सिद्ध होती है। उनका नाम ब्रज-सस्कृति के उद्धारको मे अग्रिम पक्ति मे आता है। उन्होने ब्रज के लुप्त गौरव की पुनर्स्थापना के लिए जीवन भर जो अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये थे, उनके कारण उनका नाम ब्रज के इतिहास मे अमर रहेगा। उनका सबसे अधिक प्रशसनीय कार्य मथुरामडल के लुप्त प्राय प्राचीन लीला स्थलो को खोज कर उनका फिर से महत्व स्थापित करना था, जिसके लिए उन्होने अनेक ग्रथ भी लिखे थे। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'वन-यात्रा' और 'रास लीला' को भी व्यवस्थित रूप प्रदान किया था। रास लीला के व्यापक प्रचार के लिए उन्होने समस्त ब्रज मे स्थान-स्थान पर रासमडलो का निर्माण कराया था। इस प्रकार ब्रज-सस्कृति के उन्नायक अन्य कार्यो के साथ ही साथ नारायण भट्ट जी की रास विषयक देन भी अत्यत महत्वपूर्ण है।

भट्ट जी का जीवन-वृत्तात 'श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्' नामक एक सस्कृत ग्रथ मे मिलता है, जिसे उनके वशज जानकीप्रसाद भट्ट ने स० १७७० के लगभग लिखा था। उक्त ग्रथ मे भट्ट जी के उपास्य ठाकुर श्री लाडिलीलाल जी के पाटोत्सव का काल स० १६२६ की आषाढ शु० २ लिखा गया है। उसी समय उन्होने रास लीला का भी आयोजन था। इसका उल्लेख करते हुए उक्त ग्रथ मे लिखा है—"श्री नारायणाचार्य जी ने श्री कृष्ण की आज्ञा से प्रेरित होकर ब्राह्मणो के सुदर बालको को श्री कृष्ण, राधा तथा गोप-गोपियो का वेश धारण करा कर सर्वत्र रास लीला कराई थी। इस प्रकार गो-चारण, कालिय दमन, साझी आदि विविध रास लीलाएँ होने लगी, जो अब तक उसी प्रकार ब्रज मे सर्वत्र होती है[3]।" बाबा कृष्णदास का मत है—"बरसाना मे भाद्रपद शुक्ला सप्तमी से त्रयोदशी पर्यत जो 'बूढी लीला' होती है, वह भट्ट जी कृत 'प्रेमाकुर नाटक' के आधार पर की जाती है। इस लीला के सर्व प्रथम स्थापनकर्त्ता श्री नारायण भट्ट है। • रासलीलानुकरण के आदि और अत मे ब्रज के सब रासधारी 'श्री लाडिलीलाल की जय' बोलते है। श्री लाडिलीलाल जी नारायण भट्ट द्वारा प्रकटित है और रासलीलानुकरण बरसाना से सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ है[4]।"

---

(१) राधावल्लभ सप्रदाय सिद्धात और साहित्य, पृष्ठ २८१

(2) Narain Bhatta, who first established the Banjatra & Raslila, *(Mathura P 8)*

(३) श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्, ( पृ० ४९, श्लोक १२८ से १३६ तक )

(४) रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट, ( पृ० २८ और ४८ )

(१) ब्रज भारती ( मार्गशीर्ष सं० २०१६ ) में प्रकाशित लेख ।

(२) रसिक अनन्यमाल. पृष्ठ ११

उक्त घटना से रासलीलानुकरण के आरभ किये जाने की तिथि का निश्चय करते हुए श्री 'अलि' जी लिखते हैं—"श्री हिताचार्य का वृदावन–आगमन काल स० १५९० है, अत. इनका ( छवीलदास का ) आगमन–काल अधिक से अधिक स० १५९२ तक स्थिर होता है। तात्पर्य यह कि अनुकरणात्मक रास का सर्व प्रथम रगमच स १५९२ के पूर्व बन चुका था और रास का सर्व प्रथम आयोजन यही पर हुआ था[1]।"

'रसिक अनन्य माल' के पूर्वोक्त वर्णन मे छवीलदास द्वारा रास-दर्शन 'वन' मे किये जाने का उल्लेख है, न कि हित जी द्वारा रजनिर्मित तथाकथित 'रगमच' पर[2]। 'रसिक अनन्यमाल' का रचना–काल स० १७०७ से १७२० तक माना जाता है[3]। उस काल तक 'मडल' पर रास-दर्शन किये जाने की प्रसिद्धि नही मालूम होती है। उसके बाद उत्तमदास कृत **'श्री हरिवंश चरित्र'** की रचना हुई थी, जिसका रचना–काल स० १७४०–४५ के लगभग माना गया है[4]। उसमे 'मडल' का स्पष्ट उल्लेख हुआ है—

**ताहि कही मंडल ह्वै आवहु। तव तुम प्रभु कौ दर्शन पावहु ॥**
**आइ दूरि तें धुनि उन सुनी। ताल मृदग मुरलिया धुनी ॥**
**सखी सहित दपति मंडल पर। चौंकि चक्यौ लखि गिरचौ तुरत घर[5] ॥**

यदि यह मान लिया जाय कि १८वी शताब्दी की रचना **'श्री हरिवश चरित्र'** के अनुसार छवीलदास को रासमडल पर ही रास के दर्शन हुए थे, तव भी उस रास को 'अनुकरणात्मक रास' कैसे कहा जा सकता है ? जिस प्रकार उसका वर्णन मिलता है, वह भावनापारक दिव्य रास ही ज्ञात होता है, जिसे हित जी के भक्ति–प्रभाव से छवीलदास को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस घटना से सिद्ध होता है कि स० १५९२ तक हित जी द्वारा प्रत्यक्ष रास का आरभ नही हुआ था। यदि ऐसा हुआ होता, तो छवीलदास प्रत्यक्ष रास ही देखता, न कि दिव्य रास। इसलिए स० १५९२ मे रास के सर्व प्रथम आयोजन की वात ठीक नहीं हे।

हित जी ने रासमडल को चैनघाट ( वर्तमान गोविंदघाट ) पर वनवाया था और उसे वनवाने का उद्देश्य रसिकों के लिए रास-क्रीडा का रसास्वादन कराना था, जैसा कि उत्तमदास कृत वाणी से ज्ञात होता है—"**मंडल चैनघाट पर कीनौ। रास–केलि रस रसिकन दीनौ ॥**" हित हरिवश जी रास के अनन्य प्रेमी थे और वे अपने परिकर सहित रास के रसास्वादन मे अत्यत रुचि रखते थे। अपने जीवन–काल मे वे और उनके सहयोगी स्वामी हरिदास जी एव व्यास जी तथा शिष्यगण नरवाहन जी, विट्ठलदास जी, मोहनदास जी तथा नाहरमल्ल जी आदि सभी रसिकगण उक्त रासमडल पर एकत्र होकर रास-रस का आनद लिया करते थे। प्रश्न यह हे, उक्त रसिकों द्वारा आस्वादित वह रास किस प्रकार का था ? वह अनुकरणात्मक प्रत्यक्ष रास था, अथवा भावनापरक आध्यात्मिक रास ?

---

(१) ब्रज भारती, ( मार्गशीर्ष, स० २०१६ ) पृ० ५३–५४
(२) जन सग दै 'वन' माँहि पठायौ। रास-विलास ताहि दरसायौ ॥
(३) रसिक अनन्यमाल की प्रस्तावना, पृ० १२
(४) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृ० २४
(५) ब्रज भारती ( मार्गशीर्ष, सं० २०१६ ) पृ० ५३

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने उक्त महत्वपूर्ण प्रश्न का समाधान करते हुए यह बतलाने की चेष्टा की है कि "वह भावनात्मक नित्य विहार वाला रास न होकर अनुकरणात्मक प्रत्यक्ष रास ही है[1] ।" इसके प्रमाणार्थ उन्होने व्यास जी के कई पद उद्धृत किये है और व्यास जी द्वारा रास मे जनेऊ तोड कर उससे राधा जी के स्वरूप के नूपुर बाँधने की अनुश्रुति का भी उल्लेख किया है ।

व्यास जी के जीवन-वृतात से ज्ञात होता है कि वे अत्यत दीर्घजीवी हुए थे । उनकी जीवन-लीला हित जी के देहावसान-काल के बाद तो प्राय ५० वर्ष तक वृ दावन मे चली थी, किंतु हित जी के काल मे वे अपेक्षाकृत बहुत कम समय तक ही वहाँ रह पाये थे । फलत उन्हे हित जी के सत्सग और उनके साथ रास के सुखानुभव करने का सुयोग भी सीमित काल तक ही प्राप्त हुआ था । व्यास जी का हित जी से सत्सग करने को स० १५६१ मे वृ दावन आना और फिर हित जी के देहावसान के बाद स० १६१२ से अपने देहावसान-काल तक स्थायी रूप से वृ दावन मे रहना प्रमाणित है । वे हित जी के जीवन-काल मे निरतर वृ दावन मे रहे थे या नही, यह विषय विवादग्रस्त है । श्री वासुदेव गोस्वामी का मत है कि व्यास जी एक बार स० १५६१ मे वृ दावन आये थे और वहाँ अल्प काल तक निवास करने के उपरात वापिस चले गये थे । उसके बाद वे स० १६१२ मे दोबारा आकर वृ दावन मे स्थायी रूप से रहे थे[2] ।

व्यास जी ने अपनी वाणी मे हित जी के प्रति जो गहरी श्रद्धा व्यक्त की है, उससे यह नही मालूम होता है कि वे हित जी के क्षणिक सत्सग का लाभ ही प्राप्त कर सके थे, बल्कि यह ज्ञात होता है कि वे कुछ अधिक काल तक उनके सपर्क मे रहे होगे । उस सपर्क काल मे उन्हे कई बार हित जी द्वारा निर्मित रासमडल पर वृ दावन के भक्तो की "महत सभा" मे उपस्थित होने और रास के सुखानुभव करने का सुयोग मिला होगा । किंतु उनके किसी पद से यह ज्ञात नही होता है कि हित जी के जीवन-काल मे वे किसी प्रत्यक्ष रासलीलानुकरण मे भी सम्मिलित हुए थे । जिस रास मे उन्होने अपना जनेऊ तोडा था, वह प्रत्यक्ष रास था, किंतु वह निश्चय ही हित जी के देहावसान-काल स० १६०९ के बाद किसी समय हुआ था ।

डा० विजयेन्द्र स्नातक और श्री किशोरीशरण 'अलि' ने राधावल्लभ सप्रदाय मे रास-प्रचलन की परपरा के जो उदाहरण दिये हे, उनमे प्रत्यक्ष रासलीलानुकरण का सबसे प्राचीन प्रमाण 'हस्तामलक' की हस्त लिखित प्रति का है, जिसका रचना-काल १८वी शती का आरभिक काल है । 'हस्तामलक' के रचयिता प्राणनाथ जी हित जी के प्रपौत्र श्री दामोदर चद्र जी ( स० १६३४-१७१४ ) के शिष्य थे[3] । उनके काल तक तो रासलीलानुकरण का व्यापक प्रचार हो ही गया था ।

प्रश्न होता है, यदि हित जी के काल मे प्रत्यक्ष रासलीलानुकरण का प्रचलन नही हुआ, तो फिर वह कब हुआ और हित जी के काल के रास का क्या स्वरूप था ? रासलीलानुकरण कब आरभ हुआ, इसका उत्तर हम बाद मे देने की चेष्टा करेगे । पहिले यह देखना है कि हित जी ने

---

(१) राधावल्लभ सप्रदाय : सिद्धात और साहित्य, पृ० २८५

(२) भक्त-कवि व्यास जी, पृ० ७१-८४

(३) श्री हित हरिवंश गोस्वामी · सप्रदाय और साहित्य, पृ० ५३७

जिस रास के सुख का अनुभव किया और कराया था, वह क्या था ? हमे ऐसा लगता है कि हित जी के काल मे रास के रूप मे रास के पदो का गायन मात्र होता था। वह गायन श्री हित हरिवश जी अपने परिकर के साथ स्वय करते थे। स्वामी हरिदास जी जैसे विख्यात सगीताचार्य के सक्रिय सहयोग से वह और भी कलात्मक और आनददायक हो गया था। उस काल के प्राय सभी विख्यात भक्त जन गायन, वादन और काव्यादि कलाओ के ज्ञाता हुए थे। वे महानुभाव जहाँ भी एकत्र होते, वहाँ भक्तिपूर्ण गायन–वादन का आयोजन अनायास हो जाता था। इस तथ्य को श्री 'अलि' जी ने भी इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"अनुकरणात्मक रास का प्राचीन ( आरभिक ) लीला-साहित्य जिस रूप मे प्राप्त होता है, उससे यही ज्ञात होता है कि उस समय लीलानुकरण रसिको द्वारा प्रणीत लीलागर्भित पदो के गान द्वारा ही होता था[1]।"

यदि "लीलागर्भित पदो के गान" को ही अनुकरणात्मक रास कहा जा सकता है, तो वह हित हरिवश जी के वृ दावन आने के कम से कम २५–३० वर्ष पूर्व से ही ब्रज मे प्रचलित था और उसका सबसे प्रमुख केन्द्र गोवर्धन स्थित श्रीनाथ जी का मदिर था। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी सुबोधिनी द्वारा कृष्ण–लीलाओ की जो मार्मिक व्याख्या की थी, उससे प्रेरणा प्राप्त कर श्रीनाथ जी के विख्यात कीर्तनकार सर्वश्री कु भनदास जी, सूरदास जी, कृष्णदास जी और परमानददास जी ने अन्य लीलाओ के साथ ही साथ रास लीला के भी बहुसख्यक पद रचे थे और वे श्रीनाथ जी के समक्ष निरतर गाये जाते थे। किंतु उस प्रकार के रास–गान को 'रासलीलानुकरण' अथवा 'प्रत्यक्ष रास' कैसे कहा जा सकता है ?

**रासलीलानुकरण का वातावरण**—हित हरिवश जी के वृ दावन आगमन–काल ( स० १५६० ) से उनके देहावसान–काल ( स० १६०६ ) तक ब्रज की राजनैतिक और धार्मिक स्थिति ऐसी अस्त-व्यस्त और सकटग्रस्त थी कि वहाँ राम-लीला जैसे सरजामपूर्ण धार्मिक आयोजन का सार्वजनिक प्रदर्शन शाति पूर्वक सम्पन्न होना सभव नही था। जिस समय हित जी वृ दावन आये थे, उस समय बाबर द्वारा स्थापित नये-नये मुगल राज्य का शासन–सूत्र उसके पुत्र हुमायू ने सँभाला था। वह अपने शासनाधिकार को सुदृढ करने के लिए इधर-उधर भागता हुआ शत्रुओ से मोर्चा ले रहा था। ब्रज की स्थिति ऐसी अराजकतापूर्ण थी कि वहाँ के छोटे-बडे जिमीदारो ने दस्यु वृत्ति अपना कर शासन के विरुद्ध विद्रोह कर रखा था। उन्होने बादशाह को कर देना बद कर समस्त ब्रजमडल मे लूट-मार मचा रखी थी। उस समय की स्थिति का उल्लेख ब्रज के एक उद्धत जिमीदार नरवाहन की 'परचई' मे इस प्रकार मिलता है—

नरवाहन भैगाँव निवासी। वार–पार मे एक मवासी॥
जाकी आज्ञा कोउ न टारै। जो टारै तिहिं चढि करि मारै॥
वस करि लियौ सकल ब्रज देस। तासो डरपै बडे नरेस॥
पातसाह के वचननि टारै। मन आवै तो दगरौ मारै॥
जो कोऊ या पै चढि आवै। अमल न देई, मार भजावै[2]॥

---

(१) ब्रज भारती ( मार्गशीर्ष, स० २०१६ ), पृ० २२
(२) रसिक अनन्यमाल, पृष्ठ १

हित जी ने नरवाहन की दस्यु वृत्ति बदल कर और उसे भक्ति मार्ग की ओर प्रेरित कर वृंदावन में कुछ शांति स्थापित करने का प्रयास किया था। उधर हुमायूं को पराजित कर शेरशाह ब्रज प्रदेश सहित आगरा–दिल्ली राज्य का अधिकारी बना था। उसके पंचवर्षीय शासन-काल में कुछ शांति रही थी; किंतु उसके उत्तराधिकारियों के काल में फिर गड़बड़ी हो गई थी। इस प्रकार अकबर द्वारा वास्तविक रूप में शासनाधिकार प्राप्त करने के काल सं० १६१६ तक ब्रज की स्थिति अशांत और अव्यवस्थापूर्ण थी। सिकंदर लोदी के शासन–काल में ब्रज में जैसा धार्मिक उत्पीड़न था और वहाँ के हिंदुओं के धार्मिक कृत्यों पर यवन शासकों की जैसी क्रूर दृष्टि थी वैसी विकट परिस्थिति तो हित हरिवंश जी के काल में ब्रज की नहीं थी किंतु फिर भी वहाँ खुले आम धार्मिक कृत्य किये जाने की स्वतंत्रता नहीं हुई थी। हिंदू जनता को अपमानित और सत्रस्त करने के लिए तीर्थयात्री कर और 'जजिया कर' जैसे अन्यायपूर्ण कर लगे हुए थे। उस समय कुछ संत–महात्मा और भक्त जन कहीं बैठ कर कुछ धार्मिक चर्चा कर ले अथवा कुछ गायन–वादन कर लें–यह तो संभव था किंतु रासलीलानुकरण जैसे समारोहपूर्ण धार्मिक आयोजनों का खुले आम होना एक दम असंभव था। ऐसी स्थिति अकबर के शासन–काल में भी सं० १६१६ तक रही थी।

सं० १६२० में सम्राट अकबर सर्वप्रथम मथुरा आया था। उस समय उसने ब्रज के हिंदुओं की दुर्दशा का अनुभव कर पहिले तीर्थयात्री कर बंद किया और फिर जजिया कर को भी हटा दिया था। उसने हिंदुओं को स्वतंत्रता पूर्वक अपने धार्मिक कृत्य करने की सुविधा प्रदान की। उसकी हिंदुओं के प्रति सहानुभूति की नीति ने ब्रज की धार्मिक प्रगति का मार्ग खोल दिया था। उसके फलस्वरूप सं० १६२० के बाद ही ब्रज में रासलीलानुकरण अथवा 'प्रत्यक्ष रास' किये जाने का वातावरण बना था। इससे सिद्ध है कि हित जी के काल में रासलीलानुकरण का आरंभ नहीं हुआ, अत इसे उनकी देन नहीं कहा जा सकता है।

## रास लीला का व्यापक प्रचार—

सं०१६२० के बाद ब्रज–वृंदावन के सभी धार्मिक संप्रदायों ने अभूतपूर्व उन्नति की थी। उसी समय रासलीलानुकरण अर्थात् प्रत्यक्ष रास का भी आरंभ हुआ और शीघ्र ही उसका व्यापक प्रचार हो गया था। उसके आरंभ किये जाने का श्रेय किसी एक संप्रदाय के विशिष्ट धर्माचार्य अथवा संत-महात्मा को न देकर सबको सामूहिक रूप में देना ही उचित होगा।

उसी काल में गोसाईं विट्ठलनाथ जी अपने परिवार सहित ब्रज में आकर रहने लगे थे। सम्राट अकबर उनका बड़ा आदर करता था, इसलिए राजकीय प्रश्रय तथा राजा मानसिंह बीरबल, टोडरमल जैसे प्रमुख राजकीय पुरुषों का सहयोग उन्हें प्राप्त हुआ था। उसका लाभ उठाकर उन्होंने अपने संप्रदाय की बड़ी उन्नति की थी। ब्रज के गोकुल और गोवर्धन ग्रामों को उन्होंने उस काल के अत्यंत महत्वपूर्ण धार्मिक केन्द्र बना दिये थे। वहाँ पर विविध धार्मिक उत्सवों के साथ ही साथ रासलीलानुकरण के सामूहिक आयोजन भी होने लगे थे।

उसी काल में नारायण भट्ट जी ने ब्रज के बरसाना ग्राम से रासलीलानुकरण को व्यवस्थित रूप में प्रचलित करना आरंभ किया था। उन्होंने उस काल के एक विख्यात नर्तक और गायक ब्रजवल्लभ जी का सहयोग प्राप्त कर रासलीलानुकरण को कलात्मक रूप भी प्रदान किया तथा रास लीला के आयोजन के लिए ब्रज में स्थान-स्थान पर अनेक रासमंडल बनवाये थे।

हित हरिवंश जी

वृंदावन का रासमडल
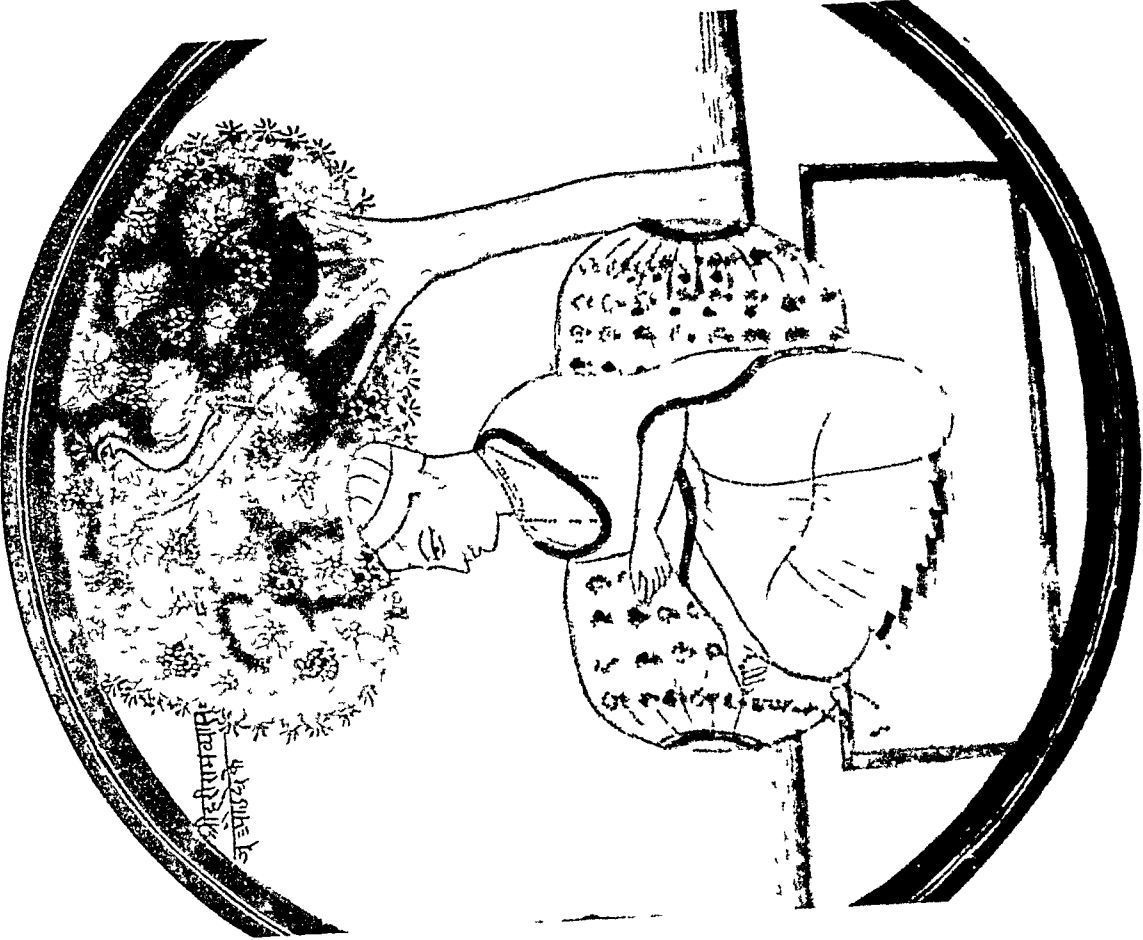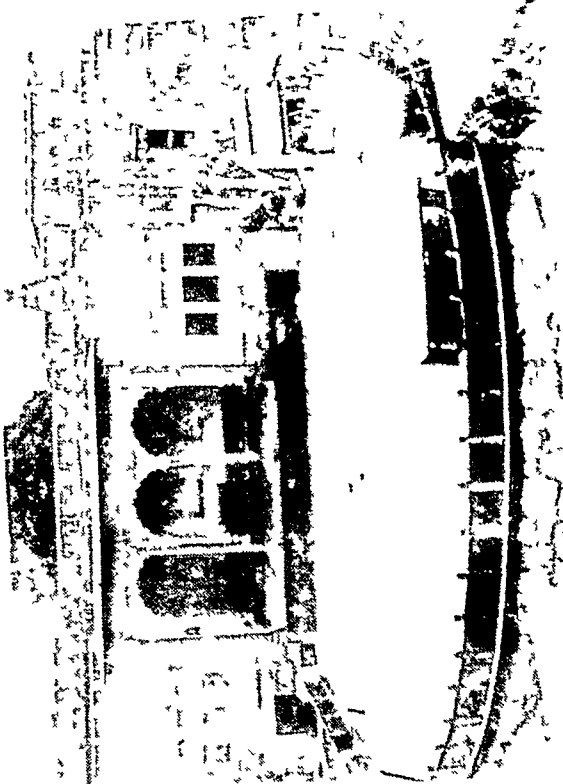
श्री हरिराम जी व्यास

हित हरिवंश जी के देहावसान के पश्चात् वृंदावन के रास–रसिको का नेतृत्व स्वामी हरिदास जी ने सँभाला था और उन्हे सर्वश्री हरिराम जी व्यास और प्रवोधानद जी से इसमे अत्यधिक सहयोग प्राप्त हुआ था। हित जी के समय मे रसिक समाज के लिए जो रज निर्मित मडल बनाया गया था, उसे हित जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचद्र जी के काल मे उनके कृपापात्र भगवानदास स्वर्णकार ने स० १६४१ मे पक्का बनवा दिया था। उसी पुण्य स्थल पर राधावल्लभ सप्रदाय के विख्यात भक्तजन नरवाहन जी, सेवक जी और ध्रुवदास जी अपने नश्वर शरीर छोड कर रास लीला का शाश्वत सुख प्राप्त कर सके थे। उसी काल मे व्यास जी ने रास लीला के अवसर पर राधा जी के स्वरूप का नूपुर खुल जाने से उसे अपना यज्ञोपवीत तोड कर बाँध दिया था। जब उसके लिए लोकापवाद होने लगा, तो उन्होने निर्भय होकर उत्तर दिया कि जीवन भर जिन धागे का भार ढोता रहा, वह आज काम मे आया है। व्यास का तो अस्तित्व ही रास के साथ है—"व्यास वही, जो रास करावै।"

स्वामी हरिदास जी के वरिष्ट शिष्य विट्ठलविपुल जी का देहावसान भी उसी काल मे एक रास लीला के अवसर पर ही हुआ था। निवार्क सप्रदाय के घमडदेव जी ने भी उसी काल मे रास लीला के आयोजन और प्रचार मे अपना महत्वपूर्ण सहयोग दिया था। साराश यह है कि स० १६२० के बाद एक साथ ही सभी सप्रदायो मे रास के प्रचार का प्रयत्न किया गया और वह सफल भी हुआ था।

## रास–रसिक भक्तजन—

राधावल्लभीय भक्त–कवि चाचा वृंदावनदास जी ने ब्रज–वृंदावन की रस-भक्ति और नित्य विहार के प्रचारको मे जिन चार महानुभावो को प्रमुखता दी है, वे है—१ व्यास-नद श्री हित हरिवश जी, २ सुमोखन शुक्ल कुल-चद्र श्री हरिराम व्यास जी, ३ आशुधीर-सुत आनदमूर्ति स्वामी हरिदास जी और ४ भक्ति-स्तभ श्री प्रवोधानद जी। चाचा जी के मतानुसार उन्होने मिल कर प्रयत्न किया था, किंतु फिर भी उनके मुकुटमणि श्री हित हरिवश जी थे[1]। वे चारो महानुभाव नित्य विहार की रस–भक्ति के ही प्रमुख प्रचारक नही थे, वरन् वृंदावन के रास–रसिक भक्तजनो के भी शिरमौर थे। उनमे श्री हित हरिवश जी और स्वामी हरिदास जी की रास विषयक देन का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। यहाँ पर सर्वश्री व्यास जी तथा प्रवोधानद जी का और फिर अन्य रास–रसिक महानुभावो का वृत्तात लिखा जावेगा।

**श्री हरिराम जी व्यास**—वे ब्रज के धार्मिक और साहित्यिक जगत् मे 'व्यास जी' के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रज साहित्य के विख्यात भक्त–कवि होने के साथ ही साथ वे रास-रस के भी परम रसिक थे। उन्होने अपने अनेक पदो मे रास की रमणीयता का रसपूर्ण गायन किया है। उनकी रस–भक्ति का प्रमुख साधन ही मानो रास था। उन्हे रास के विशाल आगार मे प्रेम–

---

(१) सबके जु मुकुट–मणि व्यास–नद। पुनि सुकल सुमोखन कुल–सुचंद॥
सुत आसुधीर मूरति आनंद। धनि भक्ति–थभ परवोधानंद॥
इन मिलि जु भक्ति कीनी प्रचार। ब्रज–वृंदावन नित–प्रति बिहार॥
(चाचा वृंदावनदास)

पारावत की भाँति युगल का विहार सदैव होता हुआ जान पडता था[१]। वे वृंदावन मे वस जाने पर ध्यान-धारणा और अगन्यास आदि साधनो की उपेक्षा करते हुए रास के नृत्य-गान मे ही लीन रहा करते थे[२]। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उन्होने रास के अवसर पर राधा जी के स्वरूप का नूपुर खुल जाने पर उसे अपना जनेऊ तोड कर बाँध दिया था। उनके जीवन की उक्त घटना वडी प्रसिद्ध है, जिसका उल्लेख नाभा जी और प्रियादास जी ने भी किया है[3]। उससे उनकी रास के प्रति अनन्य श्रद्धा प्रकट होती है।

व्यास जी अत्यत दीर्घजीवी हुए थे। उनकी जीवन-अवधि सौ वर्ष से भी अधिक की मानी जाती है। उन्होने वृंदावन मे रास का आरभिक काल देखा, उसका विकास देखा और अपने अतिम काल मे उसका कदाचित कुछ ह्रास भी देखा था। यह वह काल था, जव सर्वश्री हित हरिवंश जी, हरिदास जी, सनातन जी, रूप जी आदि वृंदावन के सभी प्रमुख रसिको का देहावसान हो चुका था। उस समय रास की सात्विकता मे कुछ कमी आने की आशका हो गई थी। व्यास जी कृत 'साखी' के दोहो मे इसका सकेत मिलता है[४]।

**श्री प्रबोधानद जी**—वे विद्वान सन्यासी और सस्कृत के विख्यात भक्त-कवि थे। वे चैतन्य मत के अनुयायी थे, किंतु वृंदावन मे निवास करने पर उनका आकर्षण हित हरिवंश जी द्वारा प्रचारित रस-भक्ति की ओर अधिक हो गया था। उनके रचे हुए ग्रथो मे 'सगीत माधव' और 'वृंदावन महिमामृत शतक' अधिक प्रसिद्ध है। उनका एक ग्रथ 'आश्चर्य रास प्रवध' भी है। उनकी प्रेमोन्मादक रचनाओ मे राधा-कृष्ण की विविध केलि-क्रीडाओ के साथ ही सरस रास लीला का भी अत्यत माधुर्यपूर्ण कथन हुआ है।

**श्री विट्ठलविपुल जी**—वे स्वामी हरिदास जी के वरिष्ट शिष्य थे। स्वामी जी का देहावसान होने पर वे उनके वियोग मे इतने दुखी हुए कि उन्होने सव जगह आना-जाना ही वद कर दिया था। एक बार वृंदावन मे रास के अवसर पर सव रसिक भक्त एकत्र थे। वहाँ पर विट्ठलविपुल जी को उपस्थित न देख कर उन्हे आग्रह पूर्वक वुलाया गया। वे वहाँ गये और रास-रस मे इतने तल्लीन हो गये कि उसी स्थान पर अपना शरीर छोड दिया था। 'भक्तमाल' मे उक्त घटना का उल्लेख किया गया है[५]।

---

(१) विहरत सदा दुलहिनी-दूलह, अँग-अँग मधु रस सेवा।
'व्यास' रास-आकास फिरत दोऊ, मानहुँ प्रेम-परेवा॥

(२) नैन न मूँदे ध्यान कौ, किये न अंगन्यास।
नाँचि-गाय रासहिं मिले, वसि वृंदावन 'व्यास'॥

(३) नौ गुनौ तोरि नूपुर गुह्यौ, महत सभा मधि रास के।
उत्कर्ष तिलक अरु दाम कौ, भक्त इष्ट अति व्यास के॥ ( भक्तमाल, छप्पय स० ९२ )

(४) 'व्यास' रसिक सव चल वसे, नीरस रहे कुवस।
वग-ठग की सगति भई, परिहरि गये जु हस॥११०॥
'व्यास' जहाँ प्रभु कौ भजन, होते रास-विलास।
ते कामिनि-वस ह्वै गए, ऊत-पितर के दास॥१३७॥ ( भक्त-कवि व्यास जी )

(५) नाभा जी कृत छप्पय स० ९४ पर प्रियादास जी का कवित्त स० ३७७

**नरवाहन जी**—वे हित हरिवंश जी के प्रभाव के कारण डाकू से रसिक भक्त हुए थे। उनकी रास विषयक अनन्यता को देख कर हित जी ने उनके नाम से रास के दो सुंदर पद रचे थे, जो 'नरवाहन' की छाप से हित जी की वाणी में मिलते हैं। उन पदों की टेक इस प्रकार है—

**१–मंजुल कल कुंज देस, राधा–हरि विसद वेस, राका नभ कुमुद बंधु, सरद–यामिनी।**
**२–चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुख–निधान, रास रच्यौ स्याम, तट कलिंद-नंदिनी॥**

**विट्ठलदास जी**—वे हित हरिवंश जी के परम भक्त और उनकी रास–भावना के प्रति अत्यंत श्रद्धावान थे। 'रसिक अनन्यमाल' में उन्हें जूनागढ के सूबेदार का प्रधान बतलाया है। इसके साथ ही रास के प्रति उनकी श्रद्धा भावना का भी इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

**'मुरलीधर रस रास–विलास। रोम–रोम रमि रह्यौ प्रकास॥'**

**अलि भगवान**—प्रियादास जी ने लिखा है कि अलि भगवान एक रामोपासक भक्त थे। एक बार वे वृंदावन गये थे, वहाँ पर रासमंडल पर रास होता हुआ देख कर वे उसके प्रति इतने अनुरक्त हुए कि अपने ठाकुर जी को भी 'रासबिहारी जी' कहने लगे थे[1]।

**भगवानदास तँवर**—'भक्तमाल' में उनकी साधु–सेवा की बड़ी प्रशंसा की गई है। उसमें लिखा है कि भगवानदास प्रति वर्ष मथुरा जाकर वहाँ बड़ा महोत्सव करते थे। वे रास-विलास और हरि-कीर्तन कराते थे तथा साधु–संतों का भंडारा करते थे[2]।

**राजा रामरयन**—'भक्तमाल' में उनकी रास के प्रति अपूर्व निष्ठा का उल्लेख किया गया है। वे रास लीला देख कर इतने प्रसन्न हुए कि कृष्ण के स्वरूप को उन्होंने अपनी पुत्री ही अर्पित कर दी थी। उक्त घटना का उल्लेख प्रियादास जी ने किया है[3]।

**श्रीनाथ भट्ट**—वे चैतन्य मत के अनुयायी भक्त जन थे। नाभा जी ने उनके प्रगाढ पांडित्य की प्रशंसा करते हुए उन्हें रास-रस के उपासक भक्तराज भी बतलाया है—

**'रस–रास उपासक भक्तराज, नाथ भट्ट निर्मल बैन[4]।**

**प्रयागदास**—नाभा जी ने उन्हें रामोपासक भक्त बतलाया है। एक बार रास लीला देखते हुए वे इतने आनंदित हुए कि अपना शरीर छोड़ कर रास-रस में लीन हो गये थे[5]।

**गिरिधर ग्वाल**—नाभा जी ने उनकी भक्ति-भावना और नृत्य-गान के प्रति अभिरुचि का कथन किया है। 'भक्तमाल' में बतलाया गया है कि एक बार उन्होंने अपने मालपुरा गाँव में रास का आयोजन किया, जिसमें प्रसन्नतापूर्वक अपना सर्वस्व दान कर दिया था[6]।

---

(१) नाभा जी कृत छप्पय सं० ९४ और प्रियादास जी का कवित्त सं० ३७६
(२) वही ,, ,, १५४ और प्रियादास जी का कवित्त सं० ५७५
(३) वही ,, ,, ११९ और प्रियादास जी का कवित्त सं० ४८९
(४) भक्तमाल, छप्पय सं० १५९
(५) वही ,, सं० १९६
(६) वही ,, सं० १९४

**खड्गसेन जी**—'रसिक अनन्य माल' के अनुसार वे भानुगढ निवासी कायस्थ थे और माधौसिंह के प्रधान थे। कथा-कीर्तन, हरि-गान और साधु-सेवा के साथ ही साथ उनकी अभिरुचि रास-विलास के प्रति अधिक थी। 'भक्तमाल' मे उन्हे रास-लीला के आनद मे अपना प्राण न्यौछावर करने वाला वतलाया गया है[1]।

**जयमल जी**—'भक्तमाल' के दो छप्पयो मे जहाँ अनेक राज-पुरुप भक्तो का नामोल्लेख हुआ है, वहाँ उनमे जयमल जी की भी गणना की गई है। नाभा जी ने लिखा है, जयमल जी की भक्ति-भावना के कारण उनकी राजधानी मेडता छोटी मथुरा के समान जान पडती थी—'**लघु मथुरा मेडता, भक्त अति जैमल पोखें।**' 'रसिक अनन्य माल' मे कथा-कीर्तन, हरि स्मरण के साथ ही साथ रास-विलास महोत्सव के प्रति भी उनकी रुचि वतलाई गई है—'**कथा-कीरतन सुमिरन भाव। रास-विलास महोत्सव चाव॥**'

**सुलखान**—चाचा वृ दावनदास कृत 'रसिक अनन्य परिचावली' मे रास-लीला के प्रति अत्यत रुचि रखने वाले राधावल्लभ सप्रदायी एक भक्त सुलखान का उल्लेख हुआ है। उसे भैंगाँव का निवासी और नरवाहन जी का वशज वतलाया गया है। श्री 'अलि' जी के मतानुसार उसका उपस्थिति-काल १७वी शताव्दी का उत्तर काल था।

## रासधारी और रास-मडलियाँ—

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, व्रज मे रास का आरभ वैष्णव सप्रदायी महानुभावो द्वारा रास सवधी पदो के गायन द्वारा हुआ था। वे रास लीला के सरस पदो को ताल-स्वर के साथ वाद्य यत्रो पर गाते हुए रास-रस का सुखानुभव किया करते थे। वाद मे राधा-कृष्ण के स्वरूप वने हुए कतिपय वालको का गान-वाद्य के साथ नृत्य भी कराया जाने लगा। रास लीला का ऐसा ही एक नृत्य गोसाई विट्ठलनाथ जी ने अडैल मे कराया था, जिसका उल्लेख '**गोसाई जी की निज वार्ता**' मे हुआ है। उसकी एक अप्रकाशित प्रति सरस्वती भडार, काकरौली मे है। उसमे लिखा है, गोसाई विट्ठलनाथ जी ने स्वय एक व्राह्मण के वालक को श्री कृष्ण का शृ गार कराया था[2]। उक्त घटना स० १६१६ से कुछ पहिले की है, क्यो कि उसके वाद गोसाई जी ने अडैल को छोड दिया था।

**व्यवसायी रास-मंडलियाँ**—जव नृत्य-गान मे निपुण वालको के मिलने मे असुविधा होने लगी, तव रासधारियो की मडलियाँ वनना आरभ हुआ। वे रासधारी गण अपने वालको को नियमित रूप से नृत्य-गान की शिक्षा देकर उनसे रास लीला कराने लगे। इस प्रकार व्यवसायी रास मडलियो की परपरा प्रचलित हुई। राधाकृष्ण जी कृत '**रास सर्वस्व**' मे करहला निवासी रासधारियो के कई घरानो का उल्लेख मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि करहला गाँव के व्राह्मणो ने रास-धारियो की मडलियाँ वनाने का नेतृत्व किया था। वाद मे कामवन, कमई, पिसाया आदि व्रज के अन्य स्थानो मे भी रास मडलियाँ वन गई थी। इस प्रकार की व्यवसायी मडलियाँ स० १६२० से पूर्व वनी हो, इसका कोई प्रमाण नही मिलता हे। जैसा पहिले लिखा जा चुका हे, मुसलमानी

---

(१) नाभा जी कृत छप्पय स० १६२ पर प्रियादास का कवित्त स० ५६२

(२) वल्लभीय सुधा, ( वर्ष ७, अक २, पृष्ठ १८ )

शासन के आतक के कारण स० १६२० से पहिले उस प्रकार की रास मडलियो के सगठन की सभावना भी नही हो सकती थी।

"रास सर्वस्व"–कार ने घमडदेव जी के प्रसग मे सबसे पहिले उदयकरण–खेमकरण की और उसके बाद नारायण भट्ट जी के प्रसग मे रामराय–कल्याण की रास मडलियो का उल्लेख किया है। नारायण भट्ट जी के सहयोगी एक बल्लभ नर्तक का भी इसी प्रसग मे नामोल्लेख किया गया है। बादशाह का अवकाश प्राप्त कलाकार वह बल्लभ नर्तक करहला के रासधारियो मे था या नही और उसकी भी कोई रास–मडली थी या नही, इसके विषय मे कुछ नही लिखा मिलता है। उदयकरण और खेमकरण तथा रामराय और कल्याण नामक रासधारियो का काल अनिश्चित है और उनका विश्वसनीय विवरण भी उपलब्ध नही है। वैसे नाभा जी ने रामराय और कल्याण नामक भक्तो का उल्लेख किया है, किंतु वे उस नाम के रासधारियो से पृथक् भक्तजन थे। नाभा जी ने रास के प्रसग मे सर्वप्रथम नारायण भट्ट जी और उनके प्रीति–भाजन उक्त बल्लभ या ब्रजबल्लभ का ही वृत्तात लिखा है[1]। इस प्रकार रास लीला से सबधित प्रामाणिक व्यक्तियो मे उनकी गणना सबसे पहिले की जानी चाहिए। बल्लभ ने चाहे कोई रास मडली न बनाई हो, किंतु उसने नारायण भट्ट जी को रास के प्रचार-कार्य मे अपना कलापूर्ण सहयोग अवश्य दिया था। इस प्रकार उसके जैसे गुणी जन के कारण रासलीला के प्रदर्शन मे कलापूर्ण सरसता की वृद्धि हुई थी।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के दो प्रसगो मे रास मडलियो का उल्लेख मिलता है। पहिला प्रसग उज्जैन निवासी कृष्ण भट्ट की वार्ता का है। उससे ज्ञात होता है कि वहाँ दो बार रासधारियो ने रास किया था[2]। दूसरा प्रसग चतुर्भुजदास की वार्ता का है। उसके अनुसार गोवर्धन के चद्र सरोवर पर रासधारियो ने रास लीला की थी[3]। उसका काल स० १६२७ ज्ञात होता है। उज्जैन मे किये गये रास के काल का उल्लेख नही मिलता है, किंतु वह भी स० १६२८ के लगभग किया हुआ जान पडता है। उक्त प्रसगो से सिद्ध होता है कि स० १६२७–२८ मे व्यवसायी रासधारियो की मडलियाँ बन गई थी। वे मडलियाँ करहला की थी, अथवा अन्य स्थानो की, यह ज्ञात नही होता है। सभावना इसी बात की है कि वे करहला की होगी, क्यो कि उन्ही की प्राचीनतम परपरा मिलती है और उनका बल्लभ सप्रदायी होना भी सिद्ध है। 'रास सर्वस्व' मे उल्लिखित उदयकरण–खेमकरण और रामराय–कल्याण की रास मडलियो मे से वे मडलियाँ थी अथवा कोई दूसरी थी—यह निश्चय पूर्वक कहना सभव नही है।

**मोहनदास की मडली**—राधावल्लभ सप्रदायी साहित्य मे रासधारियो के ऐसे कई घरानो का उल्लेख है, जिनकी परपरागत रास मडलियाँ थी। उनमे दामोदर चद्र जी ( स० १६३४–१७१४ ) के शिष्य मोहनदास का नाम उल्लेखनीय है। मोहनदास कामबन का ब्राह्मण था। उसकी रास मडली मे उसका रूपवान पुत्र राधा जी का वेश धारण कर रास लीला मे भाग लेता था। गोविद अलि ( स० १८४० ) कृत 'भक्तगाथा' मे उसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

---

(१) नाभा जी कृत भक्तमाल, छप्पय सं० ८७ और ८८
(२) दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, प्रथम खंड, पृ० ४८–४९
(३) दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तृतीय खड, पृ० ३४५–३४६

श्री हित मोहनदास, विप्र कामाँ के बासी । सुत माधुर्य सरूप, सकल गुन-गन के रासी ।।
प्रिया वेश अति फबै, रास मडली बनाई । मिटे त्रिगुन विस्तार, रहे हरिवंश सहाई ।।
रसिकन मुख ऐसी सुनी, सर्वस महा प्रसाद की । श्री दामोदर वर कृपा तें, पगे भावना रास की[1] ।।

गो० दामोदर चद्र जी हित जी के प्रपौत्र थे । वे रास के बडे प्रेमी और प्रोत्साहन कर्त्ता थे । उनके स्थान पर मोहनदास का नियमित रूप से रास हुआ करता था । उन्होंने अपने उत्तराधिकार-पत्र मे भी उसी प्रकार के आयोजन होते रहने की व्यवस्था की थी[2] । मोहनदास के बाद उसके पुत्र माधुरीदास ने रासमडली का सचालन किया था । वह बचपन से ही रास मे भाग लिया करता था, अत वह इस कला का विशेषज्ञ था । चाचा वृ दावनदास कृत 'रसिक अनन्य परिचावली' मे माधुरीदास को रास-विलास का प्रकाशक और रसिक भक्तो को सुख देने वाला बतलाया गया है—
मोहन सुत माधुरी, फुरी रसवानी गानी । रास विलास प्रकास, रसिक भक्तन सुख दानी[3] ।।

**किशोरीदास की मडली**—रासधारियो का दूसरा घराना किशोरीदास का था । उसकी भी वंश-परपरागत रास मडली थी । चाचा वृ दावनदास ने किशोरीदास को हित जी के छोटे पौत्र व्रजभूषण जी का शिष्य बतलाया है और उसके द्वारा ब्रजमडल मे स्थान-स्थान पर रास लीला किये जाने का उल्लेख किया है—

ठौर-ठौर ब्रजभूमि, विलास द्रगन दरसाये । श्री राधावल्लभ इष्ट भाव सो सदा लडाये ।।
श्री हरिवंश गिरा प्रसग, गायक बहु भायन । नित्य केलि बनराज अखडित बरनी चायन ।।
श्री ब्रजभूषन परसाद गुरु, लीला प्रकट प्रकास को ।
रास-रचन सुख-सचन मति, यह कृपा किसोरीदास को[4] ।।

होरी के रग मन रँग्यौ जास । अस कोविद रसिक किसोरीदास ।
ब्रज जनन भीर रहे सदा पास । रसिकन मिलि रचै बसत रास ।। ( बसत प्रबध, स० ४१ )

किशोरीदास के बाद उसके पुत्र हरिनाथ ने रास मडली का सचालन किया था । चाचा जी ने हरिनाथ को युगलदास जी का समकालीन बतलाते हुए उसकी रास लीला की प्रशसा की है—

सुवन किशोरीदास के, अति रसज्ञ हरिनाथ ।
निरखै रास-विलास बहु, जुगलदास रहि साथ ।। ( गुरु कृपा चरित्र वेली )
प्रगट रास-लीला करन, को दूजौ हरिनाथ बिन ।। १७४ ।। ( रसिक अनन्य परिचावली )

श्री किशोरीशरण 'अलि' ने युगलदास के उपस्थित-काल ( स० १७९२ ) के आधार पर हरिनाथ का समय स० १७६० तक अनुमानित किया है । हरिनाथ के चार पुत्र नवनीत दास, ब्रजदास, शोभाराम और कृष्णदास थे । उन्होंने हरिनाथ के बाद रास मडली का सचालन किया था । वे स० १८०० तक विद्यमान थे[5] ।

---

(१) राधावल्लभ सप्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, पृ० २८८
(२) ब्रज भारती ( मार्गशीर्ष स० २०१६ ) मे श्री किशोरीशरण 'अलि' का लेख
(३) वही, पृ० ५८
(४) रसिक अनन्य परिचावली, छप्पय स० १५६
(५) ब्रज भारती ( मार्गशीर्ष स० २०१६ )

**भक्तों की रास–मंडलियाँ**—व्यवसायी रास–मडलियो के अतिरिक्त उस काल के कतिपय भक्तजनो ने भी अपने सप्रदाय के प्रचारार्थ रास–मडलियो का सगठन किया था। ऐसे भक्तो मे राधावल्लभ सप्रदाय के अनुयायियो का उत्साह अधिक रहा था। उनमे वालकृष्ण-तुलाराम, वालकृष्ण स्वामी और चद्रसखी की रास–मडलियाँ उल्लेखनीय है। यहाँ उनका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

**वालकृष्ण–तुलाराम और बालकृष्ण स्वामी**—उनके नामो का उल्लेख चाचा वृ दावनदास कृत **'रसिक अनन्य परिचावली'** तथा **'प्रवध'** मे हुआ है और उन्हे गो० हरिलाल जी के शिष्य बतलाया गया है। गो० हरिलाल जी हित जी के वडे पौत्र सु दरवर जी के वश मे गो० कु जलाल के पुत्र थे। वे १८वी शती के मध्यकाल मे विद्यमान थे। इस प्रकार वालकृष्ण–तुलाराम और वालकृष्ण स्वामी का उपस्थिति काल स० १७८० से कुछ पूर्वक माना जा सकता है।

'अलि' जी ने वालकृष्ण और तुलाराम दोनो को सगे भाई अनुमानित किया है तथा वालकृष्ण को वालकृष्ण स्वामी से अभिन्न समझा है[1]। वालकृष्ण और तुलाराम सगे भाई हो सकते हैं, किंतु वालकृष्ण को वालकृष्ण स्वामी से मिलाना ठीक नही मालूम होता है। वे दोनो भक्तजन एक से नाम के, एक ही प्रकृति के, एक ही गुरु के शिष्य और एक ही काल मे विद्यमान थे। इन कारणो से उनके विषय मे भ्रम हो जाना स्वाभाविक है, किंतु चाचा वृ दावनदास जी ने उनका पृथक्-पृथक् वर्णन कर उक्त भ्रम का पहिले ही निवारण कर दिया है। उन्होने 'रसिक अनन्य परिचावली' के छद स० १९८ मे बालकृष्ण–तुलाराम का और स० १८१ मे वालकृष्ण स्वामी का पृथक्–पृथक् उल्लेख किया है। चाचा जी के वर्णन से ज्ञात होता है कि वालकृष्ण–तुलाराम शमशेर नगर निवासी, भजनानदी और रास प्रेमी भक्त जन थे, तथा वालकृष्ण स्वामी वृ दावन मे रासमडल पर निवास करने वाले नाद–परिकर के विरक्त साधु थे[2]।

**वालकृष्ण स्वामी की रास-मडली**—चाचा वृ दावनदास के कथन से ज्ञात होता है, वालकृष्ण स्वामी उच्च कोटि के विरक्त सत और रसिक भक्त होने के साथ ही साथ राधावल्लभ सप्रदाय के प्रसिद्ध प्रचारक भी थे। उन्होने अपने गुरु गो० हरिलाल जी के आदेशानुसार रास-मडली द्वारा भक्ति–प्रचार का आयोजन किया था। इसका उल्लेख चाचा जी कृत वसत गायन के 'चतुर्थ प्रवध' स० ५१ मे इस प्रकार हुआ है—

> धरचौ कर गुरु श्री हरिलाल माथ। भये वालकृष्ण स्वामी सनाथ॥
> फिरें रास–मडली लिएँ साथ। फागुन सुखेल की सौंज हाथ॥

**चंद सखी जी की रास-मडली**—चद सखी जी वालकृष्ण स्वामी के शिष्य और राधा-वल्लभ सप्रदाय के प्रचारक एक उत्साही महात्मा थे। उनका समय स० १७०० से १७९० तक है। वे राधावल्लभ सप्रदाय की रस-भक्ति के प्रचारार्थ यात्राएँ किया करते थे। उनके साथ साधु–सतो की जमात और रास मडली रहती थी। उन्होने अनेक पदो और लोक गीतो की रचना की थी,

---

(१) व्रज भारती ( मार्गशीर्ष, स० २०१६ ), पृ० ६०

(२) लेखक कृत 'चंद सखी का जीवन और साहित्य', पृ० १८

जिन्हे वे और उनके साथी भक्त जन तथा रास मडली वाले गा–गा कर जनता मे राधाकृष्णोपासना का प्रचार किया करते थे[1]। अपने उस प्रचार–अभियान मे चद सखी जी की रास–मडली को वडी सफलता मिली थी।

**उदयकरण–खेमकरण की रास-मडली**—करहला के रासधारी उदयकरण–खेमकरण का उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। 'रास सर्वस्व' मे उनके वृतात को श्री वल्लभाचार्य जी, औरगजेव और जयसिह के साथ इस प्रकार मिलाया गया है कि उनके यथार्थ काल का निश्चय करना अत्यत कठिन हो गया है। उदयकरण के पुत्र विक्रम द्वारा जयसिह के समक्ष जिस रास लीला के होने की वात कही गई है, उसका काल १८वी शती का अतिम दशक होता है। उस समय दिल्ली के मुगल सम्राट मुहम्मदशाह की ओर से आमेर के सवाई राजा जयसिह आगरा के सूवेदार थे और ब्रज–वृदावन उनके प्रभाव क्षेत्र मे था। विक्रम के पिता उदयकरण का काल उससे पूर्व का है, जो अधिक से अधिक औरगजेव के अतिम काल के लगभग हो सकता है।

उदयकरण–खेमकरण की रास मडली अपने समय मे निश्चय ही विख्यात और यशस्वी रही होगी। उसके द्वारा औरगजेव जैसे कट्टर मुसलमान को प्रभावित करने की वात तो सर्वथा कपोलकल्पित है, किंतु सवाई राजा जयसिह को प्रसन्न कर उससे करहला मे भवन वनवा लेने की वात प्रामाणिक जान पडती है। विक्रम अपने समय का प्रसिद्ध रासधारी था। वह पहिले अपने पिता के काल मे कृष्ण का स्वरूप वनता था। वाद मे उसने 'स्वामी' वन कर रास–मडली का सचालन किया था। विक्रम के वशजो की करहला मे परंपरागत रास मडलियाँ रही है। उसी परपरा मे विहारीलाल और राधाकृष्ण रासधारी थे और उसी मे लाडिलीशरण, माधव स्वामी आदि है। उनके घराने 'महल वाले' और 'हवेली वाले' कहलाते है। वे सदा से वल्लभ सप्रदाय के अनुयायी रहे है। उनके घरो मे नाथद्वारा से प्राप्त श्रीनाथ जी के कतिपय पुराने मुकुट हैं, जिन्हे रास सवधी अपनी परपरागत कला–कुशलता के प्रमाण–पत्र की तरह उन्होंने सुरक्षित रख छोडा है।

**ब्रज मे अन्य स्थानो की मंडलियाँ**—करहला और कामवन की पूर्वोक्त रास मडलियो के अतिरिक्त कमई, पिसाया, वृदावन, गोवर्धन आदि स्थानो मे भी अनेक रास मडलियाँ वनी थी, जिनमे से कई मडलियाँ अव भी है। इन्होने व्रज की रास लीला के परपरागत कला–रूप के प्रचार मे वडा योग दिया है।

## रास लीला के प्रदर्शन—

व्रज की सभी रास मडलियाँ वर्षा वीतने पर अपने घरो से चल देती थी और देश के विभिन्न भागो मे रास–लीला का प्रदर्शन किया करती थी। वे प्रदर्शन जन्माष्टमी से आरभ हो जाते थे। उस समय के राधा–कृष्णोपासक राजा–महाराजा और धनाढ्य व्यक्ति अपने–अपने स्थानो पर रास मंडलियो को आमन्त्रित कर उनसे श्री कृष्ण की रास लीलाओ के प्रदर्शन कराया करते थे। इस सवध मे कुछ विदेशी दर्शको के उल्लेख उपलब्ध है, जिन्हे येन विश्वविद्यालय ( अमरीका ) के प्राध्यापक श्री नारविन हईन हवेन ने सकलित किया है। वे विदेशी दर्शक सर्वश्री जेम्स टाड, टामस डूएट ब्रोटन और एफ० एस० ग्राउस थे।

---

(१) लेखक कृत 'चद सखी का जीवन और साहित्य', पृ० १८

**जेम्स टाड का उल्लेख**—अगरेजी शासन के प्रतिनिधि के रूप मे टाड साहब दौलतराव सिंधिया के दरबार मे दस वर्ष तक रहे थे । उन्होने अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक कृति **'दि एनल्स एण्ड एन्टिक्विटीज आव राजस्थान'** मे लिखा है—"रासधारी वर्ग रास प्रदर्शन के लिए प्रत्येक वर्ष जन्माष्टमी के अवसर पर मथुरा से आया करता था तथा दरबार मे जन्माष्टमी के दिन गोपी तथा कृष्ण-कन्हैया के प्रसग का दृश्य उपस्थित करता था । यह निश्चित रूप से रास लीला थी[1] ।"

**टामस डूएट ब्रोटन का उल्लेख**—ब्रोटन साहब माधव जी सिंधिया के शिविर मे ब्रिटिश रेजीडेन्सी के प्रधान अग-रक्षक थे । उन्होने उस काल की प्रमुख घटनाओ का उल्लेख करते हुए कुछ पत्र लिखे थे, जो **"लैटर्स रिटिन इन ए मरहठा कैंप ड्यूरिग दी इयर १८०९"** नामक पुस्तिका मे सकलित है । उसमे १० अगस्त सन् १८०९ के पत्र मे लिखा गया है—"जन्माष्टमी का पर्व था । शिविर मे इस महोत्सव की सज्जाएँ हो रही थी । महाराजा ने शिविर के प्रभावशाली व्यक्तियो को जन्माष्टमी के उत्सव मे रात्रि को निमत्रित किया । ब्रोटन भी बुलाये गये और उन्होने उक्त उत्सव मे भाग लिया था[2] ।"

उपर्युक्त उल्लेख से ऐसा आभास होता है कि वह उत्सव माधव जी ( महादजी ) सिंधिया के काल मे हुआ था, किंतु वस्तुत वह उनके उत्तराधिकारी के शासन-काल की घटना है । माधव जी का देहावसान १२ फरवरी सन् १७९५ मे हो गया था, अत सन् १८०९ मे उनका उत्तराधिकारी दौलतराव सिंधिया था । वैसे माधव जी सिंधिया भी ब्रज और राधा-कृष्ण के अनन्य भक्त तथा रास के बडे प्रेमी थे । वे अपने काल मे जन्माष्टमी के अवसर पर रास कराया करते थे । जब वे मथुरा मे होते थे, तब वृदाबन जाकर वहाँ अवश्य ही रास कराते थे। इसका उल्लेख सहचरिशरण कृत **'ललित प्रकाश'** मे इस प्रकार हुआ है—

**नाम महाजी सिंधिया, वृंदाबन बिच आय । श्री गुपाल लीला करी, परम प्रीत दरसाय ।।**

**ग्राउस का उल्लेख**—ग्राउस साहब ने भी जन्माष्टमी के प्रसग मे रास लीला का उल्लेख किया है । उन्होने लिखा है,—"भादो के महीने मे कृष्ण-जन्मोत्सव के अतिरिक्त और भी अनेक मेले ब्रज के विविध बनो मे होते है, जहाँ रास लीला की जाती है[3] । ये लीलाएँ प्रायः एक महीना या उससे भी अधिक काल तक चलती रहती है और वे ब्रज के उसी स्थान पर होती है, जहाँ परपरा से उनका सबध रहा है[4] ।"

श्री ग्राउस ने यहाँ भूल की है । उस प्रकार की लीलाएँ ब्रज मे ब्रज-यात्रा के अवसर पर होती रही है, न कि जन्माष्टमी के अवसर पर । ब्रज-यात्रा जन्माष्टमी से १५-२० दिन बाद आरभ होती है और प्राय ४० दिनो तक चलती है । उस काल मे यात्रा जिन बनो मे जाती है, वहाँ उनसे सबधित लीलाओ का रास हुआ करता है । श्री ग्राउस की भूल का कारण कदाचित यह है कि उन्होने केवल एक बार ही रास लीला ब्रज के सकेत नामक स्थान पर देखी थी ।

---

(१) रास लीला के विदेशी दर्शक ( पोद्दार अभिनदन ग्रथ ), पृ० ७१४
(२) वही ,, ,, ,, ), पृ० ७१५
(३) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, (तृ० स०) पृ० ७९
(४) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर ( तृ० सं० ), पृ० ८०

## रास और नैतिकता—

**नैतिकता के प्रति शका और उसका समाधान**—श्रीमद् भागवत की रास पचाध्यायी मे व्रज की गोपियो की रासोन्मुखी भावना को व्यक्त करते हुए बतलाया गया है, जिस समय वे कृष्ण की वशी का मोहक नाद सुन कर उनसे मिलने को अधीरता पूर्वक दौडी हुई गई थी, उस समय श्री कृष्ण के प्रति उनका भगवद् भाव नही था, वरन् जार भाव था। वे वासनामयी भावना को लेकर शरद की रात्रि मे व्रज के एकात वनस्थल मे गई थी और श्री कृष्ण ने उनकी इच्छानुसार उनके साथ रास-क्रीडा की थी। इससे जन साधारण को यह शका होना स्वाभाविक है कि इस प्रसग मे नैतिकता का अभाव है। यह तो वासनापूर्ण और कामोत्पादक केलि-क्रीडा जान पडती है। श्री कृष्ण जैसे अवतारी पुरुष ने वह अनुचित कर्म क्यो किया ?

इस प्रकार की शका परीक्षित जैसे मुमुक्षु जन को भी हुई थी। उसका समाधान करते हुए श्री शुकदेव जी कहा था—"भगवान् से किसी प्रकार का दृढ सबध होने पर उस व्यक्ति की वृत्तियाँ भगवन्मयी हो जाती है। वह सबध चाहे जैसा हो,—काम का हो, क्रोध का हो, भय का हो अथवा स्नेह का हो, उसी से उसे भगवान् की प्राप्ति होती है[1]।" कृष्णोपासक विभिन्न सप्रदायो के आचार्यो और भक्त महानुभावो ने अपनी-अपनी उपासना-भक्ति के अनुसार रास की विविध प्रकार से व्याख्या की है, किंतु उसे नैतिकता रहित और लौकिक काम-वासना पूर्ण किसी ने नही माना है। उन्होने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार इसे ज्ञान, योग, कर्म, भक्ति और अध्यात्म के उच्च धरातल पर आसीन कर इसका गुणानुवाद किया है।

**रास की धार्मिक भावना**—वल्लभाचार्य जी ने रास पचाध्यायी की 'सुबोधिनी' नामक व्याख्या मे बतलाया है, कृष्ण-गोपियो की उस रास लीला मे काम की समस्त चेष्टाओ के होने पर भी उसमे "काम" नही है। गोपियो के लौकिक काम की निवृत्ति और अलौकिक काम की पूर्ति निष्काम कृष्ण द्वारा हुई थी। यदि लौकिक काम से काम की पूर्ति होती, तो उससे ससार उत्पन्न होता, किंतु उससे तो गोपियाँ निष्काम होकर ससार से निवृत्त हो गई थी। अत उसके द्वारा किसी प्रकार मर्यादा भग नही हुई, बल्कि वह प्रसग गोपियो की मुक्ति का साधन बन गया था[2]। इसीलिए भागवत मे रास पचाध्यायी का माहात्म्य बतलाते हुए कहा गया है, "व्रज-बालाओ के साथ की हुई इस क्रीडा का जो व्यक्ति श्रद्धा पूर्वक श्रवण या कीर्तन करेगा, वह भगवान् की परा भक्ति प्राप्त करेगा और उसे मानसिक काम रोग से भी शीघ्र ही मुक्ति मिल जावेगी[3]।"

---

(१) भागवत ( गीता प्रेस ), पृ० ७३६

(२) क्रिया सर्वापि सैवात्र पर कामो न विद्यते।
तासा कामस्य सम्पूर्ति निष्कामेति तास्तथा॥
कामेन पूरित काम निष्काम स सार जनेयत्स्फुरम्।
कामभावेन पूर्णस्तु निष्काम स्यात् न स शय॥
अतोन कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च॥ ( सुबोधिनी )

(३) विक्रीडित ब्रजवधूभिरिद च विष्णो, श्रद्धान्वितो नुपुणुयादय वर्णयेच्च।
भक्ति परा भगवति प्रतिलभ्य काम, हृद्रोगमाश्व पहिनोत्यचिरेण धीर॥
—भागवत, दशम स्कध, अध्याय ३३, श्लोक ४०

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भागवत मे रास को काम की निवृत्ति का साधन माना गया है, न कि कामोत्पादक केलि-क्रीडा। इसीलिए इसे "कामजयी लीला" और श्रीमद् भागवत को "परम हस सहिता" कहा गया है। सगुणोपासक वैष्णव भक्त ही नही, वरन् विरक्त सन्यासी और निर्गुणिया सतो का भी रास के प्रति सदैव यही दृष्टिकोण रहा है। हरिदासी सप्रदाय के श्री भगवत-रसिक जी ने व्रज के भक्ति-तत्व की प्राप्ति के लिए साधक को क्रमश छह अवस्थाओ को पार करना आवश्यक वतलाया है। उनमे से चौथी अवस्था वैराग्य वृत्ति और पाँचवी देहानुसधान की विस्मृति होने पर ही छटी अवस्था 'रास की भावना' सभव कही गई है—"चौथै होय विरक्त, वसै वनराज जसीलौ। पाँचै भूलै देह निज, छटै भावना रास की।"

**वर्तमान विद्वानों का दृष्टिकोण**—आजकल के अनेक विद्वान भी रास की उच्च धार्मिक भावना के सवध मे पूरी तरह से आश्वस्त है। वे इसे व्रज के आध्यात्मिक भक्ति-तत्व का प्रतीक मानते है। डा० मुशीराम शर्मा ने रास की आध्यात्मिकता का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है,—"कृष्ण आत्मा के प्रतीक है, जो वशी-ध्वनि से—आदि सगीत स्वरो से, गोपियो को अपनी ओर आकर्पित करते है। जैसे इन्द्रियाँ या वृत्तियाँ एक मन, एक प्राण होकर अतरात्मा मे मग्न हो जाने की तैयारी करती है, वैसे ही गोपियाँ वशी-ध्वनि से कृष्ण की ओर केवल गति करती है। इसके पश्चात् रास-लीला का नृत्य आता है, जो अपनी तरगो द्वारा गोपियो को कृष्ण-सामीप्य प्राप्त करा देता है। सामीप्य का अनुभव अपनी शक्ति और अहमन्यता का स्फुरण करता है, अत पूर्ण मग्नता की दशा नही आ पाती। आत्म-प्रकाश पर अहकार का आवरण छा जाता है। पर जैसे ही कृष्ण रूपी आत्म-ज्योति अतर्हित होती है, आत्म-मग्न होने की प्रेरणा तीव्र हो उठती है और अहकार विलीन हो जाता है। वियोग की अनुभूति लक्ष्य-प्राप्ति के लिए इसीलिए आवश्यक मानी गई है। अहकार के नष्ट होते ही, पार्थक्य के समस्त वधन छिन्न-भिन्न हो जाते है, मनोवृत्तियाँ आत्मा मे लीन हो जाती है, गोपियाँ कृष्ण के साथ महारास रचने लगती है। यही है आत्मा का पूर्णानद मे लीन होना। भारतीय सस्कृति का यही चरम लक्ष्य है[1]।"

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने रास लीला का प्रयोजन जीवो का कल्याण वतलाते हुए कहा है—"सासारिक जीव शृगार और प्रेम के पथ पर चलता हुआ केवल 'काम' मे ही अपने भोग-विलास की इतिश्री समझ वैठता है, जिसके परिणाम स्वरूप ससार के आवागमन के वधन मे पुन-पुन फँसना होता है। इस लीला द्वारा वह काम-विजय की भावना पोपित करके काम-जय रूप फल को प्राप्त करता हे। श्री कृष्ण और गोपीगण के उत्कृष्ट प्रेम को अपने लिए उपास्य मान कर चलने से काम-जय रूप फल-प्राप्ति सभव है[2]।"

जिन विदेशी विद्वानो ने रास लीला को देखा था, वे उसकी उच्च कोटि की धार्मिकता के प्रति अत्यत आकृष्ट हुए थे। उन्हे इसमे नैतिकता का कोई अभाव नही ज्ञात हुआ। श्री ग्राउस ने इसके सवध मे लिखा है—"रास का दृश्य अत्यत मनोहर था। उसकी प्रेम-लीला मे भी शालीनता की कोई कमी दिखाई नही दी[3]।"

---

(१) भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृ० २०८

(२) रासलीला का स्वरूप और महत्व, ( रास लीला एक परिचय ) पृ० ६१

(३) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, ( तृ० स० ) पृ० ८०

## रास का प्राचीन रूप-विधान—

**हल्लीशक और रास**—हरिवंश में वर्णित 'रास-क्रीड़ा' और 'हल्लीशक नृत्य' तथा भागवतादि पुराणों और जैन ग्रंथों में कथित 'रास' के रूप-विधान का कुछ आभास उक्त रचनाओं में मिलता है। भरत मुनि कृत 'नाट्य शास्त्र' में रासक रूपक का जो भेद 'मंडल रासक' बतलाया गया है, वह हरिवंश के हल्लीशक और पुराणों के रास की कोटि का समझा जा सकता है, किंतु उन दोनों के रूप-विधान में एक भेद भी दिखलाई देता है। 'हल्लीशक' पुरुष और स्त्रियों का सम्मिलित नृत्य था जब कि 'रास' में प्राय स्त्रियाँ ही नृत्य करती थीं। यह भेद उनकी परिभाषाओं और उनके उल्लेखों से भी स्पष्ट होता है।

'हल्लीशक' की परिभाषा में कहा गया है, उसमें अनेक नर्तकियाँ एक नर्तक के साथ मंडल या घेरा बाँध कर नृत्य करती हैं[1]। उसके वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि उसमें भाग लेने वाले स्त्री-पुरुषों के जोड़े दो-दो स्त्रियों के बीच एक-एक पुरुष अथवा दो-दो पुरुषों के बीच में एक-एक स्त्री के क्रम से घेरा बाँध कर नृत्य करते थे। भारतीय चित्रकला में 'हल्लीशक' के दो प्राचीन नमूने मिलते हैं,—एक अजंता की गुफा में है और दूसरा मध्य प्रदेश के बाघ नामक स्थान की गुफा में। उनमें से पहिले का चित्रण गुप्त काल (लगभग ५वीं शती) का है और दूसरे का उत्तर गुप्तकाल (लगभग छटी शती) का दोनों में एक-एक युवक को अनेक युवतियों के साथ नृत्य करते हुए दिखलाया गया है।

श्रीधर स्वामी कृत भागवत टीका में 'रास' की परिभाषा करते हुए कहा गया है, अनेक नर्तकियों के नृत्य विशेष को 'रास' कहते हैं[2]। भागवतादि पुराणों में जिस 'रास' का उल्लेख है, उसमें गोपियों ने ही नृत्य किया था, गोपों का उसमें कोई योग नहीं था। पुरुष के नाम पर केवल बालक कृष्ण ही उसमें सम्मिलित हुए थे। पुरुषों का तो उसमें यहाँ तक निषेध मालूम होता है कि शिवजी को भी उसे देखने के लिए गोपी का छद्म वेश धारण करना पड़ा था। रास में भाग लेने वाली गोपियाँ कंकण, किंकिनि और नूपुर आदि बजने वाले आभूषण पहने हुई थीं, जिनका कल रव नृत्य की पद-ध्वनि के साथ गुंजायमान होता था। नृत्य में वीणा, वेणु, ताल और मृदंग का वादन तथा विविध गीतों का स्वर, ताल और लय के साथ गायन होता था और उनमें वर्णित विषय का अभिनय भी किया जाता था।

**जैनियों का रास**—जैन धर्मावलंबी स्त्री-पुरुष जैन मंदिरों में एकत्र होकर तालियाँ बजाते हुए रास का गायन किया किया करते थे। उस अवसर पर जैन मुनियों के चरित्रों का अभिनय भी किया जाता था। पहिले उस प्रसंग में नृत्य भी होते थे, किंतु उनके द्वारा सदाचार के भंग होने की आशंका जान पड़ने पर, वे बाद में बंद कर दिये गये थे। इस प्रकार जैनियों के रास की भावना पुराणादि में वर्णित रास के समान नहीं थी। जैनियों के रास-ग्रंथ भी भागवत की रास पंचाध्यायी से भिन्न थे। इसलिए जैन धर्मावलंबियों में प्रचलित रास का रूप-विधान वैष्णव संप्रदायों द्वारा रास के प्रचलन में अधिक सहायक नहीं हुआ था।

---

(१) नर्तकीभिरनेकाभि मंडलेविचरिष्णुभिः।
यत्रैको नृत्यति नरस्तद्वै हल्लीशकं विदुः॥

(२) रासो नाम बहु नर्तकीयुक्ते नृत्य विशेषः।

## रूप–विधान की प्रेरणा और उसके मध्य कालीन उल्लेख—

पूर्वोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि कृष्णोपासक धर्माचार्यो और भक्त महानुभावो ने ब्रज मे जिस रास का प्रचलन किया था, उसके रूप–विधान की प्रेरणा उन्होने न तो हरिवश के 'हल्लीशक' से ली थी और न पूरी तरह जैनियो के 'रास' से ही प्राप्त की थी। उन्होने 'गर्ग सहिता' तथा जयदेव और विद्यापति की रचनाओ मे कथित 'वसत रास' को भी अपना आधार नही बनाया था। वे भागवत की रास पचाध्यायी के 'शरद रास' को अपना आदर्श मान कर 'रास लीला' के रूप–विधान का प्रचार करने को प्रवृत्त हुए थे।

**नरसी मेहता का उल्लेख**—जिस काल मे ब्रज के भक्त महानुभाव कृष्ण–भक्ति के प्रचार–प्रसार के लिए रास के रूप–विधान का सयोजन कर रहे थे, उसी काल मे गुजरात के भक्त-कवि नरसी मेहता भी कृष्ण–भक्ति के प्रचार मे दत्तचित्त थे। 'भक्तमाल' की प्रियादास कृत 'भक्ति रस बोधिनी' टीका मे बतलाया गया है कि शिव जी के वरदान से नरसी मेहता को श्री राधा–कृष्ण के नित्य रास का दर्शन दिव्य वृदावन मे करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्होने देखा—"हीरो से जडे हुए दिव्य रास मडल पर अनेक सखियो के साथ दोनो प्रिया–प्रियतम गान–तान द्वारा नृत्य कर रहे है। उनके रूप के प्रकाश से चद्रमा की चाँदनी फीकी पड रही है। श्री कृष्ण हाथो से तालियाँ बजा-बजा कर ताल दे रहे है और सुदर गति ले रहे है। उनकी गर्दन की झुकन, हाथो की उँगलियो की मुद्राएँ तथा मुख से मधुर स्वर का गायन देखते और सुनते ही बनता था। उस समय मुहचग के साथ जो मृदग बज रहा था, उसके कारण उनके अग-अग से मानो छवि की तरगे उठ रही थी[1]।"

उपर्युक्त वर्णन दिव्य रास का है, किंतु उससे तत्कालीन रास के रूप–विधान और उसकी नृत्य-शैली पर भी कुछ प्रकाश पडता है। उससे ज्ञात होता है, रास मे जो नृत्य, गायन और वादन होता था, वह ताल–स्वर युक्त अत्यत उच्च कोटि का था। वाद्य यत्रो के रूप मे मृदग और मुहचग का उपयोग किया जाता था।

**विदेशी दर्शकों के उल्लेख**—अब से प्राय डेढ सौ वर्ष पहिले जब यहाँ अगरेजो का राज्य था, तब कुछ विदेशी शासनाधिकारियो ने भी रास को देखा था। उन्होने उसका जो वृत्तात लिखा है, उससे उस काल की रास-पद्धति और उसके रूप–विधान पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

**जेम्स टाड का कथन**—जैसा पहिले लिखा गया है, टाड साहब दौलतराव सिंधिया के दरबार मे अगरेजी शासन के प्रतिनिधि के रूप मे दस वर्ष तक रहे थे। उन्होने जन्माष्टमी के अवसर पर देखे हुए एक रासोत्सव के सबध मे लिखा है—"उन पात्रो के, जो कृष्ण तथा उनके सखाओ

---

(१) हीरनि खचित रासमडल नँचत दोऊ, रचित अपार नृत्त-गान-तान न्यारियै।
रूप उजियारी चद-चाँदनी न सम ताकी, देत कर-तारी लाल गति लेत प्यारियै॥
ग्रीव की ढुरनि, कर–आँगुरी मुरनि, मुख मधुर सुरनि, सुनि स्रवन तयारियै।
बजत मृदंग मुहचग सग, अंग-अंग उठति तरंग, रंग छवि की जियारियै॥
– नाभा जी कृत छप्पय स० १०८ पर प्रियादास जी का कवित्त सं० ४३२

और सखियो का अभिनय करते है, भाव गीत अत्यत प्रभावपूर्ण होते है। उनके कथोपकथन अत्यत हृदयस्पर्शी होते है। इन गायक-अभिनेताओ की करुणार्द्र स्वर-लहरियो मे जब भक्त-हृदयो का आनद-रस सम्मिलित हो जाता है, तो मुरली के स्वर मे यह राग अत्यत आह्लादकारी प्रतीत होता है।

रासधारियो का सगीत और नृत्य दोनो ही साधारण कलाकारो से उत्कृष्ट था। उनके हाव-भाव आकर्षक थे और उनका स्वर स्वाभाविकता का अतिक्रमण नही करता था। उनका परिधान रुचिपूर्ण और समुचित था—विशेष रूप से कन्हैया, जिनके सिर पर सूर्यकात मणि थी और गले मे रत्नो की माला थी, अत्यत भव्य लग रहे थे। वे समस्त वस्त्र जो कन्हैया और अन्य पात्र पहने हुए थे, महाराजा के भडार से प्रदत्त थे। नृत्य के उपरात कृष्ण की प्रमुखतम लीलाओ का प्रदर्शन हुआ और यह प्रदर्शन इतना सफल और सयत हुआ कि इतने छोटे बालको मे वैसी कला आश्चर्य की वस्तु जान पडी। रासधारियो के साथ जितने वादक थे और बालक थे—सभी ब्राह्मण थे और यह अत्यत आनद का विषय था कि रास समाप्त होने के उपरात उनमे से प्रत्येक राजा के सन्मुख विनत होने के स्थान पर एक-एक करके महाराज के सामने आया—और अपने छोटे-छोटे हाथ उठा कर राजा को आशीर्वाद देने लगा। महाराज आशीर्वाद ग्रहण करने के लिए उनके सन्मुख विनत हुए[1]।"

**टामस डुएट ब्रोटन का कथन**—रास लीला के दूसरे विदेशी दर्शक ब्रोटन साहब थे, जो माधव जी सिंधिया के शिविर मे ब्रिटिश रेजीडेन्सी के प्रधान अग रक्षक रहे थे। उन्होंने ३० अगस्त सन् १८०६ के एक पत्र मे उस रासोत्सव का उल्लेख किया है, जिसे उन्होने सिंधिया दरबार मे देखा था। रास के मच के सबध मे उनका कथन है—"जिस शामियाने मे हमे बिठाया गया था, वह १५० फीट लबा था। वह तीन भागो मे विभाजित था, बासो और बल्लियो पर रगीन कागज चढा कर एक बाढ खडी कर दी गई थी, जिन पर दीपक जल रहे थे। सामने दो फीट ऊँचा रगमच था। इसके स्तभ और शिविकाएँ भली प्रकार चित्र-वेष्ठित थी, इसे सिंहासन कहते हैं। इसके मध्य मे फूलडोल था। फूलडोल मे पुष्प, हीरक रत्न और बहुमूल्य मणियाँ सुसज्जित थी। पुष्प-गुच्छ, पुष्प-मालाएँ फूलडोल मे विहँसते हुए बालगोविंद को ढकेल रही थीं। पडितो, ब्राह्मणो का समुदाय अर्चना कर रहा था। कुछ व्यक्ति पखा खीच रहे थे। शामियाने का मध्य भाग नर्तको के लिए छोड दिया गया था। शेष दोनो ओर का स्थल दर्शको से परिपूर्ण था[2]।"

श्री ब्रोटन ने रास करने वाले बालको, गायको और वादको तथा उनकी रास-पद्धति के सबध मे लिखा है—"वे प्राय किशोर होते है, ब्राह्मण होते हैं। वे मथुरा मे रास सबधी शिक्षा पाते है, जहाँ एक बडा भू-भाग उनकी आजीविका का साधन है। इस ऋतु मे वे देश के विभिन्न भागो के हिंदू राजाओ के दरबारो मे रास करने के लिए निकल पडते हैं। गायको के अतिरिक्त चार अभिनेता भी हैं और सब सु दर बदन हैं[3]।" " एक या दो नृत्य होने के उपरात रासधारी जो सामने की ओर एक ऊँचे मच पर बैठे थे और जिनके चारो ओर चोबदारो, चोरीबर्दारो तथा अन्य सेवको का समूह था—आगे-आगे उनमे जो तरुण किशोर था, वह कन्हैया के स्वरूप मे था। सबसे छोटा

---

(१) रास लीला के विदेशी दर्शक, ( पोद्दार अभिनदन ग्रथ ), पृ० ७१३–७१५
(२) वही, ( ,, ), पृ० ७१४
(३) वही, ( ,, ), पृ० ७१४

किशोर कन्हैया की प्रेयसी—राधिका बना था। रास 'बैलेट' ( समूह नृत्य ) के समान हुआ, उसमें प्रेम की भावना और चापल्य का प्रादुर्भाव था, किंतु सब कुछ रोचक और दिव्य था। गोपियों के साथ—गोकुल की बालाओं के साथ—भाषा में, जो ब्रज-प्रांत में बोली जाती है—गायन हुआ[1]।"

श्री ग्रोटन ने उक्त रासोत्सव का शाब्दिक वृत्तांत ही नहीं लिखा, बल्कि उसका एक तैल-चित्र भी बनाया था, जो अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है। उस चित्र में उस काल के रासोत्सव की बड़ी भव्य झाँकी दिखलाई देती है। उसमें दिखलाया गया है,—"शामियाने के मध्य में कृष्ण और गोपियाँ नृत्य कर रही हैं, उनके वस्त्र वैसे ही हैं, जैसे आज भी ब्रज की रास लीला में प्रचलित हैं। उनके बाईं ओर संगीत-समाज सुशोभित है। उसमें कुछ गायक ऐसे वाद्य बजाते हैं, जिनका प्रचलन अब नहीं रहा है। दाईं ओर महाराजा अपने सिंहासन पर विराजमान हैं। उनके निकट उनके शरीर-रक्षक खड़े हैं और विशेष अतिथि बैठे हुए हैं[2]।"

**ग्राउस का कथन**—रास लीला के तीसरे विदेशी दर्शक श्री एफ० एस० ग्राउस थे, जो सन् १८७२ से १८७७ तक मथुरा के जिलाधीश रहे थे। उससे पहिले वे कुछ समय तक ज्वाइंट मजिस्ट्रेट भी रह चुके थे। वहाँ के संस्मरणों से संबंधित उन्होंने अपना जो विख्यात ग्रंथ लिखा था, उसमें उन्होंने रास और रासधारियों के संबंध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—"रास लीला एक अलिखित धार्मिक रूपक है, जिसमें श्री कृष्ण के जीवन की सर्वाधिक लोकप्रसिद्ध घटनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं, जो मध्यकालीन यूरोप के चमत्कारिक नाटकों से बहुत कुछ मिलती हैं। उन प्रदर्शनों का आयोजन मथुरा जिला के करहला और पिसाया गाँवों में रहने वाले ब्राह्मणों के एक वर्ग द्वारा किया जाता है, जो 'रासधारी' कहलाते हैं। उनकी जीविका का आधार रास लीला के अतिरिक्त और दूसरा नहीं होता है[3]।"

श्री ग्राउस ने रास लीला के प्रदर्शन से संबंधित कुछ भ्रमात्मक कथन भी किया है। उन्होंने लिखा है—"रास मंडली का स्वामी और उसके साथी गायक और वादक गण रास के प्रदर्शन में सामूहिक रूप से भाग लेते हुए स्वयं वार्ता भी करते हैं, जब कि राधा और कृष्ण के स्वरूप बनने वाले बालक केवल मूक अभिनय ही करते हैं[4]।" कहने की आवश्यकता नहीं है, श्री ग्राउस का उक्त कथन ठीक नहीं है। रास मंडली का स्वामी और उसके साथी गण अतिरिक्त गायन-वादन ही करते हैं, जब कि स्वरूप बनने वाले बालक स्वयं ही कथोपकथन, वार्ता और अभिनय करते हैं। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उनकी भूल का कारण संभवतः यह है कि उन्होंने केवल एक बार ब्रज के संकेत नामक स्थान पर कुछ समय के लिए बिहार-लीला का रास देखा था। उस समय संभवतः राधा-कृष्ण के स्वरूपों की बजाय रास मंडली वाले ही वार्ता कर रहे होंगे। इस प्रकार की भूल डाउ और ग्रोटन ने नहीं की है। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि राधा-कृष्ण के स्वरूप स्वयं कथोपकथनपूर्ण अभिनय करते थे।

---

(१) रासलीला के विदेशी दर्शक, ( पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ ), पृ० ७१८–७१९
(२) वही ( ,, ), पृ० ७१८
(३) मथुरा—ए डिस्ट्रिक्ट मेमोयर ( तृ० सं० ), पृ० ७६
(४) वही ( ,, ), पृ० ८०

**नारविन हवेन का कथन**—उक्त तीनो विदेशी दर्शको के रास लीला सवधी उल्लेखो की समीक्षा करते हुए येन विश्वविद्यालय ( अमरीका ) के प्राध्यापक श्री नारविन हर्डन हवेन ने लिखा है—"इन तीनो लेखको की कृतियो का मूल्य इस बात मे नही है कि वे किसी सत्य का उद्घाटन करते है, वरन् वे हमारे ध्यान को मथुरा प्रात की इस अपूर्व नाट्य कला की ओर आकर्षित करते है, जो परपरा से वहाँ चली आ रही है और कला की दृष्टि से जिसका परम मूल्य है। वे लेखक अत्यत विद्वान् और प्रतिभाशाली मनुष्य थे । उनका कथन प्रभाव पूर्ण है। उन तीनो ने रास लीला की मुक्त कठ से प्रशसा की है। जिन लीलाओ को उन्होने देखा, वे सागोपाग उन्हे अच्छी लगी। वस्त्र–परिधान के विषय मे वे लिखते है, 'वे अत्यत आकर्षक, रग-बिरगी और सुदर थे। मडली का प्रत्येक पात्र अपना अभिनय सफलता से और प्रवाह-पूर्ण रीति से करता था।' रासधारियो के सगीत पर तो हमारे लेखक मुग्ध थे। हम जानते है कि विदेशियो के लिए किसी देश का सुदर से सुदर और भाव-पूर्ण सगीत भी कोई अर्थ नही रखता। वह उसका आनद उपलब्ध नही कर सकते और न अपने शब्दो मे उसके स्वाद को व्यक्त कर सकते है। विदेशी सगीत सदैव प्रशसा और श्रद्धा से वचित रहता है, किंतु रास लीला को इसका गर्व है। इन लेखको ने उसके सगीत की प्रशसा मे कहा है कि 'रासधारियो का स्वर कोमल है, सजा हुआ है और आकर्षक है।' मुझे यह और कहने का साहस है कि इन लेखको ने ऐसा लिख कर कोई अतिशयोक्ति अथवा भूल नही की है—नही इससे भी अधिक यह कहना आवश्यक है—'बालक अभिनेताओ के कथोपकथन अत्यत शुद्ध और पूर्ण होते थे वे भाव के शुद्ध वाहक थे। जिन स्वाभाविक उत्साह से वे बालक अभिनय करते थे—वार्तालाप करते थे, उसमे उन बालको के शिक्षको का धैर्य और प्रतिभा परिलक्षित होती थी और अत मे यह भी कह देना अनुचित नही है कि यद्यपि ये लीलाएँ, अतीव भक्ति पूर्ण हैं, तथापि इनमे आनद और प्रमोद का पर्याप्त अवकाश है।' अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी मे हिंदू जाति की कला और कलात्मक जीवन दोनो निम्न स्तर पर थे। विद्वद्वर्ग भी अपने प्राचीन साहित्य को भूल गया था। सामान्य जीवन मे प्राचीन कलाओ का कोई सूत्र तत्सबधित नही था। जन–रुचि कुठित हो गई थी, किंतु ऐसे समय भी रास लीला ने जनता से सन्मान और श्रद्धा प्राप्त की थी[1]।"

## रास लीला का वर्तमान रूप–विधान—

रास के पूर्वोक्त उल्लेखो से उसके वर्तमान स्वरूप की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि उसके रूप–विधान मे तब से अब तक कोई बडा परिवर्तन नही हुआ है, यद्यपि उसका स्तर गिर गया है। इस समय रास लीला का प्रदर्शन दो खडो मे किया जाता है, जिन्हे **'नित्य रास'** और **'लीला'** कहा जाता है। 'नित्य रास' को नृत्य की और 'लीला' को सगीत-नाट्य की श्रेणी मे रखा जा सकता है। यहाँ इन दोनो के वर्तमान स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

**'नित्य रास' का नृत्य-विधान**—नित्य रास के अतर्गत किये जाने वाले नृत्य के विधान अथवा उसकी शैली का कोई प्राचीन लिखित विवरण उपलब्ध नही है। रासधारियो के पुराने घरानो मे इसे परपरा से मौखिक रूप मे सुरक्षित रखा गया है। रास मडली के 'स्वामी' रास के स्वरूप बनने वाले बालको को बचपन से ही इसकी शिक्षा देते है। श्री सूर्यप्रकाश शर्मा ने

---

(१) रास लीला के विदेशी दर्शक ( पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृ० ७१६ )

ब्रज के रासधारी श्री लक्ष्मण स्वामी की सहायता से इसे लिखित रूप मे प्रकाशित किया था[1]। तत्पश्चात् श्री गोकुलचद स्वामी ने उसी को कुछ परिष्कृत रूप मे प्रस्तुत किया है[2]। हम यहाँ पर उसका कुछ अश उद्धृत करते है—

"आरभिक गीत के समाप्त होने पर श्री राधा—कृष्ण के स्वरूप परस्पर गलबहियाँ डाले रास मडल पर नृत्य करने को उद्यत होते है। साथ मे सखियाँ भीउठ खडी होती है। श्री जी (राधा) और ठाकुर जी ( कृष्ण ) आमने—सामने रहते है और सखियाँ बीच मे। रास मडली के स्वामी जी अपने परिकर के साथ गान—वाद्य आरभ करते है और उसी की ताल पर नृत्य भी आरभ हो जाता है। पहिले श्री जी, ठाकुर जी तथा सखी गण कुछ नही गाते, केवल नृत्य करते रहते है। वे मडलाकार चलते है और हाथो को फैलाए हुए पग ताल देते जाते है। उस समय समाजी पद गाते है। एक पद इस प्रकार है—

**नाँचत रास में रास-बिहारी। नँचवत है ब्रज की सब नारी।**
**तादीम-तादीम तत-तत थेई-थेई, थुंगन-थुंगन देत गति न्यारी॥**

इस गीत को पहले विलवित लय मे गाते है फिर दुगन मे। दुगन ताल होते ही श्री ठाकुर जी, श्री जी तथा सखीवृद एक दम पैरो की ताल को बढा कर चक्कर खाना आरभ कर देते है। चार या पाँच चक्कर खाकर सब नियमानुसार ( श्री जी के सामने ठाकुरजी, बीच-बीच मे सखियाँ ) घुटनो के बल बैठ जाते है और वाद्यो की ताल के अनुसार हाथो को कई प्रकार से नँचा-नँचा कर भाव-प्रदर्शन करते है। सग मे मुख, कमर आदि अगो से भी भाव-नाट्य करते है, फिर सब एक पक्ति मे खडे हो जाते है। श्री ठाकुर जी के बाँई ओर श्री जी तथा दोनो ओर सखियाँ रहती हैं। इसके पश्चात् निम्नलिखित तालो पर ठाकुरजी, श्री जी तथा सखी अलग-अलग नाँचते है। पहले ठाकुर जी, फिर श्री जी और अत मे एक-एक या दो-दो सखियाँ। सबसे पहले पुराने गीत को ही, जिसकी ताल दुगन के स्थान पर अब चौगुनी कर देते है, स्वामी जी इस प्रकार गाते है—

"ततता थेई ततता थेई ततता थेई।"

इसके बोलते ही श्री ठाकुर जी पग-ताल देते हुए पक्ति से निकल पडते है और लगभग चार-पाँच डग आगे फिर कर श्रीजी की ओर मुँह करके खडे होते है। वे वाद्य पर पग-ताल देते, कूदते और फुदकते है। हाथो से वे स्वामी जी द्वारा गाए जाने वाले निम्नलिखित गीत पर नृत्य करते है। श्री कृष्ण के नृत्य का परमूल निम्न है—

**तिटक तिटक धिलांग, धिकतक, तोदीम धिलाग, तकतो।**
**ता धिलाग, धिग धिलांग, धिकतक, तोदीम तोदीम, धेताम धेताम॥**
**धिलाग धिलाग धिलग, तक गदगिन थेई। ततता थेई, ततता थेई, तत तता थेई॥**

श्री कृष्ण के उपरात राधिका जी नृत्य करती है। उनका परमूल इस प्रकार है—

**तात् त्रग, थुन थुन तो, धिकतू त्रंग, थुन थुन तो।**
**ता थुन थुन, धिक थुन थुन, धिक तक, थुंग थुग तक॥**
**थुग थुंग तक, थुग थुग थुंग तक गदगिन थेई। ततता थेई, ततता थेई, ततता थेई॥**

---

(१) ब्रज भारती, ( वर्ष १४, अक २—भाद्रपद स० २०१३
(२) रासलीला : एक परिचय, ( पृ० ६५—७१ )

**नारविन ह्वेन का कथन**—उक्त तीनो विदेशी दर्शको के रास लीला सबंधी उल्लेखो की समीक्षा करते हुए येन विश्वविद्यालय ( अमरीका ) के प्राध्यापक श्री नारविन हूईन ह्वेन ने लिखा है—"इन तीनो लेखको की कृतियो का मूल्य इस बात मे नही है कि वे किसी सत्य का उद्घाटन करते है, वरन् वे हमारे ध्यान को मथुरा प्रात की इस अपूर्व नाट्य कला की ओर आकर्षित करते है, जो परपरा से वहाँ चली आ रही है और कला की दृष्टि से जिसका परम मूल्य है। वे लेखक अत्यत विद्वान् और प्रतिभाशाली मनुष्य थे। उनका कथन प्रभाव पूर्ण है। उन तीनो ने रास लीला की मुक्त कठ से प्रशसा की है। जिन लीलाओ को उन्होने देखा, वे सागोपाग उन्हे अच्छी लगी। वस्त्र–परिधान के विपय मे वे लिखते है, 'वे अत्यत आकर्षक, रग-बिरगी और सु दर थे। मडली का प्रत्येक पात्र अपना अभिनय सफलता से और प्रवाह-पूर्ण रीति से करता था।' रासधारियो के सगीत पर तो हमारे लेखक मुग्ध थे। हम जानते है कि विदेशियो के लिए किसी देश का सु दर से सु दर और भाव-पूर्ण सगीत भी कोई अर्थ नही रखता। वह उसका आनद उपलब्ध नही कर सकते और न अपने शब्दो मे उसके स्वाद को व्यक्त कर सकते है। विदेशी सगीत सदैव प्रशसा और श्रद्धा से वचित रहता है, किंतु रास लीला को इसका गर्व है। इन लेखको ने उसके सगीत की प्रशसा मे कहा है कि 'रासधारियो का स्वर कोमल है, मजा हुआ है और आकर्षक है।' मुझे यह और कहने का साहस है कि इन लेखको ने ऐसा लिख कर कोई अतिशयोक्ति अथवा भूल नही की है—नही इससे भी अधिक यह कहना आवश्यक है—'बालक अभिनेताओ के कथोपकथन अत्यत शुद्ध और पूर्ण होते थे वे भाव के शुद्ध वाहक थे। जिस स्वाभाविक उत्साह से वे बालक अभिनय करते थे—वार्तालाप करते थे, उसमे उन बालको के शिक्षको का धैर्य और प्रतिभा परिलक्षित होती थी और अत मे यह भी कह देना अनुचित नही है कि यद्यपि ये लीलाएँ, अतीव भक्ति पूर्ण हैं, तथापि इनमे आनद और प्रमोद का पर्याप्त अवकाश है।' अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी मे हिंदू जाति की कला और कलात्मक जीवन दोनो निम्न स्तर पर थे। विद्वद्वर्ग भी अपने प्राचीन साहित्य को भूल गया था। सामान्य जीवन मे प्राचीन कलाओ का कोई सूत्र तत्सबधित नही था। जन–रुचि कु ठित हो गई थी, किंतु ऐसे समय भी रास लीला ने जनता से सन्मान और श्रद्धा प्राप्त की थी[१]।"

## रास लीला का वर्तमान रूप–विधान—

रास के पूर्वोक्त उल्लेखो से उसके वर्तमान स्वरूप की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि उसके रूप–विधान मे तब से अब तक कोई बडा परिवर्तन नही हुआ है, यद्यपि उसका स्तर गिर गया है। इस समय रास लीला का प्रदर्शन दो खडो मे किया जाता है, जिन्हे **'नित्य रास'** और **'लीला'** कहा जाता है। 'नित्य रास' को नृत्य की और 'लीला' को सगीत-नाट्य की श्रेणी मे रखा जा सकता है। यहाँ इन दोनो के वर्तमान स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

**'नित्य रास' का नृत्य-विधान**—नित्य रास के अतर्गत किये जाने वाले नृत्य के विधान अथवा उसकी शैली का कोई प्राचीन लिखित विवरण उपलब्ध नही है। रासधारियो के पुराने घरानो मे इसे परपरा से मौखिक रूप मे सुरक्षित रखा गया है। रास मडली के 'स्वामी' रास के स्वरूप बनने वाले बालको को बचपन से ही इसकी शिक्षा देते है। श्री सूर्यप्रकाश शर्मा ने

---

(१) रास लीला के विदेशी दर्शक ( पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृ० ७१६ )

ब्रज के रासधारी श्री लक्ष्मण स्वामी की सहायता से इसे लिखित रूप मे प्रकाशित किया था[१]। तत्पश्चात् श्री गोकुलचद स्वामी ने उसी को कुछ परिष्कृत रूप मे प्रस्तुत किया है[२]। हम यहाँ पर उसका कुछ अश उद्धृत करते हैं—

"आरभिक गीत के समाप्त होने पर श्री राधा–कृष्ण के स्वरूप परस्पर गलवहियाँ डाले रास मडल पर नृत्य करने को उद्यत होते है। साथ मे सखियाँ भीउठ खडी होती है। श्री जी (राधा) और ठाकुर जी ( कृष्ण ) आमने–सामने रहते है और सखियाँ बीच मे। रास मडली के स्वामी जी अपने परिकर के साथ गान–वाद्य आरभ करते है और उसी की ताल पर नृत्य भी आरभ हो जाता है। पहिले श्री जी, ठाकुर जी तथा सखी गण कुछ नही गाते, केवल नृत्य करते रहते है। वे मडलाकार चलते है और हाथो को फैलाए हुए पग ताल देते जाते है। उस समय समाजी पद गाते है। एक पद इस प्रकार है—

**नॉचत रास मे रास-बिहारी। नँचवत है ब्रज की सब नारी।**
**तादीम-तादीम तत-तत थेई-थेई, थुंगन-थुंगन देत गति न्यारी॥**

इस गीत को पहले विलबित लय मे गाते है फिर दुगन मे। दुगन ताल होते ही श्री ठाकुर जी, श्री जी तथा सखीवृद एक दम पैरो की ताल को बढा कर चक्कर खाना आरभ कर देते है। चार या पाँच चक्कर खाकर सब नियमानुसार ( श्री जी के सामने ठाकुरजी, बीच-बीच मे सखियाँ ) घुटनो के बल बैठ जाते है और वाद्यो की ताल के अनुसार हाथो को कई प्रकार से नँचा-नँचा कर भाव-प्रदर्शन करते है। सग मे मुख, कमर आदि अगो से भी भाव-नाट्य करते है, फिर सब एक पक्ति मे खडे हो जाते है। श्री ठाकुर जी के बाँई ओर श्री जी तथा दोनो ओर सखियाँ रहती है। इसके पश्चात् निम्नलिखित तालो पर ठाकुरजी, श्री जी तथा सखी अलग-अलग नाँचते है। पहले ठाकुर जी, फिर श्री जी और अत मे एक-एक या दो-दो सखियाँ। सबसे पहले पुराने गीत को ही, जिसकी ताल दुगन के स्थान पर अब चौगुनी कर देते हैं, स्वामी जी इस प्रकार गाते है—

"ततता थेई ततता थेई ततता थेई।"

इसके बोलते ही श्री ठाकुर जी पग-ताल देते हुए पक्ति से निकल पडते है और लगभग चार-पाँच डग आगे फिर कर श्रीजी की ओर मुँह करके खडे होते है। वे वाद्य पर पग-ताल देते, कूदते और फुदकते ह। हाथो से वे स्वामी जी द्वारा गाए जाने वाले निम्नलिखित गीत पर नृत्य करते है। श्री कृष्ण के नृत्य का परमूल निम्न है—

**तिटक तिटक धिलाग, धिकतक, तोदीम धिलाग, तकतो।**
**ता धिलाग, धिग धिलांग, धिकतक, तोदीम तोदीम, धेताम धेताम॥**
**धिलांग धिलाग धिलग, तक गदगिन थेई। ततता थेई, ततता थेई, तत तता थेई॥**

श्री कृष्ण के उपरात राधिका जी नृत्य करती है। उनका परमूल इस प्रकार है—

**तात् त्रग, थुन थुन तो, धिकतू त्रंग, थुन थुन तो।**
**ता थुन थुन, धिक थुन थुन, धिक तक, थुंग थुग तक॥**
**थुग थुंग तक, थुग थुग थुंग तक गदगिन थेई। ततता थेई, ततता थेई, ततता थेई॥**

---

(१) ब्रज भारती, ( वर्ष १४, अक २—भाद्रपद स० २०१३
(२) रासलीला : एक परिचय, ( पृ० ६५–७१ )

फिर श्री जी अपने स्थान पर जाकर खडी हो जाती है और सखियाँ एक-एक करके पग ताल देती हुई नृत्य करती हैं और उसी प्रकार ४–५ डग चल कर घूम कर श्री जी तथा ठाकुर जी की ओर मुँह करके नीचे वाले गीत पर हाथो के भाव के साथ कुदक–कुदक कर नृत्य करने लगती हैं। उनके नृत्य का परमूल यह है—

तत्तुक दम, धिरकिट तक, तिरकिट, नगं नगं, तू तू त्रान तो।
तत्तुक दम, धिरकिट तक, तिरकिट, नग नगं, तू तू त्रान तो ॥
ता त्रिग, ता ता त्रिग, तत्थुगं धुगं, तत्थुगं धुगं, धुंग धुंग धुंग तक, गदगिन थेई।
ततता थेई, ततता थेई, ततता थेई ॥

उक्त परमूल श्री कृष्ण के मुख्य नृत्य के हैं। इन परमूलो के बोले जाने पर अपनी पक्ति के समीप पहुँचते हुए श्री ठाकुर जी पीठ की ओर फिर पगताल देते हुए उलटा चल कर अपने स्थान पर, ( पक्ति से ४–५ कदम हट कर ) फिर आ जाते हैं और उक्त बोलो पर एक घुटने के बल बैठ कर हाथो के भाव तीन बार दिखाते है। श्री कृष्ण के नृत्य के बाद सभी स्वरूप निम्न परमूलो पर सामूहिक नृत्य करते हैं—

थेई थेई थेई थेई थेई, तत्त थेई थेई। थेई थेई थेई थेई थेई थेई थेई ता ॥

उक्त परमूल की अतिम पक्ति पर 'ता' बोलते ही सब सिंहासन पर जाकर विराज जाते है। यह हुआ 'नित्य-रास' का प्रथम भाग। उसके उपरात इनका दूसरा भाग आरभ होता है, जिसमे नृत्य के साथ गायन भी होता है। ठाकुर जी के विराज जाने पर स्वामी जी **'नाँचत रास मे रास बिहारी'** जैसा कोई पद बोलते हैं। उनको सुनते ही श्री ठाकुर जी चुपचाप नीचे उतर ४–५ पग आकर घूम कर श्री जी की ओर मुँह करके हौले–हौले कदम रखते हुए चलते हैं। सिंहासन पर श्री जी के सामने खडे होकर उनका शृंगार ठीक करते हैं—मुकुट, साडी, माला, कुंडल इत्यादि सँभालने लगते हैं। फिर गीत समाप्त होने पर श्री जी को हाथ जोड़ कर अपने स्थान पर बैठ जाते है।

उसके पश्चात् श्री ठाकुर जी श्री जी तथा सखीवृंद को विश्राम देने के अर्थ स्वामी जी तथा रास के वाद्य-वादक बारी बारी से भक्ति रस के दोहे, पद, सवैया, कवित्त आदि बोलते हैं। थोडे से विश्राम के पश्चात् जब सब गा चुकते हैं, तब स्वामी जी 'ततता थेई' बोलते हैं। इसे सुनते ही सभी स्वरूप सिंहासन से नीचे आ जाते हैं, और तब रास का सामूहिक गायन और उसके साथ नृत्य आरभ होता है। रास का वाद्य-वृंद स्वरूपो की संगति करता है और कभी-कभी समाजी लोग स्वरूपो के गीत के साथ-साथ स्वय भी गाते हे। इसी समय कभी-कभी डडो पर भी नृत्य व गायन होता है। कभी वेणी गूँथने का नृत्य होता है कभी श्री कृष्ण और राधा जी नाँचते हैं, कभी सखियाँ भी मिल कर नाँचती है। इनके न्यारे-न्यारे गीत हैं।

राधा और कृष्ण के युगल नृत्य का एक पद इस प्रकार है। इस पद के गायन पर राधा-कृष्ण क्रम से नाँचते हैं और सखियाँ गायन करती हैं—

( श्री ठाकुर जी के नृत्य के समय )

**नाँचै छबीलौ ब्रजराज छूम छन न न न न न न।**
**ना ता थेई, ता ता थेई, चरन चपल आली ॥ नाँचै छबीलौ० ॥**

( श्री राधिका जी के नृत्य के समय )

**नॉचै छबीली राधिका, छूम छन न न न न न न ।**
**ता ता थेई, ता ता थेई, चरन चपल आली ।। नॉचै छबीली० ।।**

आगे का यह भाग दोनो ही नृत्य के आरभिक बोलो के साथ क्रमश दुहराया गया है—

**सजनी रजनी सरद, सरद ऋतु आज सुफल आली ।। नाँचै० ।।**

इसी प्रकार निम्न गीत सभी स्वरूप सामूहिक रूप से डडा बजा कर गाते व गोलाकार नृत्य करते है—

**ए घनश्याम सुदर स्याम हमारौ प्यारौ री ।**
**आनन-प्यारो, छल-बल वारौ, नैनन की सेनन सो चितवा चुराय लियौ, जादू मोपै डारौ री ।**
**मोर–मुकुट माथे पै सोहै । कुंडल हलन चलन मन मोहै ।।**
**धा किट, धुम किट, तकिट तका । तक धुम किट, धुम किट तक धा ।।**
**लेत अलापन प्यारौ री ।।**

अत मे अब एक सामूहिक नृत्य का पद और देखे । ऐसे गीतो मे सभी—ठाकुर जी, श्री जी तथा सखी वृद पक्ति मे खडे होकर गाते है । पक्ति मे ही पग-ताल देते हुए तथा हाथो से भाव दर्शाते हुए कुछ दूर ४–५ कदम आगे आते है और पग-ताल देते हुए ही पीछे हट कर फिर वही जा कर खडे हो जाते है । गीत इस प्रकार है—

**( हॉजी ) रच्यौ रास-रंग, ( हॉजी ) रच्यौ रास-रंग, स्याम सबहिन सुख दीनो ।**
**मुरली-धुनि कर प्रकास, खग-मृग सुन रस उदास, युवतिन तज गेह-बास बनहि गबन कीनो ।।**
**मोहे सुर, असुर, नाग, मुनि-जन मन गये जाग, सिव, सारद नारदादि, थकित भये ग्यानी ।**
**अमरागन, अमर-नारि, आईं लोकन बिसारि, ओक लोक त्याग कहत धन्य-धन्य बानी ।।**
**थकित भयौ गति समीर, चद्रमा भयौ अधीर, तारागन लज्जित भये, मारग नहि पावै ।**
**उलटि जमुना बहत धार, सुंदर तन सज सिगार, 'सूरज' प्रभु संग नारि, कौतुक उपजावै ।।हॉजी।।**

इस प्रकार रास का सभी सगीत ब्रजभापा के प्राचीन 'वाणी साहित्य' की मूल्यवान निधि है । नृत्य और गायन के इस क्रम के साथ 'लाडिली लाल' की जय-घोप होती है और नित्य-रास समाप्त होता है । 'नित्य-रास' के बाद फिर भगवान् की कोई ब्रज-लीला समयानुसार की जाती है । सक्षेप मे यही 'नित्य-रास' की परिपाटी है[1] ।"

**लीला का नाट्य-विधान**—नित्य रास के पश्चात् होने वाले 'लीला' खड मे श्री कृष्ण की ब्रज–लीलाओ का अभिनय किया जाता है । इन लीलाओ को 'सगीत–नाट्य' अथवा 'गेय रूपक' कहना उचित होगा । इनका नाट्य–विधान किसी प्रकार की नाटकीय जटिलता से रहित एक दम सीधा–साधा है, जो अपने धार्मिक परिवेश के कारण दर्शको को सरलता से आकृष्ट कर लेता है । इसका विस्तृत वर्णन करते हुए श्री सुरेश अवस्थी ने लिखा है—

"इन लीला-नाटको के कुछ छोटे-छोटे वडे ही रोचक नियम है, जिनकी इनके साथ पूरी सगति है और जिनमे वडी नाटकीय शक्ति निहित है ।

---

(१) नित्य रास, ( रास लीला एक परिचय, पृ० ६७–७१ )

इनका कोई निर्मित, औपचारिक रगमच नही होता। दो तीन चौकी, कुर्सियाँ या तख्त डाल कर स्वरूपो के बैठने के लिए एक आसन बना दिया जाता है। उसके सामने का स्थान नाटक का अभिनय-क्षेत्र बन जाता है, उसी मे सम धरातल पर 'समाजी' और दर्शक बैठ जाते है। लीलाओ के इस अनौपचारिक रगमच का विधान—मदिरो के गर्भ-गृह और प्रागणो से लेकर नदी किनारे के घाटो, फुलबगियो और गृहस्थो के आँगनो तथा बरामदो मे कही भी किया जा सकता है। रगमच की इस अनौपचारिकता से ही इस नाटक के प्रदर्शन की युक्तियाँ, नियम और रूढियाँ निकलती है। अभिनय-क्षेत्र मे किसी प्रकार की रग-सज्जा अथवा दृश्य—उपकरणो द्वारा उसे घटना-स्थल की विशिष्टि नही दी जाती, अत घर से कुज, अथवा कुजो से यमुना तट, या गोकुल से मथुरा किसी प्रकार के स्थान—परिवर्तन मे कोई कठिनाई नही होती और नाटक का सूत्र भी नही टूटता। पात्र सहज ही पद का गायन करते हुए स्थान अथवा प्रसग के परिवर्त्तन की सूचना दे देते हैं। क्षण भर मे घटनास्थल बदल जाता है और इससे दर्शको की प्रतीति को भी कोई आघात नही पहुँचता।

लीला—नाटको की रगस्थली की इस अनौपचारिकता के कारण ही पात्र सहज भाव से नाटकीय स्थिति की आवश्यकतानुसार रगस्थली मे चले आते है और अपने सवादो का गायन करके तथा प्रसग की एक कडी पूरी करके चले जाते है। नाटको की कथाएँ परिचित होने के कारण ही पात्रो के पारस्परिक सबधो और घटना-स्थल के सबध मे किसी प्रकार के परिचय और भूमिका की आवश्यकता नही पडती और इस रगमच के रूपगत स्वभाव के कारण ही ऐसा सभव होता है कि कथा—प्रसगो की छोटी—छोटी कडियाँ एक दूसरे के बाद ऐसी निर्बाध गति से जुड जाती हैं कि वस्तु सरचना मे किसी प्रकार की कमजोरी नही आने पाती और न दर्शको की ही प्रतीति खडित होती है। कभी-कभी तो नयी नाटकीय स्थिति का समावेश सहसा ही कर दिया जाता है और क्षण भर मे ही वह स्थिति नाटकीय-कथा के पूर्वापर से जुड जाती है।

रास-लीलाओ मे जो एक साधारण पर्दे—किसी चादर या शाल का प्रयोग किया जाता है—उसकी भी कई तरह की नाटकीय उपयोगिताएँ हैं और कई प्रकार के अवसरो पर उसका प्रयोग होता है। कथकली नाटको के समान ही रास—लीलाओ का पर्दा कोई भी दो रासधारी या समाजी या रसिक दर्शक हाथो मे पकड कर आसन के सामने तान कर खडे हो जाते है। कभी तो उसके पीछे अगले दृश्य के पात्र आकर खडे हो जाते है, कभी झाँकी सजायी जाती है और कभी आगामी दृश्य सजाया जाता है। कभी-कभी पात्रो के प्रवेश प्रस्थान के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार पर्दे का प्रयोग नाटक के कथा—व्यापार के परिवर्त्तन को व्यक्त करने की एक बडी सहज युक्ति है। झाँकी सजाने और उसका प्रदर्शन करने के समय तो इस पर्दे की बहुत बडी नाटकीय उपयोगिता है। झाँकियो के अवसर पर ही प्राय कृष्ण और राधा की रूप—वर्णना और उनके चरित्र सबधी अन्य सामान्य पदो का भी गायन होता है। अत एक तो इन झाँकियो का भावात्मक और कलात्मक महत्त्व है, क्यो कि वे दर्शको के रसानुभव को गहन करती है, दूसरे उनका व्यवहार—मूलक महत्त्व भी है, क्यो कि उनका लीलाओ के रूप-विधान मे बहुत महत्त्वपूर्ण योग-दान है। यदि कभी ये झाँकियाँ घटना-स्थल बदलने का भी सकेत देती हैं, तो कभी कथा के विकास और उसके नये चरण की सूचना देती है और कभी कोई प्रसग चित्रवत् प्रस्तुत करती है। इस प्रकार झाँकियो के विधान द्वारा लीला-नाटको को एक प्रकार से छोटे-छोटे नाट्य—खडो अथवा दृश्यो मे विभाजित कर लिया जाता है और पूरी लीला का ऐसा विभाजन ही नाटको को ऐसी प्रेक्षणीयता और दृश्यगत् रुचिरता देता है।

प्रदर्शन की दृष्टि से लीला-नाटको की अतिम और सब से बडी विशेषता, जो कि शायद सभी प्रकार के लोक-नाटको की विशेषता है, यह है कि उसमे दर्शको का सक्रिय सहयोग है। वह लीला के दर्शक मात्र ही नही रहते, बल्कि रगस्थली मे बैठे हुए पात्रो की अनेक मुद्राओ और सवादो के प्रत्युत्तर दे-देकर और बीच-बीच मे राधा कृष्ण की जय-जय करते हुए जैसे दर्शक के साथ-साथ स्वय नाटक के पात्र भी बन जाते है। जिस सहजता और आत्मीयता के साथ स्वरूप दर्शको के बीच से होकर रगस्थली मे आते-जाते है, उससे भी पात्रो मे दर्शको के तादात्म्य भाव को प्रश्रय मिलता है और उनकी अभिनयात्मक वृत्ति सहज ही प्रेरित होकर नाटक का रस लेती है[1]।"

**लीलाओ का साहित्य**—रास के लीला-नाटको का साहित्य ब्रज के भक्त-कवियो द्वारा रचा हुआ है, जो प्रचुर परिमाण मे उपलब्ध है। भक्त-कवियो के रास विषयक अगणित पद इन गेय नाटको मे जीवन डाल देते है। चाचा वृ दावनदास कृत 'छद्म लीलाएँ', विजय सखी कृत 'रास लीलाएँ' और ब्रजवासीदास कृत 'ब्रज विलास' इन लीला-नाटको के ऐसे साहित्यिक भडार है, जो कभी खाली नही होते। इनके आधार पर ब्रज के रासधारी गण सदा से इन लीलाओ का प्रदर्शन करते रहे है। गीत, वार्ता और कथनोपकथन के लिए सभी पात्र ब्रज भाषा का उपयोग करते है, जो श्रोताओ के कानो मे अमृत घोल देती है। इस प्रकार ये लीलाएँ ही वर्तमान काल मे रास का प्रमुख अग बनी हुई है।

**रास का संगीत**—जैसा पहिले लिखा गया है, रास किंवा रास लीला एक 'सगीत-नाट्य' अथवा 'गेय रूपक' है, इसलिए सगीत इस कला-रूप का प्राण है। किंतु स्वराकन प्रणाली का प्रचार न होने से रास के सगीत का मूल रूप स्थिर नही रह सका और जो रूप इस समय प्रचलित है, वह कई शताब्दियो के घात-प्रतिघातो के कारण विकृत एव दूषित हो गया है। फिर भी इसके साहित्यिक उल्लेखो के आधार पर सगीत के मूल रूप की रक्षा की जा सकती है। रास सबधी साहित्य मे उरप, तिरप, सुलप, लाग, डाट, ध्रुवा, छद, जाति, ग्राम और राग आदि पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग मिलता है। इन्ही के आधार पर रास के वर्तमान सगीत के परिष्कार का प्रयत्न होना चाहिए।

'सगीत'-सपादक श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग ने रास के सगीत की समीक्षा करते हुए लिखा है,—"रास सबधी उपलब्ध साहित्य मे उसके सगीत पक्ष का स्पष्टीकरण अत्यत सीमित शब्दो मे किया गया है, जिसके कारण रास के अनेक रूप आजतक गोपनीय एव अस्पष्ट बने हुए है, जिनके अनुसधान की आवश्यकता है। ध्रुवपद, धमार, होली तथा रसिया से रास का अभिन्न सबध है, किंतु आज जिस प्रकार के गान का समावेश रास मे किया जाता है, वह उसके सगीत का ठीक स्वरूप व्यक्त नही करता, वरन् जुगुप्सित भाव की सृष्टि करता है और रास के स्तर को गिराता है। जब तक सगीत द्वारा रास के रसिको की रसमय अवस्था न हो जाय, तब तक वह अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त नही कर सकता। ·· ध्रुवपद और जाति गायन रास सगीत के प्राण है, किंतु ध्रुवपद का अपभ्रष्ट रूप आज के रास सगीत मे पाया जाता है[2]।"

---

(१) **रास लीलाओ का रूप-विधान,** (रास लीला एक परिचय, पृ० ७३-७४)

(२) **रास लीला के नृत्य और सगीत,** (रास लीला एक परिचय, पृ० २१-२२)

**रास के वाद्य यत्र**—ब्रज के भक्त-कवियो की रचनाओ मे रास के जिन वाद्य यत्रो का नामोल्लेख मिलता है, उनमे ताल, मृदग, झाँझ, डफ, मुरली, मुरज, उपग, पखावज, अधौटी, शृ ग, मुहचग, मजीरा आदि उल्लेखनीय है। इनसे सबधित भक्त-कवियो की रचनाओ के कुछ अश इस प्रकार है—

१—बाजत ताल, मृदग, झाँझ, डफ, मुरली, मुरज, उपग। ( परमानद दास )
२—कसताल, कठताल बजावत, शृ ग मधुर मुहचग। ( सूरदास )
३—बाजत ताल, मृदग, अधौटी, वीना, मुरली, तानतरग। ( कु भनदास )
४—ताल, पखावज, बीन, बाँसुरी_ बाजत परम रसाल। ( गोविंद स्वामी )

उपर्युक्त वाद्य यत्रो मे से किन-किन का उपयोग रास लीला मे उन भक्त-कवियो के काल मे किया जाता था, इसके सबध मे प्रामाणिक रूप से कुछ भी कहना सभव नही है। वर्तमान काल मे जो थोडे से वाद्य यत्र काम मे लाये जाते है, उनमे सारगी, पखावज, हारमोनियम और मजीरा अधिक प्रचलित है।

## ब्रजभाषा का रास—साहित्य—

**रास-साहित्य का प्रेरणा-स्रोत**—श्रीमद् भागवत दशम स्कध के अध्याय २९ मे ३३ तक की **'रास पचाध्यायी'** ब्रजभाषा कवियो के रास सबधी साहित्य की प्रधान प्रेरणा—स्रोत रही है। कुछ कवियो ने पूरी 'रास पचाध्यायी' का कथन किया है, किंतु अधिकाश ने उसके आधार पर रास विषयक अनेक छोटे—बडे पदो की रचना की है। उक्त पदो मे कतिपय कवियो द्वारा मौलिक उद्भावनाएँ भी व्यक्त की गई हैं। इन सब रचनाओ मे रास के सरस वर्णन के साथ ही साथ नृत्य-गान—वाद्य के ताल—ध्वनि सबधी जिन सगीत शास्त्रोक्त पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग हुआ है, उनसे उनके काव्य—सौष्ठव और सगीत—ज्ञान का समान रूप मे परिचय मिलता है।

जिन कवियो ने रास के मुक्तक पदो के साथ पूरी 'रास पचाध्यायी' का भी वर्णन किया है, उनमे अष्टछाप के विख्यात भक्त-कवि सूरदास और नददास के नाम उल्लेखनीय है। वृ दावन के प्रसिद्ध रसिक भक्त हरिराम व्यास ( व्यास जी ) कृत एक लबे पद मे भी रास पचाध्यायी का कथन हुआ है। उस पद को भ्रमवश सूरदास की नाम—छाप के साथ 'सूरसागर' मे सम्मिलित कर दिया गया है और भूल से वह सूरदास की रचना समझा जाता रहा है। राधावल्लभ सप्रदाय के दामोदर स्वामी ने भी रास पचाध्यायी का विस्तृत वर्णन किया है, जो 'राधावल्लभ शृ गार रस सागर' के चतुर्थ खड मे मुद्रित है। नाभा जी ने कृष्णदास चालक नामक एक भक्त जन का वृत्तात लिखा है। उसने "गिरिराज धरण" की छाप से काव्य—रचना की थी। उसके द्वारा भी रास पचाध्यायी की रचना किये जाने का उल्लेख किया गया है[1]। उक्त कवियो के अतिरिक्त जिन्होने रास सबधी स्फुट पद रचे है, उनकी सख्या बहुत अधिक है।

ब्रजभाषा के भक्ति—साहित्य मे वल्लभ सप्रदायी कवियो की रास सबधी रचनाएँ काल—क्रम की दृष्टि से सबसे प्राचीन और परिमाण मे सबसे अधिक है। इस सप्रदाय के भक्त-कवियो ने श्रीनाथ जी के कीर्तन के लिए 'नित्योत्सव' और 'वर्षोत्सव' सबधी बहु सख्यक पदो की रचना की

---

(१) नाभा जी कृत 'भक्तमाल', छप्पय स० १२४
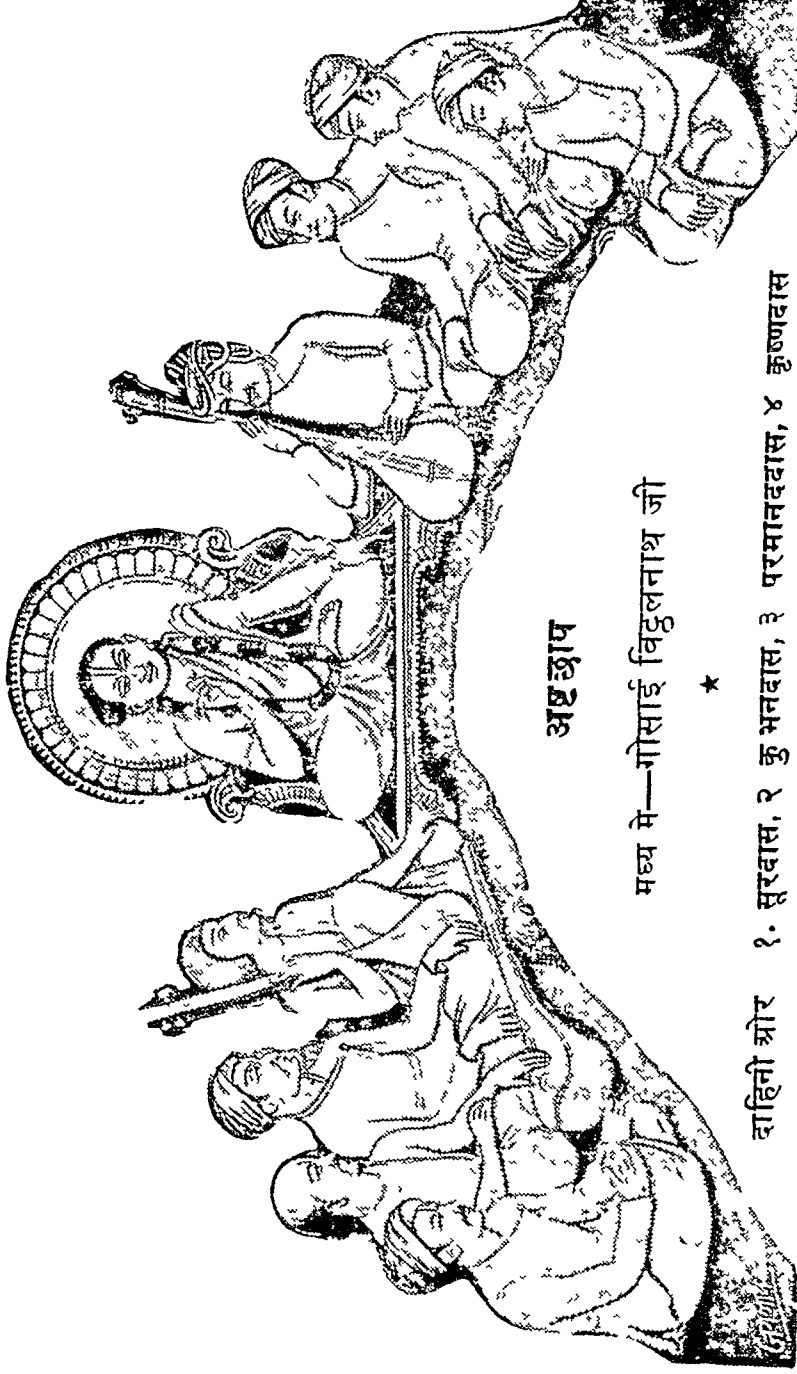
अष्टछाप

मध्य मे—गोसाई विट्ठलनाथ जी

★

दाहिनी ओर १. सूरदास, २ कुंभनदास, ३ परमानददास, ४ कृष्णदास

बायी ओर—५ गोविंदस्वामी, ६ छीतस्वामी, ७ चतुर्भुजदास, ८ नददास
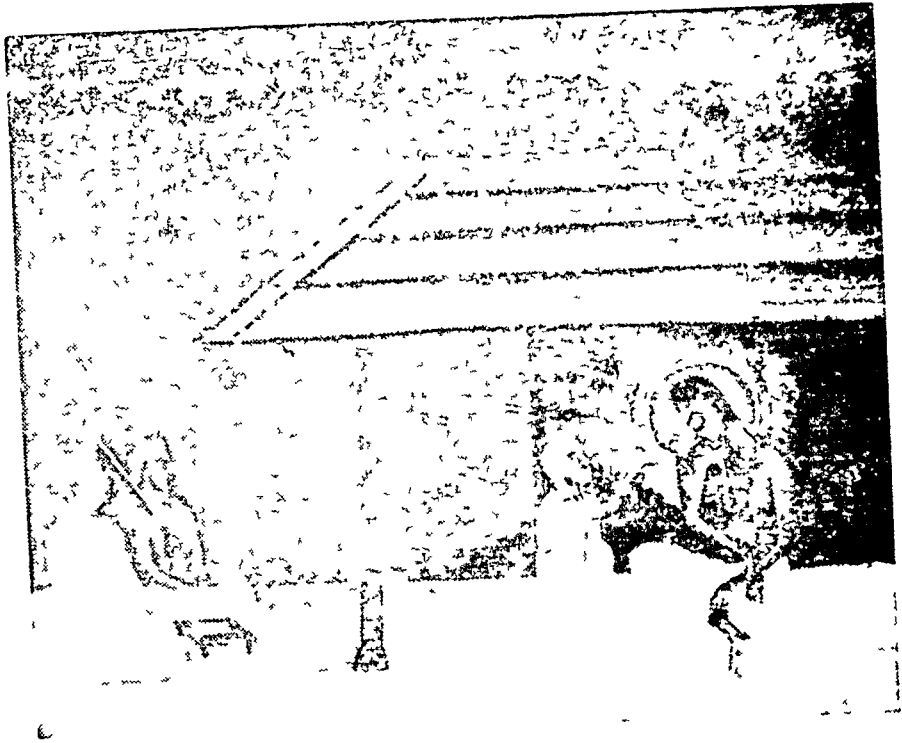
सूरदास
( भावावेश की मुद्रा में )

थी। उनमे शरद ऋतु के उत्सवो मे रास के भी विपुल पद है। इस प्रकार से सेवा विषयक पदो की परपरा श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा गोवर्धन मे श्रीनाथ जी की सेवा प्रचलित किये जाने के काल स० १५५६ से ही मिलती है। उसी काल मे कुंभनदास जी श्रीनाथ जी के सर्व प्रथम कीर्तनकार नियुक्त हुए थे। उनके बाद स० १५६७ मे सूरदास जी और कृष्णदास जी तथा स० १५७७ मे परमानद दास जी भी वहाँ उसी कार्य के लिए नियुक्त किये गये थे। अष्टछाप के उन चारो वरिष्ठ भक्त–कवियो ने वृंदावन के भक्ति–सप्रदायो द्वारा रास के प्रचार का आयोजन करने मे पूर्व ही रास सबधी प्रचुर साहित्य प्रस्तुत कर दिया था। उनके बाद अष्टछाप के शेष चार सर्वश्री गोविद-स्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नददास ने भी रास के पदो की रचना की थी। हम यहाँ पर उनकी क्रमानुसार चर्चा करेगे।

**कुंभनदास**—वे अष्टछाप के वयोवृद्ध कवि और श्री वल्लभाचार्य जी के आरभिक शिष्यो मे से थे। उनकी रचनाओ का सकलन काकरोली विद्या विभाग से प्रकाशित हुआ है, जिनमे उनके रास सबधी २२ पद भी है। उनमे से एक पद यहाँ दिया जाता है—

**रास में गोपाल लाल नॉचत मिलि भामिनी।**
**अंस-अंस भुजनि मेलि, मंडल मधि करत केलि, कनक-बेलि मनु तमाल स्याम सग स्वामिनी॥**
**उरप-तिरप, लाग-डाट, ग्रग्र-ताता थेई-थेई थाट, सुघर सरस राग तैसी ए सरद जामिनी।**
**'कुंभनदास' प्रभु गिरिधर नटवर-वपु-भेष धरें, निरखि-निरखि लज्जित कोटि काम-कामिनी॥**

**सूरदास**—वे अष्टछाप के साथ ही साथ ब्रज साहित्य के भी मुकुटमणि माने जाते है। उन्होने रास सबधी पदो को सर्वाधिक सख्या मे रचा है और इस विषय का अत्यत विस्तृत वर्णन किया है। उनके रचे हुए रास के प्राय २०० पद नागरी प्रचारिणी सभा के सूरसागर मे सकलित है। उनके अतिरिक्त वर्षोत्सव की कीर्तन–पोथियो मे भी इस विषय के अनेक पद मिलते है। उनकी एक रचना 'सूर सारावली' मे भगवान् श्री कृष्ण के 'नित्य रास' का कथन किया गया है। इस प्रकार रास का इतना विस्तृत कथन करने पर भी वे उसे अपर्याप्त मानते हैं। उन्होंने तन्मयता से अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा है—

**रास रस-रीति नहि बरनि आवै।**
**कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै॥**

कुछ व्यक्तियो ने रास के प्रति शका करते हुए कहा है कि श्री कृष्ण द्वारा ब्रज-बालाओ के साथ क्रीडा करना लौकिक दृष्टि से उचित नही था। किंतु वे लोग भूल जाते है कि भगवान् श्री कृष्ण की वह गूढ लीला लौकिक न होकर सर्वथा अलौकिक और आध्यात्मिक थी। गोपियो का श्री कृष्ण के पास रास-क्रीडा के लिए आतुर भाव से जाने का अभिप्राय जीवात्माओ का परमात्मा की ओर उन्मुख होना है। किंतु फिर भी सूरदास ने रास के बीच मे ब्रज बालाओ का कृष्ण के साथ विवाह करा कर लौकिक दृष्टि से भी इस प्रसग को उचित बना दिया है। उक्त प्रसग भागवत मे न होकर ब्रह्मवैवर्त पुराण मे है। सूरदास ने उसका कथन करते हुए कहा है, जिसे व्यास मुनि ने 'रास' कहा है, वह वस्तुत. श्री कृष्ण का गधर्व विवाह है—

**जाको व्यास बरनत रास।**
**है गंधर्व विवाह, चित दै सुनौ विविध बिलास॥**

सूरदास ने कुछ पदो मे समस्त 'रास पचाध्यायी' का सागोपाग कथन किया है और अनेक छोटे-बडे पदो मे उसका साराश दिया है। उनके बहु सख्यक पदो मे से केवल एक यहाँ दिया जाता है— नृत्यत हैं दोउ स्यामा-स्याम।

अंग मगन पिय तै प्यारी अति, निरखि चकित ब्रज-बाम॥
तिरप लेत चपला सी चमकति, झमकत भूषन अंग।
या छबि पर उपमा कहुँ नाहीं, निरखत बिवस अनंग॥
श्री राधिका सकल गुन पूरन, जाके स्याम अधीन।
सग तें होत नहीं कहुँ न्यारे, भए रहत अति लीन॥
रस-समुद्र मानौ उछलति भौ, सुंदरता की खानि।
'सूरदास' प्रभु रीझि थकित भए कहत न कछू बखानि॥

**कृष्णदास**—वे श्रीनाथ जी के मदिर के अधिकारी और अपने समय मे वल्लभ सप्रदाय के अत्यत प्रभावशाली व्यक्ति थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि रास की आध्यात्मिक भावना के प्रति उनकी अत्यत तन्मयता और आसक्ति थी। उक्त वार्ता के कई प्रसगो मे उनके रचे हुए रास के पद मिलते हैं। उनकी रचनाओं का सकलन काकरोली से प्रकाशित हुआ है, जिसमे रास के भी १०४ पद हैं। इस प्रकार परिमाण की दृष्टि से ही नही वरन् काव्य और सगीत की दृष्टि से भी उनकी रास सबधी रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। इस सबध मे उनका नाम सूरदास के बाद ही लिया जा सकता है। उनका रास विषयक केवल एक पद यहाँ दिया जाता है—

नाँचति गोपाल संग, प्रेम सहित रास-रंग, ततथेई ततथेई कहति घोष-नागरी।
रूप-रासि अंग-अंग, देति तान वर सुघंग, लास्य भेद निपुन कोक रस-उजागरी॥
लेति सुलप-उरप-तिरप, नव उरज बदन फिरति, मुखरित मनि-दाम मिलई अलग लागरी।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर रीझि लिये सुबस किये, तरनि-तनया तीर बधू गुनन-आगरी॥

**परमानददास**—अष्टछापी कवियो मे रचना-बाहुल्य की दृष्टि से सूरदास के बाद परमानंद दास का ही नाम आता है, किंतु उनके रास सबधी पद अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। काकरोली विद्या विभाग द्वारा प्रकाशित 'परमानंद सागर' मे रास के केवल १८ पद मिलते हैं। उनमे से एक पद यहाँ दिया जाता है—

रास रच्यौ बन कुँवर-किसोरी।
मडल विमल सुभग वृंदावन, जमुना-पुलिन स्याम घन घोरी॥
बाजत वेनु-रबाब-किन्नरी, कंकन-नूपुर-किंकिनि सोरी।
तत्थेई तत्थेई सब्द उघरि पिय भलें बिहारी-बिहारनि जोरी॥
बरहा मुकट चरन तट आवत, धरैं भुजन मे भामिनि कोरी।
आलिगन-चुंबन-परिरभन, 'परमानंद' डारत तृन तोरी॥

**नंददास**—उनकी 'रास पंचाध्यायी' ब्रजभाषा के रास-साहित्य की अनुपम रचना है। कोमल-कांत पदावली और सुललित शब्द योजना द्वारा उन्होंने माधुर्यपूर्ण काव्य-कौशल का जो चमत्कार दिखलाया है, उसके कारण यह किंवदती प्रसिद्ध हो गई है—'और कवि गढिया, नंददास जड़िया'! उन्हे स्वय भी इस कृति के प्रति बडा मोह था। उन्होंने इसके अत मे लिखा है—

यह उज्जल रस–माल, कोटि जतनन करि पोई। सावधान ह्वै पहिरौ, इहि तोरौ मति कोई॥

इसके आरंभ मे उन्होने शरद–यामिनी का इस प्रकार वर्णन किया है—

सहज माधुरी वृंदावन सब दिन सुखदाई। तदपि रंगीली सरद समय मिलि अति छवि पाई॥
ज्यो अमोल नग जगमगाय सुंदर जराव संग। रूपवंत गुनवंत भूरि भूषन भूषित अंग॥
रजनी मुख सुख देत ललित मुकुलित जु मालती। ज्यो नव जोबन पाइ, लसित गुनवती बाल ती॥
मंद मंद चलि चारु चंद्रिका अरु छवि पाई। उझकत है पिय रमा-रमन् को मनु तकिआई॥

उस मनमोहिनी शरद निशा मे रासोत्सव का आयोजन करने के लिए श्री कृष्ण ने अपनी मधुर मुरली वजाई थी, जिसे सुनते ही व्रज–बालाएँ अपने–अपने घरो मे से निकल कर उस वन्य प्रदेश की ओर दौड पडी, जहाँ वह मदमाती वंशी बज रही थी। गोपियो के आगमन पर श्री कृष्ण की भावना का सुंदर वर्णन करते हुए कहा गया है—

तिनके नूपुर नाद सुने, जब बचन सुहाए।
तब हरि के मन-नैन, सिमिट सब स्रवनन आए॥
रुनुक-झुनुक पुनि भली भाँति सौं प्रगट भई जब।
पिय के अँग-अँग सिमटि, मिले है रसिक नैन तब॥

रास नृत्य के समय कवि ने श्री कृष्ण और गोपियो के आभूषण, वाद्य यंत्र और पदाघात की सम्मिलित ध्वनि का जो मार्मिक कथन किया है, उसमे काव्य–सौन्दर्य के साथ नाद-सौन्दर्य भी उभर आया है—

नूपुर–कंकन–किंकिन, करतल मंजुल मुरली। ताल–मृदंग–उपंग–चंग एकहि सुर जुरली॥
मृदुल मुरज–टंकार, तार–झंकार मिली धुनि। मधुर जंत्र के तार, भँवर–गुंजार रली पुनि॥
तैसिय मृदु पद-पटकनि, चटकनि कर-तारन की। लटकनि-मटकनि-झलकनि कल कुंडल-हारन की॥
हार हार मे उरझि, उरझि बहियाँ मे बहियाँ। नील-पीत पट उरझि, उरझि बेसर नथ महियाँ॥

नंददास ने 'रास पंचाध्यायी' के अतिरिक्त रास संबंधी मुक्तक पद भी लिखे है, जो धार्मिक भावना और काव्य–कौशल दोनो दृष्टियो से सुंदर है। उनका एक पद यहाँ दिया जाता है—

निरतत गिरिधरन संग रंग भरी नागरी।
वृंदावन रम्य जहाँ, विहरत पिय-प्यारी तहाँ, मंडल रचि रास रसिक जुवती बन-बाग री॥
बाजत अनहद मृदंग, ताल बिना गति सुधंग, अंग-अंग लग्यौ निरखि जग्यौ रंग-राग री।
ततथेई शब्द करत, सकल नृत्य भेद सहित, सुलप सची उरप–तिरप लेत नागरी॥
बाँहजोडी करी कुँवारी, नवल पिय सो नवल प्यारी, दामिनी सी दरसै रूप–गुनन आगरी।
प्रेम-पुंज गोकुलनारी, ससि सौं सुभग चारी, बिरहत विपिन विलास बडे जु भाग री॥
खग-मृग पसु-पछी निरख, मोहित भए चर-अचर, विथकि रह्यौ चंद्र नलिन सकल भाग री।
मास षट विहार तेते, निमिष हू न जाने केते, 'नंददास' प्रभु मग रैन रंग जाग री॥

अष्टछाप के पूर्वोक्त पाँचो कवियो के साथ ही साथ शेष तीन सर्वश्री गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास ने भी रास संबंधी पदो की रचना की है, किंतु वे कम संख्या में मिलते हें। उनकी रचनाओ के जो संकलन कांकरौली से प्रकाशित हुए हैं, उनमे रास के पदो की संख्या क्रमशः १४, ३ और ६ हे। उनमे से प्रत्येक के एक-एक पद यहाँ दिये जाते हैं—

गोविंदस्वामी—नाँचत लाल गोपाल रास मे, सकल ब्रज-वधू संगे।
गिडिगिडि तत थुग, तत थुगं थेई थेई भामिनि रति रस रगे ॥
सरद विमल उडुराज विराजत, गावत तान तरगे।
ताल-मृदग-भाँझ अरु भालरि, वाजत सरस सुघगे ॥
सिव-विरंचि मोहे सुर सुनि-सुनि, सुर-नर मुनि गति भंगे।
'गोविंद' प्रभु रस-रास-रसिक-मनि, मानिनी लेत उछगे ॥

छीतस्वामी—लाल संग रास-रस लेत मान रसिक रवनि,
ग्रग्रता, ग्रग्रता, तत तत तत थेई थेई गति लीने।
सरिगमपधनी, गमपधनी धुनि सुनि ब्रजराज कुँवर गावत री,
अति गति जातभेद सहित ताननि ननननननननन अनिगनि गति लीने ॥
उदित मुदित सरद चद, वंद छुटे कंचुकी के,
वैभव भुव निरखि-निरखि कोटि काम हीने।
विहरत वन रास-विलास, दंपत्ति वर ईषद हास,
'छीतस्वामी' गिरिधर रस-वस करि लीने ॥

चतुर्भुजदास—
अद्भुत नट-भेष धरें जमुना तट स्याम सुंदर, गुननिधान गिरिवरधर रास-रग नाँचें।
जुवति-जूथ सगे मिलि गावत केदार राग, अधर वेनु मधुर-मधुर सप्त सुरनि साँचें ॥
उरप-तिरप लाग-डाट तत-तत-तत थेई-तथेई-थेई, उघटत शब्दावलि गति भेद कोऊ न वाँचें।
'चतुर्भुज' प्रभु वन विलास, मोहे सब सुर अकास, निरखि थक्यौ चद, रथहि पच्छिम नाँहि खाँचें ॥

अष्टछापी कवियो के अतिरिक्त वल्लभ सप्रदाय के जिन भक्त-कवियो ने रास सबंधी पद रचे हैं, उनमे सर्वश्री विष्णुदास, रामदास, आसकरन, गदाधर मिश्र, घोंधी, गगाबाई (विट्ठल गिरिधरन), हरिजीवन, गो० हरिराय जी (रसिक, रसिक प्रीतम) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर उनमे से कुछ की रचनाएँ दी जाती हैं—

विष्णुदास—रुचिर रमित रुचि रासं।
कुसुमित कानन सम द्रुम-वेली, निज कृत उडुप प्रकासं ॥
जुवती जुगल जुगल प्रति माधौ, करत विनोद-विलासं।
वेणु-मृदग-मजीरा-किंकिणी, क्वणित मधुर-मृदु हासं ॥
यमुना तीर नीर खग-मृग की, मद समीर सुवासं।
वरसत कुसुम, इंद्र-सुर धावत, शकर तजि कैलासं ॥
निरखि नैन छवि मुसक्यौ मन्मथ, लोचन पद्म-पलासं।
'विष्णुदास' प्रभु गिरिधर क्रीडत, कथा कथित शुक-व्यासं ॥

आसकरन—निर्तत गोपाललाल, तरनि-तनया तीरे।
जुवती जन सग लिएँ, मन्मथ-मन करषि किएँ, अ ग-अंग सुखद किएँ, राजत बलवीरे ॥
लावन्यनिधि गुन-आगर, कोककला-गुन सागर, त्रिविध-ताप हरति सीतल समीरे।
'आसकरन' प्रभु मोहन नागर गुन निधान, संगीतसार रिझवत ब्रजबधू सबै पटक पट पीरे ॥

कुम्भनदास
( अपने पुत्र चतुर्भुजदास को कीर्तन-गान की शिक्षा देते हुए )
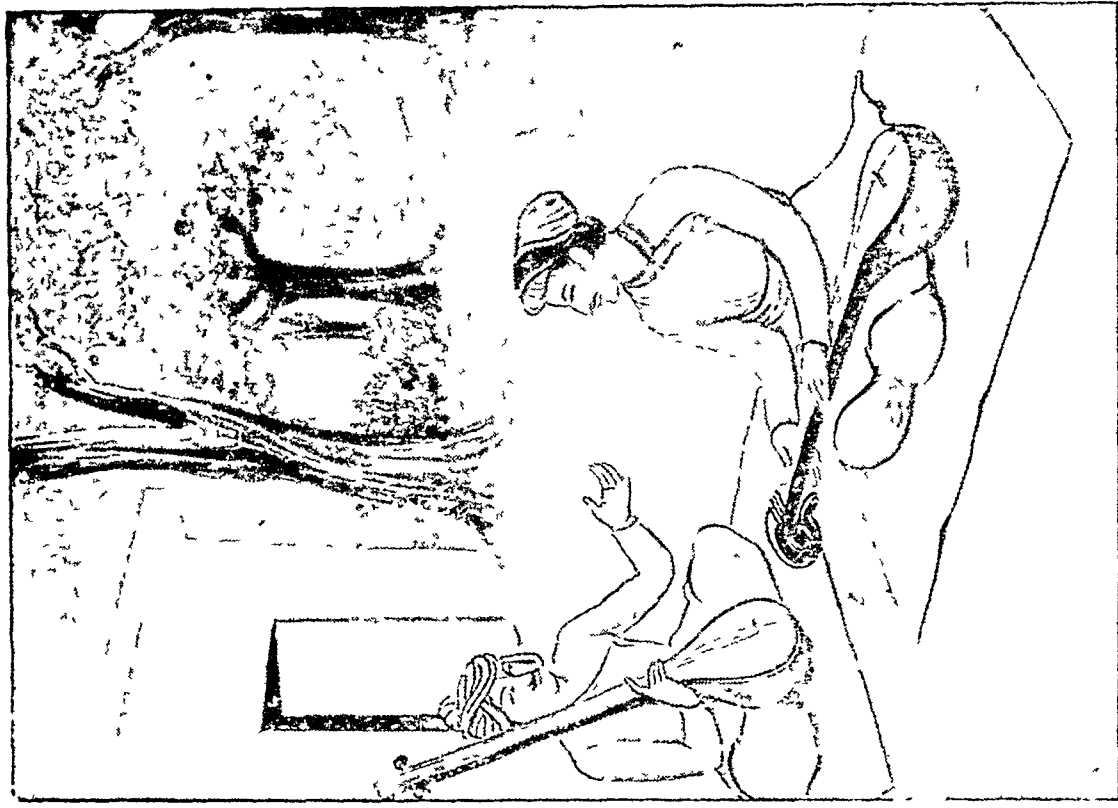
गोविंद स्वामी
( तानसेन को कीर्तन-गान की शिक्षा देते हुए )

गो० हरिराय जी

**गदाधर मिश्र**—आज ब्रजराज को लाल ठाडौ सखी, ललित सकेत-वट निकट सोहै ।
देख री देख अनिमेख या भेख को, मुकुट की लटक त्रिभुवनिहिं मोहै ॥
स्वेद-कन झलक अरु झुकी सी पलक कछु, प्रेम की ललक रस-रास किये ।
धन्य वड भाग वृषभान-नदिनी राधिका अस पर वाहु दीये ॥
मनि जटित भूमि रही, नव लता झूमि रही, नव कुंज छवि-पुंज कहि न जाई ।
नंद-नंदन चरन परसि हित बन मानो, मुनिन के मनन मिलि पाँति लाई ॥
महा अद्भुत रूप, सकल रस भूप या नंद-नंदन विन कछु न भावै ।
धन्य हरिभक्त जिनकी कृपा ते सदा, कृष्ण-गुन 'गदाधर मिश्र' गावै ॥

**धोधी**—राजत निर्तत पीय सग सुदरी जई । मडल के बीच-बीच वेष धरत तई ॥
ब्रज विलास, दृग हुलास भेद करत कई । निरखि यमुना चंद थक्यौ,अनिल पद दई ॥
गिरिधर सगीत निपुन भेद काछै कछई । उरपि-तिरपि लेत सुलप, सचन सुरसई ॥
'धोधी' के प्रभु नटनागर अद्भुत गई लई । सुर-सुरपति व्योम थके, सुखद बेलि बई ॥

**गंगावाई** ( विट्ठल गिरिधरन )—
भूषन सजे साँवल अग । लाडिली वर रवन जू को लिए है हरि सग ॥
रच्यौ रास-विलास कानन रसिक वर नवरंग । कला नटवर धरत जब कछु देखि लजति अनग ॥
वेणु-धुनि सुनि थकित मुनिगन, गति लेत थेई-थेई थुग ।
श्री 'विट्ठल गिरधरन' की वलि जाऊँ ललित त्रिभंग ॥

**गो० हरिराय जी ( रसिक प्रीतम )**—वल्लभ सप्रदायी आचार्यो मे गो० हरिराय जी वडे विद्वान और समर्थ साहित्यकार हुए है । उन्होने सस्कृत और ब्रजभापा मे प्राय· २५० छोटे-वडे ग्रथो की रचना की थी । वार्ता साहित्य के तो वे प्रमुख निर्माता और प्रचारक थे । उनकी कृतियो मे 'रास कौ प्रसग' नामक एक ब्रजभापा रचना भी है । उन्होंने ब्रजभापा मे विविध विपयो के विपुल पद भी रचे थे, किंतु उनके रास सवधी पद वहुत कम मिलते है । यहाँ रास का एक पद दिया जाता है—

जैसे-जैसे वंसी वाजै, तैसेई नाँचें ।
पाँय पैंजिनी अरु कटि किंकिनी, रव तैसोई सप्त सुरन साँचे ॥
वीच-वीच वाल लीला भाव दिखावत, त्यो-त्यो ब्रज युवतिन में हास माँचें ।
मिलन की लालसा उपजति है मन मे, हँसि न सकत विरह आँचें ॥
ऐसी अद्भुत लीला, स्रवन सुनत, ते मूढ मति मन न राँचें ।
'रसिक प्रीतम' की यह छवि निरखत, देव-मुनि, नारद-सारद कहत न वाँचे ॥

वल्लभ सप्रदाय के पश्चात् हित हरिवश जी के राधावल्लभ सप्रदाय की रास सवधी रचनाएँ अत्यत महत्वपूर्ण हैं । यहाँ कवियो के क्रमानुसार उनका उल्लेख किया जाता है ।

**हित हरिवंश जी**—राधावल्लभ सप्रदाय के प्रवर्तक गो० हित हरिवश जी रसिक भक्त और रससिद्ध कवि थे । उनकी वाणी परिमाण मे अधिक न होते हुए भी ब्रज साहित्य की अनुपम निधि है । उनके द्वारा रचित 'श्री हित चतुरासी' के ८४ पदो मे से रास के १५ पद हैं । इससे ज्ञात होता है कि उनकी रास के प्रति कितनी अभिरुचि थी । सेवक जी ने हित जी की वाणी को रास-रस से रची हुई कहा है—

जूथ जुबतिनु खचित, रासमडल रचित, गान-गुन निर्त्त आनद-दानी ।
ततथेई-थेई करत, गतिव नौतन धरत, रास-रस रचित हरिवश वानी ।।

रास–रस की आधार श्री कृष्ण की वशी है और हित हरिवश जी वशी के अवतार माने जाते है । इसलिए भी हित जी की रास के प्रति अनन्यता स्वाभाविक है । उनकी एक विशेषता यह है कि जहाँ अधिकाश कवियो ने शरद रास का ही कथन किया है, वहाँ हित जी ने शरद और वसत दोनो के रास सबधी पद रचे है । उनमे से एक यहाँ दिया जाता है—

आज वन नीकौ रास वनायौ ।
पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट, मोहन वेनु बजायौ ।।
कल ककन-किंकिन-नूपुर धुनि, सुनि खग–मृग सचु पायौ ।
जुबतिनु मडल मध्य स्याम घन, सारग राग जमायौ ।।
ताल–मृदग-उपग-मुरज-ढफ, मिलि रस–सिंधु वढायौ ।
विविध विसद वृषभानुनदिनी, अ ग सुघग दिखायौ ।।
अभिनय निपुन लटकि लट लोचन, भृकुटि अनग नँचायौ ।
ततथेई-ततथेई धरति नौतन गति, पति ब्रजराज रिझायौ ।।
सकल उदार नृपति चूडामणि, सुख-वारिधि वरषायौ ।
परिरभन-चु वन-आलिगन, उचित जुवति जन पायौ ।।
वरषत कुसुम, मुदित नभ नायक, इ द्र निसान वजायौ ।
'हित हरिवश' रसिक राधापति, जस-वितान जग छायौ ।।

**व्यास जी**—श्री हरिराम जी व्यास वृ दावन के विख्यात रसिक भक्त और रास के अनन्य प्रेमी महात्मा थे । उन्होने रास के अनेक सु दर पदो की रचना की है । जैसा पहिले लिखा गया है, उनका एक वडा पद 'रास पचाध्यायी' के नाम से प्रसिद्ध है, जो भ्रमवश सूरदास कृत समझा जाता है । उसका कुछ अश यहाँ दिया जाता है—

सरद सुहाई आई राति । चहुँ दिसि फूलि रही वन–जाति ।।
देखि स्याम मन सुख भयौ ।।
ससि–गो मडित जमुना–कूल । वरषत विटप सदा फल–फूल ।।
त्रिविध पवन दुख–दवन है ।।
राधा–रवन वजायौ वैन । सुनि धुनि गोपिन उपज्यौ मैन ।।
जहाँ–तहाँ तें उठि चली ।।
नव कु कुम जल बरसत जहाँ । उडत कपूर-धूरि जहँ-तहाँ ।।
और फूल–फल को गनै ।।
तहँ घनस्याम रास रस रच्यौ । मरकत मनि कचन सौं खच्यौ ।।
सोभा कहत न आवही ।।
जोरि मडली जुबतिनि बनी । द्वै-द्वै वीच आपु हरि धनी ।।
अदभुत कौतुक प्रगट कियौ ।।

घूँघट मुकट बिराजत सिरन । ससि चमकत मानौ कौतिक किरन ।।
रास रसिक गुन गाइहौ ।।
भूषन बाजत ताल–मृदग । अग दिखावत सरस सुधग ।।
रग रह्यौ न कह्यौ परै ।।
ककन-नूपुर-किकिन-चुरी । उपजत धुनि मिस्रित माधुरी ।।
सुनत सिराने स्रवत मन ।।
मुरली-मुरज-रवाब-उतंग । उघटत सबद बिहारी सग ।।
नागर सब गुन–आगरौ ।।
गोपिन मंडल मडित स्याम । कनक-नीलमनि जनु अभिराम ।।
रास–रसिक गुन गाइहौ ।।
उलटि बह्यौ जमुना कौ नीर । बालक-बच्छ न पीवत खीर ।।
राधा – रवन ठगे सबै ।।
गिरिवर तरुवर पुलकित गात । गोधन थन तें दूध चुचात ।।
सुन खग-मृग-मुनि व्रत धर्यौ ।।
फूली मही भूल्यौ गति पौन । सोवत ग्वाल तजत नहि भौन ।।
रास - रसिक गुन गाइहौ ।।

**दामोदर स्वामी**—राधावल्लभ सप्रदाय मे दामोदर स्वामी की गणना रास–रसिक प्रसिद्ध महात्माओ मे होती है । उन्होने रास सबधी स्फुट पदो के अतिरिक्त सपूर्ण 'रास पचाध्यायी' का भी कथन किया है, जिसका कुछ अश यहाँ दिया जाता है—

सुंदर वर श्री कृष्ण विलोकि सरद की रैनी । मजुल फूलनि फूलि मल्लिका रही सुख दैनी ।।
रसिक सुदेस नरेस रमण को कियौ तर्बाह मन । भाग योगमाया सुदेस सु दर साँवल तन ।।
उदै भयौ उडुराज स्याम सुख काज विराज्यौ । अरु नभ मूक सुदेस अमल प्राची दिस भ्राज्यौ ।।
जैसे पुरुष विदेस गयौ पुनि मदिर आयौ । मडन करत प्रिया-मुख कुमकुम राग सुहायौ ।।
कुमुदबधु रसबधु तामजन गन कौ हारी । रमा वदन की प्रभा देखि हरस्यौ जु बिहारी ।।
कोमल निर्मल किरन सकल मधुमय सुखरासी । दल-फल-फूल समूल सकल बन माहि प्रकासी ।।
हस्त कमल गहि अधर धरी तब मोहन मुरली । जिहि सुनि जुवतिन बिसरि धर्म की बाते उर ली ।।
परम मनोहर इष्ट कृष्ण कल गीत सुन्यौ जब । ब्रज-बनितन हिय ध्यान सुनतहि अनंग बढ्यौ तब ।।
चलिवौ आपस मध्य नहिन कोउ जुवति जनावै । कृपन परचौ धन पाइ तबहि ज्यौ तही छिपावै ।।
धाई धामनि छाँडि हियौ मोहन हरि लीनौ । मारग बशी शब्द तितहि मन स्रवन सु दीनौ ।।
चंचल कु डल बेगि प्रीति अति हरि सो बाढी । तोरि चली अति सुदृढ़ जदपि कुल-आगर गाढ़ी ।।

**चंदसखी**—वे राधावल्लभ सप्रदाय के अनुयायी और सखी नामधारी एक भक्त-कवि थे । जैसा पहिले लिखा गया है, वे सतो की जमात और रास–मडली के साथ भ्रमण करते हुए कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया करते थे । उन्होने अनेक भजन, लोकगीत और पदो की रचना की है । 'चदसखी भज बालकृष्ण छवि' की छाप के उनके भजन और लोकगीत व्रज, राजस्थान, बु देलखड आदि राज्यो में प्रसिद्ध है । उनका रास सबधी एक पद यहाँ दिया जाता है—

ए दोऊ निर्तत नवल कमल मडल मे, अ सिन पर भुज दीयें री।
गावत, मोद बढ़ावत, भावत सग सहचरी लीयें री॥
वाजत ताल-मृदंग-बाँसुरी, गति सो मिल तन कीयें री।
बरषत रंग, अनंग विमोहित, निरखि थकित रति जीयें री॥
काहू सुधि न रही तन-मन की, प्रेम-सुधा-रस पीयें री।
'चंदसखी' दंपति-छवि सजनी, सदाई बसौ मेरे हीयें री॥

**विजयसखी**—वे व्यास जी के वशज, चदसखी जी के भाई और हसराज वख्शी के गुरु थे। उन्होंने रास सबधी अनेक लीलाओ की रचना की है। उनकी १८ रासलीलाएँ 'रास सर्वस्व' के अत मे मुद्रित हुई हैं।

**चाचा वृंदावनदास**—राधावल्लभ सम्प्रदायी कवियो मे चाचा वृ दावनदास वडे समर्थ साहित्य-सृष्टा हुए हैं। व्रजभाषा के असख्य कवियो मे रचना-बाहुल्य की दृष्टि से महात्मा सूरदास जी के पश्चात् चाचा जी का ही स्थान है, चाहे उनका काव्य-महत्व उस कोटि का नही है। उन्होंने रास के भी बहु सख्यक पद रचे हैं। उनके तत्सबधी १५० से भी अधिक पद 'श्रृ गार रस सागर' (चतुर्थ खड) मे सकलित हैं। उक्त पदो मे उन्होने विविध प्रकार से रास लीला का कथन किया है। उनका एक पद श्री कृष्ण और राधा जी की रास-प्रतियोगिता का है। चाचा जी का कथन है,—"रास-प्रतियोगिता का आयोजन होने से मानो आनद की राशि ही उमड कर बरसने लगी थी। उस नृत्य के लिए उधर श्री कृष्ण सज्जित हुए और इधर श्री राधा जी। दोनो ही चर्चरी ताल पर अपूर्व गति से नृत्य करने को प्रस्तुत हुए। ललिता सखी दोनो को सन्मानित करती हुई उनकी प्रशसा करती थी, किंतु साथ ही उसकी यह भी कामना थी कि देखें दोनो मे से किसकी नृत्य-निपुणता अधिक है। पहिले श्री कृष्ण का नृत्य हुआ और फिर श्री राधा का। दोनो ने ही अपूर्व कला-कौशल का प्रदर्शन किया, किंतु राधा जी की नृत्य-निपुणता पर रीझि कर स्वय श्री कृष्ण भी कहने लगे,—'धन्य गौरग, तू अत्यत गुणवती है!' उक्त पद इस प्रकार है—

उमगि आनद की रास लागी झरी॥
उत सजे लाल इत नवल नागरि सजी, अपूरव लेत गति ताल दै चर्चरी।
करति प्रसस ललिता दुहुँनि मान दै, देखिये सुघरता अधिक काकी खरी॥
लाल विहँसे ललित ग्रीव को ढोरिकै, मोरि दृग-कोर पद ठुमकि गति विस्तरी।
जलद धुरवा उव्यौं नवल प्रेरयौ पवन, दृगनि कौ लाभ अवनि महा छवि भरी॥
किधौं सिंगार अरु रूप के बाग मे, लसत कमनीय वर कनक वेलिन करी।
वदन की हँसनि मे रदन तें दुति कढ़ी, ततथेई ततथेई मोहन धुनि उच्चरी॥
हुलसि गति लेत दामिनि निकर मंद्र लसी, भेद हस्तक करत चद्रिका फरहरी।
भाव जुत नवनि मनु अवनि परसत नहीं, गति जु सगीत तें चरन आगै धरी॥
चद की जोति मे लीन सी होत है, महा सुकुमार विद्यानि-आलय अरी।
कला कोटिक रचति स्वाँस साधै नचति, देखि री चातुरी उघरि हिय तें परी॥
भये दृग चंचला हलतु है अचला, जुवति चूड़ामणि रास सुख अनुसरी।
'वृ दावन' हित रूप "अतिहि गुनवत, तू धन्य गौरग", कहँ रीझि नागर हरी[1]॥

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी, (पृ० ५०४-५०५)

हित हरिवश जी द्वारा प्रवर्तित रस–भक्ति के आधार पर राधावल्लभ सप्रदाय के कवियों ने रास के पदो मे 'वृ दावन-रस' को प्रधानता दी है, किंतु चाचा जी ने अपने युग की आवश्यकतानुसार वृ दावन–रस से अनुप्राणित 'ब्रज रस' की रास लीलाओ की भी रचना की थी। वे लीलाएँ 'रास छद्म' अथवा 'छद्म लीला' कही जाती हैं। आज-कल की रास मडलियाँ प्राय उन्ही के आधार पर रास लीला किया करती हैं।

चाचा जी कृत ३७ छद्म लीलाओ का सग्रह 'रास छद्म विनोद' मे हुआ है। "उसकी २७ लीलाएँ कृष्ण तथा राधा से सबधित है। इनमे कृष्ण छद्म रूप धारण कर राधा से मिलने के लिए आते है, किंतु प्रत्येक वार भेद खुल जाता है। कभी कृष्ण चितेरिन का रूप धारण करते है, तो कभी मालिन, तमोलिन, नाइन, वीनावारी, मैनावारी, गधिन आदि का रूप धारण करते है। सात लीलाओ मे कृष्ण जोगी बन कर जाते हैं। कुछ लीलाओ मे वह बाला का रूप धारण कर राधा से मिलने के लिए आते है। इस प्रकार इन लीलाओ मे उनके छद्म रूप धारण करने तथा भेद खुलने का ही वर्णन हुआ है। नारद लीला, ब्रह्मा लीला, महादेव लीला, शिवजोगी लीला, जोगीश्वरी लीला मे तथा नामधारी देवता कृष्ण तथा राधा के दर्शन के हेतु आते है। 'श्री प्रियाजी की भुराई लीला' मे राधा को अपनी परछाई पर अन्य किसी का भ्रम हो जाता है। कृष्ण उनके इस भ्रम को दूर करते है। 'श्री प्रिया रूप गर्व लीला' मे राधा को अपने अद्वितीय रूप पर गर्व होता हे। ये सव लीलाएँ इतिवृत्तात्मक है। इनमे वाक्छल तथा छद्म का आनद तो है, किंतु काव्य की दृष्टि से इनका कोई विशेप महत्व नही। यत्र-तत्र इनमे कुछ अलकारो का समावेश हो गया है। भापा मे साधारण वातचीत का प्रवाह परिलक्षित होता है। ये लीलाएँ वृ दावन से प्रकाशित हो चुकी हे[1]।"

उपर्युक्त कवियो के अतिरिक्त राधावल्लभ सप्रदाय मे जिन भक्त–कवियो की रास सवधी रचनाएँ मिलती है, उनमे सर्वश्री ध्रुवदास, नागरीदास, गो० कृष्णचद्र जी, दामोदरचद्र जी, कमलनैन जी, रूपलाल जी, गोवर्धनलाल जी और सहचरिसुख जी के नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ उनमे से कुछ की रचनाएँ दी जाती है—

**ध्रुवदास**—वशीवट मूल खरे, दपति अनुराग भरे, गावत हैं सारग पिय, सारंग वर नैनी।
उमहि कुँवरि करति गान, सिखवत पिय विकट तान,
सप्त स्वर सो मधुर-मधुर लेति कोकिल वैनी॥
चित्रित चदन सुअंग, भूषन फूलनि सुरंग, दसन बसन सहज रंग वेसरि छवि दैनी।
लसत कंठ जलज माल, झलकि स्वेद वन रसाल, दीरघ वर लोचन मधि रेख वनी पैनी॥
चहुँ दिसि सखियानि भीर, सकल प्रेम रस अधीर, उमय रूप राग-रंग सुख अभंग लैनी।
उमड्यौ जल प्रेम नैन, रहित भए रसन वैन, इहि गति रहौं मत्त चित्त, 'हित ध्रुव' दिन-रैनी॥

**नागरीदास**—रासमंडल मध्य छवि छके स्यामा-स्याम, लेत गति उलटि-पलटि जात भरे रंग।
गान-धुनि नूपुर रह्यौ है रग पूर, तैसी मधुर-मधुर वीना वाजत मृदग॥
चंद्रिका सिथिल इत मुकुट झुकौही होत, ह्वै गये विवस रस, सुधि न रही है अंग।
'नागरीदास' गति नैनन की भई पगु, मुरझि गिरचौ है रति सहित अनग॥

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृ० ५७१

**गो० दामोदर चंद्र**—नागरी वृषभानु कुँवरि मद गामिनी।
चलत ग्रीव-नैन-सैन, बोलत मृदु मधुर बैन, ततथेई ततथेई वदित भामिनी ।।
चंचल गति वर सिरोध, भृकुटि कुटिल अलक सोभि, वदन चद पिय चकोर, मुदित कामिनी।
असनि पर बाहु धरें, सनमुख रुख नैन करैं, ताल-चाल गति मराल चमकत घन दामिनी ।।
प्रियता भरि हरि समूह, आनद बहु लखि कुतूह, निर्तति वर मधुर स्वरनि सरद जामिनी।
'दामोदर' हित सुवेस, नवल जुगल सुख सुदेस, अद्भुत अति गौर स्याम रसिक स्वामिनी ।।

**गो० रूपलाल**—निर्तत सरस सुधग किसोरी।
उघटत दै करतार त्रिभगी, थेई-थेई मृदु मुसिकन चित चोरी ।।
कबहू प्रीतम प्रिया परस्पर, कबहू मिलि रस बरषत जोरी।
बीन-मृदग–ताल स्वर नूपुर, मुरली धुनि बाजत थोरी-थोरी ।।
हाव-भाव–अभिनय सुख सपति, नाँहिन बचत कछुक दृग कोरी।
हित अलि 'रूप' निरखि अँग-अँग छवि, कवि वरनत उपमा भई बौरी ।।

**वशी अलि**—वे उच्च कोटि के भक्त, सस्कृत के विद्वान और ब्रजभाषा के सुकवि थे। उनकी हित हरिवश जी के प्रति श्रद्धा थी, किंतु वे राधावल्लभ सप्रदाय के अनुयायी नही थे। उन्होने एक स्वतत्र भक्ति पथ की प्रतिष्ठा की थी, जिसमे राधा जी का सर्वोपरि महत्व स्वीकार किया गया है। राधा जी की प्रधानता राधावल्लभ सप्रदाय मे भी स्वीकृत है, किंतु वशी अलि जी की राधा सबधी भावना उससे सर्वथा भिन्न और विलक्षण है। उनकी यह विलक्षणता उनके ग्रथ **'श्री राधिका महारास'** मे मिलती है। राधा जी की प्रधानता मानने वाले सप्रदायो की रास सबधी रचनाओ मे श्री कृष्ण को यथोचित महत्व दिया गया है, क्यो कि इसके बिना शृ गार रस की निष्पत्ति होना सभव नहीं है। वशी अलि जी ने रास मे श्री कृष्ण को कोई स्थान देना उचित नही समझा। इस प्रकार श्री कृष्ण के अभाव मे रस की दृष्टि से उनका रास प्रभावशून्य हो गया है। उदाहरण के लिए उनका एक पद यहाँ दिया जाता है, जिसमे राधा जी को श्री कृष्ण के स्थान पर अपनी सखी के साथ ही रास-नृत्य करते हुए दिखलाया गया है। इस पद की रचना–शैली सु दर होते हुए भी आलबन, हाव–भाव, सचारी आदि के भेद से इसमे शृ गार रस ही नही बन सका है—

सजनी दोऊ नृत्य करैं।
गरबाही मुख जोरि कुँवरि–ललिता थेई–थेई उचरैं ।।
एकहि पट सिर ऊपर लीयें, मुख दुराइ दोउ खोलैं।
अरस–परस करि परसि चिबुक, दोउ दृग मिलाइ मधु बोलैं ।।
सन्मुख ह्वै नूपुरनि बजावत, बिच-बिच चलनि छबीली।
नौकनि दृग रोकनि भृकुटी की, मुरनि ग्रीव तिरछीली ।।
मुसकि जानि कर छवै आलिंगन, झिझकन चित आकरषै।
उरप–तिरप की लैन छबीली, 'वशी' दृग सुख बरषै ।।

वल्लभ और राधावल्लभ सप्रदायो के भक्त-कवियो के पश्चात् निंबार्क सप्रदायी, स्वामी हरिदास के अनुयायी और चैतन्य सप्रदायी भक्त-कवियो की रास सबधी रचनाएँ उल्लेखनीय है। यहाँ सप्रदायो के क्रम से उनकी रचनाओ का उल्लेख किया जाता है।

निंवार्क सप्रदाय ब्रज का सबसे प्राचीन भक्ति सप्रदाय है। इसके सस्थापक श्री निवार्काचार्य जी थे। उनके काल से ही इस सप्रदाय की आचार्य-परपरा का ब्रज से घनिष्ट सबध रहा है। श्री भट्ट जी और हरिव्यास जी इस परपरा के सबसे प्राचीन वाणीकार हुए है, जिनके रास सबधी पद भी उपलब्ध है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, इस सप्रदाय मे श्री हरिव्यास जी के शिष्य श्री उद्धव घमडदेव जी रास लीला के आरभकर्ताओ मे से माने जाते है, किंतु रास के पद उनसे पहिले ही श्री भट्ट जी द्वारा रचे जा चुके थे। श्रीभट्ट जी और हरिव्यास जी के बाद इस सप्रदाय मे रूपरसिक जी, वृंदावनदेव जी, गोविंदशरण जी आदि भक्त कवियो के भी रास सबधी पद मिलते है। यहाँ पर उनके एक-एक पद उदाहरणार्थ दिये जाते है—

**श्रीभट्ट जी**—सब मिलि निरखत नवल छवि, गोपी मडलाकार।
बीच युगल सरसावही, अति रुचि सरद विहार॥
अति रुचि पावत सरद विहार।
बीच युगल सोहे, मन मोहे, गोपी मडलाकार॥
षड्ज जमावे, सरस बतावे, सब मिलि गावें युगल विहार।
'श्रीभट' नवल नागरी-नागर, तातार्थेई करत उचार॥

**हरिव्यास जी**—कला चिवुक लिये चरन मे, नई-नई गति उपजाय।
नृत्यत प्रेम उमग सो, ए दोऊ छवि पाय॥
ए दोऊ नृत्यत छवि पावें।
करें करन मे चिवुक, चरन मे नई-नई गति उपजावै॥
हँसनि लसनि दसननि की दमकनि, चितवन चित्त चुरावै।
भृकुटि विलास चपल आयत अति, अँखियन मार मचावै॥
रीझि-रीझि रस-भीजि परस्पर, प्रेम उमंग उँमगावै।
'श्री हरिप्रिया' निसंक अंक भरि, लै-लै लंक लगावै॥

**रूपरसिक जी**—राजत रास रसिक-मन-रजन।
अति सुंदर गुन-रूप मनोहर, दिए ग्रीवा कर कजन॥
गौर-स्याम अनुरूप अग रति-काम कोटि मद-गजन।
चलवनि चपल नैन मे मिलवनि, मान सहज सुख-सजन॥
मधुर वचन मुख रचन थेई-थेई, सचन सुगति मति-मजन।
भृकुटि विलास विभेदन चितवन, मिथुन विथा जु विभंजन॥
कलित केलि कमनीय कुँवर की, निरख थकित भए खंजन।
'रूपरसिक' अद्भुत अनूप, रस बढ़्यौ विपुल फल पजन॥

**वृंदावनदेव जी**—नाचें री दोउ बाँहा जोरी।
इत नँदनंदन रसिक लाडिलो, उत वृषभान-किसोरी॥
गौर-स्याम भुज गहे परस्पर, लखि उपमा उपजत मति मोरी।
सोभित पीत अरु नील कमल मनौं, मिले करत झकझोरा झोरी॥

मुकुट लटक पट चटक-कटक, कर-चरन पटक मृदग गति बौरी ।
तत्तखि रिरिरि तातन ननन सखी, सुघरि उघटति चहुँ ओरी ।।
अलापति रागिनि-राग तान श्रुति, लागि रही एकै सुर डोरी ।
'वृ दाबन' प्रभु धुनि सुनि थिर-चर, मोह्यौ जात न को री ।।

**गोविदशरण जी**—नृत्यत सुघग दोउ राधिका-रमन सग, रंग वरसावै कल गावै मृदु तान री ।
तत्तथेई थेई करै गति लेत मति हरै, भरे हाव-भाव-चाव एक ही समान री ।।
ग्रीवा की लटक औ चटक पट नील-पीत, उँमगि-उँमगि अ ग अ ग लपटान री ।
बार-बार कहै विवि रीझि रीझि अ क भरै, 'गोविदसरन' है विकान ही की वान री ।।

**राजा नागरीदास जी**—कृष्णगढ के राजा सावर्तसिह उपनाम 'नागरीदास' वडे प्रसिद्ध भक्त थे । उनकी छोटी-वडी ७३ रचनाएँ 'नागर समुच्चय' मे प्रकाशित हुई ह । उनमे 'राम रस लता' और 'रास के कवित्त' नामक दो रचनाएँ राम से सवधित हैं । यहाँ उनका राम सवधी एक कवित्त दिया जाता है—

सरद सुहाई निसि प्रफुल्लित वल्ली वन, वहु छवि छाई चारु चद्रिका खुलनि मे ।
गान के विधान तहाँ नृत्य भेद हाव-भाव, रच्यौ है विलास रास मजुल पुलनि मे ।।
लेत गति 'नागरिया' नागर सु मडल मे, कोटिक मदन नहिं आवत तुलनि मे ।
वेर वेर भूलै मोतीमाला की झुलनि मन, देखि देखि डुल्यो जात कु डल डुलनि मे ।।

**स्वामी हरिदास जी**—वृ दावन के रसिक भक्तो मे स्वामी जी का परमोच्च स्थान है । वे हित हरिवश जी के सखा और रसिको के शिरोमणि थे । श्री व्यास जी जैसे प्रौढ महात्मा ने स्वामी जी की प्रशसा करते हुए कहा हे, उनके समान रसिक इस पृथ्वी और आकाश मे न तो हुआ और न होगा—'ऐसौ रसिक भयौ ना ह्वै है, भुवमडल आकाश' । स्वामी जी की रास के प्रति अभिरुचि प्रसिद्ध है । व्यास जी ने लिखा है, स्वामी जी श्री कु जविहारी जी की सेवा के प्रति अत्यत सावधान रहते थे और रास का निरतर गायन किया करते थे—'सेवा सावधान अति जान, सुघर गावत दिन रास' । फिर भी उनकी वाणी मे रास के पद कम सख्या मे मिलते हे । यहाँ पर उनका रास सवधी एक पद दिया जाता हे—

अदभुत गति उपजति अति, नृत्तत दोऊ मडल कुँवर किसोरी ।
सकल सुधग अ ग भरि भोरी, पिय नृर्त्तत मुसकनि मुख मोरी, परिरभन रस रोरी ।।
ताल धरनि वनिता, मृदग चद्रागति घात वजै थोरी-थोरी ।
सप्त भाइ भाषा विचित्र, ललिता गायनि चित-चोरी ।।
श्री वृंदावन फूलनि फूल्यौ पूरन ससि, त्रिविधि पवन वहै री, थोरी-थोरी ।
गति विलास रस हास परस्पर, भूतल अदभुत जोरी ।।
श्री जमुना जल विथकित, पहुपनि वरषा, रतिपति डारति तृन तोरी ।
'श्री हरिदास' के स्वामी स्यामा-कु जबिहारी जू कौ रस रसना कहै को री ।।

**बिहारिनदास जी**—वे स्वामी हरिदास जी के प्रशिष्य और उनके सप्रदाय के प्रसिद्ध महात्मा थे । उन्होने पर्याप्त वाणी-साहित्य की रचना की है, किंतु उसमे रास के पद ढूँढने से ५-७ ही मिलेगे । उनमे से एक पद यहाँ दिया जाता है—

श्री विट्ठल विपुल जी

राजा नागरीदास
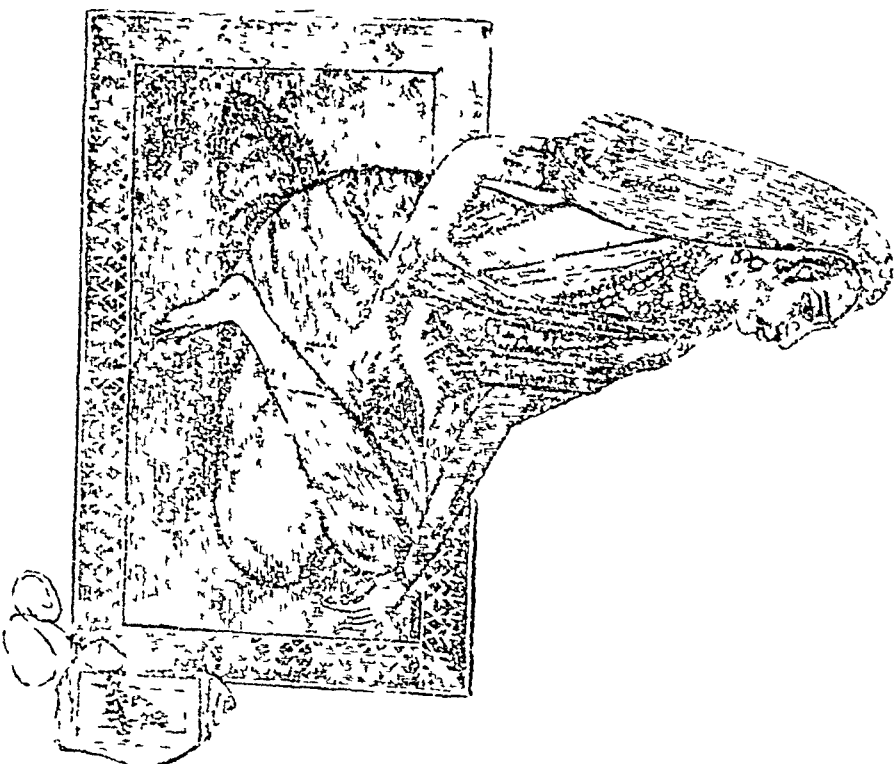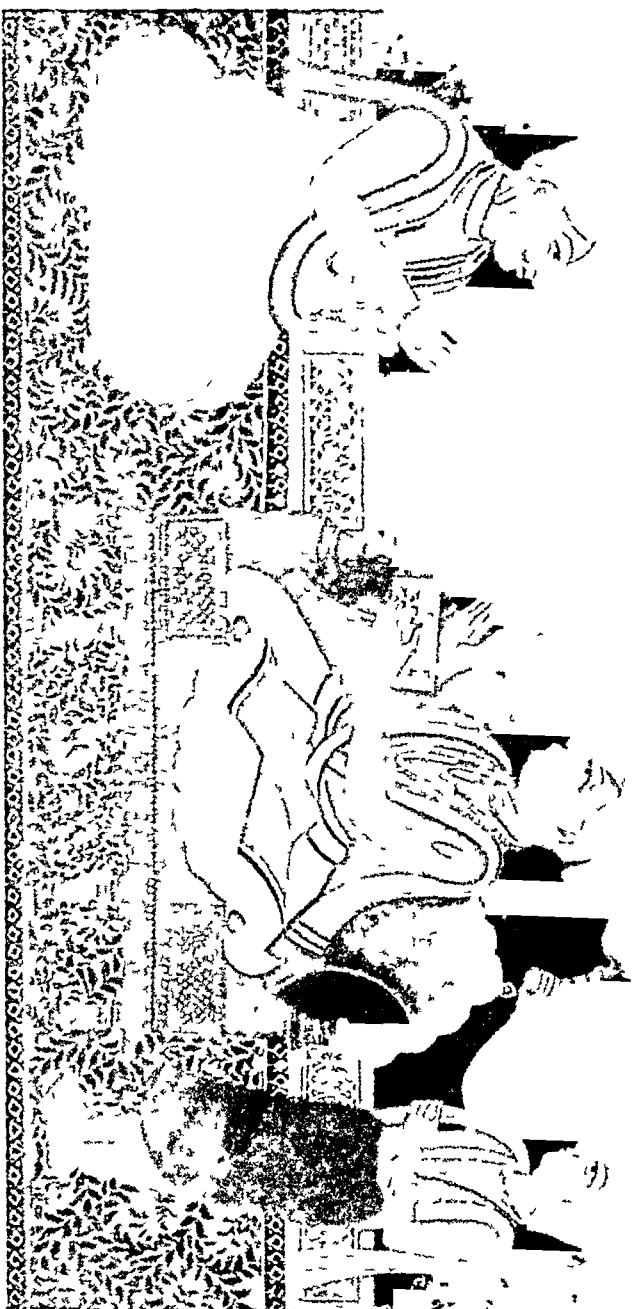
श्री बिहारिनदास जी

श्री गदाधर भट्ट

ललित गति नूपुर, चलत चरन बाजैं ।
रही जकि जुवति निर्तति सु पग धरत, परसि संगीत बारति सखि समाजैं ।।
अंग-अंग अभिरामिनी, बिन भाइ भामिनी, सहज इत-उत चितैं समर सर साजैं ।
'श्री बिहारिनदासि' स्वामिनी रीझि रस बस किये,
रमन रमि रसिक संग, कुंज बसि भ्राजैं ।।

श्री बिहारिनदास के बाद स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय मे सर्वश्री नागरीदास जी, सरसदास जी, नरहरिदास जी, किशोरदास जी, भगवतरसिक जी आदि प्रसिद्ध भक्त–कवि हुए । उनका प्रचुर वाणी साहित्य उपलब्ध है, किंतु उनके रास संबधी पद अपेक्षाकृत कम मिलते है । यहाँ पर उनमे से कुछ की कतिपय रचनाएँ दी जाती है—

**नागरीदास जी**—रसिक रसिकनी किसोर नृत्तत रंग भीनें ।
गौर सुभग स्याम तने, नटवर वपु वेष बनें, तत्त ठुमक थेई थेई उघटत गति लीनें ।।
कोक संगीत सुघर, गावत सुख सर्वोपर, तान तिरप लेत प्यारी, पहिरे पट झीनें ।
अधर दसन दुति प्रकास, अलक झलक भ्रू विलास, तार सुरन चोरत चित, नवल नेह नवीनें ।।
रीझि रवन मोहि रहे, धाय चपल चरन गहे, लये लाल ललना हँसि अंस बाहु दीनें ।
दासि श्री नागरि नवेलि, नागर मिलि करत केलि, आनंद रस झेलि, खेलि पूरन प्रेम प्रवीनें ।।

**सरसदास जी**—निर्त्तत रस भरे रसिक बिहारी ।
तान तिरप गति भेद अनागति, घात लेत सुकुँवारी ।।
थेई-थेई करत धरत पग चंचल, उपजत नूपुर रव झुनकारी ।
गावत कटि लटकावति, नैन नचावत प्रीतम प्यारी ।।
मृदंग ताल सुर सप्त संचि मिलि, तैसियै छिटकि रही उजियारी ।
कोक कला कल केलि झेलि, रस क्रीडत कुँवरि दुलारी ।।
द्रुम बेली फूलीं सुख बरषत, चंपक वकुल गुलाब निवारी ।
करत विनोद विपिन मन भाये, 'सरसदास' बलिहारी ।।

**नरहरिदास जी**—खेलत रास लाडिली लाल ।
तान-गान गुन सिखवति प्यारी, तहाँ न कोई बाल ।।
ताल मृदंग सगीत विविधि विधि उघटत, भूषन बजत रसाल ।
उरप-तिरप लै नचत सुलप गति, उपजत सुख के जाल ।।
केलि कला रस बरषत हरषत, परसत प्रेम विसाल ।
'नरहरिदास' निकट सुख निरखत, श्याम सुभग उर माल ।।

**भगवतरसिक जी**—लाडिली-लाल दोऊ, रग भरे अंग-अंग, नाँचति सुरति रग,
कोक-कला कुसल दोऊ, उदित मुदित मन ।
हाव-भाव भृकुटि भंग, उपजावति छवि-तरग,
खेलत अंग सग दोऊ, उरझे है प्रेम पन ।।

उमगि-उमगि करत केलि, असन भुज दंड मेलि,
पुलकि-पुलकि लपटि दोऊ, बिलसत हैं घनी-घन।
'भगवतरसिक' लाल ललित नई नवल बाल,
रीझि-रीझि अंचल दोऊ, पौंछत मुख स्वेद-कन॥

महाप्रभु चैतन्यदेव जी के सम्प्रदाय में भी वल्लभ सम्प्रदाय की भाँति प्रायः कृष्णावतार के भावनापरक आध्यात्मिक रास की मान्यता है। इस संप्रदाय के गौड़ीय महात्माओं ने अधिकतर संस्कृत में अपने विद्वतापूर्ण ग्रंथों की रचना की है, जिनमें भागवत की रास पंचाध्यायी का भी मार्मिक विवेचन किया गया है। इस सम्प्रदाय के व्रजभाषा कवि सर्वश्री आनंदघन जी, रामराय जी, सूरदास मदनमोहन जी, गदाधर भट्ट जी माधुरी जी वल्लभ रसिक जी, ललित माधुरी जी आदि के रास संबंधी पद उपलब्ध हैं, जिनमें से कुछ यहाँ दिये जाते हैं—

आनंदघन जी—रास करन मन कीनो सरद विमल मधि, तरनि-तनया तट सघन बन।
गावत सप्त स्वर, तीन ग्राम, ताल जंत्र, उघरति सब्द गति परत परन॥
बंसी की धुनि सुनि, धाइ आईं व्रज-नारि, मनमथ बेदन कीनों प्रान हरन।
कोऊ पति-सुत छाँड्यौ. स्याम सौं सनेह बाढ्यौ. प्रेम की तरग तामें लगीं तरन॥
ये सुख-सोभा दिन-दिन रहैं गृह सरस बधाए गीतन गाय।
'आनँदघन' व्रज जीवन जोरी, रसिकन सदा सहाय॥

रामराय जी—रास रस रसिक रासेस्वरी स्वामिनी॥
रुचिर राजत रसिक, अधर अमृत चसिक. उरज कंचुकि-कसिक वसि करति कामिनी।
मधुर अंग-अंग छवी, सुभग हिमकर रवी, कुमुद सौरभ फवी, अधिक अभिरामिनी॥
कनक किरनन छटा, प्रघट सहचरि घटा, चलति कर कटाक्षन सु मत्त गजगामिनी।
अलिनु आलार वस. करत पिय कों स्ववस. गान सन्मान रस पान जस पामिनी॥
विपिन सोभा सघन त्रिविध पावन पवन, सलिल जमुना रवन, सरद ऋतु जामिनी।
धरत थेई-थेई चरन, मत्त मुनि मन हरन 'श्री रामराय' सरन जुग बरन घन-दामिनी॥

सूरदास मदनमोहन जी—चलियैं जु नैंक कौतुक देखियैं, रच्यौ है रास मंडल,
राधे हौं आई हूँ तुमहिं लैन।
मृद-मद घसि अंग लगाय, मुकट काछिनी बनाय,
मुरली पीतांबर विराजत. इहिं छवि मोपैं न परैं बैंन॥
सब सखि मिलि नाँचति-गावति, ताल मृदंग मिलि बजावति,
नृत्य करैं मध्य, मूरति मानो मैंन।
'सूरदास मदनमोहन' हँसति कहा हौ जू, पाऊँ धारियैं,
जो पैं सुख पियौ चाहौ नैंन॥

गदाधर भट्ट जी—निर्तत राधा-नंदकिसोर।
ताल मृदंग सहचरी बजावत, बिच-बिच मोहन मुरली कल घोर॥
उरप-तिरप पग धरत धरनि पर, मंडल फिरत भुजन-भुज जोर।
सोभा अमित विलोकि 'गदाधर', रीझि-रीझि डारत तृन तोर॥

माधुरी जी—माधुरी की रास, सब सोभा की निवास, जहाँ खेलत रसीले रास, मंडल वलित री।
नूपुर चरन कठमाल कंठ सोभित हैं, किंकिनी मुकटि कलि कूजति ललित री ॥
भृकुटी-विलास मृदु पद-न्यास नृत्य लास, वदन विकास कोटि मदन दलित री।
मुरली की धुनि मंद-मंद गति बाजति है, ताके अनुसार चारु लोचन चलत री ॥

वल्लभ रसिक जी—उनकी रची हुई 'रास की मांझ' बडी सरस रचना है। उसका कुछ अश यहाँ पर दिया जाता है—

पूरन ससि-मडल की किरनें, मनि-मडल पर छाईं।
चमकि-चमकि चहुँदिसि दिसिपुलननि, बन चाँदनी बिछाई ॥
अंबर पर सुंदर तारागन, छाति छपाइ तनाई।
'वल्लभ रसिक' विलास रास, उल्लास गाँस सुधि आई ॥
नव नागर नट चटक-मटक सो, मोर-मुकुट छवि धारी।
धारी छवि चकटीले दुपटा, लटकत छोर छटा री ॥
किये प्रकास रास मडल पर, तास काछनी न्यारी।
'वल्लभ रसिकन' कर ली मुरली, सिर लिएँ तिय मनहारी ॥
झमकि चली सँग बाल, हाल करतालनि लै-लै गोरी।
लाई गति मृदंग उपजाई, छाई वन घनघोरी ॥
थेई-थेई तत्त थेई-थेई, थेई धुनि लै जोरी।
'वल्लभ रसिक' विहारी प्यारी, प्यारी तान झकोरी ॥
तान झकोरनि मारनि तोरनि, आननि जोरनि ठानी ॥
हस्तक भेद कनक ककन की, वनक ठनक मन मानी।
झनक-झनक नूपुर ऊपर, पाइल की बजनि मिलानी।
'वल्लभ रसिक' लटक वेनी की, जी की अति सुखदानी ॥
भृकुटी नचन रचन वचननि की, कटि की लचनि वनी है।
तिय तन मोर-मुकट की लटकनि, मटकनि मैन सनी है ॥
अचल पट मे चंचल निपट, वनी के नैन अनी है।
'वल्लभ रसिक' वनी अवनी पर, वृंदावन अवनी है ॥

ललित किशोरी जी—शाह कुंदनलाल जी उपनाम 'ललित किशोरी' ने रास-नृत्य का सुखानुभव करते हुए कहा है—

श्रीवन वेनु वजाय कें, निरतहिं जुगलकिसोर।
निरखहिं अति अतुराय कें अनमिष नैना मोर ॥
नाचें दोउ कर जोरि कें, मडल दै सखि वृंद।
वृंदावन पुलिनन लखौं, खिली रैन सरदिंद ॥
बंसी फूंकत मोहिनी, मोहत नव व्रजबाल।
करत कुंज कौतुक लखौं, मन भायो नँदलाल ॥
ज्यो-ज्यो अँगुरी लाल की, फिरत वेनु रंध्रान।
त्यो-त्यों थिरकत लाड़िली, निरखहुँ कुंज-लतान ॥

रास साहित्य के रचयिता पूर्वोक्त भक्त-कवियो के अतिरिक्त श्री ब्रजवासीदास और नारायण स्वामी की रास सबधी साहित्यिक देन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ उनकी रचनाओ का सक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

**ब्रजवासीदास**—उनका रचा हुआ 'ब्रज विलास' रास लीलाओ का प्रसिद्ध ग्रथ है, जिसकी रचना स० १८०९ मे हुई थी। यह ग्रथ प्रकाशित हो चुका है। इसकी रचना मे सूरदासादि प्राचीन कवियो की उक्तियो का प्रचुरता से उपयोग किया गया है, अत इसमे मौलिकता का अभाव है। कवि ने सूरदास जी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए लिखा है—

**या मे कछुक बुद्धि नहीं मेरी। उक्ति-जुक्ति सब सूरहि केरी॥**
**कियो सूर सुख-सिधु उजारा। तामै प्रेम-तरग अपारा॥**
**हरि के चरित-रतन विधि नाना। 'ब्रजविलास' सो सुधा समाना॥**

'ब्रज विलास' मे वर्णित लीलाएँ इस प्रकार हैं—१ पूतना वध, २ कागासुर वध, ३ तृणावर्त वध, ४ अन्नप्रासन, ५ नामकरण, ६ वर्षगाँठ, ७ ब्राह्मण लीला, ८ कर्णछेदन, ९ माँटी भक्षण, १० शालिग्राम लीला, ११ ब्राह्मन लीला, १२ माखन चोरी, १३. दावरी बधन, १४ वृ दावन गमन, १५ वत्सासुर वध, १६ धेनु दुहुन, १७ मोती बोवन लीला, १८ बकासुर वध, १९ चकई-भौरा खेलन, २० राधा प्रथम मिलन, २१ अघासुर वध, २२ ब्रह्मा मोह, २३ गोदोहन, २४ धेनुक वध, २५, कालीय दमन, २६ दावानल पान, २७ प्रलबासुर वध, २८ पनघट लीला, २९ चीर हरण लीला, ३० गोवर्धन लीला, ३१ वरुण द्वारा नद हरण, ३२ वैकु ठ दर्शन, ३३ दानलीला, ३४ गोपी प्रेम, ३५ स्नान लीला, ३६ बाट मे मिलन, ३७ सकेत मिलन, ३८ प्यारी के घर मिलन, ३९ नैन अनुराग, ४० मुरली वादन, ४१. रास लीला, ४२ अतर्धान लीला, ४३ महामगल रास, ४४ मान लीला, ४५ हिंडोरा लीला, ४६. फागुन होरी, ४७ सुदर्शन-शाप मोचन, ४८ शखचूड वध, ४९ वृषभासुर वध, ५० केशी वध, ५१ व्योमासुर वध, ५२ मथुरा गमन, ५३ रजक वध, ५४ मल्लयुद्ध, ५५ कस वध, ५६ वसुदेव गृह उत्सव, ५७ कुब्जा गृह गमन, ५८ नद विदा, ५९ यज्ञोपवीत, ६० उद्धव गोपी सवाद।

**नारायण स्वामी**—वे विरक्त सन्यासी थे, किंतु रसिक भक्त और रास के बडे प्रेमी थे। उनकी रचनाओ का सकलन 'ब्रज विहार' नामक ग्रथ मे है, जिसकी अनेक लीलाओ का रासानुकरण मे उपयोग किया जाता है। 'ब्रज विहार' की लीलाएँ इस प्रकार हैं—१. रास की रीति, २. कृष्ण की बधाई, ३. श्री वृषभानोत्सव, ४. बाल लीला, ५. महादेव लीला, ६ यमलार्जु न लीला, ७. माखन-चोरी लीला, ८. पनघट लीला, ९. मग रोकन, १०. उराहनो, ११. मनिहारी, १२. गोरे ग्वाल, १३. मुदरिया, १४. मालिन, १५ अनुराग, १६ बिसातिन, १७ मान, १८ खडिता भाव, १९. वैनी गू थन, २०. ब्रह्मचारी, २१. खेवट, २२. वशी, २३. वंशीवट, २४ अवधूतिन, २५. प्रीति परीक्षा, २६. चद्रावलि, २७. गेद लीला, २८ चीर लीला, २९. श्याम सखी लीला, ३०. नाग लीला, ३१. हिंडोरा, ३२ साझी, ३३. भतरौड, ३४. गोवर्धन, ३५ होली लीला, ३६ दधि लीला, ३७ दान लीला, ३८ वेणु गीत, ३९ पूर्णमासी लीला, ४० वैद्य लीला, ४१. कस लीला, ४२. धनुपभजन लीला, ४३. कुवलिया वध, ४४. उद्धव लीला।

ब्रजभाषा का रास-साहित्य अत्यत विशद और विशाल है, जिसका अधिकाश भाग कीर्तन की पोथियो मे सकलित मिलता है। यहाँ पर उसका सक्षिप्त रूप से उल्लेख किया गया है।

---

सप्तम अध्याय

# ब्रज के उत्सव, त्यौहार और मेले

**उद्भावना और आधार**—किसी भी देश, जाति और समाज की सजीवता, समृद्धि और उसके सुखी जीवन का ठीक-ठीक अनुमान उसके उत्सव, त्यौहार और मेलो से लगाया जा सकता है। जो समाज जितना अधिक उत्सवप्रिय होगा, वह उतना ही अधिक सुखी, समृद्ध और सपन्न भी होगा। हमारा देश सदा से अपने उत्सव-समारोहो के लिए प्रसिद्ध रहा है। यही बात हमारी सास्कृतिक समृद्धि की सूचक है। इस समय हमारा देश पूर्ववत् सुखी और सपन्न नही है; किंतु हमारी उत्सवप्रियता भविष्यत् समृद्धि की आशा जगाये रखती है।

हमारे प्राय सभी उत्सव-समारोह प्रकृति-पूजा और प्रकृति-परिवर्तन की अनुभूति पर आधारित है। सृष्टि के आदि काल से ही मानव समुदाय प्रकृति-पूजा करता आ रहा है। उसने प्रकृति के विविध रूपो की कल्पना कर उनके प्रति अपनी श्रद्धामयी भावना व्यक्त करने मे आनद का अनुभव किया है। सूर्य, चद्र, आकाश, उषा, अग्नि, जल आदि को देवता मान कर उनकी उपासना करना प्रकृति-पूजा से ही सबधित है। इस पूजनीय प्रकृति के सामयिक परिवर्तनो की अनुभूति ने मानव-समाज मे ऋतुओ तथा महीनो की कल्पना को जन्म दिया है और उनके द्वारा हर्ष एव आनद के सुयोग प्राप्त करने की इच्छा के कारण हमारे उत्सव, त्यौहार और मेले बने हैं। इस प्रकार ये सभी उत्सव-समारोह प्रकृति-परिवर्तन की आनददायी अनुभूति के प्रतीक बन कर हमारी धार्मिक भावना और मनोरजकता को व्यक्त करने के साधन रहे है।

**सांस्कृतिक एकीकरण के सूचक**—हिंदू सस्कृति मे चारो वर्णो के लिए चार मुख्य उत्सव नियत किये गये है,—ब्राह्मणो के लिए श्रावणी, क्षत्रियो के लिए दशहरा, वैश्यो के लिए दीवाली और शूद्रो के लिए होली। ये उत्सव वर्णो के अनुसार विभाजित अवश्य किये गये हैं, किंतु व्यवहार मे वे उक्त वर्णों तक ही सीमित नही हैं। सभी लोग इन चारो प्रधान उत्सवो को समान रूप से मनाते है। यह भावना हमारे सास्कृतिक एकीकरण और धार्मिक समन्वय की सूचक है।

**प्रकृति-परिवर्तन के प्रतीक**—इन चारो प्रमुख समारोहो मे से श्रावणी वर्षा ऋतु का उत्सव है, दशहरा और दीवाली शरद ऋतु के मेले है तथा होली वसत ऋतु की आगमन-वेला का त्यौहार है। जब ग्रीष्म के भीषण आतप से झुलसाई हुई प्रकृति वर्षा ऋतु मे लहलहाने लगती है, तब श्रावणी का धार्मिक पर्व और झूलनोत्सव का लोक-त्यौहार आता है। घनघोर वर्षा की बाढ और गरकी से जब प्रकृति मे कुहराम मच जाता है, तब उसे शात करने को शरद की सुहावनी ऋतु आती है और उसी समय दशहरा तथा दीवाली के प्रसिद्ध लोकोत्सव होते हैं। भयकर शीत से सताई हुई प्रकृति जब वसंत के आगमन की वेला मे मुसकराने लगती है, तब होली का आनददायी त्यौहार आता है। इस प्रकार हमारे सभी उत्सव, त्यौहार और मेले प्रकृति की परिवर्तित अवस्थाओ के सूचक हैं। इनकी यह विशेषता है कि ये वसत, वर्षा और शरद के आनंददायी महीनो मे ही मनाये जाते हैं। भीषण गर्मी, घनघोर वर्षा और कठिन शीत के महीनो से इन्हे बचाया गया है। हर्ष, उल्लास और मनोरजन का वातावरण सुखद समय मे ही बन सकता है, कठिन काल मे नही।

**ब्रज में उत्सवों का आधिक्य**—भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा ब्रज मे सदा से ही उत्सव-समारोहो की अधिकता रही है। इस संघर्षपूर्ण युग मे जब प्रत्येक जन का जीवन अनेक झंझटों मे उलझ कर अशांत बना हुआ है, तब भी ब्रज की जनता अपने इन उत्सव, त्यौहार और मेलो के कारण ही कुछ आनंद और उल्लास का अनुभव कर लेती है। ब्रज मे कोई ऋतु और ऋतु का कोई महीना ही नही, वरन् महीने का भी शायद ही कोई दिन हो, जब यहाँ कोई छोटा-बडा उत्सव, मेला और त्यौहार न मनाया जाता हो। इसीलिए ब्रज मे **'सात वार, नौ त्यौहार'** की लोकोक्ति प्रचलित है। इन उत्सव-समारोहो के कारण यहाँ सदैव धार्मिक धूम-धाम का वातावरण और लौकिक मनोविनोद का समाँ बना रहता है। इनका आनंद प्राप्त करने के लिए यहाँ समस्त भारतवर्ष के लाखो यात्री प्रति वर्ष आते रहते हे।

**ब्रज के उत्सवों की धार्मिक भावना**—ब्रज के सभी उत्सव, त्यौहार और मेले धार्मिक भावना से अनुप्राणित है। इनका संबंध किसी न किसी देवता से जुडा हुआ है। वैसे तो वे अधिकतर राधा-कृष्ण की लीलाओ के रंग मे रँगे हुए है, किंतु ऐसे भी अनेक उत्सव हैं, जिन पर अन्य देवी-देवताओ का भी प्रभाव है। ऐसे समारोहो मे शिव चौदस, देवी अष्टमी, राम नवमी के साथ ही साथ जाहरपीर, कुआ वाला, जखैया आदि की पूजा के लोकोत्सव उल्लेखनीय हैं, जो शिव, शक्ति, लोक देवता, यक्षादि से संबंधित है। नाच पंचमी और वट-पीपल की पूजा विषयक लोक त्यौहारो पर आदिम काल की सर्प-पूजा अथवा वृक्ष-पूजा की छाया स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। फिर भी ब्रज के अधिकांश उत्सव-त्यौहारादि राधा-कृष्ण की लीलाओ से ही प्रभावित है। भगवान् श्री कृष्ण के लीला स्थल और कृष्णोपासक सभी संप्रदायो के केन्द्र होने के कारण ब्रज मे ऐसा होना स्वाभाविक ही है। ब्रज के भक्त-कवियो ने प्राय सभी उत्सवो को राधा-कृष्ण की उपासना से जोड दिया है और उनसे संबंधित अनेक रचनाएँ की है। हम यहाँ पर ऋतुओ और महीनो के क्रम से ब्रज मे मनाये जाने वाले धार्मिक उत्सवो, लोक-त्यौहारो और जनप्रिय मेलो का वर्णन करते है।

## वसंत ऋतु ( फाल्गुन-चैत्र ) के उत्सव-त्यौहार—

**वसंतोत्सव**—वसंत ऋतु के अंतर्गत चैत्र-वैशाख के महीने माने जाते है, किंतु इस ऋतु का प्रभाव उनसे पहिले ही दिखलाई देने लगता है। इस ऋतु के दो मुख्य समारोह 'वसंतोत्सव' और 'होलिकोत्सव' है, जो चैत्र से पहिले ही मनाये जाते है। 'वसंत पंचमी' और 'होली' के त्यौहार क्रमश माघ शु० ५ और फाल्गुन शु० १५ को होते हैं। आजकल के हिसाब से ये शिशिर ऋतु के उत्सव है, किंतु प्राचीन परंपरा के अनुसार इन्हे वसंत ऋतु के ही अंतर्गत माना जाता है।

वसंत ऋतु के अवतरण के उपलक्ष मे प्राचीन काल मे एक उत्सव मनाया जाता था, जिसे **'सुवसंतक'** कहते थे। वर्तमान कालीन 'वसंत पंचमी' का उत्सव उसका प्रतिनिधि कहा जा सकता है। उस दिन ब्रज के नर-नारी और बालक-बालिकाएँ शिशिर ऋतु के 'गुलाबी जाडे' मे ही वसंती रंग के झीने वस्त्र पहिन कर वसंत ऋतु के स्वागत करने को तैयार हो जाते है। इस ऋतु के प्राचीन उत्सवो मे सुवसंतक के अतिरिक्त वसंतोत्सव, मदनोत्सव, अशोकोत्तंसिका आदि के भी नामोल्लेख मिलते हैं, जिनके मनोरंजक विवरणो से प्राचीन ग्रंथ भरे पडे है। आजकल इनका प्रतिनिधि होलिकोत्सव है, जो फाल्गुन के पूरे महीने भर तक बडी धूमधाम से मनाया जाता है।

'वसंत पंचमी' सरस्वती देवी के भी जन्म का दिवस है, अत उस दिन सरस्वती-पूजा होती है। जैन समाज मे उस दिन सरस्वती पूजन की आम प्रथा हे। उसे 'श्री पंचमी' भी कहते

है, क्यो कि उसी दिन समुद्र से लक्ष्मी की उत्पत्ति मानी गई है। इस प्रकार यह विष्णुप्रिया लक्ष्मी देवी का भी जन्म दिवस है। यह व्रज का एक प्रसिद्ध लोकोत्सव और त्यौहार है। व्रज की नारियाँ और बालक-बालिकाएँ उस अवसर पर पीले वस्त्र पहिनती है। विवाहित महिलाएँ सौभाग्य-वृद्धि की कामना करती हुई उस दिन व्रत रखती है और लक्ष्मी-नारायण का दर्शन-पूजन करती है। मथुरा मे श्री कृष्ण-जन्म स्थान पर उस दिन उत्सव होता है और मेला लगता है। वृदावन मे शाह जी के मदिर का एक सजा हुआ कमरा 'वसती कमरा' कहलाता है, जिसे देखने और ठाकुर जी के दर्शन करने को उस दिन हजारो दर्शनार्थी एकत्र होते हैं।

व्रज के मदिरो मे उस दिन विशेष उत्सव होते है। सरसो के पीले फूल, बेर तथा रेवडी से भगवान् का भोग लगाया जाता है, अबीर-गुलाल उडाया जाता है और वसत के पद गाये जाते है। व्रजभाषा के भक्त-कवियो ने इस अवसर के लिए बहु सख्यक पद रचे है, जिनमे से दो यहाँ दिये जाते हैं—

रितु वसत वृंदावन, फूले द्रुम भाँति-भाँति, सोभा कछु कहि न जात, बोलत पिक-मोर-कीर।
खेलत गिरिधरन धीर, सग ग्वाल वृद भीर, विहरत मिल जमुना-तीर, बाढ़ी तन मदन-पीर॥
आईं व्रज नवल नारि, संग राधिका कुमारि, नव सत साजे सिंगार, नवल वसन चीर।
वदन कमल नैन-भाल, छिरकत केसर-गुलाल, बूका-चोवा रसाल, सोधौं-मृगमद-अबीर॥
बाजत बीना-उपग, बाँसुरी-मृदंग-चग, मदनभेरि-महुवर-डफ-झाँझ-झालरी-मँजीर।
निरखत लीला अपार, भूलीं सुधि-बुधि सँभार, बलिहारी 'विष्णुदास' देखत ब्रजचद धीर॥

खेलत वन सरस वसंत लाल। कोकिल कल कूजत अति रसाल॥
जमुना के तट फूले तमाल। केतकी-कुंद नौतन प्रवाल॥
तहाँ बाजत बीन-मृदग-ताल। बिच-बिच मुरली अति ही रसाल॥
नव वसंत साजि आई व्रज की बाल। सजि भूषन-वसन अंग,तिलक भाल॥
चोवा, चंदन, अबीर हु गुलाल। छिरकत है पिय मदनगुपाल॥
आलिंगन, चुंबन देत गाल। पहरावत उर फूलनि की माल॥
ईहि विधि क्रीड़त व्रज-नृप कुमार। 'कुंभनदास' बलि-बलि बलिहार॥

**शिव चौदस**—फाल्गुन के उत्सवो मे शिव चौदस का व्रत और लोक-त्यौहार भी उल्लेखनीय है। यह लोकोत्सव फाल्गुन कृ० १४ को मनाया जाता है। उससे एक दिन पहिले तेरस की रात को शिव-रात्रि का जागरण करते हुए महादेव-पार्वती विवाह के लोक गीत गाये जाते है। जोगी लोग अपनी सारगी और डमरू पर महादेव-पार्वती के विवाह की लोक कथा का गायन करते है। दूसरे दिन नर-नारी व्रत रखते है और महादेव जी की पूजा करते है। उसी दिन स्त्रियाँ नव विवाहित दम्पति के साथ महादेव-पार्वती के मदिर मे 'जेगड़' चढाती हैं। वे मिट्टी की कोरी गागरो मे पानी भर कर गाती-बजाती हुई महादेव जी के मदिर मे जाती हैं और वहाँ नव दम्पति से महादेव-पार्वती का पूजन करा कर उन गागरो को चढा देती है। उसे गागर या जेगड चढाना कहते हैं। जिस समय स्त्रियो की मडली 'जेगड' चढाने जाती है, उस समय वे प्राय. होली के रसिया की एक धुन का गायन करती हैं, जो इस प्रकार है—'ढोंढो है जा रे, बान लगि जायगो।

पहिलो बान लग्यो रसिया के, खड़ो ही खडो रहि जायगो॥ ढोंढो है जा रे बान०।'

इस प्रकार इस त्यौहार पर उस होली का रग चढा होता है, जो फाल्गुन के महीने का सबसे प्रमुख लोकोत्सव है।

**होलिकोत्सव**—यह इस देश का अत्यंत प्राचीन और लोक-प्रसिद्ध उत्सव है। ब्रज का तो यह सबसे प्रमुख धार्मिक समारोह, लोकोत्सव और जनप्रिय त्यौहार है जो यहाँ घर-घर में बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। ब्रज की होली समस्त भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। शीतकाल में मुरझाई हुई प्रकृति जब वसंत के आगमन की वेला में फिर से मुस्कराने लगती है, तब होली का आनंददायी त्यौहार आता है। उस समय समस्त ब्रजमंडल में हर्ष, उल्लास और उमंग की लहर उमड़ पड़ती है। उसकी परिधि इतनी विशद और व्यापक होती है कि साधारण झोंपड़ी में रहने वाले कृषक और श्रमिक से लेकर ऊँची अट्टालिकाओं के निवासी सेठ-साहूकार तक उससे समान रूप से प्रभावित होते हैं। उस अवसर पर हास्य-विनोद, गायन-वादन और नृत्य-नाट्य के विविध आयोजनों की सर्वत्र बड़ी धूम मच जाती है।

अयं पचदशी शुक्ला फाल्गुनस्य नराधिप। शीत कालांत सम्प्राप्तो प्रातर्मधु भविष्यति॥
अभयं सर्व लोकानां दीयतां पुरुषोत्तम। यथा ह्यशंकित लोका रमन्ति च हसन्ति च॥
नाना रंगमयैर्वस्त्रैश्चन्दनागुरुमिश्रितैः। अबीरं च गुलालं च मुखे ताम्बूल भक्षणम्॥
वंशोत्थं जलयन्त्रं च चर्मयन्त्रं करे धृतम्। गाति दान तथा हास्यं ललनानर्तनं स्फुटम्॥
जल्पन्तु स्वेच्छया सर्वे निःशंका यस्य मन्मतम्। तेन शब्देन सा पापा होमेन च निराकृता॥

होली जलाने से पहिले अर्घ्य देने का जो मत्र है, उसमे ढु ढा राक्षसी के नाश की तथा उसके समस्त उपद्रवो को शात करने की इस प्रकार प्रार्थना की गई है—

**होलिके च नमस्तुभ्य, ढुण्ढा तेजो विर्मादिनी । सर्वोपद्रव शान्त्यर्थ गृहाणार्घ्य नमोस्तुते ।।**

होली जलाने के बाद रात्रि मे गायन, वादन और नृत्य करने का विधान है—**'गीत वाद्यौस्तथां नृत्यैः रात्रिः सा नीयते जनैः'** । फिर दूसरे दिन होली की राख ( भस्म ) शरीर पर लगाने से वैभव की वृद्धि होना माना गया है—**'अतस्त्व पाति नो देवि विभूतिर्भू तिप्रदा भवेत्'** । होली के दूसरे दिन भस्म लगाने की प्रथा आजकल भी है, किंतु उसका विकृत रूप धूल, मिट्टी, कीचड आदि उछालना भी चल पडा है । बौद्ध धर्म ग्रथ 'धम्मपद' मे 'बाल नक्खत' नामक एक लोकोत्सव का उल्लेख हुआ है, जिसे 'मूर्खो का मेला' कहना उचित है । उसकी तुलना वर्तमान काल की विकृत होली से की जा सकती है ।

सस्कृत साहित्य मे वात्सायन कृत 'कामसूत्र' तथा हर्ष कृत 'रत्नावली' ऐसे ग्रथ है, जिनमे होलिकोत्सव का वडा सजीव वर्णन मिलता है । उनमे नर-नारियो द्वारा पिचकारियो से रगीन जल की बौछार करने, मादक वस्तुओ का सेवन करने और विविध भाँति के हास्य-विनोद करने के मनो-रजक उल्लेख है । उस काल मे पिचकारियाँ बास अथवा चमडा की होती थी और उनका आकार सीग अथवा साँप के फन जैसा होता था । इसीलिए उन्हे 'श्रृ गक' या 'उद्यत फणाकृति श्रृ गक' कहा गया है । उस अवसर पर जो गायन-वादन होता था, उससे सवधित कुछ विशिष्ट नामो का भी उल्लेख मिलता है । उस समय गाये जाने वाले गान को 'चर्चरी' कहा गया है । उसी का विगडा हुआ रूप आजकल का 'चाचर' है, जो होली का खास राग है । वाद्यो मे एक विशिष्ट यत्र 'मर्दल' का उल्लेख किया गया है, जो व्रज साहित्य मे 'मादल' अथवा 'मादिलरा' के रूप मे मिलता है । अष्टछापी कृष्णदास के एक पद मे उक्त वाद्य यत्र का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—**'गिड-गिड़तां धितां धिता मादिलरा बाजै ।'** वात्सायन कृत 'कामसूत्र' और हर्ष कृत 'रत्नावली' के अति-रिक्त यशोवर्मन के दरवारी कवि भवभूति कृत 'मालती माधव' मे भी होली मनाये जाने का प्रमाण मिलता है । सस्कृत के इन प्रसिद्ध ग्रथो के उल्लेखो से ज्ञात होता है कि विक्रम सवत् के आरभ से आठवी शताव्दी तक उत्तर भारत मे होली प्राय इसी प्रकार मनाई जाती थी ।

मुसलमानी काल मे भी होली मनाये जाने के क्रमवद्ध उल्लेख मिलते है । ११वी शती मे महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया था । उसके साथ भारत आने वाले उसके मीर मु शी अलवरुनी ने उस काल मे यहाँ होली मनाने का उल्लेख किया है । मुगल वादशाहो के शासन-काल मे तो होली वडे धूमधाम से मनाई जाती थी । उसमे स्वय वादशाह अपनी वेगमो सहित भाग लेते थे । अकवर के शासन मे राजपूत राजाओ का विशेष प्रभुत्व था । उन राजाओ का प्रेम अर्जित करने के लिए अकवर ने होली-दीवाली आदि हिंदू त्यौहारो को उसी उत्साह से मनाना आरभ किया था, जिस प्रकार वे राजा गण मनाते थे । होली से काफी दिनो पहिले ही राजस्थान के अनेक राजा गण दल-वल सहित आगरा आकर वादशाह के साथ होली खेलने की प्रतीक्षा करते थे । अकवर की हिंदू रानियो के महल होली की चहल-पहल के प्रमुख केन्द्र वन जाते थे । होलिका-दहन से प्रायः एक सप्ताह पूर्व किले के हौजो मे सुगधित रगीन जल भर दिया जाता था। वादशाह अकवर स्वय दीवाने-खास मे अपने सरदार-सामतो के साथ तथा अत पुर मे रानियो और वेगमो के साथ

होली खेलते थे। उन दिनो दरबार मे नित्य नये सास्कृतिक कार्यक्रम तथा गायन-वादन आदि के कलात्मक प्रदर्शन हुआ करते थे। किले के मैदान मे जहाँ राजा-महाराजाओ के खेमे लगे होते थे, वहाँ बादशाह सलामत की होली बनाई जाती थी, जिसे बडे आयोजन के साथ फाल्गुन की पूर्णिमा के सायकाल को जलाया जाता था। उस होली मे अग्नि लग जाने के बाद ही आगरा नगर की जनता अपने-अपने मुहल्लो मे होली जलाती थी। शाहशाह अकबर के पश्चात् जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल मे भी इसी प्रकार होली मनाये जाने के उल्लेख मिलते है। जहाँगीर बादशाह का एक चित्र अपनी बेगमो के साथ होली खेलते हुए मिला है। औरगजेब बडा तास्सुबी मुसलमान था और वह हिंदू सस्कृति का प्रबल विरोधी भी था। उसने अपने शासन-काल मे मनोविनोद की अनेक बाते बद कर दी थी। दरबारी सगीत को भी उसने प्रोत्साहन नही दिया था। ऐसा जान पडता है, होली का राग-रग भी उसके शासन-काल मे फीका पड गया था।

मुसलमानी शासन के शिथिल हो जाने पर जब जाटो और मरहठो का महत्व बढा, तब फिर से ब्रज मे होली की उमग दिखलाई देने लगी थी। ग्वालियर के सिंधिया राजा आगरा और मथुरा मे बडे उत्साह पूर्वक होलिकोत्सव मनाते थे। होली के दिनो मे प्रमुख व्यक्तियो द्वारा सास्कृतिक गोष्ठियो का आयोजन किया जाता था, जिनमे गायन, वादन और नृत्य के सरस कार्यक्रम होते थे। उस समय ब्रज की साधारण जनता होली को और भी अधिक उत्साह पूर्वक मनाने लगी थी। उस काल मे शास्त्रीय सास्कृतिक कार्यक्रमो के साथ ही साथ लोक नृत्य और भगत-नौटकी आदि लोक नाट्यो की भरमार हो गई थी। नर्तकियो और बेडनियो के बाजारू नाँच तथा चग और चिकाडो पर लोक गायन जन साधारण के मनोरजन के साधन बन गये थे। अगरेजो के शासन काल मे और अब स्वाधीन भारत मे भी होलिकोत्सव बडे उत्साह से मनाया जाता है, किंतु उसका रूप अब विकृत हो गया है। इसे प्राचीन परपरा की भाँति ही मनाये जाने का प्रयत्न होना चाहिए।

**होली का वातावरण**—ब्रजमडल मे 'वसत पचमी' (माघ शु० ५) से ही होली का आरभ हो जाता है और चैत्र कृ० ५ को उसकी समाप्ति होती है। फाल्गुन शु० १५ उसका खास दिन है। इस प्रकार प्रायः ४५ दिन तक ब्रज मे होली का वातावरण बना रहता है। ब्रज के मदिर-देवालयो मे वसतोत्सव की पहिली झाँकी माघ शु० ५ को होती है और उसका समापन माघ शु० १४ को होता है। माघ शु० १५ को होली का 'डाडारोपण' किया जाता है और फाल्गुन शु० १५ को 'होलिका-दहन' होता है। ब्रज के जन-जीवन मे फाल्गुन के पूरे महीने भर तक होली के विविध आयोजन होते रहते है। उस अवसर पर आमोद-प्रमोद, नाँच-गान और राग-रग के साथ ही साथ पिचकारी और गुलाल के उपयोग से होली का वातावरण उत्साह और उमग से भर जाता है।

**होली की धूम-धाम**—ब्रज मे होली की धूम-धाम फाल्गुन के दूसरे पखवाडे मे होती है। उस समय नगरो और गाँवो के गली-मुहल्लो मे ऊपले, लकडी, काठ-कबाड आदि ईधन को अधिक परिमाण मे इकट्ठा किया जाता है और उसे फाल्गुन शु० १५ को होली का पूजन करते हुए जला दिया जाता है। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार काष्ठ-सचय का यह कार्य फाल्गुन शु० ५ से शु० १४ तक के १० दिनो मे किया जाना चाहिये—'**पचमी प्रमुखास्तास्तु तिथ योनन्त पुण्यदाः। दशस्वु शोभनास्तासु काष्ठस्तय विधीयते**।।' फाल्गुन शु० ८ से शु० १५ तक के आठ दिन 'होलिकाष्टक' कहे जाते है। उन दिनो लोक-व्यवहार के प्रमुख आयोजन स्थगित हो जाते है। ब्रज की ग्रामीण जनता

गाँवो से बाहर जाना बद कर देती है और खेती-बाडी के कामो से फुर्सत पा लेती है। बाल-बच्चो का काम होली के लिए लकडी-ऊपला इकट्ठा करना और युवा नर-नारियो का काम आपस मे हँसी-ठट्टा, व्यग-विनोद करना तथा होली के लोक गीतो का गायन करना मात्र रह जाता है। उस काल मे राग-रग, गायन-वादन और नृत्य-नाट्य के साथ ही साथ हास-परिहास, हँसी-मजाक और ऊधम-उत्पात का जो दौर चलता है, वह होली के खास दिन के आते-आते अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। व्रज के विभिन्न स्थानो मे जहाँ छोटे-बडे लोग आपस मे हँसी-मजाक और ठट्ठा करते है, वहाँ सास्कृतिक रुचि सम्पन्न व्यक्तियो के घरो मे होली की मजलिसे जमती है। उनमे धमारो के शास्त्रीय गायन तथा रसियो के लोक-गीतो का समाँ बँध जाता है। बाजारो मे प्रति दिन चौपई, डडेशाही, स्वाग-तमाशो के जुलूस निकलते है।

फाल्गुन शु० १५ और चैत्र कृ० १ होली के दो खास दिन माने जाते है। फाल्गुन शु० १५ को सभी स्थानो मे होलिका-दहन होता है। उस दिन चौराहो पर होली जलाई जाती है, जिसमे इकट्ठा किया हुआ समस्त काठ-कबाड फूँक दिया जाता है। चैत्र कृ० १ को 'दुल्हैडी' का त्यौहार होता है। उस दिन प्रात काल से ही रग-गुलाल और साथ ही साथ ऊधम-उत्पात की भी धूम मच जाती है। सभी लोग आपस मे एक दूसरे को गुलाल लगाते है और हँसी-मजाक करते है। बच्चे पिचकारियो से रगीन जल फैक कर लोगो के कपडे तर कर देते है। ये सब कार्यक्रम दोपहर तक समाप्त हो जाते हैं। फिर सभी लोग नहा-धोकर सायकाल को अपने इष्ट मित्रो से प्रेम पूर्वक मिलते है और परस्पर मिठाई वितरण करते है। उस दिन मथुरा मे कृष्ण-जन्म स्थान पर श्री केशवदेव जी के मदिर मे मेला होता है।

**मदिरो की होली**—जनता मे चाहे होली का प्राचीन उत्सव कुछ विकृत हो गया है, किंतु व्रज के मदिर-देवालयो मे अभी तक पुरानी परपरा का ही निर्वाह किया जाता है। मथुरा, वृंदावन, गोकुल, बलदेव, नदगाँव और बरसाने के मदिरो मे उन दिनो ठाकुर जी की जो झाँकियाँ होती है, उनमे होली का परपरागत रूप ही दिखलाई देता है। मथुरा मे ठाकुर द्वारकाधीश और श्री दाऊजी-मदनमोहन जी के मदिरो मे, वृदावन मे श्री बिहारी जी के मदिर मे, गोकुल मे श्री गोकुलनाथ जी के मदिर मे, बलदेव मे श्री दाऊजी के मदिर मे और बरसाना-नदगाँव मे लाडली जी तथा नदराय जी के मदिरो की होली मे झाँकियाँ दर्शनीय होती है। वृदावन मे 'रग भरनी' एकादशी से तथा नदगाँव-बरसाने मे नवमी-दशमी से रग गुलाल का उडना और टेसू फूलो के रगीन जल की बौछार का होना आरभ हो जाता है। मथुरा के वल्लभ सप्रदायी मदिरो मे उससे भी पहिले होली के दर्शन होने लगते है। वल्लभ सम्प्रदाय की सेवा-विधि के अनुसार तो पूरा फाल्गुन ही होली के उत्सवो का महीना है। उसमे प्रति दिन होली की झाँकियाँ होती है, कीर्तनियाँ धमारो का गायन करते है और ढप-ताल-मजीरो के साथ होली के रसिया गाये जाते है।

मथुरा मे श्री दाऊजी-मदनमोहन जी के मदिर वल्लभ सप्रदाय से सबधित है। उनमे अब से २०–२५ वर्ष पहिले तक होलिकोत्सव की बडी धूम-धाम होती थी। मदिरो मे होली से कितने ही दिन पहिले गायन-वादन और रग-गुलाल की भरमार हो जाती थी। फाल्गुन शु० ९-१० को ठाकुर जी की सवारी मदिर से [illegible] मे जाती थी और फिर नगर के मुख्य बाजारो मे होकर निकलती थी। बाजार की दुकानो और उनके ऊपर छज्जो पर नर-नारियो के झुड के

झु ड एकत्र हो जाते थे। ठाकुर जी की सवारी के साथ रग गुलाल से भरी हुई बैल गाडियां चलती थीं। गोस्वामी गण और पुजारी लोग अगोछे और रूमालो मे गुलाल भर-भर कर नर-नारियो पर फैंकते थे। उस समय मथुरा नगर के प्रमुख हाट-बाजार और नर-नारी नाना प्रकार के रगो से पट जाते थे। चारो ओर रग ही रग उडता दिखलाई देता था। विगत २०—२५ वर्षों मे रग-गुलाल बहुत मँहगे हो गये है और श्री दाऊजी-मदनमोहन जी के प्रसिद्ध मदिरो की आर्थिक स्थिति भी ठीक नही रही है, इसलिए होली के वे खर्चीले कार्यक्रम वद कर दिये गये हैं। अब तो मदिरो के अदर ही ठाकुर जी की साधारण झाँकियो द्वारा होली की परपरा का किसी प्रकार निर्वाह मात्र किया जाता है। द्वारकाधीश जी के मदिर की आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत ठीक है, अत उसमे होली के उत्सव कुछ अधिक धूम-धाम के साथ किये जाते हैं।

वृ दावन के मदिरो मे भी होली के अनेक आयोजन और ठाकुर जी के दर्शन होते हैं। फाल्गुन शु० २ से प्राय सभी मदिरो मे होली के दर्शन होने लगते है। फाल्गुन शु० ११ को रग-गुलाल की झाँकियो के साथ ही साथ वसत राग के पदो का गायन होता है। श्री राधावल्लभ जी के मदिर मे 'समाज' होती है, जिसमे प्राचीन परपरा के अनुसार गायन-वादन का आयोजन किया जाता है। श्री बिहारी जी के मदिर मे फाल्गुन शु० ११ से १५ तक होली के दर्शन होते हैं। वृ दावन के दूसरी ओर यमुना पार मानसरोवर का रमणीक स्थान है। श्री हित हरिवश जी का विश्राम स्थल होने से यह राधावल्लभ सप्रदाय का धार्मिक स्थान है। वहाँ फाल्गुन कृ० ११ को एक धार्मिक मेला होता है, जिसमे हजारो नर-नारी एकत्र होते हैं।

**'होली-धमार' का गायन**—ब्रज के मदिरो और सास्कृतिक स्थलो मे इस अवसर पर जो शास्त्रीय गायन होते है, उनमे 'होली—धमार' की धूम-धाम रहती है। ब्रजभाषा के भक्त कवियो ने होली और फाग को बडा महत्व दिया है। राजा नागरीदास ने फाग और ब्रज का अन्योन्याश्रित सबध बतलाते हुए कहा है—'ब्रज तें सोभा फाग की, ब्रज की सोभा फाग।' उन्होंने होली के अभाव मे वैकु ठ के स्वर्गीय वैभव को भी हेय समझा है—'स्वर्ग—वैकु ठ मे होरी जो नाँहि, तो कोरी कहा लै करैं ठकुराई।' ब्रज के भक्त कवियो द्वारा रचे हुए होली के पद इतने प्रचुर परिमाण मे उपलब्ध है कि वे ब्रजभाषा गेय साहित्य के विशिष्ट अ ग माने जाते हैं। इनसे ब्रज के मदिरो मे होली का कीर्तन किया जाता है। यहाँ पर होली विषयक दो पद उदाहरणार्थ दिये जाते हैं—

भोर भयें न दलाल, सग लियें ग्वाल-बाल, फेंटन भरि लिये गुलाल, बोलत मुख होरी।
केसर भरि कलस साथ, पिचकारी लियें हाथ, छिरकत हैं सोधौ बहु, डारत ब्रज-खोरी॥
युबतिन के यूथ माँहि, धसि काढत पकरि बाँहि, मन मे कछु सकुच नाँहि, लीने भरि झोरी।
बाजें डफ-मृदग-ताल, कूजत मुरली रसाल, झु डन मिलि गावत विच महुवरि धुनि थोरी॥
यह विधि हरि करति केलि, बरन्यौ नहिं जात खेल, अनुरागे पागे सब, आये न द—पौरी।
निरखत मुसुकानी, बारति आरती न दरानी, छवि पर वारि डारौं, 'हरिजीवन' तृन तोरी॥

न द-कुँवर खेलत राधा सँग, जमुना-पुलिन सरस रग होरी।
नव घनस्याम मनोहर राजत, स्यामा सुभग तन दामिनि गोरी॥
केसरि के रग कलस भरे बहु, संग सखा हलधर की जोरी।
हाथन लिएँ कनक पिचकारी, छरकें ब्रज की नवल किसोरी॥

चीर-अबीर उडावत, नाँचत कटि सो बाँधि गुलाल की झोरी ।
मगन भई क्रीडत सब सुदरि, प्रेम-समुद्र-तरग झकोरी ॥
बाजत चग-मृदंग-अधौटी, पटह-झाँझ-झालरि सुर घोरी ।
ताल-रबाव-मुरलिका-बीना, मधुर सब्द उघटत धुनि थोरी ॥
अति अनुराग बढ्यौ तिहि औसर, कुल-लज्जा मर्यादा तोरी ।
मदनगोपाल लाल सँग बिहरत, देह-दसा भूली भई बौरी ॥
एक गहत फेंटा फगुवा कों, एक करत ठाडी जु ठठोरी ।
एक जु आँख आँजि कै भाजी, एक विलोकि हँसी मुख मोरी ॥
एकन लई छिनाइ मुरलिका, देत गारि मोहन को भोरी ।
एक फुलेल-अरगजा-चोबा, कुमकुम रस-गागर सिर ढोरी ॥
विविध भाँति फूल्यौ वृदाबन, कूंजत कीर-खटपद-पिक-मोरी ।
निरखत नेह भरी अँखियन सो, यो चितवत निसि चद चकोरी ॥
थके देव-किन्नर-मुनिगन सब, मनमथ निज मन गयौ लज्योरी ।
'परमानदास' या सुख को जाँचत, विमल मुक्ति-पद छोरी ॥

**गाँवो की होली**—व्रज के अनेक गाँवो मे भी होली के आकर्षक कार्यक्रम होते है । उनमे नदगाँव-बरसाने की लठामार होली, जाव-वठैन और बलदेव के होरगे, फालैन की होली तथा गुलाल कुड ( जतीपुरा ), कोकिला वन, लाल बाग ( खेलन बन ) की होली और ऊमरी-रामपुर के चिरकला नृत्य की होली विशेष रूप से उल्लेखनीय है । यहाँ पर उनका विस्तृत वर्णन किया जाता है ।

**बरसाने की होली**—यह होली फाल्गुन शु० ६ को होती है । उससे एक दिन पहिले नदगाँव के मदिर का एक पुजारी श्री कृष्ण के सखा का प्रतीक बन कर बरसाने जाता है और वहां लाडिली जी के मदिर मे पहुँचता है । मदिर मे बरसाने के सभी वयोवृद्ध गोस्वामी तथा विशिष्ट जन एकत्र होते है । उस समय वहाँ 'समाज' होती है, जिसमे होली के पदो का गायन-वादन किया जाता है । नदगाँव का पुजारी वहाँ होली के रसियो का गायन करता हुआ नृत्य करता है और अपने गाँव की ओर से बरसाने मे होली खेलने का आह्वान करता है, जिसे बरसाने के गोस्वामी गण स्वीकार करते है । दूसरे दिन नदगाँव के गोस्वामियो का एक दल भगवान् श्री कृष्ण और उनके सखाओ के प्रतीक रूप मे सज-धज कर गाता-बजाता हुआ बरसाने पहुँचता है । उनके सिरो पर रगीन पाग, जिनमे मोरपख लगे होते है, शोभित होती है । वे बगलवदियो को तन पर धारण करते है । उनके चेहरे चदन और गुलाल से चिते होते है । इस प्रकार वे ग्वालो का सा वेष बनाये हुए होली की उमग मे झूमते तथा नाँचते हुए बरसाने स्थित श्री जी के मदिर मे पहुँच जाते है । उस समय होरियारो का वह दल भगवान् श्री कृष्ण के वहाँ पहुँचने की सूचना के प्रतीक मे बरसाने की गोपियो को सबोधन करता हुआ रसिया गायन करता है—

**रसिया आयौ तेरे द्वार, खबर दीजो ।**
**यह रसिया पौरी में आयौ, जाकी बाँह पकरि भीतर लीजो ॥ रसिया आयौ० ॥**

फिर वे लोग श्री राधिका जी को सबोधन कर उन्हे होली खेलने की चुनौती देते हुए इस रसिया का गायन करते है—

दरसन दै, निकसि अटा मे तें। दरसन दै० ॥
कोटि रमा-सावित्री-भवानी, तेरे निकसी है अग-छटा मे तें। दरसन दै० ॥
तू ऐसी वृषभानुनदिनी, जैसे निकस्यौ है चद घटा मे तें। दरसन दै० ॥
'पुरुषोत्तम' प्रभु यह रस चाख्यौ, जैसे माखन निकस्यौ मठा मे तें। दरसन दै० ॥

मदिर के आँगन मे नदगाँव और वरसाने के गोस्वामी गण आमने-सामने वैठ जाते है। वे श्री कृष्ण और राधिका के पक्ष को उपस्थित करते हुए हास-परिहास तथा व्यग-विनोदपूर्ण गायन-नृत्य के माथ 'समाज' करते है। उस समय वरसाने की ओर से श्री कृष्ण को प्रेमपूर्ण गालियाँ भी गाई जाती है। फिर परस्पर हास-परिहास के लोक गीतो का गायन होता है।

ग्वालो की ओर से गाया जाता है—

वूझौ याहि, सग चलैगी ?
सई-साँझ तें घरी कर्हैया, आधी रात नसैगी। वूझौ याहि० ॥

उसके उत्तर मे गोपियो की ओर से गाया जाता है—

इन गलियन काम कहा तेरौ ?
इन गलियन मेरौ स्यालू फारचौ, मैं तो फारुगी यार झगा तेरौ ॥
खिसली तोहि देखि, अटा मे तें।
तू जो कहै हो, तोहि अघवर लऊगी, मेरी टूटी है वांह वरा मे तें ॥

इस प्रकार हास-परिहासपूर्ण सवाल-जवाव होने के पश्चात् 'समाज' समाप्त हो जाती है। फिर रगीली होली आरभ होती है, जिससे चारो ओर रग-गुलाल छा जाता है और रगीन पानी की वर्षा होने लगती है। होली होने के अनतर नदगाँव के होरियारो का दल मदिर से उतर कर नीचे आता है, जहाँ 'रगीली गली' मे वरसाने के गोस्वामियो के घर की स्त्रियाँ सज-धज कर गोटा-किनारी के लँहगा-ओढनी पहिने, लवे घू घट काढे हुए और हाथो मे वडे-वडे लट्ठ लिए उनके स्वागतार्थ खडी मिलती हैं। गली के चारो ओर के छज्जो पर हजारो नर-नारी घटो पहिले से एकत्र हो जाते हैं।

दोनो पक्ष के होली खेलने वालो के एकत्र होने पर वरसाने की नारियाँ लोक गीतो को गाती हुई नदगाँव के गोस्वामियो की ओर वढती हैं और उन पर धडाधड लाठियो का प्रहार करने लगती है। नदगाँव के लोग साखी गाते हुए उनके प्रहारो से अपने को वचाने लगते है। चमडे की ढालो को अपने सिरो पर रखते हुए वे लोग घेंटुओ के वल भूमि पर वैठ जाते हैं और ढालो पर लाठियो का वार सहते हुए तथा मेढक की भाँति फुदक-फुदक कर आगे वढते हुए अपनी रक्षा करते है। इस प्रकार तीन वार गीतो और साखियो का गायन और फिर तीन वार लाठियो की धडाधड मार के दौर होते है। फिर वरसाने के गोस्वामी लोग आकर अपनी-अपनी महिलाओ को और अधिक प्रहार करने से रोक देते हैं और उन्हे सुरक्षित रूप मे भीड मे से वाहर निकाल ले जाते है। फिर लोक गीत गाते हुए नदगाँव के गोस्वामी भी अपने घरो की ओर प्रस्थान करते हैं। वरसाने की यह होली अपने ढग की एक ही है।

**नदगाँव की होली**—वरसाने की होली के दूसरे दिन फाल्गुन शु० १० को नदगाँव की होली होती है। उस दिन वरसाने के गोस्वामी गण नदगाँव मे वहाँ के गोस्वामियो की स्त्रियो के साथ होली खेलने को जाते हैं। वे लोग राधा जी की ध्वजा लेकर गायन-वादन और नृत्य करते हुए

नंदगाँव पहुँचते है। वहाँ पर सब का भाग-ठडाई और रग-गुलाल मे स्वागत किया जाता है। फिर नदराय जी के मदिर मे 'समाज' होती है, जिसमे नदगाँव और वरसाने के गोस्वामी गण होली के पद, लोक गीत और रसिया आदि का गायन करते हैं। उसके बाद मदिर के आगन मे दोनो ओर के दल परस्पर होली खेलते है। सगीत-समाज और होली के अनतर वरसाने के लोग नदराय जी के मदिर से उतर कर नीचे मैदान मे आते हैं, जहाँ नदगाँव की गोपियाँ सज-धज कर लबे-लबे घूघट काढ़े हुए और बडे-बडे लट्ठ लिए उनके साथ लठा मार होली खेलने को तैयार मिलती है। यहाँ भी वरसाने की तरह नारियो द्वारा लाठियो का प्रहार और पुरुषो द्वारा अपना बचाव किया जाता है।

वरसाने और नदगाँव मे इस अवसर पर स्त्रियो द्वारा होली के 'गीत' और पुरुषो द्वारा 'साखी' गाई जाती है। उन गीतो और साखियो के कुछ नमूने इस प्रकार है—

१. होरी खेली न जाय, होरी खेली न जाय।
   सैनन मे मोय गारी दई, पिचकारी दई, होरी खेली न जाय ॥
   क्यो रे लगर, लगराई मोतें कीनी, केसर-खौरि कपोलन दीनी।
   लै गुलाल ठाडौ मुसिकाय, होरी खेली न जाय ॥ होरी०

२. चूँदरिया रग मे वोरि गयौ, वो कान्हा वसी वारौ ॥
   भरि पिचकारी सन्मुख मारी, मोपै केसर गागर ढोरि गयौ ॥ वो कान्हा०
   वृदावन की कुज गलिन मे, नथ-दुलरीए तोरि गयौ ॥ वो कान्हा०
   गहवर वन और खोर साँकरी, दधि की मटुकी फोरि गयौ ॥ वो कान्हा०
   'चंदसखी' भजि वालकृष्ण छवि, चितवन मे चित चोरि गयौ ॥ वो कान्हा०

फालेन की होली—होलिका-दहन के दिन फाल्गुन शु० १५ को व्रज के फालेन गांव मे वहाँ के प्रहलाद कुड के पास एक मेला होता है। उसे 'प्रहलाद का मेला' कहते है। कुड के निकट २०-२५ फीट के घेरे मे दो-ढाई फीट ऊँची एक होली बनाई जाती है। जब वह खूब प्रज्वलित हो जाती है और उसमे से ऊँची-ऊँची लपटे निकलने लगती है, तब वहाँ का एक पडा कुड मे स्नान कर केवल अगोछा पहिने हुए नगे वदन और नगे पांव जलती हुई होली मे से होकर निकलता है। वह दृश्य अत्यत रोमाचकारी और चमत्कारपूर्ण होता है। उसे देखने के लिए दूर-दूर से हजारो लोग वहाँ जाते है। हिरण्यकश्यप के आदेशानुसार उसकी बहिन होलिका द्वारा प्रहलाद को जलाकर मारने, किंतु उसमे प्रहलाद के जीवित वच जाने की पौराणिक कथा की स्मृति मे यह होली होती है।

दाऊजी की होली—यह होली दुलहटी के दूसरे दिन चैत्र कृ० २ को वलदेव गांव स्थित श्री दाऊजी मदिर के विशाल प्रागण में मध्याह्न के समय होती है। उससे पहिले मदिर मे सगीत समाज का आयोजन होता है। मदिर के पुजारी अहिवासी स्त्री-पुरुष उसमे भाग लेते है। एक ओर नारियाँ लहँगा-ओढनी पहिन कर घूंघट काढे हुए और हाथो मे रग फैंकने की डोलची तथा वटे हुए वस्त्रो के कोडे लेकर तैयार होती हैं और दूसरी ओर उनके पति, देवर तथा निकट सबधी अपने हाथो मे पिचकारी लिये हुए होली खेलने के उत्साह मे मस्त दिखलाई देते है। स्त्रियाँ पुरुषो पर डोलची भर-भर कर पानी फेंकती हैं और कोडे मारती है, तथा पुरुषवर्ग उन पर पिचकारी चलाते है। स्त्रियाँ पुरुषो को अपने कोडो से चाहे कितना ही प्रताडित करे, किन्तु पुरुष उनको तन से स्पर्श तक नहीं कर सकते। वे दूर से ही अपना बचाव करते हुए स्त्रियो पर रग-गुलाल डालते है। बीच-बीच मे होली के गीतो और रसियो का गायन होता रहता है। मदिर के चारो ओर छतो पर हजारो

नर-नारी उस दृश्य को देखने के लिए एकत्र हो जाते हे। यह होली इतने वडे रूप मे होती है कि इसे होरी न कह कर 'होरगा' कहा जाता है।

**जाव-बठैन की होली**—ब्रज के जाव-बठैन गाँवो के जाट जातीय स्त्री-पुरुपो की यह होली चैत्र कृ० ५ को बठैन कलाँ के वलभद्र कु ड पर होती है। कु ड के निकटवर्ती मैदान मे सैकडो स्त्री-पुरुष एक वहुत वडा गोला वना कर वैठ जाते हैं। उसके वीच मे वठैन गाँव की स्त्रियाँ और जाव के पुरुपो मे होली का लीला-युद्ध होता है। स्त्रियो के हाथो मे लवी-लवी लाठियाँ और पुरुपो के हाथो मे काँटेदार वबूल की डाले होती है। पुरुप वबूल की डालो मे छिप कर वैठ जाते है और स्त्रियाँ उन पर लाठी चलाती है। इस प्रकार यह अपने ढग की विचित्र होली होती है।

**जतीपुरा की होली**—गोवर्धन के निकट जतीपुरा गाँव मे नियत दिन से एक दिन पूर्व वहाँ का एक नाई गाँव की स्त्रियो को होली खेलने का निमत्रण दे आता है। दूसरे दिन स्त्री-पुरुप लठामार होली खेलते है। वीच-वीच मे लोकगीतो और रसियो का मु दर गायन होता रहता है। यात्रा के अवसर पर भी जतीपुरा मे गुलाल कु ड पर होली होती है।

**आन्यौर की होली**—यहाँ के होली खेल मे नृत्य-गान की विशेपता होती है। स्त्रियो के हाथो मे लाठियाँ होती तो है, किंतु उनसे वे पुरपो पर प्रहार नही करती है, वल्कि उनके शरीर का लाठियो से स्पर्श मात्र करती हैं।

**ऊमरी-रामपुर का चिरकला नृत्य**—मथुरा जिले के ऊमरी-रामपुर गाँवो की होली की विशेपता वहाँ होने वाले होली के लोक नृत्य के कारण है, जिसे 'चिरकला नृत्य' कहते है। इस नृत्य का आरभ अवसे ६०-६५ वर्ष पूर्व ऊमरी गाँव मे हुआ था। फिर रामपुर गाँव के साँवलिया वढई ने इसमे कुछ नवीनता उत्पन्न की थी। वर्तमान काल का 'चिरकला नृत्य' उसी का विकसित रूप है। यह नृत्य चाँदनी रात मे होता है। 'चिरकला' लकडी का वना हुआ एक चौखटा होता है, जिसमे ३८ गोल पखडियाँ लगी होती है। ये पखडियाँ चिडियो के आकार की सी होती हैं, इसीलिए इसे 'चिरकला' कहा जाता है। यह लकडी का चौखटा मिट्टी या धातु के घडे के ऊपर रखा जाता है और उसकी पखुडियो पर ३८ दीपक रखे जाते है। नृत्य करने वाली जाटिनी चौखटा सहित उस घडे को, जिसका वजन प्राय २० सेर होता है, सिर पर रख कर नाँचती है। वह अपने दोनो हाथो मे पानी से भरे हुए दो लोटे लिए रहती है, जिन पर जलते हुए दीपक रखे होते हैं। स्त्री के साथ उसका देवर करताल वजाता हुआ नाँचता है। उसकी करताल की लय पर चिरकला नृत्य करने वाली नारी दौड लगाती हुई नाँचती है। उसकी यह विशेपता है कि २० सेर वजन सिर पर रख कर वह इस प्रकार नृत्य करती है कि सिर और हाथो के वर्तन तो गिरते ही नही, उन पर रखे हुए दीपक भी न तो गिरते हे और न बुझते है। इस तरह की अद्भुत लोक कला युक्त यह 'चिरकला नृत्य' ब्रज की होली का एक प्रसिद्ध लोक नृत्य है।

इस प्रकार ब्रज मे होलिकोत्सव की जो धूमधाम बसत पचमी से आरभ होती है, वह चैत्र कृ० ११ तक चलती रहती है। चैत्र कृ० ११ को ब्रज की जनता मे होली का समापन होता है। उस समय 'ढप धरि दै यार, गई पर की' अथवा 'गयौ मस्त महीना फागुन कौ, अव जीवै सो खेलै होरी-फाग' के गायन द्वारा सव लोग अपने-अपने वाद्य यत्रो को रख देते है और आगामी वर्ष की प्रतीक्षा करते है।

**फूलडोल**—चैत्र के प्रथम पखवाडे मे मथुरा-वृ दावन के मदिरो मे फूलडोल के उत्सव होते है। उनमे देव-मूर्तियो का फूलो से शृ गार किया जाता है और मदिरो मे फूल वगले वनाये जाते है। उस समय बसत राग के गायन-वादन द्वारा सभी स्थानो मे सगीत के सरस कार्यक्रम होते है। फूलडोलो की धार्मिक परपरा के कारण ही ब्रज की पुष्प-शृ गार कला अभी तक जीवित है। ये उत्सव बस्ती से बाहर के बगीची-अखाडो मे भी मनाये जाते है। उस अवसर पर एक-एक दिन एक-एक ओर के बगीची-अखाडो को मरम्मत, सफेदी, सफाई से ठीक किया जाता है और चित्रकारी से उन्हे सजाया जाता है। वहाँ की सजावट मे स्थानीय विद्वानो, कवियो, कलाकारो और पहलवानो के दुर्लभ चित्र लगाये जाते है तथा झाड, फानूस, दर्पण, चित्र, पिछवाही आदि प्राचीन कलात्मक वस्तुओ का प्रदर्शन किया जाता है। उस समय गायन-वादन के सरस कार्यक्रम भी होते है, जो प्राय रात-रात भर चलते रहते है। कोसी मे फूलडोल का उत्सव वहाँ के गोमती कु ड पर चैत्र शु० २ को होता है।

ब्रजभाषा के भक्त कवियो ने फूलडोल अथवा फूल मडली के अनेक पद रचे है, जिनमे से एक यहाँ दिया जाता है—

**फूलन की मडली मनोहर, बैठे जहाँ रसिक पिय-प्यारी।**
**फूलन के बागे और भूषन, फूलन ही की पाग सँभारी॥**
**ढिग फूली वृषभानुनदिनी, तैसिय फूल रही उजियारी।**
**फूलन के झूमका-झरोखा, बहु फूलन की रची अटारी॥**
**फूले सखा चकोर निहारत, बीच चद मिल किरन पसारी।**
**'चतुर्भु जदास' सब मुदित सहचरी, फूले लाल गोबर्धन धारी॥**

**चौपई**—मथुरा नगर के गली-मुहल्लो मे होली के बाद चौपई-गायन की धूमधाम होती है। ये आयोजन चौबो के मुहल्लो मे विशेष उत्साह पूर्वक किये जाते है। जिस मुहल्ले मे 'चौपई' का कार्यक्रम होता है, वहाँ नर-नारियो और बालक-बालिकाओ की वडी भीड हो जाती है। 'चौपई' मे गाई जाने वाली 'तान' ब्रज के एक विशिष्ट लोक-काव्य और लोक-सगीत का प्रतिनिधित्व करती है। चौपई गायको की मडली करताल और नगाडे की ध्वनि के साथ नॉचती, गाती और भाव प्रदर्शित करती हुई अपनी 'तान' की स्वर-लहरी से मुहल्लो को गुँजा देती है। इस प्रकार फूलडोल और चौपई के वर्तमान लोकोत्सव प्राचीन काल के वसतोत्सव की परपरा का अनुसरण करते हुए ब्रज की विविध लोक कलाओ का सरक्षण और उनका प्रसार करते रहे है।

**ब्रह्मोत्सव**—वृ दावन के श्री रग जी के मदिर मे यह उत्सव चैत्र कृ० २ से चैत्र कृ० ११ तक मनाया जाता है। यह रामानुज सप्रदाय का सबसे बडा उत्सव है। उन दिनो प्रति दिन श्री रगनाथ जी के विशिष्ट दर्शन होते है और उनकी सवारी निकलती है। इसी प्रसग मे चैत्र कृ० ६ को **'रथ का मेला'** होता है। उस दिन ठाकुर जी को रथ मे विराजमान कर मदिर से वाटिका तक ले जाते है। चैत्र कृ० १० को **'आतिशबाजी का मेला'** होता है। दूसरे दिन चैत्र कृ० ११ को यह उत्सव समाप्त हो जाता है। इस उत्सव मे ब्रज की नागरिक और ग्रामीण जनता वहुत वडी सख्या मे सम्मिलित होती है।

**माता-पूजन**—चैत्र के प्रथम पखवाड़े मे ही ब्रज मे माता-पूजन के लोक त्यौहार की धूमधाम रहती है। 'माता' या 'शीतला' ब्रज की लोकदेवी है, जिसकी पूजा का प्रचार साधारणतया

ब्रज की सभी महिलाओ और विशेष रूप से निम्न जाति की स्त्रियो मे प्रचलित है। चैत्र कृ० ८ 'शीतला आठैं' कही जाती है। उस दिन विशेष रूप से शीतला माता का पूजन होता है। यह पूजन बाल-बच्चो की स्वास्थ-कामना के लिए किया जाता है। माता-पूजन के लिए स्त्रियाँ पहिले दिन पूरी-पापडी आदि करती है और दूसरे दिन उस वासी सामग्री से माता की पूजा की जाती है। उस दिन को 'बसौडा' अर्थात् बासी भोजन करने का दिन कहा जाता है। उस दिन स्त्रियाँ चूल्हा नही जलाती है, अत घर के सब लोग वासी भोजन ही करते है। माता के पुजारी प्राय कोली जाति के होते है। ऐसा लोक विश्वास है कि 'माता' का पूजन करने से वह बच्चो को स्वस्थ और सकुशल रखती है, अन्यथा वह रुष्ट होकर उन्हे चेचक रोग से पीडित कर देती है। चेचक को इसीलिए 'माता' कहा जाता है। पहिले इस रोग से बच्चो की बडी सख्या मे मृत्यु होती थी। जो बच जाते थे, वे भी प्राय कुरूप हो जाते थे, यहाँ तक कि बहुत से बच्चो की आँखें सदा के लिए जाती रहती थी। जब से चेचक के टीके लगने लगे है, तब से इस रोग पर नियत्रण कर लिया गया है। फलत अब 'माता-पूजन' का लोक विश्वास भी बहुत कम हो गया है।

**गणगौर**—यह कुमारी कन्याओ के खेल और पूजन का त्यौहार है, जो चैत्र कृ० १ मे आरभ होता है और इसकी अतिम पूजा चैत्र शु० ३ को होती है। इस प्रकार १८ दिनो तक इसके कारण ब्रज का वातावरण प्रात काल और सायकाल के समय छोटी-छोटी कुमारी कन्याओ के गीतो से गू जता रहता है। इसमे गौरी ( पार्वती ) की पूजा की जाती है। यह त्यौहार ब्रज की अपेक्षा राजस्थान मे अधिक प्रचलित है, जहाँ निर्धनो की कुटियो से लेकर धनाढ्यो की हवेलियो तक इसकी धूम-धाम रहती है। राजस्थान मे कुमारी कन्याओ के साथ ही साथ नववधूएँ और सौभाग्यवती नारियाँ भी गौर-ईसर ( गौरी-महादेव ) का पूजन करती हैं। कुमारी कन्याएँ सुयोग्य वर की याचना और नववधूएँ चिर सौभाग्य की कामना गौरी माता से करती हैं। ब्रज और राजस्थान की सीमाएँ मिली हुई है, जिनके कारण दोनो प्रदेशो का चिर काल से घनिष्ट सास्कृतिक सबध रहा है। इसके फलस्वरूप ब्रज के कई उत्सव राजस्थान मे और राजस्थान के ब्रज मे प्रचलित हो गये हैं। गणगौर का लोकोत्सव कदाचित राजस्थान के अनुकरण पर ही ब्रज मे आरभ हुआ है।

ब्रज की कुमारियाँ चैत्र कृ० १ को अपने-अपने घरो मे मिट्टी अथवा लकडी की गौर प्रतिमाएँ स्थापित कर प्रति दिन उनकी पूजा करती है। प्रात काल होते ही वे पूजा के लिए दूब और पुष्पो को लाने के लिए सामूहिक रूप मे अपने घरो से निकल पडती है। उस समय वे गणगौर के गीत गाती जाती है। सायकाल को वे गौर माता की आरती करती हुई फिर गीत गाती है। उस समय जो गीत गाये जाते है, उनकी प्रथम पक्तियाँ इस प्रकार होती हैं—

**१. गौर, ए गनगौर माता, खोल किवाड, बाहर ठाडी तिहारी पूजन हारी।**

**२. गढि लाई म्हारी गौर, छोटी सौ खेलना।**

गणगौर पूजा का अतिम दिवस चैत्र शु० ३ है। उस दिन सभी कुमारियाँ अपनी-अपनी गौर प्रतिमाओ को सामूहिक रूप से गीत गाती हुई किसी जलाशय पर ले जाती है और वहाँ उनका विसर्जन कर देती हैं। उसी दिन गणगौर का मेला भी होता है, जिसमे कुमारी कन्याओ के साथ ही साथ सौभाग्यवती नारियाँ भी खूब सज-धज कर भाग लेती है।

**नव वर्ष**—चैत्र शु० १ को विक्रमीय वर्ष का आरभ होता है। उस दिन ब्रज के मदिरो मे ठाकुर जी के विशिष्ट दर्शन होते है। अनेक व्यौपारी अपने पुराने वही–खातो को वदल कर नये चालू करते है।

**देवी–पूजन**—चैत्र शु० १ से ८ तक ब्रज के विभिन्न स्थानो मे देवी–पूजा के लोकोत्सव होते है। चैत्र शुक्ल पक्ष का आरभ होते ही ब्रज के सैकडो नर–नारी विविध देवियो की जात ( यात्रा ) को जाते है। उस समय वे स्त्री-बच्चो सहित पीले वस्त्र धारण कर घरो से निकलते है और देवी के गीत गाते हुए वडी श्रद्धा पूर्वक यात्रा करते है। चैत्र शु० ८ देवी–पूजा का खास दिन है। उन दिनो जिन देवियो की यात्रा की जाती है, उनमे ब्रज की नरी–सेमरी, साचौली, करौली की कैला देवी और नगरकोट की ज्वाला जी विशेष प्रसिद्ध है। इन देवियो के स्थानो मे वड-वडे मेले लगते है, जिनमे खाद्य पदार्थ और दैनिक उपयोग के सामान की दूकानो के अतिरिक्त सवके मनो-रजन के लिए खेल–तमाशो की भी पूरी व्यवस्था होती है। इन स्थानो मे आठ दिनो तक वडी भीड–भाड और धूम-धाम रहती है। यात्रा से वापिस आने पर अनेक श्रद्धालु देवी–भक्त 'देवी का जागरण' करते है। उस समय रात भर जाग कर देवी के गीत गाये जाते है।

**लांगुरिया**—देवी की 'जात' को जाने वाले यात्री गण जो गीत गाते है, उनमे 'लागुर' या 'लागुरिया' के नाम का प्राय उल्लेख किया जाता है। लागुरिया देवी का लाड़िला बेटा माना गया है, जिसके प्रति भक्ति–भावना प्रकट करना देवी की प्रसन्नता के लिए आवश्यक समझा जाता है। यह बडी विचित्र बात है कि लागुरिया के प्रति यात्रियो की भावना वात्सल्य के साथ ही साथ शृ गार रस से पूर्ण होती है। श्रद्धा पूर्वक देवी–पूजन को जाने वाले नर–नारी लागुरिया के नाम से रसिकतापूर्ण ही नही, वरन् अश्लील गीतो का भी नि सकोच गायन करते है। इस प्रकार के गीत देवी की प्रसन्नता के आवश्यक साधन माने जाते है। ग्रामीण जनता का विश्वास है कि इस प्रकार के गीत गाये विना न तो देवी प्रसन्न होती है और न 'जात' ही सफल होती है। इस विचित्र विश्वास के कारण यात्रा के लिए जाने वाली लोक मडलियो मे रसिकतापूर्ण व्यग-विनोद एव आमोद-प्रमोद का वातावरण बना रहता है। इस प्रकार के गीतो का एक कारण यह भी हो सकता है कि होली के वाद गाये जाने से उन पर होली के व्यग–विनोद की छाया छायी रहती है। यहाॅ पर लागुरिया के गीतो की कुछ आरभिक पक्तियाॅ दी जाती है, जिनमे उनकी रसिकतामयी भावना स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है—

१. मै मरूँगी जहर-विष खाय रे लगुरिया, मति फँसि अइचौ काऊ और तें।
२. करि लीजो तू दूसरौ व्याहु रे लगुरिया, मेरे भरोसे मति रहिओ।
३. नसे में लांगुर आवैगौ, नेंकु ड्योढ़ी-ड्योढ़ी रहियो।
४. अनोखी मालिन भैना, करै तो डरपै काहे कू।
   तेरे हाथ की मू दरी, लांगुर दईए गढाइ॥
५. कोरी चूँदरिया मे दागु न लगइयो रे लागुरिया।

देवी के गीतो का यह वाल नायक 'लागुर' या 'लागुरिया' कौन है, इसके विपय मे निश्चय पूर्वक कहना वडा कठिन है। देवी का वालक माने जाने से उसे भैरव समझा जा सकता है, कितु डा० सत्येन्द्र का मत है कि 'लागुर' लाकुल या लकुलीश नामधारी शिव का द्योतक है। ब्रज

के उच्चारण मे लाकुल ही लागुर अथवा लागुर और लागुरिया हो गया है[1]। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार यह मत ठीक जान पडता है, किंतु लोक विश्वास के कारण जब 'लागुर' को देवी का बालक माना जाता है, तब शिव के साथ उसकी सगति मिलाना कठिन होगा।

**नरी-सेंमरी की देवी**—मथुरा जिला मे छटीकरा स्टेशन के निकट नरी-सेमरी नाम के छोटे गाँव हैं, जहाँ देवी का एक छोटा सा मदिर बना हुआ है। वर्ष भर वहाँ बहुत कम लोग आते-जाते है, किंतु 'नव रात्रि' मे इतनी भीड हो जाती है कि उससे वहाँ एक अस्थायी नगर ही बस जाता है। उस समय वहाँ जो मेला लगता है, उसमे आगरा के यात्री अधिक सख्या मे आते हैं। मदिर मे नरी-सेमरी नामक देवियो की प्रतिमाएँ हैं। ये नाम 'क्षेमकरी' और 'श्यामला' (साँवरी) शब्दो के अपभ्र श जान पडते हैं। मदिर मे श्रद्धालु यात्रियो द्वारा पुष्कल पुजापा चढाया जाता है और प्रचुर भेंट की जाती है। यहाँ नवरात्रि भर पूजा होती है, किंतु चैत्र शु० २ से ६ तक अधिक सख्या मे यात्री आते है।

**साँचौली देवी**—इस देवी का मदिर इसी नाम के एक छोटे गाँव मे है, जो मथुरा जिला मे कोसी परगना के अतर्गत है। यहाँ पर चैत्र शु० ७ को देवी-पूजा का मेला होता है। व्रज की ग्रामीण जनता मे इस देवी की भी बहुत मान्यता है।

**कैला देवी**—इस देवी का सुप्रसिद्ध मदिर राजस्थान के सवाई माधोपुर जिलार्गत करौली के निकट कैला देवी नाम के एक छोटे से गाँव मे है। देवी का मदिर पहाडियो और जगलो से घिरे हुए एकात स्थान मे बना हुआ है, जहाँ हिंसक पशुओ का भी निवास है। इसलिए वर्ष भर तक वह प्राय सूना रहता है, किंतु नव रात्रि के अवसर पर वहाँ ग्रामीण यात्रियो की एक बडी बस्ती बन जाती है। चैत्र कृ० ८ से चैत्र शु० ८ तक के दिनो मे वहाँ बडा मेला लगता है, किंतु देवी-पूजा के विशेष दिन चैत्र शु० २ से ८ तक होते हैं।

कैला देवी करौली राजवंश की कुलदेवी है। जब वहाँ राज्याधिकार था, तब करौली नरेश पूरे राजकीय प्रबध के साथ इस मदिर की देख-भाल और मेला की व्यवस्था करता था। करौली रियासत के राजस्थान मे विलीन हो जाने पर करौली नरेश मदिर के ट्रस्टी के रूप मे वहाँ की समस्त व्यवस्था का उत्तरदायी है। व्रज के दूरस्थ गाँवो से प्राय २-३ लाख ग्रामीण यात्री बैल गाडियो और मोटर बसो मे बैठ कर वहाँ पहुँचते हैं। उनकी भेंट से मदिर को पर्याप्त आय हो जाती है। साधारण यात्री भी पान, बताशे, दीपक और नारियल के अतिरिक्त कम से कम १) अवश्य चढाता है। पूजन के अतिम दिन देवी पर पशु-बलि किये जाने की भी परपरा रही है, किंतु उसमे अब बहुत कमी हो गई है।

कैला देवी के मदिर के निकट एक छोटी सी बरसाती नदी बहती हे, जिसे 'कारी सिल' कहा जाता है। इस नदी मे स्नान कर यात्री गण मदिर मे पूजा करने जाते हैं। मेला मे आने वाले यात्री देवी के गीत गाते रहते है, जिससे वहाँ गायन-वादन और नृत्य का सदैव वातावरण बना रहता है। उन गीतो मे देवी और उसके पुत्र 'लागुर' का उल्लेख श्रद्धा-भक्ति और रसिकता के साथ किया जाता है। उनमे देवी के स्थान की बीहडता और वहाँ की नदी 'कारी सिल' का भी बखान होता है। उनमे से कतिपय गीतो की आरभिक पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

---

(१) व्रज भारती, स० २००९ (वर्ष १०, अक २), पृष्ठ ५६

## वैशाख तथा ग्रीष्म ऋतु ( ज्येष्ठ–आपाढ ) के उत्सव-त्यौहार—

वैशाख, ज्येष्ठ और आपाढ के महीनो मे ब्रज का वातावरण पर्याप्त उष्ण रहता है। उस काल मे यहाँ इतनी गर्मी पडती है कि प्रकृति की वसत कालीन सरस कमनीयता सहसा नीरस कुरूपता मे परिवर्तित होने लगती है। यहाँ के हरे-भरे वन–उपवन उजडने लगते है, उनकी लह-लहाती हुई लता–वेले सूख जानी है और सु दर फूल–फल झुलस जाते है। शीतल-मद-सुगंधित समीर के स्थान पर गर्म लूएँ चलती है और आँधी–तूफानो से सारा वातावरण धूल–धूसरित हो जाता है। ऐसी कठिन ऋतु उत्सव, त्यौहार और मेलो के लिए उपयुक्त नही है। यही कारण है कि पूर्वोक्त फाल्गुन–चैत्र के महीनो की अपेक्षा इन वैशाख, ज्येष्ठ और आपाढ मे यहाँ कम उत्सव होते है।

इन महीनो के कतिपय उत्सव–समारोह इस प्रकार है—

**अक्षय तृतीया**—वैशाख शु० ३ 'अक्षय तृतीया' कहलाती है। उस दिन ब्रज के मदिरो मे ठाकुर जी के जो दर्शन होते है, जिनमे चदनादि शीतल उपकरणो की अधिकता रहती है। वृदा-वन के श्री विहारी जी के मदिर मे उस दिन चरण-दर्शन की विशेप झाँकी होती है। जैन धर्म मे भी इस दिन को महत्वपूर्ण माना गया है। ब्रजभापा के भक्त–कवियो ने अक्षय तृतीया के उत्सव सबधी अनेक पद रचे है। उनमे से एक यहाँ दिया जाता है—

> अक्षय तृतीया महा महोच्छव, चदन लोप किये नदलाल।
> वीच–वीच केसर के वु दका, रुचिर बनावत ब्रज की वाल॥
> करनफूल चदन के सोभित, अरु गु जा–वैजंती माल।
> 'कृष्णदास' प्रभु की यह लीला, निरखत हृदै वसे नदलाल॥

**जानकी नवमी**—वैशाख शु० ९ श्री जानकी जी की जयती का दिन है। उस दिन ब्रज के राम मदिरो मे विशेप दर्शन होते है।

**नृसिह चतुर्दशी**—वैशाख शु० १४ भगवान् श्री नृसिह देव के जन्मोत्सव का दिन है। इसे ब्रज मे धार्मिक उत्सव के साथ ही साथ लोक त्यौहार के रूप मे भी मनाया जाता है। उस दिन मदिरो मे विशेप दर्शन होते हे और अनेक नर–नारी व्रत रखते हैं। गली–मुहल्लो मे नृसिह लीला का लोक नाट्य–नृत्य होता है। मथुरा के श्री द्वारकाधीश जी के मदिर की नृसिह लीला प्रसिद्ध है। इस लोकोत्सव मे विविध देवी–देवताओ के चेहरे लगा कर लोक नृत्य किया जाता है। नृसिह का चेहरा बहुत वडा और भारी होता है। उसे लगा कर नाँचना साधारण व्यक्ति का काम नही है। इस उत्सव मे नृसिह का वीर नृत्य और ताडिका का लोक नृत्य ब्रज की प्राचीन लोक नृत्य कला का प्रतिनिधित्व करते है। नृसिह जी विष्णु के चतुर्थ अवतार माने जाते है। उसी भावना से ब्रजभापा के भक्त–कवियो ने उनका कीर्तन किया है। यहाँ पर तत्सवधी एक पद दिया जाता है—

> श्री नरसिह भक्त-भय-भजन, रजन मन सव सुख-कारी।
> भूत-प्रेत-डाकिनी दुरागम, जत्र–मत्र भव–भय हारी॥
> सबै मत्र तें अधिक नाम, जिन रहत नितंतर उर धारी।
> निज जन सब्द सुनत आनदित, गिर गये गर्भ दनुज–नारी॥
> कोटिक कला दुरासद विनसै, महा काल कौ सहारी।
> श्री नरसिह चरन-पकज पर, जन 'परमानद' वलिहारी॥

**वैशाखी पूर्णिमा**—वैशाख शु० १५ का अपूर्व धार्मिक महत्व है। उसी दिन भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ, उन्हे बुद्धत्व की प्राप्ति हुई और उसी दिन उनका महापरिनिर्वाण भी हुआ था। इसलिए यह दिन बौद्ध धर्मावलबियो मे अत्यत महत्व का माना जाता है। हिंदू धर्म मे भी भगवान् बुद्ध को विष्णु का नवम अवतार माना गया है, अत इस धर्म के अनुयायी भी 'बुद्ध जयती' मनाते है। आज कल यह दिन एक राष्ट्रीय उत्सव के रूप मे समस्त देश मे मनाया जाता है। उस दिन लाखो नर-नारी 'वैशाखी' पर्व मनाते हुए पवित्र नदियो मे स्नान करते है। पंजाब और बगाल मे इसी दिन से नव वर्ष का आरभ किया जाता है।

**वन-विहार**—वैशाख शु० १५ की चाँदनी रात मे 'वन-विहार' के महोत्सव का भी आयोजन किया जाता है। उस रात्रि मे मथुरा की परिक्रमा लगाई जाती है तथा गायन-वादन के सरस कार्यक्रम होते है। वृदावन मे यह आयोजन ज्येष्ठ कृ० २ को किया जाता है। इस प्रकार के आयोजन 'वसत रास' की प्राचीन परपरा का अनुसरण करते है।

**जल-विहार**—ग्रीष्म काल मे ब्रज के मंदिरो मे ठाकुर जी के जल-विहार के दर्शन होते हैं। उस समय देव मूर्तियो का पुष्पो से शृगार किया जाता है और मदिरो मे अनेक भाँतियो के फूल बगले बनाये जाते है। ये बगले सुगधित फूलो, वृक्षो की पत्तियो, केला के छिलको तथा सीपो और पोतो द्वारा अत्यत कलात्मक शैली से बने होते हैं। केले के छिलको के बगले तो हाथीदात के से जान पडते है। बगलो के आगे पानी भर कर यमुना का दृश्य उपस्थित किया जाता है और फव्वारे चलाये जाते हैं। कभी-कभी यमुना के घाटो पर अथवा नावो मे बगले बना कर ठाकुर जी के जल-विहार की प्रत्यक्ष झाँकी प्रस्तुत की जाती है।

**वट-पूजन**—ज्येष्ठ शु० १५ को विवाहित नारियाँ अपने चिर सौभाग्य की कामना करती हुई व्रत रखती हैं और वट वृक्ष का पूजन करती हैं। उस दिन सावित्री-सत्यवान की कथा कही-सुनी जाती है।

**शीतला का मेला**—यह मेला आषाढ के चारो सोमवार को आगरा मे होता है। उन दिनो ब्रज की हजारो स्त्रियाँ आगरा जा कर 'शीतला माता' तथा उनके पुत्र 'कूआ वारे देवता' की पूजा करती है। यह पूजा बालको की रक्षा के निमित्त की जाती है। बच्चो को चेचक की बीमारी से बचाने के लिए शीतला माता की तथा पुत्र-प्राप्ति की कामना और अकाल मृत्यु से उनकी रक्षा करने के लिए 'कूआ वारे' की मनौती मनाई जाती है। आगरा मे शीतला माता के मदिर मे शीतला की तथा उसके निकट की बगीची के विशाल कूआ पर 'कूआ वारे' की पूजा करने के लिए हजारो नारियाँ गाती-बजाती हुई एकत्र होती है। उस समय वे जो लोक गीत गाती हैं, उनमे एक प्रसिद्ध गीत की प्रारंभिक पक्ति इस प्रकार है—**'कूआ वारौ मचलि गयौ बगिया मे।'**

**रथ-यात्रा**—आषाढ शु० २ को रथ-यात्रा का उत्सव होता है। यह उत्सव मूल रूप मे जगदीश पुरी का है, जहाँ समस्त देश के लाखो नर-नारी श्री जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा का दर्शन करने के लिए जाते हैं। गोसाई विट्ठलनाथ जी ने १७वी शती मे इस उत्सव को सर्व प्रथम ब्रज मे प्रचलित किया था। पहिले यह उत्सव वल्लभ सप्रदाय के मदिरो मे ही मनाया जाता था, किंतु बाद मे उसे अन्य सप्रदायो के मदिर-देवालयो मे भी मनाया जाने लगा। इस दिन ब्रज के अनेक मदिरो मे रथारूढ भगवान् के दर्शन होते हैं तथा सवारी निकाली जाती है। वृंदावन के 'ज्ञान गूदडी' मुहल्ला मे वहाँ के देव-स्थानो के अनेक छोटे-बडे रथ एकत्र होते हैं तथा भक्त-जन भजन-कीर्तन करते हैं। वल्लभ सप्रदायी भक्त-कवियो ने रथ-यात्रा के जिन पदो की रचना की है, उनमे से एक यहाँ दिया जाता है—

> **देखो माई, रथ बैठे गोपाल।**
> **सुंदर बदन अनूप विराजति, उर सोहत बनमाल॥**
> **तैसेई घन उनये चहुँ दिसि तें, गरजत परम रसाल।**
> **यह सुख निरखि-निरखि ब्रज-बनिता वारति मोतिन-माल॥**
> **सुर विमान सब कौतुक भूले, बरषत पुहुपनि आय।**
> **'परमानददास' कौ ठाकुर, सब भक्तनि मन-भाय॥**

**भड़रिया नौमी**—आषाढ शु० ६ को 'भडरिया नौमी' कहते हैं। इस तिथि का यह विचित्र नाम क्यो पडा, यह ज्ञात नही होता है। इसकी यह विशेषता है कि उस दिन बिना मुहूर्त के ( अनसूझ ) विवाहादि मागलिक कृत्य किये जाते हैं। उसके बाद 'चातुर्मास' मे सभी मागलिक कार्य स्थगित हो जाते हैं।

**देवशयनी एकादशी**—आषाढ शु० ११ को देवशयनी एकादशी का लोकोत्सव होता है। उस दिन से चार महीने तक देवताओ का शयन-काल माना जाता है। इस लोक मान्यता का कारण यह है कि प्राचीन काल मे वर्षा ऋतु के कारण जब नदी-नालो की बाढ से आवागमन के सभी मार्ग बद हो जाया करते थे, तब लोक व्यवहार के कार्य भी स्थगित हो जाते थे। इसीलिए यह मान लिया गया कि वर्षा ऋतु मे देवता गण शयन करते है, अत. उस काल मे कोई मांगलिक कार्य नही करना चाहिए। आधुनिक काल मे बाधो के निर्माण से नदी-नालो पर नियत्रण कर

लिया गया है और पुलो के निर्माण से वढी हुई नदियो को पार करने मे भी कोई असुविधा नही होती है; अत देवताओ के शयन की प्राचीन मान्यता अव व्यर्थ हो गई है। फिर भी लोक प्रचलित रूढि के कारण वह समाज मे अभी तक विद्यमान है। उस दिन व्रज के नर-नारी व्रत-परिक्रमा आदि धार्मिक कृत्य करते है।

**व्यास पूर्णिमा**—आपाढ शु० १५ भगवान् व्यासदेव का जन्म दिवस है। उस दिन को 'गुरु पूर्णिमा' भी कहते है। शिष्य गण अपने गुरुओ का पूजन कर उन्हे भेट अर्पित करते है। गोवर्धन मे उस अवसर पर 'मुडिया पूनौ' का वडा भारी मेला होता है और गिरिराज जी की परिक्रमा की जाती है। चैतन्य सप्रदाय मे उस दिन श्री सनातन गोस्वामी का निर्वाणोत्सव मनाया जाता है। इस सप्रदाय के विरक्त साधु कीर्तन करते हुए गोवर्धन मे 'मानसी गगा' की परिक्रमा करते है। उस 'घुटमु ड' साधु-मडली के कारण ही इस उत्सव का नाम कदाचित 'मुडिया पूनौ' पड गया है।

उस दिन समस्त व्रज तथा उसके आस-पास के अनेक गाँवो से लाखो ग्रामीण नर-नारी पैदल चल कर गोवर्धन पहुँचते है और वहाँ मानसी गगा मे स्नान कर श्री गिरिराज जी की परिक्रमा करते है। सैकडो भावुक भक्त 'दडौती परिक्रमा' भी लगाते है। यह व्रज मे ग्रामीण जनता का सवसे वडा मेला है। उस अवसर पर परिक्रमा करती हुई ग्रामीण स्त्रियाँ भक्ति सवधी लोक गीत गाती है। ऐसे गीतो मे एक गीत अधिकतर गाया जाता है, जिसकी आरभिक टेक इस प्रकार है—

**"भजौ भाई गोविद नाम हरी। वृदावन की कुंज गलिन में, दैकैं धका निकरी ॥ भजौ०"**

शीघ्रता पूर्वक परिक्रमा करती हुई ग्रामीण नारियाँ प्राय एक दूसरी को धक्का देती हुई चलती है। उनकी उस द्रुत गति का सकेत उक्त गीत मे भली भाँति मिलता है।

## वर्षा ऋतु [श्रावण-भाद्रपद] के उत्सव-त्यौहार—

वर्षा ऋतु अत्यत मनोरम और सुहावनी ऋतु होती है। ग्रीष्म की प्रचड तपन से सतप्त और भयानक ऊष्मा से अकुलाये हुए प्राणी जव त्राहि-त्राहि करने लगते है, तव उन्हे शीतलता और शाति प्रदान करने के लिए वर्षा वरदान के रूप मे आती है। उस काल मे प्रकृति देवी हरित परिधान धारण कर समस्त चराचर जगत् को अपनी रूप-माधुरी से मुग्ध कर देती है। वन-उपवन, वाग-वगीचो पर नई वहार आ जाती है और लता-द्रुम-वल्लरी से समृद्ध वन-श्री अपूर्व शोभा से मुसकराने लगती है।

साधारणतया आपाढ से आश्विन तक के चार महीने वर्षा ऋतु के अतर्गत माने जाते हैं, किंतु श्रावण-भाद्रपद के वीच वाले दो महीनो मे यह ऋतु अपने पूरे यौवन पर होती है। सभी धर्म-सप्रदायो मे वर्षा ऋतु का चातुर्मास्य धर्मोपासना का सर्वोत्तम काल माना गया है। पौराणिक मान्यता के अनुसार चातुर्मास्य देवताओ का शयन-काल है। प्राचीन समय मे सव लोग इन महीनो मे अपने लोक-व्यवहार के कार्यो को स्थगित कर धर्मोपासना के कार्यो मे लग जाते थे। व्रज मे भी उक्त मान्यता का निर्वाह होता रहा है।

वाराह पुराण का उल्लेख है, पृथ्वी मे समुद्रो से लेकर सरोवरो तक जितने भी तीर्थ है, वे देवताओ के शयन काल मे मथुरामडल मे निवास करने को आ जाते है[1]। इस प्रकार चातुर्मास्य

---

(१) पृथिव्यां यानि तीर्थानि आसमुद्रं सरासि च।
मथुराया गमिष्यन्ति प्रसुप्ते च सदा मयि ॥

मे जो लोग ब्रज मे निवास कर धर्मोपासना के विविध आयोजनो मे योग देते है, उन्हे समस्त पृथ्वी के तीर्थों की स्नान-यात्रा का पुण्य अनायास ही प्राप्त हो जाता है। उक्त मान्यता के कारण ब्रज मे सदा से इन महीनो मे अनेक धार्मिक आयोजन और उत्सव-त्यौहार होते रहे है।

श्रावण-भाद्रपद के महीनो मे ब्रजमडल की शोभा देखते ही बनती है। यहाँ के वन-बागो तथा लता-कुजो की कमनीयता मन को हरा-भरा कर देती है और कोकिलो की मीठी तान एव मोरो के तीव्र मधुर स्वर से मुर्दो मे भी नवजीवन का सचार होने लगता है। पूरे वेग से बहती हुई यमुना की पावन धारा और गोवर्धन पहाडी की प्राकृतिक सुपमा से श्रद्धालु भक्तो को जो आनद प्राप्त होता है, वह अकथनीय है। यहाँ के मदिर-देवालयो मे ठाकुर जी की नित्य नई रग-बिरगी झाँकियाँ यात्रियो को दिव्य सदेश प्रदान करती है। यही कारण है कि समस्त भारतवर्ष से यात्री गण श्रावण-भाद्रपद के महीनो मे आकर ब्रज की यात्रा करते है और भगवान् श्री कृष्ण की मनोहर लीलाओ का रसास्वादन कर अपने जीवन को सार्थक मानते है।

**मदिरो में झूले और घटाएँ**—श्रावण के पूरे महीने भर तक ब्रज मे भक्ति, शृगार और कला की त्रिवेणी द्रुत गति से प्रवाहित होती है। उन दिनो ब्रज के देवालयो मे सर्वत्र झूलन के उत्सव किये जाते है। उस समय की सजावट देखने योग्य होती है। रग-बिरगी परदो और झालरो सहित नाना प्रकार के फूल-पत्रो से सजे हुए मदिर झाड-फानूसो के प्रकाश मे चमकने लगते हैं। सभी मदिरो मे झूले डाले जाते है और विविध रगो की घटाएँ बनाई जाती है। उक्त घटाओ के दर्शनो मे वर्षा ऋतु का रगीन वातावरण मदिरो मे प्रत्यक्ष दिखलाने की चेष्टा की जाती है। जिस रग की घटाएँ होती है, उसी रग के झूले सजाये जाते है। ठाकुर जी को उसी रग के वस्त्राभूषण धारण कराते हैं तथा वहाँ का समस्त परिवेश उसी रग मे रँगा हुआ दिखलाई देता है। मदिर के कीर्तनकार भी उसी रग की घटाओ के पदो का गायन करते हैं। यह अद्भुत आनददायक दृश्य देखने पर ही समझा जा सकता है। ब्रज के वल्लभ सप्रदायी मदिरो मे ये आयोजन विशेष रूप से दर्शनीय होते है। मथुरा के श्री दाऊजी-मदनमोहन जी तथा श्री द्वारकाधीश जी के मदिर उन दिनो प्रमुख आकर्षण-केन्द्र बन जाते है, जहाँ पत्र-पुष्प और सोने-चादी के कलात्मक झूले तथा नाना रग के परिधानो की नित्य नवीन घटाएँ दर्शनार्थियो को कौतूहलपूर्ण आनद प्रदान करती हैं।

श्री द्वारकाधीश जी के मदिर मे सोने-चाँदी के नये झूले अब से प्राय ४० वर्ष पूर्व बने थे। उस समय सोने के झूले की लागत प्राय डेढ लाख और चाँदी के झूलो की प्राय १५ हजार रुपया आई थी। झूलो की पिछवाही, जो लाल मखमल पर सुनहरी जरदोजी के काम से तैयार हुई है, प्राय १२ हजार रुपयो की लागत से बनी थी। झूले और पिछवाही दोनो को बडे होशियार कारीगरो ने अत्यत कलात्मक शैली से बनाया है। सोने-चाँदी के झूले श्रावण भर स्थायी रूप से पडे रहते हैं, किंतु पत्र-पुष्पो के झूले और घटाओ मे निरतर नवीनता होती रहती है।

साधारणतया इन झूलो और घटाओ का क्रम कुछ आशिक परिवर्तन के साथ इस प्रकार रखा जाता है,—श्रावण कृष्णा त्रयोदशी को केसरिया रग के झूले और घटाओ का आयोजन होता है। फिर अमावस को हरी, श्रावण शुक्ला द्वितीया को जामुनी, तृतीया को हरियाली, चतुर्थी को आसमानी, छट को गुलाबी, अष्टमी को लाल, दशमी को श्याम, द्वादशी को लहरिया तथा श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को श्वेत रग की घटाएँ होती हे। जिसे दिन जिस रग की घटाओ का आयोजन होता
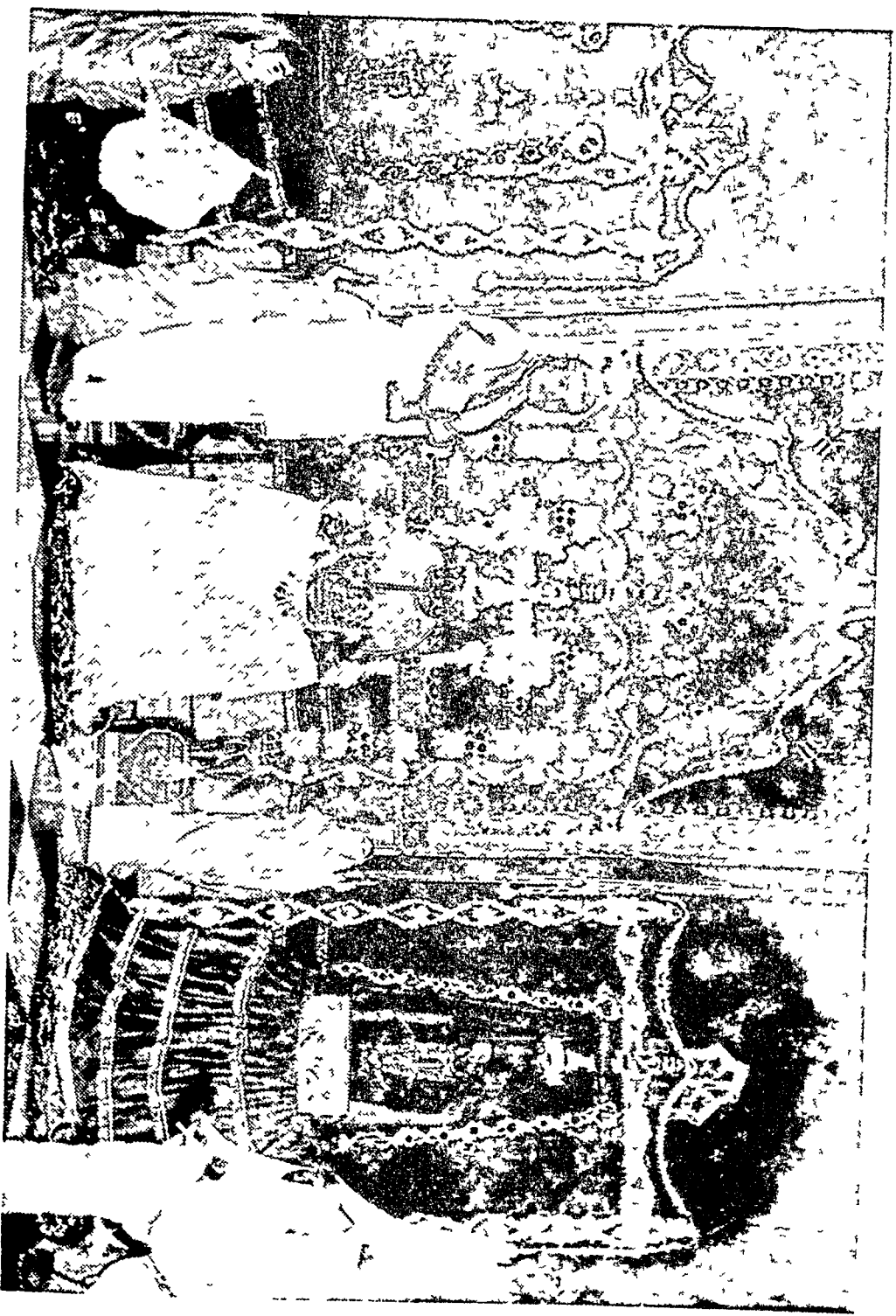
मथुरा के मंदिर मे श्रावण के झूले और घटाएँ

है, उस दिन मदिर का समस्त वातावरण उसी रग मे रँगा हुआ जान पडता है। उसी रग के झूले, उसी रग का ठाकुर जी का शृगार तथा उसी रग की साज-सज्जा और सजावट यहाँ तक कि उसी रग की रोशनी के प्रदर्शन से एक अद्भुत रगीन समाँ बँध जाता है। इनमे श्याम और लहरिया रगो की घटाएँ विशेप रूप से आकर्पक होती है। श्याम रग की घटाओ मे गहरे काले रग के परिधानो से घुमडे हुए बादल, चमकदार रुपहरी जरी से तारागरण एव चद्रमा की प्रतिछवि बनाई जाती है तथा विजली के प्रयोग द्वारा इ द्रधनुप की रगीनी और विद्युत की चचल चमक पैदा की जाती है। लहरिया घटाओ मे समस्त साज-सज्जा और वस्त्रालकार लहरदार रगो के होते है। उसमे झूलो को नाना रगो के वस्त्रो के साथ ही साथ पत्र, पुष्प और फलो से भी सजाया जाया है। झूलो के सामने उद्यान, कु ज, पर्वत, कु ड, सरोवर और घाटो के दृश्य प्रस्तुत किये जाते है तथा फव्वारे चलाये जाते है। यह समस्त प्रदर्शन दर्शनार्थियो को चमत्कृत कर देता है। इन घटाओ के साथ भगवान् के आगे हिडोल और मल्हार रागो मे जो कीर्तन किया जाता है, वह उस कलात्मक रगीन वातावरण को और भी सरम बना देता है।

इस प्रकार श्रावण के महीने मे मथुरा का धार्मिक वैभव दर्शनीय होता है। उस समय यहाँ सभी मदिर-देवालयो मे कीमती सजावट की जाती है। सोने-चाँदी और काँच के झूलो की झलमलाहट, रग-विरगी झाड-फानूसो की चमक-दमक और वर्तमान युग के अनुरूप विजली के बल्वो की चकाचोध से यह नगरी साक्षात् इ द्रपुरी सी जान पडती है। वाल्मीकि रामायण मे कहा गया है, शत्रुघ्न जी ने मथुरा पुरी की स्थापना श्रावण के महीने मे की थी[1]। शायद उसी स्मृति मे यहाँ उक्त महीने मे ही धार्मिक उत्सव-समारोहो की अधिकता रहती है।

मथुरा के अतिरिक्त वृ दावन, गोकुल आदि धार्मिक स्थानो के मदिरो मे भी झूलो के नित्य नये दर्शन होते है। वृ दावन मे शाहजी के मदिर का सजा हुआ कमरा और विहारी जी के मदिर का झूला विशेप रूप से दर्शनीय है। श्री विहारी जी वर्ष मे केवल एक वार श्रावण शु० ३ ( हरियाली तीज ) को ही झूला झूलते है। उस समय उनके दर्शन करने को हजारो नर-नारियो की भीड एकत्र हो जाती है।

**रास और कीर्तन**—श्रावण के महीने मे हिडोलो के साथ ही साथ रास का भी आयोजन होता है। मथुरा-वृ दावन के मदिरो मे उन दिनो विविध रास मडलियाँ नित्य नई लीलाओ द्वारा दर्शनार्थियो मे भक्ति रस का सचार करती है। ब्रज के झूलन-उत्सवो का एक प्रमुख अग कीर्तन-गान भी है। ठाकुर जी की प्रत्येक झाँकी मे मदिरो के कीर्तनकार मल्हार और हिडोल रागो मे उन पदो का गायन करते है, जिन्हे व्रजभापा के भक्त कवियो ने वहुत वडी सख्या मे रचा है। उनमे से कतिपय पद यहाँ दिये जाते है—

> झूलत अति आनद भरे।
> इत स्यामा उत लाल लाडिलौ वैयाँ कठ धरे॥
> वोलत मोर-कोकिला-अलिकुल, गरजत है घन घोर।
> गावत राग मल्हार भामिनी, दामिनि की झकझोर॥

---

(१) वाल्मीकि रामायण, उत्तर काड, ७०-८

नैन्हीं-नैन्हीं बूँद परत हैं ऊपर, मंद-मंद समीर।
फूलन फूलि रह्यौ कानन सब, सुंदर यमुना तीर॥
रीझि रहे सुर-नर-मुनि, बरषत कुसुमन-माल।
'सूर' सकल सुख कौ एही सुख, निरखन मदनगोपाल॥१॥

हिंडोरे माई कुसुमन भाँति बनाई।
नवलकिसोर मनोहर मूरति, ढिग राधा सुखदाई॥
छाय रहे जित-तित तें बादर, बिच दामिनि अधिकाई।
दादुर-मोर-पपैया बोलें, नैन्हीं-नैन्हीं बूँद सुहाई॥
झोटा देत सकल ब्रज-सुंदरि, त्रिविध पवन सुखदाई।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरनलाल की यह छवि बरनि न जाई॥२॥

झूलत दोऊ नवल किशोर।
रजनी जनित रंग सुख सूचत, अंग-अंग उठि भोर॥
अति अनुराग भरे मिलि गावत, सुर मंदर कल घोर।
बीच-बीच प्रीतम चित चोरति, प्रिया नैन की कोर॥
अबला अति सुकुमारि डरति मन, वर हिंडोर झकोर।
पुलकि-पुलकि प्रीतम उर लागति, दै नव उरज अकोर॥
अरुझी विमल माल कंकन सों, कुंडल सों कच डोर।
बेपथ जुत क्यो बनै विवेचित, आनंद बढ्यौ न थोर॥
निरखि-निरखि फूलति ललितादिक, बिवि मुख चंद-चकोर।
दै असीस 'हरिवंश' प्रसंसित, करि अंचल की छोर॥३॥

**लोक जीवन में झूलोत्सव**—ब्रज के लोक जीवन में श्रावण-भाद्रपद के महीने होली के बाद सबसे अधिक उमंग, उत्साह और आनंद के माने जाते हैं। उन दिन वहाँ सर्वत्र झूले पड़ जाते हैं। बाग-बगीचे और घर-आँगन में झूला झूलती हुई ब्रज की नारियाँ और बालक-बालिकाएँ सुरीली तान से मल्हार के गीत गाती हैं। जिन गीतों की मधुर तानों से ब्रज का नभ-मंडल गूँजने लगता है उनमें से एक इस प्रकार है—

सामन आयो सुघड़ सुहावनौ जी, ए जी कोई, आई है अजब बहार। सावन आयौ० ॥
झूला तो झूलें सखियाँ बाग में जी, ए जी कोई, गावें गीत मल्हार॥ सावन आयौ० ॥
नैन्हीं-नैन्हीं बुंदियाँ देखौ झर लग्यौ जी ए जी कोई, बरसत मूसल धार। सावन आयौ० ॥
पटुली पकरि झोटा दै रहे जी, ए जी कोई, झुकि-झुकि कृष्ण-मुरार॥ सावन आयौ० ॥
पिहु-पिहु पपीहा देखो करि रह्यौ जी, ए जी कोई, मोरन की किलकार। सावन आयौ० ॥
कारे-कारे बदरा बहना मेरी चढ़ि रहे जी, ए जी कोई, डरपैं कामिनि नारि॥सावन आयौ०॥

वर्षा की मंद-मंद फुहारों में ब्रज की बहू-बेटियाँ आनंद-किलोल करती हुई झूला झूलने और सुरीले गीत गाने में अपने लौकिक दुख-दर्द को भूल जाती हैं। एक-एक झूले पर दो-दो स्त्रियाँ आमने-सामने बैठ कर झूलती हैं। एक अपने पाँवों की उँगलियों से दूसरी के झूला को पकड़ लेती

है, जब कि दूसरी झोटा लेती है। सग की सहेलियाँ चारो ओर खडी होकर झोटाओ को बढाती है और गीत गाती है। वर्षा की रिमझिम, कोयलो की कूक और मोरो की किलकारी से झूलने का उत्साह सौ गुना बढ जाता है। उसी उत्साह के अतिरेक मे झूला झूलती हुई ब्रज-नारियो की सुरीली तान वायु मडल को रससिक्त करती हुई उठती है—

**अरी भैना, घटा तो उठी है घनघोर, सामन मे चमकै बीजुरी जी ।।**
**कारे-कजरारे री बदरा झुकि रहे, अरी भैना, उमडि-घुमडि चहुँ ओर । सामन मे० ।।**
**झूला झूलति री भैना डर लगै, अरी भैना, पिया गये है परदेस ।। सामन मे० ।।**

स्त्रियाँ ही क्यो, ब्रज के पुरुप भी झूलन का आनद प्राप्त करने को उत्सुक रहते है। नगरो मे तथाकथिक सभ्य पुरुप झूलने मे सकोच करते है, किंतु गाँवो मे पुरुपो की टोलियाँ नि सकोच भाव से झोटा लेकर झूलती है। यहाँ तक कि वे लोग झूलने की प्रतियोगिता भी करते रहते है।

ब्रज मे इन महीनो मे जो उत्सव, त्यौहार और मेले होते है, उनमे से कुछ इस प्रकार है—

**हरियाली अमावस**—श्रावण कृ० १५ को हरियाली अमावस का त्यौहार होता है। उस दिन ब्रज की नारियाँ गायन-वादन और झूलन के साथ उत्तम व्यजनो के खान-पान मे सावन की हरियाली का आनद लेती है।

**हरियाली तीज**—श्रावण शु० ३ को हरियाली तीज का त्यौहार होता है। उस दिन सभी घरो मे नाना प्रकार के पकवान और मिष्ठान्न बनाये जाते है, जिन्हे बडी-बूढी स्त्रियाँ अपनी बहू-बेटियो को बडे स्नेह पूर्वक खिलाती है। उस दिन ब्रज की महिलाएँ विशेप रूप से झूला झूलती है।

**बलदेव-जन्मोत्सव**—श्रावण शु० ५ श्री बलदेव जी का जन्म-दिवस माना जाता है। उस दिन ब्रज के मदिरो मे बलदेव जी की जन्म-बधाई के पदो का गायन किया जाता है। उक्त पदो मे से एक यहाँ प्रस्तुत है—

**रोहिनौ-नदन प्रगटे आज ।**
**सावन शुक्ल पचमी सुभ दिन, सवहिंन के सिरताज ।।**
**गृह-गृह तें गोपी सब धाई, लीन्हे मंगल-साज ।**
**नाँचति गावति करति कुलाहल, मानहुँ रागिनि राज ।।**
**नाम धरन को विप्र बुलाये, नीकौ बन्यौ समाज ।**
**'चतुरदास' कीनौ न्यौछावर, पूजौ मन के काज ।।**

**पचतीर्थी**—श्रावण शु० ५ को ब्रज मे पचतीर्थी परिक्रमा की जाती है। इसमे स्त्रियाँ विशेप रूप से भाग लेती है। वे पहिले दिन मधुवन, दूसरे दिन सतोहा, तीसरे दिन गोकर्ण महादेव, चौथे दिन वृदावन और पाँचवे दिन गरुड गोविद की यात्रा की जाती है।

**नाग पंचमी**—श्रावण शु० ५ को नाग पचमी का त्यौहार होता है। उस दिन ब्रज की स्त्रियाँ नाग देवता की पूजा करती है। घरो की भीत पर कोयले के घोल से सर्पो के चिन्ह बनाये जाते है, जिन्हे स्त्रियाँ पूजती है। मथुरा के सप्त समुद्री कूप और नाग टीले पर स्त्रियाँ नाग देवता की पूजा करने जाती है। यह त्यौहार प्राचीन सर्प-पूजा की परपरा मे प्रचलित हुआ है।

भारत मे सर्प–पूजा अत्यत प्राचीन काल से प्रचलित रही है। वैसे उक्त त्यौहार का सबध सर्प-पूजा की अपेक्षा नागवशीय भारतीय राजाओ की स्मृति–रक्षा से भी हो सकता है। भारतीय इतिहास मे नागवशीय राजाओ का बडा गौरवपूर्ण स्थान रहा है। उन्होने कुषाणादि विदेशी आक्रमणकारियो को भारत से खदेड कर अब से प्राय दो हजार वर्ष पूर्व अपनी वीरता का डका बजाया था। उन्होने अपनी विजय के उपलक्ष मे अनेक यज्ञ भी किये थे। वीरसेन नाग मथुरा का प्रसिद्ध नाग राजा था। सभव है, नाग पचमी का त्यौहार उन्ही नाग राजाओ की विजय के उपलक्ष मे मनाया जाता हो।

**ब्रह्मकु ड का मेला**—श्रावण शु० ९ को वृ दावन मे ब्रह्मकु ड का मेला होता है।

**पवित्रा एकादशी**—श्रावण शु० ११ को पवित्रा एकादशी का उत्सव होता है। उस दिन मदिरो मे ठाकुर जी को 'पवित्रा' नाम की रेशमी माला धारण कराई जाती है। श्री वल्लभाचार्य जी ने उसी दिन से 'ब्रह्म सबध' की दीक्षा देना आरभ किया था, अत वल्लभ सप्रदाय मे उस दिन का विशेष महत्व माना जाता है। इससे सबधित जो पद गाये जाते हैं, उनमे से एक यहाँ दिया जाता है—

> **पवित्रा पहिरें श्री गिरिधर आज।**
> **ब्रज की नारि सबै जुरि आई, छाँडि सकल गृह–काज॥**
> **पचरग पाट फोदना सोभित, चदन अग विराज।**
> **नख–सिख की छवि कहाँ लौं वरनो, कोटि काम सिरताज॥**
> **सावन सुदि एकादसी सोभा, फूले रसिक–समाज।**
> **'कृष्णदास' उर–नैन सिराने, देखत ही ब्रजराज॥**

**श्रावणी अथवा 'सलूना'**—श्रावण शुक्ला १५ को श्रावणी उत्सव मनाया जाता है। यह वैदिक पर्व है, जिसे विशेष रूप से ब्राह्मण वर्ण से सबधित माना गया है। आजकल सभी वर्णो के लोग इसे समान रूप से उत्साह पूर्वक मनाते है। इस उत्सव को 'रक्षा बधन' का त्यौहार भी कहते है। इसकी परपरा 'वामन–बलि' के प्राचीन उपाख्यान के आधार पर प्रचलित हुई जान पडती है। वामन भगवान् ने राजा बलि को अपने लिए भूमि–दान करने को वचनबद्ध कर लिया था। बलि के गुरु शुक्राचार्य ने राजा के हित मे उसका निषेध किया, किंतु बलि ने अपने राज्य को खोकर भी वचन का पालन किया था। आजकल 'रक्षा-सूत्र' बाँधते समय ब्राह्मण उसी घटना का स्मरण करते हुए निम्न श्लोक पढा करते हैं—

**येन बद्धो बलि राजा दानवेन्द्रु महाबल। तेन त्वा प्रतिबधनामि रक्षे माचल माचल॥**

ब्रज के लोक–जीवन मे यह प्राचीन उत्सव 'सलूने' के त्यौहार के रूप मे मनाया जाता है। उस दिन ब्रज की नारियाँ अपने घरो की भीत पर सलूने का थापा बनाती है और उसकी पूजा करती है। उस अवसर पर बहिनें अपने भाइयो के हाथो मे 'राखी' ( रक्षा-सूत्र ) बाँधती है और उनके स्नेह के साथ ही साथ भेंट भी प्राप्त करती है। राखी बाँधने का यह अभिप्राय है कि बहिन अपने भाई को स्नेह–सूत्र से आबद्ध करती है और उसका भाई बहिन के मान-सम्मान की रक्षा करने का सकल्प करता है। भारतीय इतिहास मे ऐसे कई उदाहरण मिलते है, जिनमे आपत्तिग्रस्त

नारियो की रक्षा उनकी 'राखी' के कारण हुई थी। उन नारियो ने अनजान वीर पुरुषो को राखी भेज कर अपना धर्म-भाई बनाया था और उन्होने भी राखी के सन्मान की रक्षा के निमित्त अपने कर्तव्य का पालन किया था।

**जन्माष्टमी**—भाद्रपद कृ० ८ को भगवान् श्री कृष्ण के जन्म का उत्सव मनाया जाता है। वैसे तो यह उत्सव समस्त भारतवर्ष मे होता है, किंतु श्री कृष्ण के जन्म-स्थान मथुरा मे इसे बडे समारोह पूर्वक किया जाता है। मथुरा के अतिरिक्त गोकुल, महावन, वृ दावन आदि लीला-स्थलो मे भी इस उत्सव की बडी धूम-धाम रहती है। देश भर से लाखो नर-नारी उस अवसर पर भगवान् श्री कृष्ण के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करने के लिए मथुरा आते है। वे लोग ब्रज के उन पुण्य स्थलो के भी दर्शन करते है, जहाँ भगवान् श्री कृष्ण ने अनेक लीलाएँ की थी। ब्रज के लोक–जीवन मे जन्माष्टमी को एक महत्वपूर्ण लोक-त्यौहार माना गया है। उस दिन अनेक व्यक्ति निराहार व्रत रखते है और अर्ध रात्रि मे कृष्ण-जन्म का उत्सव मनाते है।

ब्रज के सभी मदिर–देवालयो और विशेष कर वल्लभ सप्रदायी मदिरो मे यह उत्सव विशेष साप्रदायिक विधि से सम्पन्न होता है। मथुरा के श्री द्वारकाधीश जी और श्री दाऊजी–मदनमोहन जी के मदिरो मे ठाकुर जी की भव्य झाँकियाँ होती है। श्री द्वारकाधीश जी का मदिर उस दिन प्रमुख आकर्षण–केन्द्र होता है। वहाँ पर प्रात. काल से मध्य रात्रि तक जन्मोत्सव सबधी अनेक कार्यक्रम होते रहते है। रात्रि के १२ बजे श्री कृष्ण–जन्म के दर्शन होते है, जिसके लिए घटो पहिले से ही हजारो नर-नारी मदिर मे एकत्रित हो जाते है। उस अवसर पर श्री द्वारकाधीश जी को जवाहरात का शृ गार धारण कराया जाता है। मथुरा के श्री कृष्ण–जन्मस्थान पर उस दिन से 'कृष्ण-मेला' लगता है, जो कई दिनो तक चलता रहता है। उसमे प्रति दिन रासधारियो द्वारा श्री कृष्ण की विविध लीलाओ का 'रास' किया जाता है, तथा और भी अनेक धार्मिक कार्यक्रम होते है। उस दिन नगर मे भगवान् श्री कृष्ण की सवारी का जुलूस निकाला जाता है और दिन भर कथा–कीर्तन, गायन–वादन और प्रवचन आदि होते रहते है।

ब्रजभाषा के भक्त-कवियो ने श्री कृष्ण के जन्म से सबधित प्रचुर रचनाएँ की है, जिनका उस दिन मदिरो मे गायन किया जाता है। यहाँ पर तत्सबधी कतिपय रचनाएँ प्रस्तुत है—

आज ब्रज भयौ सकल आनंद।
नद महर घर ढोटा जायौ, पूरन परमानद॥
मगल कलस विराजत द्वारे, गावत गीत अमद।
नाँचत गोपी और गोप सब, प्रगटे गोकुल-चंद॥
विविध भाँति बाजे बाजत है, निगम पढत द्विज छद।
छिरकत दूध-दही-घृत-माखन, प्रफुलित मुख अरविंद॥
देत दान ब्रजराज मगन मन, फूले अ ग न माँई।
देत असीस जियौ जसुमति-सुत, 'गोविंद' बलि-बलि जाई॥

आज ब्रज घर–घर बजति बधाइ।
जसुमति रानी ढोटा जायौ, लागत परम सुहाइ॥
भादो कृष्ण पक्ष शुभ आठै, जन्म लियौ हरि आइ।
वसुदेव–देवकी मान जगत गुरु, आन द की निधि पाइ॥

वरसाने तें भान-कीर्ति को, लै चले ग्वाल लिवाइ।
नाँचत-गावत करत कुलाहल, भादो मास सुहाइ॥
हरद-दूव-अक्षत-दधि-कुमकुम, सु दरि देत वधाइ।
रोरी तिलक सवन के माथें, मगन भए अधिकाइ॥
वैठि जुरे सव नद-भवन मे, सोभा वरनी न जाइ।
नद महोत्सव होत भवन मे, मंगल-साज सुहाइ॥
धन्य जन्म करि मानत अपनौ, मगन भए नंदराइ।
'श्री विट्ठल गिरिधर' चिर जीवौ, सवहिन सुख-निधि पाइ॥

**नदोत्सव**—जन्माष्टमी के दूसरे दिन भाद्रपद कृ० ६ को मथुरा और गोकुल के मदिरो मे नदोत्सव मनाया जाता है। इसमे ढाँढा-ढाँढी नृत्य, जन्मोत्सव की वधाई का गायन और गोप-ग्वालो का अभिनयात्मक प्रदर्शन होता है। इसे 'दधिकादौं' का उत्सव कहते हैं। उस अवसर पर हर्षोन्मत्त भक्तगण 'नद के आनद भयौ, जै कन्हैया लाल की' की ध्वनि करते हुए दिशाओ को गुँजा देते हैं।

**हरतालिका तीज**—भाद्रपद शु० ३ को व्रज की सौभाग्यवती महिलाएँ हरतालिका का व्रत रखती है। सायकाल को वे गौरी-पार्वती का पूजन करती है और कथा सुनती है। यह नारियो की सौभाग्य-कामना का व्रत है।

**गरोश चौथ**—भाद्रपद शु० ४ गणेश जी के जन्म का दिवस माना जाता है। महाराष्ट्र प्रदेश मे उस दिन का उत्सव वडी धूम-धाम से होता है और कई दिनो तक चलता है। व्रज मे इसे लोकोत्सव के रूप मे मनाते है। गणेश जी विद्या के देवता माने जाते है, अत व्रज मे छोटे वालको को प्राय उसी दिन से विद्यारभ कराया जाता है। पाठशालाओ मे गणेश जी का पूजन होता है और वालको को लड्डू तथा गुडधानी का प्रसाद दिया जाता है। छोटे-छोटे छात्रगण वाल पाठ-शालाओ मे डडा वजाते हुए मनोरजन करते है। इस दिन को 'डडा चौथ' अथवा 'चट्टा चौथ' का लोक-त्यौहार भी कहा जाता है। उस रात्रि मे चंद्र-दर्शन का निषेध है। ऐसा लोक विश्वास है कि उस दिन चद्रमा देखने वाले को व्यर्थ का लाछन लगता है। रात मे कुछ लोग ई ट-पत्थर फेकने का शकुन मनाते है, किंतु यह अध परपरा अव वद हो रही है।

विद्वानो का मत है, गणेश जी मूल रूप मे आर्य देवता नही हैं। आरभ मे वे अनार्यो द्वारा पूजित विघ्नकारक ग्राम देवता थे। जव आर्यो का अनार्यो मे सपर्क हुआ, तव अनेक अनार्य देवता भी आर्यो द्वारा स्वीकार कर लिये गये थे। उसी समय से गणेश जी का आर्यो के धर्म ग्रथो, विशेष कर पुराणो मे प्रवेश हुआ। फिर वे विघ्नकारक ग्राम देवता के स्थान पर देवाधिपति गण-राज के रूप मे पूजित होने लगे। आजकल हिंदुओ के समस्त कार्यो मे गणेश जी की प्रथम पूजा की जाती है।

**ऋषि पंचमी**—भाद्रपद शु० ५ को व्रज की महिलाएँ ऋषि पचमी का व्रत रखती हैं। वे एक काठ के पट्टे पर मिट्टी से ऋषियो की मूर्तियाँ वनाती है और उनकी पूजा करती है। उस अवसर पर एक लोक-कथा भी कही जाती है। यह स्त्रियो का लोक-त्यौहार है।

**वलदेव छट**—भाद्रपद शु० ६ 'वलदेव छट' कही जाती है। उस दिन व्रज के वलदेव ग्राम स्थित श्री दाऊजी के मदिर मे विशेष उत्सव होता है और मेला लगता है।

**राधाष्टमी**—भाद्रपद शु० ८ को श्री राधा जी का जन्म दिवस है। उस दिन वृदाबन, बरसाना और रावल के अनेक मदिरो मे श्री राधा जी का जन्मोत्सव बडे समारोह पूर्वक मनाया जाता है। वृदावन मे उसी दिन स्वामी हरिदास की जयती भी मनाई जाती है। यह उत्सव टट्टी सस्थान और विहारी जी के मदिर मे विशेष आयोजन के साथ किया जाता है। उस अवसर पर श्री राधा जी की जन्म–बधाई के पदो का गायन भी होता है। व्रजभाषा के भक्त–कवियो ने तत्सबधी अनेक पद रचे है, उनमे से एक यहाँ दिया जाता है—

चलौ वृषभानु गोप के द्वार।
जन्म लियौ मोहन हित स्यामा, आदनँनिधि सुकुमार॥
गावत जुवति मुदित मिलि मगल, उच्च मधुर धुनि धार।
विविध कुसुम किसलय कोमल दल, सोभित बदनवार॥
विदित वेद विधि विहित विप्रवर, करि स्वस्तिनु उच्चार।
मृदुल मृदग–मुरज-भेरी-डफ, दिवि दुदभि रवकार॥
मागध–सूत–बंदी–चारन, जस कहत पुकार–पुकार।
हाटक–हीर–चीर–पाटंबर, देत सँभार–सँभार॥
चंदन सकल धेनु तन मडित, चले जु ग्वाल सिगार।
(जय श्री) 'हित हरिवश' दुग्ध–दधि छिरकत, मध्य हरिद्रागार॥

**वामन द्वादशी**—भाद्रपद शु० १२ को वामन भगवान् का जन्म दिवस है। उस दिन व्रज के मदिरो मे 'वामन जयती' का उत्सव मनाया जाता है। व्रज के 'ऊँचा गाँव' नामक स्थान मे उस दिन श्री नारायण भट्ट जी की समाधि पर 'समाज' गायन होता है और रासलीला होती है।

**व्रज-यात्रा**—भाद्रपद शु० १२ को वल्लभ सप्रदायी गोस्वामियो द्वारा व्रज-यात्रा का आयोजन किया जाता है। यह यात्रा प्राय ४५ दिनो मे पूर्ण होती है। यात्रा का आरभ मथुरा से होता है और समस्त व्रज के लीला स्थलो मे होती हुई, उसे वहाँ पर ही समाप्त किया जाता है।

**मटुकी लीला**—भाद्रपद शु० १३ को बरसाने के निकट 'साँकरी खोर' नामक स्थान मे 'मटुकी लीला' का मेला होता है। साँकरी खोर दो पहाडी टीलो के बीच का एक सकीर्ण मार्ग है। कहते है, उसी स्थान पर भगवान् श्री कृष्ण गोपियो को रोक कर उनसे दान ( कर ) माँगा करते थे। उसी की स्मृति मे 'मटुकी लीला' का आयोजन होता है। साँकरी खोर के दोनो ओर वाले टीलो मे से एक पर बरसाने के और दूसरे पर नदगाँव के व्रजवासी गोप वेश बना कर बैठ जाते है और रसियो का गायन करते है। नदगाँव वाले कृष्ण के पक्ष मे दान माँगने के रसिया गाते है और बरसाने वाले राधा तथा गोपियो के पक्ष मे दान देने का निषेध करते है। इस प्रकार यह रोचक सवाद गायन–वादन के साथ लोकोत्सव के रूप मे प्राय दो घटे तक चलता है। फिर राधा और गोपियाँ तथा ग्वाल-बाल का अभिनय करने वाले साँकरी खोर मे जाकर दानलीला का प्रदर्शन करते है। उसमे श्री कृष्ण द्वारा गोपियो की दही–माखन की 'मटुकी' गिरा कर तोड दी जाती है। इस प्रकार यह लोक–मेला सम्पन्न होता है। उसे देखने को व्रज के कई हजार नर–नारी एकत्र होते है।

**अनंत चौदस**—भाद्रपद शु० १४ को अनत चौदस का उत्सव होता है। 'अनत' विष्णु का ही नाम है, अत इस दिन विष्णु भगवान् का पूजन किया जाता है। व्रज के मदिरो मे उस अवसर

पर ठाकुर जी की विशेष झाँकी होती है। ब्रज के लोक-जीवन मे इस दिन को एक त्यौहार के रूप मे मनाया जाता है। ब्रज की महिलाएँ इस दिन व्रत रखती है और एक सूत के धागे मे चौदह गाँठे बाँध कर उसका पूजन करती है। ऐसा लोक विश्वास है कि अनत चौदस का व्रत रखने से समस्त कामनाएँ पूरी होती है, और परिवार को सुख-समृद्धि प्राप्त होती है।

**तैराकी का मेला**—भाद्रपद के महीने मे जब मथुरा मे यमुना नदी का भरपूर प्रवाह होता है, तब उसकी तेज धारा मे तैरने वाले दलो की तैराकी प्रतियोगिता होती है। यह आयोजन एक मेला के रूप मे भादो मे प्रति सप्ताह होता है। इसे देखने के लिए सैकडो लोग मथुरा के घाटो पर एकत्र हो जाते है। तैरने वालो का जो दल विजयी होता है, वह सायकाल को जुलूस बना कर नगर मे निकलता है और विविध स्थानो पर उसका स्वागत-सत्कार किया जाता है।

**स्वाधीनता दिवस**—ईसवी सन् की तारीख १५ अगस्त को हमारा देश अगरेजी शासन से मुक्त होकर स्वाधीन हुआ था। उसके उपलक्ष मे उस दिन स्वाधीनता दिवस के रूप मे बडा उत्सव मनाया जाता है। यह एक राष्ट्रीय महोत्सव है, जो प्राय भाद्रपद की किसी तिथि को पडता है। देश के अन्य स्थानो की तरह ब्रजमडल मे भी इसे बडे उत्साह पूर्वक मनाते हैं।

## शरद ऋतु ( आश्विन–कार्तिक ) के उत्सव-त्यौहार—

वर्षा के पश्चात् शरद की सुहावनी ऋतु आती है। पावस ऋतु की घनघोर वर्षा के कारण नदी–नालो के उफनने से आवागमन मे जो बाधा उपस्थित हो गई थी, वह शरद ऋतु के आते ही दूर हो जाती है। इसलिए पथिको और सार्थवाहो के आवागमन से सर्वत्र चहल-पहल होने लगती है। सर–सरिताओ का मटमैला जल निर्मल हो जाता है और तालाबो मे खिले हुए कमलो पर भ्रमर गण गु जार करने लगते है। वर्षा ऋतु के मेघाच्छादित आकाश मे तो चद्रमा के दर्शन भी कठिनता से होते थे, किंतु शरद ऋतु के आते ही आकाश स्वच्छ हो जाता है और चद्रमा का निर्मल प्रकाश चारो ओर फैलने लगता है। शरद ऋतु का अधिक महत्व निर्मल चद्र और स्वच्छ चद्रिका के कारण ही है। वास्तव मे शरद की चाँदनी रात इतनी आनददायी और प्रभावोत्पादक होती है कि उसे देखते ही मुरझाये हुए मन की कलियाँ खिल उठती हैं।

शरद ऋतु की इसी मनोरम रात मे भगवान् श्री कृष्ण ने अपनी भुवनमोहिनी वशी बजा कर ब्रज–बालाओ को बेसुध कर दिया था। वे उसकी तान पर बावली की तरह अपने घरो से निकल कर घनघोर जंगल की ओर दौड पडी थी। उनकी उस दयनीय दशा से द्रवित होकर भगवान् श्री कृष्ण ने ब्रज-बालाओ के साथ सुखद रास-क्रीडा की थी। उस समय शरद ऋतु की निस्तब्ध, नीरव और निर्मल चाँदनी रात मे सु दरी ब्रज–नारियो के ककन किंकिनि-नूपुरो की झन-कार से, उनके अग-सचालन और पदाघात की कोमल-मधुर ध्वनि से तथा उनके गायन–वादन की ताल–स्वरयुक्त सगीत-लहरी से सभी दिशाएँ गूँज उठी थी। ब्रज का साहित्य शरद के निर्मल चद्र, उसकी उज्ज्वल चद्रिका, श्री कृष्ण के वशी-वादन के अद्भुत प्रभाव तथा रास–लीला के मनोरम कथनो से भरा पडा है।

इस ऋतु मे ब्रज मे अनेक उत्सव, त्यौहार और मेले होते है, जिनमे विजय दशमी ( दशहरा ) और दीवाली के समारोह अधिक प्रसिद्ध है। इन्हे देश भर के करोडो नर-नारी अपने-अपने ढग से मना कर आनद प्राप्त करते है। ब्रज मे भी इन उत्सवो को बडे उत्साह और उमग के

साथ मनाया जाता है। इसे ऋतु की सगीतात्मक विशिष्टता का सुफल 'रास' है, जो ब्रज की महान् कलात्मक देन है। आश्विन पूर्णिमा रास का मुख्य दिवस माना गया है। इसे ब्रज मे एक महान् सास्कृतिक उत्सव के रूप मे मनाया जाता है। इस ऋतु के प्रमुख समारोहो का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

**पितृपक्ष**—आश्विन कृ० १ से १५ तक का पखवाडा पितृपक्ष कहलाता है। इन १५ दिनो मे पितृो के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करने के लिए 'श्राद्ध' किये जाते है। पिडोदक और ब्रह्म-भोज द्वारा पितृो को तृप्त करना अनेक ब्रजवासी अपना आवश्यक कर्तव्य समझते है।

**साँझी**—आश्विन मास के पितृपक्ष का सबसे प्रसिद्ध समारोह 'साँझी' का आयोजन है। इसे ब्रज मे धार्मिक उत्सव, लोक–त्यौहार और कलात्मक प्रदर्शन आदि कई रूपो मे सम्पन्न किया जाता है। 'साँझी' ब्रज की एक लोक देवी है। साँझ ( सध्या ) के समय पूजी जाने के कारण कदाचित इसका यह नाम पडा है। 'साँझी' सभवत गौरी-पार्वती का ही एक लोक प्रसिद्ध रूप है। आश्विन के प्रथम पखवाडे मे इसके पूजन की ब्रज मे बडी धूम-धाम रहती है। ब्रज के धर्माचार्यो और भक्त-कवियो ने साँझी की लोक-पूजा को राधा-कृष्णोपासना से भी जोड दिया है। इसके कलात्मक रूप की झाँकी ब्रज के मदिर-देवालयो मे मिलती है और इसका भक्तिपूर्ण कथन ब्रजभापा काव्य मे हुआ है।

**मदिरो मे साँझी का प्रदर्शन**—ब्रज के मदिरो और सास्कृतिक स्थलो मे साँझी का प्रदर्शन सूखे रगो तथा कागज के 'साँचो' ( खाको ) द्वारा अत्यत कलात्मक ढग से किया जाता है। कागज के कटे हुए साँचो पर विविध प्रकार के सूखे रग छिडक कर उनके द्वारा वेल-बूँटे, फूल-पत्ती पशु-पक्षी, कु ड-सरोवर, नगर-गाँव आदि का चित्रण किया जाता है। उसके साथ ही देव-मूर्तियो और श्री कृष्ण-लीला के विविध प्रसग भी चित्रित किये जाते है। यह साँझी पितृ पक्ष के १५ दिनो तक, विशेप कर क्वार वदी ११ से १५ तक बनाई जाती है, और यह ब्रज की एक विशिष्ट लोक कला का प्रतिनिधित्व करती है। इस प्रकार की साँझी मदिरो के अतिरिक्त ब्रज के कतिपय कलाप्रिय सम्पन्न घरानो मे भी बनती है। इनमे मथुरा के ज्योतिपी बाबा घराने की साँझी अधिक प्रसिद्ध थी। अब अधिकाश स्थानो मे इसका बनना बद हो गया है, जिसके कारण परपरा से सुरक्षित कलापूर्ण साँचे भी नष्ट होते जा रहे है। ब्रज की इस लोक कला की अवनति खेदजनक है।

**भक्ति-काव्य में साँझी का कथन**—ब्रज के भक्त-कवियो की रचनाओ मे राधा-कृष्ण द्वारा साँझी खेलने का भक्तिपूर्ण कथन किया गया है। राधा जी के उपासक वृ दावन के भक्त-कवियो ने 'साँझी लीला' के अनेक लबे पदो की रचना की है। यहाँ ऐसे एक पद का कुछ अश प्रस्तुत है—

रग रँगीली लाडिली, प्यारी खेलति साँझी साँझ हो।
लिएँ ललित सँग सहचरी, नव कुंजमहल के माँझ हो॥
लाल रसाल रुमाल माँहि लै, फूले फूल सुरग हो।
मदन सदन को रवन चले, रचि रचित तलप नवरंग हो॥
तब लगि ललिता ललित लली सो, कही बात हित जानी।
सुनौ कुँवरि मिलि खेलै साँझी, यहै खेल रस खानी॥
सुनत सखी के वचन छबीली, फूलि उठी मन माँहि।
रमकि–झमकि चमकति चपला सी, हँसि-हँसि परति उमाँहि॥××

अलवेली इक धाई, आई कहति स्याम सो वैन।
चलौ कुँवरि कौ कौतुक देखौ, सफल करौ निज नैन ॥
अरवराइ चले लाल ख्याल हित, वाल भेष धरि मीति।
मनौ वाल के ध्यान लाल भयौ, कीट-भृंग की रीति ॥ × ×
यौं कौतूहल करति सहचरी, नितप्रति चोज वढाय।
सदा सखी दपति के सुख सो, और न इन्हे सुहाय ॥
जो यह साँझी पढै-पढावै, गावै हित के भाय।
'प्रेमदास' सो साझी पावै, या साँझी मे आय ॥

साँझी का लोकोत्सव-ब्रज की वालिकाओ के लिए साँझी का लोकोत्सव प्रसिद्ध खेल है। इसमे उनके मनोरंजन के साथ ही साथ लोक कला के आकर्षक रूप की झाँकी भी मिलती है। पितृ पक्ष के आते ही ब्रज की छोटी-छोटी वालिकाएँ घर की दीवारो पर गोवर, फूल, पन्नी आदि से साँझी का चित्रण करती है। यह चित्रण १५ दिनो तक प्रति दिन नये-नये रूपो मे किया जाता है। सध्या को साँझी की आरती कर उसका पूजन होता है तथा भोग लगाया जाता है। दूसरे दिन पहिले चित्रण को हटा कर फिर नया चित्रण कर दिया जाता है। अंतिम दिन अमावस को साँझी का एक वडा प्रकार, जिसे 'कोट' कहते है और जो नरवर कोट का प्रतिरूप है, वडे कलात्मक ढग से चित्रित किया जाता है। इसे गोवर, फूल, कौडी, पीतरपन्नी और सफेदी से वनाया जाता है। साँझी-पूजन मे वालिकाओ की यह मनोकामना रहती है कि उन्हे साँझी माता की कृपा से योग्य वर और चिर सौभाग्य की प्राप्ति हो तथा उनका दाम्पत्य जीवन सुखी और समृद्ध रहे। साँझी के चित्रण मे प्रति दिन जिन नये-नये भावो का प्रदर्शन किया जाता है, उनका क्रम इस प्रकार है—

"प्रथम दिन भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा को वीरन वेटी ( साँझी का पीहर का नाम ) वनाई जाती है और ५ थापिये रखे जाते है, जो साँझी के ससुराल से पितृगृह आगमन के सूचक है। दूसरे दिन एक डोले मे वैठी एक स्त्री वनाई जाती है, जो उसके पीहर मे पदार्पण की प्रतीक है। तीसरे-चौथे दिन तिवारी वना कर साँझी को उसमे वैठाते है। पाँचवे दिन चतुर्थी को चौपड वनाई जाती है। छटवे दिन पचमी को पान-सुपाडी तथा सातवे दिन छट को मिठाई से भरी एक डलिया वनाई जाती है और इस प्रकार साँझी को सत्कार प्रदान कर स्वादिष्ट व्यजनो द्वारा सतुष्ट किया जाता है। आठवे दिन सप्तमी को मगल सूचक स्वस्तिक चिन्ह अकित किये जाते है। अष्टमी को नवे दिन अठ-करिया फूल तथा नवमी को दसवे दिन नाव अथवा नारियल द्वारा प्राकृतिक भ्रमण, ग्यारहवे दिन दशमी को दस पान वना कर साँझी को प्रिय वस्तु तथा एकादशी को २१ सिंघाडे वना कर उसे व्रत की सामग्री प्रदान की जाती है। घर मे होने वाले वडे श्राद्ध से एक दिन पूर्व पातर-दौना वनाये जाते हैं, जो साँझी के परिवार मे होने वाले श्राद्ध के सूचक है। द्वादशी को साँझी को फरिया-ओढनी पहिनाने का प्रलोभन दिया जाता है, किंतु पति की स्मृति मे वेसुध वह इन सवसे सतुष्ट प्रतीत नही होती और त्रयोदशी को चौदहवे दिन पति के वियोग मे व्याकुल होकर नसेनी या खजूर के पेड पर चढ कर यह निहारती है कि उसके पति के देश से कोई आ तो नहीं रहा। पद्रहवे दिन एक लगडा ब्राह्मण और कौवा वनाये जाते है, जो साँझा के आगमन की सूचना देते है। अंतिम दिन अमावस्या को 'नरवर कोट' वनाया जाता है। इसमे साँझी तथा उसके पति के चेहरे लगाये जाते है। यह

'कोट' साँझी तथा उनके पति के मिलन का प्रतीक होता है। कोट मिट्टी द्वारा बनाये गये आभूषणों, कौड़ी, कटोरी, शीशे के टुकड़ों, चाँदी के रुपयों, पन्नी आदि से सुसज्जित किया जाता है। साँझी का पूजन अविवाहिताएँ करती हैं, किंतु विवाह हो जाने के पश्चात् भी केवल प्रथम वर्ष में साँझी का उद्यापन करती हैं। अमावस्या को 'नरवर कोट' का पूजन कर 'बधाए' गाये जाते हैं। विजय-दशमी को उसे दीवाल पर से उचाल कर किसी जल-स्थान में 'सिरा' (विसर्जित कर) दिया जाता है। साँझी लोक-कला के आंकिक रूप का उत्कृष्ट उदाहरण है। उसकी एक अनूठी विशेषता यह है कि उसमें रेखांकन द्वारा एक सुनियोजित भाव प्रस्तुत किया जाता है। 'साँझी' में साँझी के ससुराल के आगमन से लेकर पति-मिलन तक की क्रमबद्ध घटनाएँ बड़ी ही सुंदरता एवं कुशलता पूर्वक चित्रित की जाती हैं। सहज सुलभ साधनों से लोक-शैली में चित्रित साँझी की मनोरम कला-कृतियाँ निस्संदेह व्रज लोक कला की अमूल्य निधि ही नहीं, बालिकाओं के कला-प्रदर्शन का माध्यम भी हैं[1]।"

साँझी की पूजा-आरती करते समय व्रज की बालिकाएँ अनेक लोक-गीत गाती हैं, जिनमें उनकी भोली-भाली बाल भावना व्यक्त होती है। कुछ गीत इस प्रकार हैं—

१. जाग माई, जाग माई, खोल किवार। मैं आई तेरे पूजन द्वार॥
पूजि-पुजतर बेटी, का फल माँगे ? भैया-भतीजे सपति होइ।
भैया चाहिएँ नौ-दस-बीस। भतीजे चाहिएँ पूरे बत्तीस॥

२. साँझी भैना री, का ओढ़ैगी, का पहिरैगी, काहे की सीस गुँथावैगी ?
मैं तौ सालू ओढ़ूंगी, मिसरू पहिरूंगी, मोतियन की माँग भराऊंगी।

साँझी के साथ साँझा का भी उल्लेख इन गीतों में किया जाता है और 'कोट' में तो उसका चेहरा भी साँझी के चेहरे के साथ लगाया जाता है। साधारणतया साँझा को साँझी का पति माना जाता है, किंतु एक लोक गीत में उसे अपने भाई के रूप में कथित किया गया है—

वो जैमे मेरे साँझालाल भाई जी, विनकी आँखें लाल कटारी सी।
केसरिया बागौ पहिरें जी, वे तौ दादा जी के कुमर कहावें जी॥

बालिकाओं के अतिरिक्त व्रज के बालक भी साँझी बनाते हैं। उनकी साँझी मिट्टी के एक छोटे चौकोर चबूतरे पर कागज के कटे हुए 'साँचों' द्वारा सूखे रंग छिड़क कर बनाई जाती है। यह भी पितृ पक्ष के १५ दिनों तक चलती है। संध्या को बालक भी इसकी पूजा-आरती करते हैं और भोग लगाते हैं।

**टेसू तथा झाँझी**—व्रज के ग्रामीण बालक और बालिकाएँ इन दिनों साँझी के साथ ही साथ टेसू और झाँझी के विनोदात्मक खेल भी किया करते हैं। टेसू बालकों का खेल है और झाँझी बालिकाओं का। ये खेल सामूहिक रूप से मुहल्लों के बालक तथा बालिकाओं द्वारा किये जाते हैं और पितृ पक्ष में इनकी बड़ी धूम रहती है।

**टेसू**—यह एक खिलौना होता है, जो बाँस की तीन पतली तीलियों ( खपच्चियों ) पर मिट्टी के बने हुए एक पुरुष के चहरे को रख कर बनाया जाता है। यह विचित्र खिलौना महाभारत कालीन एक योद्धा बभ्रुवाहन का प्रतीक माना जाता है। बभ्रुवाहन का कटा हुआ सिर रख इसी

(१) 'धर्मयुग' में प्रकाशित श्री मोहनस्वरूप भाटिया का लेख।

( छोकर ) के वृक्ष पर रख दिया गया था और उसे यह वरदान दिया गया था कि वह मरने के उपरांत भी अपने कटे हुए सिर से महाभारत का युद्ध देखता रहेगा। टेसू का पुरुष चेहरा जहाँ बभ्रुवाहन के सिर का प्रतीक है, वहाँ बाँस की तीलियाँ शमी के वृक्ष को प्रकट करती हैं। दशहरा के अवसर पर शमी ( छोकर ) के पूजने की प्रथा भी प्रचलित है।

ब्रज के बालक गण सायंकाल को टेसू लेकर और उस पर दिया जला कर महल्लों में प्रत्येक घर के दरवाजे पर जाते हैं और वहाँ टेसू के गीत गा कर कुछ पैसे प्राप्त करते हैं। टेसू के बाल-गीतों में अद्भुत, ऊटपटांग और बे सिर-पैर की बातें होती हैं। उनका एक लोक गीत इस प्रकार है—

टेसूराय घटार बजइयो। नौ नगरी, दस गाँव बसइयो॥
बसिगे तीतर, बसिगे मोर। हरी नैनियाँए लैगे चोर॥
चोरन के घर खेती भई। खाय नैनियाँ मोटी भई॥
टेसूराय की सात बौहरियाँ। नाँचें, कूदें, चढ़ें अटरिया॥

झाँझी—यह मिट्टी की एक छेददार हाँडी होती है, जिसमें जलता हुआ दीपक रखा जाता है। हाँडी के छेदों में से दीपक का मंद प्रकाश निकला रहता है। ग्रामीण बालिकाएँ उस हाँडी को लेकर महल्ले के दरवाजे-दरवाजे जाकर गीत गाती हैं। उन बालिकाओं को इसके उपलक्ष में कुछ पैसे मिल जाते हैं। झाँझी के गीत भी बड़े मनोरंजक और बे सिर-पैर के होते हैं। ऐसे ही एक गीत का कुछ अंश इस प्रकार है—

मा ! भैया कहाँ-कहाँ ब्याहे, पारेबरिया ? मा ! भाभी की मुहड़ी कैसी, पारेबरिया ?
नाक चना सी, मुँह बटुआ सौ, घूँघट में मन लाई, पारेबरिया।
थोरौ खानौ, बहौत कमानौ, जे जुग बीतौ आई, पारेबरिया॥
मा ! भाभी का-का लाई, पारेबरिया ? आठ बिलैया, नौ चकचूँदर, सोलह मूसे लाई, पारेबरिया॥

**नवरात्रि व्रत**—आश्विन शु० १ से ९ तक के नौ दिनों में इस व्रतोत्सव का आयोजन किया जाता है। यह देवी-पूजा का उत्सव है, जिसे देश के सभी भागों में अत्यंत प्राचीन काल से मनाया जाता है। बंगाल में इसकी बड़ी धूम-धाम होती है और बंगाली इसे अपना सबसे प्रमुख उत्सव मानते हैं। ब्रज में भी उन दिनों घर-घर में देवी की पूजा की जाती है तथा मंदिरों में 'दुर्गा सप्तशती' और 'देवी भागवत' आदि ग्रंथों की कथा होती है।

**न्यौरता**—ब्रज के गाँवों में देवी-पूजा के उत्सव को बालिकाओं के खेल के रूप में मनाते हैं और उसे 'न्यौरता' कहा जाता है। इसके लिए घरों की दीवारों के सहारे मिट्टी के छोटे-छोटे मंदिर बनाये जाते हैं और उन्हें लोक-चित्रकारी से सजाया जाता है। ग्रामीण बालिकाएँ प्रतिदिन मिट्टी की गौरी-प्रतिमाएँ बना कर उन मंदिरों में रखती हैं और सायंकाल को उनकी पूजा करती हैं। पूजा की आरती करते समय बालिकाएँ जो गीत गाती हैं, उनमें से एक गीत का कुछ अंश इस प्रकार है—

गौरि री गौरि, खोल किवरिया, बाहर ठाढी तेरी पूजनहारी।
गौरि पुजतरि बेटी, कहा फल माँगे ?
मातु-पिता कूँ राज जु माँगें, भैयन की जोडी माँगें,
भाभी की गोद भतीजौ माँगै। गौरि री गौरि०॥

**विजया दशमी अथवा दशहरा**—आश्विन शु० १० को विजयादशमी का उत्सव अथवा दशहरा का त्यौहार होता है। यह उत्सव शुंभु, निशुंभु, महिषासुर आदि प्रवल दैत्यो पर भगवती दुर्गा की विजय अथवा दुर्दान्त रावण पर भगवान् राम की विजय के उपलक्ष मे मनाया जाता है। यह 'शक्ति-पूजा' अथवा 'वीर-पूजा' का त्यौहार है। इसे विशेष रूप से क्षत्रिय वर्ण से सबधित माना जाता है, किंतु अब यह अनेक रूपो मे सभी वर्णों अथवा जातियो के नर-नारियो द्वारा मनाया जाता है। इस त्यौहार को 'दशहरा' भी कहते है। प्राचीन काल मे उस दिन योद्धा गण विजय अभियान किया करते थे। मध्यकालीन रियासतो मे यह उत्सव वडी धूम-धाम से मनाया जाता था। उस दिन समस्त अस्त्र-शस्त्रो की सफाई होकर उनकी विधिवत् पूजा की जाती थी और उनका भव्य प्रदर्शन किया जाता था। राजा गण वडी तैयारी के साथ जुलूस निकालते थे।

जन साधारण मे दशहरा एक प्रसिद्ध लोकोत्सव अथवा जनप्रिय त्यौहार के रूप मे मनाया जाता है। उस दिन ब्रज की नारियाँ अपने-अपने घरो की भीत पर दशहरा का थापा वनाती है और उसे पूजती है। दशहरा से कुछ दिन पहिले घरो मे जौ उगाये जाते है और उनसे दशहरा का पूजन किया जाता है। वहिने भाइयो का तिलक करती है, उन्हे जौ देती है और मिठाई खिलाती है। उस दिन सब घरो मे अच्छे-अच्छे पकवान बनते है। उस अवसर पर शमी ( छोकर ) के वृक्ष की पूजा की जाती है और नीलकठ पक्षी का दर्शन शुभ माना जाता है।

ब्रज के मदिरो मे उस दिन विशेष दर्शन होते है और दशहरा के पदो का गायन किया जाता है। ब्रजभाषा के भक्त-कवियो द्वारा उस दिन के उपलक्ष मे जिन पदो की रचना की गई है, उनमे से एक यहाँ दिया जाता है—

विजया दसमी अरु विजै महूरत, श्री विट्ठल गिरिधर पहिरावत।
करि सिंगार विचित्र भाँति कौ, निरखि-निरखि नैनन सुख पावत॥
सूथन लाल अरु सेत चोलना, कुल्है जारकसी अति मन भावत।
विविध भाँति भूषन अग सोभित, केकी-गुंजा को पहिरावत॥
साजि कनक, नग धारि, हाथ लै कुंकुम, तिलक लिलाट वनावत।
अच्छत दै जौ अंकुर सिर पर, निरखि-निरखि मन मोद वढावत॥
वहौत भोग-वीरा धरि आगै, ब्रजभामिनि मिल मगल गावत।
निज जन निरखि-निरखि कै श्रीमुख, 'गोविंद' हरषि-हरषि गुन गावत॥

**रामलीला**—आश्विन महीने के दूसरे पखवाडे मे ब्रज के प्रत्येक नगर और गाँव मे रामलीला होती है। इसमे भगवान् रामचद्र की जीवन-घटनाएँ खुले लोक मच पर प्रदर्शित की जाती है। इससे धार्मिक भावना के साथ ही साथ लोक नाट्य कला को भी प्रोत्साहन मिलता है। ब्रज मे 'रासलीला' और 'रामलीला' ऐसे दो लोक नाट्य है, जो कई शताब्दियो से इसी रूप मे प्रचलित रहे हैं। इन पर युग-परिवर्तन का वहुत कम प्रभाव पडा है। यदि वर्तमान आवश्यकताओ के अनुसार इनमे कुछ सुधार कर दिया जाय, तो इनसे ब्रज के लोक नाट्य मच के एक वडे अभाव की पूर्ति हो सकती है। रामलीला के विविध आयोजनो मे रामचद्र जी की वारात और भरत-मिलाप के कार्यक्रम वडे भव्य होते हैं। ये आयोजन वडे नगरो मे वडे रूप मे और छोटे स्थानो मे छोटे रूप मे समान उत्साह से किये जाते हैं।

ब्रज प्रदेश मे आगरा की रामलीला बहुत बडे आयोजन के साथ होती है। इस अवसर पर रावण आदि के बडे-बडे पुतलो के अतिरिक्त कागज के छोटे-बडे पुतले, चेहरे, मुग्दर, धनुष-वाण, फूल-चर्खी आदि खिलौने भी बनाये जाते है। इनसे विभिन्न प्रकार की कलाओ को प्रोत्साहन मिलता है। इनमे बच्चो के मनोविनोद की पर्याप्त सामग्री होती है। दशहरा को रावण-वध की लीला की जाती है। उस दिन रावण का एक बहुत बडा पुतला बना कर उसमे आग लगादी जाती है, तथा आतिश-वाजी छोडी जाती है और पटाखे चलाये जाते है। इस प्रकार दशहरा का त्योहार रावण-वध के उपलक्ष मे मनाया जाता है। वैसे दशहरा (क्वार सुदी १०) रावण की वास्तविक मृत्यु-तिथि नही है। रावण की मृत्यु सभवत चैत्र शु० १४ को हुई थी, किंतु रामलीला के क्रम से दशहरा को ही यह लीला होती है।

**ओली पर्व**—जैन समाज मे आश्विन शु० ६ से 'ओली' नामक एक धार्मिक उत्सव का आरभ होता है, जो १० दिनो तक चलता हुआ आश्विन शु० १५ को समाप्त होता है। उन दिनो जैन महिलाएँ व्रत-उपवास करती है और जैन मदिरो मे दर्शन करने जाती है। उक्त मदिरो मे उन दिनो बडी चहल-पहल होती है।

**शरद पूर्णिमा**—आश्विन शु० १५ को शरद पूर्णिमा का पावन उत्सव होता है। उस रात्रि को चद्रमा पूरी आभा से प्रकाशित होकर पृथ्वी पर मानो अमृत की वर्षा करता है। द्वापर युग मे इसी रात को भगवान् श्री कृष्ण ने ब्रज-बालाओ के साथ महारास किया था। ब्रज के मदिर-देवालयो मे उसकी स्मृति मे यह उत्सव बडे समारोह पूर्वक सपन्न होता है। उस अवसर पर ठाकुर जी को श्वेत वस्त्र धारण कराये जाते है और दूध का भोग लगाया जाता है तथा रास विषयक पदो का गायन और रासलीला का भव्य आयोजन होता है।

शरद पूर्णिमा की चाँदनी रात मे ब्रज के ग्रामीण बालक मैदानो मे कबड्डी खेलते है और बालिकाएँ दगडो मे विविध भाँति के खेल करती है। स्त्रियाँ खीर बना कर अथवा घी-खाँड मिला कर चाँदनी रात मे रख देती है, जिन्हे दूसरे दिन खाने से उनके द्वारा स्वास्थ्य की वृद्धि मानी जाती है। शरद की पूनौ को चाहे चद्रमा द्वारा अमृत-वर्षा न होती हो, किंतु उसकी ज्योत्स्ना नेत्रो के लिए ज्योतिवर्धक और स्वास्थप्रद अवश्य होती है। शरद पूनौ से स्नान-व्रत की जो शृ खला आरभ होती है, वह कार्तिक की पूनौ तक चलती है। ब्रज मे पूरे कार्तिक भर यमुना-स्नान किया जाता है।

**करुवा चौथ**—कार्तिक कृ० ४ को ब्रज की महिलाएँ 'करुवा चौथ' का व्रत रखती है। इस व्रत मे मिट्टी का एक टोटीदार बर्तन, जिसे 'करुवा' कहते है, खाँड के बने हुए बर्तन के साथ 'मिनसा' जाता है। इस बर्तन के नाम पर ही कदाचित इस लोकोत्सव का 'करुवा चौथ' नाम पडा है। यह व्रत महिलाओ के सौभाग्य-सवर्धन के लिए किया जाता हे। इसे सधवा स्त्रियाँ निर्जल रह कर अपने पतियो के दीर्घायु होने की कामना से करती है।

उस दिन गोबर, मिट्टी या गेरू से घर की दीवार को लीप-पोत कर उस पर चाँवलो के लेपन द्वारा करुवा चौथ के थापे का अकन किया जाता है। थापे मे नसेनी पर चढ कर चद्रमा को अर्घ्य देती हुई बहिन, उसके सात भाई-भावज, गगा-जमुना, सती-सुहागिन, कुम्हारी, करुवा, शीशा, कघी, बिंदी आदि आकृतियाँ बनाई जाती है। थापे के निकट भूमि पर चौक पूर कर उस पर पट्टा रखा जाता है। पट्टे पर मिट्टी से बनाई हुई गौरो को पधरा कर उनके पास मिट्टी तथा खाँड के

करुवे रखे जाते है। रात्रि होने पर स्त्रियाँ नये वस्त्राभूषण पहिन कर, सौभाग्य चिह्न धारण कर और करुवो पर पूरी, पूआ, हलुवा रख कर करुवा चौथ के थापे की पूजा करती है। उस समय एक लोक कहानी भी कही जाती है। बाद मे चद्रोदय होने पर चद्रमा को अर्घ्य देने के उपरात सबको खिला–पिला कर व्रत वाली स्त्रियाँ भोजन करती है।

करुवा चौथ की कहानी इस प्रकार है—"सात भाई थे, उनकी स्त्रियाँ थी तथा उनकी एक बहिन थी। बहिन का विवाह होने पर जब पहिला कातिक आया, तब उसने अपनी भाभियो के साथ करुवा चौथ का व्रत रखा। सायकाल होने पर जब सातो भाई भोजन करने बैठे, तब उन्होने अपनी बहिन को भी बुलाया। बहिन ने कहा कि वह व्रती है, अभी खाना न खाकर बाद मे चद्रोदय होने पर खायेगी। एक छोटे भाई के लिए बहिन बहुत प्यारी थी। उसने वृक्ष की ओट मे चलनी के पीछे दीपक जला कर रख दिया। उससे वहाँ निकलता हुआ चद्रमा जैसा जान पडने लगा। तब उसने बहिन से कहा कि चद्रमा निकल आया है, तुम अर्घ्य देकर हमारे साथ खाने को बैठो। बहिन ने नसैनी पर चढ कर देखा तो पेडो की ओट मे से उसे प्रकाश दिखाई दिया। उसने चद्रमा का प्रकाश समझ कर उसे अर्घ्य दिया और अपने भाइयो के साथ भोजन करने के लिए बैठ गई। इस प्रकार व्रत–भग होने पर उसका पति मर गया। जब उसका समाचार उसे मिला, तो वह विलाप करती हुई सासुरे गई। वहाँ पर किसी ने कहा कि तूने चौथ के व्रत को तोडा है, इससे तेरे पति की मृत्यु हुई है। अब तू पति के शव की रक्षा करती हुई चौथ माता की आराधना करेगी, तो तेरा पति जीवित हो जावेगा। इस पर वह बड़ी निष्ठा पूर्वक चौथ माता की आराधना करने लगी। चौथ माता ने प्रसन्न होकर उसके पति को जीवित कर दिया। इस प्रकार वह अपने पति के साथ आनद पूर्वक रहने लगी।"

**अहोई आठै**—कार्तिक कृ० ८ को 'अहोई आठै' का त्यौहार होता है। उस दिन स्त्रियाँ भीत पर अहोई का अंकन करती है और व्रत रख कर रात को उसकी पूजा करती है। यह त्यौहार संतान की दीर्घायु होने के निमित्त किया जाता है। जिस भीत पर अहोई का अ कन किया जाता है, उसी के पास जल से भरी हुई झझरी ( मिट्टी की छोटी कलसिया ) रखी जाती है। पूजा के समय स्त्रियाँ एक लोक कथा कहती है, जो इस प्रकार है—

"कातिक वदी ८ के दिन दीवाली की लिपाई-पुताई के लिए दो ननद-भौजाई खदान से मिट्टी लेने गई थी। वहाँ पर मिट्टी खोदते समय ननद की कुदाल से 'स्याउ' के बच्चे मर गये। उसी समय 'स्याउ' माता आई और अपने बच्चो को मरा हुआ देख कर वह ननद के काटने को दौडी। भौजाई ने कहा—'तू मेरी ननद को मत काट, यह सात भैयो की अकेली बहिन है। इसके बदले मे जो मेरे बच्चे हो, उन्हे तू ले जाना। भौजाई के इस आश्वासन पर 'स्याउ' शात हो गई और वे दोनो भी अपने घर चली आई। उसके बाद भौजाई के जो बच्चे हुए, वे सब मर जाते थे। इससे वह बडी दुखी रहने लगी। किसी वृद्धा स्त्री के कहने पर उसने अहोई आठै का व्रत रखा और 'स्याउ' माता की प्रसन्नता के लिए उसने खूब स्वादिष्ट भोजन बनवाये तथा उसकी तृप्ति के लिए कच्ची नादो मे दूध भरवाया। रात को जब 'स्याउ' माता आई, तो उसने पेट भर कर खाना खाया और दूध पिया। फिर वह चलने लगी, तो भौजाई ने उस वृद्धा के कहने से उसके पैर पकड लिये। 'स्याउ' ने पूछा—'तू क्या चाहती है ?' उसने कहा–'तिरवाचा भरो, तब कहूँगी।' उसने तिरवाचा भर कर कहा–'जो तू कहेगी, वही मैं दूँगी।' भौजाई ने कहा,–'तूने मेरे जिन बच्चो को लिया है,

उन्हे दे दे।' 'स्याउ' ने कहा—'तूने मुझे ठग लिया।' फिर उसने अपने कान फड़फड़ाए, जिनमे उसके बच्चे निकल पडे। इस प्रकार उसने अपनी ननद की प्राण-रक्षा के लिए संतान का जो कष्ट उठाया था, वह दूर हो गया।"

इस लोक कथा मे 'स्याउ' का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं होता है। महापंडित राहुल साकृत्यायन का मत है कि 'स्याउ' से सर्पिणी का अभिप्राय है[1], जो आदिम युग की सर्प-पूजा का सूचक है। कुछ विद्वान इस त्यौहार को सेनापति स्कंद ( कार्तिकेय ) की पूजा मे संबंधित कर 'स्याउ' को मोरिनी का वाचक मानते हैं। स्कंद का वाहन मोर है। अहोई आठैं के अंकन मे मोर-मोरिनी जैसी आकृतियाँ भी बनाई जाती हैं। यह लोक कथा और लोक त्यौहार पश्चिमी उत्तर प्रदेश और ब्रज मे बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। बौद्धो की जातक कथा मे मथुरा की एक यक्षिणी का उल्लेख हुआ है, जो यहाँ के निवासियो के बच्चो को उठा ले जाती थी। भगवान् बुद्ध जब मथुरा आये थे, तब उनसे उस यक्षिणी की शिकायत की गई थी। बुद्धदेव ने यक्षिणी के बच्चो को छिपा दिया। जब वह यक्षिणी व्याकुल होकर बुद्ध भगवान के पास गई, तब उन्होंने उसे उपदेश दिया कि तू जिनके बच्चे लाती है, उन्हे भी ऐसी ही व्याकुलता होती है। बुद्ध के उपदेश से यक्षिणी ने अपनी क्रूर प्रकृति छोड दी और वह बच्चों की संरक्षिका बन गई। संभव है, उस बौद्ध कथा से भी इस त्यौहार का कुछ संबंध हो।

कार्तिक कृ० ८ ( अहोई आठैं ) की रात मे ब्रज के राधाकुंड नामक स्थान पर एक मेला होता है। उस समय वहाँ के कुंड मे स्नान करने का बडा माहात्म्य माना गया है।

**धन तेरस**—कार्तिक कृ० १३ को धन तेरस का त्यौहार मनाया जाता है। दीवाली के आगमन की तैयारी मे उस दिन नये बर्तन खरीदे जाते है और अनेक प्रकार के पकवान बनाये जाते है। रात मे दीप-दान भी किया जाता है। उस दिन आयुर्वेद के प्रतिष्ठाता भगवान् धन्वन्तरि का जन्म दिवस भी है। उसी उपलक्ष मे धन्वन्तरि उत्सव मनाया जाता है। वैद्य लोग धन्वन्तरि जी की पूजा करते है और समस्त मानव समाज के स्वास्थ्य-लाभ की कामना करते है।

कृष्ण-भक्तो ने इस उत्सव को भी कृष्ण-लीला से संबंधित कर दिया है। उस दिन ब्रज के मंदिरो मे विशेष झाँकी होती है और तत्संबंधी पदो का गायन किया जाता है। इस प्रकार का एक पद यहाँ प्रस्तुत है—

**धन तेरस दिन अति सुखदाई।**
**राधा मन अति मोद बढ्यौ है, मनमोहन धन पाई॥**
**राखत प्रीति सहित हिरदै मे, गुरुजन लाज बहाई।**
**'द्वारकेस' प्रभु रसिक लाडिलौ, निरखि-निरखि मन भाई॥**

**रूप चौदस**—कार्तिक कृ० १४ को यह त्यौहार होता है। उस दिन अहोई आठैं की पूजा मे रखी हुई झझरी के जल से स्नान किया जाता है। स्त्रियाँ उबटना करती है और विशेष प्रसाधन सामग्री का उपयोग करती है। यह त्यौहार समस्त परिवार की स्वास्थ्य-वृद्धि के निमित्त किया जाता है। इसे 'छोटी दीवाली' भी कहते है। ग्रामीण स्त्रियाँ सायंकाल को दिये जला कर घूरे और चौराहे

---

(१) सम्मेलन पत्रिका का 'लोक संस्कृति अंक,' पृष्ठ ३०५

पर रखती है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उस दिन भगवान् कृष्ण ने नरकासुर का वध किया था, अत इसे 'नरक चतुर्दशी' भी कहते है। ब्रज के मदिरो मे उस दिन जो पद गाये जाते है, उनमे से एक यहाँ प्रस्तुत है—

**न्हवावत सुत को नंदरानी।**
**मानत पर्व रूप चौदस कौं, तिलक उबटनौ करि हरषानी ।।**
**बस्तर लाल जरी आभूषन, पहिरावत रुचि सो मनमानी।**
**मेवा लै, चले गाय सिगारन, 'ब्रजजन' देखि-देखि बिहँसानी ।।**

**दीपावली**—कार्तिक कृ० १५ को यह उत्सव मनाया जाता है। दीपावली हमारा प्राचीन धार्मिक उत्सव, सास्कृतिक समारोह और लोक-प्रसिद्ध त्यौहार है। इसे वैश्य वर्ण का खास उत्सव माना जाता है, किंतु आजकल सभी वर्ण और जातियो के व्यक्ति इसे बडे उत्साह से मनाते है। ब्रज के घर-घर मे यह उत्सव बडी उमग के साथ मनाया जाता है। उस दिन सभी लोग नये-नये वस्त्राभूषण पहिनते है और सायकाल को दीवाली का पूजन करते है। उस रात्रि मे खूब दीप-दान किया जाता है और रोशनी होती है। बच्चे पटाखे, फूलझडी चला कर मनोविनोद करते है। सब लोग पकवान, मिठाई आदि स्वादिष्ट पदार्थो का भोजन करते है और एक-दूसरे को मिठाई भेजते है। व्यापारी वर्ग उस दिन से नये वर्ष का आरभ करते है।

**मूल रूप और परपरा**—दीवाली के मूल रूप का अनुसधान करने पर ज्ञात होता है कि पुरातन काल मे यह 'यक्ष-पूजा' का उत्सव था। पुराणो मे उस दिन यक्षराज कुवेर के पूजन करने का विधान है। वात्सायन कृत 'कामसूत्र' मे 'यक्ष रात्रि' का उल्लेख किया गया है। उसमे दीप जलाने तथा द्यूत-क्रीडा करने का भी वर्णन है। इससे जान पडता है कि 'यक्ष रात्रि' दीपावली का ही आरभिक नाम है। ११ वी शताब्दी के हेमचद्र कृत 'देशी नाममाला' मे 'जक्ख रत्ती' ( यक्ष रात्रि ) को दीपावली का ही नाम बतलाया गया है। १२वी शताब्दी के पुरुषोत्तमदेव कृत 'त्रिकाड शेष' मे भी यक्ष रात्रि का अर्थ दीपावली ही किया गया है। यक्ष सप्रदाय की अवनति होने पर 'यक्ष रात्रि' का सबध यक्षो के गुण वाले देवी-देवताओ से जोड दिया गया। फलत यह उत्सव कालातर मे धन की अधिष्ठात्री देवी विष्णुप्रिया लक्ष्मी से सबद्ध हो गया। यक्षराज कुवेर भी धन का देवता माना जाता है। लक्ष्मी के अतिरिक्त विद्या-वुद्धि के देवी-देवता सरस्वती और गणेश का पूजन भी दीपावली उत्सव का विशेष अग बन गया है।

जैन धर्मावलवियो मे प्राचीन काल से ही दीपावली का उत्सव मनाया जाता रहा है। इस धर्म के प्रतिष्ठापक महावीर स्वामी का निर्वाण कार्तिकी अमावस को हुआ था। 'कल्पसूत्र' मे लिखा है, महावीर का महाप्रयाण होने पर जब 'लिच्छिवि','मल्ल' आदि १८ राज प्रमुख उनके प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करने को एकत्र हुए, तब उन्होने अनुभव किया कि ज्ञान का प्रकाश तो गया, अत दीपको के भौतिक प्रकाश से ही भविष्य मे इस दिन की स्मृति को कायम रखा जाय। तभी से कार्तिकी अमावस को दीपावली के रूप मे मनाया जाने लगा। जैन समाज के नर-नारी उस दिन जैन मदिरो मे जाकर महावीर स्वामी की पूजा करते है, और व्रतोपवास करते है। सायकाल को मदिरो और घरो मे दीपक जलाते है। जैनियो मे उस दिन सरस्वती-पूजा भी बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रही है। एक चौकी पर वे जैन शास्त्रो को रखते है और उसके नीचे पुस्तिका, वही, डायरी,

सिक्के आदि रख कर उनकी पूजा करते है। बाद मे मिष्टान्न का वितरण करते है। बौद्ध धर्म मे भी दीपावली मनाने की प्रथा है। बौद्ध जातको मे जिस 'कार्तिक पर्व' का उल्लेख मिलता है, वह दीपावली का ही पूर्व रूप कहा जा सकता है। यह उत्सव बौद्ध संस्कृति के प्रमुख केन्द्र श्रावस्ती, वाराणसी आदि मे बडी धूम-धाम से मनाया जाता था।

दीपावली का संबंध कई पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाओ से भी माना जाता है। भगवान् वामन द्वारा असुर नरेश बलि को पाताल भेजने से देवताओ ने जो हर्षोत्सव मनाया था, उसी स्मृति मे दीपावली मनाई जाती है। रावण-वध के उपरात जब अयोध्या मे रामचद्र का राज्याभिषेक हुआ, तब अवध वासियो ने सर्वत्र दीपक जला कर अपना आह्लाद प्रकट किया था। उसी के उपलक्ष मे दीपावली प्रचलित हुई है। महाराष्ट्र मे दीपावली को श्री कृष्ण से सबधित त्यौहार माना जाता है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार जब भगवान् श्री कृष्ण ने गोलोक मे रासलीला का आयोजन किया, तब योगमाया का आह्वान करने पर उसके वाम अग से एक अत्यत तेजोमयी सुदरी देवी का प्रादुर्भाव हुआ था। उस देवी ने दो रूप धारण किये। उसका एक रूप राधा था, जो श्री कृष्ण के साथ गोलोक मे रहा और दूसरा रूप लक्ष्मी था, जो वैकुठ मे विष्णु के साथ रहा। इस प्रकार दीपावली दिवस की आराध्या लक्ष्मी देवी भी प्रकारातर मे कृष्ण-प्रिया ही है।

महाराज विक्रमादित्य के राज्याभिषेक का दिन दीपावली माना जाता है। महावीर स्वामी के निर्वाण से इसका सबध पहिले ही बतलाया जा चुका है। इस युग मे स्वामी रामतीर्थ और दयानद सरस्वती जैसे महापुरुषो का निर्वाण भी दीपावली के दिन हुआ था। दीपावली से दो दिन पूर्व कार्तिकी त्रयोदशी को भगवान् धन्वन्तरि के आविर्भाव से तथा उससे एक दिन पूर्व चतुर्दशी को भगवान् श्री कृष्ण द्वारा नरकासुर का वध किये जाने से भी इस उत्सव को गौरव प्राप्त हुआ है। फिर यह दिन लक्ष्मी, गणेश, सरस्वती आदि देवी-देवताओ के पूजन, नवान्न की प्राप्ति तथा चातुर्मास्य के उपरात नवीन व्यापारिक वर्ष का आरभ होने से और भी महत्वपूर्ण बन गया है।

इस उत्सव के अपूर्व महत्व के कारण ही इसे ब्रज मे सभी युगो और कालो मे मनाये जाने की अविच्छिन्न परपरा मिलती है। जैन, बौद्ध, हिंदू काल मे ही नही, वरन् मुसलमान काल मे भी इसे परपरागत रूप मे ही मनाया जाता था। महमूद गजनवी के आक्रमण-काल का वर्णन अल-बेरुनी के सस्मरणो से हुआ है। उसने दीपावली के अवसर पर लक्ष्मी-पूजन, दीप-दान और द्यूत-क्रीडा किये जाने का उल्लेख किया है। मुगल काल मे तो हिंदुओ के साथ अनेक मुसलमान भी उत्तम वस्त्राभूषण पहिन कर नाँच-रग और द्यूत-क्रीडा द्वारा दीपावली मनाते थे। 'आईन-ए-अकबरी' मे लिखा है कि स्वय सम्राट अकबर बडी धूम-धाम से इस उत्सव का आयोजन करते थे। अकबर के पश्चात् जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल मे भी यह उत्सव उसी धूम-धाम से मनाया जाता था। मुसलमान 'शबे रात' की भाँति उस अवसर पर पटाखे चलाते थे, दीपक जलाते थे, गुब्बारे उडाते थे और कडीलो की रोशनी करते थे। वे हिंदुओ की तरह ही उस अवसर पर खील-बताशे भी खरीदते थे।

मुसलमानो के शासन-काल के उपरात जब ब्रज मे मराठो तथा जाटो का महत्व बढा, तब हिंदू त्योहारो को और भी अधिक उत्साह पूर्वक मनाया जाने लगा था। फलत. दीपावली की धूम-धाम भी पहिले से कही अधिक बढ गई थी। उस समय ब्रज के मदिर-देवालयो मे विशेष आयोजन के साथ दीपावली तथा उससे सबधित सभी उत्सव होने लगे थे और ब्रज के जन साधारण मे भी इसके लिए विशेष उत्साह दिखलाई देने लगा था।

दीपावली उत्सव की मुख्य विशेपता लक्ष्मी की पूजा और दीपको का जलाना है। धन की अधिष्ठात्री देवी की पूजा अत्यत प्राचीन काल से प्रचलित है। लक्ष्मी का वाहन उलूक माना जाता है, किंतु इसका कोई प्राचीन आधार ज्ञात नही होता है। भला विष्णुप्रिया और समृद्धि की देवी का वाहन उल्लू क्यो कर हुआ ? लक्ष्मी के स्तोत्रो मे उसका वाहन हाथी अथवा गरुड वतलाया गया है। गज-लक्ष्मी की अनेक प्रतिमाएँ प्राचीन काल की मिलती है। विष्णुप्रिया होने के कारण विष्णु-वाहन गरुड पर तो उनका आसन होना स्वाभाविक ही है। इसीलिए लक्ष्मी स्तोत्रो मे लक्ष्मी के गरुडारूढ रूप की वदना की गई है—

**नमस्ते गरुढ़ारूढ़े, कोलासुर भयंकरी। सर्व पाप हरे देवि, महालक्ष्मी नमोस्तुते ॥**

**लोक-जीवन में दीवाली**—ब्रज के लोक-जीवन मे दीवाली का त्यौहार होली के वाद सवसे अधिक महत्व रखता है। उसके लिए कितने ही दिन पहिले से तैयारी की जाती है। घरो को झाड-वुहार कर और उनमे सफेदी–सफाई करा कर एकदम नया कर लिया जाता है। सव लोग नये वस्त्राभूपण पहिनते है और सायकाल को दीवाली का पूजन करते है। घरो की भीत पर अहोई आठै को जो अकन किया जाता है, उसमे वनी हुई जुआरियो की आकृतियो को दीवाली के दिन हलुआ से पूजा जाता है। कही-कही पर दीवाली के लिए पृथक् अकन भी किया जाता है। जिस भीत पर दीवाली का अकन होता है, उसके निकट मिट्टी की हटरी और अनेक प्रकार के खिलौने रखे जाते है। खील, वताशे, पकवान, मिठाई रख कर लक्ष्मी-गणेश और हटरी का पूजन किया जाता है। कही-कही पर उस रात्रि मे द्यूत-क्रीडा ( जुआ ) का भी आयोजन होता है।

जूआ जैसे सर्वनाशकारी व्यसन का दीवाली के साथ किस प्रकार सबध हुआ, यह विचारणीय है। दीपावली आनद, उल्लास, समृद्धि और मनोविनोद का त्यौहार है। प्राचीन काल मे द्यूत क्रीडा समृद्धिशाली व्यक्तियो के मनोविनोद का प्रमुख साधन था। उस समय इसे शिष्ट समाज मे निदनीय नही माना जाता था। महाभारत काल मे जब यह देश भौतिक समृद्धि मे सर्वोपरि था, तव समृद्धिशाली व्यक्तियो के मनोरजन के साधनो मे जूआ खेलना भी था। उस समय के सर्वश्रेष्ठ राजपुरुप कौरव–पाडवो की द्यूत-क्रीडा प्रसिद्ध है। यही कारण है, दीपावली के मनोविनोदार्थ प्रस्तुत किये जाने वाले साधनो मे द्यूत भी सम्मिलित हो गया है। वात्सायन कृत 'कामसूत्र' मे दीपावली के दिन द्यूत-क्रीडा करने का उल्लेख मिलता है। लोक मे यह अध विश्वास प्रचलित है कि दीपावली पर जुआ खेलने से वर्ष भर के लाभ–हानि का शकुन जाना जा सकता है। यदि दीवाली पर जीत हुई, तव वर्ष भर तक जीत ही जीत होगी। जो लोग कभी जुआ नही खेलते है, वे भी शकुन के लिए दीवाली पर जुए का दाव लगाते है। वैसे शिष्ट-समाज मे यह प्रथा वहुत कम हो गई है, तथापि निम्न वर्ग मे यह अब भी बुरी तरह प्रचलित है, जिसे सर्वथा वद करना आवश्यक है।

**धार्मिक स्थलों और मंदिरों में दीवाली**—व्रज के विविध धार्मिक स्थलो और मदिरो मे दीवाली को एक महत्वपूर्ण धार्मिक उत्सव के रूप मे मनाया जाता है। व्रज के गोवर्धन नामक स्थान मे मानसी गगा के चारो ओर के घाटो पर उस दिन हजारो दीपक जलाये जाते है और गिरिराज जी की पूजा की जाती है। व्रज के मदिरो मे ठाकुर जी को हटरी मे विराजमान कर उनका विशेप समारोह के साथ पूजन किया जाता है। उस दिन ठाकुर जी का सुदर शृंगार होता है और मदिरो मे सजावट की जाती है। उस अवसर पर ठाकुर जी के समक्ष जो पद गाये जाते है, उनमे से एक यहाँ प्रस्तुत है—

हटरी बैठे श्री गिरिधरलाल ।
सु दर कु ज सदन अति नीकौ, सोभित परम रसाल ।।
चहुँ ओर पाँत बनी दीपन की, झलकत झाल सुमाल ।
मेवा-मिश्री-पान-फूल सब, भर-भर राखे थाल ।।
कनक-लता सी सँग मृगनैनी, सोभित स्याम-तमाल ।
भाव परस्पर लेत-देत है, राजत अग रसाल ।।
घर-घर तें सब भेंटें लै-लै, आई सब व्रज-बाल ।
'रसिक' प्रभू के आगै राखत, गावत गीत रसाल ।।

**गोवर्धन पूजा और अन्नकूट**—कार्तिक शु० १ को गोवर्धन पूजा का उत्सव मनाया जाता है । यह व्रज का अत्यत महत्वपूर्ण धार्मिक समारोह और लोकप्रिय त्यौहार है । पहिले व्रज मे इ द्र की पूजा होती थी । श्री कृष्ण ने उसके स्थान पर गोवर्धन स्वरूप गिरिराज की पूजा प्रचलित की थी । उसके लिए विविध प्रकार के व्यजन इतने प्रचुर परिमाण मे प्रस्तुत किये जाते थे कि वे अन्न के 'कूट' ( ढेर या पहाड ) से जान पडते थे । उसी परपरा मे 'गोवर्धन-पूजा' और 'अन्नकूट' का यह उत्सव है, जो प्राचीन काल से व्रज मे प्रचलित रहा है । व्रज की विशेषता उसके गो-धन के कारण रही है और यह उत्सव गो-वश के सवर्धन का है, इसीलिए इसे व्रज मे अत्यत धूम-धाम और समारोह पूर्वक मनाया जाता है ।

उस दिन व्रज के घर-घर मे गायो की पूजा की जाती है, गोबर से बनाई गई गोवर्धन-गिरिराज की आकृति को पूजा जाता है और नाना प्रकार के व्यजनो से 'अन्नकूट' का आयोजन कर उससे ठाकुर जी का भोग लगाया जाता है । उस अवसर पर व्रज के सभी मदिर-देवालयो मे, विशेष कर वल्लभ सप्रदायी मदिरो मे गोवर्धन-पूजा और अन्नकूट के उत्सव होते है । उस दिन व्रज के गोवर्धन ग्राम मे श्री गिरिराज जी के पूजन, अन्नकूट और परिक्रमा के आयोजन किये जाते है । मथुरा के श्री द्वारकाधीश जी के मदिर मे यह उत्सव बडे बृहत् रूप मे होता है । उस दिन गोवर्धन-पूजा और कीर्तन आदि के अतिरिक्त जो विशाल अन्नकूट होता है, उसमे 'छप्पन भोग, छत्तीसो व्यजन' प्रत्यक्ष रूप मे दिखलाई देते है । इस आयोजन के बृहत् रूप का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि इसकी तैयारी आश्विन शु० १० ( विजया दशमी ) से कार्तिक कृ० १५ ( दीपावली ) तक होती रहती है । इन २१ दिनो मे अगणित भोज्य पदार्थ बनाये जाते है, जिनका भव्य प्रदर्शन कार्तिक शु० १ को अन्नकूट के रूप मे किया जाता है । इस उत्सव से जहाँ व्रज मे गो-वश की वृद्धि करने की प्रेरणा मिलती रही है, वहाँ पाक विद्या की प्रगति करने का भी प्रोत्साहन मिला है । अन्नकूट के कारण ही व्रज मे पाक विद्या अत्यत समुन्नत रूप मे अभी तक जीवित है ।

व्रज के भक्त-कवियो ने इस उत्सव से सबधित अनेक छोटे-बडे पदो की रचना की है । उनमे गोवर्धन-पूजा के मनोरम कथन के साथ ही साथ अन्नकूट के बहुसख्यक व्यजनो का भी नामोल्लेख किया गया है । यहाँ इस सबध के कतिपय पद दिये जाते है—

१ गोवर्धन-पूजा को आये, सकल ग्वाल लै सग ।
बाजत ताल-मृदग-सख ध्वनि, बीना-पटह-उपग ।।

नव सत साज चली व्रज-तरुनी, अपने-अपने रग।
गावत गीत मनोहर बानी, उपजत तान-तरग॥
अति पवित्र गगाजल लैकें, डारत आनँदकंद।
ता पाछै दूध धौरी कौ, ढारत 'गोकुलचद'॥

२. रोरी-चंदन चर्चन करिकैं, तुलसी-पुहौपमाल पहिरावत।
धूप-दीप विचित्र भाँतिन सो, पीत वसन ऊपर लै उढावत॥
भाजन भरि-भरि कै कुनवारौ, लै-लै गिरि को भोग धरावत।
गाय खिलाय गोपाल तिलक दै, पीठ थाप सिरपेच बँधावत॥
यह विधि पूजा करि कै मोहन, सब व्रज को आनद बढावत।
जय-जय सब्द होत चहुँ दिसि ते, 'गोविंद' विमल-विमल जस गावत॥

३. गोवर्धन पूजन चले री गोपाल।
मत्त गयद देखि जिय लज्जित, निरखि मद गति चाल॥
व्रज नारी पकवान बहुत करि, भरि-भरि लीने थाल।
अग सुगध पहरि पट भूषन, गावत गीत रसाल॥
वाद्य अनेक वेनु-रव सो मिलि, बजत विविध सुर-ताल।
ध्वजा-पताका-छत्र-चँवर धरि, करत कोलाहल ग्वाल॥
बालक वृंद चहूँ दिसि सोहत, मनो कमल-अलिमाल।
'कुंभनदास' प्रभु त्रिभुवन मोहन, गोबर्धनधर लाल॥

**गोबर्धन की लोक-पूजा**—व्रज के लोक-जीवन मे गोवर्धन-गिरिराज की पूजा का महत्व दीवाली के त्यौहार से भी अधिक माना गया है। इसीलिए लोक-कवियो ने गाया है,—'दूल्है गिरि-राज की दिवाली दुलहिन है।' जैसा पहिले कहा गया है, इस पूजा के लिए घरो के आँगनो मे गोवर से गोवर्धन-गिरिराज की आकृति वनाई जाती है। व्रज की ग्रामीण स्त्रियाँ उस आकृति को बनाते समय 'गोवरिया' नामक एक लोक गीत गाती है। यह आकृति मानवाकार होती है और उसका एक हाथ ऊपर की ओर उठा हुआ होता है, जो श्री कृष्ण के गिरिराज-धारण का प्रतीक है। उसके चारो ओर रुई के फाहे लगी हुई सीकें गाढ दी जाती हे, जो गिरिराज के वृक्षो को सूचित करती हे। उस आकृति की टूडी मे वडा सा छेद वना कर उसमे दूध, दही, शहद, खील, वताशे भरे जाते है और उसके सिर की ओर दीपक जलाया जाता है। गोवर्धन की वडी आकृति के ओर-पास कुछ छोटी आकृतियाँ भी वनाई जाती है। वे गूजरी, ग्वालिन, रई, मथनिया, चूल्हा, चक्की, लडा-वनी आदि की प्रतीक होती है।

गोवर से वनी हुई गोवर्धन की उस आकृति को खीर, पूरी, अठावरी और मिष्टान्न से पूजते हे तथा उसकी परिक्रमा करते है। इसके वाद गायो से उसकी परिक्रमा कराई जाती है। उस समय सब लोग घटा, घडियाल वजा कर आरती उतारते हैं और 'श्री गिरिराज महाराज की जय' बोल कर प्रसाद लेते ह। उस अवसर पर व्रज के गाँवो मे, खास तौर पर गोवर्धन ग्राम मे, व्रजवासी गण सामूहिक रूप से लोक गीत गाते हे। उन गीतो मे 'हीरो' नामक एक लोक गीत का गायन बड़े उल्लासपूर्वक किया जाता है। उस गीत को गाते समय बीच-बीच मे 'बोल श्री गिरिराज महाराज की जय' का आनदपूर्ण तुमुल घोष करते है। गीत के कुछ बोल इस प्रकार हैं—

**गोवर्धन रे, तू आयौ गंगा पार तें, और उतरचौ जमुना पार ।**
**आज रहै रे, काहू गैल मे, और भोर सखीन के द्वार ।। बोल, श्री गिरिराज महाराज की जय ।।**
**गोवर्धन रे, सब सूं तू बडौ, और तो तें बडौ न कोइ ।**
**अरे, तू तौ पुजायौ श्री कृष्ण नें, तोइ को नहिं जानत होइ ।। बोल, श्री गिरिराज० ।।**

**यमद्वितीया अथवा भैयादोज**—कार्तिक शु० २ को यह धार्मिक समारोह और लोक त्यौहार होता है। उस दिन मथुरा मे यमुना-स्नान करने का बडा माहात्म्य माना गया है। उस अवसर पर स्थानीय नर-नारी और देश के अनेक भागो से आये हुए यात्री कई लाख की सख्या मे यमुना-स्नान करते है। मथुरा मे यह वर्ष का सबसे बडा पर्व और स्नानोत्सव होता है। यमुना को यमराज की बहिन माना गया है। कृष्णप्रिया यमुना जी के साथ उसके भाई यम की पूजा भी उस दिन की जाती है। मृत्यु के देवता यम की पूजा-अर्चना कदाचित मथुरा मे ही उस अवसर पर होती है। स्नानार्थियो मे अनेक बहिन-भाई भी होते है, जो उस दिन साथ-साथ यमुना-स्नान और यम-यमुना का पूजन करते है।

ब्रज के लोक जीवन मे उस दिन 'भैया दोज' का त्यौहार मनाया जाता है। उस अवसर पर बहिनें अपने भाइयो के तिलक कर उन्हे भोजन कराती है और उनकी दीर्घायु होने की कामना करती हे। भाई अपनी सामर्थ्य के अनुसार बहिनो को वस्त्र और रुपये-पैसे की भेट देते है। भाई बहिन के स्वाभाविक स्नेह-सवर्धन का यह अनुपम त्यौहार है। उस दिन घरो मे स्त्रियाँ सामूहिक रूप से गोबर की गौर बना कर उसकी पूजा करती है और एक लोक कथा कहती है। उस कथा मे बतलाया जाता है कि किस प्रकार एक बहिन अपने भाई की अकाल मृत्यु की आशका से चुपचाप उसकी रक्षा का उपाय करती है और कई दुर्घटनाओ से उसे बचा लेती है। इस प्रकार वह अपने भाई की मृत्यु को टालने मे सफलता प्राप्त करती है। कतिपय स्थानो मे उस कथा का अकन करने के लिए थापा बनाया जाता है, जिसे 'भैया दोज का थापा' कहते है। उसमे भाई-बहिन के साथ ही साथ दुर्घटनाओ के प्रतीको का भी अकन होता है।

ब्रज के गाँवो मे भैया दोज के दिन स्त्रियाँ लोक कथा कह कर 'बधाए' भी गाती है। उस अवसर पर गाये जाने वाले कुछ बधाए इस प्रकार है—

१ **मेरे अगना मे मदिर बनवइयो, मोरे राजा जी, करौं गनेस जी की पूजा ।**

२ **मोहि बिरछ नरियरौ न भावै, जाकी लटकि-लटकि छाया आवै ।**
**मोहि ऐसी सासु नाँहि चहिए, मोढलनि पै तें हुकम चलावै ।। मोहि० ।।**
**मोहि ऐसौ ससुर नाँहि चहिए, अथाइन पै तें हुकम चलावै ।। मोहि० ।।**

**पूतना का मेला**—कार्तिक शु० ६ को महावन मे पूतना-वध का मेला होता है।

**गोपाष्टमी**—कार्तिक शु० ८ को ब्रज मे गोपाष्टमी का उत्सव होता है, जो भगवान् श्री कृष्ण द्वारा गोचारण किये जाने की स्मृति मे मनाया जाता है। उस दिन ब्रजवासी गण अपनी गायो को न्हला-धुला कर और विविध रगो से चित्रित कर उनका शृगार करते है। फिर कृष्ण-बलराम की सवारी के साथ उनका जुलूस निकालते है। यह उत्सव मथुरा और गोकुल मे विशेष आयोजन के साथ होता है। वहाँ पर गोशालाओ की सैकडो गायो का भव्य प्रदर्शन किया जाता है।

उस दिन ब्रज के मदिरो मे जो गो–चारण के पद गाये जाते है, उनमे से एक यहाँ दिया जाता है—

गाय चरावन कौ दिन आयौ।
फूली फिरति जसोदा अँग-अँग, लालन उबटि न्हवायौ॥
भूषन–वसन विविध पहिराये, कज्जर तिलक बनायौ।
विप्र बुलाइ वेद-धुनि कीनी, मोतिन चौक पुरायौ॥
देति असीस सकल ब्रज–सुदरि, हरषित मगल गायौ।
लटकत चल्यौ भाँवतौ बन को, 'परमानद' जिय भायौ॥

**अक्षय नवमी**—कार्तिक शु० ९ को अक्षय नवमी ( अखै नौमी ) का लोकोत्सव मनाया जाता है। उस दिन हजारो नर–नारी और बालिका–बालक मथुरा की परिक्रमा करते है। उस दिन मथुरा मे सरस्वती कुड पर एक बडा मेला होता है।

**कंस का मेला**—कार्तिक शु० १० को मथुरा मे चौबो द्वारा कस–वध का प्रदर्शन किया जाता है। उस दिन वे नाना प्रकार के विचित्र वस्त्राभूपणो से सुसज्जित होकर और हाथो मे लबी-लबी लाठियाँ लेकर इस आयोजन मे सम्मिलित होते है। उस अवसर पर कागज के बने हुए कस के पुतले का जुलूस निकाला जाता है और उस पुतले को मथुरा नगर के बाहर ले जाकर 'कस–टीला' नामक स्थल पर खडा कर दिया जाता है। फिर चतुर्वेदी समाज के अनेक व्यक्ति कृष्ण-बलराम की सवारी के साथ गायन-वादन करते हुए वहाँ पहुँचते है और लाठियो से कस के पुतले को पीटते है। बाद मे उसके ध्वसावशेषो को लेकर धूम-धाम के साथ 'कस खार' नामक स्थल पर जाते है और वहाँ पर उन्हे नष्ट कर डालते है। यह मथुरा के चौबो का सबसे बडा और सबसे अधिक उत्साह-पूर्ण मेला है।

**प्रबोधिनी अथवा 'देवोठान'**—कार्तिक शु० ११ को प्रबोधिनी एकादशी का व्रतोत्सव और 'देवोठान' का लोक–त्यौहार मनाया जाता है। उस दिन ब्रज के नर-नारी व्रत रखते है तथा मथुरा, गरुडगोविंद और वृदावन की परिक्रमा करते है। ब्रज के मदिरो मे उस दिन विशेप उत्सव किया जाता है। वर्षा ऋतु के चातुर्मास्य मे सोये हुए देवता गण उस दिन से जागृत हुए माने जाते है। इसलिए जो विवाहादि मागलिक कार्य चार महीनो से बद थे, वे प्रबोधिनी एकादशी के दिन देवताओ के उठने से फिर होने लगते है। इस दिन को 'देवोत्थापन' अथवा 'देवोठान' भी कहा जाता है।

ब्रज के मदिरो मे उस दिन जो पद गाये जाते है, उनमे से एक यहाँ दिया जाता है—

आज प्रबोधिनी परम मोदकर, चल प्यारी पिय पै लै जाऊँ।
बहुत ईख रस कुंज पुज रचि, चहूँ ओर दीपकन सुहाऊँ॥
चित्र विचित्र भूमि अति चीती, करि उत्पादन हरिहि जगाऊँ।
ताल–मृदग–झाँझ–सखन धुनि, द्वारें बदनवार बधाऊँ॥
चार जाम जागरन जागि कै, चार भोग अधरामृत पाऊँ।
'रसिकराय' के रहसि–सिधु में, नैनन मीन झकोरि न्हवाऊँ॥

उन दिन ब्रज की नारियाँ अपने घरो को लीप-पोत कर उन्हे खरिया मिट्टी और गेरू से चित्रित करती है। घर के आँगन और फर्श पर खरिया और गेरू से चौको का चित्रण किया जाता है। इस लोकोत्सव मे लोक चित्रकला का अच्छा प्रदर्शन होता हे। सायकाल को स्त्रियाँ देवोठान का रेखाकन कर और उसके निकट नवीन ऋतु-फल, वेर, सिघाडे, गन्ना तथा पकवान रख कर उन्हे एक थाली या डलिया से ढक देती है। फिर वाल-बच्चो सहित उसके पास वैठ कर देवताओं को जगाने का आह्वान करती हैं। उस अवसर पर स्त्रियाँ एक लोक-मत्र का गायन करती है, जो इस प्रकार है—

**उठो देवा, वैठो देवा। आँगुरिया चटकाओ, देवा॥**

**तुलसी-विवाह**—कार्तिक शु० ११ को ब्रज मे तुलसी-शालिग्राम के विवाह का लोकोत्सव होता है। उस दिन किसी देवालय मे पूजित शालिग्राम शिला के साथ भावुक स्त्रियाँ अपनी तुलसी के विवाह का आयोजन करती हैं। उसमे लोक प्रचलित सभी वैवाहिक विधियो का पालन करते हुए तुलसी के पौधे के साथ शालिग्राम शिला के फेरे डाले जाते हैं। उस अवसर पर विवाह के गीत गाये जाते हैं और दहेज भी दिया जाता है।

**गंगा पूर्णिमा**—कार्तिक शु० १५ को गगा-स्नान का वडा पर्व होता है। उन दिन विविध स्थानो मे लाखो नर-नारी गगा-स्नान करते हैं। ब्रज मे यमुना मे स्नान किया जाता है। आगरा जिला के वटेश्वर नामक स्थान पर उस दिन यमुना-स्नान का एक वडा मेला लगता है। उसमे आस-पास के कई लाख ग्रामीण नर-नारी एकत्र होकर यमुना-स्नान करते है। उस अवसर पर वहाँ पशुओं की प्रदर्शिनी होती है और पशुओं की खरीद-विक्री की जाती है।

**स्वामी का मेला**—कार्तिक शु० १५ को ब्रज के तरौली नामक स्थान मे यह गामीण मेला होता है। मथुरा के छाता परगना मे वच्छ वन के निकट सेही और तरौली नामक दो छोटे गॉव है, जिनमे अधिकाश वस्ती गौरवा ठाकुरो की है। यह इस क्षेत्र का प्रसिद्ध मेला है।

**कार्तिक न्हान**—व्रज की अनेक स्त्रियाँ कार्तिक के पूरे महीने भर तक यमुना-स्नान करती है। गली-मुहल्लो से स्त्रियो की टोलियाँ ब्राह्म मुहूर्त मे सु दर गीत गाती हुई यमुना-स्नान को जाती है। स्नान करने के अनतर वे घाटो पर अथवा निकट के देवालयो मे प्रतिदिन राधा-दामोदर की पूजा करती हे। यह पूजा कई-कई स्त्रियाँ मिल कर सामूहिक रूप मे करती है। उस अवसर पर राधा-दामोदर के जो गीत गाये जाते हें, उनमे से एक का कुछ अश इस प्रकार है—

**राधा-दामोदर वलि जइयै।**
**राधा पूछै वात किसन सो, कैसे कातिक न्हइयै ? राधा दामोदर०॥**

## हेमत-शिशिर ऋतु [अगहन-पौष-माघ] के उत्सव-त्यौहार—

कार्तिक की देवोत्थापन एकादशी से लेकर अगहन, पौप और माघ के महीनो मे विवाहादिक मागलिक प्रसगो की ब्रज मे वडी धूम रहती है, किंतु उत्सव, त्यौहार और मेले इन दिनो अपेक्षाकृत कम होते है। इस अवधि मे ब्रज मे पर्याप्त सर्दी पडती हे। कदाचित इसीलिए यह मौसम उत्सव-त्यौहारो के लिए सुविधाजनक नही समझा गया है। शीत की अधिकता जहाँ समृद्धिशाली व्यक्तियो को सुखोपभोग और विलास की ओर प्रवृत्त करती है, वहाँ जन-साधारण के लिए कष्ट और असुविधा का कारण होती है। समृद्धिशाली व्यक्ति इन महीनो को आनदपूर्वक विताने के

लिए तूल, तैल, ताबूल के साथ ही साथ शीत निवारक अमीरी साधनो का उपयोग करते है, वहाँ जन साधारण को अधिकतर धूप और अग्नि का ही सहारा होता है ।

पौष और माघ की कठिन शीत, बर्फीली वायु और ओला-पाला से जब ब्रज के वन-उपवनो और बाग-बगीचो मे मनोरम लता-वृक्षो के पुष्प ही नही वरन् पत्ते तक झडने लगते है, तब ब्रज का प्राकृतिक सौन्दर्य समाप्त हुआ सा जान पडता है । उस समय वहाँ वन-श्री की सहज शोभा तिरोहित होकर उजाड और बरबादी मे बदल जाती है । इस प्रकार का अप्रिय और भयावह दृश्य ब्रज मे अधिक समय तक नही रहता है । माघ के मध्य काल से ही बसतागमन के आसार दिखलाई देने लगते है, तभी 'बसत पचमी' के आते ही नाटकीय दृश्य-परिवर्तन की भाँति प्रकृति देवी भी अपना रूप बदल देती है । फलत वहाँ पर फिर प्राकृतिक सौन्दर्य की सुषमा दृष्टिगोचर होने लगती है । हम इस काल के कतिपय उत्सव, त्यौहार और मेलो का यहाँ उल्लेख करते है ।

**भैरव जयंती**—मार्गशीर्ष कृ० ८ भगवान् शिव के प्रमुख गण भैरवनाथ का जन्म-दिवस माना जाता है । उस दिन शिव और भैरव मे आस्था रखने वाले ब्रज के नर-नारी भैरवनाथ की पूजा करते है और जोगियो को भोजन कराते है ।

**बिहार पंचमी**—मार्गशीर्ष शुक्ला ५ को वृदावन मे 'विहार पचमी' का उत्सव होता है । यह श्री बिहारी जी का प्राकट्य दिवस है, अत. हरिदासी सप्रदाय के मदिरो और देवालयो मे उस दिन उत्सव होते है ।

**गीता जयंती**—मार्गशीर्ष शुक्ला ११, जिसे 'मोक्षदा एकादशी' भी कहते है, 'गीता जयती' का दिन है । भगवान् श्री कृष्ण ने उसी दिन मोहग्रस्त अर्जुन को गीता का अमर सदेश दिया था । उस दिन मथुरा के 'गीता मदिर' मे उपदेश-प्रवचन और गायन-वादन के धार्मिक आयोजन होते है ।

**व्यंजन द्वादशी**—मार्गशीर्ष शुक्ला १२ को ब्रज के मदिरो मे व्यजन द्वादशी का उत्सव मनाया जाता है । उस दिन वहाँ पर विविध व्यजनो द्वारा ठाकुर जी का भोग लगाते है ।

**मार्गशीर्ष पूर्णिमा**—वैसे तो मार्गशीर्ष का पूरा महीना ही सब महीनो मे श्रेष्ठ माना गया है—'मासाना मार्गशीर्षोऽहम्', तथापि एकादशी और पूर्णिमा इस महीने की पावन तिथियाँ है । एकादशी 'मोक्षदा' के नाम से गीता के प्राकट्य का शुभ दिन है, तो पूर्णिमा श्री बलदेव जी का दिन माना जाता है । उस दिन दाऊ जी के सभी मदिरो मे विशेष दर्शन और उत्सव होते है । ब्रज के बलदेव नामक स्थान मे एक बडा मेला लगता है और हजारो नर-नारी वहाँ के मदिर मे श्री दाऊ जी के दर्शन करते है । उसी दिन दाऊ जी के देव-विग्रह को शीत काल की पोशाक 'गदला' अर्थात् रुई का लबादा धारण कराते है, जिसके कारण इस दिन को 'दाऊजी की पूनौं' अथवा 'गदला पूनौं' भी कहते है ।

**धनुर्मास**—पौष का महीना 'धनुर्मास' कहा जाता है । इस महीने मे देव-पूजा आदि धार्मिक आयोजनो का विशेष माहात्म्य माना गया है । ब्रज की महिलाएँ इस महीने मे ठाकुर जी के दर्शन तथा व्रतोपवासादि करती है ।

**मकर सक्रांति**—मकर राशि पर सूर्य के आगमन की तिथि 'मकर सक्राति' कहलाती है । उस दिन से सूर्य उत्तरायण हो जाता है, अत इस तिथि का विशेष धार्मिक और सास्कृतिक

महत्व माना गया है। उत्तरायण को 'देव यान' भी कहते हैं। उस छ माही मे शरीर छोडने वाले ब्रह्मवेत्ता मनीपी ब्रह्म मे लीन हो जाते है, जैसा श्रीमद् भगवत गीता मे कहा है—

अग्निर्ज्योतिरह शुक्ल', पण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति, ब्रह्म ब्रह्मविदो जना ॥

प्राचीन काल मे भारत के ऋपि, मुनि और महात्मा गण उत्तरायण काल मे ही देह-त्याग करने की आकाक्षा करते थे। महाभारत से ज्ञात होता है कि भीष्म पितामह मरणासन्न होते हुए भी इसी काल की प्रतीक्षा मे शर–शैया पर लेटे रहे थे और सूर्य के उत्तरायण होते ही मकर सक्राति के दिन उन्होने अपना शरीर छोडा था।

यह पावन तिथि पौप के अत मे अथवा माघ के आरभ मे आती है और ईसवी सन् की प्राय १४ जनवरी को होती है। उस दिन ब्रज के मदिरो मे वडा उत्सव होता है। वृदावन के मदिरो मे उस दिन से 'खिचडी' की झाँकियाँ होती है और वल्लभ सप्रदायी मदिरो मे 'भोगी' के पदो का गायन और उत्सव होते हैं। जन साधारण उस दिन तिल के लड्डू और खिचडी के दान के साथ देव–पूजन, स्नानादि धार्मिक कृत्य करते हैं।

**माघ स्नान**—वैशाख और कार्तिक की भाँति माघ भी पवित्र नदियो मे स्नान करने का महीना माना गया है। ब्रज के अनेक श्रद्धालु नर-नारी शीत के आधिक्य की उपेक्षा कर पूरे माघ माह मे प्रात काल यमुना-स्नान करते हैं।

**गणेश चतुर्थी**—माघ कृ० ४ को सकटहरण गणेश जी का जन्म दिवस माना जाता है। इसीलिए इस तिथि को 'सकट चौथ' अथवा 'सकट चौथ' भी कहते हैं। उस दिन ब्रज मे हजारो नर-नारी व्रत रखते हे और गणेश जी का दर्शन-पूजन करते हैं। उस रात्रि मे चद्रोदय होने पर चद्रमा को अर्घ्य देकर भोजन किया जाता है और तिल के लड्डुओ से गणेश जी का भोग लगाया जाता है। मथुरा के गणेश टीला पर उस दिन मेला लगता है और नगर के हजारो नर-नारी वहाँ पर गणेश जी का दर्शन करते हैं।

**षट् तिला एकादशी**—माघ कृ० ११ को 'षट् तिला एकादशी' का लोक-त्योहार होता है। उस अवसर पर विविध प्रकार से तिल के उपयोग करने का माहात्म्य है। उस दिन ब्रज मे स्त्रियाँ व्रत करती हे और तिल के लड्डुओ का दान करती हैं।

**मौनी मावस**—माघ कृ० १५ को 'मौनी मावस' का लोकोत्सव होता है। उस दिन ब्रज के नर-नारी यमुना-स्नान करते हैं और दान-पुण्य करते हैं।

**दुर्वासा का मेला**—मथुरा मे विश्रामघाट के सामने यमुना पार के एक टीले और कुड को क्रमश 'दुर्वासा टीला' और 'दुर्वासा कुड' कहा जाता है। ऐसी अनुश्रुति है, उक्त स्थान पर महर्पि दुर्वासा ने घोर तप किया था। टीला पर एक छोटा मदिर वना हुआ है, जिसमे दुर्वासा ऋपि की मूर्ति है। यहाँ माघ महीने की एकादशी, अमावस, पूर्णिमा और वसत पचमी को मेला लगता है।

**जखैया का मेला**—माघ महीने के चारो रविवारो को महावन मे जखैया का मेला होता है। जखैया 'यक्ष' का अपभ्रश है और यह मेला यक्ष-पूजा के प्राचीन उत्सव का अवशिष्ट रूप जान पडता है।

द्वितीय खंड

# ब्रज का इतिहास

प्रथम अध्याय

# आदि काल

प्राक्कथन—

**परिभाषा**—विगत काल की घटनाओ और उनसे सबधित परिस्थितियो के यथावत् और विवेचनात्मक विवरण को इतिहास कहते है। 'इतिहास' शब्द का अर्थ है,—"यह निश्चय था"। इस प्रकार जो हो चुका है, अर्थात् भूत काल इतिहास का विषय है, जो हो रहा है अथवा होने वाला है, अर्थात् वर्तमान और भविष्य का इतिहास से कोई सबध नही है। पहिले इतिहास को 'कला' समझा जाता था,—'ललित विस्तर' और 'प्रबध कोश' जैसे प्राचीन ग्रथो मे इसकी गणना कलाओ मे ही की गई है, किंतु अब इसे 'विज्ञान' माना जाता है।

**साधन-सामग्री**—भारतवर्ष मे इतिहास और पुराण को अन्योन्याश्रित माना गया है और उन्हे वेद का विशदीकरण कहा गया है,—"इतिहास पुराणाभ्या वेद समुपवृ हयेत्"। इसीलिए वेदो मे, रामायण-महाभारत और पुराणो मे तथा उनके साथ जैन-बौद्धो के आगम-पुराण और जातकादि मे इस देश के प्राचीनतम इतिहास की सामग्री मिलती है। यह सामग्री श्रुतियो और अनुश्रुतियो के रूप मे सकलित हुई है। इतिहास मे और विशेष कर सास्कृतिक इतिहास मे तिथि-सवत् का अधिक महत्व नही होता है। इसमे किसी देश अथवा समाज के आचार-विचार और उसकी उदात्त प्रवृत्तियो का विशद विवरण प्रस्तुत करने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। भारत के उक्त प्राचीन ग्रथो का भी यही दृष्टिकोण रहा है।

इतिहास और पुरातत्व के वर्तमान विद्वान पहिले उक्त ग्रथो की सामग्री को ऐतिहासिक महत्व नही देते थे। वे लोग मूर्तियो, शिला-लेखो, सिक्को तथा प्राचीन इमारतो आदि के अवशेषो को ही प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री मानते थे। जब से विभिन्न विद्वानो ने भारत के उन प्राचीन ग्रथो और विशेषतया पुराणो का गभीर अध्ययन कर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये है[1], तब से इतिहास और पुरातत्व के विद्वानो को भी भारत की उस गौरवशाली निधि का ऐतिहासिक महत्व स्वीकृत हो गया है। अब वे रामायण, महाभारत और पुराणो की वशावलियो सहित उनके इतिवृत्तो को तथा जैन-बौद्ध धर्मो की अनुश्रुतियो को भारतीय इतिहास के लिए आवश्यक और उपयोगी साधन समझने लगे है। इस विपुल सामग्री की सहायता से अब अनेक विद्वान प्राचीनतम काल से ही भारतवर्ष का इतिहास प्रस्तुत करने के लिए सचेष्ट है। ब्रज के प्राचीन इतिहास के लिए भी उक्त सामग्री की सहायता अनिवार्य है।

जहाँ तक ब्रज के पुरातत्व की प्राचीनतम सामग्री का सबध है, वह परिमाण मे अधिक न होते हुए भी महत्वपूर्ण है। भू-गर्भ विज्ञान और पुरातत्व के अनुसधानो से सिद्ध हो गया है कि यमुना तट का यह प्रदेश अब से सहस्रो वर्ष पूर्व भी विद्यमान था। इसके गर्भ से प्राप्त हिमयुगीन

---

(१) श्री पार्जीटर कृत 'पुराण टेक्स्ट आफ दि डाइनेस्टीज आफ दि कलि एज' तथा 'एन्शिएण्ट इडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन' आदि ग्र थ देखिये।

प्राणियो के अवशेषो तथा प्रस्तर युग और ताम्र युग की वस्तुओ से विदित होता है कि यह प्रदेश प्रागैतिहासिक काल मे ही बस गया था। मथुरा के चौबारा टीला की खुदाई मे उपलब्ध ताम्रयुगीन वस्तुओ से इस प्रदेश की प्राचीनता का समर्थन होता है[1]।

वृहत्तर ब्रज क्षेत्र स्थित बयाना, वैर और अतरजी ऐसे स्थान है, जहाँ से भी पुरातत्व की अत्यत महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। बयाना सास्कृतिक ब्रज की दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर तथा भरतपुर और आगरा-फतहपुर सीकरी के सीधे मार्गो पर अर्वली के पहाडी क्षेत्र का एक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। वहाँ नदी की सतह से ३५ फीट नीचे जो नर-ककाल प्राप्त हुआ है, उसे समाज-शास्त्रियो ने अब तक उपलब्ध मानव-शरीर का सबसे प्राचीन ढांचा माना है। वैर बयाना के निकट का एक छोटा सा सास्कृतिक स्थल है। वहां से प्राचीन ईटो की नगर शृखला तथा पुरातत्व की जो अन्य सामग्री उपलब्ध हुई है, वह डा० रागेय राघव के मतानुसार मोहन-जोदडो और हडप्पा जैसी सिंधु घाटी सभ्यता की सामग्री से मिलती हुई है। अतरजी ब्रजभाषा क्षेत्र मे एटा के निकट का एक प्राचीन खेडा है। बौद्ध काल मे उक्त स्थान की बडी प्रसिद्धि थी। भगवान् बुद्ध ने वहाँ धर्मोपदेश किया था, जिसके उपलक्ष मे सम्राट अशोक ने वहाँ एक स्तूप का निर्माण कराया था। चीनी यात्री हुएनसाग ने उसका नाम 'पिलोशन' लिखा है। कालातर मे वह एक निर्जन खेडा बन गया था। अलीगढ विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग द्वारा वहाँ की खुदाई कराने पर जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसे विक्रम-पूर्व दो हजार वर्ष तक की कहा जाता है। इन सब स्थलो की पुरातन सामगी के आधार पर वृहत्तर ब्रज क्षेत्र की भी प्राचीनता सिद्ध होती है।

उक्त प्रागैतिहासिक अवशेषो के अतिरिक्त ऐतिहासिक काल की जो प्रचुर सामग्री ब्रज के विभिन्न स्थानो से उपलब्ध हुई है, उसमे जैन-बौद्ध काल के आस-पास की सामग्री ही अधिक है। किंतु उसके आधार पर ब्रज का सास्कृतिक इतिहास केवल ढाई हजार वर्षो से कुछ अधिक का ही लिखा जा सकता है। उससे पूर्व की महत्वपूर्ण सामग्री, जैसा पहिले कहा गया है, सस्कृत तथा पालि-प्राकृत के प्राचीन ग्रथो मे बिखरी पडी है। उसके आधार पर ब्रज की सास्कृतिक गति-विधियो की अविच्छिन्न शृखला प्राचीनतम काल से जोडी जा सकती है।

## १. प्रागैतिहासिक काल

**वैदिक सस्कृति और शूरसेन प्रदेश**—भारतीय मान्यता के अनुसार मानव सृष्टि का आरभिक स्थल भारतवर्ष का ब्रह्मावर्त प्रदेश है। इसमे और इसके निकटवर्ती ब्रह्मर्षि प्रदेश मे ससार की सबसे प्राचीन वैदिक सस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ था। मनु ने सरस्वती और दृश्द्वती नदियो के दोआब को ब्रह्मावर्त बतलाया है तथा ब्रह्मर्षि के अतर्गत कुरु, मत्स्य, पचाल और शूरसेन प्रदेशो की स्थिति मानी है। मनु ने यहाँ के निवासियो के आचार-विचार समस्त पृथ्वी के नर-नारियो के लिए आदर्श बतलाये है[2]। वैदिक सस्कृति के विकास का क्षेत्र सिंधु नदी से यमुना नदी तक का भू-भाग माना जाता है। इस प्रकार शूरसेन प्रदेश, जो ब्रजमडल का प्राचीन नाम है, वैदिक सस्कृति के विकास का अन्यतम महत्वपूर्ण प्रदेश रहा है।

---

(१) **यमुना का प्रदेश**, ( पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृष्ठ ८४८-४६ )
(२) **मनुस्मृति**, ( २-१७, १६, २० )

**स्वायंभुव मनु और सरस्वती नदी**—पुराणो के अनुसार मानव जाति के आदि पिता स्वायभुव मनु थे, जो मनुयो की परपरा मे प्रथम माने जाते है। उनका निवास स्थान सरस्वती नदी के किनारे बतलाया गया है। महाभारत मे सरस्वती नाम की सात नदियो का उल्लेख हुआ है और उनका प्रवाह कई प्रदेशो मे बतलाया गया है[1]। ब्रजमडल की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार एक सरस्वती नदी प्राचीन हरियाना प्रदेश से ब्रज मे आती थी और मथुरा के निकट अविका वन मे बह कर गोकर्णेश्वर के समीपवर्ती उस स्थल पर यमुना नदी मे मिलती थी, जिसे 'सरस्वती सगम घाट' कहा जाता है। सरस्वती नदी और उसके समीप के अविका वन का उल्लेख पुराणो मे हुआ है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, सरस्वती नदी की प्राचीन धारा अब प्रवाहित नही होती है। उसके स्थान पर सरस्वती नामक एक बरसाती नाला है, जो अविका बन के वर्तमान स्थल महाविद्या के जगल मे बह कर यमुना के 'सरस्वती सगम घाट' पर मिलता है[2]। महाविद्या के निकट सरस्वती देवी का मदिर और सरस्वती कु ड भी है। यह नाला, मदिर, कु ड और घाट उस प्राचीन नदी की धारा प्रमाणित करने वाले चिह्न समझे जाते है। इनसे ब्रज की परपरा प्रागैति-हासिक कालीन स्वायभुव मनु से जुड जाती है। मथुरा के स्वामीघाट का पुराना नाम सयमन घाट है। इसे भी स्वायभुव मनु का निवास स्थल कहा जाता है।

**ध्रुव का तपस्या स्थल**—स्वायभुव मनु के दो पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद हुए, जिनकी सतान ही पृथ्वी के समस्त मानव है। उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव थे। वे अपनी विमाता से अपमानित होकर बाल्यावस्था मे ही घर से निकल पडे थे। उन्होने नारद मुनि के उपदेश से ब्रज के मधुवन मे तपस्या कर सिद्धि प्राप्त की थी[3]। उस काल का मधुबन पुण्यारण्य अथवा तपोभूमि मात्र था। उसमे कोई नगर या ग्राम होने का उल्लेख नही मिलता है। वर्तमान काल का मधुवन मथुरा तहसील का एक छोटा सा ग्राम है, जो मथुरा नगर के दक्षिण–पश्चिम की ओर प्राय ४ मील पर स्थित है। इसमे ध्रुव स्थल, ध्रुव गुफा और विष्णु के चरण चिह्न है, जो ध्रुव जी की साधना और भगवान् विष्णु द्वारा उन्हे सिद्धि प्रदान किये जाने की प्राचीन अनुश्रुति को साकार किये हुए है। इस प्रकार ब्रज स्थित मधुवन इस देश के प्रागैतिहासिक काल की अनुश्रुति से सबधित होने के कारण अपना अनुपम ऐतिहासिक महत्व रखता है।

**ऋषभदेव का स्थान**—पुराणो मे स्वायभुव मनु के पुत्र प्रियव्रत के वश मे नाभि के पुत्र ऋषभदेव का उल्लेख हुआ है[4], जिन्हे विष्णु के चौबीस अवतारो मे दशम माना जाता है। उनकी योग-सिद्धि और अवधूत वृत्ति का विशद वर्णन पुराणो मे मिलता है[5]। ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था, जिनके नाम पर ही यह देश 'भारतवर्ष' कहलाने लगा[6]। उनसे पहिले यह देश

---

(१) सप्त सारस्वत तीर्थो का वर्णन ( महाभारत, शल्य पर्व )
(२) इस ग्र थ का प्रथम खंड ( पृष्ठ ३५-३६ देखिये )
(३) भागवत पुराण, स्कध ४
(४) वायु पुराण ( २–३३ )
(५) भागवत, स्कंध ५ ( ४–५ )
(६) भागवत, स्कंध ५ ( ७–३ )

'अजनाभवर्ष' कहलाता था। कुछ लोग दुष्यंत के पुत्र भरत के नाम पर इस देश के नामकरण की बात कहते है, किंतु उनका मत ठीक नहीं है। ऋषभदेव का मथुरा से घनिष्ट संबंध रहा है, जो इसके प्रागैतिहासिक महत्व का परिचायक है।

**जैन अनुश्रुति**—भारतवर्ष के अवैदिक धर्मो मे जैन धर्म सबसे प्राचीन है, जिसके प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव माने जाते है। जैन धर्म के अनुसार भी ऋषभदेव का मथुरा से संबंध था। जैन धर्म मे यह अनुश्रुति प्रचलित हे कि नाभि के पुत्र भगवान् ऋषभदेव के आदेश से इंद्र ने इस भूतल पर ५२ देशो की रचना की थी। उन देशो मे शूरसेन देश और उसकी राजधानी मथुरा भी थी[1]। जैन 'हरिवंश पुराण' मे प्राचीन भारत के जिन १८ महाराज्यो का उल्लेख हुआ है, उसमे शूरसेन प्रदेश और उसकी राजधानी मथुरा का नाम भी है।

जैन धर्म के सातवे तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का विहार मथुरा मे हुआ था[2]। उनके विहार स्थल पर कुबेरा देवी द्वारा जो सुंदर स्तूप बनाया गया था, वह जैन धर्म के इतिहास मे बडा प्रसिद्ध रहा हे। चौदहवे तीर्थ कर अनंतनाथ का स्मारक तीर्थ भी मथुरा मे यमुना नदी के तट पर था। बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ को जैन धर्म मे श्री कृष्ण के समकालीन और उनका भाई माना जाता है। इस प्रकार जैन धर्म ग्रंथो की प्रागैतिहासिक अनुश्रुतियो मे ब्रज के प्राचीनतम इतिहास के सूत्र मिलते है।

**बौद्ध अनुश्रुति**—बौद्ध धर्म मे यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि आरंभिक जन-समाज ने सर्व सम्मति से अपना एक नेता निर्वाचित किया था, जो 'महासम्मत' कहलाता था। वह राजा एवं पिता के समान सबका परिपालक था। सर्वास्तिवादी 'विनय पिटक' मे कहा गया है कि इस राजा ने मथुरा के पास अपना सर्व प्रथम राज्य स्थापित किया था। इस प्रकार बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार भी मथुरा इस भू-तल का 'आदि राज्य' है[3]। जिस समय भगवान् बुद्धदेव मथुरा आये थे, तब उन्होने आनंद से कहा था कि यह आदि राज्य है, जिसने अपने लिए राजा (महासम्मत) चुना था[4]। पालि साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ 'अंगुत्तर निकाय' मे भगवान् बुद्ध से पहिले के जिन १६ महाजनपदो का नामोल्लेख मिलता है, उनमे पहिला नाम 'शूरसेन' जनपद का है। इस प्रकार बौद्ध धर्म के साहित्य मे भी ब्रज की प्रागैतिहासिक परंपरा के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

**वैवस्वत मनु और उनके वंशज**—मनुओ की परंपरा मे सातवे वैवस्वत मनु थे। उनके समय मे जो जल-प्रलय हुई थी, उसका वर्णन भारतीय पुराणो के अतिरिक्त संसार के प्राय सभी प्राचीन देशो के धार्मिक ग्रंथो मे मिलता है। उस खंड प्रलय के पश्चात् वैवस्वत मनु ने मानव सृष्टि–संचालन की पुनर्व्यवस्था की थी। इसीलिए उन्हे मानव जाति का प्रथम राजा माना गया है। उन्होने समाज व्यवस्था के जो विधि–विधान बनाये थे, उन्हे कालांतर मे 'मनुस्मृति' के रूप मे संकलित किया गया।

---

(१) जिनसेनाचार्य कृत 'महा पुराण' ( पर्व १६, श्लोक १५५ )
(२) जिनप्रभ सूरि कृत 'विविध तीर्थ कल्प' का 'मथुरापुरी कल्प' प्रकरण (पृष्ठ १७ और ८५)
(३) उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास, (पृष्ठ ३०)
(४) वही, (पृष्ठ १९७)

भगवान् बुद्ध की मूर्ति

उक्त वैवस्वत मनु की बहुत सी सताने हुई थी। उनसे भारतवर्ष के अनेक राजवशो की उत्पत्ति हुई है। उनके पुत्र इक्ष्वाकु से सूर्यवश चला है। उनकी पुत्री इला का विवाह चद्रमा के पुत्र बुध से हुआ था। बुध–इला की सतान से चद्रवश की परपरा प्रचलित हुई है। इन दोनो वशो मे अनेक प्रतापी राजा हुए, जिन्होने भारतवर्ष के नाम को उज्ज्वल किया है। सूर्यवश मे मर्यादा–पुरुषोत्तम राम हुए और चद्रवश मे लोकनायक कृष्ण हुए। ये दोनो महापुरुष हिंदू धर्म मे विष्णु के अवतार माने गये है। राम और कृष्ण भारतीय सस्कृति के सर्वाधिक सुदृढ आधार स्तभ है, जिनके कारण इसे इतना गौरव और स्थायित्व प्राप्त हुआ है।

**ययाति और चंद्रवश**—ययति चद्रवश के विख्यात महापुरुष थे। उन्हे भारत का प्रथम सम्राट माना जाता है। उनका शासन देश के विशाल भू–भाग पर था। उनकी राजधानी प्रतिष्ठान थी। विद्वानो के मतानुसार प्रयाग के निकटवर्ती वर्तमान भूसी और पोहनगॉव का क्षेत्र प्रतिष्ठान था। ययाति के पुत्रो के नाम यदु, तुर्वसु, द्रह्यु, पुरु और अनु थे। ययाति का ज्येष्ठ पुत्र यदु था, किंतु वह अपने कनिष्ठ पुत्र पुरु से अधिक स्नेह करता था। उसके फल स्वरूप उसने यदु को अधिकारच्युत कर पुरु को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। जब ययाति ने वृद्ध होने पर अवकाश ग्रहण किया, तब उसने अपने राज्य का प्रधान भाग, जो गगा और यमुना के दोआब मे था और जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी, पुरु को अर्पित कर दिया। पुरु के वशज पौरव कहलाये। यदु को दक्षिण–पश्चिम का भाग मिला। उसके वशज यदुवशी अथवा यादव कहलाये, जिनकी एक प्रमुख शाखा हैहयवशियो के नाम से प्रसिद्ध हुई। द्रह्यु को उत्तर–पश्चिम का भाग मिला। उसके वशज भोज कहलाये। तुर्वसु और अनु को राज्य के वे भाग दिये गये, जहाँ अनार्यो का निवास था, अत वे दोनो क्रमश यवनो और म्लेच्छो के अधिपति हुए थे।

**शूरसेन प्रदेश के प्राचीन शासक**—द्रह्यु का अधिकार यमुना तट के उस प्रदेश पर भी था, जो बाद मे शूरसेन के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इस प्रकार भोजगण शूरसेन के प्रथम ज्ञात शासक कहे जा सकते है। यदुवशियो ने दक्षिण मे बडी उन्नति की थी। उनके शासन मे दशार्ण, अवती, विदर्भ और माहिष्मती के प्रसिद्ध राज्य थे। यदु के वंश मे शशविंदु नामक एक प्रतापी राजा हुआ। उसने द्रह्यु वशी भोजो को पराजित कर उनके राज्य पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार शूरसेन प्रदेश भी यदुवशियो के शासन मे आ गया। शशविंदु के उपरात यादवो का विख्यात राजा मधु था। वह अत्यत प्रतापी, प्रजा–पालक और धार्मिक नरेश था। पुराणो के अनुसार उसका शासन शूरसेन से आनर्त (उत्तरी गुजरात) तक के विशाल भू–भाग पर था। शशविंदु से मधु तक यादवो के जितने राजा हुए, उनमे से किन–किन का शूरसेन पर अधिकार रहा और उनके शासन मे इस प्रदेश की क्या अवस्था रही, इसका निश्चित विवरण पुराणो मे नही मिलता है।

**मधुबन और लवण**—वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाड मे असुरवशी मधु और उसके पुत्र लवण की कथा आती है। उसमे बतलाया गया है कि मधु अत्यत वीर और धार्मिक वृत्ति का प्रजा–पालक नरेश था। वह यमुना तटवर्ती मधुवन पर शासन करता था। उसका पुत्र लवण अपने पिता के समान शूरवीर तो था, किंतु प्रजा–पालक नही था। उसके शासन मे प्रजा–पीडन और अत्याचार इतना बढ गया था कि उससे जनता मे घोर असतोष की ज्वाला धधक उठी थी। जिन

काल मे लवण मधुवन का शासक था, उसी काल मे सूर्यवशी श्री रामचद्र अयोध्या के राजा थे। उन्होने राक्षस नरेश रावण को पराजित कर अपने यश और शौर्य की पताका समस्त देश पर फहरा दी थी। लवण को राम से ईर्ष्या हुई। उसने वीरता के मद मे राम को युद्ध के लिए ललकारा। उधर मधुवन निवासियो की ओर से कुछ तपोनिष्ठ ब्राह्मण लवण के अत्याचारो से मुक्ति पाने के लिए रामचद्र से प्रार्थना करने गये। निदान राम ने लवण के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उन्होने अपने अनुज शत्रुघ्न को एक बडी सेना के साथ मधुवन की ओर भेज दिया। शत्रुघ्न और लवण मे घोर युद्ध हुआ, जिसमे लवण मारा गया। शत्रुघ्न ने विजय-दुदुभी बजाते हुए वेदपाठी ब्राह्मणो के साथ मधुवन मे प्रवेश किया। इस प्रकार यह भू-भाग राम-राज्य के अतर्गत आ गया।

**मथुरा की स्थापना**—महाबली लवण का वध करने के अनतर शत्रुघ्न ने मधुवन के एक भाग को साफ कराया और वहाँ यमुना नदी के तट पर एक नगरी की स्थापना की, जिसका नाम 'मधुरा' रखा गया। इसका उल्लेख 'विष्णु पुराण' मे हुआ है[१]। उक्त मधुरा ही बाद मे अपने पालि रूप 'मथुरा' के नाम से प्रसिद्ध हुई थी। 'वाल्मीकि रामायण' से ज्ञात होता है, शत्रुघ्न जी ने उस नगरी की स्थापना श्रावण महीने मे की थी और उसे यमुना के तट पर अर्ध चद्राकार बसाया था[२]। मथुरा की स्थापना श्रावण मे होने से ही कदाचित यहाँ उसी महीने मे विशेष उत्सवादि करने की परपरा रही है। शत्रुघ्न जी उस नगरी मे बारह वर्ष तक रहे थे। उस काल मे मधुरा नगरी इतनी वैभवशाली हो गई कि उसे 'देवनिर्मिता' कहा जाने लगा। वह शूरसेना वाले राजाओ की राजधानी हो गई[३]। बाद मे शत्रुघ्न अपने ज्येष्ठ पुत्र सुबाहु को मधुरा का राजा बना कर आप श्री राम के पास अयोध्या चले गये थे। वह आदि मथुरा अथवा मधुरा की प्रथम बस्ती थी, जो विद्वानो के मतानुसार मथुरा तहसील के वर्तमान महोली गाँव के निकट बसी हुई थी[४]। उस प्रागैतिहासिक काल मे यमुना की मुख्य धारा अथवा उसकी कोई शाखा वहाँ प्रवाहित होती थी; जब कि वर्तमान काल मे यमुना वहाँ से बहुत दूर हो गई है।

**'शूरसेन' का नामकरण**—प्राचीन मथुरा के आस-पास जो राज्य कायम हुआ, उसका पुराना नाम 'शूरसेन' मिलता है। उसके नामकरण के सबध मे श्री कृष्णदत्त जी वाजपेयी का मत है कि वह शत्रुघ्न के छोटे पुत्र उस शूरसेन के नाम पर पडा है, जो कदाचित अपने बडे भाई सुबाहु के बाद यहाँ का राजा हुआ था। मधुरा के निर्माण के समय देवताओ ने शत्रुघ्न जी को वरदान दिया था कि यह नगरी 'शूरसेना वाले राजाओ की राजधानी होगी'—वाल्मीकि के उक्त कथन को श्री वाजपेयी जी ने अपने मत के समर्थन का अस्पष्ट सकेत समझा है[५]।

---

(१) हत्वा च लवणं रक्षो मधुपुत्र महाबलम्।
शत्रुघ्नो मधुरा नाम पुरी तत्र चकार वै॥ (विष्णु, ६-१२-४)

(२) वाल्मीकि रामायण, (उत्तरकाड, ७०-८)

(३) वही (उत्तरकाड, ७०-५-६)

(४) १. कनिघम कृत 'आरक्योलोजीकल रिपोर्ट', (जिल्द २०, पृष्ठ ३१)
२ मुनि कल्याणविजय कृत 'श्रमण भगवान् महावीर', (पृष्ठ ३७९)

(५) ब्रज का इतिहास, (प्रथम खड, पृष्ठ १४, १५)

हमारे मतानुसार श्री वाजपेयी जी का कथन ठीक नही है। वाल्मीकि रामायरा मे ही लिखा गया है कि इस प्रदेश का शूरसेन नाम शत्रुघ्न तथा उनके पुत्रो का इससे सबध होने से पहिले ही प्रसिद्ध हो चुका था। अगद ने सीता जी की खोज के लिए वानर सेना को जिन प्रदेशो मे जाने के लिए कहा था, उनमें 'शूरसेन' का भी नामोल्लेख हुआ है[1]। शत्रुघ्न के छोटे पुत्र का नाम रामायरा मे शत्रुघाती लिखा गया है, न कि शूरसेन। शत्रुघ्न ने उसे वैदिश का राज्य दिया था[2]। कालिदास कृत रघुवश मे शत्रुघाती को मथुरा और सुबाहु को विदिशा का राज्य दिये जाने का उल्लेख मिलता है[3], किंतु उसमे भी शूरसेन का नामोल्लेख नही है।

इससे सिद्ध होता है कि शत्रुघ्न ने मथुरा नगरी की स्थापना अवश्य की थी, किंतु इस प्रदेश का शूरसेन नाम उनसे पहिले ही पड चुका था। यह नाम किस शूरसेन राजा के नाम पर प्रसिद्ध हुआ, यह विचारणीय है। यदुवशियो के एक प्राचीन राजा का नाम कार्तवीर्य अर्जुन या सहस्रार्जुन था। वह बडा वीर और प्रतापी राजा था। उसने रावण जैसे प्रसिद्ध योद्धा को भी बाँध लिया था। उसके राज्य का विस्तार नर्मदा से हिमालय तक था, जिसमे यमुना तट का प्रदेश भी सम्मिलित था। उसके वशज कालातर मे हैहयवशी कहलाये, जिनकी राजधानी माहिष्मती थी। सहस्रार्जुन के १०० पुत्र थे, जिनमे एक का नाम शूरसेन भी था। 'लिंग पुराण' मे लिखा है, उसी शूरसेन के नाम पर इस प्रदेश का नाम 'शूरसेन' प्रसिद्ध हुआ था[4]।

**यादवों के वश और उनके राज्य का विस्तार**—यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है कि रामायरा मे मधुवन के राजा जिस मधु का उल्लेख हुआ है, वह यादव वशी शशविंदु का वशज मधु था, अथवा कोई अन्य नरेश था। रामायरा मे उसे दैत्य या असुर लिखा गया है, और उसे अत्यंत धार्मिक वृत्ति का प्रजापालक राजा बतलाया गया है। दैत्य अथवा असुर नामो के साथ जो दुर्भावना जुडी हुई है, वह प्राचीनतम साहित्य मे नही मिलती है। पारसियो के आदिम ग्रथ **'अवेस्ता'** मे तो असुर ( अहुर ) को महान् देवता माना ही गया है, वेदो मे भी उसे श्रद्धास्पद स्वीकार किया गया है। प्रहलाद, बलि जैसे अनेक दैत्य वशी महापुरुषो के पावन चरित्र प्राचीन साहित्य मे भरे पडे है। वाल्मीकि ने भी मधु की धार्मिक वृत्ति का कथन किया है। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि असुरो की सस्कृति बडी उन्नत थी। वे लोग अनेक विद्याओ और कलाओ मे पारगत थे। बहुत सभव है, यदु वशी मधु का आकर्षण वेद विहित आर्य सस्कृति की अपेक्षा असुर सस्कृति की ओर अधिक हो गया हो, इसीलिए उसे रामायरा मे असुर लिखा गया है। यदुवशी मधु का काल भी महाराज रामचद्र अथवा असुर मधु के काल के लगभग ही है। यदुवशी मधु वैवस्वत मनु की चद्रवशी शाखा मे ६१ वी पीढी मे हुआ था, जब कि महाराज रामचद्र सूर्यवशी शाखा मे मनु की ६५ वी पीढी मे हुए थे। मधु का पुत्र श्री रामचद्र का समकालीन बतलाया गया है। इससे यही अनुमानित होता है कि रामायरा का मधु ही यदुवशी मधु था। उक्त मधु के वश मे उत्पन्न होने के काररा ही श्री कृष्ण को 'माधव' कहा जाता है।

---

(१) **वाल्मीकि रामायरा** ( किष्किधा काड, पृ० ४३–११ )
(२) वही ( उत्तर काड, १०८–११ )
(३) **रघुवंश** ( १५–३६ )
(४) **लिंग पुरारा** (६८–१९ )

उक्त कथन की पुष्टि हरिवंश से होती है। उसमें लिखा गया है, अयोध्या के सूर्यवंशी राजा इक्ष्वाकु के एक पुत्र का नाम हर्यश्व था, जिसका विवाह मधुवन के दैत्य राजा मधु की पुत्री मधुमती के साथ हुआ था। हर्यश्व के बड़े भाई ने उसे किसी कारणवश अयोध्या से निकाल दिया था। वह अपनी पत्नी के परामर्श से अपने ससुर के पास मधुवन चला गया। मधु ने अपने दामाद को सान्त्वना देते हुए बड़े आदर पूर्वक अपने पास रखा था[1]। जैसा पहिले लिखा गया है, मधु का राज्य मधुवन से आनर्त (उत्तरी गुजरात) तक विस्तृत था। उसने अपने राज्य को दो भागों में विभाजित कर मधुवन का निकटवर्ती प्रदेश अपने पुत्र लवण को दिया और शेष भाग हर्यश्व को प्रदान कर दिया। हर्यश्व ने गिरिवर (रैवतक) पर अपनी राजधानी बसायी और वह पश्चिम तटवर्ती समुद्र तक के प्रदेश पर शासन करने लगा। उसका राज्य आनर्त अथवा सुराष्ट्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ[2]।

इस प्रकार सूर्यवंशी हर्यश्व का पारिवारिक संबंध चंद्रवंशी मधु के साथ हो जाने के कारण हर्यश्व की संतति चंद्रवंश के ही अंतर्गत मानी गई। उनका सूर्यवंश से संबंध विच्छेद हो गया। हर्यश्व को मधुमती से यदु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ[3], जो अपने पूर्वज ययाति-पुत्र यदु का नामराशी था। हरिवंश-कार के मतानुसार उक्त यदु के वंशजों के ७ कुल प्रसिद्ध हुए, जिनके नाम—१ भीम, २ कुकुर, ३ भोज, ४ अंधक, ५ यादव, ६, दाशार्ह और ७ वृष्णि थे[4]। यदुवंशी सत्वत का पुत्र भीम जब आनर्त देश का राजा था, तब अयोध्या में श्री रामचंद्र का राज्य था। जैसा पहिले लिखा गया है, श्री राम के आदेशानुसार शत्रुघ्न ने मधु के पुत्र लवण को मार कर मधुवन पर अधिकार कर लिया था और उन्होंने मधुवन के एक भाग में मथुरा पुरी बसायी थी। शत्रुघ्न के मथुरा से चले जाने और श्री राम का तिरोधान होने के पश्चात् भीम ने मथुरा सहित मधुवन को भी अपने राज्य में मिला लिया था।

**अंधक वंश और वृष्णि वंश**—श्री राम के पश्चात् जब अयोध्या की गद्दी पर कुश थे और लव युवराज थे, तब मथुरा में भीम का पुत्र अंधक राज्य करता था[5]। उसके बाद अंधक वंशियों का मथुरा पर अधिकार रहा, जो उग्रसेन और उसके पुत्र कंस तक कायम रहा था। भीम के दूसरे पुत्र का नाम वृष्णि था। उसके वंश में उत्पन्न शूर ने शौरपुर (वर्तमान बटेश्वर) बसा कर अपना प्रथक् राज्य स्थापित किया था। शूर के पुत्र वसुदेव हुए, जिनके पुत्र बलराम तथा श्री कृष्ण थे।

वैदिक साहित्य में उत्तरी पंचाल के पौरव राजा दिवोदास और उसके वंशज सुदास की विजय-गाथाओं का उल्लेख मिलता है[6]। सुदास ने हस्तिनापुर के पौरव राजा संवरण को उसके नौ

---

(१) हरिवंश, विष्णु पर्व, अध्याय ३७
(२) वही, ,, अध्याय ३७, श्लोक १२ से ३२ तक
(३) वही, ,, अध्याय ३७, श्लोक ३४ से ४४ तक
(४) वही, ,, अध्याय ३७, श्लोक ६५
(५) वही, ,, अध्याय ३८, श्लोक ३९ से ४३ तक
(६) ऋग्वेद (७, १८, १९ तथा ९, ६१, २)

साथी राजाओ की विशाल सेना के साथ पराजित किया था। वह साका 'दशराज्ञ युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमे विजयी होने के कारण सुदास की वडी ख्याति हुई थी। वह आर्यावर्त का सबसे अधिक शक्तिशाली शासक माना जाने लगा था। उससे पराजित होने वाले राजाओ मे एक यादव नरेश भी था। श्री कृष्णदत्त जी वाजपेयी का अनुमान है कि वह यादव नरेश भीम सात्वत का पुत्र अधक रहा होगा, जो सुदास के समय मे यादवो की मुख्य शाखा का अधिपति और शूरसेन जनपद के तत्कालीन गणराज्य का अध्यक्ष था। वह सभवत अपने पिता भीम के समान वीर नही था[1]।

अधक के वश मे कुकुर हुआ था। कुकुर की कई पीढी बाद आहुक हुआ, जिसके दो पुत्र उग्रसेन और देवक हुए थे। उग्रसेन का पुत्र कस था और देवक की पुत्री देवकी थी। उग्रसेन, देवक और कस अपने पूर्वज अधक और कुकुर के नाम पर अधक वशीय अथवा कुकुर वशीय कहलाते थे। अधक के भाई वृष्णि के दो पुत्र हुए, जिनके नाम देवमीढूष और युधाजित् थे। देवमीढूष के पुत्र शूर, उनके पुत्र वसुदेव और उनके पुत्र कृष्ण–बलराम थे। युधाजित् के पुत्र प्रश्नि, उनके पुत्र श्वफल्क और उनके पुत्र अक्रूर थे। वृष्णि के वशज वृष्णि वशीय अथवा वार्ष्णेय कहलाते थे।

अधक और वृष्णि वशियो द्वारा शासित शूरसेन प्रदेशातर्गत मथुरा और शौरपुर के दोनो राज्य 'गण राज्य' थे। उनका शासन वश-परपरागत न होकर समय-समय पर जनता के चुने हुए प्रतिनिधियो द्वारा होता था। वे प्रतिनिधि अपने-अपने गणो के मुखिया होते थे, और राजा कहलाते थे। महाभारत युद्ध से पूर्व उन दोनो राज्यो का सघ था, जो 'अधक-वृष्णि-सघ' कहलाता था। उस सघ मे अधको के मुखिया आहुक-पुत्र उग्रसेन थे और वृष्णियो के शूर-पुत्र वसुदेव थे। उस सघीय गण राज्य का राष्ट्रपति उग्रसेन था।

उग्रसेन की भतीजी देवकी का विवाह वसुदेव के साथ हुआ था, जिनके पुत्र भगवान् कृष्ण थे। उग्रसेन के पुत्र कंस का विवाह उस काल के सर्वाधिक शक्तिशाली मगध राज्य के स्वामी जरासध की दो पुत्रियो के साथ हुआ था। वसुदेव की बहिन कुती का विवाह कुरु प्रदेश के प्रतापी महाराज पाडु के साथ हुआ था, जिनके पुत्र सुप्रसिद्ध पाडव थे। वसुदेव की दूसरी बहिन श्रुतश्रवा हैहयवशी चेदिराज दमघोष को व्याही थी, जिसका पुत्र शिशुपाल था। इस प्रकार शूरसेन प्रदेश के यादवो का पारिवारिक सबध भारतवर्ष के कई विख्यात राज्यो के अधिपतियो के साथ था।

उग्रसेन का पुत्र कस वडा शूरवीर और महत्वाकाक्षी युवक था। फिर उसे अपने श्वसुर जरासध के अपार सैन्य बल का भी अभिमान था। वह गणतत्र की अपेक्षा राजतत्र मे विश्वास रखता था। उसने अपने साथियो के साथ सघ राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर उपद्रव करना आरंभ किया। अपनी वीरता और अपने श्वसुर की सहायता से उसने अपने पिता उग्रसेन और बहनोई वसुदेव को शासनाधिकार से वचित कर उन्हे कारागृह मे बद कर दिया और आप अधक-वृष्णि सघ का स्वेच्छाचारी राजा बन गया था। वह यादवो से घृणा करता था और अपने को यादव मानने मे लज्जित होता था। उसने मदाध होकर प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार किये थे। अत मे श्री कृष्ण द्वारा उसका अत हुआ था।

---

(१) ब्रज का इतिहास ( प्रथम खड, पृष्ठ १८ )

## २. कृष्ण काल

श्री कृष्ण ब्रज सस्कृति के प्रवर्तक और निर्माता थे। उनके जन्म के साथ ही ब्रज सस्कृति के कल्पवृक्ष का बीज-वपन हुआ और उनकी ब्रज-लीलाओ ने इसे पल्लवित कर हरा-भरा बनाया था। फिर उनके जीवन भर के लोक-कल्याणकारी कार्य-कलाप ने इसे पुष्पित कर ब्रज से द्वारका तक के सुविस्तृत क्षेत्र को सुरभित किया था। अत मे उनके गीता ज्ञान ने इसे वह अमर फल प्रदान किया, जो ब्रज या भारत के लिए ही नही, वल्कि समस्त जगत् के लिए श्रेयस्कर रहा है। भारत की सनातन सस्कृति के समग्र रूप का दर्शन यदि हम किसी एक ही व्यक्ति मे करना चाहें, तो वह निश्चय ही श्री कृष्ण होंगे। उनके द्वारा प्रवर्तित ब्रज सस्कृति भारतीय सस्कृति का पुष्ट अ ग और मर्मस्थान है। यह उनकी विश्व के लिए महान् देन है। इस 'सत्य-शिव-सुदर' सस्कृति के प्रादुर्भाव और इसके आरभिक विकास के कारण इस काल का महत्व स्वयसिद्ध है।

### काल के सबध मे ऊहा-पोह—

भगवान् श्री कृष्ण किस काल मे विद्यमान थे, इसके सबध मे विद्वानो मे मतैक्य नही है। आजकल के कई देशी-विदेशी विद्वान कृष्ण-काल को ३५०० वर्ष से अधिक पुराना नही मानते हैं, जब कि भारतीय मान्यता के अनुसार वह ५००० वर्ष से भी कुछ अधिक प्राचीन है। यह मान्यता कोरी कल्पना अथवा किवदंती पर आधारित नही है, वल्कि इसका वैज्ञानिक और साथ ही ऐतिहासिक आधार भी है।

**ज्योतिष का प्रमाण**—प्राचीन सस्कृत ग्रथो मे ज्योतिष सबंधी कुछ ऐसे उल्लेख हैं, जो उस काल के निर्णय करने मे बडे सहायक होते हैं। मैत्र्युपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण के 'कृत्तिका स्वादधीत' उल्लेख से तत्कालीन खगोल-स्थिति की गणना कर ट्रेनिंग कालेज पूना के गणित-प्राध्यापक स्व० शकर बालकृष्ण दीक्षित महोदय ने मैत्र्युपनिषद् को ईसवी सन् से १६०० पूर्व का और शतपथ ब्राह्मण को ३००० वर्ष पूर्व का माना है[1]। मैत्र्युपनिषद् सबसे पीछे का उपनिषद् कहा जाता है और उसमे छादग्योपनिषद् के अवतरण मिलते हैं, इसलिए छादोग्य मैत्र्युपनिषद् से पूर्व का उपनिषद् हुआ। शतपथ ब्राह्मण और छादोग्य उपनिषद् आजकल के विद्वानो के मत के अनुसार एक ही काल की रचनाएँ हैं, अत छादोग्य का काल भी ईसा से ३००० वर्ष पूर्व का हुआ। छादोग्य उपनिषद् मे देवकी-पुत्र कृष्ण का उल्लेख मिलता है[2]। 'देवकीपुत्र' विशेषण के कारण उक्त उल्लेख के कृष्ण स्पष्ट रूप से वृष्णि वश के कृष्ण हैं। इस प्रकार कृष्ण का समय ईसा से ३००० वर्ष पूर्व अर्थात् अब से प्राय ५००० वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है।

आकाश स्थित नक्षत्रो के आधार पर गणना कर अन्य प्रकार से भी कृष्ण-काल का निर्णय किया गया है। परीक्षित के समय मे सप्तर्षि[3] मघा नक्षत्र पर थे, जैसा शुकदेव मुनि द्वारा

---

(१) मानव धर्म का 'श्री कृष्ण विशेषांक' ( श्रावण स० २००२, पृष्ठ १३६ )

(२) तद्धत घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव (प्र०३,खंड १७)

अर्थात्—आगिरस घोर ऋषि ने देवकीपुत्र कृष्ण को शिक्षा दी, जिसे पाकर वे (कृष्ण) अपिपास हो गये, अर्थात् उन्हे कुछ और जानने की तृषा नही रही।

(३) आकाश के ७ तारे, जिनके नाम मरीचि, वसिष्ठ, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु हैं।

परीक्षित से कहे हुए वाक्य[1] से प्रमाणित है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार सप्तर्षि एक नक्षत्र पर एक सौ वर्ष तक रहते है। आज कल सप्तर्षि कृत्तिका नक्षत्र पर है, जो मघा से २१वॉं नक्षत्र है। इस प्रकार मघा से कृत्तिका पर आने में २१०० वर्ष लगे है, किंतु यह २१०० वर्ष की अवधि महाभारत काल कदापि नही है। इससे यह मानना होगा कि मघा मे आरभ कर २७ नक्षत्रो का एक चक्र पूरा हो चुका था और दूसरे चक्र मे ही सप्तर्षि उस काल मे मघा पर आये थे। पहिले चक्र के २७०० वर्ष मे दूसरे चक्र के २१०० वर्ष जोडने से ४८०० वर्ष हुए। यह काल परीक्षित की विद्यमानता का हुआ। परीक्षित के पितामह अर्जुन थे, जो आयु मे श्री कृष्ण से १८ वर्ष छोटे थे। इस प्रकार ज्योतिष की गणना के अनुसार कृष्ण काल अब से ५००० वर्ष पूर्व का सिद्ध होता हे।

आजकल चैत्र मास से वर्ष का आरभ माना जाता है, जब कि कृष्ण काल मे वह मार्गशीर्ष से होता था। वसत ऋतु भी उस काल मे मार्गशीर्ष माह मे ही होती थी। महाभारत मे मार्गशीर्ष मास से ही कई स्थलो पर महीनो की गणना की गई है। गीता मे जहाँ भगवान् की विभूतियो का वर्णन हुआ है, वहॉ 'मासाना मार्गशीर्षोऽहम्' और 'ऋतुना कुसुमाकर' के उल्लेखो से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। ज्योतिष शास्त्र के विद्वानो ने सिद्ध किया है कि मार्गशीर्ष मे वसत-सम्पात अब से प्राय. ५००० वर्ष पूर्व होता था[2]। इस प्रकार भी कृष्ण काल के ५००० वर्ष प्राचीन होने की पुष्टि होती है।

श्री कृष्ण द्वापर युग के अत और कलि युग के आरभ के सधि–काल मे विद्यमान थे। भारतीय ज्योतिपियो के मतानुसार कलि युग का आरभ शक सवत् ३१७९ वर्ष पूर्व की चैत्र शु० १ को हुआ था। आजकल १८८७ शक सवत् है। इस प्रकार कलि युग को आरभ हुए ५०६६ वर्ष हो गये। कलि युग के आरभ होने से ६ माह पूर्व मार्गशीर्ष शुक्ला १४ को महाभारत युद्ध का आरभ हुआ था, जो १८ दिनो तक चला था। उस समय श्री कृष्ण की आयु ८३ वर्ष की थी। उनका तिरोधान ११९ वर्ष की आयु मे हुआ था। इस प्रकार भारतीय मान्यता के अनुसार श्री कृष्ण की विद्यमानता का काल शक सवत् पूर्व ३२६३ की भाद्रपद कृ० ८ बुधवार से शक सवत् ३१४४ तक हे। भारत के विख्यात ज्योतिषी वराहमिहिर, आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त आदि के समय से ही यह मान्यता प्रचलित रही है। भारत का सर्वाधिक प्राचीन युधिष्ठर सवत्, जिसकी गणना कलि युग से ४० वर्ष पूर्व से की जाती है, उक्त मान्यता को पुष्ट करता है।

**पुरातत्त्व का प्रमाण**—ज्योतिष के अतिरिक्त पुरातत्व के प्रमाण से भी भारतीय मान्यता का समर्थन होता है। पुरातत्ववेत्ताओ का मत है कि अब से प्राय ५००० वर्ष पूर्व एक प्रकार की प्रलय हुई थी। उस समय भयकर भूकम्प और ऑंधी–तूफानो से समुद्र मे बडा भारी उफान आया था। उस समय नदियो के प्रवाह परिवर्तित हो गये थे, विविध स्थानो पर ज्वालामुखी पर्वत फूट पडे थे और पहाडो के शृ ग टूट-टूट कर गिर गये थे। वह भीषण दैवी दुर्घटना वर्तमान ईराक मे बगदाद के पास और वर्तमान मैक्सिको के प्राचीन मय प्रदेश मे हुई थी, जिनका काल ५००० वर्ष

---

(१) ते त्वदीये द्विजाः काल अधुना चाश्रिता मघा। अर्थात्—तुम्हारे जन्म के समय मे और अब भी सप्तर्षि मघा नक्षत्र पर स्थित हैं।

(२) श्री शकर बालकृष्ण दीक्षित कृत मराठी ग्रंथ "भारतीय ज्योतिष शास्त्र," (पृ० ३४)

पूर्व का माना जाता है। उसी प्रकार की दुर्घटनाओं का वर्णन महाभारत और भागवतादि पुराणों मे भी मिलता है। उनसे ज्ञात होता है कि महाभारत युद्ध के पश्चात् उसी प्रकार के भीषण भूकम्प हस्तिनापुर और द्वारका मे भी हुए थे, जिनके कारण द्वारका नगरी तो सर्वथा नष्ट ही हो गई थी। बगदाद और हस्तिनापुर तथा प्राचीन मय प्रदेश और द्वारका प्राय एक से अक्षांशों पर स्थित हैं, अत उनकी दुर्घटनाओं का पारस्परिक सबंध विज्ञान सम्मत है। बगदाद की प्रलय के पश्चात् वहाँ बसाये गये 'उर' नगर को तथा मैक्सिको स्थित 'मय' प्रदेश के ध्वस को जब ५००० वर्ष प्राचीन माना जा सकता है, तब महाभारत और भागवत मे वर्णित वैसी ही घटनाओं को, जो कृष्ण के समय मे हुई थी, उसी काल का माना जावेगा। ऐसी दशा मे पुरातत्व की साक्षी से भी कृष्ण काल ५००० वर्ष प्राचीन सिद्ध होता है। यह दूसरी बात है कि महाभारत और भागवत ग्रथो की रचना बाद मे हुई थी, किंतु उनमे वर्णित कथा ५००० वर्ष पुरानी ही है।

**इतिहास का प्रमाण**—ज्योतिष और पुरातत्व के अतिरिक्त इतिहास के प्रमाण से भी कृष्ण-काल विषयक भारतीय मान्यता की पुष्टि होती है। यवन नरेश सिल्युकस ने मैगस्थनीज नामक अपना एक राजदूत भारतीय नरेश चद्रगुप्त के दरबार मे भेजा था। मैगस्थनीज ने उस समय के अपने संस्मरण लेखबद्ध किये थे। इस समय उस यूनानी राजदूत का मूल ग्रथ तो नहीं मिलता है, किंतु उसके जो अश एरियन आदि अन्य यवन लेखकों ने उद्धृत किये थे, वे प्रकाशित हो चुके है। मैगस्थनीज ने लिखा है—"मथुरा मे शौरसेनी लोगों का निवास है। वे विशेष रूप से हरकुलीज (हरि कृष्ण) की पूजा करते हैं।" उनका कथन है कि डायोनिसियस से हरकुलीज १५ पीढ़ी बाद मे और सेड्राकोटस (चद्रगुप्त) १५३ पीढी बाद मे हुए थे। इस प्रकार श्री कृष्ण और चद्रगुप्त मे १३८ पीढियो का अतर हुआ। यदि प्रत्येक पीढी २० वर्ष का मानी जाय, तो १३८ पीढियो के २७६० वर्ष हुए। चद्रगुप्त का समय ईसा से ३२६ वर्ष पूर्व का है। इस हिसाब से श्री कृष्ण काल अब से ( १९६६+३२६+२७६० ) ५०५२ वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है।

इस प्रकार भारतीय विद्वानो के सैकडो-हजारो वर्ष प्राचीन निष्कर्षों के फल स्वरूप कृष्ण काल की जो भारतीय मान्यता ज्योतिष, पुरातत्व और इतिहास से भी परिपुष्ट होती है, उसे न मानने का कोई कारण नही है। आधुनिक काल के विद्वान इतिहास और पुरातत्व के जिन अनुसधानो के आधार पर कृष्ण काल की अवधि ३५०० वर्ष मानते हे, वे अभी अपूर्ण हे। इसकी पूरी सभावना है कि इन अनुसधानो के पूर्ण होने पर वे भी भारतीय मान्यता का समर्थन करेंगे।

## कृष्ण-चरित्र के विविध स्रोत—

**प्राचीनतम सस्कृत साहित्य**—भारत के प्राचीनतम सस्कृत साहित्य मे जिन दिव्य विभूतियो और महापुरुषो के उल्लेख मिलते है, उनमे श्री कृष्ण भी है। ऋग्वेद भारत ही नहीं, समस्त ससार का प्राचीनतम ग्रथ माना जाता है। उसके अष्टम् और दशम् मडलो के विविध सूक्तो मे कृष्ण का नामोल्लेख हुआ है। कई विद्वानो ने उक्त सूक्तो का सबध भगवान् श्री कृष्ण से जोडा है, किंतु यह ठीक नही मालूम होता है। यदि ऋग्वेद के सूक्तो की रचना भगवान् श्री कृष्ण से पहिले हुई, तब उनमे श्री कृष्ण का नामोल्लेख नही हो सकता। ऋग्वेद के कृष्ण भगवान् श्री कृष्ण से भिन्न कोई वैदिक ऋषि जान पडते हैं। वैदिक सहिता के बाद आरण्यक, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रथो और पाणिनीय सूत्रो मे जिन कृष्ण का उल्लेख मिलता है, वे वृष्णिवशीय श्री कृष्ण ही थे।

नेमिनाथ वास्तव मे समुद्रविजय के उत्तराधिकारी थे, किंतु वे युवावस्था मे ही विरक्त हो जाने के कारण राज्य कार्य से विमुख हो गये थे। उसके फलस्वरूप वसुदेव और फिर कृष्ण-बलराम शौरपुर के अधिपति हुए थे। जैन आगमो मे कृष्ण के साथ पाडवो और द्रौपदी का भी उल्लेख हुआ है।

जैन साहित्य मे 'वसुदेव हिंडि' कृष्ण-चरित्र का प्रमुख ग्रथ है। यह प्राकृत भाषा मे रचा हुआ चम्पू काव्य है। इसकी रचना ५वीं शती के लगभग गणिवाचक सघदास ने की थी। इसमे विशेष रूप से वसुदेव का चरित्र लिखा गया है, किंतु प्रसगवश श्री कृष्ण का भी उल्लेख मिलता है। 'वसुदेव हिंडि' के उपरात ८वीं शती से १६वी शती तक रचे हुए अनेक जैन ग्रथो मे कृष्ण–चरित्र का कथन किया गया है। इन ग्रथो मे जिनसेन कृत हरिवश पुराण, गुणभद्र कृत महापुराण और स्वयभू कृत रिट्ठणेमि ( अरिष्टनेमि ) चरित्र और देवेन्द्र सूरि कृत कृष्ण चरित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कृष्ण चरित्र के अतिरिक्त प्रद्युम्न चरित्र से सबधित भी अनेक ग्रथ जैन साहित्य मे मिलते है।

**बौद्ध साहित्य**—बौद्ध धर्म के ग्रथो मे जातक कथाओ का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमे भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मो की कथाएँ लिखी गई है। इनकी गणना 'खुद्दक निकाय' के अतर्गत होती है और इनका रचना–काल विक्रम पूर्व की द्वितीय शताब्दी माना जाता है[1]। जातको मे बुद्ध कालीन भारतीय सस्कृति से सबधित प्रचुर सामग्री मिलती है। जातक कथाओ मे 'घट जातक' का सबध कृष्ण चरित्र से है। इसमे जिस प्रकार से कृष्ण का वृत्तात लिखा गया है, वह भागवतादि मे वर्णित कृष्ण चरित्र से सर्वथा भिन्न है। 'घट जातक' के कृष्ण के प्रति वैसी श्रद्धा नही होती है, जैसी हिंदू समाज मे उनके प्रति परपरा से प्रचलित रही है। फिर भी बौद्ध साहित्य मे कृष्ण–चरित्र के क्या सूत्र मिलते है और बौद्धो का श्री कृष्ण के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा था, इसे जानने के लिए 'घट जातक' की कथा यहाँ सक्षिप्त रूप से दी जाती है[2]।

**घट जातक की कृष्ण-कथा**—प्राचीन काल मे उत्तरापथ के कसभोग राज्यातर्गत असितजन नगर मे मकाकस नामक एक राजा राज्य करता था। उसके कस, उपकस नामक दो पुत्र थे और देवगम्भा नामक पुत्री थी। पुत्री के जन्म के समय ज्योतिषियो ने भविष्यवाणी की थी कि इसके पुत्र से कसवश का नाश होगा। राजा मकाकस स्नेह के कारण पुत्री को मरवा नही सका, किन्तु यह भविष्य-वाणी सब को विदित थी। मकाकस के मरने पर उसका पुत्र कस राजा हुआ और उपकस उपराजा। उन्होने सोचा यदि हम बहिन को मारेंगे, तो निंदा होगी, अत इसे अविवाहित रखेंगे, ताकि इसकी सतान न हो। उन्होने अपनी बहिन के निवास के लिए एक प्रथक प्रासाद बनवा दिया और उसकी पहरेदारी पर नदगोपा और उसका पति अधकवेणु नियुक्त कर दिये।

उस समय उत्तर मथुरा मे महासागर नाम का राजा राज्य करता था। उसके सागर और उपसागर नाम के दो पुत्र थे। पिता के मरने पर सागर राजा और उपसागर उपराजा हुआ। उपसागर और उपकस दोनो मित्र थे। उनकी पढाई एक ही आचार्य कुल मे साथ–साथ हुई थी।

---

(१) पालि साहित्य का इतिहास, ( पृष्ठ २८० )

(२) विस्तृत वर्णन जानने के लिए भदत आनद कौसल्यायन द्वारा अनुवादित जातक कथाओं के चतुर्थ खंड मे स० ४५४ की 'घट जातक' कथा को पढिये।

वासुदेवादि दस भाइयो की सतान ने कृष्ण द्वीपायन का अपमान करने के लिए एक तरुण राजकुमार को गर्भवती नारी बतलाकर उसकी सतान के विषय मे उनसे पूछा। कृष्ण द्वीपायन ने उनका विनाश काल निकट जान कर कहा कि इससे एक लकडी का टुकडा उत्पन्न होगा और उससे वासुदेव के कुल का सर्वनाश हो जावेगा। तुम लकडी का टुकडा जला देना और उसकी राख नदी मे फैक देना। अत मे उसी राख से उत्पन्न अरड के पत्तो द्वारा परस्पर लडकर सब लोग मर गये। मुष्टिक ने मर कर यक्ष के रूप मे जन्म लिया था। वह बलदेव को खा गया। वासुदेव अपनी बहिन और पुरोहित को लेकर वहाँ से चला गया। मार्ग मे जरा नाम के शिकारी ने सूअर के भ्रम से वासुदेव पर शक्ति फेक कर उसे घायल कर दिया। इससे उसकी भी मृत्यु हो गई। इस गाथा को कह कर गौतम बुद्ध ने उपासक समुदाय से कहा था—"पूर्व जन्म मे सारिपुत्र वासुदेव था, आनद अमात्य रोहिणोय्य था और स्वय मैं घटपडित था।"

**घट जातक के कथन से श्री कृष्ण के चरित्र का अतर**—कस के पिता का नाम उग्रसेन न होकर मकाकस था। उसकी बहिन का नाम देवकी न होकर देवगम्भा ( देवगर्भा ) था, जो उसकी निजी बहिन थी। कस की राजधानी मथुरा न होकर असितजन नामक नगरी थी और उसके राज्य का नाम कसभोग था। कस के अनुज का नाम उपकस था। उसमे देवक का नाम नही आता है। कस और उपकस अत्याचारी तथा प्रजापीडक नही थे। वे अपनी बहिन के प्रति भी अधिक निर्दय नही थे, यद्यपि वे जानते थे कि उसके पुत्र से ही उनका नाश होगा।

मथुरा का राजा सागर और उसका छोटा भाई उपसागर था। उपसागर ही पुराणो का वसुदेव था, जो मथुरा से भाग कर असितजन मे कस—उपकस की शरण मे चला गया और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगा था। उसने छिपकर उनकी बहिन देवगम्भा से सहवास किया। भेद खुल जाने पर भी कस—उपकस ने उससे कुछ नही कहा, बल्कि उसके साथ अपनी बहिन का विवाह कर गोवड्ढमान ( गोवर्धन ) ग्राम भी प्रदान कर दिया, ताकि वे दोनो वहाँ सुखपूर्वक रह सकें। उन्होंने केवल यह सावधानी रखी कि देवगम्भा के कोई पुत्र न हो। यशोदा का नाम नदगोपा बतलाया गया है और उसके पति का नाम नदराय न होकर अधकवेणु। नदगोपा के १० पुत्रियाँ हुई और देवगम्भा के १० पुत्र। दोनो आपस मे बदल लेते है, किंतु वे सब जीवित रहते हैं। कस द्वारा किसी शिशु की हत्या का उल्लेख नही किया गया।

देवगम्भा के १० पुत्रो मे वासुदेव सब से बडा था और बलदेव उससे छोटा। प्रद्युम्न, अर्जुन, अकुर ( अक्रूर ) भी वासुदेव के भाई बतलाये गये है। वासुदेव सहित दसो भाइयो को बडा लुटेरा, निर्दयी और सर्वजन सहारक लिखा है। उन्होने अपने मामाओ को मार कर जम्बुद्वीप के हजारो राजाओ को भी चक्र से काट डाला था और उन सबका राज्य छीन लिया था। द्वारका मे वासुदेव के कुल का प्रचलित कृष्ण—कथा से प्राय मिलता हुआ है।

**यूनानी लेखको के उल्लेख**—विदेशी लेखको के कुछ ऐसे प्राचीन उल्लेख मिलते हैं, जिनमे श्री कृष्ण और शूरसेन जनपद से सबधित सूचनाएँ भी उपलब्ध हैं। उनमे यूनानी लेखको के उल्लेख सब से प्राचीन हे। चद्रगुप्त मौर्य के दरबार मे नियुक्त यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने अपने जो सस्मरण लिखे थे, वे मूल रूप मे इस समय उपलब्ध नही है, किंतु उनके कुछ अवतरण एरियन नामक एक दूसरे यूनानी लेखक की रचना "इडिका" मे मिलते है। उसमे मैगस्थनीज का कृष्ण सबधी अवतरण इस प्रकार दिया गया है—

"वह भारतीय हरक्लीज ( हरि कृष्ण ) अपनी शारीरिक और आत्मिक शक्ति मे समस्त जन समुदाय से वढे हुए थे। उन्होने भूमडल को पाप से मुक्त कर दिया था और अनेक नगरो की स्थापना की थी। उनके देहावसान के पश्चात् उनके प्रति देवताओ के समान श्रद्धा व्यक्त की गई थी। उन हरक्लीज ( हरि कृष्ण ) के प्रति शौरसेनाइ ( शूरसेन जनपद के निवासी ) लोगो की विशेप रूप से पूज्य दृष्टि है। शौरसेनाइ लोगो के प्रदेश मे दो वडे नगर है, जिनके नाम मथुरा तथा वलीसोवोरा ( कृष्णपुरा ) है और जिनके निकट जोवरेम ( जमुना ) नदी वहती है, जिसमे नावे चलती है[1]।"

एरियन ने स्वय भी उन राज्यो और नगरो की यात्रा की थी, जिन पर श्री कृष्ण के वशजो का अधिकार था। उसने स्वय लिखा है कि मथुरा के निवासियो मे प्राचीन काल से ही श्री कृष्ण की पूजा प्रचलित थी। श्री कृष्ण के अलौकिक गुणो और उनकी दैवी लीलाओ का समावेश उस समय की पाश्चात्य पौराणिक गाथाओ मे भी हो गया था[2]।

**कृष्ण-चरित्र के प्रमुख ग्रंथ**—वैदिक वाड्मय, सस्कृत व्याकरण और नाटक, जैन-वौद्ध धर्म ग्रथ, तथा यूनानी लेखको की प्राचीन रचनाओ मे कृष्ण–चरित्र के कुछ सूत्र अवश्य मिलते है, किंतु उसका विशद ताना–वाना महाभारत, हरिवश और पुराणो मे ही दृष्टिगोचर होता है। महाभारत कृष्ण–चरित्र का प्राचीनतम महत्वपूर्ण ग्रथ है, किंतु इसमे श्री कृष्ण का उत्तर जीवन ही लिखा गया है। उनका पूरा जीवन–वृत्तात हरिवश, विष्णु और भागवतादि पुराणो मे मिलता है, और वही आजकल प्रचलित भी है। हम यहाँ पर कृष्ण-चरित्र के इन प्रमुख ग्रथो का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

**महाभारत**—सस्कृत वाड्मय के इस अनुपम ग्रथ मे प्राचीन भारत के इतिहास, धर्म, आचार–विचार तथा उसकी सस्कृति–सभ्यता सूचक विविध विद्याओ एव कलाओ का ऐसा सर्वांगपूर्ण वर्णन हुआ है कि इसे भारत का विश्वकोश ही कहना उचित है। इसके विपय मे यह ठीक ही कहा गया है कि जो कुछ जगत् मे जानने योग्य है, वह सव इसमे है। जो इसमे नही है, वह कही भी नही है। इसीलिए इसे 'पचम वेद' भी कहा जाता है। इसमे मुख्य रूप से तो कौरव–पाडवो की कथा है, किंतु इसमे कृष्ण–चरित्र का भी विस्तृत वर्णन हुआ है। महाभारत के आरभ मे कहा गया है, इस ग्रथ मे सनातन भगवान् वासुदेव का कीर्ति-गान हुआ है,—**'भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः[3]'**। इसीलिए अनेक विद्वानो का मत है कि महाभारत का प्रतिपाद्य विपय श्री कृष्ण की महत्ता का कथन करना है। इसमे वर्णित कृष्ण–चरित्र का महत्व इसलिए और भी अधिक है कि वह ऐसे महापुरुप द्वारा कहा गया है कि जो उनका समकालीन था और साथ ही भारतीय वाड्मय का सव से वडा निर्माता था। उनका शुभ नाम महर्पि कृष्ण द्वैपायन व्यास था।

महाभारत एक विशाल ग्रथ है। इसमे १८ पर्व, १९२३ अध्याय और ८४२८४ श्लोक हैं। इसका १९वा पर्व 'हरिवश' है, जो इसका 'खिल' ( परिशिष्ट ) भी कहा जाता है। इसकी श्लोक

---

(१) श्री ई० जे० चैनोक कृत "इडिका" के अनुवादित ग्र थ से।

(२) मौन्युमेन्टल क्रिस्टीयनिटी ( पृष्ठ १५१–१५२ )

(३) महाभारत, आदि पर्व ( १–२५६ )

सख्या १२००० है, जिसे मूल ग्रथ मे जोड देने मे कुल श्लोकों की सख्या एक लाख के लगभग होनी है। लोक प्रसिद्धि भी यही है कि महर्षि व्यास ने १ लाख श्लोकों मे महाभारत की रचना की थी। यह ग्रथ इतना विशाल है और इसमे इतने अधिक विषयों का सर्वांगपूर्ण समावेश है कि इसे एक ही काल मे एक ही व्यक्ति द्वारा रचा जाना सभव नही मालूम होता है। इसमे भरतवशी क्षत्रियो के गौरवपूर्ण इतिहास के साथ ही साथ विविध आख्यान, सवाद, धर्म–चर्चा आदि से परिपूर्ण जिस विशाल ताने–बाने का निर्माण किया गया है, उसका एक छोर वैदिक काल को छूता है, तो दूसरा छोर जैन, बौद्ध और यूनानी काल तक पहुँचता है। ऐसी दशा मे यह सोचना गलत नहीं है कि यह विशाल ग्रथ एक ही काल मे एक ही व्यक्ति द्वारा नही रचा गया होगा।

इस ग्रथ के कई सस्करणो का तथा उनके रचयिताओ अथवा सपादकों के नामों का उल्लेख तो इस ग्रथ मे ही मिलता है। वे नाम व्यास, वैशपायन और सौति हैं। भारतीय युद्ध के पश्चात् महर्षि द्वैपायन व्यास ने तीन वर्षों मे इस ग्रथ को जिस सहिता रूप मे प्रस्तुत किया, उसका नाम 'जय' है। उसका आरभ राजा उपरिचर की कथा से होता है और उसकी श्लोक सख्या केवल ८८०० बतलाई गई है। उसे व्यास जी ने अपने पुत्र शुकदेव तथा चार शिष्य सुमतु, जैमिनि, पैल और वैशपायन को सिखाया था। वैशपायन ने उसे सर्प-सत्र के अवसर पर परीक्षित के पुत्र जनमेजय को सुनाया। उस समय जनमेजय के प्रश्नो का उत्तर भी वैशपायन ने दिया था, जिसके कारण व्यास जी के मूल ग्रथ 'जय' का आकार बढ गया था। इस प्रकार वैशपायन द्वारा कथित ग्रथ का नाम 'भारत' हुआ, क्यो कि इसमे भरतवशी क्षत्रियों का इतिहास है। यह उसका दूसरा सस्करण था। इसका आरभ आस्तीक के आख्यान से होता है और इसकी श्लोक सख्या २४००० कही जाती है। उसके पश्चात् वैशपायन के शिष्य सौति उग्रश्रवा ने इसे नैमिषारण्य मे एकत्र शौनकादि ऋषियों को सुनाया था। सौति–शौनक प्रश्नोत्तर के फल स्वरूप अनेक उपाख्यानादि के समावेश से इसका आकार बहुत बढ गया था। उसके कारण इस वृहत् सस्करण का नाम भारत से 'महाभारत' हो गया।

यह ग्रथ श्री कृष्ण के शृखलाबद्ध जीवन–वृत्त का सर्व प्राचीन स्रोत होते हुए भी उनके समग्र जीवन पर प्रकाश नही डालता है। इसमे अधिकतर उनके उत्तर जीवन का ही कथन हुआ है, जो उनकी वीरता, विद्वत्ता और राजनीतिज्ञता से परिपूर्ण है। वे आदि पर्व मे कथित द्रौपदी-स्वयवर के उत्सव मे सर्वप्रथम महाभारत के रगमच पर उपस्थित होते हैं। उस समय वे द्वारका के वैभवशाली राज्य के अधिपति थे और भारतवर्ष के अन्य राजाओ की भाँति स्वयवर मे बलरामादि यादव वीरो के साथ सम्मिलित हुए थे। तब पाडवगण अपनी माता कुती सहित लाक्षागृह से जीवित बच कर कौरवो के भय से गुप्त जीवन व्यतीत कर रहे थे, किंतु श्री कृष्ण उस समय भी देश-प्रसिद्ध राजकीय महापुरुष थे। अपने आरभिक जीवन की अद्भुत लीलाओ के अनतर उन्होने १२ वर्ष की अल्पायु मे कस जैसे पराक्रमी राजा को पछाडा था और जरासध जैसे प्रबल राजाधिराज की विशाल सेना से सत्रह बार सफलतापूर्वक मोर्चा लिया था। फिर व्यर्थ की जन–हानि को रोकने के लिए उन्होने शूरसेन प्रदेश के अपने परपरागत राज्य को छोड कर द्वारका मे एक शक्तिशाली यादव राज्य का निर्माण किया था। वे अनेक पराक्रमी प्रबल शत्रुओ को पराजित कर भारतवर्ष के क्षत्रिय राजाओ मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने मे समर्थ हुए थे।

हरिवंश के रचयिता के संबंध में श्री ग्राउस का मत है—"यह निश्चय ही ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया, जो ब्रज प्रदेश से अपरिचित था[1]। इसमें तालवन को गोवर्धन के उत्तर में बतलाया गया है, जब कि वह उसके दक्षिण-पूर्व में है। भांडीरवन को हरिवंश में यमुना नदी के उस ओर बतलाया गया है, जिस ओर कालियमर्दन घाट है, जब कि वास्तव में वह यमुना के दूसरी ओर है[2]।" श्री ग्राउस के मतानुसार हरिवंश की रचना दक्षिण प्रदेश में किसी दक्षिणी विद्वान द्वारा हुई होगी, क्यों कि इसमें दक्षिणी उत्सवों का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है।

यह ग्रंथ तीन खंडों में विभाजित है, जिनके नाम १. हरिवंश पर्व, २. विष्णु पर्व और ३. भविष्य पर्व हैं। इनमें क्रमशः ५५, १२८ और १३५ अध्याय हैं। इनके आरंभिक हरिवंश पर्व के ३ ( ३४, ३५ और ३६ ) तथा अंतिम भविष्य पर्व के ५१ ( ७३ से १०२ तक और १११ से १३१ तक ) अध्यायों के अतिरिक्त मध्यवर्ती विष्णु पर्व के प्रायः समस्त १२८ अध्यायों में कृष्ण-चरित्र का विस्तृत कथन किया गया है किंतु वह भागवतादि पुराणों की भाँति उदात्त और संयत नहीं है। इसी ग्रंथ में सर्व प्रथम श्री कृष्ण की ब्रज-लीलाओं का विस्तृत और रास-क्रीड़ा का संक्षिप्त वर्णन मिलता है, जो प्रायः निर्दोष और संयत है, किंतु इसमें वर्णित श्री कृष्ण का द्वारकावासी रूप असंयत हो गया है, विशेषतया उनकी पिंडार-यात्रा के अवसर पर की हुई जल-क्रीड़ा का[3]। जल-विहार के पश्चात् जो खान-पान और नृत्य-गान का कथन हुआ है, उनमें सुरुचि और मर्यादा का अभाव दिखलाई देता है[4]। मजा यह है कि उस स्वच्छंद और कामुकतापूर्ण आयोजन को हरिवंश में 'रास' कहा गया है[5]। भागवतादि अन्य पुराणों में श्री कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं का विशद वर्णन हुआ है और उनमें बलराम के तामसी रूप तथा वारुणी के प्रति उनकी आसक्ति का भी कथन किया गया है, किंतु फिर भी उनमें हरिवंश की सी उच्छृंखलता नहीं है। इसके अंतिम 'भविष्य पर्व' में कृष्ण-चरित्र की कुछ ऐसी घटनाएँ लिखी गई हैं, जो अन्य पुराणों में प्रायः नहीं मिलती हैं। श्री कृष्ण द्वारा बदरिकाश्रम और कैलास की यात्रा होना, हंस और डिम्भक की कथा तथा उनसे गोवर्धन पर्वत के समीप यादवों का भीषण युद्ध, नंद-यशोदा और गोप-गोपियों का श्री कृष्ण-बलराम से गोवर्धन पर्वत पर आकर मिलना आदि इसी प्रकार की घटनाएँ हैं। ऐसा जान पड़ता है, इस पर्व का बहुत सा अंश प्रक्षिप्त और भरती का है।

**विविध पुराण**—मुख्य पुराणों की संख्या १८ है। इनके अतिरिक्त अनेक उप पुराण भी हैं। इन पुराणोपपुराणों में भगवान् के अनेक अवतारों की कथाओं का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। कृष्ण-चरित्र के लिए भी पुराण ही प्रमुख आकर-ग्रंथ हैं, जिनमें किसी में उनका कम और किसी में अधिक वर्णन मिलता है। अग्नि, वायु, नारद, लिंग, कूर्म और पद्म नामक पुराणों में कृष्ण-चरित्र का संक्षिप्त कथन है, किंतु ब्रह्म, विष्णु, भागवत और ब्रह्मवैवर्त में विस्तृत वर्णन हुआ है।

---

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, ( तृ० सं० ), ( पृष्ठ ६८ )
(२) वही , ( पृष्ठ ६८ की पाद टिप्पणी )
(३) हरिवंश, विष्णु पर्व, ( अध्याय ८८ )
(४) वही , ( अध्याय ८९ )
(५) वही , ( अध्याय ८९, श्लोक ३० )

विभिन्न पुराणो मे वर्णित कृष्ण-चरित्र का परिमाण बतलाने के लिए यहाँ पर उनके तत्सबधी अध्यायो की सख्या दी जाती है—

१ अग्नि पुराण मे कृष्ण-चरित्र से सबधित १ अध्याय है।
२ वायु पुराण मे ,, ,, २ अध्याय है।
३. नारद पुराण मे ,, ,, २ ,,
४. लिंग पुराण मे ,, ,, २ ,,
५ कूर्म पुराण मे ,, ,, २ ,,
६ पद्म पुराण मे ,, ,, ८ ,,
७. ब्रह्म पुराण मे ,, ,, ३४ ,,
८. विष्णु पुराण मे ,, ,, ३८ ,,
९ भागवत पुराण (दशम स्कध ) मे ,, ९० ,,
१० ब्रह्मवैवर्त पुराण (श्रीकृष्ण जन्म खड) मे ,, १३३ ,,

**'अग्नि पुराण'** के १२ वे अध्याय मे हरि वश ( कृष्ण कुल ) का सक्षिप्त कथन किया गया है। **'वायु पुराण'** के अध्याय ९६ मे यदुवश का और ९७ मे कृष्ण-चरित्र का वर्णन हुआ है। इसके द्वितीय खड के ३४ वे अध्याय मे स्यमतकमणि की कथा है और ४२ वे अध्याय मे गोलोक-वासी भगवान् श्री कृष्ण की राधा और गोपियो के साथ की हुई लीलाओ का वर्णन किया गया है। **'नारद पुराण'** पूर्व खड के ८८ वे अध्याय मे राधा जी के अवतार का और उत्तर खड के ४९ वे अध्याय मे गोलोक स्थित राधा–कृष्ण का वर्णन है। **'लिंग पुराण'** पूर्वार्ध के ६८ वे अध्याय मे यदुवश का और ६९ वे अध्याय मे कृष्णावतार की सक्षिप्त कथा है। **'कूर्म पुराण'** के दो अध्यायो मे भी कृष्णावतार की सक्षिप्त कथा कही गई है।

**पद्म पुराण**—इस विशालकाय पुराण मे सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल और उत्तर नामक ५ खड है। इनमे से पाताल और उत्तर नामक अतिम खडो मे कृष्ण-चरित्र का वर्णन हुआ है। पाताल खड के अध्याय ६९ से ८३ तक मे मथुरा-वृंदावन माहात्म्य तथा श्री कृष्ण की गोपियो के साथ की हुई लीलाओ का वर्णन है। फिर उत्तर खंड के अध्याय २७२ से २७९ तक के ८ अध्याय भी कृष्ण-चरित्र से सबधित है। इस पुराण मे ही सुप्रसिद्ध 'भागवत माहात्म्य' है। इसके अतिरिक्त विष्णु सहस्रनाम, यमुना माहात्म्य और वृदावन माहात्म्य भी इसकी अतर-कथाओ में वर्णित हे। इस प्रकार व्रज और कृष्ण-चरित्र से इस पुराण का घनिष्ट सबध है।

**विष्णु पुराण और ब्रह्म पुराण**—ये कृष्ण-चरित्र से सबधित सबसे प्राचीन पुराण है। विष्णु पुराण मे ६ अश है। इसके ५ वे अश के ३८ अध्यायो मे कृष्ण-कथा लिखी गई है। ब्रह्म पुराण मे १८० से २१२ तक के ३४ अध्यायो मे कृष्ण-कथा है। दोनो पुराणो मे कृष्ण के जन्म से लेकर देहावसान काल तक की पूरी कथा लिखी गई है। इन दोनो पुराणो की कृष्ण-कथा की तुलना करते हुए डा० मुशीराम शर्मा ने लिखा है—"ब्रह्म पुराण के अध्याय ७२ से १०३ तक और विष्णु पुराण के ५ वे अश के ३८ अध्यायो मे कृष्ण-चरित्र सबधी श्लोक लगभग एक से हैं। कही-कही एकाध शब्द और एकाध श्लोक का ही थोडा सा अतर है, अत वे किसी एक ही कवि की कृति जान पडते है[१]।"

---

(१) भारतीय साधना और सूर साहित्य, ( पृष्ठ १५७ )

विष्णु पुराण का रचना-काल ५ वी शताब्दी का माना जाता है और ब्रह्म पुराण उससे कुछ पहिले का बतलाया जाता है। यदि यह ठीक है तब प्राचीन पुराणो में ब्रह्मपुराण को ही श्री कृष्ण के संपूर्ण जीवन का प्राचीनतम स्रोत कहा जावेगा। इसमे १८० वे अध्याय से २१२ वे अध्याय तक अर्थात् ३४ अध्यायो मे कृष्ण-चरित्र का वर्णन है, जो विष्णु पुराण की अपेक्षा कुछ सक्षिप्त रूप मे है।

इन दोनो पुराणों मे श्री कृष्ण के बाल्य और कैशोर काल की अनेक लीलाएँ हैं, किंतु उनमे माखनचोरी, पनघट, चीरहरण, भ्रमरगीत आदि के प्रसगो का वर्णन नही हुआ है। उक्त प्रसग हरिवंश मे भी नही हैं। इससे ज्ञात होता है कि श्री कृष्ण की बाल-लीलाओ का क्रमश विकास हुआ है और वे भागवत के रचना काल तक अपना पूर्ण रूप प्राप्त कर सकी थी।

**भागवत पुराण**—अष्टादश महापुराणो मे श्रीमद् भागवत सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यह वैष्णवो की परम निधि और कृष्णोपासको की प्राणप्रिय रचना तो है ही किन्तु अन्य मतावलबी भी इसका महत्व स्वीकार करते हैं। इसकी गभीरता और विद्वत्ता के कारण इसके विषय मे कहा जाता है कि विद्वानो की परीक्षा भागवत मे होती है—"विद्यावता भागवते परीक्षा", फिर भी इसमे अन्य पुराणो के से नीरस इतिवृत्तात्मक वर्णनो के विरुद्ध उच्च कोटि के सरस और साहित्यिक कथन मिलते हैं, जो वक्ता और श्रोता दोनो को ही आनद-विभोर कर देते हैं।

भागवत मे १२ स्कध हैं, जिनमे १० वे स्कध की प्रधानता है। इसी स्कध के दो खडो मे कृष्ण-चरित्र का आद्योपात वर्णन हुआ है। दशम स्कध पूर्वार्ध मे श्री कृष्ण की ब्रज-लीला और मथुरा-लीला का अत्यत विस्तार से कथन किया गया है। इसके उत्तरार्ध मे उनकी द्वारका-लीला का वर्णन हुआ है। असल मे यह ग्रथ श्री कृष्ण की उन आह्लादकारी ब्रज-लीलाओ का ही सर्व प्रधान आकर ग्रथ है जिन्होने कृष्ण-भक्ति के समस्त सप्रदायो तथा कृष्णोपासक समस्त कवियो को प्रेरणा प्रदान की है। इसका रचना-काल छटी शताब्दी के लगभग माना जाता है।

**ब्रह्मवैवर्त पुराण**—इस पुराण की यह विशेषता है कि इसमे श्री कृष्ण के साथ राधा का सर्व प्रथम विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। महाभारत और हरिवंश के साथ ही साथ किसी भी प्राचीन पुराण मे यहाँ तक कि कृष्ण-लीला के सर्वप्रधान ग्रंथ श्रीमद् भागवत मे भी राधा का उल्लेख नही हुआ है। ब्रह्मवैवर्त मे श्री कृष्ण को परम् तत्व और राधा को उनकी आदि प्रकृति बतलाते हुए उनकी सम्मिलित लीलाओ का विस्तृत कथन किया गया है। इसमे राधा की महत्ता प्राय कृष्ण के समान ही बतलाई गई है। इस प्रकार इसे राधा पुराण भी कहा जाय, तो कोई अयुक्ति न होगी। इसमे ब्रह्म, प्रकृति गणपति और श्री कृष्ण-जन्म नामक ४ खंड हैं, जिनके अध्यायो की सख्या क्रमश ३०, ६७, ४६ और १३१ है। इस प्रकार श्री कृष्ण जन्म खंड इसमे सब से बडा है, जो पहिले तीनो खडो के प्राय बराबर है। इस पुराण का आकार श्रीमद् भागवत के समान है, क्यो कि दोनो की श्लोक सख्या १८-१८ हजार है। जहाँ तक कृष्ण-चरित्र के विस्तार की बात है, वह इस पुराण मे श्रीमद् भागवत से भी अधिक है। फिर भी संयोजन, स्वरूप और विकास की दृष्टि से भागवत का कृष्ण-चरित्र ब्रह्मवैवर्त की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। जिन कवियो ने राधा-कृष्ण की रसमयी लीलाओ का बडे मनोयोग पूर्वक कथन किया है, उन्होंने ब्रह्म-वैवर्त की अपेक्षा भागवत को ही आधार माना है।

'श्री कृष्ण जन्म' नामक चोथा खड इस पुराण का मुख्य भाग है, जिसमे राधा-कृष्ण की लीलाओ का विस्तृत वर्णन हुआ है। इसके आरभ मे उनके अवतार लेने का कारण बतलाया गया है। उसमे कहा गया है कि एक वार श्री कृष्ण राधा के विहार स्थल से विरजा देवी के निवास स्थल पर चले गये थे। यह बात राधा को अच्छी नही लगी। वे अपनी सखियो सहित श्री कृष्ण की खोज मे विरजा के भवन को गई। वहाँ पर द्वारपाल के रूप मे नियुक्त श्रीदामा ने उन्हे अदर जाने से रोक दिया। उससे राधा अत्यत कुपित हुई और उन्होने श्रीदामा को गोलोक छोड कर असुर योनि मे जन्म लेने का शाप दिया। श्रीदामा इससे अत्यत क्षुब्ध हुआ। उसने भी राधा को शाप दिया कि वे भी गोलोक छोड कर मानुषी योनि मे जन्म ले। राधा उस शाप के कारण अत्यत दुखित हुई। वे गोलोक मे श्री कृष्ण के सहवास से पल भर भी विलग नही होना चाहती थी। इस पर श्री कृष्ण ने उन्हे सान्त्वना देते हुए कहा कि वे स्वय भी अवतार लेंगे और वृ दावन मे उनके साथ नाना प्रकार की लीलाएँ करेंगे। इस प्रकार वाराह कल्प मे श्री कृष्ण और राधा का अवतार हुआ। इसमे श्री कृष्ण के जन्म और उनकी वाल लीलाओ का कथन करने के अनतर राधा के जन्म का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इसमे राधा की माता का नाम कलावती बतलाया गया है, जब कि अन्य पुराणो मे कीर्ति या कीर्तिदा लिखा गया है। वृषभानु गोप मे कलावती का विवाह और उनसे राधा के जन्म की कथा कदचित इसी पुराण मे लिखी गई है। राधा-कृष्ण का प्रथम मिलन इस पुराण मे अत्यत अद्भुत और रहस्यपूर्ण रीति से बतलाया गया है।

इस पुराण मे गोप-वालाओ के साथ श्री कृष्ण की रास-क्रीडा बसत ऋतु मे होने का उल्लेख हुआ है, जब कि हरिवश, विष्णु पुराण और भागवत मे शरद ऋतु के रास का कथन है। कस-वध, उपनयन और सादीपनि से शिक्षा प्राप्त करने के अनतर श्री कृष्ण का यादव समूह द्वारा द्वारका जाने का उल्लेख हुआ है, किंतु उसमे पहिले जरासध के साथ भीषण युद्धो को कोई महत्व नही दिया गया है। इसका अन्यत्र केवल सकेत मात्र कर दिया गया है। द्वारका मे श्री कृष्ण के महाभारतीय रूप का जो विकास हुआ, उसका इसमे उल्लेख तक नही किया गया। इस प्रकार यह पुराण श्री कृष्ण की केवल व्रज लीलाओ से ही सबधित है। उनके बीच-बीच मे भी दूसरे प्रसगो को अनावश्यक रूप से सम्मिलित किया गया है।

**ब्रह्मवैवर्त की रचना और उसका रचयिता**—इस पुराण मे श्री कृष्ण की अतिशय माधुर्यमयी व्रज-लीलाओ का तथा राधा जी की महत्ता का जैसा विशद वर्णन मिलता है, वैसा राधा-कृष्णोपासना के विविध सप्रदायो का प्रादुर्भाव होने से पहिले किसी भी प्रमुख धार्मिक ग्रथ मे नही मिलता है। फिर वैष्णव पुराण होते हुए भी इस पर शाक्त मत का प्रचुर प्रभाव है। इससे दो बाते स्पष्ट होती है—

१. अन्य पुराणो की अपेक्षा यह अत्यधिक अर्वाचीन है। मत्स्य के दो श्लोको मे इस पुराण का परिचय अवश्य मिलता है, किंतु वहाँ बतलाये हुए इसके आकार-प्रकार का वर्तमान ब्रह्मवैवर्त के आकार-प्रकार मे कोई सादृश्य नही है। वर्तमान पुराण नई रचना जान पडता है।

२ इसकी रचना शाक्त मत से प्रभावित प्रदेश मे किसी वैष्णव विद्वान द्वारा १६ वी शताब्दी मे हुई है। इसके सबध मे श्री ग्राउस का कथन है,— 'यह बात असगत नही कि इसकी रचना गो० रूप-सनातन द्वारा हुई थी'[1]। अन्य विद्वानो ने भी इस मत का समर्थन किया है[2]।

---

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोयर्स ( तृतीय संस्करण, पृष्ठ ७५ )

(२) हिन्दी अनुशीलन का 'धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक', ( पृष्ठ ५१४ )

इस पुराण के रचयिता के रूप मे गौडीय गोस्वामियो का नाम लेना सकारण है। पहिली बात तो यह है कि उक्त गोस्वामियो से पहिले इस पुराण के वर्तमान रूप का अस्तित्व सिद्ध नही होता है। गौडीय मत मे राधा का अतिशय महत्व स्वीकृत है। इसे प्राचीन परपरा पर आधारित करने का प्रयास सबसे पहिले रूप-सनातन और उनके भतीजे जीव गोस्वामियो ने ही किया था। विविध पुराणो की छानबीन करने के अनतर श्रीमद् भागवत मे तो उन्हे राधा का केवल सकेत मात्र ही मिला, किंतु पद्म पुराण और मत्स्य पुराण मे कुछ उल्लेख मिल गये, पर अत्यत सक्षिप्त रूप मे। इनके अतिरिक्त किसी अन्य पुराण मे वे राधा सबधी उल्लेख प्राप्त नही कर सके थे। ब्रह्मवैवर्त मे राधा का जैसा विशद वर्णन हुआ है, यदि वह गोस्वामियो के समय मे उपलब्ध होता, तो वे निश्चय ही उसे उद्धृत करते। दूसरी बात यह है कि गोस्वामियो के बाद ही ब्रह्मवैवर्त का अधिक प्रचार दिखलाई देता है। चूकि गोस्वामी गण इस प्रकार की रचना करने मे समर्थ थे और उनके तत्काल बाद वैसे किसी विद्वान का नाम ज्ञात नहीं होता है इसीलिए गोस्वामियो, विशेषतया रूप गोस्वामी, द्वारा इस पुराण की रचना किये जाने की सभावना व्यक्त की गई है। किंतु सभी गोस्वामियो की रचनाएँ प्रकाश मे आ चुकी हैं, उनमे इस पुराण का नाम प्राप्त नही होता है। हमारे मतानुसार किसी अज्ञात बगीय विद्वान ने १६ वी शताब्दी के अत मे इस पुराण को वर्तमान रूप दिया है यद्यपि इसका बहुत सा अश पुराना भी है।

**पुराणेतर ग थ**—पुराणो के अतिरिक्त जिन धर्म ग्र थो मे कृष्ण-चरित्र के सूत्र मिलते हैं उनमे देवी भागवत, गोपालतापनी उपनिषद् और गर्ग सहिता के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर उनका भी सक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

**देवी भागवत**—पुराणो के उल्लेखानुसार देवी भागवत की गणना उप पुराणो मे है, किंतु शाक्त और तात्रिक ग्र थो मे इसे श्रीमद् भागवत के स्थान पर १८ महापुराणो मे गिना गया है। देवी भागवत और श्रीमद् भागवत क्रमश शाक्तो और वैष्णवो की मान्यताओ के सर्वप्रमुख ग थ हैं। इन दोनो मे १२-१२ स्कध है और दोनो के श्लोको की सख्या प्राय १८-१८ हजार है। ऐसा मालूम होता है, श्रीमद् भागवत की अधिक प्रसिद्धि होने पर शाक्त विद्वानो ने उसकी प्रतियोगिता में इस पुराण की रचना की थी। इस ग्र थ के चौथे स्कध मे २० से २५ तक के ६ अध्यायो मे कृष्ण-चरित्र लिखा गया है। उनमे कृष्णावतार, व्रज लीला और द्वारका लीला का सक्षिप्त वर्णन हुआ है। इसके नौवे स्कध मे गोलोक स्थित श्री कृष्ण के साथ उनकी मूल प्रकृति राधा का भी उल्लेख है।

**गोपालतापनी उपनिषद्**—इसके पूर्व और उत्तर दो भाग हैं। पूर्व भाग को कृष्णोपनिषद् और उत्तर भाग को अथर्वणोपनिषद् कहा गया है। यह आध्यात्मिक रचना है, जो सूत्र शैली मे रची हुई होने से प्राचीन जान पड़ती है। इसका पूर्व भाग उत्तर भाग की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन मालूम होता है। इसमे "व्रज" और "राधा' नामो का उल्लेख नही हुआ है। इसके उत्तर भाग मे कृष्ण और दुर्वासा का अलौकिक माहात्म्य कृष्ण शब्द की व्युत्पत्ति, मथुरा की आध्यात्मिक स्थिति उसके १२ वन और विविध देवता आदि का वर्णन मिलता है।

**गर्ग सहिता**—गर्ग मुनि के नाम से रचे हुए पौराणिक शैली के इस वृहद् ग थ मे श्री कृष्ण की माधुर्यमयी और ऐश्वर्यपूर्ण सभी प्रकार की लीलाओ का अत्यत विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इसमे गोलोक, वृदावन, मथुरा, यमुना और गिरिराज की महिमा के साथ ही साथ

वृंदावन मे होने वाली राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओ का तथा मथुरा-द्वारका मे किये हुए कृष्ण-बलराम के विविध चरित्रो का सर्वांगपूर्ण कथन हुआ है। यह श्री कृष्ण भक्ति का अन्यतम ग्रंथ है। इसे अत्यंत सरल संस्कृत भाषा मे लिखा गया है। इस की रचना महामुनि नारद और मिथिलेश बहुलाश्व के संवाद रूप मे हुई है। ब्रह्मवैवर्त सहित समस्त पुराणो, सनत्, वशिष्ठ, पुलस्त्य, याज्ञवल्क्य और पाराशर संहिताओ, यहाँ तक कि गोपाल सहस्रनाम की भी रचना हो जाने के उपरांत तथा कृष्ण–भक्ति का देशव्यापी प्रचार और गोबर्धन, वृंदावन एवं श्रीनाथ जी की महत्ता स्थापित होने के अनंतर यह ग्रंथ रचा गया है। इसके माधुर्य खंड मे जहाँ विविध प्रदेशो की गोपियो का वर्णन है, वहाँ मैथिल देश की गोपियो का सर्व प्रथम कथन किया गया है। इससे अनुमान होता है कि इस ग्रंथ का रचयिता कोई मिथिला निवासी विद्वान पंडित होगा। इसकी रचना भी १६वी शताब्दी के पश्चात् ही होना संभव है।

कृष्ण–भक्ति विषयक रचनाओ मे इसका अत्यंत महत्व है। इसकी एक बडी विशेषता यह है कि इसमे गोलोक और राधा की महिमा के कथन के साथ ही साथ मथुरा और द्वारका मे किये गये कृष्ण-चरित्र से संबंधित युद्धो का तथा प्रद्युम्न की दिग्विजय का वीरतापूर्ण विशद वर्णन भी किया गया है, जो कृष्ण की माधुर्यमयी लीलाओ से संबंधित पुराणादि ग्रंथो मे प्राय नही मिलता है। इसमे १० खंड है, जिनके नाम १ माहात्म्य खंड, २ गोलोक खंड, ३. वृंदावन खंड, ४. गिरिराज खंड, ५ माधुर्य खंड, ६. मथुरा खंड, ७ द्वारका खंड, ८. विश्वजित् खंड, ९ बलभद्र खंड और १० विज्ञान खंड है। इनमे विश्वजित् खंड सब से बडा है और माहात्म्य खंड सब से छोटा है। दसो खंडो के अध्यायो की संख्या २०८ है और उनकी श्लोक संख्या १२००० है। इस प्रकार यह एक वृहत् ग्रंथ है और यह प्रकाशित भी हो चुका है।

इसके गोलोक खंड मे गोलोक धाम बडा अद्भुत वर्णन हुआ है। गोलोक मे गोवर्धन, वृंदावन, रासमंडल, कालिंदी नदी, वंशीवट आदि दिव्य रूप मे विद्यमान है। वहाँ पर अनेक गोपियो के समुदाय सहित श्री राधा-कृष्ण विराजमान है। उसी समय दुष्टो के भार से दबी हुई पृथ्वी गो रूप मे देवताओ के साथ वहाँ उपस्थित होती है। देवताओ की प्रार्थना पर श्री कृष्ण ने पृथ्वी पर अवतार लेने का वचन दिया। जब राधा जी ने श्री कृष्ण के वचन सुने, तो वे वियोग की आशंका से अत्यंत व्यथित हुई। श्री कृष्ण ने उनसे भी अवतार लेने को कहा। इस पर राधा जी ने कहा कि पृथ्वी पर न तो वृंदावन है, न यमुना है और न गोवर्धन पर्वत है, वहाँ मेरे मन को कैसे सुख मिलेगा ? इस पर श्री कृष्ण ने वृंदावन और यमुना नदी सहित ८४ कोस की दिव्य भूमि पृथ्वी पर अवतरित की, जो ब्रज भूमि के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी खंड मे कंस के जन्म और उसकी दिग्विजय का वर्णन हुआ है। तदनंतर राधा, बलदेव और कृष्ण के जन्म, नंदोत्सव, पूतना वध, तृणावर्त वध, राधिका विवाह, दधि चोरी, मृत्तिका भक्षण और यमलार्जुन मोक्ष की कथा लिखी गई है। उसके बाद वृंदावन, गिरिराज, माधुर्य, मथुरा और द्वारका नामक खंडो मे श्री कृष्ण की ब्रज, मथुरा और द्वारका लीलाओ का विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। इसके विश्वजित् खंड मे कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न की दिग्विजय का अत्यंत विस्तृत कथन किया गया है। बलभद्र खंड मे बलदेव जी के अवतार के साथ कृष्ण-जन्म तथा ब्रज, मथुरा और द्वारका लीलाओ का पुन. संक्षिप्त वर्णन हुआ है। इनके अंतिम विज्ञान खंड मे भक्ति मार्ग और पूजा पद्धति का विवेचन है।

इन ग्रंथ के गोलोक खड पर ब्रह्मवैवर्त पुराण का पर्याप्त प्रभाव दिखलाई देता है। ब्रह्मवैवर्त की तरह इसमे भी गोलोक का अद्भुत वर्णन हुआ है और उसी की तरह राधा जी का विरजा के विहार स्थल पर जाने का उल्लेख है। वहाँ श्रीदामा के रोकने पर राधा जी ने उसे शखचूड दैत्य होने का शाप दिया था। राधा जी के कोप के कारण विरजा नदी होकर बह गई और श्री कृष्ण उनके विहार स्थल से अतर्धान हो गये। फिर ब्रह्मवैवर्त की तरह इसमे भी रहस्यपूर्ण ढग से राधा-कृष्ण का प्रथम मिलन और ब्रह्मा जी द्वारा उनका विवाह कराये जाने का उल्लेख हुआ है। इसके मथुरा खड मे श्री कृष्ण-बलराम का अक्रूर के साथ मथुरा जाना, कस का वध करना, सादीपनि ऋषि के पास विद्याध्ययन के लिए जाना और उद्धव को ब्रज भेजना आदि घटनाएँ अन्य पुराणो की ही भाँति हैं, किंतु उद्धव की प्रार्थना पर श्री कृष्ण के पुन ब्रज जाने का उल्लेख भी इस ग्रंथ मे हुआ है। उस समय श्री कृष्ण मथुरा की रक्षा का भार बलदेव को सौंप कर आप उद्धव के साथ नदग्राम गये थे। वहाँ सबसे मिल कर उन्हे आनदित किया, राधा को सुख दिया, कार्तिक की पूर्णमासी को ब्रज—बालाओ के साथ रास किया और कुछ दिन तक वहाँ रह कर फिर मथुरा वापिस आ गये। इस प्रकार का उल्लेख अन्य पुराणो मे नही मिलता है। इसके द्वारका खड मे यादवो सहित श्री कृष्ण के निवास और उनके राजकीय स्वरूप से सबधित प्रसिद्ध घटनाओ के साथ ही साथ उस प्रदेश मे राधा-कृष्ण के पुन मिलन का भी उल्लेख किया गया है। उसके सबध मे लिखा है कि एक बार राधा जी अपनी सखियो सहित आनर्त ( प्राचीन गुजरात ) प्रदेश के सिद्धाश्रम तीर्थ मे सूर्यपर्व के अवसर पर स्नानार्थ गई थी। वहाँ पर श्री कृष्ण और पाडव भी अपने परिवार सहित आये थे। उस समय राधा—कृष्ण का मिलन हुआ था। श्री कृष्ण की पत्नियो ने उनसे कहा कि वे राधा-गोपियो के साथ वैसा ही रास करे जैसा वे ब्रज मे किया करते थे। इस पर वहाँ वैशाख मास की पूर्णमासी को पूर्ण चंद्रोदय की शुभ्र ज्योत्सना मे रास का आयोजन किया गया था। इसके विश्वजित् खड मे उग्रसेन के राजसूय यज्ञ का आयोजन और उसके निमित्त कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न द्वारा दिग्विजय करने का अत्यत विस्तृत और वीरतापूर्ण वर्णन है, जो इस ग्रंथ की सबसे बडी विशेषता है। इस प्रकार का कथन कृष्ण-चरित्र सबधी किसी अन्य ग्रंथ मे कदाचित नही किया गया है। इस प्रकार की कई विशेषताओ के कारण कृष्ण-चरित्र सबधी ग्रंथो मे गर्ग सहिता का विशिष्ट स्थान है। इसमे कृष्ण-चरित्र के वे सूत्र मिलते है, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं।

**निष्कर्ष**—श्री कृष्ण-चरित्र सबधी स्रोतो के उद्घाटनार्थ विविध ग्रंथो का जो विवेचन अब तक किया गया है, उसका यह निष्कर्ष है कि महाभारत श्री कृष्ण के शृखलाबद्ध जीवन-वृत्त का आदिम स्रोत है, किंतु उसमे उनके उत्तर चरित्र का ही वर्णन हुआ है। उनके पूर्व चरित्र के प्राचीनतम स्रोत हरिवश, ब्रह्म पुराण और विष्णु पुराण हैं। इनमे पूर्व के साथ उनके उत्तर चरित्र का भी वर्णन है, किंतु उतने विस्तार से नही। श्रीमद् भागवत कृष्ण-चरित्र का सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण आधार है, जिसकी रचना हरिवश तथा ब्रह्म और विष्णु पुराणो के पश्चात् छटी शताब्दी मे अथवा उससे कुछ पूर्व हुई थी। ब्रह्मवैवर्त पुराण अपेक्षाकृत आधुनिक है, किंतु इसका महत्व इसलिए है कि इसमे सर्वप्रथम ब्रजेश्वरी राधा का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार कृष्ण-चरित्र के प्रमुख स्रोत महाभारत और हरिवश के अतिरिक्त विष्णु, भागवत, और ब्रह्मवैवर्तादि पुराण हैं तथा गर्ग सहिता है।

## श्री कृषण के सबध मे भ्रम और उसका निवारण—

**कई कृष्णों की कल्पना**—महाभारत मे वर्णित कृष्ण-कथा की शृ खला हरिवश और विविध पुराणो के साथ जोडने से कृष्ण-चरित्र की पूर्ति तो हो जाती है, किंतु चरित्र-चित्रण की सगति के विचार से उत्तर और पूर्व कथा-भाग मे इतनी विपमता दिखलाई पडती है कि महाभारत और पुराणो के कृष्ण भिन्न-भिन्न महापुरुप से ज्ञात होते है। पुराणो की अलकारिक और प्रतीकात्मक शैली ने व्रजवासी कृष्ण के गोपाल और गोपीबल्लभ स्वरूप को इतना अलौकिक और अतिरजित बना दिया है कि महाभारत के लोकनायक और नीतिनिपुण लौकिक रूप से उसकी सगति मिलाने मे कठिनाई जान पडती है। इसीलिए अनेक विदेशी और कुछ देशी विद्वानो ने या तो श्री कृष्ण के अस्तित्व मे ही सदेह प्रकट किया है, अथवा एक के स्थान पर कई कृष्णो की कल्पना की है। उनकी समझ मे यह नही आता कि व्रज के ग्रामो मे गाय चराने वाले और गोप-गोपियो के साथ क्रीडा करने वाले गोपाल कृष्ण तथा महाभारत-युद्ध के सचालक और गीता-ज्ञान के व्याख्याता परम नीतिज्ञ एव तत्वदर्शी कृष्ण दोनो एक कैसे हो सकते है!

**कृष्ण और क्राइस्ट**—जिन विद्वानो ने कृष्ण के अस्तित्व मे सदेह प्रकट किया है, उनमे से कुछ ने कृष्ण-कथा को ईसाई मत के प्रवर्त्तक क्राइस्ट के जीवन-वृत्त की अनुकृति बतलाया है। दोनो महापुरुपो के नामो, जीवन घटनाओ और उपदेशो मे अद्भुत साम्य देख कर उन्होने इस प्रकार का कथन किया है। श्री ग्राउस ने भी कृष्ण और क्राइस्ट के साम्य का उल्लेख किया है, किंतु उन्होने पाश्चात्य विद्वानो की कल्पना को स्वीकार न कर उसे आकस्मिक माना है[1]। उन्होने जोर देकर लिखा है,—"मेरा विश्वास है कि कृष्ण और क्राइस्ट के सभी आनुमानिक सबध काल्पनिक ही है[2]।"

क्राइस्ट का काल केवल दो हजार वर्प का है, जब कि कृष्ण के जीवन-काल की अवधि प्राय पाँच हजार वर्प की है। ऐसी दशा मे यदि अनुकृति और सबध की बात मानी जाय, तो क्राइस्ट की जीवन-घटनाएँ ही कृष्ण-कथा की अनुकृति तथा कृष्ण-चरित्र से सबधित कही जा सकती है। भारत के कुछ आर्य समाजी विद्वानो ने ऐसा लिखा भी है। किंतु हम श्री ग्राउस के मतानुसार दोनो सबधो को आकस्मिक मानने के पक्ष मे ही है। हमे कृष्ण और क्राइस्ट दोनो की ऐतिहासिकता और उनके प्रथक-प्रथक अस्तित्व स्वीकार है।

**कृष्ण की ऐतिहासिकता**—जहाँ तक ऐतिहासिकता का सबध है, उसके समर्थन मे साहित्य और कला के अनेक प्रमाण प्राप्त है। श्री कृष्ण के जीवन-वृत्त का सबसे प्राचीन स्रोत महाभारत है। उसमे जिस भीपण भारतीय युद्ध का वर्णन किया गया है, उसकी ऐतिहासिकता असदिग्ध है। महाभारत के सुप्रसिद्ध शोधक विद्वान श्री चितामणि विनायक वैद्य ने उक्त महायुद्ध और उसके सदर्भ मे श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—"भारत के भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राचीन साहित्य के अध्ययन से मै यह निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि प्राचीन भारत के इतिहास मे भारतीय युद्ध ही सब से पहली ऐतिहासिक घटना है। 'ऐतिहासिक घटना' से मेरा

---

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, ( तृ० स०, पृष्ठ ६६ )
(२) वही , ( ,, , पृष्ठ ७० )

अभिप्राय यह है कि यह एक ऐसी घटना है कि जिसकी निश्चित तिथि और स्थान बतलाया जा सकता है और वह भी ऐसे प्रमाणो से जो विश्वास के योग्य है और केवल दतकथा अथवा पौराणिक आख्यायनो के रूप मे नही है। श्री कृष्ण ने भारतीय युद्ध मे भाग लिया था और इसीलिए वे भी एक ऐतिहासिक पुरुष है[1]।"

जब हम महाभारत और पुराणो के कथनो की सगति छादोग्य उपनिषद, पाणिनीय सूत्र, बौद्ध जातक, जैन आगम, मैगस्थनीज आदि विदेशी लेखको के प्राचीन विवरणो से मिलाते है, तब श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता मे सदेह करने की कतई गु जायश नही रहती है। मथुरा, वेसनगर, देवगढ, बदामी, पथारी, मडौर, खजुराहो, घोसु डी, नानाघाट प्रभृति अनेक स्थानो से उपलब्ध प्राचीन शिलापट, स्तभ, मूर्तियाँ और अभिलेख श्री कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्तित्व के ऐसे प्रबल प्रमाण है, जिनकी उपेक्षा नही की जा सकती है। इसी प्रकार महाभारत, गीता और पुराणो से सबधित श्री कृष्ण का प्रथक-प्रथक व्यक्तित्व मानना भी सर्वथा भ्रमात्मक है। जब गीता महाभारत का ही एक अश है, तब उन दोनो के नीतिज्ञ और तत्वदर्शी कृष्ण के प्रथक व्यक्तित्व का प्रश्न ही उपस्थित नही होता है। पुराणो मे वर्णित श्री कृष्ण की बाल-लीलाओ का सकेत भी महाभारत मे मिलता है। महाभारत के सभापर्व मे शिशुपाल द्वारा श्री कृष्ण के जिन बाल-चरित्रो का बखान किया गया है, वे पौराणिक कृष्ण की ब्रज-लीलाओ से सर्वथा मेल खाते है। पुराणो मे जिस प्रकार श्री कृष्ण को विष्णु का अवतार बतलाया गया है, उसके सूत्र महाभारत मे भी मिलते है। पाडव, भीष्म, विदुर आदि महाभारत के अनेक विशिष्ट जन कृष्ण को अवतार ही मानते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता मे सदेह करना अथवा एक के स्थान पर कई कृष्णो की कल्पना करना सर्वथा भ्रम और प्रमाद है। श्री कृष्ण का चरित्र जैसा अद्भुत और विचित्र है तथा उनका कार्य क्षेत्र जैसा वैविध्य पूर्ण है, वैसा इस लोक मे साधारणतया देखने मे नही आता है, इसीलिए जन साधारण मे उनके सबध मे भ्रम पैदा हो जाता है। किंतु श्री कृष्ण कोई साधारण जन तो नही थे, वे अनेक गुणो से युक्त विशिष्ट महापुरुष थे। उनकी उस असाधारणता और विशिष्टता के कारण ही तो उन्हे अवतार माना गया है।

## कृष्ण—जन्म की पृष्ठभूमि—

**अवतारवाद की मान्यता**—भारतवासियो की यह परपरागत मान्यता रही है कि इस भूतल पर जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, जिसके कारण दुष्ट जन सज्जनो पर अत्याचार करने लगते है, तब-तब भगवान् अवतार लेकर सज्जनो का सरक्षण और दुष्टो का दलन करते हुए धर्म की स्थापना किया करते है[2]। इस प्रकार की विकट परिस्थिति अनेक युगो मे अनेक बार हुई है, अत भगवान् के भी अनेक अवतार हुए है। द्वापर युग के अत मे भी ऐसी ही विषम परिस्थिति पैदा हो गई थी, जिसके कारण भगवान् को कृष्ण के रूप मे अवतार लेना पडा था। इसकी सत्यता कृष्ण-जन्म के पूर्व की स्थिति पर विचार करने से स्वत सिद्ध होती है।

---

(१) कल्याण का 'कृष्णाक', ( पृष्ठ ३३१ )

(२) श्रीमद् भगवत् गीता, ( अध्याय ४, श्लोक ७—८ )

**तत्कालीन स्थिति**—कृष्ण-जन्म से पूर्व शूरसेन जनपद मे ही नही, वरन् समस्त भारतवर्ष मे अधर्म, अत्याचार और अनाचार की ऐसी आँधी उठी थी कि उसके अधकार मे सद्धर्म, सत्कर्म और सदाचार के सर्वथा लुप्त हो जाने की आशका उत्पन्न हो गई थी । उस समय इस देश मे दुष्ट प्रकृति के ऐसे कई निरंकुश राजा थे, जिन्होने अपने भीषण अत्याचारो से जनता को पीडित कर रखा था । उनके समर्थक कतिपय अधर्मियो और दुराचारियो का तो स्वार्थ-साधन होता था, किंतु सर्व साधारण मे हाहा-कार मचा हुआ था । उस विषम परिस्थिति के पैदा करने वाले मुख्यत तीन राजा थे—

१ जरासध —जो मगध जनपद ( बिहार ) का स्वेच्छाचारी सम्राट था ।

२. भौमासुर—जो नरकासुर भी कहलाता था, जिसने प्राग्ज्योतिषपुर ( असम ) मे अपना क्रूर शासन चलाया था ।

३ कस —जो शूरसेन जनपद ( ब्रज प्रदेश ) का अत्याचारी राजा था ।

वे तीनो दुष्ट जन ऐसे तीन बडे साम्राज्यो के अधिपति थे, जहाँ अनीति, अधर्म और अत्याचार का बोलबाला था । जरासध अपने समय का सबसे प्रबल और प्रतापी नरेश था । वह अनेक छोटे-बडे राज्यो को हडप कर एक बडे साम्राज्य का स्वामी बन गया था । उसने छीने हुए राज्यो के अनेक राजाओ को अपने कारागार मे बद कर रखा था और वह जनता पर मनमाने ढग से शासन करता था । भौमासुर बडा ही दुष्ट और प्रजापीडक राजा था । उसने अपने निकटवर्ती अनेक छोटे राजाओ को दबा कर उनका सर्वस्व छीन लिया था और उनकी अगणित कुमारी कन्याओ का उसने बलपूर्वक अपहरण किया था । कस का अत्याचार उन दोनो से भी बढा-चढा था । उसने शूरसेन जनपद के परपरागत जनतात्रिक शासन के विरुद्ध विद्रोह का झडा उठाया और अपने समय के अधक-वृष्णि राज्य सघ को तोड कर वह जनपद का स्वेच्छाचारी राजा बन गया था । उसके लिए उसने अपने सगे सबधियो को भी नही छोडा । अपने वृद्ध पिता, आत्मीय बहनोई और अपनी अबला बहिन को कारागार मे डाल कर उसने शासन की सत्ता हथियाई थी । उसके राज्य मे धार्मिक जनो पर तो भीषण अत्याचार होते ही थे, उसके अतिरिक्त वहाँ नारी-पीडन और बाल-हत्या का भी बडा जोर था । उसने अपनी बहिन की कई सतानो की स्वय हत्या की थी । इस प्रकार उसका शासन अनीति, अत्याचार और आतक से भरपूर था । उक्त तीनो स्वेच्छाचारी शासक भारत की आध्यात्मिकतामूलक आर्य सस्कृति के विरोधी तथा भौतिकवादी अनार्य सस्कृति के समर्थक थे । वे बुरे से बुरे किसी भी कार्य द्वारा अपनी भौतिक शक्ति बढाने मे विश्वास रखते थे । उसके लिए उन्होने 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस" के सिद्धात को अपना लिया था । उनके द्वारा स्वार्थी, पाखडी और चाटुकारो को प्रश्रय मिलता था, किंतु निःस्वार्थ, सदाचारी और स्पष्ट वक्ताओ को अपमानित होना पडता था । उस समय सतो और सदाचारियो की वाणी कुठित हो गई थी । वे असहाय होकर मूक रूप से उस समय की स्थिति को देखने और सहन करने के लिए विवश थे ।

ऐसी परिस्थिति भगवान् के अवतार के लिए सर्वथा उपयुक्त थी । अतः श्री कृष्ण ने कारागार की कोठरी मे उस समय अवतार लिया, जब उनके माता-पिता कस के अत्याचार से त्रस्त हो रहे थे । कृष्ण के जन्म लेते ही वह दुष्ट उन्हे समाप्त करने की ताक मे था, किंतु उसकी समस्त योजना विफल हो गई । कृष्ण को किसी प्रकार कारागार से हटा कर ब्रज के ग्रामीण क्षेत्र मे भेज

दिया गया । वहाँ गोप-बालकों के साथ उनका बचपन बीता । फिर उन्होंने समय आने पर कंस को मार कर अपने माता-पिता को बंधनमुक्त किया, तथा शूरसेन प्रदेश में पुन जन-तात्रिक संघ राज्य की स्थापना की । उसके अनंतर उन्होंने जरासंध और भौमासुर के साथ ही साथ शिशुपाल और दुर्योधन जैसे अत्याचारी राजाओं को समाप्त कर भारतवर्ष में सुख-शांति की पुनर्प्रतिष्ठा की थी ।

**श्री कृष्ण के जीवन के कुछ तिथि-संवत्**—महाभारत और पुराणों में कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनसे श्री कृष्ण के जीवन संबंधी कतिपय तिथि-संवत् निश्चित किये जा सकते हैं। श्री चितामणि विनायक वैद्य ने महाभारत का अनुसधान कर ऐसी जिन तिथियों का निश्चय किया है, उनका उल्लेख उनकी मराठी पुस्तक 'श्री कृष्ण चरित्र' में किया गया है । उसे आधार मान कर महाभारत और पुराणों में वर्णित श्री कृष्ण के जीवन की कुछ घटनाओं के तिथि-संवत् यहाँ दिये हैं।

१ मथुरा में जन्म और गोकुल को प्रस्थान—सं० ३१२८ वि० पूर्व की भाद्रपद कृ० ८, वृष लग्न, रोहिणी नक्षत्र, हर्षण योग, अर्ध रात्रि[1] ।

---

(१) १. गर्ग संहिता ( १, ११–२३, २४ ) में इसी प्रकार का उल्लेख हुआ है—

भाद्रे बुधे कृष्ण पक्षे धात्रर्क्षे हर्षणे वृषे । करणेऽष्टम्यामर्धरात्रे नक्षत्रेश महोदये ॥
अंधकारावृते काले देवक्यां शौरिमन्दिरे । आविरासीद्धरि- साक्षादरण्यामग्निवेऽग्निवत् ॥

२. सूरदास ने इन्हीं तिथि-वार आदि का उल्लेख करते हुए ग्रहों के फलादेश का इस प्रकार कथन किया है—

( नंद जू ) आदि जोतिषी तुम्हरे घर कौ, पुत्र-जन्म सुनि आयौ ।
लगन सोधि सब जोतिष गनिकै, चाहत तुमहिं सुनायौ ॥
संवत सरस विभावन, भादौं आठैं तिथि, बुधवार ।
कृष्न पच्छ, रोहिनी, अर्ध निसि, हर्षन जोग उदार ॥
वृष है लग्न, उच्च के निसिपति, तनहिं बहुत सुख पैहैं ।
चौथे सिंह रासि के दिनकर, जीति सकल महि लैहैं ॥
पंचएं बुध कन्या कौ जौ है, पुत्रनि बहुत बढ़ैहैं ।
छठएं सुक्र तुला के सनि जुत, सत्रु रहन नहिं पैहैं ॥
ऊँच नीच जुवती बहु करिहैं, सतएं राहु परे हैं । ××

—सूरसागर ( ना० प्र० सभा ), पद संख्या ७०४

३ कल्याण के 'कृष्णांक' पृष्ठ ४७८ पर श्री लज्जाराम मेहता के लेख में सूरदास का एक अन्य पद है और उसके आधार पर बनी हुई जन्म कुंडली भी है ।

४. श्री कृष्ण की दूसरी जन्म कुंडली पद्माकर कवि के पौत्र दतिया निवासी श्री गदाधर भट्ट कृत है, जो 'देशबंधु' वर्ष २, अंक १–२, पृष्ठ ६४ पर प्रकाशित हुई है । तीसरी जन्म कुंडली कर्णाटक निवासी श्री बी० एच० बड़ेर कृत है, जो 'कल्याण' के 'कृष्णांक' में प्रकाशित है ।

५. विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर के प्रो० आप्टे ने केतकी मत से गणना कर उक्त तिथि-वार आदि की पुष्टि की है ।

| घटना | आयु — संवत् |
|---|---|
| २. गोकुल से वृदावन को प्रस्थान | —आयु ४ वर्ष—स० ३१२४ वि० पू० |
| ३. कालिय नाग का दमन | —आयु ८ वर्ष—स० ३१२० वि० पू० |
| ४. गोवर्धन-धारण | — „ १० वर्ष—स० ३११८ वि० पू० |
| ५. राम-लीला का आयोजन | — „ ११ वर्ष—स० ३११७ वि० पू० |
| ६. वृदावन से मथुरा को प्रस्थान और कस का वध | —आयु १२ वर्ष—स० ३११६ वि० पू० की फाल्गुन शु० १४ |
| ७. मथुरा मे यज्ञोपवीत और सादीपनि के गुरुकुल को प्रस्थान- | —आयु १२ वर्ष—स० ३११६ वि० पू० |
| ८ जरासध का मथुरा पर आक्रमण | — „ १३ वर्ष—स० ३११५ वि० पू० |
| ९. मथुरा का राजकीय जीवन और जरासध से १७ वार युद्ध | — „ १३ से ३० वर्ष की आयु तक— स० ३११५–३०९८ वि० पू० तक |
| १०. द्वारका को प्रस्थान और रुक्मिणी से विवाह | —आयु ३१ वर्ष—स० ३०९७ वि० पू० |
| ११ द्रोपदी स्वयवर और पाडवो से मिलन | —आयु ४३ वर्ष—स० ३०८५ वि० पू० |
| १२ अर्जुन–सुभद्रा विवाह | — „ ६५ वर्ष—स० ३०६३ वि० पू० |
| १३ अभिमन्यु–जन्म | — „ ६७ वर्ष—स० ३०६१ वि० पू० |
| १४. युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ | — „ ६८ वर्ष—स० ३०६० वि० पू० |
| १५. महाभारत युद्ध | — „ ८३ वर्ष—स० ३०४५ वि० पू० की मार्गशीर्ष शु० १४ |
| १६. कलियुग का आरभ और परीक्षित का जन्म | —आयु ८४वर्ष—३०४४ वि० पू० की चैत्र शु० १ |
| १७. श्री कृष्ण का तिरोधान और द्वारका का अत | —आयु १२० वर्ष[१]—सं० ३००८ वि० पू० |
| १८. परीक्षित का राज-तिलक और पाडवो का हिमालय प्रस्थान | — स० ३००७ वि० पू० |

(१) श्री कृष्ण पूर्णायु प्राप्त कर १२० वर्ष की अवस्था मे परमधाम को गये थे। महाभारत के अनुसार उस समय तक उनके पिता वसुदेव जी जीवित थे। श्री कृष्ण वसुदेव जी के ८ वें पुत्र थे। यदि कृष्ण-जन्म के समय वसुदेव की आयु ४० वर्ष की मानी जाय, तव श्री कृष्ण के तिरोधान के समय वसुदेव जी की आयु १६० वर्ष की होती है; जो कलियुग की पूर्णायु ( १२० वर्ष ) से भी वढ़ जाती है। किंतु इसमे कोई शंका नहीं होनी चाहिए, क्यों कि उस काल के वाद भी १५० से २०० वर्ष तक की आयु वाले व्यक्तियो की विद्यमानता इतिहास से सिद्ध होती है।

**राधा का अनुसंधान**—ब्रज संस्कृति में श्री कृष्ण के साथ राधा का ऐसा अन्योन्य संबंध है, कि एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। क्या धर्म, क्या साहित्य और क्या कला सभी क्षेत्रों में श्री कृष्ण के साथ राधा अनिवार्य रूप से दिखलाई देती है। कृष्णोपासक सम्प्रदायों में से कई में तो राधा का महत्व श्री कृष्ण से भी अधिक माना गया है। जब हम इस विषय का ऐतिहासिक अनुसंधान करते हैं, तब ज्ञात होता है कि राधा के इस अनुपम महत्व की परंपरा अधिक प्राचीन नहीं है। महाभारत, हरिवंश और विष्णु पुराण जैसे कृष्ण-चरित्र के प्राचीनतम ग्रंथों में राधा का नाम तक नहीं मिलता है। यहाँ तक कि श्री कृष्ण की ब्रज-लीलाओं का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ भागवत पुराण तक में राधा का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है।

राधा के महत्व की प्राचीन परंपरा के इस अद्भुत अभाव ने अनेक देशी-विदेशी विद्वानों को राधा संबंधी अनुसंधान करने की प्रेरणा दी है। जिन विद्वानों ने कृष्ण संबंधी व्यापक शोध के एक सामान्य अंग के रूप में राधा का अनुसंधान किया है, उनमें सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का नाम उल्लेखनीय है। उनका मत है कि गोपाल, गोप और गोपियों की तरह राधा का संबंध भी उस विदेशी आभीर जाति से था, जो बाहर से आकर भारतवर्ष में बसी थी। आभीरों ने इस देश के बड़े भाग पर अधिकार कर अपने कई राज्य स्थापित किये थे। जब उनका आर्यों से संपर्क हुआ, तब उनकी राधा विषयक कथा कृष्ण-कथा के साथ सम्मिलित हो गई थी।

राधा एक आभीर बाला थी, इस संबंध में अधिक विवाद नहीं है। विवाद इस बात में है कि आभीर जाति विदेशी थी या नहीं। आभीरों का विदेशी होना अनेक विद्वानों को स्वीकृत नहीं है। इस संबंध में डा० मुंशीराम शर्मा का कथन है,—"इस देश के किसी भी साहित्यिक ग्रंथ में आभीरों को बाहर से आया हुआ नहीं कहा गया है। विष्णु पुराण में आभीर वंश का उल्लेख है। वायु पुराण में आभीर राजाओं की वंशावली वर्णित है।····· आभीर स्वयं अपने आपको यदुवंशी आहुक की संतति मानते हैं। महाभारत में यदुवंश के साथ आभीर वंश का घनिष्ट संबंध दिखलाया गया और लिखा है कि श्री कृष्ण की एक लाख नारायणी सेना मुख्यत आभीर क्षत्रियों से ही निर्मित हुई थी और युद्ध में दुर्योधन की ओर से लड़ी थी[1]।"

राधा संबंधी अनुसंधान का सबसे महत्वपूर्ण कार्य डा० शशिभूषण दासगुप्त ने किया है। उनका बंगला भाषा में लिखा हुआ शोध प्रबंध 'राधार क्रम विकाश' इस विषय का अनुपम ग्रंथ है। यद्यपि उनके निष्कर्षों से पूर्णतया सहमत होना संभव नहीं है, तथापि उनके अनुसंधान से राधा विषयक अत्यंत महत्व की सामग्री उपलब्ध हो सकी है, इसमें संदेह नहीं। उनका मत है कि राधा-वाद का बीज भारतवर्ष के सामान्य शक्तिवाद में है। जो पहिले शुद्ध शक्तिरूपिणी थी, वही कालांतर में परम प्रेममयी राधा के रूप में परिणत हो गई। उन्होंने लिखा है—"क्या विचार की दृष्टि से, क्या भाषा की दृष्टि से—किसी भी दृष्टि से शैव-शाक्त तंत्रोक्त शक्तिवाद और वैष्णव शास्त्रोक्त शक्तिवाद में कोई खास पार्थक्य करना संभव नहीं मालूम होता। समजातीय भाव और विचार ही मानो भिन्न-भिन्न वातावरण में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट हुए हैं[2]।"

---

(१) भारतीय साधना और सूर-साहित्य, ( पृष्ठ १६४ )

(२) राधा का क्रम विकास, ( पृष्ठ ८० )

डा० दासगुप्त ने चाहे वैष्णव धर्म के राधापूजक सप्रदायो की मान्यताओ को ठीक तरह से नही समझा, फिर भी उनका यह कथन सर्वथा सत्य है कि "साहित्य का अवलबन करके ही राधा का आविर्भाव और क्रम-प्रसार हुआ है[1] ।" साहित्य मे राधा का सर्वप्रथम उल्लेख हाल सातवाहन द्वारा सकलित 'गाहा सत्तसई' मे मिलता है । उक्त रचना के अत साक्ष्य से ज्ञात होता है कि उसका सकलन विक्रम सवत् के आरभ मे किया गया था, किंतु कुछ विद्वानो के मतानुसार उसमे राधा सबधी गाथाएँ ६वी शती के लगभग सम्मिलित की गई थी । 'गाहा सत्तसई' के नाम का सर्व प्रथम उल्लेख भी ७वी शती के बाणभट्ट कृत 'हर्ष चरित्र' मे मिलता है । तथ्य चाहे कुछ भी हो, यह प्राय निश्चित है कि ५वी शती के पश्चात् राधा ने अपना वर्तमान रूप प्राप्त कर लिया था । उस काल से ही राधा साहित्यिक रचनाओ के साथ ही साथ पुराणादि धर्म ग्रथो मे, पुरातात्विक अभिलेखो मे तथा कला कृतियो मे मिलने लगती है । कला कृतियो मे सबसे प्राचीन पहाडपुर (बगाल) से प्राप्त राधा-कृष्ण की एक युगल मूर्ति है, जो ७वी अथवा ८वी शताब्दी की मानी जाती है । राधा के उस आत्म प्रकाश की ज्योति देश के किसी विशेष भाग मे ही प्रदीप्त हुई हो, यह बात नही है, वरन् उससे प्राय समस्त भारतवर्ष एक साथ ही जगमगा उठा था ।

दक्षिण मे माधुर्य भक्ति का प्रादुर्भाव आलवार भक्तो द्वारा माना जाता है । आलवार गण प्राय निम्न जातियो के भक्त जन थे, जो ५वी शती से ६वी शती तक के विभिन्न काल मे हुए थे । तमिल भाषा मे 'आभीर' गोप को कहते है और तमिल प्रदेश मे राधा को आभीरो की देवी माना गया है, किंतु वहाँ पर राधा का तमिल नाम 'नाप्पिन्नाई' मिलता है । आलवारो ने कृष्ण और नाप्पिन्नाई की माधुर्य भक्ति के मनोरम गीत गाये है, जो तमिल भाषा के प्राचीन साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान रखते है ।

विभिन्न विद्वानो द्वारा किये गये राधा सबधी अनुसधानो का निष्कर्ष यह है कि श्री कृष्ण का बाल्य जीवन मथुरा के निकट की जिस गोप-बस्ती मे बीता था, वहाँ की एक आभीर बाला राधा का उनसे परिचय हुआ था । बाद मे उन दोनो मे घनिष्ट प्रेम हो गया था । उनके प्रेम की कथा युगो तक आभीर जाति मे प्रचलित रही और वह लोक-जीवन के हिये का हार बनी रही । उसके कारण आभीरो मे राधा प्रेमदेवी और कृष्ण बालदेवता के रूप मे प्रसिद्ध हो गये थे । राधा-कृष्ण के प्रेम-गीत सबसे पहिले जन साधारण की प्राकृत भाषा मे गाये गये और फिर उन्हे सस्कृत साहित्य मे स्थान मिला । जब धार्मिक क्षेत्र मे विष्णु की शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, तब विष्णु के अवतार रूप मे कृष्ण का और उनकी शक्ति के रूप मे राधा का उल्लेख पुराणादि धर्म ग्रथो मे भी किया जाने लगा । कालातर मे कृष्णोपासक सप्रदायो के कारण राधा के महत्व की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई । इस प्रकार राधा का जितना पुराना सबध साहित्य, धर्म और कला से है, उतना इतिहास से नही है ।

यदि प्राचीन परपराओ को ऐतिहासिक रूप दिया जा सके, तो यह कहा जा सकता है कि राधा एक आभीर बाला थी और आभीर गो-पालक जाति थी, जो कृष्ण-काल मे मथुरामडल के ओर-पास बडी सख्या मे बसी हुई थी । आभीरो को विदेशी मानना ठीक नही है । वे भी आर्यो

---

(१) राधा का क्रम विकास, पृष्ठ १००

की भाँति भारतीय थे, किंतु उनकी सस्कृति कदाचित आर्यो से कुछ भिन्न थी, इसीलिए उन्हे आर्यो से प्रथक माना जाता है। कृष्ण का जन्म वृष्णि वश के यादव क्षत्रियो मे हुआ था, किंतु परिस्थिति वश उन्हे जन्मते ही गोपालक आभीरो की वस्तो मे भेज दिया गया था। उनका वाल्य काल आभीरो के वालक-वालिकाओ के साथ वीता था। वही पर गोप वालिका राधा से उनका परिचय हुआ था, जो उत्तरोत्तर वढता हुआ वालोचित स्नेह मे परिणत हो गया था।

श्री कृष्ण तो वाल्यावस्था वीतने पर गोप–वस्ती छोड कर मथुरा चले गये थे और फिर राजकीय कार्यो मे इतने व्यस्त हुए कि वे अपने वाल सघाती आभीर गोपो के वालक–वालिकाओ को एक प्रकार से भूल ही गये थे, किंतु राधा किसी तरह कृष्ण को नही भूल सकी थी। युवा होने पर उसका विवाह रायाण नामक एक आभीर युवक के साथ हो गया, किंतु उन दोनो का दाम्पत्य सवध कायम नही हो सका। राधा ने कभी रायाण को अपना पति नही माना। वह जीवन पर्यत कृष्ण के नाम की ही माला जपती रही थी। इस प्रकार उस विरहणी वाला ने प्रेम की वलि–वेदी पर अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया था।

राधा–कृष्ण की यह प्रेम–कहानी युगो तक आभीर जाति मे प्रचलित रही थी। कृष्ण वृष्णि वश के महापुरुष माने गये और कालातर मे अवतार रूप मे पूजे गये। वृष्णि वश के क्षत्रिय श्री कृष्ण के राजकीय रूप के प्रशसक और पूजक थे। उन्हे कृष्ण की गोप-लीलाओ के प्रति कोई आकर्षण नही था। इस प्रकार कृष्ण अपने काल की दो जातियो मे दो रूपो मे पूजे जाने लगे। कालातर मे जव कृष्णोपासना का व्यापक प्रचार हुआ, तव उनके समग्र जीवन को शृ खलावद्ध रूप मे प्रस्तुत किया जाने लगा। तभी उनके वाल्य काल की गोप-लीलाओ की सगति उनके युवा और प्रौढ काल की राजकीय जीवन घटनाओ से मिलाई गई। उसके फल स्वरूप राधा–कृष्ण की युगल जोडी ने पहिले साहित्य मे और फिर धर्म मे प्रवेश किया, तदनतर उसकी अद्भुत आभा ने संस्कृति के समस्त अगो को चमका दिया था।

सस्कृत वाङ्मय के ब्रह्मवैवर्त पुराण और गर्ग सहिता मे राधा-कृष्ण की लीलाओ का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। ब्रजभाषा साहित्य की अनेक रचनाओ मे इसका और भी विस्तृत कथन हुआ है। ब्रजभाषा कवियो ने जैसे मनोयोग पूर्वक राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओ का गायन किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सूरदास ने जहाँ श्री कृष्ण की वाल–लीलाओ का सागोपाग कथन किया है, वहाँ चाचा वृ दावनदास ने राधा जी की वाल-लीलाओ पर विशद प्रकाश डाला है। ब्रज के वे दोनो भक्त-कवि अपने–अपने विपयो के विशेपज्ञ रहे है। श्री कृष्ण की जन्म तिथि भाद्रपद कृ० ८ मानी जाती है और राधा जी की जन्म तिथि भाद्रपद शु० ८। ब्रजभाषा के कई कवियो ने राधा-कृष्ण की जन्म कु डलियाँ वना कर उनके ग्रहो से सवधित फलादेश का भी कथन किया है। सूरदास का तत्सवधी पद प्रसिद्ध है, जिसमे श्री कृष्ण के जन्म विपयक लग्न, नक्षत्र, योगादि का उल्लेख करते हुए जन्म-ग्रहो का विस्तृत फल भी लिखा गया है[1]। पद्माकर कवि के पौत्र और दतिया निवासी गदाधर भट्ट ने राधा जी को जन्म कु डली वना कर उनके ग्रहो का फलादेश लिखा है[2]।

---

(१) सूरसागर, ( नागरी प्रचारिणी सभा ), पद सख्या ७०४

(२) देशबधु, मथुरा, ( वर्ष २, अक १–२, पृष्ठ ६६–६७ )

### श्री कृष्ण का संक्षिप्त जीवन-वृत्तांत—

**जन्म-स्थान**—श्री कृष्ण के जन्म-स्थान के सबध मे मथुरा का नाम प्रसिद्ध है। पहिले लिखा जा चुका है, शत्रुघ्न जी ने मथुरा की स्थापना प्राचीन मधुबन के उस भाग मे की थी, जहाँ अब महोली गाँव है। उस काल मे यमुना नदी भी वही प्रवाहित होती थी। कालातर मे यमुना का प्रवाह हट जाने से अथवा कुछ अन्य कारणो से मथुरा की आदिम बस्ती अपने पूर्व स्थान से हट कर उस भू-भाग पर बस गई, जहाँ अब भूतेश्वर महादेव, केशवदेव जी और महाविद्या के मदिर है। यमुना नदी भी उस काल मे उसी स्थल पर प्रवाहित होने लगी थी। मधुबन का विशाल वन समाप्त होते-होते एक छोटी बनखडी वन गया था; किंतु १६वी शताब्दी तक भी मथुरा को मधुबन अथवा मधुपुरी से अभिन्न समझा जाता था। सूरदास ने कृष्ण-लीला के विविध प्रसगो का कथन करते हुए मथुरा, मधुपुरी और मधुबन को समान अर्थ मे प्रयुक्त किया है[1]।

श्री कृष्ण के जन्म के समय मथुरा का राजा कस था, जो चद्रवशी यादव क्षत्रियो की अधक शाखा का अधिपति था। कस बडा अत्याचारी राजा था। उसका कारागार उस स्थल पर था, जहाँ अब केशवदेव जी का पुराना मदिर है। कस ने उक्त कारागार मे अपने पिता उग्रसेन और बहन-बहनोई देवकी-वसुदेव को कैद कर रखा था। वहाँ पर ही श्री कृष्ण का जन्म हुआ था। वह स्थान अब भी 'कृष्ण-जन्मभूमि' के नाम से प्रसिद्ध है। वह मथुरा की दूसरी बस्ती थी, जो कृष्ण-काल से लेकर महमूद गजनवी के आक्रमण-काल ११वी शती तक उसी स्थान पर बसी हुई थी, किंतु उसका विस्तार वर्तमान ककाली टीला से लेकर चौरासी के जैन मदिर तक था।

**जन्म और आरंभिक जीवन**—श्री कृष्ण का जन्म स० ३१२८ विक्रम पूर्व मे मथुरा नगर के राजकीय कारागार स्थित उस सूने गृह मे हुआ था, जहाँ राजा कस ने उनके माता-पिता देवकी और वसुदेव को कैद कर रखा था। कस को ज्ञात था कि देवकी गर्भवती है और शीघ्र ही उसका प्रसव होने वाला है। उसे बतलाया गया था कि देवकी के पुत्र द्वारा ही उसकी मृत्यु होगी, अत वह इस ताक मे था कि जन्म लेते ही बालक को समाप्त कर दिया जाय। इसके लिए उसने

---

(१) १. इहै सोच अक्रूर परचौ।
लिए जात इनको मै 'मथुरा', कंसहि महा डरचौ ॥३६३१॥
२. 'मथुरा' असुर-समूह बसत है, कर कृपान जोधा हत्यारे।
सूरदास ये लरिका दोऊ, इन कब देखे मल्ल-अखारे ॥३५८६॥
३. कहा काज मेरे छगन-मगन कौ, नृप 'मधुपुरी' बुलायौ। ३५९१।
४. इन्है कहा 'मधुपुरी' पठाऊँ, राम-कृष्ण दोऊ जन बारे ॥३५८६॥
५. सूर तिन्हैं लै चले 'मधुपुरी', हिरदै सूल बढाइ ॥३५९०॥
६ 'मधुबन' चलन कहत है सजनी, इन नैननि की मूर। ३५७९।
७. गोपालहिं राखहु 'मधुबन' जात। ३६०७।
८. आतुर रथ हाँक्यौ 'मधुबन' को, व्रज जन भए अनाथ। ३६११।
९. 'मधुबन' देस कान्ह कुबिजा सग, बनी सूर रजधानी ॥४२४५॥
—सूरसागर ( नागरी प्रचारिणी सभा )

पहिले से ही पूरा प्रबंध कर रखा था। उधर वसुदेव-देवकी भी बड़े चिंतित और सतर्क थे। वे जानते थे कि यदि जन्म लेते ही बालक को कारागार से हटा कर किसी सुरक्षित स्थान पर नहीं भेजा गया, तो निर्दयी कंस उसे अवश्य मार डालेगा। उस बालक की प्राण-रक्षा के लिए उन्होंने अपने कतिपय हितैषी मित्रों की सहायता से यह योजना बनाई थी कि जन्म लेते ही बालक को तत्काल यमुना पार की गोकुल बस्ती में भेज दिया जाय जहाँ उनके मित्र नंद गोप गुप्त रीति से उसका पालन-पोषण करें और कंस को भुलावे में डालने के लिए तत्काल जन्मे हुए किसी दूसरे बालक को कारागार में मँगा लिया जाय।

गई रात्रि के समय देवकी के गर्भ से एक अत्यन्त सुंदर और तेजस्वी बालक का जन्म हुआ था। माता-पिता अपने प्यारे पुत्र को भली भाँति देख भी नहीं पाये कि वे उसकी सुरक्षा के लिए प्राणपण से चेष्टा करने लगे। पूर्व योजना के अनुसार बालक को रातों-रात यमुना पार की गोप-बस्ती में भेज दिया गया और नंद गोप की तत्काल उत्पन्न कन्या को वहाँ से मँगा लिया गया। यह कार्य ऐसी सावधानी शीघ्रता और कुशलता से संपन्न हुआ कि कंस को उस षड्यंत्र की गंध भी नहीं मिली। प्रातःकाल होने पर जब वह कारागार में गया, तो उसने गोपराज की शिशु कन्या को देवकी की गोद में से छीन लिया और एक ही वार से उसका काम तमाम कर डाला। पहिले तो उसने समझा कि उसका प्राणघाती शत्रु सदा के लिए समाप्त हो गया किंतु शीघ्र ही उसे अपनी भूल मालूम हो गई। वह इस बात के लिए बड़ा दुखी हुआ कि इतनी चेष्टा और सावधानी करने पर भी उसका वास्तविक शत्रु बच कर निकल गया और उस निर्दोष कन्या की व्यर्थ में जान ली गई। इस प्रकार भाद्रपद मास की अँधेरी काली रात में श्री कृष्ण का जन्म हुआ और बड़ी विचित्र तथा भयावह परिस्थिति में उन्हें जन्म लेते ही गोकुल भेज दिया गया था।

गोकुल का शैशव काल—यमुना पार की उस गोप-बस्ती में वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी कुछ समय पहिले से ही निवास करती थी जहाँ उसने बालक बलराम को गुप्त रीति से जन्म दिया था। नंद गोप की पत्नी यशोदा ने कृष्ण-बलराम को अपने पुत्र मान कर उनका बड़े स्नेह से पालन-पोषण किया था। गोकुल के समस्त गोप-परिवार भी यही समझते थे कि कृष्ण और बलराम नंद-यशोदा के ही बालक हैं।

गोकुल की वह बस्ती प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण हरे-भरे मैदानों में थी, जहाँ आभीर जाति के गोपगण अपने गो-धन के साथ सुखपूर्वक निवास करते थे। उनकी जीविका का आधार गायें थीं, जिन्हें पास के विस्तृत मैदानों में चराते हुए वे प्रायः विचरण किया करते थे। उनके लिए वे मथुरा के राजा को कुछ वार्षिक कर देते थे। नंद गोप उनका प्रमुख सरदार था। उसके अतिरिक्त वृषभानु उपनंद आदि अन्य सरदार भी थे।

कृष्ण और बलराम दोनों भाई गोप बालकों के साथ खेलते थे। उनकी तरह ही वनों में जाकर गाय चराते थे और नाना प्रकार की बाल-लीलाएँ करते थे। उनके अद्भुत सुंदर स्वरूप और उनकी विचित्र बाल-क्रीड़ाओं ने गोकुल के समस्त गोप-गोपियों को मोह लिया था। वे लोग उनके क्रीड़ा-कौतुक को देख कर फूले नहीं समाते थे और दिन-रात उसी आनंद में मग्न रहते थे।

जब कंस को यह भली भाँति ज्ञात हो गया कि देवकी का वास्तविक पुत्र और उसका शत्रु अभी जीवित है और वह गोप-बस्ती में कहीं छिपा हुआ है, तो उसने पूतना नामक एक माया-

विनी नारी को उन्हे ढूँढ कर मार डालने के लिए भेजा। पूतना वेश बदल कर गोकुल मे घूमने लगी और तत्काल के उत्पन्न बच्चो को छलपूर्वक मारने लगी। एक दिन वह अपने स्तनो मे विष लगा कर नद के निवास स्थान मे भी पहुँच गई। वहाँ पर पालने मे सोये हुए कृष्ण को उठा कर वह एकात मे ले गई और उन्हे मारने के विचार से अपने विषैले स्तनो से उन्हे दूध पिलाने लगी। उसका वह कुचक्र सफल नही हुआ और कृष्ण को मारने के बजाय वह स्वय ही मारी गई।

एक दिन कृष्ण एक गाडी मे सो रहे थे। उनके बार--बार हाथ-पैर हिलाने से वह गाडी किसी प्रकार उलट गई। कृष्ण उसके नीचे आ गये, किंतु सौभाग्य से उनके कोई चोट नही लगी। जब बालक कृष्ण घुटनो के बल रेंगने लगे, तो वे शयनागार से निकल कर आँगन तक आने लगे। आँगन मे अर्जुन के दो जुडवाँ ( यमलार्जुन ) वृक्ष लगे हुए थे। एक दिन जब वे रेंगते हुए उन वृक्षो के निकट आये, तब अचानक ही वे विशाल वृक्ष जड से उखड कर गिर पडे। कृष्ण उस समय भी बाल-बाल बच गये थे। वृक्षो के गिरने की आहट सुन कर सब लोग नद--भवन की ओर दौड पडे। नद-यशोदा भी अपने बालक के चोट लगने की आशका से बडे व्याकुल होते हुए वहाँ भाग कर आये, किंतु कृष्ण को सकुशल खेलते हुए देख कर सबको बडा आश्चर्य और हर्ष हुआ।

**गोकुल से वृ दावन को**—इस प्रकार कई दुर्घटनाओ के लगातार होने से गोप समुदाय को गोकुल मे रहना अशुभ जान पडने लगा,अत वे उक्त स्थान को छोडकर किसी ऐसे स्थल मे बसने का विचार करने लगे, जहाँ उनकी गायो के लिए चारा-पानी की बहुतायत हो और साथ ही सुरक्षा का भी प्रबध हो। नद, उपनद, वृषभानु आदि वयोवृद्ध गोप सरदारो ने उस समस्या पर विचार--विमर्श किया और अत मे उन्होने यमुना पार के विशाल बीहड वृ दावन की ओर जाने का निश्चय किया। ऐसा निश्चय होने पर उन्होने अपने समस्त सामान को छकड़ो पर लादा और स्त्री, बच्चो तथा गो-समूह को लेकर गोकुल से चल दिये। उस समय श्री कृष्ण की आयु प्राय ४ वर्ष थी और बलराम की ५ वर्ष की। उस समय का गोकुल सभवत वर्तमान महावन के निकट था। वर्तमान गोकुल अब से प्राय चार सौ वर्ष पूर्व गोसाई विट्ठलनाथ जी द्वारा बसाया गया था।

**वृंदाबन का निवास और बाल लीलाएँ**—गोकुल से निष्क्रमण करने वाले गोप समुदाय ने उत्तर दिशा की ओर चल कर और मथुरा नगर की सीमा से पर्याप्त दूर जाने पर यमुना नदी की मुख्य धारा को पार किया। इस प्रकार उन्होने एक ऐसे विशाल और बीहड वन मे प्रवेश किया, जहाँ यमुना कई धाराओ मे प्रवाहित होती थी। वह विशाल वन्य प्रदेश वृ दाबन कहलाता था। उसके एक ओर गोवर्धन की पहाडी थी और दूसरी ओर यमुना की धाराओ से सिंचित कई हरे–भरे मैदान तथा सघन बन थे। वह समस्त प्रदेश सुरक्षा और गायो के चारे–पानी की दृष्टि से अत्यत सुविधाजनक था। उस समय का वृ दाबन वर्तमान नदग्राम, बरसाना और कामबन से लेकर गोवर्धन तक विस्तृत था। वर्तमान वृ दाबन उसी का एक छोटा भाग है, जो अबसे प्राय चार सौ वर्ष पूर्व कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यो द्वारा बसाया गया था।

नदादि गोपो ने वृ दावन स्थित यमुना की एक धारा के तटवर्ती रमणीक क्षेत्र मे अपना डेरा डाला। वहाँ गायो के लिए पर्याप्त हरे-भरे मैदान थे और बनो मे खूब फल-फूल थे। वहाँ से कुछ दूरी पर गोवर्धन पहाडी थी,जो वृक्ष, लता,गुल्म, निर्झर और कदराओ से शोभायमान थी। उसी रम्य स्थल मे गोप समुदाय ने अपनी बस्ती बसा कर रहना आरभ किया था। ऐसा समझा जाता है, पहिले

नदराय जी के डेरे वर्तमान छटीकरा से रार तक पडे थे और वृषभानु जी के वसति गाँव तक थे। वाद मे वे दोनो गोप सरदार वृदावन के उस भाग मे जाकर रहे थे, जिसे अव नदगाँव-वरसाना कहते है। वह नई वस्ती जहाँ आवास, सुरक्षा और चारे-पानी की दृष्टि से सुविधापूर्ण थी, वहाँ जगली हिंसक जीवो तथा नागादि अनार्य जाति के क्रूर लोगो के कारण कुछ असुविधाजनक भी थी। वहाँ सुखपूर्वक रहने के लिए यह आवश्यक था कि उक्त स्थल को उन असुविधाओ से मुक्त किया जाय। उसके लिए कृष्ण-वलराम ने अनेक जगली जीवो से सघर्ष किया था। उसका वर्णन आगे हुआ है।

**वाल—नटखटी**—कृष्ण-वलराम आभीर गोपो के वालक-वालिकाओ के साथ नाना प्रकार के खेल खेलते थे। वे आभीर वालाओ को जहाँ अपनी वाल-क्रीडाओ से आनदित करते थे, वहाँ अपने नटखटपन से उन्हे परेशान भी करते थे, किंतु इसमे भी उन्हे सुख ही मिलता था। कभी-कभी कृष्ण अपने वाल सखाओ को लेकर किसी गोपी के सूने घर मे घुस जाते थे और उसके दधि-माखन को आपस मे वाँट कर खा लेते थे। पकडे जाने पर वे ऐसी भोली वाते वनाते कि वह गोपी अपना रोप भूल कर हँस पडती और उन्हे प्यार से पुचकार कर छोड देती थी। कभी पनघट से पानी भर कर लाती हुई नारियो के घडो को ककडी की मार से तोड कर भाग जाते थे, कभी स्नान करती हुई वालाओ के कपडे छिपा देते थे और कभी गोशालाओ मे जाकर चुपचाप गो-वत्सो को खोल देते थे, जिससे वे गायो का सव दूध पी जाते थे। उन सव वातो से गोप-गोपियो को उन पर क्षणिक रोप भी होता था, किंतु उनकी मधुर मुस्कान और भोली-भाली वातो से वे शीघ्र ही अपना रोप भुला कर उन्हे प्यार करने लगते थे।

**गो—चारण**—कुछ वडे होने पर वे गायो को चराने के लिए जगलो मे ले जाने लगे और वहाँ पर नाना प्रकार के खेल करने लगे। इसी प्रकार के खेल-कूद मे उन्होंने ऐसे अनेक जगली जीवो का सहार किया था, जिन्होने वस्ती के निकटवर्ती वनो मे वडा उत्पात मचा रखा था। उनमे जगली वछडा (वत्सासुर), विशाल वगुला (वकासुर), अजगर (अघासुर), जगली गधा (धेनकासुर), जगली वैल ( अरिष्टासुर ) और एक जगली घोडा ( केशी ) के सहार सवधी घटनाएँ विशेप रूप से उल्लेखनीय है। तव तक कृष्ण-वलराम ८-९ वर्प के हो गये थे। माखन-दूध का प्रचुरता से खान-पान करने और कुश्ती-कसरत तथा वलवर्धक खेल-कूद मे निरतर लगे रहने से उनका शरीर खूब वलिष्ट और हृष्ट-पुष्ट हो गया था। वे अपनी आयु के अन्य वालको की अपेक्षा कही अधिक वलशाली और वयष्क दिखलाई देते थे।

**कालिय नाग का दमन**—कृष्ण—वलराम ने गोप—वस्ती और उसके निकटवर्ती वनो को जगली जीवो के उपद्रव से तो मुक्त कर दिया, किंतु अनार्य जाति के असभ्य नागो का आतक अभी वना हुआ था। मथुरा के यादवो ने उन नागो को पराजित कर वस्ती से भगा दिया था, इसलिए वे यमुना किनारे के वीहड वनो मे छिप कर रहते थे। वे लूट-मार और चोरी आदि कुकृत्य किया करते थे। उन लोगो के कई दल थे और उनके कई सरदार थे। दो—एक नाग सरदारो ने यादवो और गोपो से मित्रता कर ली थी, किंतु अधिकाश उनसे शत्रुता का ही व्यवहार करते थे।

उन नागो का एक सरदार अनत नाग था, जो वसुदेव और नद का मित्र था। उसने कस के कारागार से वालक कृष्ण को नद की गोप वस्ती मे पहुँचाने के कठिन काम मे वडी सहायता की थी। नागो का एक दूसरा सरदार कालिय था, जो दुष्ट प्रकृति का था और गोपो से वडी शत्रुता

रखता था। वह वृंदावन की गोप-वस्ती से कुछ दूर यमुना किनारे के एक निर्जन वन मे अपने परिवार और साथियो के साथ रहता था। उस तरफ जाने वाले गोपो को वह लूट लेता था और उनके पशुओ को छीन लेता था। उसके आतक से किसी को भी उधर जाने का साहस नही होता था। एक वार कृष्ण अपने साथी ग्वाल वालो को लेकर यमुना किनारे के उस वन मे गेद खेलने चले गये, जहाँ कालिय नाग का डेरा था। वहाँ पहुँचने पर उनका कालिय से सघर्ष हो गया। कृष्ण उससे भिड गये और पछाड कर उसके ऊपर चढ वैठे। उन्होने उसे इतना झकझोरा कि उसकी हड्डी-पसली ढीली हो गई। अत मे उसे इस शर्त पर छोडा कि वह अपने परिवार सहित वहाँ से हट कर अन्यत्र चला जावेगा। इस प्रकार कालिय नाग को भगा कर श्री कृष्ण ने वृंदावन की गोप वस्ती को एक वडे सकट से मुक्त कर दिया था।

**चीर हरण**—गोप-वालाएँ जव यमुना-स्नान के लिए जाती थी, तव वे अपने वस्त्र उतार कर किनारे पर रख देती थी और आप नग्न होकर यमुना मे प्रवेश करती थी। उनका वह आचरण श्री कृष्ण को पसद नही आया। उन्होने उनसे मना किया, किंतु उनके कथन पर किसी ने ध्यान नही दिया। एक दिन वे नगी नहाती हुई गोपियो के सभी वस्त्रो लेकर यमुना किनारे के वृक्ष पर चढ गये। जव गोपियाँ स्नान कर चुकी, तव अपने वस्त्रो को वहाँ न देख कर वे वडी हैरान हुई। तभी उन्होने कृष्ण को वस्त्रो के साथ पेड पर वैठे हुए देखा। उन्होने विनय पूर्वक अपने वस्त्र माँगे, किंतु कृष्ण ने उन्हे तभी दिया, जव उनसे नग्न होकर स्नान न करने का वचन ले लिया। इस प्रकार उन्होने गोपियो की उस अशिष्टतापूर्ण आदत को छुडा दिया था।

**गोवर्धन पूजा**—कृष्णकालीन युग मे आर्यो का सर्वप्रधान देवता 'इंद्र' था। वर्षा की समाप्ति और शरद के आगमन पर प्राचीन व्रज प्रदेश के निवासी प्रति वर्ष एक वडे उत्सव का आयोजन करते थे, जो उस राष्ट्रीय देव इंद्र के निमित्त एक यज्ञ के रूप मे होता था। आर्यो के अनुकरण पर वहाँ के गोप समुदाय में भी वह उत्सव प्रचलित हो गया था। उस समय गोपो के घरो मे नाना प्रकार के व्यजन वनते थे और पूजा-सामग्री का सकलन किया जाता था। सभी गोप गण अपने स्त्री-वच्चो सहित नवीन वस्त्राभूपणो से सुसज्जित होकर इंद्र की पूजा वडे उत्साह से करते थे। उनका विश्वास था कि उससे प्रसन्न होकर इंद्रदेव वर्षा द्वारा धन-धान्य की वृद्धि करते है। श्री कृष्ण को गोपो की वह पूजा पसद नही आई। उन्होने वडी युक्तिपूर्वक उसका विरोध किया। उन्होने कहा—"ब्राह्मण मत्र-यज्ञ करते है और कृपक हल-यज्ञ करते हैं। हम न तो ब्राह्मण है और न कृपक, हम वणिक भी नही है, वल्कि वनवासी गोप हैं। हमारे देवता हमारी गाये है और वही हमारी जीविका का आधार है। उनके भरण-पोपण के आधार वन-पर्वत आदि है; जहाँ अपनी गायो को लेकर हम घूमा करते है। इसलिए हमे गोवर्धन स्वरूप पर्वत देवता और धरती माता की पूजा के लिए 'पर्वत-यज्ञ' करना चाहिए[१]।" इंद्र से हमको क्या लेना-देना है। जिस गोवर्धन से हमे दूध, दही, घृत और धन-धान्यपूर्ण समृद्धि प्राप्त होती है, उसी की पूजा करना हमारा कर्त्तव्य है। श्री कृष्ण के उस युक्तिपूर्ण परामर्श के अनुसार समस्त गोपो ने इंद्र-पूजा की परंपरागत प्रथा को समाप्त कर वडे हर्पोल्लास पूर्वक गोवर्धन-पूजा का आयोजन किया था।

---

(१) विष्णु पुराण, (५, १०-२५, ३२, ३३) हरिवंश मे भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।

उस वर्ष सयोग से बडी भारी वर्षा हुई, जिससे समस्त गोप-वस्ती के वह जाने का सकट उपस्थित हो गया था। सब लोग हा-हाकार करने लगे। उन्होने समझा कि इद्र की पूजा न होने से ही यह भीषण विपत्ति आई है। कृष्ण ने सब लोगो को सान्त्वना दी और उन्हे परामर्श दिया कि वे वर्षा और बाढ से बचने के लिए गोवर्धन देव की ही शरण मे जाँय। निदान समस्त गोप–परिवार अपनी गायो को और आवश्यक सामान को लेकर गोवर्धन पहाडी की कदराओ मे रहने के लिए चले गये। वे वहाँ पर तब तक रहे, जब तक वर्षा का वेग शात नही हुआ। इस प्रकार कृष्ण ने गोप-वस्ती को वर्षा और बाढ के सकट से बचा लिया और इद्र के कुपित हो जाने का उनका मिथ्या विश्वास भी दूर कर दिया। ब्रजमडल मे सदा के लिए इद्र की पूजा बद हो गई और उसके स्थान पर गो-गोपो को चारा–घास और अन्न-जल प्रदान करने वाली धरती माता तथा उसके आधार पर्वत स्वरूप गोबर्धन देव का पूजा प्रचलित हुई। उससे ब्रज मे काल्पनिक देवी-देवताओ की अवमानता और प्रत्यक्ष देवता के सन्मान की क्रातिकारी विचार-धारा का उदय और प्रचार हुआ।

**दान**—वृदावन की गोप-वस्ती मे जितना दूध, दही और मक्खन होता था, उसका अधिकाश ब्रज की गोपियो द्वारा मथुरा जाकर बेच दिया जाता था और वह कस तथा उसके अत्याचारी सगी–साथी तथा सेवको के उपभोग मे आता था। कृष्ण ने उस पौष्टिक आहार के निर्यात को रोकने के लिए उस पर भारी कर ( दान ) की घोषणा की। इससे वह समस्त सामग्री मथुरा न जाकर ब्रज की गोप–जनता के उपयोग मे ही आने लगी। उक्त पौष्टिक खाद्य पदार्थो के सेवन से ब्रज के गोपगण खूब हृष्ट–पुष्ट और वलिष्ट हो गये थे। फिर कृष्ण–बलराम ने उन्हे कुश्ती–कसरत, व्यायाम और सैनिक शिक्षा की व्यवस्था द्वारा एक शक्तिशाली गोप-सेना के रूप मे सगठित कर दिया था। इस प्रकार वे कस के अत्याचारो से अपनी रक्षा करने और समय आने पर उससे बदला लेने की तैयारी करने लगे।

**केलि-क्रीडा और रास**—श्री कृष्ण की बाल लीलाओ मे ब्रज की गोप–बालाओ के साथ और अधिकतर सुदरी राधा के साथ उनके बाल सुलभ क्रीडा–कौतुक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वृदावन की गलियाँ, यमुना की कछारे, गिरिराज गोवर्धन की कदराएँ और सघन वनो की रमणीक कुजे उनकी केलि–क्रीडा से रससिक्त हो गई थी। वर्षा ऋतु का अत होने पर जैसे ही शरद ऋतु का आगमन होता कि कृष्ण कालीन ब्रज मे नाना प्रकार के खेल-कूद, आमोद–प्रमोद और उत्सव–समारोहो का आयोजन हुआ करता था। शरद की निर्मल चाँदनी रातो मे गायन, वादन, नृत्य और नाट्य से सबधित सामूहिक कार्यक्रम होते थे। उस समय गोपो के बालक और बालिकाएँ खुले मैदानो तथा वन–उपवनो मे एकत्र होकर नाना प्रकार के राग–रग मे तल्लीन हो जाते थे। ऐसे ही एक रात्रिकालीन सगीत–समारोह का नाम 'रास' था। वह शरद ऋतु मे आश्विन और कार्तिक माह की पूर्णमासी को विशेष समारोह पूर्वक सम्पन्न होता था। वैसे चैत्र और वैशाख की पूर्णमासी को भी रास के आयोजन किये जाते थे, जिन्हे क्रमश 'शरद रास' और 'बसत रास' कहते थे। रास मे गोप–बालाएँ गायन–वादन के साथ नृत्य किया करती थी।

कृष्ण बडे सुदर, स्वस्थ और आकर्षक'बालक थे। वे वशी बजाने और नृत्य करने मे बडे कुशल थे। रास मे जब गोप बालाएँ नृत्य करती थी, तब कभी-कभी कृष्ण भी उसमे सम्मिलित हुआ करते थे। वे वशी बजाते थे और स्वय भी गोप–बालाओ के साथ नृत्य मे भाग लेते थे।

उनके सम्मिलित होने पर रास नृत्य का आनद चौगुना वढ जाता था, इसलिए गोपियाँ कृष्ण के साथ रास करने को सदैव इच्छुक रहा करती थी ।

पुराणो मे गोपियो के साथ कृष्ण के रास करने के वडे सरस वर्णन मिलते है, जिनमे कुछ लोगो को उनकी कामुकता का सदेह होने लगता है । किंतु इस प्रकार का सदेह सर्वथा निरर्थक और निराधार हे । उस समय श्री कृष्ण ११ वर्ष के वालक थे । उस आयु के वालक से काम-क्रीडा अथवा कामुकता की आशका करना हास्यास्पद है । यदि यह मान लिया जाय कि गोपियाँ वासना-पूर्ण विपय सुख की इच्छा से ही कृष्ण के प्रति प्रेरित हुई थीं, तब भी उससे श्री कृष्ण का महत्व वढ जाता है । उन्होंने गोपियो की सकाम वासना को निष्काम प्रेम मे परिवर्तित कर दिया था, जिससे उनके हृदय के कपाट खुल गये थे । उसका यह परिणाम हुआ कि जव श्री कृष्ण मथुरा चले गये, तव भी गोपियाँ उनके निकट न जाकर उनसे दूर रह कर ही निष्काम भक्ति मे लीन रही थी ।

**कस की कूटनीति**—धीरे-धीरे कस और उसकी समस्त प्रजा को यह भली भाँति विदित हो गया कि देवकी–वसुदेव के पुत्र जीवित है और वे कस से निर्भय होकर गोप-वस्ती मे सुखपूर्वक निवास करते है । कस के अत्याचारो से पीडित प्रजा स्वाभाविक रूप से कृष्ण–वलराम के प्रति सहानुभूति रखती थी और उनसे आशा करती थी कि समय आने पर वे अवश्य ही कस से वदला लेंगे । कस भी अपनी प्रजा के उस दृष्टिकोण को समझता था, इसलिए विद्रोह की आशका से वह प्रकट रूप मे कृष्ण–वलराम के विरुद्ध कोई कार्यवाही नही करना चाहता था । वह कूटनीति और छल–कपट से ही अपने शत्रुओ को ठिकाने लगाने का उपाय सोचने लगा ।

कृष्ण–वलराम ने वाल्यावस्था मे ही ऐसे अद्भुत और अलौकिक कृत्य किये थे तथा गोप समुदाय पर उनके इतने उपकार थे कि वे व्रज मे अत्यत लोकप्रिय हो गये थे । व्रज के निवासी स्त्री–पुरुप और वच्चे-वूढे सभी उन्हे प्राणो से भी अधिक प्यारा मानते थे और उन पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे । कस को उनकी वह लोकप्रियता काँटे के समान चुभती थी । वह दिन-रात यही सोचा करता था कि किस प्रकार उन चमत्कारी वालक को समाप्त किया जाय ।

वहुत सोच–विचार के पश्चात् कस ने मथुरा मे एक वृहत् उत्सव के आयोजन करने का विचार किया और उसमे सम्मिलित होने के लिए अपने राज्य के समस्त प्रमुख व्यक्तियो को निमत्रित किया । उसने वह निमत्रण गोपराज नद जी के पास भी भेजा और उनसे आग्रह किया कि वे अपने वालको के साथ उसमे अवश्य सम्मिलित हो । कस के दानाध्यक्ष के पद पर अक्रूर नामक यादव सरदार था, जो अधक–वृष्णि संघ का एक प्रभावशाली नेता भी था । वह वसुदेव, नद और कृष्ण–वलराम का भी सुहृद् और हितैषी समझा जाता था । उत्सव की तिथि के निकट आने पर कस ने अक्रूर को अपना व्यक्तिगत दूत वना कर नदराय जी के पास भेजा, ताकि वह उन्हे और कृष्ण–वलराम को उत्सव मे लिवा लावे । उसने सोचा था कि अक्रूर के साथ आने मे उन्हे कोई सदेह भी नहीं होगा । इधर कस ने गुप्त रूप से ऐसी व्यवस्था की थी कि उत्सव मे आने पर कृष्ण-वलराम जीवित वच कर वापिस ही न जा सके ।

**वृंदावन से प्रस्थान**—कस का सदेश लेकर अक्रूर वृंदावन की ओर चल दिया । वहाँ पहुँचने पर नदराय ने उसका वडा स्वागत–सत्कार किया । जव उत्सव मे जाने का प्रश्न उपस्थित

हुआ, तब नदराय अपने प्रमुख साथियो सहित स्वय जाने को तो प्रस्तुत हो गये, किंतु वे कृष्ण–बलराम को साथ मे ले जाने को राजी नही हुए, क्यो कि वे कस की कुटिल चालो से शकित थे। अक्रूर ने उन्हे समझाया कि कृष्ण–बलराम अब बच्चे नही रहे। उनकी भविष्यत् उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि वे राजकीय आयोजनो मे भाग लिया करे। इसके अतिरिक्त मथुरा जाने पर उन्हे अपने माता–पिता से मिलने का भी सुयोग मिलेगा।

अक्रूर के उक्त कथन पर नदादि वरिष्ठ गोपगण तो किसी प्रकार सहमत हो गये, किंतु कृष्ण–बलराम के साथ क्रीडा करने वाले बालको और बालिकाओ ने उसका बडा विरोध किया। वे अपने बाल–सखाओ को पल भर के लिए भी अपने से दूर नही होने देना चाहते थे। उन्हे ऐसी आशका होने लगी कि मथुरा जाने पर फिर कृष्ण–बलराम का वापिस आना सभव नही होगा। उस आशका से उनके हृदय फटने लगे। ब्रज की गोप–बालिकाएँ और बालक गण आँसू बहाते हुए मथुरा जाने वाले रथो के आगे खडे हो गये। उन्होने मार्ग को रोक कर कृष्ण-बलराम से मथुरा न जाने का साग्रह अनुरोध किया। अक्रूर बडे असमजस मे पड गया। उसकी समझ मे नही आया कि उन प्रेमाकुल ब्रजवासियो को किस प्रकार समझाया जावे। अत मे स्वय कृष्ण ने ही समझा–बुझा कर सबको शात किया। इस प्रकार समस्त गोप-बस्ती को शोक–सागर मे निमग्न कर कृष्ण–बलराम नदादि प्रमुख गोप सरदारो तथा अक्रूर के साथ मथुरा को चल दिये।

**मथुरा-आगमन**—जब कृष्ण–बलराम सहित गोप मडली मथुरा पहुँची, तब सध्या हो गई थी। अक्रूर ने गोपो को ठहराने की समुचित व्यवस्था कर दी और कृष्ण–बलराम को वह अपने घर ले गया। उसने उन लोगो के आगमन की सूचना कस के पास भेज दी, जिसे जान कर वह बडा प्रसन्न हुआ। अब कस कृष्ण–बलराम को युक्तिपूर्वक ठिकाने लगाने का उपक्रम करने लगा। उसने उत्सव भवन के प्रमुख द्वार पर एक मदमस्त हाथी को खडा कर दिया था और अदर मल्लशाला मे बडे-बडे मल्लो को नियुक्त किया था। उसने हाथीवान को गुप्त आदेश दिया कि जैसे ही कृष्ण–बलराम उत्सव भवन मे प्रवेश करे, वैसे ही वह उन पर हाथी पेल कर उनका वध करा दे। कस ने समझा था कि उक्त कार्यवाही एक आकस्मिक दुर्घटना मानी जावेगी और लोगो को कस की नियत पर सदेह नही होगा। यदि किसी प्रकार कृष्ण–बलराम हाथी से बच भी गये, तब अदर मल्लशाला मे मल्लयुद्ध के बहाने उनका प्राणात करा दिया जावेगा।

कृष्ण–बलराम के मथुरा पहुँचने का समाचार सुनते ही नगर निवासियो मे बडी हल-चल मच गई थी। सब लोग उन्हे देखने को उतावले हो उठे थे। उधर कृष्ण–बलराम भी नगर भ्रमण को चल दिये। उन्होने इतना बडा नगर और वहाँ का ऐसा विशाल वैभव पहिले नही देखा था, अत वे बडे मनोयोग पूर्वक वहाँ की प्रत्येक वस्तु को देखने लगे। वे जहाँ भी जाते थे, वही नर-नारियो की दृष्टि उनके शक्तिशाली सु दर स्वरूप पर अटक जाती थी। उन्हे देख कर सब लोगो को आशा हो गई कि अब कस के अत्याचारो से मुक्ति पाने का समय आ गया है। जब कृष्ण-बलराम गोपगण के साथ मथुरा नगर का निरीक्षण कर रहे थे, तब उन्हे कस के राजकीय सेवक–सेविकाओ से मिलने का सुअवसर मिला था। उनमे से जिसने उनके प्रति सद् व्यवहार किया, उसे उन्होने पुरस्कार दिया तथा जिसने अशिष्ट व्यवहार किया, उसे उन्होने निर्भय होकर दड भी दिया। पुरस्कृत सेवक–सेविकाओ मे राजकीय माली और कुब्जा दासी तथा दडित व्यक्तियो मे राजकीय

धोबी के नाम उल्लेखनीय है। धोबी से राजकीय कपडे छीन कर उन्होने गोपो को पहिना दिया तथा माली से पुष्प–मालाएँ लेकर सबने धारण कर ली।

**कुब्जा–मिलन**—कस की एक दासी सुगधित अगराग का पात्र लेकर राज-भवन की ओर जा रही थी। उसकी पीठ पर कूबर था, इसलिए वह कुब्जा कहलाती थी। वह उबटन करने, केश सँभारने और अगराग लगाने की कला मे निपुण थी। श्री कृष्ण ने उससे गोपो को सुगधित लेपन से विभूषित करने को कहा। उसने प्रसन्नता पूर्वक इसे स्वीकार कर लिया। जिस समय वह सुगधित द्रव्य का लेप श्री कृष्ण के सु दर अगो पर कर रही थी, तब उसे काम-विकार सताने लगा। उसने मद हास्य पूर्वक अपनी काम-चेष्टा श्री कृष्ण के प्रति प्रकट की और उन्हे अपने निवास-स्थान पर चलने को कहा! बलराम उसकी अनुचित और अशिष्ट चेष्टा पर अत्यत कुपित हुए, किंतु कृष्ण ने उन्हे यह कहकर शात कर दिया कि यह मद बुद्धि की साधारण दासी है, हमे इसकी अनर्गल बातो की ओर ध्यान न देकर इससे लेपन कराना है। श्री कृष्ण स्वभाव से ही विनोदप्रिय थे। उन्होने विनोदपूर्वक कुब्जा के घर आने की बात स्वीकार कर ली और उससे लेपन करा लिया। कुब्जा–कृष्ण के उस प्रसग को लेकर व्रजभाषा के कवियो को गोपियो की ओर से श्री कृष्ण को उपलभ देने का एक सु दर सुयोग मिल गया था। उन्होने बडे कवित्वपूर्ण ढग से उस प्रसग का कथन किया है, किंतु उनकी कटूक्तियाँ कवि–कल्पना मात्र है, उनमे वास्तविकता का सर्वथा अभाव है।

**हाथी और मल्लो का बध**—दूसरे दिन प्रात काल नदादि गोप गण बडे उत्साह और उमग के साथ उत्सव भवन की ओर चल पडे। वे जैसे ही प्रवेश द्वार के निकट पहुँचे, तो पूर्व योजना के अनुसार महावत ने अकुश लगा कर मस्त हस्ती को कृष्ण–बलराम पर पेल दिया। वह विशालकाय मदाध हाथी सूँड उठा कर बडे वेग से झपटा, किंतु कृष्ण–बलराम ने लपक कर उसके दोनो दाँत पकड लिये और फिर बलपूर्वक उन्हे उखाड डाला! वह मस्त हाथी खून से लथपथ एव पीडा से चिघाडता हुआ भाग दिया, फिर वह कुछ दूर जाकर गिर पडा और मर गया। उस दुर्घटना से उत्सव भवन मे खलबली मच गई। जैसे ही कृष्ण–बलराम ने वहाँ प्रवेश किया, कस के मुष्टिक और चाणूर नामक मल्लो ने उन्हे घेर लिया। वे लोग ताल ठोकते हुए अपने साथ मल्ल–युद्ध करने की उन्हे चुनौती देने लगे। कृष्ण–बलराम चुनौती को स्वीकार करते हुए उन शक्तिशाली भीमकाय मल्लो के साथ युद्ध करने को तैयार हो गये। समस्त उपस्थित जन समुदाय मे भय और आतक छा गया। वे नही समझ सके कि बालक कृष्ण–बलराम उन भीमकाय मल्लो से किस प्रकार सफलता पूर्वक युद्ध कर सकेंगे। उपस्थित लोग डरते हुए आपस मे काना-फूसी कर रहे थे कि कृष्ण और बलराम ने कस के शक्तिशाली मल्लो को पछाड दिया! उन्होने ऐसे जोर से उनको भूमि पर दे पटका कि उनके प्राण-पखेरू उड गये।

**कस–बध**—कृष्ण बलराम के वे चमत्कारिक कृत्य देख कर कस के क्रोध का पारावार फूट पडा। उसने अपने सैनिको को आदेश दिया कि वे समस्त गोपो को गिरफ्तार कर ले और कृष्ण–बलराम को पकड कर मार डाले। कंस के सैनिक उन पर प्रहार करे, उससे पहिले ही कृष्ण ने कस पर आक्रमण कर दिया। उन्होने उसे सिंहासन से भूमि पर खीच लिया और मार डाला। गोपगण कस के सैनिको का सफाया करने लगे। मथुरा की अधिकाश जनता ने विद्रोह कर कृष्ण का साथ दिया था। उस सघर्ष मे कस के साथी या तो मारे गये, या मथुरा छोड कर भाग गये। मृत्यु के समय कस की आयु ३५ वर्ष की थी। उसके उपरात कृष्ण–बलराम कस के कारागार को

गये, जहाँ उन्होने अपने माता–पिता देवकी–वसुदेव को तथा नाना उग्रसेन को वधनमुक्त किया। अपने शक्तिशाली पुत्रो की मनोहर छवि देख कर देवकी–वसुदेव पुलकित हो गये। उन्होने गद्‌गद् कठ मे आशीर्वाद देते हुए अपने पुत्रो को छाती से लगा लिया।

इस प्रकार श्री कृष्ण ने कस के स्वेच्छाचारी राजतत्र को समाप्त कर शूरसेन प्रदेश मे फिर से जन तत्र की स्थापना की। मथुरा नगर और शूरसेन प्रदेश के प्रमुख नेता कृष्ण को अपना गण-प्रमुख बनाना चाहते थे, किंतु वे उस गौरवशाली पद को स्वीकार करने के लिए तैयार नही हुए। उन्होने वयोवृद्ध उग्रसेन को ही पुन गण–प्रमुख बनवाया और पूर्व पद्धति के अनुसार ही सघीय गण राज्य के सचालन की व्यवस्था का सुझाव दिया।

**गोपो की विदा**—यह सब होने के बाद नदादि गोप गण जब मथुरा मे व्रज की गोप–बस्ती मे जाने को तैयार हुए, तब कृष्ण–बलराम उनके साथ वापिस नही जा सके। उन्हे शूरसेन प्रदेश की अनेक राजनैतिक समस्याओ का समाधान करना था और साथ ही अपने उन चिर दुखी माता–पिता के प्रति भी कर्त्तव्य का पालन करना था, जो उनके जन्म से ही उनका वियोग सहन कर रहे थे। कृष्ण–बलराम ने नदादि गोपो तथा बाल सघाती गोप–कुमारो के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की, क्यो कि उन्होने सदैव ही उन्हे अपना असीम स्नेह प्रदान किया था। समस्त गोप समुदाय कृष्ण–बलराम को छोड कर वापिस जाना नही चाहते थे, किंतु परिस्थिति वश वे वैसा करने को विवश थे। कृष्ण–बलराम ने बडे आदर पूर्वक उन्हे नाना प्रकार की भेंट दी और सजल नेत्रो से उन्हे विदा किया। गोप गण भी आँसू बहाते हुए अपने घरो को लौट दिये। उनके साथ विविध भाँति की बहुमूल्य भेट से लदे हुए वाहन चल रहे थे, किंतु उनको ऐसा लग रहा था कि वे अपना सर्वस्व लुटा कर खाली हाथो मथुरा से लौट रहे है।

इस प्रकार कृष्ण के आरंभिक जीवन का एक प्रमुख अध्याय समाप्त हुआ। व्रज की बाल–लीलाओ तथा गोप–बालको और गोप-बालिको के साथ नाना प्रकार की कमनीय क्रीडाओ से परिपूर्ण व्रज के लोक-जीवन से प्रथक होकर अब वे मथुरा के सघर्षपूर्ण राजकीय जीवन से सबद्ध हुए थे।

**मथुरा का सघर्षपूर्ण जीवन**—गोकुल-वृदावन की गोप-बस्तियो मे कस के आतक वश अज्ञात जीवन व्यतीत करने के कारण कृष्ण-बलराम को राजपुत्रोचित शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने का सुयोग नही मिला था। व्रज के एकात वन्य प्रदेश के निवास और कस कृत उत्पातो के प्रतिकार की चिता के कारण उसकी सभावना भी नही थी, फिर भी अपनी जन्मजात प्रतिभा और अलौकिक मेधा के कारण अपर्याप्त साधन और विषम परिस्थिति मे भी वे सहज ही कतिपय विद्याओ एव कलाओ मे दक्ष हो गये थे। उनके मथुरा आने पर वसुदेव जी ने सर्वप्रथम उनका कुलोचित सस्कार कराने की व्यवस्था की थी। उन्होने अपने कुल-पुरोहित गर्गाचार्य से कृष्ण-बलराम का यज्ञोपवीत कराया, फिर उन्हे सादीपनि ऋषि के उज्जयिनी स्थित गुरुकुल मे शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेज दिया, जहाँ पर उन्होने वेद-वेदागो और विविध कलाओ के गहन अध्ययन के साथ ही साथ धनुर्विद्या की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। उसके अनतर उन्होने महर्षि अगिरा के पुत्र घोर आगिरस ऋषि से योग और अध्यात्म का भी समुचित ज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार वे अद्वितीय योद्धा होने के साथ ही साथ समस्त विद्याओ और कलाओ मे निष्णात, वेद-वेदागो मे पारगत तथा योगीश्वर एव महाज्ञानी महापुरुष के रूप मे प्रसिद्ध हुए।

**जरासंध से युद्ध**—कस की मृत्यु के अनतर उसकी दोनो रानियाँ, जो मगध के शक्तिशाली सम्राट जरासध की पुत्रियाँ थी, अपने पितृालय चली गई, वहाँ उन्होने रो-रो कर अपने दुर्भाग्य की कथा अपने पिता को सुनाई थी। जरासध का उस पर शोकाकुल और क्रोधित होना स्वाभाविक ही था। उसने अपनी पुत्रियो को सान्त्वना दी और कृष्ण से उसका शीघ्र बदला लेने का आश्वासन दिया। फलत उसने अपनी विशाल सेना के साथ शूरसेन जनपद पर आक्रमण कर दिया। जब उग्रसेन प्रभृति यादव सरदारो को अपने गुप्तचरो से जरासध के अभियान का समाचार मिला, तब वे भी प्रतिरक्षा का उपाय करने लगे। उन्होने प्रतिरोध का नेतृत्व करने के लिए कृष्ण-बलराम को सादीपनि ऋषि के गुरुकुल से बुला लिया था।

जरासध की अपार सेना ने मथुरा नगर को चारो ओर से घेर कर उस पर प्रबल वेग से आक्रमण कर दिया। मागधी सेना की तुलना मे यादव सेना नितात अपर्याप्त थी, किंतु कृष्ण–बलराम के कुशल नेतृत्व मे उसने बडी वीरता पूर्वक प्रतिरोध किया था। जरासध २७ दिनो तक मथुरा का घेरा डाले पडा रहा। उसने कई बार दुर्ग मे प्रवेश करने चेष्टा की, किंतु उसे सफलता प्राप्त नही हुई। खाद्य सामग्री समाप्तप्राय होने और यादवो की छापामार रण-नीति के कारण नई रसद की प्राप्ति मे कठिनाई उपस्थित हो जाने से जरासध को विफल मनोरथ ही मगध वापिस जाना पडा। पुराणो से ज्ञात होता है कि जरासंध ने अठारह बार मथुरा पर आक्रमण किया था[१]। वर्षा ऋतु के अनतर वह प्रति वर्ष नई सेना लेकर मथुरा पर चढाई करता था, किंतु हर बार उसे निराश होकर वापिस लौटना पडता था।

इस प्रकार सत्तरह बार विफल होने पर उसने अठारहवी बार बडी भारी तैयारी के साथ आक्रमण किया। उस बार उसने कई अन्य राजाओ को भी अपनी सहायता के लिए बुलाया था। ऐसे सहायको मे एक कालयवन भी था, जो अपनी बहुसख्यक अनार्य सेना के साथ जरासध की सहायता के लिए आया था। 'हरिवश' मे लिखा है, कालयवन यादवो के पुरोहित गर्ग मुनि का मानस पुत्र था। एक बार कस ने गर्ग जी का बडा अपमान किया, जिससे क्षुब्ध होकर उन्होने शिव जी से एक ऐसे पुत्र का वरदान माँगा, जो यादवो का सहार कर सके। उसी के फल स्वरूप कालयवन की उत्पत्ति हुई थी[२]। उस अभियान मे एक ओर से जरासध और उसके साथी राजाओ की अपार सेनाओ ने तथा दूसरी ओर से कालयवन के दुर्दात सैनिको ने मथुरा की यादव सेना पर भीषण आक्रमण किया था।

**मथुरा से निष्क्रमण**—जरासध के साथ होने वाले पिछले युद्धो मे यद्यपि यादवो की विजय हुई थी, तथापि उनके जन और धन की अपरिमित हानि भी हुई थी। शूरसेन गण राज्य के अनेक प्रसिद्ध वीर उन युद्धो मे काम आ चुके थे। फिर निरतर युद्धो के कारण कृषि करना कठिन हो गया था तथा उद्योग–व्यापार चौपट हो गये थे। इस बार का आक्रमण पिछले सभी

---

(१) **दश चाष्टौ च सग्रामानेवमत्यन्त दुर्मद । यदुभिर्मागधो राजा चक्रे कृष्ण पुरोगमैः ॥**
अर्थात्—**अत्यंत दुर्धर्ष मगधराज जरासंध ने कृष्णादि यादवो से १८ बार युद्ध किया था।**
( विष्णु पुराण, ५–२२–११ )

(२) **हरिवश,** ( अध्याय १४ )

आक्रमणो से भीपण था, क्यो कि उसमे जरासध के साथ ही साथ कालयवन की सेना से भी मोर्चा लेना था। उस स्थिति मे यादवो की अल्पसख्यक और साथ ही साथ थकी हुई सेना के लिए सफलतापूर्वक प्रतिरोध करना सभव नही था।

उस सकटपूर्ण विपम परिस्थिति से त्राण पाने का उपाय सोचने के लिए शूरसेन गण-राज्य के सभी यादव वर्गो के प्रमुख नेता एकत्र हुए। उनमे से अधिकाश ने जहाँ साहसपूर्वक प्रतिरक्षा करने के उपाय सुझाये, वहाँ कुछ लोगो ने इसके लिए कृष्ण पर आक्षेप भी किया। उनका कहना था कि जरासध का कृष्ण से व्यक्तिगत द्वेप है और वह तब तक शात नही होगा, जब तक कृष्ण मथुरा मे रहेगे। यादवो के अल्पसख्यक वर्ग की उक्त भावना और समस्त जनपद की जनता के कल्याणार्थ कृष्ण ने यह सुझाव उपस्थित किया कि वे मथुरा छोड कर अन्यत्र जाने को तैयार है। कृष्ण का उक्त कथन सुन कर सब लोग बडे दुखी हुए, किंतु उस समय की परिस्थिति मे वही वाछनीय समझा गया। फलत उग्रसेन, वसुदेव, बलराम, अक्रूर, आहुक और उद्धव प्रभृति अधक-वृष्णि सघ के अनेक नेता गण अपने-अपने वर्गो को लेकर कृष्ण के साथ अपनी जन्म-भूमि का परित्याग करने को उद्यत हो गये। अब उनके समक्ष यह समस्या थी कि मथुरा छोड कर कहाँ जावे। काफी विचार-विमर्श के पश्चात् यह निश्चय हुआ कि द्वारकापुरी जाना उचित होगा। वह नगरी एक ओर समुद्र और दूसरी ओर रैवत पर्वत से सुरक्षित है तथा मथुरा से पर्याप्त दूर होने के कारण जरासध की पहुँच के बाहर भी है। फिर वह यादवो का प्राचीन केन्द्र है, जहाँ कई यादव वश पहिले से ही निवास करते है।

इस प्रकार कुछ थोडे से कुकुर और भोजवशियो को छोड कर शौरसेनी यादवो की बहु-सख्यक सेना तथा अधक-वृष्णि सघ की अधिकाश जनता योजनाबद्ध रूप मे मथुरा से निष्क्रमण कर सुदूर पश्चिम के यादव राज्य द्वारका की ओर चल पडी। फलत पूर्व की दिशा से आने वाली अपार मागधी सेना से तो यादवो का सघर्ष टल गया, किंतु कालयवन की सेना से फिर भी उनका सामना हो गया। कृष्ण ने युक्तिपूर्वक प्राय सभी यादवो को द्वारका की ओर भेज दिया और आप अपने कुछ थोडे से साथियो के साथ कालयवन से निबटने को रह गये। कृष्ण और उनके साथी छापामार युद्ध कला मे अत्यत प्रवीण थे। वे कालयवन की बहुसख्यक सेना से लुक-छिप कर युद्ध भी करते जाते थे और द्वारका की ओर भागते भी जाते थे। कालयवन अपनी विशाल सेना सहित उनका पीछा करता रहा। इस प्रकार श्री कृष्ण लडते और भागते हुए कालयवन को उस स्थान की ओर ले गये, जहाँ सूर्यवश के प्रतापी महाराज मुचकुद विश्राम कर रहे थे[1]। कृष्ण ने कूटनीति पूर्वक मुचकुद द्वारा कालयवन का सहार करा दिया और आप अपने साथियो सहित कुशलपूर्वक द्वारका पहुँच गये।

---

(१) राजस्थान का 'मुचकुद तीर्थ' सभवत. उसी प्राचीन घटना की स्मृति मे प्रसिद्ध हुआ है। यह कुड धौलपुर के पश्चिमी भाग मे नगर से दो मील दूर है। इसके चारो ओर भवन बने हुए है। वहाँ पर एक घाट 'कालिदास घाट' के नाम से प्रसिद्ध है। उसके विषय मे कहा जाता है कि जब महाकवि कालिदास भारत-भ्रमण करते हुए वहाँ पहुँचे थे, तब उन्होने उसी घाट पर स्नान किया था। (ब्रज-भारती, वर्ष १३, अक २ देखिये)

**जरासंध के आक्रमण के उपरांत मथुरा की स्थिति**—अधिकाश यादवो के निष्क्रमण के उपरात मथुरा मे कुकुर-भोजवशीय जो थोडे से यादव रह गये थे, उन्होने जरासध का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। शूरसेन प्रदेश तव मगध साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया गया। जरासध के शासन मे मथुरा की क्या स्थिति थी और उस पर मगध सम्राट की ओर से कौन शासन करता था, इसका प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नही है। जैन आगम 'ज्ञातासूत्र' मे द्रोपदी स्वयवर का उल्लेख किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि द्रुपद राजा ने जिन विविध राज्यो के नरेशो को निमत्रण भेजा था, उनमे मथुरा का राजा 'धर' भी था[1]। वह धर राजा सभवत जरासध की ओर से मथुरा पर शासन करता होगा।

महाभारत से ज्ञात होता है कि युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ होने से पहिले ही कृष्ण ने युक्तिपूर्वक भीमसेन से जरासध का वध करा दिया था और उसके पुत्र सहदेव से सधि कर उसे मगध का अधिपति वनाया था। इससे अनुमान होता है, शूरसेन जनपद पर अधिक काल तक मगध का आधिपत्य नही रहा होगा। वह कौरव-पाडवो का मित्र राज्य था और वहाँ के यादवो तथा आभीरो की सेना ने महाभारत युद्ध मे दुर्योधन की सहायता की थी। उनका नेता यदुवशी कृतवर्मा था।

**द्वारका का राजकीय जीवन**—शूरसेन जनपद से यादवो के आ जाने के कारण द्वारका के उस छोटे से राज्य की वडी उन्नति हुई थी। वहाँ पर दुर्भेद्य दुर्ग और विशाल नगर का निर्माण कराया गया और उसे अधक-वृष्णि सघ के एक शक्तिशाली यादव राज्य के रूप मे सगठित किया गया। भारत के समुद्री तट का वह सुदृढ राज्य विदेशी अनार्यो के आक्रमण के लिए देश का एक सजग प्रहरी भी बन गया था। गुजराती भाषा मे 'द्वार' का अर्थ बदरगाह है। इस प्रकार द्वारका या द्वारावती का अर्थ हुआ 'वदरगाहो की नगरी'। उन वदरगाहो से यादवो ने सुदूर समुद्र की यात्रा कर विपुल सपत्ति अर्जित की थी। द्वारका के उस नव निर्मित सघ राज्य के प्रमुख नेता कृष्ण थे, किंतु राज-प्रमुख का पद वयोवृद्ध उग्रसेन को दिया गया था। वह राज्य अत्यत शक्तिशाली और वैभवपूर्ण था। हरिवश ( २-५८-६५ ) मे लिखा है—"द्वारका मे निर्धन, भाग्यहीन, निर्बल तन और मलीन मन का कोई भी व्यक्ति न था[2]।"

द्वारका मे स्थायी रूप से निवास करने के अनतर वलराम और कृष्ण के अनेक विवाह हुए थे। वलराम का विवाह आनर्त वंशीय रेवत यादव की पुत्री रेवती के साथ और कृष्ण का विवाह कुडनपुर की राजकुमारी रुक्मिणी के साथ हुआ था। वलराम की छोटी वहिन सुभद्रा पाडव वीर अर्जुन को विवाही थी।

**श्री कृष्ण की रानियाँ और उनका वंश**—श्री कृष्ण की अनेक रानियाँ थी, जिनमे रुक्मिणी पटरानी थी। अन्य रानियो मे से कुछ के नाम सत्यभामा, जाम्ववती, कालिदी, मित्रविंदा, सत्या और लक्ष्मणा थे। पुराणो मे श्री कृष्ण की १०८ अथवा १६१०८ रानियाँ और ८

---

(१) प्राचीन जैन ग्रथो में कृष्ण-चरित्र, ( पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृष्ठ ७०७ )

(२) ना धनोविद्यते तत्र क्षीण भाग्योदपि वा नरः।
कृशो वा मलिनोवापि द्वारवत्यां कथंचन ॥

पटरानियो का उल्लेख मिलता है। १६१०८ रानियो की अनुश्रुति हास्यास्पद अथवा कवि-कल्पना जान पडती है, किंतु उक्त कथन का एक पौराणिक आधार भी है। श्री कृष्ण ने असम के जिस अत्याचारी राजा भौमासुर अथवा नरकासुर का वध किया था, उसके कारागार मे १६००० राज-कन्याएँ कैद थी। श्री कृष्ण ने उन्हे बधनमुक्त करते हुए उनसे अपने-अपने राज्यो को वापिस जाने के लिए कहा। उन कन्याओ ने श्री कृष्ण से निवेदन किया कि उनके माता-पिता कदाचित उन्हे स्वीकार नही करेगे और उनसे विवाह करने मे कुलीन राजाओ को सकोच होगा। ऐसी स्थिति मे आप या तो उन सब का वध कर दीजिये या उन्हे स्वीकार कीजिये। उन कन्याओ ने श्री कृष्ण के सन्मुख रुदन और विलाप करते हुए ऐसा कुहराम मचाया कि वे वडे धर्म सकट मे पड गये। अत मे श्री कृष्ण उन्हे स्वीकार करने को विवश हुए थे और रानियो की उस वडी भीड से उन्हे द्वारका के अत पुर को भरना पडा था।

श्री कृष्ण के अनेक पुत्र और पुत्रियाँ हुई थी। पुत्रो मे सवसे वडा रुक्मिणी पुत्र प्रद्युम्न था, जो अत्यत रूपवान होने से कामदेव का अवतार माना जाता था। प्रद्युम्न के पुत्र का नाम अनिरुद्ध था। उसका विवाह शोणितपुर के असुर राजा वाण की सु दरी और गुणवती पुत्री उपा के साथ हुआ था। पुराणो मे लिखा है, उपा ने स्वप्न मे एक अत्यत सु दर राजकुमार को देखा था और उस पर वह मोहित हो गई थी। उसने प्रण किया कि वह उसी राजकुमार से विवाह करेगी। किंतु जव तक स्वप्न मे देखे हुए उस राजकुमार के नाम-धाम का पता न हो, तब तक उससे किस प्रकार विवाह किया जा सकता था। उपा की एक कलाकोविदा सखी का नाम चित्रलेखा था। वह चित्र कला मे इतनी निपुण थी कि किसी भी देखे हुए व्यक्ति का वह चाहे जव चित्र वना सकती थी। चित्रलेखा ने उस काल के सभी प्रमुख राजकुमारो के चित्र वना कर उपा को दिखलाये। उनमे से एक को पहिचान कर उपा ने कहा कि उसे ही उसने स्वप्न मे देखा है। चित्रलेखा ने वतलाया कि वह द्वारका के अधिपति श्री कृष्ण का पौत्र अनिरुद्ध है। उपा ने चित्रलेखा से आग्रह किया कि वह किसी तरह अनिरुद्ध को उससे मिला दे। चित्रलेखा ऐसी विद्या जानती थी कि वह द्वारका के राजमहल मे अदृश्य रूप से पहुँच गई और सोते हुए अनिरुद्ध का अपहरण कर उसे उपा के पास ले गई। वहाँ पर उपा-अनिरुद्ध का गुप्त रूप से विवाह हो गया। जव उपा के पिता वाण को उसका पता चला, तो उसने अनिरुद्ध को कारागार मे डाल दिया। उधर अनिरुद्ध के अकस्मात गायव हो जाने से द्वारका मे वडा हाहाकार मचा हुआ था। उसे ढू ढने को अनेक दूत त्रिविध स्थानो मे भेजे जा रहे थे। वहुत खोज-ढू ढ करने पर पता चला कि अनिरुद्ध शोणितपुर के राजा वाणासुर के कारागार मे है। श्री कृष्ण ने शोणितपुर पर आक्रमण कर वाणासुर को पराजित किया और अनिरुद्ध के साथ उपा को लेकर द्वारका वापिस आ गये। मार्ग मे उन्होने वरुण को पराजित कर उसकी दुधारू गायो को भी प्राप्त किया था।

शोणितपुर कहाँ था, इसके विषय मे कई मत प्रचलित हैं। कुछ विद्वान उसे वदरी-केदार मार्ग पर स्थित रुद्रप्रयाग के उत्तर मे ऊपीमठ के निकट मानते है। अन्य विद्वान उसकी स्थिति भारत के जिन दूसरे स्थानो मे वतलाते है, उनमे वृहत्तर ब्रज क्षेत्र स्थित वयाना भी है, जिसे महाभारत मे 'श्रीप्रस्थ' कहा गया है। वहाँ का उपा मदिर उसी स्मृति मे निर्मित हुआ जान पडता है। ऐसा कहा जाता है, कृष्ण और वाणासुर के युद्ध मे जो प्रचुर रक्त-पात हुआ था, उसी के कारण उस स्थान को 'शोणितपुर' कहा जाने लगा था। श्री अमृतवसत पड्या का मत है कि शोणितपुर

भारतीय सीमा से कई सहस्र मील दूर मिस्र देश के निकट असीरिया ( वर्तमान इराक ) मे थी[1]।
बाणासुर वहाँ का अनार्य राजा था और उषा उसकी अत्यंत रूपवती एवं गुणवती कन्या थी।
उसकी राजधानी निनेवा मे थी। बाणासुर का मंत्री कुमांड था, जिसकी पुत्री रमा का विवाह
कृष्ण के छोटे पुत्र साव के साथ हुआ था। बाणासुर के पश्चात् असीरिया का शासन-सूत्र कुमांड ने
सँभाला था। कुमांड के कोई पुत्र नही था, अतः उसकी मृत्यु के अनंतर असीरिया की गद्दी पर
कृष्ण-पुत्र साव बैठा था[2]। असीरिया और भारतवर्ष के बीच मे वरुण की राजधानी 'सुसा' थी,
जो दक्षिणी इराक का एक नगर है।

**पांडव-कौरव**—कुरु जनपद के राजा का नाम पांडु था, जिसके साथ कृष्ण की भूआ
कुंती का विवाह हुआ था। पांडु की दूसरी रानी माद्री थी, जो भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के
मद्र देश की राजकुमारी थी। उन दोनों रानियों से पांडु के ५ पुत्र हुए थे, जिनके नाम १. युधिष्ठिर,
२. भीमसेन, ३ अर्जुन, ४. नकुल और ५ सहदेव थे। वे पाँचो भाई पांडव कहलाते हैं। पांडु
के बड़े भाई का नाम धृतराष्ट्र था, जो अंधा होने के कारण राज्य का अधिकारी नही समझा गया।
फलत: पांडु को ही कुरु प्रदेश का राजा बनाया गया था। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे, जो कौरवों के
नाम से प्रसिद्ध है। उनमें सबसे बड़ा दुर्योधन था।

राजा पांडु की अकाल मृत्यु हो गई थी। उस समय पांडव गण वयस्क नही थे। उनके
संरक्षण और राज्य-शासन के संचालन का दायित्व पांडु के अंधे भाई धृतराष्ट्र को इस शर्त के साथ
सौंपा गया था कि ज्येष्ठ पांडव युधिष्ठिर के वयस्क होने पर वह उसे कुरु राज्य का अधिपति बना
देगा। धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन आरंभ से ही पांडवों से ईर्ष्या करता था। उसने अपने पिता
पर इस बात का दबाव डाला कि युधिष्ठिर को उसके पिता का राज्याधिकार नही दिया जाय और
उसके स्थान पर दुर्योधन को युवराज घोषित किया जाय। धृतराष्ट्र अपने पुत्र की हठ के कारण
विवश था और उस समय के राज-दरबारी तथा विशिष्ट व्यक्ति भी परिस्थिति वश मौन थे। फलत
धृतराष्ट्र की विद्यमानता मे ही दुर्योधन ने राज्य के शासन-सूत्र सँभाल लिये थे।

दुर्योधन और उसके बंधु-बांधवादि कौरव गण बड़े प्रबल थे। उन्होने धृतराष्ट्र को अपने
हाथ की कठपुतली बना रखा था। वे नाना प्रकार के अत्याचारों द्वारा पांडवों को सताने लगे और
उनके सर्वनाश की चेष्टा करने लगे। दुर्योधन ने अपने इष्ट मित्रों की सहायता से कई बार पांडवों
को गुप्त रीति से मार डालने की चेष्टा की थी, किंतु राज्य के कतिपय न्यायप्रिय नेताओं के कारण
उसका कुचक्र सफल नहीं हो सका था। अंत मे उसने एक प्रपंची जुएबाज शकुनी के सहयोग से
द्यूत-क्रीड़ा के छल द्वारा पांडवों का सर्वस्व छीन लिया और उनकी पत्नी तथा वृद्धा माता सहित
राज्य से बाहर जाने के लिए उन्हे बाध्य किया।

कृष्ण उस समय द्वारका के वैभवशाली राज्य के प्रमुख नेता थे। उनकी वीरता, बुद्धि-
मत्ता और विद्वत्ता की देशव्यापी ख्याति थी। उनसे कौरवों का वह अन्याय नहीं देखा गया। फिर
पांडव तो उनकी भूआ के पुत्र होने के कारण निकट संबंधी भी थे। उन्होंने पांडवों का पक्ष लिया
और उन्हें उनका न्यायोचित राज्याधिकार वापिस दिलाने का पूरा प्रयत्न किया। वे धृतराष्ट्र के

---

(१) 'श्री कृष्ण का असीरिया पर आक्रमण', ( ब्रज भारती, वर्ष १०, अंक ४ )
(२) वही ( ,, ,, ,, )

दरवार मे भी उपस्थित हुए और उनमे पाडवो के साथ न्याय करने के लिए जोरदार शब्दो मे आग्रह किया। धृतराष्ट्र उसके लिए कुछ तैयार भी था, किन्तु वह अपने दुष्ट पुत्रो के दुराग्रह के कारण कुछ नही कर सका। इस प्रकार कौरवो की हठधर्मी से कृष्ण का प्रयत्न सफल नही हो सका था।

**महाभारत का भीषण युद्ध और उसका दुष्परिणाम**—पाडवो को अपने स्वत्व की रक्षा और न्यायोचित अधिकार की प्राप्ति के लिए तब युद्ध के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं रह गया था। निदान युद्ध की घोषणा की गई और दोनो पक्षो द्वारा उसकी तैयारी का बडा भारी आयोजन किया गया। उस युद्ध का मूल कारण तो एक राजवश का पारिवारिक झगडा था, किन्तु वह इतना बढ गया कि उसने देशव्यापी महायुद्ध का वृहत् रूप धारण कर लिया था। उसमे भारत के समस्त राजाओ के अतिरिक्त सीमात के कतिपय विदेशी राजाओ ने भी इच्छा अथवा अनिच्छा से भाग लिया था। सभी राजा गण अपनी असख्य सेनाओ के साथ दो विरोधी शिविरो मे विभाजित होकर युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गये थे।

कौरवो के शासनारूढ होने के कारण समस्त कुरु राज्य के प्रभूत साधन जैसे विपुल सेना, कोष और शस्त्रागार आदि दुर्योधन को सहज सुलभ थे। उसके पक्षपाती राजाओ की सख्या भी अधिक थी। पाडवो के राज्यच्युत होने से उनके साधन अपर्याप्त थे। उनका साथ कतिपय न्यायप्रिय राजाओ ने ही दिया था। उनके सबसे प्रमुख साथी कृष्ण थे, किंतु उन्होंने अकेले और निरस्त्र रह कर ही युद्ध मे सम्मिलित होने का निश्चय किया था। द्वारका के प्राय सभी सामत-सरदार, यहाँ तक कि श्री कृष्ण के बडे भाई बलराम ने भी पाडवो का साथ नहीं दिया था। वहाँ के सामत-सरदार तो अपनी सेनाओ के साथ कौरवो के पक्ष मे लडे भी थे, किन्तु बलराम अपने अनुज कृष्ण के कारण तटस्थ रहे थे। इस प्रकार कौरवो का सैन्य बल पाडवो की अपेक्षा बहुत अधिक था। भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा जैसे महारथियो ने कौरवो के पक्ष मे युद्ध किया था।

महाभारत का वह भयकर सग्राम केवल १८ दिनो तक चला था, किंतु उस काल की समुन्नत युद्ध कला और अत्यत परिष्कृत अस्त्र-शस्त्रो के कारण उस अल्प काल मे ही जैसा भीषण जन-सहार हुआ, वैसा इतिहास मे दूसरा नही मिलता है। दोनो पक्षो के बहुसख्यक राजा गण अपनी असख्य सेनाओ के साथ उस महा विनाश की बलि-वेदी पर जूझ मरे थे। श्री कृष्ण के अपूर्व बुद्धि-बल और अद्भुत रण-कौशल से शक्तिशाली कौरवो की पराजय के साथ उनका सर्वनाश हो गया था। उसमे विजय पाडवो की हुई थी, किंतु उन्हे भी अपने सर्वस्व की आहुति देनी पडी थी। उस युद्ध का भयानक दुष्परिणाम समस्त भारतवर्ष को भोगना पडा। उस काल मे देश ने ज्ञान-विज्ञान की जो अनुपम उन्नति की थी और जो अभूतपूर्व भौतिक समृद्धि प्राप्त की थी, वह सब उस महायुद्ध की भीषण ज्वाला मे जल कर भस्म हो गई। उस समय यह देश अवनति के ऐसे गहरे गर्त गिर गया कि जहाँ से कई शताब्दियो तक उसका उद्धार नही हो सका था।

**कृष्ण का अंतिम काल और यादवो की दुर्दशा**—महाभारत के अनतर युधिष्ठिर को राज्यासीन कर कृष्ण द्वारका चले गये। उस महायुद्ध का कुफल द्वारका को भी भोगना पडा था। वहाँ के अनेक वीर और गुणी महापुरुषो की उस युद्ध मे मृत्यु हो चुकी थी। जो यादव द्वारका मे शेष रहे थे, उनमे से अधिकाश दुर्व्यसनी और अनाचारी थे। कृष्ण-बलराम तब तक वृद्ध हो गये थे और द्वारका के मदाध यादवो पर उनका प्रभाव भी अधिक नही रहा था। वहाँ के समुद्र और

रेवत पर्वत के बीच मे स्थित प्रभास क्षेत्र मे पिंडारक नामक एक तीर्थ था, जहाँ स्नान और आमोद-प्रमोद के लिए यादवगण प्राय जाया करते थे। एक बार उसी स्थल पर उन्होंने एक वृहत् उत्सव का आयोजन किया, जिसमे समस्त द्वारकावासी सामूहिक रूप मे सम्मिलित हुए थे। वहाँ पर सबने स्नान-क्रीडा, आमोद-प्रमोद और नृत्य-गान किया। फिर मदिरा-पान करने के कारण सब लोग परस्पर पर वाद-विवाद, कहन-सुनन और लडाई-झगडा करने लगे। दुर्दैव से वे उस समय ऐसे मदांध हो गये थे कि सब लोग आपस मे ही लड कर मर गये। इस प्रकार कौरव-पांडवो के गृह-युद्ध मे से जो यादव बच रहे थे, वे प्रभास क्षेत्र के उस गृह-कलह मे समाप्त हो गये। वहाँ से बच कर आने वालो मे कृष्ण, बलराम और दारुक सारथी थे तथा द्वारका मे उग्रसेन, वसुदेव और कुछ स्त्री-बच्चे शेष रहे थे। प्रभास क्षेत्र की उस विनाश-लीला के उपरांत बलराम ने दुखी होकर शरीर छोड दिया। ऐसे भी उल्लेख मिलते है कि वे अत्यंत क्षुब्ध होकर समुद्र-यात्रा को चले गये थे, जहाँ से फिर लौट कर वे नही आये और न उनका कोई समाचार ही मिला। कृष्ण भारी मन से अपने सारथी दारुक के साथ द्वारका गये। वहाँ पहुँचने पर उन्होसे दारुक को रथ लेकर हस्तिनापुर जाने का आदेश दिया और कहा कि वह द्वारका के समाचार अर्जुन को सुना कर उसे तत्काल यहाँ ले आवे, ताकि वह यदुवंशियो मे बचे हुए वृद्ध जनो और स्त्री-बच्चो को अपने साथ ले जाय।

**श्री कृष्ण का तिरोधान**—अंतत श्री कृष्ण अपने तिरोधान का समय निकट जान कर एकांत वन मे एक पीपल के वृक्ष के नीचे समाधिस्थ हो गये। ऐसा कहा जाता है कि जब वे समाधि अवस्था मे थे, तब 'जरा' नामक व्याध ने हरिण के धोखे मे उन पर बाण का घातक प्रहार किया था, जिससे उनका देहांत हो गया। अलंकारिक शैली के उक्त कथन का यह अभिप्राय है कि जरा अर्थात् वृद्धावस्था रूपी व्याध ने प्राणी मात्र को अपने बाण का लक्ष बना रखा है और समय आने पर वह सबको अपने बाण से बींध देता है। इस संसार मे जन्म लेने वाला कोई प्राणी, चाहे वह कितना ही महान् हो, उसके बाण से नही बच सका है। इस प्रकार श्री कृष्ण भी यथा समय इस भू-तल से प्रस्थान कर गये। उनके देहावसान का वह स्थल सौराष्ट्र मे हिरण्यवती नदी के तट पर 'देहोत्सर्ग तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है।

**द्वारका का अंत**—जब अर्जुन ने दारुक से द्वारका का दुखदायी समाचार सुना तो वह अत्यंत मर्माहत हुआ और दुखी मन से तत्काल द्वारका की ओर चल दिया। वहाँ पहुँचने पर उसने द्वारका के स्त्री-बच्चो और वृद्धजनो को छाती फाड कर रुदन करते हुए देखा। उस समय उग्रसेन और वसुदेव भी अपने शरीर छोड कर परलोक को प्रस्थान कर गये और उनकी वृद्धा रानियाँ उनके साथ अग्नि मे जल गईं। कृष्ण-बलराम का पहिले ही तिरोधान हो चुका था। प्रभास क्षेत्र मे मरे हुए यादवो की पत्नियाँ भी भारी संख्या मे सती हो चुकी थीं।

उस महा विनाश के पश्चात् द्वारका मे जो यदुवंशी शेष रहे थे, उनमे भी वृद्ध, बालक और स्त्रियो की संख्या ही अधिक थी। उनमे कृष्ण के दिवंगत पौत्र अनिरुद्ध का बालक पुत्र वज्र भी था। उन सबके संरक्षण का भार अर्जुन पर आ पडा था, अत वे सबको साथ लेकर हस्तिनापुर की ओर चल दिये, द्वारका निर्जन और सूनी होगई। उसके बाद वहाँ पर एक भयंकर तूफान आया, जिसने उस सुंदर महा नगरी को समुद्र के गर्भ मे विलीन कर दिया। इस प्रकार ... की प्रबल शक्ति के साथ ही साथ द्वारका का भी अंत हो गया।

जब अर्जुन यदुवंशियो के स्त्री-बच्चो को लेकर हस्तिनापुर की ओर जा रहा था, तब मार्ग मे पचनद प्रदेश के असभ्य आभीरो ने उन पर अकस्मात पीछे से आक्रमण कर दिया। उस समय अर्जुन इतना शोक-सतप्त और हतसज्ञक था कि गाडीव के रहते हुए भी वह उन जगली लुटेरो का सफलतापूर्वक सामना नही कर सका था। फलत वे लोग यादवो की बहुत सी सपत्ति और कुछ स्त्रियो को लूट कर ले गये। शेष को अर्जुन ने दक्षिणी पजाब और इ द्रप्रस्थ मे बसा दिया तथा राज्य की ओर से उनकी देख-रेख की समुचित व्यवस्था भी कर दी। उसके उपरात पाडवो ने अर्जुन के पौत्र परीक्षित को कुरु प्रदेश के राज्यसिंहासन पर आसीन किया और उसे श्री कृष्ण के प्रपौत्र बालक वज्र का सरक्षक भी नियुक्त किया। फिर वे महा प्रस्थानार्थ हिमालय की ओर चले गये, जहाँ बर्फ मे गल कर उन सबका अत हो गया।

**श्री कृष्ण का अनुपम महत्व**—श्री कृष्ण अपने काल मे ही भारतवर्ष के सर्वाधिक महत्वपूर्ण महापुरुष मान लिये गये थे। इसका प्रमाण महाराज युधिष्ठिर का वह राजसूय यज्ञ है, जिसमे भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ ऋषि–मुनियो, राजा-महाराजाओ, ज्ञानी-विज्ञानियो और वीर-योद्धाओ के होते हुए भी उन्ही की अग्र-पूजा की गई थी। उनके नाम का अनुमोदन करते हुए वयोवृद्ध भीष्म पितामह ने जो सारगर्भित और प्रभावशाली भाषण दिया था, उसमे उनका महत्व स्पष्ट होता है। उन्होने कहा था,—'श्री कृष्ण सबस बडे ज्ञानी, सर्वश्रेष्ठ योद्धा और सबसे अधिक समृद्धिशाली हैं। वे रूप-गुण, शक्ति-सामर्थ्य, बल-विक्रम, ज्ञान-विज्ञान, धर्म-नीति, कला-कौशल और प्रभाव-प्रसिद्धि मे सबसे बढे- चढे है, अत हम सब मे अग्र-पूजा के वही एक मात्र अधिकारी है।'

कृष्ण का व्यक्तित्व बडा विलक्षण, वैविध्यपूर्ण और अलौकिक था। उन्होने जो कुछ किया, खूब जी भर कर किया। उन्होने बचपन मे खूब खाया-पिया, खूब ऊधम-उत्पात किया और खूब प्रेम-प्यार किया था। किशोरावस्था मे उन्होने दुष्टो का खूब सहार किया और युवावस्था मे उन्होने खूब युद्ध किये थे। प्रौढावस्था मे उन्होने नीति-निपुणता, रण-कुशलता और ज्ञान-विज्ञान की पारगतता का खूब परिचय दिया था। उन्होने अपनी वीरता, नीतिज्ञता और बुद्धिमत्ता से कस, जरासध, भौमासुर, शिशुपाल और दुर्योधन जैसे स्वेच्छाचारी तथा अन्यायी राजाओ को उनके सगी-साथियो सहित समाप्त कर दिया था, किंतु उनके राज्यो को उन्होने स्वय नही लिया, वरन् उनके निकट सबधियो को ही दे दिया था। वे स्वय राज्याधिकार से जीवन पर्यंत निर्लिप्त रहे थे। वे प्रभावशाली जन-नेता, अपूर्व धार्मिक विद्वान और महान् दार्शनिक तत्ववेत्ता थे। उन्होने भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे क्राति कर अपने कुशल नेतृत्व का परिचय दिया था और एक अत्यत समृद्धिशाली सभ्यता तथा समुन्नत सस्कृति का प्रादुर्भाव किया था। धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे उनका गीता ज्ञान एक सर्वोपरि प्रकाश-पु ज के समान देदीप्यमान है। उन्होने भारत की अनेक विद्याओ और कलाओ को अपनी अपूर्व देन दी है। यही कारण है कि इतना समय बीत जाने पर भी उनके महान् व्यक्तित्व की छाप भारत के जन-जीवन मे सर्वत्र दिखलाई देती है। उनके तिरोधान के साथ भारतीय सस्कृति और इतिहास के एक गौरवशाली युग की समाप्ति हुई और एक ऐसे युग का आरभ हुआ, जो सस्कृति-सभ्यता, धर्म, कला और शासन आदि सभी क्षेत्रो मे पूर्व युग की तुलना मे कही हीन था। पौराणिक काल-गणना के अनुसार कृष्ण के साथ द्वापर युग समाप्त होकर कलियुग का आरभ हुआ, जिसके अब तक ५०६७ वर्ष व्यतीत चुके है।

# ३. कृष्णोत्तर और बुद्धपूर्व काल

[ कलियुग के आरभ से विक्रमपूर्व स० ५६६ तक ]

**परीक्षित का शासन और नागो की प्रबलता**—महाभारत के भीपरण विनाश के कारण वीर भूमि भारत प्राय वीर विहीन हो गई थी। उस युग की अत्यत समुन्नत सस्कृति और समृद्ध सभ्यता का सूर्य मानो अस्ताचल को जाने लगा, जिससे देश भर मे सर्वत्र अज्ञान, अविद्या, अधर्म और असभ्यता का अधकार दिखलाई देने लगा था। पाडवो के उत्तराधिकारी परीक्षित ने वडी योग्यता पूर्वक शासन सँभाला था, किंतु महाभारत के दुष्परिणाम से उसकी राज्य सत्ता अधिक दृढ नही हो सकी थी। फलत उसके शासन–काल मे आर्यावर्त स्थायी शाति का उपभोग भी नही कर सका था।

पुराणो से ज्ञात होता है कि परीक्षित के काल मे भारत की उत्तर–पश्चिमी सीमा पर नागवशी राजा अत्यत प्रबल हो गये थे। उनका अधिपति तक्षक नाग था, जिसका प्रधान केन्द्र तक्षशिला था। तक्षक के नेतृत्व मे नागो का उपद्रव इतना बढ गया था कि तक्षशिला से लेकर शूरसेन प्रदेश का विस्तृत भू-भाग उनसे आतकित रहता था। परीक्षित ने नागो के दमन की पूरी चेष्टा की, किंतु वह उनकी प्रबल शक्ति को नही रोक सका, यहाँ तक कि वह स्वय भी तक्षक द्वारा मारा गया। श्रीमद् भागवत मे लिखा है कि नागराज तक्षक ने ब्राह्मण का वेश धारण कर छल पूर्वक परीक्षित पर प्राणघाती आघात किया था[1]। परीक्षित की मृत्यु होने पर कुछ काल के लिए नागो का अधिकार तक्षशिला से मथुरा तक हो गया था।

**जनमेजय का शासन और नाग-यज्ञ**—परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने नागो के विरुद्ध युद्ध जारी रखा। उसने सैन्य सग्रह कर बडे प्रबल वेग से नागो पर आक्रमण कर उनका व्यापक सहार किया था। जनमेजय द्वारा किया गया नागो का वह सामूहिक विनाश इतिहास मे **'नाग–यज्ञ'** के नाम से प्रसिद्ध है। उस नागमेध यज्ञ मे इतने अधिक परिमाण मे नागो की आहुति दी गई थी कि कुरु और शूरसेन जनपदो मे नाग जाति का नाम ही शेप रह गया था! तभी उन्हे भ्रम वश मानवो की अपेक्षा सर्प समझा जाने लगा था। 'हरिवश' से ज्ञात होता है कि जनमेजय ने अपनी विजय के उपलक्ष मे अश्वमेध यज्ञ भी किया था।

**नाग-यज्ञ का स्थल**—जनमेजय ने किस स्थल पर नागो का सामूहिक विनाशकारी वह 'नाग–यज्ञ' किया था, इसके सवध मे विद्वानो मे विवाद है। इस समय जिन कतिपय स्थलो की प्रसिद्धि है, उनमे गुडगाँवा जिला के सीही गाँव, मैनपुरी जिला के पाढम स्थान और प्राचीन भारत के ऐतिहासिक नगर तक्षशिला के नाम उल्लेखनीय है।

**जनमेजय के उत्तराधिकारी**—जनमेजय ने अपने राज्य को नागो के आतक से मुक्त कर सर्वत्र शाति और व्यवस्था स्थापित की और जनता की सुख–समृद्धि के अनेक उपाय किये। उसके पश्चात् उसके उत्तराधिकारी क्रमश शतानीक, अश्वमेध दत्त, अधिसीम कृष्ण आदि कुरु प्रदेश के राजा हुए थे। फिर कालातर मे नेमिचक्र नामक राजा ने वहाँ पर राज्य किया था।

---

(१) श्रीमद् भागवत, ( स्कध १२, अध्याय ६, श्लोक १२–१४ )

**मथुरा पर वज्रनाभ का शासन**—जैसा पहिले कहा गया है, अर्जुन ने यदुवंशियो के स्त्री-बालको को द्वारका से लाकर इंद्रप्रस्थ मे बसाया था। उनमे कृष्ण का प्रपौत्र वज्र भी था, जो उस समय अबोध बालक था। उसे कुरु प्रदेश के राजाओ ने अपना पूर्ण सरक्षण प्रदान किया गया था। उस काल मे मथुरा पर पाडवो की ओर से कोई शासक रहा होगा, किंतु यादवो के निष्क्रमण और महाभारत युद्ध के कारण वहाँ की जन सख्या काफी कम हो गई थी। फिर नागो के उपद्रव के कारण भी बहुत से लोग वहाँ से भाग कर सुरक्षित स्थानो मे चले गये थे। जब नागो का उपद्रव शात हो गया, तब मथुरा राज्य की सुव्यवस्था की ओर कुरु प्रदेश के तत्कालीन नरेश जनमेजय का ध्यान गया। उसने कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ के नेतृत्व मे यादव राज्य की मथुरा मे पुनर्स्थापना की। उसके लिए उसने वज्र को सब प्रकार से सहयोग देने का आश्वासन दिया था। कृष्ण ने पाडवो पर जो असीम उपकार किये थे, उनसे कुछ उऋण होने के लिए ही जनमेजय का वह प्रयत्न था।

जब जनमेजय की व्यवस्था के अनुसार वज्र ने अपने दल-बल सहित मथुरा मे प्रवेश किया, तब उसने उस प्राचीन महानगरी को प्राय सूनी और निर्जन पाया था। वज्र ने इधर-उधर बिखरे हुए यदुवशियो को सगठित कर उनसे मथुरा को आबाद किया। फिर भी वहाँ पर उद्योग, व्यापार, विद्या और कलाओ की उन्नति का कोई ढग नही बन रहा था। उनके लिए वज्र की इच्छानुसार जनमेजय ने इद्रप्रस्थ से अनेक धनी, विद्वान और कलाकार व्यक्तियो को मथुरा मे बसने के लिए भेज दिया था। इस प्रकार मथुरा पुन एक समृद्धिशाली नगरी का रूप धारण करने लगी, यद्यपि उसे पहिले जैसा गौरव प्राप्त नही हो सका था।

**श्री कृष्ण के लीला-स्थलो की खोज**—मथुरा मे राजकीय व्यवस्था कायम करने के अनतर वज्रनाभ की इच्छा हुई कि अपने गौरवशाली प्रपितामह कृष्ण के लीला-स्थलो पर उनके स्मृति-चिह्न बनाये जाँय, ताकि वे यादवो के विगत गौरव की पुनर्स्थापना के लिए प्रेरणा प्रदान कर सके। शूरसेन जनपद और मथुरा नगर को विगत वर्षो मे जिस विषम परिस्थिति का सामना करना पडा, उनके कारण श्री कृष्ण के वे प्राचीन लीला-स्थल अज्ञात हो गये थे। उन्हे बतलाने वाला भी वहाँ कोई उपयुक्त व्यक्ति नही रहा था। इस पर जनमेजय के परामर्श से वज्रनाभ ने नदादि गोपो के वयोवृद्ध कुल-पुरोहित महर्षि शाडिल्य को बुलाया और उनसे श्री कृष्ण के लीला स्थलो की जानकारी प्राप्त की थी। उस समय वे स्थान जगली लता-गुल्मो से आच्छादित होने के कारण निर्जन और दुर्गम हो गये थे। वज्र ने उनकी सफाई करा कर उन्हे सर्व साधारण के लिए सुगम बनाने का प्रयत्न किया। उसने कृष्ण-लीला के अनुसार उन स्थानो का नामकरण किया और उन पर स्मृति-चिह्न बनवाये। कुछ प्रमुख स्थानो पर उस समय बस्तियाँ भी बसाई गई। इस प्रकार वज्र का शासन-काल शूरसेन प्रदेश के उच्छिन्न गौरव की पुनर्स्थापना का प्रयास करने के कारण सदा स्मरणीय रहेगा।

**वज्रनाभ के परवर्ती राजा गण**—वज्र के पश्चात् शूरसेन प्रदेश पर किन राजाओ ने राज्य किया था और उनमे से कितने वज्रनाभ के वशज थे तथा उनका क्या नाम था—इन सब बातो का प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नही है। पुराणो से केवल इतना ज्ञात होता है कि महाभारत-काल के बाद से मगध नरेश महापद्म नद तक शूरसेन प्रदेश पर २३ राजाओ ने राज्य किया था[१]।

---

(१) पार्जीटर कृत 'डायनेस्टीज आफ कलि एज' ( पृष्ठ २३ )

उनकी नामावली पुराणो मे भी नही मिलती है[1] । 'गर्ग सहिता' मे वज्र के पुत्र और उत्तराधिकारी का नाम प्रतिवाहु लिखा गया है । प्रतिवाहु का पुत्र और उत्तराधिकारी सुवाहु था, जो बडा यशस्वी राजा था[2] । 'गर्ग सहिता' का उल्लेख कहाँ तक प्रामाणिक है, इसे निश्चय पूर्वक कहना कठिन है । वैसे बौद्ध ग्रथो मे भी बुद्ध के पूर्ववर्ती मथुरा के एक राजा का नाम सुवाहु मिलता है ।

पुराणो मे शूरसेन जनपद के राजाओ की नामावली नही दी गई, जब कि उसी काल के कुरु और पचाल जनपदो के राजाओ की विस्तृत नामावलियाँ उनमे उपलब्ध है । इससे समझा जा सकता है कि उस काल मे शूरसेन के राजगण कुरु और पचाल प्रदेशो के राजाओ के समान महत्वपूर्ण नही हुए होगे । इसीलिए पुराणो मे उनके नामो का उल्लेख करना आवश्यक नही समझा गया ।

**यदुवंशियों का राज्य विस्तार**—श्री कृष्ण के जन्म से पहिले यदुवशियो के कई राज्य थे । उनमे मथुरा और शौरीपुर ( वर्तमान बटेश्वर, जिला आगरा ) के सुप्रसिद्ध राज्य शूरसेन जनपद मे थे, जहाँ अधक–वृष्णि सघ का गणतात्रिक शासन था । यादवो के एक प्राचीन दक्षिणी राज्य माहिष्मती और उसके पराक्रमी हैहयवशी राजा कार्तवीर्य अर्जुन का उल्लेख पहिले किया जा चुका है । महाभारत काल मे चेदि का हैहयवशी राजा शिशुपाल था, जो अपने निंदनीय आचरण के कारण कृष्ण द्वारा मारा गया था । उसी काल मे हैहयवश का एक राजा नील था, जो कौरवो की ओर से महाभारत के युद्ध मे लड कर मृत्यु को प्राप्त हुआ था ।

**पश्चिम, दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण मे फैलाव**—जरासध के आक्रमण के कारण जब शूरसेन के यदुवशियो ने सामूहिक रूप मे मथुरा से निष्क्रमण किया था, तब उन्होने पहिले पश्चिम मे, फिर दक्षिण–पश्चिम मे और बाद मे दक्षिण मे कई राज्यो की स्थापना की थी । उनमे धुर पश्चिम का द्वारका राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था, जहाँ श्री कृष्ण और उनके परिवार वाले अधक–वृष्णि वशीय यादवो का शासन था । उस काल मे कुछ यादव परिवार भारत के पश्चिमी छोर से हट कर दक्षिणी–पश्चिम और दक्षिण मे जा कर बस गये थे । उन्होने महाराष्ट्र, विदर्भ, कर्णाटक, यहाँ तक कि सुदूर दक्षिण के केरल और तमिल प्रदेशो मे भी कई राज्य स्थापित किये थे । 'ऐतरेय ब्राह्मण' के ऐन्द्र महाभिषेक प्रसग मे यदुवशी सात्वतो का निवास दक्षिण भारत बतलाया गया है[3] ।

**अगस्त्य मुनि और दक्षिण के यादव राज्य**—दक्षिण भारत मे आर्य सस्कृति के प्रसार का श्रेय महामुनि अगस्त्य को है । उनसे पहिले विध्याचल के दक्षिण का भारतीय प्रदेश दुर्गम वनो से आच्छादित था और वहाँ आसुरी तथा राक्षसी सभ्यताएँ प्रचलित थी । अगस्त मुनि उर्वशी और मित्रवरुण के पुत्र थे । उनका जन्म कुभ से होने के कारण उन्हे 'कुभज' भी कहा जाता है । वे हिमालय से अपने कुछ साथियो को लेकर दक्षिण गये थे और वहाँ के वाणतीर्थ के निकट पोदिकै पर्वत पर आश्रम बना कर रहे थे । उन्होने अपने साथियो सहित द्रविड कन्याओ से विवाह किया

(१) दी वैदिक एज, ( पृष्ठ ३२५ )
(२) गर्ग संहिता, ( माहात्म्य खड, पृष्ठ ३ )
(३) भागवत सप्रदाय, ( पृष्ठ १०४ )

और फिर वे स्थायी रूप से वही बस गये। उनकी पत्नी का नाम लोपामुद्रा था, जो विदर्भ प्रदेश की राज-कन्या थी। उन्होने तमिल भाषा के प्रथम व्याकरण की सूत्रो मे रचना की और वहाँ विविध विद्याओ का प्रसार किया था। उन्हे दक्षिण मे तमिल सस्कृति का पिता माना जाता है। उनके सवध मे अनुश्रुति है कि उन्होने समुद्र को पी लिया था। इसका यह तात्पर्य है कि उन्होंने दक्षिण से समुद्र पार के द्वीपो मे भी आर्य सस्कृति की पताका फहराई थी।

दक्षिण मे यादवो के राज्य-स्थापन से सबंधित जो अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, उनमे एक अगस्त्य मुनि से भी सबध रखती हे। कहते है, जब उन्होने दक्षिण मे मदुरई, तिनेवली और कुमारी नामक नगरो की स्थापना की थी, तब उनके शासन के लिए उन्होने कृष्ण–वश के १८ राजकुमारो को द्वारका से बुलवाया था। उक्त राजकुमारो ने दक्षिण पहुँच कर वहाँ का शासन–प्रबध सँभाला था। उनमे से तीन चेर, चोल और पाड्य थे, जिन्होने तमिलनाड राज्य का निर्माण किया था।

**जैन अनुश्रुति**—जैन धर्म की अनुश्रुति के अनुसार मथुरा के एक यदुवशी राजकुमार ने दक्षिणी कर्णाटक मे जाकर स्वाधीन यादव राज्य की स्थापना की थी। वह अनुश्रुति इस प्रकार है—'कृष्ण के परवर्ती यदुवशी राजाओ मे एक साकार नाम का राजा हुआ था। वह एक भील कन्या पर मोहित होकर उसकी दुरभिसधि से अपने पुत्र जिनदत्त का भी अनिष्ट करने को उद्यत हो गया था। जब राजमहिषी श्रियला को उसका पता चला, तो वह वडी दुखी हुई। उसने अपने पुत्र की हित–कामना के लिए उसे मथुरा छोड कर किसी सुदूर प्रदेश मे जाने का आदेश दिया। फलत राजकुमार जिनदत्त दक्षिण की ओर चला गया और वर्तमान कर्णाटक के हुवय नामक स्थान मे उसने स्वाधीन यादव राज्य की स्थापना की। उसका विवाह दक्षिण के पाड्य प्रदेश की राज कन्याओ के साथ हुआ था।'

जिनदत्त के वशजो ने दक्षिणी कर्णाटक मे कई राज्य कायम किये थे। उन्ही मे से एक का राजा वीर पाड्य चक्रवर्ती था, जिसने स० १४८८ मे बाहुवलि गोमटेश्वर की विशाल मूर्ति वनवाई थी। वह ४१½ फीट ऊँची अद्‌भुत मूर्ति दक्षिणी कर्णाटक के कार्कल नामक स्थान मे अब भी विद्यमान है। वहाँ की अनुश्रुतियो मे उक्त राजवश का मूल पुरुष जिनदत्त राय उत्तरापथ के मथुरा नगर से आया हुआ माना जाता है। उक्त राजा जिनदत्त किस काल मे हुआ, इसे निश्चय पूर्वक वतलाना कठिन हे।

**यादवो के अन्य राज्य**—डा० कृष्ण स्वामी आयगर ने द्रविड देशीय राजाओ के इतिहास का अनुसधान कर यह प्रमाणित किया है कि वहाँ के अनेक राजाओ की परपरा सात्वत वशीय श्री कृष्ण से जुड जाती है। महीसूर ( माईसोर ) के पूर्वोत्तर भाग मे राज्य करने वाले 'इरुन गोवेड' नामक तमिल सरदार श्री कृष्ण की ४९ वी पीढी मे हुआ था[1]।

दक्षिण–पश्चिम मे देवगिरि का एक यादव राज्य अलाउद्दीन खिलजी के काल तक विद्यमान था। उसके राजा रामचद्र के अधिकार मे वर्तमान महाराष्ट्र का अधिकाश भाग था और उसकी राजधानी देवगिरि ( वर्तमान दौलतावाद ) मे थी। उस यादव राजा को अलाउद्दीन ने धोखे से स० १३५१ मे पराजित किया था। इन प्रमाणो से सिद्ध होता है कि यदुवशियो के प्राचीन

---

(१) भागवत सप्रदाय, ( पृष्ठ १०४ )

राज्य मथुरा और द्वारका के शक्तिहीन हो जाने के बाद भी विद्यमान थे। उन यादव राज्यो का विस्तार पश्चिम, दक्षिण–पश्चिम तथा सुदूर दक्षिण मे हुआ था, जहाँ समय–समय पर अनेक शक्तिशाली राजा हुए थे।

उत्तर भारत मे यादवो के जो कतिपय राज्य मिलते है, उनमे करौली का नाम उल्लेखनीय है। उस राज्य की प्राचीन ख्यातो से सिद्ध होता है कि उसके राजाओ की परपरा मथुरा के परवर्ती यादव राजाओ से सबधित थी। करौली राजवश का सस्थापक विजयपाल यादव श्री कृष्ण की ८८वी पीढी मे हुआ था। इगणोड़ा शिला लेख के अनुसार उसका राज्यकाल स० ११५० के आस-पास था। शिला लेखो मे उसे 'महाराजाधिराज परम भट्टारक' लिखा गया है, जिससे उसे एक शक्तिशाली राजा माना जा सकता है।

## ४. बुद्ध काल से मौर्यपूर्व काल तक

[ विक्रमपूर्व सं० ५६६ से विक्रमपूर्व स० २६८ तक ]

**युगांतरकारी धार्मिक क्रांति**—श्री कृष्ण ने आर्यो के सर्वप्रधान देव इद्र की मान्यता घटा कर प्राचीन वैदिक सस्कृति मे प्रथम क्राति की थी। उनके पश्चात् इस देश मे जो युगातरकारी महापुरुष हुए, उनमे बुद्ध और महावीर के नाम इतिहास प्रसिद्ध है। वे दोनो महानुभाव श्री कृष्ण की तरह शूरसेन अर्थात् प्राचीन व्रज प्रदेश मे उत्पन्न न होकर भारत के पूर्वी भाग मे हुए थे, किंतु उनकी क्रातिकारी विचार–धाराओ से इस देश के अन्य भागो की तरह यह प्रदेश भी प्रचुरता से प्रभावित हुआ था। उन्होने प्रवृत्ति प्रधान वैदिक कर्मकाड, विशेष कर हिंसापूर्ण यज्ञो के स्थान पर अपने ज्ञान–वैराग्य मूलक निवृत्ति प्रधान धर्मो को प्रचलित किया था। उसके फल स्वरूप जो धार्मिक क्राति हुई, उसने श्रमण सस्कृति को जन्म दिया और उसका प्रभाव उस काल की राजनैतिक स्थिति पर भी व्यापक रूप से पडा था।

बुद्ध और महावीर द्वारा प्रचलित धर्म क्रमश 'बौद्ध धर्म' और 'जैन धर्म' कहलाते है। उनका उदय और आरभिक प्रचार भारत के उन भू-भाग मे हुआ था, जिसे आजकल पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार कहते है। बौद्ध और जैन धर्मो की रचनाओ तथा अनुश्रुतियो से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध और महावीर स्वामी दोनो ही अपने–अपने धर्मो के प्रचारार्थ मथुरा आये थे, किंतु वे यहाँ पर बहुत कम समय तक रहे थे। आरभ मे यहाँ के निवासी उनके उपदेशो से बहुत कम प्रभावित हुए, किंतु बाद मे मथुरा सहित समस्त शूरसेन प्रदेश जैन–बौद्ध धर्मो के प्रभाव–क्षेत्र मे आ गया और उनका एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। यहाँ के राजनैतिक, सामाजिक और सास्कृतिक जीवन पर उक्त धर्मो का बडा व्यापक प्रभाव पडा था।

**उस काल के विभिन्न राज्य**—बौद्ध ग्रथो से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध के जन्म से पहिले भारतवर्ष मे सोलह बड़े और अनेक छोटे जनपदीय राज्य थे। उस काल के बडे राज्यो के नाम १. कुरु, २ पचाल, ३. शूरसेन, ४ मत्स्य, ५ गधार, ६ कबोज, ७ चेदि, ८ वत्स, ९. काशी, १० कोशल, ११. मगध, १२ अग, १३. वज्जि, १४. मल्ल, १५ अवति और १६. अस्सक थे[1]। बडे राज्यो मे शूरसेन अर्थात् प्राचीन व्रज प्रदेश भी था। पुराणो मे महाभारत

(१) अंगुत्तर निकाय, पृष्ठ १९५

के बाद शूरसेन प्रदेश के राजाओ की क्रमबद्ध नामावली नही मिलती है। इससे अनुमान किया जाता है कि उस काल मे शूरसेन राज्य और उसके राजाओ का अधिक महत्व नही था, किंतु जब उसकी गणना बडे राज्यो मे होती थी, तब वह एकदम महत्वशून्य भी नही रहा होगा।

बुद्ध–महावीर काल मे भी देश मे अनेक छोटे–बडे जनपदीय राज्य थे, किंतु उनमे १ मगध, २. कोशल, ३ वत्स और ४ अवति के राज्य विशेष महत्वपूर्ण माने जाते थे। मगध पर शिशुनाग वशीय सम्राट बिंबसार तथा उसके पुत्र अजातशत्रु का शासन था और उनकी राजधानी राजगृह थी। कोशल पर प्रसेनजित तथा उसके पुत्र विड्डभ का राज्य था और उनकी राजधानी श्रावस्ती थी। वत्स या वश का राजा प्रसिद्ध कलाकार उदयन था और कौशाबी उसकी राजधानी थी। अवति का राजा महासेन प्रद्योत था, जो अपनी तेजस्विता के कारण चड प्रद्योत कहलाता था और उसकी राजधानी उज्जयिनी थी। उन प्रधान राज्यो की तुलना मे विगत युग के सर्वाधिक प्रसिद्ध राज्य कुरु और पचाल अपना महत्व खो चुके थे। शूरसेन राज्य और उसकी राजधानी मथुरा का महत्व भी उस काल मे कम हो गया था।

**शूरसेन तथा मथुरा के तत्कालीन राजा**—बौद्ध साहित्य मे तत्कालीन मथुरा के एक राजा का नाम अवतिपुत्र मिलता है, किंतु यह स्पष्ट नही होता है कि जब भगवान् बुद्ध मथुरा आये थे, तब यहाँ अवतिपुत्र राज्य करता था या नही। बौद्ध साहित्य मे बुद्ध से पहिले मथुरा के एक यादव राजा का नाम सुबाहु भी मिलता है[1], किंतु वह अवतिपुत्र का पूर्वज था, अथवा कोई दूसरा राजा, यह नही लिखा गया है। 'गर्ग सहिता' मे मथुरा के यदुवशी राजा वज्रनाभ के पौत्र का नाम भी सुबाहु बतलाया गया है[2], किंतु उसमे सुबाहु के वशजो का नामोल्लेख नही किया गया है।

जैन साहित्य मे उस काल के मथुरा–नरेश का नाम उदितोदय या भीदाम मिलता है, किंतु उसकी वश–परपरा अज्ञात है। उदितोदय का अवतिपुत्र से क्या सबध था, यह भी ज्ञात नही होता है। वज्रनाभ के पौत्र सुबाहु से लेकर अवतिपुत्र तक अथवा उदितोदय तक मथुरा के राजाओ के वश और वशजो का क्रमबद्ध विवरण न तो बौद्ध साहित्य मे मिलता है और न जैन साहित्य मे।

**अवतिपुत्र**—जैसा पहिले लिखा गया है कि बौद्ध साहित्य के अनुसार मथुरा के तत्कालीन राजा का नाम अवतिपुत्र था, जो भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण से कुछ पहिले यहाँ राज्य करता था। बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध ने दो बार मथुरा की यात्रा की थी। यहाँ की पहिली यात्रा उन्होने अपने जीवन के मध्य काल मे बारहवे वर्षा–वास के अवसर पर की थी। उस समय मथुरा की राजनैतिक स्थिति बडी अस्त–व्यस्त थी और तब सभवत यहाँ अवतिपुत्र का शासन नही था। बुद्ध की दूसरी मथुरा–यात्रा उनके परिनिर्वाण से कुछ समय पूर्व हुई थी। उस समय यहाँ अवतिपुत्र के राजा होने की सभावना जान पडती है। बुद्ध के जीवन-काल मे अवतिपुत्र मथुरा का राजा तो हो गया था, किंतु वह बौद्ध धर्म का अनुयायी नही हुआ था। बाद मे अवति के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान महा कात्यायन ने अवतिपुत्र को मथुरा के गुदवन मे बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी। उस समय जब अवतिपुत्र ने कात्यायन से बुद्ध का दर्शन कराने की

---

(१) ललित विस्तर ( लेफमेन सस्करण ), पृष्ठ २१–२२

(२) गर्ग सहिता, माहात्म्य खड

इच्छा प्रकट की थी, तव उस वौद्ध विद्वान ने उत्तर दिया था कि अव भगवान् बुद्ध विद्यमान नहीं है, उनका महा परिनिर्वाण हो चुका है[1]।

**अवति और मथुरा राज्यो का पारस्परिक सवध**—बुद्ध से पहिले भारत के जिन १६ महा जनपदो का उल्लेख किया जा चुका है, उनमे एक अवति भी था। बुद्ध काल मे वह एक विशाल राज्य के रूप मे विकसित हुआ और तव वह उस काल के चार सर्व प्रधान राज्यो मे गिना जाता था। जैसा पहिले लिखा गया है, उस काल के शेष तीन राज्य मगध, कोशल और वत्स थे। तव शूरसेन की गणना प्रधान राज्यो मे नही होती थी। अवति राज्य नर्मदा की घाटी मे स्थित प्राचीन मान्धाता नगर से लेकर वर्तमान इदौर जिले के महेश्वर तक विस्तृत था। इस प्रकार वह मालवा क्षेत्र का पूर्ववर्ती राज्य था। वह उत्तर और दक्षिण के दो भागो मे विभाजित था, जिनके बीच मे वेत्रवती ( वेतवा ) नदी वहती थी। उत्तरी भाग की राजधानी उज्जयिनी थी और दक्षिणी भाग की माहिष्मती। कुछ लोग माहिष्मती को महेश्वर से मिलाते है, किंतु उसकी स्थिति के कारण उसे मान्धाता नगर से मिलाना अधिक सगत ज्ञात होता है।

बुद्ध काल के चारो प्रधान राज्यो मे वत्स या वस की स्थिति सवसे दुर्वल थी। वह तीनो प्रधान राज्यो के वीच मे था, अत उस पर तीनो के आक्रमण की सदैव आशका रहती थी। वे तीनो राज्य भी अपने राजनैतिक सतुलन के लिए वत्स पर दृष्टि लगाये रहते थे। वत्स का तत्कालीन राजा उदयन वीणा वजाने मे वडा कुशल था। वह वीणा-वादन द्वारा हाथियो का आखेट किया करता था। एक वार अवति राज्य की सीमा के वनो मे हाथियो का उसी प्रकार आखेट करते समय वह वहाँ के तत्कालीन राजा चड प्रद्योत का कैदी वना लिया गया था। उस समय अवति द्वारा वत्स राज्य पर अधिकार किये जाने की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, कितु उदयन के सौभाग्य से वैसा नही हो सका। चड प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता उस पर मोहित हो गई थी, अत उसने वत्सराज को गुप्त रूप से कारागार से मुक्त करा दिया और वह स्वय भी उसके साथ वत्स की राजधानी मे पहुँच कर उसकी प्रिय पत्नी वन गई थी। निदान विवश होकर चड प्रद्योत को वत्स की स्वाधीनता स्वीकार करनी पडी। उस वैवाहिक सवध के कारण दोनो राज्यो की स्थिति सुदृढ हो गई थी। उससे अवति-राज चड प्रद्योत का प्रभाव क्षेत्र वत्स राज्य तक विस्तृत हो गया था।

वौद्ध साहित्य मे मथुरा के राजा अवतिपुत्र को चड प्रद्योत का दौहित्र लिखा गया है[2]। इससे समझा जा सकता है कि प्रद्योत की दूसरी पुत्री मथुरा-नरेश अवतिपुत्र के पिता को विवाही गई होगी। किंतु वासवदत्ता-उदयन के नामो की जितनी प्रसिद्धि है, उतनी ही प्रद्योत की उस पुत्री और अवतिपुत्र के पिता के नामो की अप्रसिद्धि भी है। इसके साथ ही यह भी ज्ञात नही होता है कि अवतिपुत्र से पहिले उसका पिता मथुरा का राजा था भी या नही। आश्चर्य की वात है, जिस व्यक्ति ने प्रद्योत जैसे प्रतापी नरेश की पुत्री के साथ विवाह किया था, उसके नाम का कही उल्लेख नही मिलता, जव कि वासवदत्ता-उदयन के नामो की ध्वनि तत्कालीन वौद्ध धर्म ग्रथो के अतिरिक्त वाद के अनेक काव्य, नाटक और कथा ग्रथो मे भी गूँजती रही है।

---

(१) 'मज्झिम निकाय' का 'माधुरिय सुत्तत',

(२) १ मज्झिम निकाय का 'माधुरिय सुत्तंत' तथा उसकी 'अट्ठकथा'

२ बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २७९

जैसा लिखा जा चुका हे, जिस समय बुद्ध प्रथम वार मथुरा आये थे, उस समय यहाँ वडी दुर्व्यवस्था थी। उससे समझा जा सकता है कि उस काल मे यहाँ पर किसी प्रभावशाली राजा का शासन नही था। सभव है, उस स्थिति का लाभ उठा कर चड प्रद्योत ने अपने दौहित्र को यहाँ का राजा वना दिया हो। ऐसी दशा मे मथुरा के प्राचीन यादव वश मे अवतिपुत्र का सवध जोडना कठिन होगा। कुछ भी हो, बुद्ध-काल मे मथुरा का जो राजा अवतिपुत्र था, वह चड प्रद्योत का दौहित्र होने से जहाँ उसके प्रभाव मे था, वहाँ अपने नाना की प्रवल शक्ति के कारण शक्तिशाली भी था। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि बुद्ध–महावीर युग मे शूरसेन जनपद का मथुरा राज्य सर्वथा महत्वहीन नही होगा।

## भगवान् बुद्ध और शूरसेन प्रदेश—

**बुद्ध का जीवन-वृत्तांत और धर्मोपदेश**—गौतम बुद्ध का जन्म प्राचीन कोशल जनपद के अतर्गत शाक्य गण राज्य की राजधानी कपिलवस्तु के लु बिनी वन मे विक्रमपूर्व स०५६६ की वैशाखी पूर्णिमा को हुआ था। उनका जन्म–स्थान इस समय 'रुम्मनदेई' कहलाता है, जो उत्तर-प्रदेश और नेपाल का एक सीमावर्ती गाँव हे। गौतम के पिता शाक्यों के गण-प्रमुख शुद्धोदन थे और उनकी माता का नाम महामाया था। उनका आरभिक नाम सिद्धार्थ था। यद्यपि उन्हे ससार के समस्त भौतिक सुख प्राप्त थे, तथापि उनका मन उनमे नही रमता था। फलत वे २६ वर्ष की युवावस्था मे ही वृद्ध माता-पिता, युवा पत्नी और नवजात शिशु तथा राजकीय वैभव को छोड कर विरक्त वेश मे घर से चल दिये थे। पहिले उन्होंने कई वर्षो तक घोर तपस्या की, किंतु उससे उन्हे शाति प्राप्त नही हुई। वाद मे वे चिंतन–मनन मे लीन रहने लगे। कुछ समय पश्चात् उनके हृदय मे ज्ञान की अपूर्व ज्योति जगमगा उठी और उन्होंने अनुभव किया कि उन्हे सम्यक् 'वोध' हो गया है। इस प्रकार वोध प्राप्त होने से वे सिद्धार्थ की अपेक्षा 'बुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुए। उसके वाद उन्होने ससार के दुखी मानवो के कल्याणार्थ उपदेश करना आरभ किया था।

बुद्ध का प्रथम धर्मोपदेश विक्रमपूर्व स० ५३१ की आषाढी पूर्णिमा को वाराणसी के निकटवर्ती सारनाथ नामक स्थान मे हुआ था। वौद्ध धर्म मे वह उपदेश 'धर्मचक्र प्रवर्तन' के नाम से प्रसिद्ध हे। वे वर्ष मे प्राय ८–६ महीने धर्म-प्रचार के लिए 'चारिका' ( विचरण ) करते थे और वर्षा ऋतु के ३–४ महीने किसी एक स्थान पर निवास कर धर्मोपदेश करते हुए विताते थे। वौद्ध ग्र थो से ज्ञात होता हे कि 'धर्म चक्र प्रवर्तन' के पश्चात् उन्होने अपने जीवन मे ४५ 'वर्षा-वास' किये थे। उनका परिनिर्वाण ८० वर्ष की आयु मे मल्ल गणराज्यार्गत कुशिनारा के शालवन मे विक्रमपूर्व स० ४८६ की वैशाखी पूर्णिमा को हुआ था। उनका प्रवर्तित धर्म 'वौद्ध धर्म' कहलाता है, जिसने भारतवर्ष के अतिरिक्त विदेशो मे भी अपनी पुण्य पताका फहराई थी।

**बुद्ध का मथुरा-आगमन**—वौद्ध धर्म के विविध ग्र थो से ज्ञात होता हे कि भगवान् बुद्ध अपना धर्मोपदेश करते हुए मथुरा भी आये थे। उनके आवागमन से सवधित जो उल्लेख मिलते है, वे इस प्रकार है—

१ 'अगुत्तर निकाय' से ज्ञात होता है, जब बुद्ध श्रावस्ती मे थे, तब वेरज, वेरजा अथवा वैरभ नामक स्थान के निवासियो ने उन्हे अपने यहाँ आने का निमत्रण दिया था। बुदध ने

उसे स्वीकार कर लिया और अपना बारहवाँ 'वर्षा-वास' उन्होंने वेरजा मे ही किया। इसी निकाय मे विदित होता है, वे उसी समय मथुरा गये थे, जहाँ उन्होंने सद्धर्म का उपदेश किया था[१]।

२. गिलगिट ( काश्मीर ) से प्राप्त सस्कृत बौद्ध साहित्य से मालूम होता है कि जब बुद्ध मथुरा आये थे, तब उन्होने यहाँ के अनेक उपद्रवी यक्षो को प्रभावित कर उन्हे विनीत बनाया था[२]।

३ 'विमान वत्थु' मे लिखा है, एक बार बुद्ध श्रावस्ती से उत्तर मथुरा ( मथुरा ) गये थे। उस समय उन्होने एक मरणासन्न महिला का आतिथ्य ग्रहण किया, जिससे उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई थी[३]।

४ 'अगुत्तर निकाय' का उल्लेख है, एक बार जब बुद्ध मथुरा मे एक वृक्ष की छाया मे बैठे हुए थे, तब वहाँ अनेक गृहस्थो ने उनका आदर-सत्कार किया था[४]।

५. 'दिव्यावदान' से ज्ञात होता है, बुद्ध अपने निर्वाण-काल से कुछ समय पहिले मथुरा गये थे। उस समय उन्होने वहाँ के रुरुमु ड पर्वत को देख कर अपने शिष्य आनद से भविष्यवाणी की थी कि वहाँ पर सौ वर्ष पश्चात् 'नटभट विहार' का निर्माण होगा और उस काल मे उन्ही के समान सद्धर्म का एक दूसरा उपदेशक उपगुप्त जन्म लेगा[५]।

६ चीनी यात्री हुएनसाग ने अपने यात्रा-विवरण मे लिखा है, एक बार बुद्ध मथुरा मे प्राय ४ मील दक्षिण-पूर्व मे एक सूखे तालाब के किनारे घूम रहे थे। उस समय एक बदर ने उन्हे शहद अर्पित किया था, जिससे उसे मनुष्य योनि प्राप्त हुई थी[६]।

उपर्युक्त उल्लेखो से गौतम बुद्ध का कई बार मथुरा आना ज्ञात होता है। यदि उक्त घटनाओ को काल-क्रम से एकत्र किया जाय, तब भी बुद्ध का दो बार मथुरा आना अवश्य सिद्ध होता है। पहिली बार वे अपने जीवन के मध्य काल मे बारहवे वर्षा-वास के अवसर पर वेरजा या वेरभ नामक स्थान से यहाँ आये थे। दूसरी बार अपने निर्वाण काल मे कुछ समय पूर्व वे अपने प्रिय शिष्य आनद के साथ आये थे और उन्होने यहाँ के 'रुरुमु ड पर्वत' को देखा था। इन दोनो मे भी वेरजा से मथुरा आने का उल्लेख बौद्ध ग्रथो मे अधिक प्रामाणिक ढंग से हुआ है। बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी ग्रथो मे बुद्ध के मथुरा-आगमन का उल्लेख जैसे निश्चय के साथ किया गया है, वैसा उक्त धर्म के दूसरे सम्प्रदायो के ग्रथो मे नही हुआ है। फिर भी वेरजा मे किये गये बारहवे वर्षा-वास के सबध मे कोई मतभेद नही है। 'अगुत्तर निकाय' के 'वेरजक ब्राह्मण सुत्त' मे बुद्ध की मथुरा-वेरजा यात्रा का वर्णन है, "अत पालि विवरण से भी यह निश्चित जान पड़ता है कि बुद्धत्व-प्राप्ति के बारहवे वर्ष मे ही भगवान् बुद्ध ने मथुरा की यात्रा की और उसके बाद लौट कर वे वेरजा ही आ गये, जहाँ से उन्होने अपनी श्रावस्ती तक की पूर्वोक्त यात्रा की थी[७]।"

---

(१) अंगुत्तर निकाय, ( जिल्द २, पृष्ठ ५७ तथा जिल्द ३, पृष्ठ २५७ )
(२) गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स, ( जिल्द ३, भाग १ )
(३) विमान वत्थु की अट्ठकथा, ( भाष्य, पृष्ठ ११८-११९ )
(४) अंगुत्तर निकाय, ( जिल्द २, पृष्ठ ५७ )
(५) दिव्यावदान, ( कावेल सस्करण, पृष्ठ ३४८-३४९ )
(६) आन युवानच्वांग्स ट्रेवल्स इन इंडिया, ( टामस वाटर्स-जिल्द १, पृष्ठ ३०१ )
(७) बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, ( पृष्ठ १०९ )

**मथुरा-आगमन का मार्ग**—भगवान् बुद्ध के मथुरा-आगमन का मार्ग इस प्रकार मालूम होता है। वे श्रावस्ती से कान्यकुब्ज ( कन्नौज ), सकाश्य[1], सोरो, वेरजा होते हुए मथुरा पहुँचे थे। फिर मथुरा से ओतला होकर वेरजा वापिस चले गये और वहाँ वर्षा-वास करने के अनतर वे सोरो, सकाश्य, कान्यकुब्ज होते हुए प्रयाग गये थे। वहाँ से प्रतिष्ठान होकर वाराणसी पहुँचे और फिर वैशाली गये, जहाँ से वे श्रावस्ती को वापिस चले गये थे।

**वेरजा की स्थिति**—भगवान् बुद्ध जिस वेरजा नामक स्थान से मथुरा आये थे, वह बुद्ध काल के प्रधान राजमार्ग उत्तरापथ पर स्थित था। वह मार्ग पूर्वी भारत के प्रमुख राज्य मगध की राजधानी राजगृह से चल कर वेरजा-मथुरा होता हुआ उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती गधार राज्य की राजधानी तक्षशिला तक पहुँचता था। उस विख्यात मार्ग पर जो शकट-सार्थ राजगृह से चलते थे, वे नालदा, पाटलिपुत्र, वाराणसी, प्रयाग, प्रतिष्ठान, कन्नौज, सोरो आदि मुकामो मे ठहरते हुए वेरजा मे रुकते थे और वहाँ से मथुरा, इद्रप्रस्थ, स्यालकोट आदि मुकामो मे डेरा डालते हुए तक्षशिला जाकर अपनी यात्रा समाप्त करते थे[2]। इस प्रकार सोरो और मथुरा के बीच मे होने के कारण वेरजा की स्थिति मथुरा से पूर्व दिशा मे होनी चाहिए। डा० नलिनाक्ष दत्त और श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने पालि 'विनय पिटक' के 'महावग्ग' मे लिखे हुए विवरण मे यह निष्कर्ष निकाला है कि वेरजा अथवा वैरभ मथुरा के पश्चिम मे था[3]। यदि वेरजा की स्थिति मथुरा और सोरो के बीच मे मानी जाती है, तब वह मथुरा के पश्चिम मे न होकर पूर्व मे ही हो सकता है। ऐसी दशा मे उक्त दोनो विद्वानो का कथन मान्य नहीं हो सकता। उन्होने एक भूल यह भी की है कि सोरो को उन्होने वर्तमान उत्तर प्रदेश मे नहीं माना है[4], जब कि वह एटा जिला के अतर्गत होने के कारण निश्चय ही उत्तर प्रदेश राज्य मे है।

**वेरजा की पहिचान**—वेरजा नामक स्थान को अभी तक ठीक तरह से नहीं पहिचाना जा सका है। इसका मुख्य कारण यह है कि बौद्ध साहित्य के अनतर हिंदू साहित्य मे उसका उल्लेख नही मिलता है। वर्तमान काल मे भी मथुरा के आस-पास इस नाम का अथवा इससे मिलते हुए नाम का कोई ऐसा स्थान नही है, जिसकी वेरजा के समान महत्वपूर्ण स्थिति और प्राचीन परपरा रही हो। डा० मोतीचद्र ने लिखा है—"वेरजा की ठीक-ठीक पहिचान नहीं हुई है। पर शायद यह आगरा मे वारी तहसील के कही आस-पास था, जहाँ से अलबेरुनी के समय मे एक रास्ता चलता था[5]।" इसके सबध मे उल्लेखनीय है कि वारी आगरा मे न होकर राजस्थान के अतर्गत धौलपुर के पश्चिम मे रेल का एक छोटा स्टेशन है। यह स्थान सोरो और मथुरा से बहुत दूर पड जाता है और यह सीधे मार्ग पर भी नही है, अत इसे वेरजा समझने मे कोई तुक नही है।

---

(१) सकाश्य ( वर्तमान सकिया बसतपुर ) फर्रुखाबाद जिला मे काली नदी के पास उत्तरी रेलवे के मोटा स्टेशन के समीप था। ( बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ १०४ )

(२) बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, ( पृष्ठ ५३८ )

(३) १ उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास, ( पृष्ठ १९९ )
२ ब्रज का इतिहास, ( भाग २, पृष्ठ ८ की पाद-टिप्पणी )

(४) उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास, ( पृष्ठ १३ )

(५) भारतीय व्यापार का इतिहास, ( भूमिका, पृष्ठ ७ )

डा० भरतसिंह उपाध्याय ने पालि विवरणों में बतलाई हुई वेरंजा की स्थिति का अनुसधान करने के अनंतर अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है—"आज जहाँ ग्रांड ट्रंक रोड अलीगढ और एटा के बीच सिकंदराराव कस्बा ( जिला अलीगढ ) के पास मथुरा और सोरों के बीच के मार्ग को काटती है, वहीं सम्भवतः कहीं वेरंजा था ।" हम भी उस मत से सहमत है । सिकदराराव के आस-पास ऐसा कौन सा स्थान हो सकता है अब यह विचारणीय है । पहिली वात यह है कि सोरों और मथुरा के बीच का पड़ाव होने के कारण उसे सिकंदराराव से कुछ पश्चिम मे मथुरा की ओर होना चाहिए । दूसरी बात यह है कि उसे मुख्य राजमार्ग पर होना आवश्यक है । तीसरी बात यह है कि उसकी प्राचीन परपरा भी होनी चाहिए । इन सब बातो पर विचार करने से वेरंजा की पहिचान अलीगढ़ जिला के बरहद अथवा एटा जिला के अतरजी नामक स्थानो से की जा सकती है ।

अत्यत प्राचीन परपरा सिद्ध होती है । यदि इसे हुएनसाग का 'पिलोशना' समझा जाय, तब उसके उल्लेखानुसार वहाँ भगवान् बुद्ध ने ७ दिनो तक धर्मोपदेश किया था और सम्राट अशोक ने वहाँ १०० फीट ऊँचा एक स्तूप बनवाया था । यह स्थान बौद्ध काल मे एक प्रसिद्ध नगर और बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था । 'आईने अकबरी' मे इसका नाम सिकदरपुर अतरजी लिखा गया है । अन्यत्र इसका नाम बरजी या बरजा भी लिखा मिलता है । इस प्रकार इसे प्राचीन वेरजा से मिलाने मे कोई असगति नही मालूम होती है ।

**ओतला और उरुमु ड की पहिचान**—जैसा पहिले लिखा गया है, बुद्ध भगवान् मथुरा की अपनी प्रथम यात्रा के उपरात ओतला होते हुए वेरजा वापिस गये थे और दूसरी यात्रा मे उन्होने यहाँ के उरुमु ड पर्वत को देखा था। उक्त ओतला नामक स्थान और उरुमु ड नामक पर्वत की भी अब तक ठीक तरह से पहिचान नही की जा सकी है । ओतला के सबध मे तो विद्वानो ने विचार तक नही किया है। डा० भरतसिंह उपाध्याय का ध्यान सर्वप्रथम उसकी ओर गया था, किंतु उन्होने भी उसे "एक नई समस्या" तथा "उस स्थान का कोई ठीक पता अभी नही लग सका है[1] "—कह कर छोड दिया है । ओतला वास्तव मे एक 'नई समस्या' है और इसके सबध मे अभी निश्चयपूर्वक कहना कठिन है ।

उरुमु ड अथवा रुरुमु ड पर्वत के सबध मे विद्वानो का झुकाव उसे गोवर्धन पर्वत मानने के पक्ष मे रहा है । श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने पहिले उसे गोवर्धन न मान कर उसके "मथुरा के दक्षिण–पूर्व मे कोई बडा ऊँचा टीला" होने की सभावना प्रकट की थी[2] । बाद मे उन्होंने आनद के शिष्य मध्यातिक के निवास स्थल 'उशीर पर्वत' के साथ ही साथ रुरुमु ड या उरुमु ड पर्वत को भी गोवर्धन पर्वत होना सभव बतलाया है[3] । श्री ग्राउस ने उरुमु ड की पहिचान ककाली टीला से की थी[4], उसका खडन करते हुए डा० भरतसिंह उपाध्याय ने रुरुमु ड या उरुमु ड पर्वत को गोवर्धन पर्वत ही बतलाया है । उन्होने महा कात्यायन द्वारा अवतिपुत्र को उपदेश देने के स्थल 'गु दावन' या 'गु दवन' की पहिचान भी गोवर्धन के निकटवर्ती राधाकु ड–कृष्णकु ड से की है[5] ।

चीनी यात्री हुएनसाग ने उपगुप्त विहार के सबध मे जो आँखो देखा वृत्तात लिखा है, उसे प्रामाणिक मानने से उरुमु ड या रुरुमु ड पर्वत के गोवर्धन पर्वत होने की सभावना समाप्त हो जाती है । पूर्वोक्त विद्वानो को गोवर्धन तक दृष्टि फैलाने की आवश्यकता कदाचित इसलिए हुई कि मथुरा की प्राचीन या नवीन सीमाओ के आस-पास कोई तथाकथित 'पर्वत' नही है । यदि हम मथुरा के निकटवर्ती ऊँचे टीलो को, जो गोवर्धन से किसी प्रकार ऊँचाई मे कम नही हे, 'पर्वत' की सज्ञा दे सके, तो उरुमु ड पर्वत की ठीक पहिचान हो सकती है । हुएनसाग ने भारत के ऊँचे टीलो को पहाड की सज्ञा दी भी है[6]। उसने उपगुप्त विहार को किसी ऊँचे स्थान पर स्थित बतलाया है और उसे

(१) बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, ( पृष्ठ ४२४ )
(२) दिव्यावदान मे मथुरा का उल्लेख, ( ब्रज भारती–वर्ष १०, अक २ )
(३) ब्रज का इतिहास, ( द्वितीय भाग, पृष्ठ १० )
(४) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमाअर, ( तृतीय सस्करण—पृष्ठ ११९ )
(५) बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, ( पृष्ठ ४४१–४४३ )
(६) हुएनसाग का भारत भ्रमण, ( पुष्ठ १८३ )

मथुरा नगर से ५–६ ली ( लगभग १$\frac{1}{2}$ मील ) पूर्व दिशा मे बतलाते हुए उसके अदर एक स्तूप और उसके उत्तर मे एक बडी गुफा होने का उल्लेख किया है[1] ।

हुएनसाग के उल्लेखानुसार हमे उरुमु ड पर्वत, जहाँ उपगुप्त विहार भी था, बुद्ध कालीन मथुरा के १$\frac{1}{2}$ मील पूर्व की ओर खोजना चाहिए । बुद्ध कालीन मथुरा कटरा केशवदेव के आस–पास थी, जहाँ से गोवर्धन पर्वत प्राय १३ मील पश्चिमी दिशा मे है । ककाली टीले को ग्राउस ने "कटरा से कुछ पूर्व मे" बतलाया है[2], किंतु वह भी उसके दक्षिण मे है, न कि पूर्व मे । ककाली टीला प्राचीन काल मे जैन धर्म का एक बडा केन्द्र था, जहाँ उसके अनेक स्तूप–मदिर आदि थे । बौद्ध धर्म के किसी बडे स्तूपादि के वहाँ होने का कोई प्रमाण नही मिलता है । गोवर्धन के विरुद्ध एक बडी बात यह है कि उसके उरुमु ड या रुरुमु ड नाम की कोई प्राचीन परपरा नही मिलती है । गोवर्धन पहाडी कृष्ण–काल का प्राचीन अवशेष है और पुराणादि ग्रथो मे इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है । उनमे से किसी मे भी उसका उरुमु ड नाम नही मिलता है । बौद्ध कथा ग्रथ 'घट जातक' मे भी उसे 'गोबड्ढन' ही कहा गया है । ऐसी दशा मे गोवर्धन और ककाली टीला मे से किसी को भी उरुमु ड पर्वत नही कहा जा सकता है ।

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने उपगुप्त विहार के 'सप्तर्षि टीला' पर या उससे कुछ आगे पूर्व दिशा मे स्थित वर्तमान 'बुद्धतीर्थ' पर होने की सभावना प्रकट की है[3] । उपगुप्त विहार के साथ उरुमु ड पर्वत की स्थिति जुडी हुई है । जब श्री वाजपेयी जी उरुमु ड पर्वत को गोवर्धन पर्वत होने की सभावना प्रकट करते है, तो उपगुप्त विहार का मथुरा मे होना असगत हो जाता है, जब कि हुएनसाग के उल्लेखानुसार उसे मथुरा की प्राचीन बस्ती से १–१। मील पूर्व दिशा मे ही होना चाहिए । बुद्ध कालीन मथुरा से प्राय १ मील पूर्व मे एक ऊँचा टीला है, जिस पर बने हुए टूटे दुर्ग को अब भ्रम वश 'कस का किला' कहा जाता है । उसकी स्थिति सप्तर्षि टीला की अपेक्षा उपगुप्त विहार की हुएनसाग द्वारा बतलाई हुई स्थिति के अधिक अनुकूल है । किंतु फिर भी उसे उरुमु ड पर्वत नही कहा जा सकता ।

हमारे मतानुसार बौद्ध साहित्य का रुरुमु ड अथवा उरुमु ड पर्वत वर्तमान गोकर्णेश्वर महादेव के निकटवर्ती टीलो मे से कोई ऊँचा टीला था । उसके नाम की परपरा 'पद्मपुराण' मे उल्लिखित रुरु दैत्य की कथा के आधार पर प्रचलित हुई जान पडती है । उक्त पुराण मे लिखा है, प्राचीन काल मे एक अत्यत बलशाली दैत्य हुआ, जिसका नाम 'रुरु' था । उसने देवताओ को बडा कष्ट दिया था । फलत देवताओ की प्रार्थना पर भगवती शिवदूती ने रुरु दैत्य का मु ड-छेदन किया था[4] । उस रुरुमु ड को धारण करने वाली देवी की जो स्तुति की गई है, उसमे उसे 'चामु डा' भी कहा गया है—

---

(१) आन हुनएसाग्स् ट्रैवल्स इन इ डिया, ( जिल्द १, पृ० ३०१–११ )
(२) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमाअर, (तृतीय सस्करण—पृ० ११६)
(३) मथुरा का इतिहास, ( प्रथम भाग–पृष्ठ १२५ )
(४) पद्म पुराण, ( सृष्टिखड, अध्याय ३१, श्लोक ६२–१४१ )

"जयस्व देवि चामुडे जय भूताप हारिणी। जय सर्वगते देवि काल रात्रि नमोऽस्तुते[1]।"

मथुरा मे चामुडा देवी का स्थान उसी कथा की स्मृति मे निर्मित हुआ जान पड़ता है। यह स्थान गोकर्णेश्वर महादेव के निकटवर्ती टीलो के पास ही है। गोकर्णेश्वर के समीप का एक प्राचीन स्थल गौतम ऋषि का स्थान माना जाता है। गौतम और गोकर्ण जहाँ पौराणिक हिंदू नाम हैं, वहाँ वे बौद्ध नाम भी है। गौतम तो स्वय भगवान् बुद्ध का ही नाम है और गोकर्णेश्वर उक्त धर्म के आठ वीतरागी सिद्धो मे से एक माने जाते है[2]। गोकर्णेश्वर क्षेत्र प्राचीन काल मे बौद्ध धर्म का एक बडा केन्द्र था। वहाँ से बौद्ध मूर्तियाँ यथेष्ट सख्या मे उपलब्ध हुई है। कुषाण काल मे वहाँ एक 'देवकुल' था, जहाँ कुषाणो के दिवगत राजाओ की मूर्तियाँ रखी जाती थी। बौद्ध काल मे वहाँ कई विहार होने के प्रमाण मिले है, अत 'उपगुप्त विहार' का वहाँ होना सर्वथा सभव है। बुद्ध कालीन मथुरा से यह स्थान प्राय १-१। मील पूर्वोत्तर दिशा मे भी है। इस प्रकार उरुमुड अथवा रुरुमुड पर्वत और उपगुप्त विहार की पहिचान के लिए मथुरा मे इससे अच्छी स्थिति का कोई दूसरा स्थल दिखलाई नही देता है। उसके लिए गोवर्धन पर्वत, ककाली टीला, कस किला और सप्तर्षि टीला मे से किसी का भी नाम लेना सर्वथा असगत कल्पना है।

**बुद्ध की पहिली मथुरा-यात्रा और उसका काल**—जिस समय भगवान् बुद्ध वेरजा से प्रथम वार मथुरा आये थे, उस समय उन्हे यह स्थान रुचिकर नही लगा था। उन्होंने मथुरा के कई अवगुण वतलाते हुए इसे 'वहुरजा' ( अधिक धूल वाली ) भी कहा था। उक्त कथन से ज्ञात होता है कि वे वर्षा से पहिले मथुरा आये थे। फिर वेरजा निवासियो की इच्छानुसार उन्होंने यहाँ से वापिस जा कर वहाँ 'वर्षा-वास' किया था। उन दिनो वेरजा मे दुर्भिक्ष था, अत बुद्ध और उनके साथी भिक्षुओ के आहार की यथोचित व्यवस्था नही की जा सकी थी। उस समय वहाँ पर घोडो का एक व्योपारी अपने पाँचसौ घोडो सहित ठहरा हुआ था। वह घोडो के दाने मे से कुछ जौ बचा कर प्रति दिन भिक्षुओ को दिया करता था। उसी पर निर्वाह करते हुए उन्हे वर्षा-वास का समय पूरा करना पडा था। मूल सर्वास्तिवादी विनय पिटक के अनुसार वैरभ ( वेरजा ) के ब्राह्मण राजा अग्निदत्त ने बुद्ध को वहाँ आने के लिए निमत्रण भेजा था। वाद मे अपने पुरोहित की कुमत्रणा से राजा ने बुद्ध और उनके साथियो का उचित सत्कार नही किया था। वह दुर्भिक्ष का वहाना वतला कर उनकी भोजन व्यवस्था के प्रति भी उदासीन हो गया था। इस प्रकार उन्हे वेरजा मे वडी असुविधा हुई थी।

बुद्ध किस काल मे मथुरा आये थे, इसका निश्चय उनके 'वर्षा-वास' की गणना के आधार पर किया जा सकता है। उन्होने विक्रम पूर्व स० ५३० मे अपना प्रथम 'वर्षा-वास' सारनाथ मे किया था। उसके वाद १२ वाँ वर्षा-वास वेरजा मे हुआ, जिसका काल विक्रमपूर्व स० ५१८ होता है। वही काल उनकी प्रथम मथुरा-यात्रा का भी है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध मथुरा मे प्रथम वार विक्रमपूर्व स० ५१८ के ज्येष्ठ मास मे आये थे।

---

(१) पद्म पुराण, ( सृष्टिखड, अध्याय ३१, श्लोक १३५ )
(२) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर, ( तृतीय सस्करण, पृष्ठ १३३ )
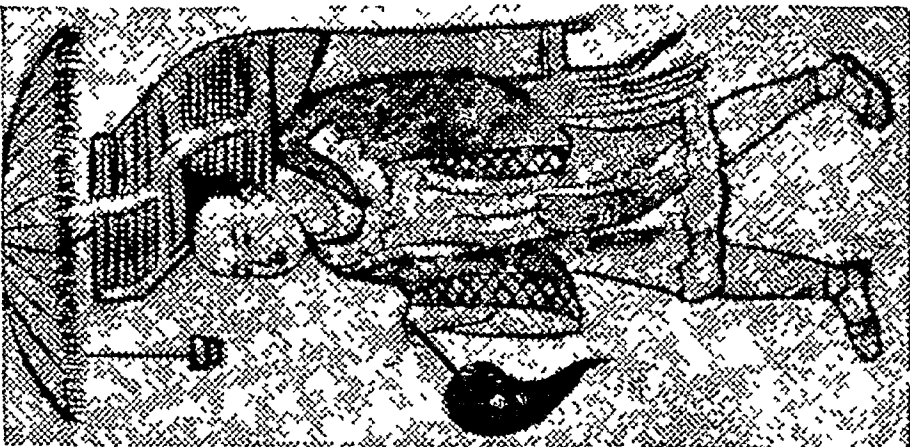
भगवान् बुद्ध

हुएनसाग
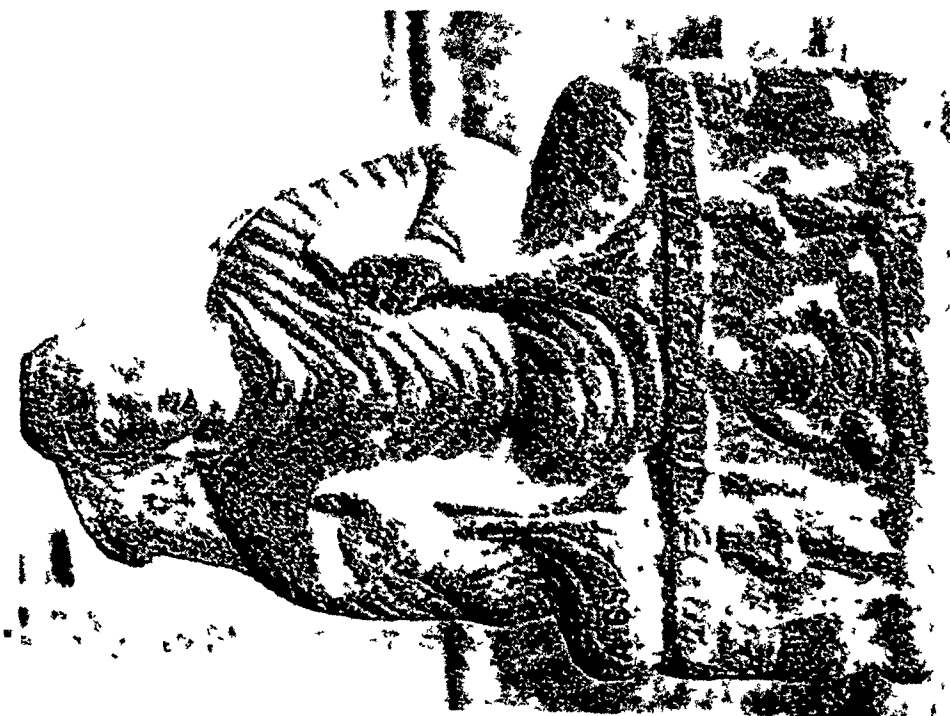
जैन नीर्थकर

**बुद्ध की दूसरी मथुरा-यात्रा और उसका काल**—बौद्ध ग्रंथो से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध अपने परिनिर्वाण से कुछ समय पहिले भी मथुरा आये थे। वह उनकी दूसरी यात्रा थी, जिसका उल्लेख मूल सर्वास्तिवादी विनय पिटक, अशोकावदान के चीनी अनुवाद और दिव्यावदान मे हुआ है। उस समय उनके साथ आनद सहित कई शिष्य थे। उस अवसर पर आनद ने उन्हे उरुमुंड पर्वत का हरा-भरा वन दिखलाया था। उसे देख कर बुद्ध ने भविष्य वाणी की थी कि उनके देहावसान के सौ वर्ष बाद नट और भट नामक दो धनी भाई वहाँ बौद्ध भिक्षुओ के लिए एक विहार का निर्माण करावेगे। उसी समय एक गधी-पुत्र उपगुप्त का जन्म होगा। वह उन्ही के समान सद्धर्म का प्रचार कर अनेक भिक्षुओ को अर्हत् बनावेगा। बुद्ध की उक्त भविष्य वाणी को सर्वास्तिवादी ग्रंथो मे बडा महत्व दिया गया है। यदि हम भविष्य वाणी की बात को छोड कर ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी समीक्षा करे, तब कहा जा सकता है कि सर्वास्तिवादी परपरा मे मथुरा के उरुमुंड पर्वत पर बुद्ध का पधारना मान्य है। इसीलिए उसकी स्मृति मे वहाँ पर 'नट-भट विहार' का निर्माण हुआ था। वहाँ पर ही शाणकवासी द्वारा उपगुप्त को दीक्षा दी गई थी और कालातर मे वहाँ पर ही 'उपगुप्त विहार' के नाम से सर्वास्तिवादी बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र बनाया गया था।

बुद्ध की दूसरी मथुरा-यात्रा के काल का निश्चय उनके प्रिय शिष्य आनद की उपस्थिति और उनके परिनिर्वाण-काल की सगति से किया जा सकता है। आनद बुद्ध-सघ की स्थापना के २० वे वर्ष भगवान् बुद्ध की सेवा मे आया था और वह २५ वर्ष तक उनकी सेवा करता रहा था। इस प्रकार विक्रमपूर्व स० ५११ आनद का बुद्ध की सेवा मे आने का काल होता है और विक्रमपूर्व स० ४८६ भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण का काल है। इस हिसाब से बुद्ध की दूसरी मथुरा-यात्रा का काल विक्रमपूर्व स० ४९० के लगभग अनुमानित होता है।

**मथुरा का बुद्ध तीर्थ**—भगवान् बुद्ध के मथुरा-आगमन की स्मृति के स्थानो मे एक यहाँ का 'बुद्ध तीर्थ' भी है। यह सप्तर्षि टीला के समीप यमुना का एक घाट है। सभव है, उस स्थल पर बुद्ध ने विश्राम किया हो, जिसके कारण वह इस नाम से प्रसिद्ध हुआ है। उक्त स्थान के निकटवर्ती क्षेत्र मे प्राचीन काल से ही बौद्ध स्मारको का निर्माण होता रहा है। मथुरा के शक क्षत्रप राजुवुल ने उसी स्थल पर एक विहार बनवाया था। गधार शैली पर बनी हुई नीले पत्थर की एक कलापूर्ण मूर्ति, जो राजुवुल की रानी कबोजिका की कही जाती है, उसी स्थान से उपलब्ध हुई है।

## भगवान् महावीर और शूरसेन प्रदेश—

**महावीर का जीवन-वृत्तांत और जैन धर्म**—भगवान् महावीर जैन धर्म के प्रचारक और भगवान् बुद्ध के समकालीन एक प्रसिद्ध धर्माचार्य थे। उनका जन्म विहार के प्राचीन नगर वैशाली के समीप गडक नदी के तटवर्ती कुंडपुर अथवा कुंडलपुर राज्य मे विक्रमपूर्व स० ५४२ की चैत्र शु० १३ को हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ, माता का नाम त्रिशला और मामा का नाम चेटक था। उनके पिता और मामा क्रमश कुंडपुर और वैशाली गण राज्यो के अधिपति थे। उनका आरभिक नाम वर्धमान था, किंतु बाद मे वे महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। यद्यपि वे वैभवशाली राजघराने मे उत्पन्न एक राजकुमार थे, तथापि आरभ से ही वे भौतिक सुखो से

उदासीन और निर्लिप्त रहे थे। उन्होंने ३० वर्ष की युवावस्था मे ही विरक्त होकर घर-बार और राजकीय वैभव को त्याग दिया था। उसके बाद उन्होंने १२ वर्ष तक कठिन तपस्या की, जिससे उन्होंने कैवल्य ज्ञान और सिद्ध पद प्राप्त किया। वे जीवन पर्यंत अहिंसा, अपरिग्रह, त्याग, तपस्या, सत्य और समता का प्रचार करते रहे। उनका कार्यक्षेत्र भारत का पूर्वी भाग अर्थात् वर्तमान बिहार, उडीसा, बगाल और पूर्वी उत्तर प्रदेश था, जहाँ उन्होंने प्राय ३० वर्षा तक भ्रमण करते हुए धर्मोपदेश द्वारा जनता का कल्याण किया था। उनका निर्वाण ८२ वर्ष की आयु मे विक्रमपूर्व स० ४७० मे पावापुर नामक स्थान मे हुआ था। इस प्रकार वे भगवान् बुद्ध से २४ वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए और १६ वर्ष बाद तक विद्यमान रहे थे। महावीर द्वारा प्रचारित धर्म 'जैन धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हे।

**जैन तीर्थकरो का मथुरा से सबंध**—जैन धर्म मे सिद्धि प्राप्त दैवी महापुरुषो को 'तीर्थकर' कहा गया है और उनकी सख्या २४ मानी गई है। भगवान् महावीर इस धर्म के अतिम और २४ वे तीर्थकर थे। इससे समझा जा सकता है कि उनसे पहिले भी जैन धर्म का कोई रूप विद्यमान रहा होगा, किंतु भगवान् महावीर इस धर्म के प्रमुख प्रचारक ही नही, वरन् प्रवर्त्तक भी माने जाते हैं। जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव, सातवे सुपार्श्वनाथ, बाईसवें नेमिनाथ, तेईसवे पार्श्वनाथ और चौबीसवे महावीर स्वामी थे। उन सबका शूरसेन प्रदेश और मथुरा नगर से थोडा-बहुत सबध रहा था।

भगवान् ऋषभदेव को वैष्णव धर्म मे भी विष्णु का १० वाँ अवतार माना जाता है। उनकी अवधूत वृत्ति और योग-सिद्धि का महत्व वैष्णव धर्मावलबियो मे भी स्वीकृत है। उनका तथा सातवे तीर्थकर सुपार्श्वनाथ का मथुरा मे जो सबध था, उसका उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ जैन मान्यता के अनुसार भगवान् श्री कृष्ण के भाई थे। उनका शूरसेन प्रदेश मे जो घनिष्ट सबध था, उस पर भी विगत पृष्ठो मे प्रकाश डाला जा चुका है[1]। तेईसवे तीर्थकर पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। उन्होंने महावीर जी से पहिले अहिसा, अपरिग्रह, सत्य और त्याग मूलक अपने श्रमण सप्रदाय का प्रचार कर जैन धर्म की पृष्ठ भूमि का निर्माण किया था।

**पार्श्वनाथ और मथुरा**—जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ का मथुरा मे विहार हुआ था। जिस समय वे यहाँ पधारे थे, उस समय यहाँ कुबेरा देवी द्वारा निर्मित प्राचीन 'सुपार्श्व स्तूप' विद्यमान था। उस काल मे उस दैवी स्वर्ण स्तूप की सुरक्षा के लिए उसे ईटो से ढक दिया गया था[2]। उक्त स्तूप का नाम परवर्ती अभिलेखो मे 'जैन बोद्व स्तूप' लिखा मिलता है और वह जैन धर्म के आरभिक इतिहास मे बहुत प्रसिद्ध रहा हे। भगवान् नेमिनाथ की तरह पार्श्वनाथ का भी मथुरा से घनिष्ट सबध ज्ञात होता हे। उसका कुछ सकेत भगवान् बुद्ध के मथुरा आगमन की अनुश्रुति से मिलता हे। जिस समय बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचारार्थ मथुरा नगर मे प्रवेश करना चाहा, तब एक नग्न स्त्री ने आकर उनका मार्ग रोक दिया था। उस घटना से

---

(१) इस ग्रथ के पृष्ठ ४ और १३ देखिये।

(२) मथुरापुरी कल्प।

मथुरा मे बुद्ध से पहिले भी उन नग्न श्रमणो की विद्यमानता ज्ञात होती है, जो तीर्थकर नेमिनाथ अथवा पार्श्वनाथ के अनुयायी रहे होगे। जैन धर्म के मध्यकालीन इतिहास तक मे सर्वश्री नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के स्तूपो के कारण ही मथुरा का विशेष महत्व माना गया है। सिद्धसेन सूरि ( १२ वी–१३ वी शताब्दी ) कृत 'सकल तीर्थ स्तोत्र' मे मथुरा नगरी की इसलिए वदना की गई है कि वहाँ श्री पार्श्वनाथ सहित श्री नेमिनाथ के रमणीक महा स्तूप थे[1]।

**भगवान् महावीर और मथुरा**—जैन धर्म के अतिम तीर्थकर और उसके वास्तविक प्रवर्त्तक-प्रचारक भगवान् महावीर थे। उनका जब मथुरा मे विहार हुआ था, तब वहाँ का राजा उदितोदय अथवा भीदाम था, जिसका उल्लेख पहिले किया जा चुका है। बौद्ध मान्यता के अनुसार बुद्धकालीन मथुरा के राजा का नाम अवतिपुत्र था। चूँकि बुद्ध और महावीर प्राय समकालीन थे, अत अवतिपुत्र और उदितोदय के भी एक होने का अनुमान किया जा सकता है। यह समझा जा सकता है कि अवतिपुत्र का वास्तविक नाम सभवत उदितोदय था और वह अवतिरानी का पुत्र होने से अवतिपुत्र कहा जाता था। पर अधिक सभावना इस बात की है कि उदितोदय अवति-पुत्र का उत्तराधिकारी रहा होगा। अवतिपुत्र ने जहाँ महा कात्यायन से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी, वहाँ उदितोदय ने महावीर स्वामी के उपदेश से जैन धर्म स्वीकार किया था। उससे पहिले मथुरा के राज्यश्रेष्ठि ( नगर सेठ ) जिनदत्त के पुत्र अर्हद्दास ने जैन धर्म की दीक्षा ली थी। उसके बाद राजा उदितोदय, उसके मत्री तथा अनेक राजकर्मचारी जैन धर्मावलबी हुए थे। मथुरा तथा उसके निकटवर्ती स्थानो से जैन धर्म के जो प्राचीन अवशेष मिले है, उनमे महावीर की मूर्तियाँ पर्याप्त सख्या मे है। उनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे शूरसेन प्रदेश और मथुरा के निवासियो की भगवान् महावीर के प्रति अधिक श्रद्धा रही थी।

**जबू स्वामी और मथुरा का सिद्ध क्षेत्र**—भगवान् महावीर के पश्चात् उनकी शिष्य-परपरा मे कैवल्य ज्ञानी जबू स्वामी का मथुरा से विशेष सबध रहा था। यद्यपि उनका जन्म विहार की राजधानी राजगृह मे हुआ था, तथापि वे १६ वर्ष की किशोरावस्था मे ही मुनि वेश धारण कर तपस्या के लिए मथुरा आ गये थे। उन्होने महावीर के पट्टशिष्य सुधर्मा स्वामी से प्रव्रज्या ली थी। उसके उपरात वे २० वर्ष तक मुनि वृत्ति धारण करने पर कैवल्य ज्ञानी हुए थे। उनका निर्वाण ८० वर्ष की आयु मे मथुरा के 'चौरासी' नामक स्थल पर विक्रमपूर्व स० ४०८ मे हुआ था। जैन धर्म मे जबू स्वामी अतिम 'केवलि' माने जाते है। उनके तप और निर्वाण का पुण्य स्थल होने के कारण मथुरा नगर तभी से जैन धर्मावलबियो मे 'सिद्ध क्षेत्र' के नाम से प्रसिद्ध रहा है।

## मगध साम्राज्य का शूरसेन पर प्रभाव—

**शिशुनाग वंशीय सम्राट**—कृष्ण काल मे जरासध ने मगध को एक विशाल साम्राज्य का रूप दिया था, किंतु उसकी मृत्यु के पश्चात् वह एक साधारण राज्य रह गया था। उसका वह

---

(१) सिरि पासनाह सहियं रम्मं, सिरि निम्मियं महाथूनं।
कलिकाल विसुतित्थ, महुरा नयरीउ वदामि ॥
( व्रज भारती, वर्ष ११, स० २ )

रूप कई शताब्दियों तक रहा। कालांतर में जब वहाँ शिशुनाग वंशीय सम्राटों का शासन हुआ, तब मगध फिर एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ था। बुद्ध–महावीर काल में वहाँ शिशुनाग वंश के सम्राट बिंबसार और उनके पुत्र अजातशत्रु का शासन था। पहिले मगध की राजधानी राजगृह थी, किंतु बाद में पाटलिपुत्र ( वर्तमान पटना ) हो गई थी। अजातशत्रु ने मगध साम्राज्य का बहुत विस्तार किया था। उसने काशी और कोशल के राज्यों को जीत कर उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया था। अजातशत्रु के काल में शूरसेन जनपद पर अवंतिपुत्र अथवा उदितोदय का शासन था। उस समय शूरसेन स्वतंत्र राज्य था। यह संभव है, उस पर अवंति का कुछ प्रभाव रहा हो, किंतु मगध साम्राज्य का उस पर कोई प्रभाव नहीं मालूम होता।

**नंद वंशीय सम्राट**—शिशुनाग वंश के सम्राटों का पतन होने पर मगध पर नंद वंश ने अधिकार कर लिया था। उस वंश का प्रतापी सम्राट महापद्म नंद था। पुराणों में उक्त वंश के नौ सम्राटों का उल्लेख मिलता है। 'विष्णु पुराण' के अनुसार महापद्म नंद जरासंध की ५७ वीं पीढ़ी में हुआ था। बौद्ध ग्रंथों में उसका नाम उग्रसेन मिलता है। महापद्म नंद ने कई छोटे–बड़े राज्यों को पराजित कर मगध साम्राज्य का और भी विस्तार किया था। उसके शासन–काल में शूरसेन के स्वाधीन राज्य की सत्ता समाप्त हो गई और वह भी मगध साम्राज्य में मिला लिया गया था। इस प्रकार महापद्म नंद के काल में मगध साम्राज्य का विस्तार मथुरा तक हो गया था। उसने २८ वर्ष तक शासन किया। उसके बाद उसका पुत्र धन नंद मगध का सम्राट हुआ था।

**सिकंदर का आक्रमण**—नंद वंशीय शासन के उत्तर काल में यूनानी सम्राट सिकंदर ने भारत के उत्तर–पश्चिमी सीमांत पर विक्रमपूर्व सं० २७० में आक्रमण किया था। उस काल में देश के उत्तर–पश्चिमी भाग में अनेक छोटे राज्य थे, जिनमें कई गणराज्य भी थे। सिकंदर की बहुसंख्यक प्रबल सेना का सामना करना उन छोटे राज्यों के लिए संभव नहीं था। फिर भी उनमें से एक के अधिपति पोरस ने सिकंदर से बड़ा कड़ा मोर्चा लिया था, जिसमें यवन सम्राट को बड़ी कठिनता से विजय मिली थी। उसके बाद उसे इस देश में आगे बढ़ने का साहस नहीं हुआ और वह सिंधु नदी के तट से ही वापिस लौट गया था। उसके साथ आने वाले यूनानियों में से बहुत से इस देश में ही रह गये थे। उनमें से जो विद्वान और कलाविद् थे, उन्होंने भारतीय विद्वानों और कलाकारों से संपर्क स्थापित किया था। इस प्रकार परस्पर आदान–प्रदान से यहाँ कई विद्याओं और कलाओं की बड़ी उन्नति हुई थी।

**नंद वंश का पतन और मौर्य वंश का उदय**—सिकंदर के आक्रमण के कुछ समय पश्चात् नंद सम्राटों की दुर्नीति के कारण मगध साम्राज्य में असंतोष और अशांति के लक्षण दिखलाई देने लगे थे। उसी काल में मगध में चंद्रगुप्त नामक एक महत्वाकांक्षी युवक योद्धा का प्रादुर्भाव हुआ था। उसने तत्कालीन स्थिति का लाभ उठा कर राजधानी में विद्रोह कर दिया और नंदवंश के तत्कालीन सम्राट धन नंद को राज्याच्युत कर स्वयं मगध का सम्राट बन गया। उस कार्य में उसे चाणक्य नामक एक कूटनीतिज्ञ विद्वान ब्राह्मण से बड़ी सहायता मिली थी। चंद्रगुप्त मौर्य वंश का था, अतः उसके राज्यासीन होने से मगध में नंद वंश की समाप्ति होकर मौर्य वंश का उदय हुआ था।

# ५.मौर्य-शुंग काल

**[ विक्रमपूर्व स० २६८ से विक्रमपूर्व स० ४३ तक ]**

**चद्रगुप्त और चाणक्य**—मौर्य राजवश का प्रतिष्ठापक चद्रगुप्त विक्रमपूर्व स० २६८ मे मगध का सम्राट हुआ और उसने विक्रमपूर्व स० २४१ तक शासन किया था। उसने राज्यासीन होते ही चाणक्य को अपना महामत्री नियुक्त किया। उस विलक्षण मेधावी ब्राह्मण के सहयोग से जहाँ चद्रगुप्त ने राज्याधिकार प्राप्त किया था, वहाँ अपने शासन को सुदृढ और व्यवस्थित करने मे भी उसे वडी सफलता प्राप्त हुई थी। चाणक्य का मूल नाम विष्णुगुप्त बतलाया जाता है। वह चणक गोत्र का होने के कारण चाणक्य और अपने वश की कूटल ( अन्न सग्राहक ) वृत्ति के कारण कौटल्य कहलाता था। इस प्रकार विष्णुगुप्त, चाणक्य और कौटल्य एक ही व्यक्ति के नाम है। चाणक्य किसी प्रकार नद राजा से अपमानित हो गया था, इसीलिए उससे क्रोध वश नद वश के नाश करने की प्रतिज्ञा की थी। उसी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए वह चद्रगुप्त का सहायक बन गया था। चाणक्य की विलक्षण बुद्धि और चद्रगुप्त की अनुपम वीरता के कारण ही नद सम्राट का पतन हुआ और मगध का राज सिहासन मौर्य वश को प्राप्त हुआ था। चाणक्य द्वारा रचित **'कौटिलीय अर्थशास्त्र'** भारत की प्राचीन राजनीति, अर्थनीति और कूटनीति का प्रसिद्ध ग्रथ है।

चद्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की मत्रणा तथा प्रवध-कुशलता से अत्यत सुदृढ और शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की थी। उसने सिकदर द्वारा नियुक्त भारत के पश्चिमोत्तर भाग के यूनानी प्रशासक सिल्यूक्स को पराजित कर उस ओर भी अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। उसके शासन काल मे राज्य प्रबध का सचालन वडी योग्यता पूर्वक होता था। उसके साम्राज्य मे सव लोग सुखी, सतुष्ट और समृद्धिशाली थे। सिल्यूक्स ने अपनी पुत्री हेलन का विवाह भी चद्रगुप्त के साथ किया था और अपने राजदूत मेगस्थनीज को उसके दरबार मे भेजा था।

**मैगस्थनीज का शूरसेन संबधी उल्लेख**—यूनानी राजदूत मैगस्थनीज कई वर्ष तक चद्रगुप्त के दरबार मे रहा था। उसने इस देश की राजनैतिक, सामाजिक और सास्कृतिक प्रवृत्तियो का जो लेखा प्रस्तुत किया था, उसका बडा ऐतिहासिक महत्व है। खेद है, उसका मूल ग्रथ इस समय उपलब्ध नही है, किंतु एरियन नामक दूसरे यूनानी लेखक के ग्रथ 'इडिका' मे उसके कुछ अवतरण मिलते है। मैगस्थनीज ने श्री कृष्ण, शूरसेन जनपद के निवासी, यहाँ के नगर और यमुना नदी के सबध मे जो विचार व्यक्त किये है, उनका उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है[1]। उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि अब से २३०० वर्ष पूर्व तक मथुरा और उसका निकटवर्ती क्षेत्र 'शूरसेन' ही कहलाता था, जब कि वाद मे इस भू-भाग को मथुरा राज्य ही कहा जाने लगा था। उस समय शूरसेन जनपद मे वौद्ध-जैन धर्मो का प्रचार हो गया था, किंतु मैगस्थनीज के अनुसार उस काल मे भी यहाँ के निवासियो की श्री कृष्ण के प्रति वडी श्रद्धा थी।

**'मेथोरा' और 'क्लीसोवोरा' की पहिचान**—मैगस्थनीज ने शूरसेन के 'दो वडे नगर मेथोरा और क्लीसोवोरा' का नामोल्लेख किया है। उनमे 'मेथोरा' तो स्पष्ट ही मथुरा है, किंतु

---

(१) इस ग्रथ का पृष्ठ १७ देखिये।

क्लीसोवोरा ( कृष्णपुरा ) की पहिचान अभी तक ठीक तरह से नही की जा सकी है। कनिंघम ने क्लीसोवोरा को वृंदावन बतलाते हुए उसका पुराना नाम 'कालिकावर्त' लिखा है। अन्य विद्वानो ने उसे मथुरा का केशवपुरा अथवा आगरा जिला का बटेश्वर ( प्राचीन शौरीपुर ) मानने का सुझाव दिया है। मथुरा और वृंदावन सदा से यमुना नदी के एक ओर उसके दक्षिण तट पर स्थित रहे है, जब कि मैगस्थनीज के आधार पर एरियन और प्लिनी ने यमुना नदी उक्त दोनो नगरो के बीच मे बहने का उल्लेख किया है। ऐसी दशा मे क्लीसोवोरा के वृंदावन होने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता हे। केशवपुरा, जिसे कृष्ण-जन्मभूमि के निकट का वर्तमान मुहल्ला मल्लपुरा समझा गया है, उस काल मे मथुरा नगर ही था, अत वहाँ किसी दूसरे नगर के होने की बात ही असगत हे। बटेश्वर मथुरा से बहुत दूर पड जाता है।

ग्राउस ने क्लीसोवोरा की पहिचान वर्तमान महावन से की है[1], जिसे श्री कृष्णदत्त जी वाजपेयी ने युक्तिसगत नही बतलाया है[2]। अलउत्वी के लेखानुसार महमूद गजनवी के काल मे यमुना पार वर्तमान महावन के निकट एक बडे राज्य की राजधानी थी, जिसकी रक्षा के लिए सुदृढ दुर्ग भी था। वहाँ के राजा कुलचद्र ने मथुरा की रक्षा के लिए महमूद से घोर सग्राम किया था। असल मे वहाँ पर कोई प्रथक नगर नही था, बल्कि वह मथुरा का ही एक भाग था। उस काल तक यमुना नदी के दोनो ही ओर मथुरा नगर की बस्ती थी। चीनी यात्री फाहियान और हुएनसाग ने भी मथुरा मे यमुना नदी के दोनो ओर बने हुए बौद्ध सघारामो का उल्लेख किया है। इस प्रकार मैगस्थनीज का 'क्लीसोवोरा' ( कृष्णपुरा ) कोई प्रथक नगर नही था, बल्कि उस काल के विशाल मथुरा नगर का ही एक भाग था, जिसे अब गोकुल-महावन कहते हैं। इस सबध मे हम श्री कृष्णदत्त वाजपेयी के मत से पूरी तरह सहमत है—

"प्राचीन साहित्य मे मधुरा या मथुरा का नाम तो बहुत मिलता है, पर कृष्णपुर या केशवपुर नामक नगर का प्रथक उल्लेख कही नही प्राप्त होता है। अत ठीक यही जान पडता है कि यूनानी लेखको ने भूल से मथुरा और कृष्णपुर ( केशवपुर ) को, जो वास्तव मे एक ही थे, अलग-अलग लिख दिया हे। भारतीय लोगो ने मेगस्थनीज को बताया होगा कि शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा 'केशवपुरी' हे। उसने उन दोनो नामो को एक दूसरे से प्रथक समझ कर उनका उल्लेख अलग-अलग नगर के रूप मे किया होगा। यदि शूरसेन जनपद मे मथुरा और कृष्णपुर नाम के दो प्रसिद्ध नगर होते, तो मेगस्थनीज के कुछ समय पहले उत्तर भारत के जनपदो के जो वर्णन भारतीय साहित्य ( विशेष कर बौद्ध एव जैन ग्रथो ) मे मिलते हे, उनमे मथुरा नगर के साथ कृष्णपुर या केशवपुर का भी नाम मिलता[3]।"

**अशोक**—चद्रगुप्त मौर्य के पश्चात् उसके पुत्र बिदुसार ने विक्रमपूर्व स० २४१ से विक्रम-पूर्व स० २१५ तक मगध पर शासन किया था। उसके बाद अशोक मगध सम्राट हुआ। उसने विक्रमपूर्व स० २१५ से विक्रमपूर्व स० १७५ तक शासन किया। उसका शासन-काल भारतीय

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, ( तृ० स०, ) पृष्ठ २७९

(२) ब्रज का इतिहास ( प्रथम भाग, ) पृष्ठ ७३

(३) मथुरा का इतिहास ( प्रथम भाग ) पृष्ठ ७२-७३

इतिहास मे वडा प्रसिद्ध है। उसने अपने साम्राज्य की भौतिक समृद्धि करने के साथ उसकी अभूत-पूर्व धार्मिक उन्नति भी की थी। उसके काल मे बौद्ध धर्म इस देश का राज धर्म हो गया था, जिसकी व्यापक प्रगति के प्रयत्न मगध सम्राट की ओर से किये गये थे। अशोक ने बौद्ध धर्म की शिक्षाओ को राज्याज्ञाओ के रूप मे देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक शिलाओ और स्तभो पर उत्कीर्ण कराया था। भारत से बाहर भी उसने अपने धार्मिक राजदूतो को भेज कर वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। लका मे बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ उसने अपने पुत्र और पुत्री को भेजा था।

**शूरसेन मे बौद्ध स्तूपों का निर्माण**—भगवान् बुद्ध की यात्राओ की स्मृति मे अशोक ने विविध स्थानो मे अनेक छोटे-बडे स्तूपो का निर्माण कराया था। उन स्तूपो का उपयोग बौद्ध भिक्षुओ के निवास-स्थल और उपासना-गृह के रूप मे होता था। शूरसेन जनपद के कई स्थानो मे भी वैसे स्तूपो का निर्माण कराया गया था। मथुरा मे बनाये गये स्तूपो का वर्णन चीनी यात्रियो ने किया है। मथुरा से २७ मील दूर नोह नामक स्थान की खुदाई मे मौर्य कालीन चुनार के पत्थर का एक टुकडा मिला है, जिसे अशोक द्वारा बनवाये हुए स्तूप का अवशेष समझा जाता है। हुएनसाग ने पिलोशना नामक स्थान मे भी अशोक द्वारा बनवाये हुए एक स्तूप का उल्लेख किया है। उक्त स्थान एटा जिला का अतरजी खेडा है, जिसके सबध मे पहिले लिखा जा चुका है।

**उपगुप्त**—सम्राट अशोक को बौद्ध धर्म के प्रचार और स्तूपादि के निर्माण की प्रेरणा देने वाला मथुरा का विख्यात बौद्ध धर्माचार्य उपगुप्त था। जब भगवान् बुद्ध दूसरी बार मथुरा आये थे, तब उन्होने भविष्य वाणी करते हुए अपने प्रिय शिष्य आनद से कहा था कि कालातर मे यहाँ उपगुप्त नामक एक प्रसिद्ध धार्मिक विद्वान होगा, जो उन्ही की तरह सद्धर्म का प्रचार करेगा और उसके उपदेश से अनेक भिक्षु अर्हत् पद प्राप्त करेगे। उक्त भविष्य वाणी के अनुसार उपगुप्त ने मथुरा के एक वणिक् के घर मे जन्म लिया था। उसका पिता सुगधित द्रव्यो का व्यापार करता था। उपगुप्त अत्यत रूपवान और प्रतिभाशाली था, किंतु वह किशोरावस्था मे ही विरक्त होकर बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया था। आनद के शिष्य शाणकवासी ने उसे मथुरा के 'नट-भट विहार' मे बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी सप्रदाय की दीक्षा दी थी। उपगुप्त उक्त सप्रदाय का महान् आचार्य और उसका सबसे बडा प्रचारक हुआ था।

**वासवदत्ता का आख्यान**—जब उपगुप्त युवा था, तब मथुरा की एक गणिका वासवदत्ता उसके सु दर स्वरूप पर आसक्त हो गई थी, किंतु उसने उस वारागना को सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया था। बौद्ध ग्रथो मे वैशाली की नगरवधू आम्रपाली की भाँति मथुरा की जनपद कल्याणी वासवदत्ता का आख्यान भी लिखा मिलता है। आम्रपाली भगवान् बुद्ध द्वारा कृतार्थ हुई थी, तो वासवदत्ता उपगुप्त द्वारा उपकृत हुई थी। मथुरा की वह वारागना उसी नाम की अवतिकुमारी तथा वत्सराज उदयन की प्रिय रानी वासवदत्ता से भिन्न और उसकी परवर्ती थी।

**मौर्य साम्राज्य की समाप्ति और शु ग सम्राटो का उदय**—सम्राट अशोक मगध साम्राज्य का ही सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक नही था, वरन् उसकी गणना भारतवर्ष के महान् सम्राटो मे की जाती है। उसका देहावसान विक्रमपूर्व स० १७५ मे हुआ था। उसके पश्चात् मगध पर जिन मौर्य सम्राटो ने शासन किया, वे अपने पूर्वजो की अतुल कीर्ति और उनके विशाल साम्राज्य की रक्षा करने मे असमर्थ सिद्ध हुए थे। उनके काल मे मौर्य साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा और

उसके कई भागो मे स्वाधीन राज्य बन गये थे। देश के उत्तर–पश्चिमी भाग पर फिर से यूनानियो ने अधिकार कर लिया था। विन्ध्याचल के दक्षिण का प्रदेश आन्ध्रवंशीय सातवाहन राजाओ के शासन मे चला गया था। शूरसेन प्रदेश मगध साम्राज्य के अतर्गत ही था। अतिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ था। उसके शासन काल मे मगध मे एक राज्यक्राति हुई थी, जिसका नेता वृहद्रथ का ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शु ग था। उसने विक्रमपूर्व स० १२८ मे वृहद्रथ को मार कर मगध साम्राज्य का शासन–सूत्र सँभाल लिया था। इस प्रकार मौर्य शासन की समाप्ति हुई और शु ग शासन का आरभ हुआ।

**शु ग सम्राट पुष्यमित्र**—वह शु ग राजवश का प्रतिष्ठापक और एक प्रसिद्ध सम्राट था। उसने मगध साम्राज्य की शक्ति और सीमाओ का काफी विस्तार किया था। उसके पूर्ववर्ती मौर्य सम्राट बौद्ध धर्मावलबी थे, किंतु वह भागवत धर्म का अनुयायी था। उसने अपने विजय–अभियानो की स्मृति मे प्राचीन वैदिक परपरा के अनुसार अश्वमेध यज्ञ किये, जो जैन–बौद्ध धर्मों के बढते हुए प्रभाव के कारण अति काल से बद हो गये थे। जनमेजय द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ के उपरात कदाचित पुष्यमित्र ने ही वह महान् आयोजन किया था। उससे ज्ञात होता है कि वह वैदिक धर्म का पुनरुद्धारक और एक प्रतापी सम्राट था।

**शु ग वशीय सम्राटो का शासन-काल**—इस राजवश का शासन विक्रमपूर्व स० १२८ से विक्रमपूर्व स० ४३ तक रहा था। उस काल मे मगध साम्राज्य की सीमा उत्तर मे कुरु प्रदेश से लेकर दक्षिण मे नर्मदा नदी तक विस्तृत थी। प्रशासन के लिए उसके तीन बडे केन्द्र थे—१ पाटलिपुत्र, २ अयोध्या और ३ विदिशा। शूरसेन राज्य कदाचित विदिशा के प्रशासनिक केन्द्र के अतर्गत था। पुष्यमित्र के शासन काल मे उसका पुत्र अग्निमित्र विदिशा क्षेत्र का राज्यपाल था। उसे वह स्थान इतना प्रिय था कि जब वह अपने पिता के पश्चात् मगध का सम्राट हुआ, तब भी उसने पाटलिपुत्र के बजाय विदिशा ही अपनी राजधानी रखी थी। परवर्ती शु ग सम्राट काशिपुत्र भागभद्र के शासन काल मे भी विदिशा का बडा महत्व था। वह शु ग साम्राज्य की दूसरी राजधानी थी।

शु ग सम्राटो ने भागवत धर्म और सस्कृत साहित्य को प्रचुर प्रोत्साहन प्रदान किया था। उनके काल मे भागवत धर्म का विस्तार मथुरा से पश्चिम की ओर वर्तमान चित्तौड राज्य तक और दक्षिण मे विदिशा तक था। जैन, बौद्ध और भागवत धर्मों की देव–मूर्तियाँ बनने लग गई थी और उनका व्यापक प्रचार होने लगा था। उसी काल मे रामायण, महाभारत तथा मनुस्मृति का वर्तमान रूप निश्चित हुआ और महाभाष्य की रचना हुई थी। भास के नाटक भी उसी काल मे रचे गये थे।

**शूरसेन का महत्व**—शु ग सम्राटो के शासन–काल मे शूरसेन प्रदेश मगध साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण भाग था। उस काल के प्रसिद्ध नगरो मे मथुरा की गणना होती थी। यहाँ से होकर सभी प्रमुख राजमार्ग देश के विभिन्न स्थानो मे जाते थे। पुष्यमित्र के शासन काल मे प्रसिद्ध वैयाकरण पतजलि हुआ था, जिसने पाणिनि कृत अष्टाध्यायी पर 'महाभाष्य' की रचना की थी। उसने मथुरा के निवासियो की विशिष्टता के विषय मे कहा है—**"सांकाश्यकेभ्यश्च पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा अभिरूपतरा इति।"** (महाभाष्य, ५-३-५७) अर्थात्—मथुरा के निवासी सकाश्य और

पाटलिपुत्र मे रहने वालो से भी अधिक सु दर और समृद्ध होते है। उस काल मे मथुरा बौद्ध, जैन और भागवत तीनो धर्मों का केन्द्र था, इसलिए धार्मिक दृष्टि से भी उसका महत्व वहुत वढा हुआ था। उस समय शु ग सम्राटो के प्रोत्साहन से यहाँ पर भागवत धर्म की विशेप रूप से उन्नति हुई थी।

**यूनानियो की स्थिति**—सिकदर के समय से ही यूनानी भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमात पर वहुत वडी सख्या मे जम गये थे। वे भारत पर आक्रमण करने वाले पहिले प्रमुख विदेशी थे, और जव-तव भारतीय सीमाओ मे घुस-पैठ करते रहते थे। चद्रगुप्त मौर्य ने उनके सेनापति सिल्युकस को पराजित कर उसे भारतीय हितो के अनुकूल सधि करने को वाध्य किया था। परवर्ती मौर्य सम्राटो की शक्तिहीनता का लाभ उठा कर यूनानियो ने अपने प्रभाव क्षेत्र को वढाने का प्रयास किया, किंतु शु ग सम्राट पुष्यमित्र ने उसे विफल कर दिया था। 'युग पुराण' मे लिखा है, शु गो के शासन-काल मे यूनानियो ने फिर एक वडा आक्रमण किया था। वे मथुरा पहुँच गये थे, किंतु शु ग सेना ने उन्हे पीछे खदेड दिया था। उस काल मे यूनानियो का अधिकार गधार से लेकर पचनद प्रदेश तक था और तक्षशिला उनकी राजधानी थी। परवर्ती शु ग काल मे तक्षशिला के यूनानी शासक अतलिकित ( एरिटअल काइडस ) ने शु ग सम्राट काशिपुत्र भागभद्र से सधि कर ली थी और अपने राजदूत होलिओदोर को ( होलियोडोरस ) उसके दरवार मे भेजा था।

**होलिओदोर और उसका गरुड़ध्वज**—मौर्य-शु ग काल मे चाहे विदेशी यूनानी राजनैतिक दृष्टि से निरकुश थे, किंतु सास्कृतिक दृष्टि से वे भारत से पराजित हो गये थे। उनमे से अधिकाश ने भारतीय सस्कृति और धर्म को स्वीकार कर लिया था। अतलिकित ने अपने जिस राजदूत होलिओदोर को शु ग दरवार मे भेजा था, वह भागवत धर्म का अनुयायी था। उसने भगवान् वासुदेव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए उस काल की शु ग राजधानी विदिशा मे एक 'गरुडध्वज' की स्थापना की थी। उक्त स्तभ के अभिलेख मे उस यूनानी राजदूत ने अपने को 'भागवत' घोपित किया है। वह स्तभ विदिशा के वेसनगर नामक स्थान मे अभी तक विद्यमान है।

**मिनेंडर**—शु ग साम्राज्य के अतिम काल मे तक्षशिला के यूनानी राज्य का अधिपति मिनेडर था। उसने सिंधु और सौराष्ट्र प्रदेशो को पददलित कर माध्यामिका ( वर्तमान चित्तौड के समीप का सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थल ) पर अधिकार कर लिया था। फिर उसने मथुरा और साकेत राज्यो को भी अपने प्रभाव क्षेत्र मे सम्मिलित किया था। इस प्रकार वह एक वीर सेनानायक था, किंतु उसका महत्व उसकी वीरता से भी अधिक उसकी विद्वता के कारण है। उसने तक्षशिला के विश्वविद्यालय मे उच्च शिक्षा प्राप्त की थी और वह अपने काल का एक वडा विद्वान, कला-कोविद और धर्म-तत्त्व का ज्ञाता था। उसे धार्मिक विद्वानो से शास्त्रार्थ करने मे वडी रुचि थी। उसे गर्व था कि धर्म सवधी विवाद मे उसे कोई भी पराजित नही कर सकता। एक वार उसने स्थविर नागसेन से अनेक दार्शनिक प्रश्न किये थे। उस बौद्ध विद्वान ने उनका उत्तर ऐसी उत्तमता से दिया कि मिनेडर का समस्त ज्ञान-गर्व दूर हो गया और वह नतमस्तक होकर उनका अनुगत हो गया था। उसने अपने पुत्र को राज्याधिकार देकर नागसेन से प्रव्रज्या ग्रहण की और आप बौद्ध धर्म के प्रचार मे लग गया था। बौद्ध साहित्य मे उसका नाम 'मिलिंद' मिलता है। मिनेंडर और नागसेन के जो प्रश्नोत्तर हुए थे, वे पालि ग्रथ 'मिलिंद पञ्ह' (मिलिंद प्रश्न) मे सकलित है। उसके सिक्के कावुल से मथुरा तक मिले हैं। उन पर उसके नाम के अतिरिक्त धर्म चक्र भी अकित है, जो बौद्ध धर्म के प्रति उसकी निष्ठा का प्रमाण है।

# कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियाँ

ब्रज सस्कृति के इतिहास का आदि काल प्रागैतिहासिक युग से विक्रम सवत् के आरभ तक की अत्यत दीर्घ कालीन असख्य घटनाओ और अनेक विशिष्ट व्यक्तियो की अपार प्रवृत्तियो को अपने विशाल अचल मे समेटे हुए है। उनमे से अगणित घटनाएँ और प्रचुर प्रवृत्तियाँ विस्मृति के अधकार मे अदृश्य हो गई। जिनका अस्तित्व किसी प्रकार स्मृति के आलोक मे जगमगाता रहा, उनमे से भी कुछ का ही अत्यत सक्षिप्त विवरण गत पृष्ठो मे दिया जा सका है। उनसे सबधित कुछ ऐसी उपलब्धियाँ है, जिनका उल्लेख करना अत्यत आवश्यक है, अत यहाँ उनका सकेत मात्र किया जा रहा है।

**राष्ट्र, राज्य और साम्राज्य**—प्रकृति ने हमारे देश भारतवर्ष को एक सपूर्ण राष्ट्र के रूप मे निर्मित कर इसे तीन ओर से अनघ्य पर्वतो और दुर्गम वनो से तथा एक ओर अथाह सागर से सुरक्षित किया है। यहाँ के निवासी प्राचीन आर्यों को अपने राष्ट्र का यह गौरवशाली स्वरूप प्रागैतिहासिक काल मे ही ज्ञात और मान्य था। वेदो मे 'राष्ट्र' शब्द और उसके स्वरूप का अनेक बार उल्लेख हुआ है। 'राष्ट्र' की इस प्राचीनतम परपरा से होते हुए भी यहाँ प्रागैतिहासिक काल से ही अनेक छोटे-बडे 'राज्य' भी रहे है, जो अपने विशिष्ट स्वरूप की रक्षा करते हुए विशाल भारतीय राष्ट्र का अपने को अग मानते रहे है। इस देश मे ऐसे अनेक चक्रवर्ती राजा हुए, जिन्होने छोटे-बडे बहुसख्यक राज्यो पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर विस्तृत साम्राज्य का निर्माण किया था, किंतु उनका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता को सुदृढ करना था। उसके लिए उन्होने उन राज्यो को समाप्त न कर उन्हे अपनी परपरा और पद्धति के अनुसार प्रगति करने को जीवित रहने दिया था।

सूर्य वश के प्रतापी महाराजा मान्धाता और चद्रवश के यशस्वी नरेश भरत ऐसे चक्रवर्ती सम्राट थे, जिन्होने पूर्वोक्त दृष्टिकोण से भारतीय साम्राज्य का सगठन किया था। मान्धाता के वश मे महाराज राम हुए, जिन्होने अयोध्या से लका तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर उत्तर और दक्षिण की राष्ट्रीय एकता को पुष्ट किया था। उन्होने लका के राज्य को जीत कर भी उसके अस्तित्व की रक्षा के लिए उसे विभीषण को सौपा था। भरत के वश की एक शाखा मे पाडव और दूसरी मे श्री कृष्ण हुए, जिन्होने द्वारका से प्राग्ज्योतिषपुर ( असम ) तक अपनी प्रभुता की प्रतिष्ठा कर पश्चिम और पूर्व के राष्ट्रीय एकीकरण को परिपुष्ट किया था। उन्होने भी मगध, प्राग्ज्योतिषपुर और दूसरे राज्यो को जीत कर उन्हे उनके परपरागत राजवशो के अधीन ही रहने दिया था। इस प्रकार उत्तर से दक्षिण तक और पश्चिम से पूर्व तक समस्त भारतवर्ष राष्ट्रीय एकता के सुदृढ बधन मे बँध गया था।

यूनानियो के आक्रमण काल तक 'राष्ट्र', 'राज्य' और 'साम्राज्य' के पारस्परिक सबध की यही परपरा प्रचलित रही थी। जब सिकदर ने भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमात के छोटे राज्यो को पराजित कर इस देश पर अधिकार करना चाहा, तब यहाँ के राजनीति-विशारदो को राज्य परपरा की उस प्राचीन पद्धति पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। उन्होने अनुभव किया कि विदेशियो के आक्रमण से इस देश की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि छोटे राज्यो के अधिकारो को सीमित किया जाय और उन पर एक चक्रवर्ती राजा के सार्वभौम अधिकार

की प्रतिष्ठा की जाय। उस सिद्धात का सर्व प्रथम प्रतिपादक विष्णुगुप्त उपनाम चाणक्य था, जो कूटनीति का विलक्षण विद्वान और राजनीति का प्रगाढ पडित था। उसने चद्रगुप्त के नेतृत्व मे अत्यत शक्तिशाली सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना का आयोजन किया था। उसके कारण ही उस समय यूनानियो के आक्रमण का सकट समाप्त हो सका था। इस प्रकार तात्कालिक परिस्थिति के कारण 'मौर्य साम्राज्य' की स्थापना से भारत मे एक नये साम्राज्यवाद का वीजारोपण हुआ था और फिर वह कई शताब्दियो तक मगध मे फूलता–फलता रहा था।

**राज्य प्रशासन**—इस देश मे राज्यो के प्रशासन के लिए अत्यत प्राचीन काल से ही कई प्रकार की शासन प्रणालियाँ प्रचलित रही है, जो उन राज्यो की परपरा एव परिस्थिति के अनुसार निश्चित होती थी। उन्हे आजकल के राजतत्र, जनतत्र अथवा गणतत्र के सदृश कहा जा सकता है। कभी–कभी कई राज्यो का 'सघ' होता था, जिसका अध्यक्ष उन राज्यो के प्रतिनिधियो द्वारा निर्वाचित किया जाता था। सघ के अतर्गत विभिन्न दल होते थे, जिन्हे 'वर्ग' कहा जाता था। श्री कृष्ण के काल मे यादवो के कई गण राज्य थे, जिनमे अधक, वृष्णि, कुकुर और भोज वशियो के राज्य प्रसिद्ध थे। शूरसेन प्रदेश मे अधक और वृष्णि गण राज्यो का सघ था, जो 'अधक–वृष्णि सघ' कहलाता था। उस सघ के अतर्गत विभिन्न राजनैतिक वर्गो के नेताओ के रूप मे उग्रसेन, वसुदेव, अक्रूर आदि के नाम मिलते है।

**राजा और उसके कर्त्तव्य**—राज्यो के शासनाध्यक्षो को 'राजा' कहा जाता था। राज्यो की परपरा के अनुसार राजा समय–समय पर निर्वाचित भी होता था और वश–परपरागत भी होता था। निर्वाचित होने पर उसकी नियुक्ति प्राय सर्व सम्मति से होती थी। बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी सप्रदाय की अनुश्रुति के अनुसार मथुरा इस भू–तल का 'आदि राज्य' था और यहाँ का राजा सर्व सम्मति से निर्वाचित होने के कारण 'महा सम्मत' कहलाया था[1]। राजा का कर्त्तव्य होता था कि वह भीतरी और बाहरी शत्रुओ से देश की रक्षा करे और जन–प्रतिनिधियो के परामर्श के अनुसार प्रजा का धर्म पूर्वक पालन करे। उसके लिए राज्याभिषेक के अवसर पर उसे शपथ लेनी पडती थी। यदि राजा कर्त्तव्य भ्रष्ट होता था, तो उसे उसके पद से हटा दिया जाता था। राजा वेन के अत्याचारी और प्रजापीडक होने के कारण ही जनता ने उसे राज्यच्युत कर मार डाला था। इस प्रकार प्राचीन भारत मे राजा के स्वेच्छाचारी होने की गु जायश नही थी।

श्री विजयमित्र शास्त्री ने वैदिक साहित्य के प्रमाणो द्वारा राजा के निर्वाचन और उसके कर्त्तव्य का उल्लेख करते हुए लिखा है,—"वेदो मे कही भी राजा की पूर्ण स्वतत्रता का प्रमाण नही मिलता। सर्वत्र उसे मत्री–मडल तथा साधारण सभा के अधीन रहने का उल्लेख किया गया है। राजा के निर्वाचन के समय के मत्र है,—'हे राजन्! हम तुझे लाये हैं। आओ, स्थिर होकर रहो, चचल न हो। सब प्रजा तुझे हृदय से चाहे। ( अथर्व ६–८७–१ ) हे राजन्! राज्य की व्यवस्था के लिए प्रजा तुझे निर्वाचित करे। राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ सिहासन को स्वीकार करो तथा हम लोगो को सब प्रकार का भौतिक सुख प्रदान करो। ( अथर्व ३–४–२ ) राज्याभिषेक के अवसर पर जब राजा शपथ लेता था, तब प्रजा के प्रतिनिधि उससे कहते थे,—'तुम यहाँ पर्वत के समान

---

(१) उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास, ( पृष्ठ ३० )

अविचल रहो। ऐसा कोई काम न करना कि कही तुम्हे पदच्युत होना पडे। इन्द्र के समान पूर्ण निश्चल होकर यहाँ रहो और इस राष्ट्र को अच्छी तरह सँभालो। ( ऋग्वेद १०-१३७-२ )[1]।"

**युवराज**—जिन राज्यो मे वशानुगत राजा होने की परपरा थी, वहाँ राजा का ज्येष्ठ पुत्र युवराज कहलाता था। वह राजा के जीवन काल मे उसे प्रशासन मे सहायता करता था और उसकी मृत्यु होने पर स्वय राजा होता था।

**मत्री-मडल**—राजा को परामर्श देने के लिए एक मत्री-मडल होता था, जिसमे कई मत्री होते थे। मत्री गण अत्यत बुद्धिमान, अनुभवी तथा विविध विद्याओ और कलाओ के ज्ञाता हुआ करते थे। मत्रियो मे सबसे ऊँचे पद पुरोहित और अमात्य के थे। पुरोहित राजा को धर्म शास्त्रो की व्यवस्था से परिचित रखता था और राज्य सचालन मे उसे धर्म से विमुख नही होने देता था। राज्य के सभी धार्मिक और शिक्षा सबधी कार्य पुरोहित की देख-रेख मे होते थे। रामचद्र के काल मे रघुवशी राजाओ के कुल पुरोहित वशिष्ठ ऋषि थे तथा श्री कृष्ण के काल मे यदुवशियो और गोपो के पुरोहित क्रमश गर्ग मुनि और शाडिल्य मुनि थे। उनका अपने-अपने समय मे बडा प्रभाव था। अमात्य का काम सभी प्रमुख राजकर्मचारियो की नियुक्ति करना और उन पर अनुशासन रखना था। वह गुप्तचरो द्वारा राज्य की आतरिक स्थिति और जनता के हाल-चाल की पूरी जानकारी रखता था, परराष्ट्र नीति का सचालन करता था और विदेशो मे राजदूतो की नियुक्ति करता था। उस काल का अमात्य आजकल के गृह मत्री और विदेशी मत्री दोनो के सदृश होता था। पहिले पुरोहित और अमात्य के पद पृथक-पृथक होते थे, किंतु मौर्य काल मे उन्हे मिला कर एक कर दिया था। चद्रगुप्त मौर्य के काल मे सर्व प्रथम चाणक्य को दोनो पदो पर नियुक्त किया गया था। राज्य शासन के अन्य विभागो का दायित्व दूसरे मत्रियो पर था, जिनमे सेनापति का महत्व अधिक था। वह रक्षा मत्री के रूप मे सेना और युद्ध सबधी विभागो की देख-भाल करता था। युद्ध मे सेना के सचालन का उत्तरदायित्व सेनानायक का था, जो सेनापति के अधीन काम करता था। राजा की मृत्यु होने पर और युवराज के अभाव मे मत्री-मडल तब तक राजा का काम करता था, जब तक नये राजा की नियुक्ति नही होती थी।

**समिति और सभा**—राजा और उसके मत्री-मडल की सहायता के लिए जनता के प्रतिनिधियो की कई सस्थाएँ होती थी, जिनमे 'समिति' और 'सभा' मुख्य थी। वेदो मे उन्हे प्रजापति की दो कन्याएँ कहा गया है—"सभा च मा समितिश्चावता प्रजापतेर्दुहितरौ सविदानौ" ( अथर्व वेद )। 'समिति' और 'सभा' के वास्तविक स्वरूप और उनके कार्यो के सबध मे विद्वानो मे मतभेद है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार समिति 'राष्ट्रीय ससद्' और 'सभा' उसकी 'कार्यकारिणी' थी। श्री लुडविक के मतानुसार वे क्रमश वर्तमान काल के 'लोअर' और 'अपर' हाउसो के समान थी। 'सभा मे प्राय वयोवृद्ध और अनुभवी व्यक्ति होते थे, जिन्हे 'सभासद' कहा जाता था। 'सभा' के प्रधान को 'सभापति' कहते थे। 'समिति' और 'सभा' मे प्रत्येक व्यक्ति स्वतत्रता पूर्वक अपना मत प्रकट करता था और वाद-विवाद मे भाग लेता था। जो व्यक्ति भाषण कला मे कुशल होते थे, वे अपना मन्तव्य पारित कराने मे अधिक सफलता प्राप्त करते थे।

---

(१) राष्ट्र और राष्ट्रीयता की वैदिक कल्पना, ( 'आज', १५-१०-६२ )

प्रशासनिक कार्यो के अतिरिक्त 'सभा' मे न्याय भी होता था। इस प्रकार वह राष्ट्रीय न्यायालय का काम भी करती थी। प्राचीन भारत मे राजा ही प्रधान न्यायाध्यक्ष भी हुआ करता था। सभा के सभासद सभवतः राजा को न्याय सबधी परामर्श देते थे।

**निर्वाचन और मत-दान**—'समिति' एव 'सभा' के प्रतिनिधियो की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती थी और निर्वाचन प्राय मत-दान द्वारा होता था। उस काल मे मत-दान को 'छद' कहते थे। छद शब्द का अर्थ है 'स्वतत्रता'। चूँकि मत-दान मे पूरी स्वतत्रता रहती थी, इसीलिए उसे 'छद' नाम दिया गया था। मत-दान से पहिले इस बात की चेष्टा की जाती थी कि निर्वाचन सर्व सम्मति से हो। यदि वैसा सभव न होता, तब 'मत' लिये जाते थे। उस काल की मत-दान विधि का उल्लेख करते हुए डा० सत्यप्रकाश ने लिखा है,—"मत प्रदान करने की जो विधि थी, उसे 'शलाका ग्रहण' करते थे। उसमे काठ की चौकोर और लबूतरी शलाका का उपयोग किया जाता था। वे कई रग की होती थी और आसानी से मुट्ठी मे आ सकती थी। उन शलाकाओ को ग्रहण या एकत्र करने वाले अधिकारी को 'शलाका ग्राहायक' कहते थे। वह चुनाव अधिकारी होता था। शलाकाओ को ग्रहण और एकत्र करने पर वह गिनती करता और चुनाव फल की घोषणा करता था। उक्त अधिकारी के लिए आवश्यक था कि वह निष्पक्ष हो, द्वेष रहित हो, मूर्ख न हो, भयभीत न हो। मत-दान अधिकारी को विशेष प्रस्ताव द्वारा नियुक्त किया जाता था। पालि ग्रथो के अनुसार मत-दान करने का अधिकार हिंदू कुल के आधार पर था, किंतु कुछ अन्य लोगो को 'विशेपाधिकार' भी दिया जा सकता था। विदेशियो को गण राज्य की नागरिकता स्वीकार करने पर ही मत-दान का अधिकार दिया जाता था। मत-दान अधिकारी को इस बात के पूरे अधिकार थे कि अनुचित मत-दान के फल को वह स्थगित या रद्द कर सकता था[1]।"

**राष्ट्र-रक्षा और सैनिक प्रबंध**—राजा और उसके मत्रीमडल का एक प्रमुख कार्य आतरिक और वाह्य सकट से राष्ट्र की रक्षा करना था। उसके लिए सैनिक प्रबध और युद्ध सचालन का बडा महत्व था। राज्य के सेनापति और सेनानायक उनके लिए विशेष रूप से उत्तरदायी थे। भारत की प्राचीनतम अनुश्रुतियो और ग्रथ रचनाओ मे ऐसे अनेक युद्धो का उल्लेख मिलता है, जो दुष्टो और शत्रुओ का दमन करने के लिए किये गये थे। वैदिक साहित्य मे 'देवासुर सग्राम' के रूप मे आर्य और अनार्यो के अनेक युद्धो का उल्लेख हुआ है। हिंदू धर्म मे मान्य विष्णु के १० अवतारो मे से बुद्धावतार को छोड कर ९ अवतार दुष्टो का सहार करने के लिए ही हुए है। रामायण और महाभारत जैसे गौरवशाली ग्रथो की रचना युद्ध काव्यो के रूप मे हुई है।

**युद्ध के देवता और उनके शस्त्रास्त्र**—भारतीय सस्कृति मे ब्रह्मा को सृष्टिकर्त्ता, विष्णु को पालनकर्त्ता और रुद्र को विनाशकर्त्ता माना गया है। इस प्रकार महादेव रुद्र युद्ध के देवता होते है, किंतु विष्णु के स्वरूप, गुण और आयुधो के कारण वे शाति और प्रजा-पालन के साथ ही साथ युद्ध के भी प्रमुख देवता कहे जा सकते है। विष्णु अपनी चार भुजाओ मे शख, चक्र, गदा और पद्म धारण करते है। वे शख से युद्ध की घोषणा और शत्रु का आह्वान करते है, चक्र एव गदा से

---

(१) **मतदान व्यवस्था : वेदो से बुद्ध तक,** ('आज', काशी)

शत्रु का सहार करते है, फिर शत्रु पक्ष की पूर्ण पराजय के उपरात वे पद्म मे शांति की स्थापना करते है। वैसे महिषासुरमर्दिनी महाकाली, असुर–सहारक महादेव और देवताओ के सेनापति कार्तिकेय भी युद्ध से सबधित देवी–देवता है।

विष्णु का प्रमुख आयुध चक्र, महादेव का त्रिशूल, इद्र का वज्र, काली का असि (तलवार), परशुराम का परशु (फर्सा), राम का धनुष–वाण, हनुमान का गदा (मुग्दर), यम का पाश (रस्सी का फदा अथवा जाल) और कृष्ण का सुदर्शन (एक प्रकार का चक्र) है। ये सभी शस्त्रास्त्र प्राचीनतम काल से ही युद्धो मे प्रयुक्त किये जाते रहे है।

**युद्ध कला**—प्राचीनतम उल्लेखो से ज्ञात होता है कि यहाँ युद्व कला समुन्नत रूप मे विद्यमान थी। सैनिक शिक्षा, नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रो का निर्माण और व्यूह रचना के विशद विवरण इसके प्रमाण है। यजुर्वेद का उपवेद 'धनुर्वेद' कहलाता है, जिसमे युद्व विद्या के सभी अगो का वर्णन किया गया है। वेदो मे सैनिको का गुण गान और उन्हे शस्त्रास्त्रो के अभ्यास की प्रेरणा के अनेक मत्र मिलते है। यथा—"नमो विल्मिने च कवचिने च, नमो वर्मिणे च वरूथिने च। नम श्रुताय च श्रुत सेनाय च, नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च।।" सैनिक वेश मे सजे हुए योद्धा के लिए हमारा नमस्कार हो। कवच धारण करने वाले तथा वर्म धारण करने वाले वीर के लिए हमारा नमस्कार हो। वीरता मे विश्वविश्रुत वीर के लिए हमारा नमस्कार हो। सेना के आगे–आगे चलने वाले वीरो को हमारा नमस्कार हो। युद्व-भूमि मे दुदुभी अर्थात् नगाडे वजाने वाले तथा सेना को उत्साहित करने वाले को हमारा नमस्कार हो। (यजु० १६–३५) सहस्राणि सहस्रशो वाह्वोस्तव हेतय। तासामीशानो भगव पराचीना मुखाकृधि।। हे सेनापते! वाहुओ मे चलाये जाने योग्य हजारो प्रकार के शस्त्रास्त्र है। उनको भली भाँति चलाना सीख लो। उन शस्त्रास्त्रो पर अपना आधिपत्य प्राप्त कर लो, जिससे अवसर आने पर उन शस्त्रास्त्रो के द्वारा शत्रुओ को परास्त कर सको। (यजु० १६–५३)

महाभारत काल मे युद्ध कला वडी उन्नत अवस्था मे थी। उस समय क्षत्रिय वालको को आरभ से ही इसकी विधि पूर्वक शिक्षा दी जाती थी। उन्हे नाना प्रकार के अस्त्र–शस्त्रो का चलाना, घुडसवारी करना, रथ चलाना, व्यूह रचना करना आदि सभी वाते योग्य शिक्षको द्वारा वतलाई जाती थी। श्री कृष्ण और शल्य जैसे वडे योद्धा और नरेश कुशल सारथी भी थे। इससे ज्ञात होता है कि राजकुमारो को भी शस्त्र विद्या के साथ ही साथ अश्व–चालन की भी शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक था। महाभारत के युद्व मे अनेक प्रकार के अद्भुत अस्त्र–शस्त्रो का प्रयोग किया गया था। शब्द वेधी वाण, अग्नि–वर्षा करने वाले वाण, आँधी–पानी लाने वाले वाण के अतिरिक्त मत्र शक्ति से चलाये जाने वाले दिव्य अस्त्रो का वर्णन पढ कर आश्चर्य होता है। समोहनास्त्र एक प्रकार की विषैली गैस छोडने वाला आयुध था। पाशुपतास्त्र और नारायणास्त्र आजकल के अणु वमो की तरह ही सर्वसघारक थे।

**बारूदी अस्त्र**—साधारणतया यह माना जाता है कि प्राचीन भारत के निवासी बारूद से परिचित नही थे। उसका प्रचलन इस देश मे मुसलमानी काल मे हुआ था। इसके विरुद्ध प्राचीन उल्लेखो से ज्ञात होता है कि उस काल मे वारूद जैसे किसी पदार्थ से चलने वाले शस्त्रास्त्र विद्यमान थे। वेदो मे 'शतघ्नी' का उल्लेख मिलता है, जो एक प्रकार की तोप ही होगी।

शुक्रनीति मे 'अग्नि चूर्ण' का नाम आया है, जिसे बारूद ही कहा जा सकता है। रामायण और महाभारत के युद्धो मे आग्नेयास्त्रो का प्रचुरता से प्रयोग हुआ था। उन अस्त्रो को बारूद के बिना चलाना सभव नही था।

**सेना और उसके चार अंग**—प्राचीन काल मे सेना के चार अग होते थे, जिनके कारण वह 'चतुरगिणी' कहलाती थी। वे अग १ पदाति (पैदल) २, अश्वारोही (घुडसवार), ३. रथी (रथ सवार) और ४ हस्ति (हाथी) थे। नौसेना का विकास कुछ बाद मे हुआ होगा, अन्यथा उसे भी सेना के प्रमुख अगो मे गिना जाता। वैसे प्राचीनतम अनुश्रुतियो और ग्रथो मे जलयानो का ही नही, वायुयानो तक का उल्लेख मिलता है। रामायण काल मे पैदल सेना की और महाभारत काल मे रथ सेना की प्रमुखता थी। हाथी सेना का उपयोग शत्रु के सैनिको को रोदने और दुर्गो को नष्ट करने के लिए किया जाता था। दोनो कालो मे युद्ध के प्रधान आयुध धनुष-बाण थे। वैसे अन्य शस्त्रास्त्रो का भी उपयोग किया जाता था। बडे-बडे राज्यो मे सेना के चारो अगो के सैनिको की सख्या बहुत अधिक होती थी। चद्रगुप्त मौर्य की सेना मे ६ लाख पैदल, ३० हजार अश्वारोही, २४ हजार रथी और ३६ हजार हस्ति सैनिक थे। उन सबकी सख्या ६ लाख ९० हजार थी और वे सभी वेतन भोगी थे।

**जलपोत और नौसेना**—पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि भारतवर्ष मे जलपोतो का निर्माण और नौसेना का सगठन सबसे पहिले मौर्य काल मे हुआ था। उसका श्रेय मौर्य सम्राट चद्रगुप्त को है[1]। उक्त मत के विरुद्ध भारतीय साहित्य मे जो उल्लेख मिलते है, उनसे इस देश मे जहाजरानी की बहुत प्राचीन परपरा सिद्ध होती है। श्री सुमति मोरार जी ने लिखा है,—"भारत मे जहाजरानी उतनी ही प्राचीन है, जितनी उसकी सभ्यता। अपने समुद्री व्यापार के द्वारा ही भारत ने यूनान और मिस्र जैसे प्राचीन देशो से सपर्क स्थापित किया था। वैदिक साहित्य और विशेष कर अथर्ववेद सहिता मे भारतीय जलपोतो के अनेक उल्लेख मिलते है। पालि साहित्य मे जलपोतो और समुद्री यात्राओ का विशद वर्णन हुआ है। उस काल मे कई मस्तूल वाले बडे-बडे जहाजो का निर्माण किया जाता था[2]।"

पुराणो मे भारतीय जलपोतो की बहुत प्राचीन परपरा मिलती है। माहिष्मती का हैहयवशी यादव राजा कार्तवीर्य अर्जुन 'सहस्रबाहु' कहलाता था। 'सहस्रबाहु' का अर्थ 'एक सहस्र हाथो वाला' करना हास्यास्पद होगा, क्यो कि किसी व्यक्ति के इतने अधिक हाथ नही होते। 'बाहु' का अर्थ 'सेना' भी है। कार्तवीर्य को जहाँ 'सहस्रबाहु' लिखा गया है, वहाँ प्राय समुद्र का उल्लेख हुआ है, अत 'बाहु' का सबध समुद्री सेना से करना ठीक होगा। उदाहरण के लिए 'मत्स्य पुराण', अध्याय ४३ के श्लोक सख्या ६ से ४० तक देखिये। उनमे से कुछ श्लोको का अभिप्राय है—

"वीर राजा कार्तवीर्य अर्जुन अपने सहस्र बाहुओ से समुद्र को विलोडित कर देता था। वह राजा अपने सहस्र बाहुओ से छोटी मछलियो, बडे मत्स्यो और जल जीवो को चकनाचूर कर देता था। उसके सहस्र बाहुओ से समुद्र मे खूब झाग उठते थे और भयकर भँवरो से समुद्र विक्षुब्ध हो जाता था।"

---

(१) वि० ए० स्मिथ कृत 'अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया,' पृष्ठ १३२

(२) प्राचीन भारत मे जहाजरानी, (टाइम्स आफ इडिया, सन् ६० का वार्षिक विशेषाक)

पूर्वोक्त श्लोको के आधार पर 'सहस्रबाहु' का अर्थ सहस्र जलपोतो अथवा सहस्र डाँडो वाले बडे युद्ध पोत का स्वामी करना उचित होगा। इससे अनुमान होता है कि कार्तवीर्य अर्जुन के अधिकार मे एक हजार जलपोत थे। महाभारत (आदि पर्व १५१–५) मे लिखा है, विदुर जी ने पाडवो के लिए भागीरथी पार करने को यत्रचालित नौका भेजी थी।

**वायुयान**—वर्तमान काल मे वायुयानो का प्रचार पिछले ५० वर्ष से ही हुआ है, किंतु भारत मे उनकी विद्यमानता के सकेत प्राचीन काल मे भी मिलते है। रामायण मे एक बडे वायुयान 'पुष्पक विमान' का उल्लेख मिलता है। हनुमान द्वारा कई बार आकाश मे उडने का भी उल्लेख किया गया है। एक बार वे सीता जी की खोज मे लका गये थे और दूसरी बार वे लक्ष्मण जी की मूर्छा दूर करने को सजीवन बूँटी लेने गये थे। उस समय आकाश मे उडने के लिए उन्होने वायुयान का ही उपयोग किया होगा। महाभारत मे शाल्वराज के एक ऐसे विमान का वर्णन मिलता है, जो आकाश मे उडता था, जल मे तैरता था और भूमि पर चलता था।

**सामाजिक व्यवस्था**—प्राचीन भारतीय समाज का आधार वर्ण व्यवस्था थी। एक वर्ण का व्यक्ति कर्मानुसार वर्ण-परिवर्तन भी कर सकता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णो को समाज मे उच्च माना जाता था और उनके प्रथक-प्रथक कर्म निश्चित थे। शूद्र वर्ण के अतर्गत कुछ हीन जातियाँ भी थी, किंतु आजकल की सी अनेक जाति-उपजातियो का अस्तित्व नही था। कुछ दास भी थे, जो घरेलू नौकरो की तरह रहते थे। वे अपना मूल्य चुका कर स्वतत्र हो सकते थे। आश्रम व्यवस्था प्रचलित थी। पहिले ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमो का ही पालन किया जाता था। वानप्रस्थी अपनी पत्नियो सहित वनो मे एकात वास कर आध्यात्मिक चिंतन करते थे। जब वे वैदिक कर्मकाड की अपेक्षा ज्ञान मार्ग की ओर अधिक उन्मुख हो गये, तब सन्यास आश्रम भी प्रचलित हो गया था। बौद्ध काल मे वर्णो और आश्रमो की प्राचीन व्यवस्था मे क्रातिकारी परिवर्तन हुआ था।

आर्यो मे सयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी। सम्मिलित परिवार को 'कुल' और उसके वयोवृद्ध व्यक्ति को 'कुलपति' कहा जाता था। प्रत्येक कुल पर 'कुलपति' का अनुशासन रहता था। स्त्रियो को पुरुषो के समान अधिकार प्राप्त थे। अनेक स्त्रियाँ विदुषी, ब्रह्मवादिनी और मत्रद्रष्टा भी थी। साधारणतया विवाह माता-पिता की इच्छानुसार होते थे, किंतु कन्याएँ स्वयवर भी कर सकती थी। सामान्य पुरुष एक स्त्री से ही विवाह करता था, किंतु राजकीय पुरुषो की कई पत्नियाँ तक होती थी। स्त्रियाँ सदाचारिणी और सुशीला थी। पति की मृत्यु होने पर स्त्री के सती होने का बहुत कम रिवाज था। निस्सतान विधवा कुल की वृद्धि के लिए देवर अथवा सपिड व्यक्ति से नियोग द्वारा सतानोत्पत्ति कर सकती थी, किंतु केवल एक सतान। नियोग मे काम-वासना अथवा व्यभिचार की भावना नही होती थी। विधवा-विवाह भी कुछ अशो मे प्रचलित था। आर्यो का अनार्य जातियो के साथ ससर्ग होने पर उनसे उत्पन्न सतान 'व्रात्य' कहलाती थी। अनार्यो के अनेक कुल आर्यो मे घुल-मिल गये थे। बडे-बडे नगरो मे कुछ गणिकाएँ भी होती थी, जो धनाढ्य व्यक्तियो से प्रचुर धन प्राप्त कर उनका मनोरजन किया करती थी। मनोविनोद के अन्य साधनो मे गायन, वादन, नृत्य, जल विहार, वन विहार, द्यूत कर्म, मल्लयुद्ध, आखेट तथा विविध प्रकार के खेल थे। उनमे सामान्य और विशिष्ट सभी वर्गो के व्यक्ति भाग लेते थे।

**वस्त्राभूषण**—इस देश मे प्राचीनतम काल से ही विभिन्न वस्त्राभूषणो के उपयोग किये जाने का उल्लेख मिलता है। पहिले ऊनी वस्त्रो का प्रयोग होता था, बाद मे सूती और रेशमी वस्त्र भी काम मे लाये जाने लगे थे। अधिकतर बिना सिले हुए वस्त्रो का व्यवहार किया जाता था। पुरुष एक अधोवस्त्र ( धोती ) पहिन कर उत्तरीय ( चादर ) ओढते थे और सिर पर उष्णीश ( पगडी ) धारण करते थे। स्त्रियाँ नीवी ( अधोवस्त्र ) और वासस ( मुख्य वस्त्र ) पहिनती थी। किनारीदार कपडे भी बनते थे तथा प्रद्यात नामक एक लैसदार अथवा कामदार वस्त्र का भी उल्लेख मिलता है। साधारणतया सब लोग नगे पैर रहते थे, किंतु शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शूकर की खाल के बने जूते और चप्पलो का भी उपयोग किया जाता था। स्त्री और पुरुष दोनो ही आभूषण पहिनते थे। राजा-महाराजा और विशिष्ट राजकीय पुरुष मुकुट धारण करते थे।

**शिक्षा**—प्राचीन काल मे शिक्षा गुरुकुलो मे दी जाती थी। गुरु जन एकात बनो मे निवास करते हुए अपने स्थानो मे ही गुरुकुलो का सचालन करते थे। एक-एक गुरुकुल मे सैंकडो विद्यार्थी होते थे, जो गुरुओ के पारिवारिक जनो की भाँति रहते थे। विद्यार्थियो मे सामान्य छात्रो के साथ ही साथ राजकुमार और सभ्रात व्यक्तियो के पुत्र भी होते थे, किंतु सब के साथ बिना किसी भेद-भाव के एक सा व्यवहार किया जाता था। गुरु-शिष्यो का सबध आत्मीय और मधुर होता था। गुरुओ और अध्यापको का समाज मे बडा सन्मान था और राज्य की ओर से उन्हे आर्थिक अनुदान के साथ सब प्रकार की सुविधाएँ दी जाती थी। शिक्षा प्राय. नि शुल्क होती थी। अति काल तक शिक्षा प्रदान करने की पद्धति मौखिक रही थी, कालातर मे वह लिखित रूप मे भी दी जाने लगी थी। शिक्षा के विषय अगोपाग सहित चारो वेद, सभी शास्त्र, पुराण तथा विविध विद्याएँ और कलाओ से सबधित थे। ज्ञान-प्रसार के लिए विचार-विमर्श, शास्त्रार्थ और अनुसधान की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाता था।

**आर्थिक अवस्था**—प्राचीनतम काल से ही इस देश की आर्थिक अवस्था उन्नत रही है और यहाँ के निवासी सुखी, सतुष्ट और समृद्ध रहे है। आर्थिक अवस्था पहिले पशु-पालन तथा कृषि पर आधारित थी और बाद मे वह व्यापार-वाणिज्य एव उद्योग-धधो पर भी निर्भर हो गई थी। व्यापार पहिले वस्तु-विनिमय अथवा गायो के आदान-प्रदान द्वारा होता था, बाद मे मुद्राओ और सिक्को का भी प्रयोग होने लगा था।

**पशु-पालन**—पशुओ मे गाय का महत्व बहुत अधिक था। उस काल मे 'गो-धन' सबसे बडा धन माना जाता था। जिस व्यक्ति के पास जितनी अधिक गाये होती थी, उसे समाज मे उतना ही बडा धनी और समृद्ध समझा जाता था। कृष्ण-काल मे यहाँ पर गायो का और भी अधिक महत्व था। श्री कृष्ण ने स्वय गो-पालन किया था। गायो के अतिरिक्त अन्य पशुओ को भी पाला जाता था। बैल खेती और माल ढोने के लिए, घोडे सवारी के लिए और कुत्ते रखवाली के लिए पाले जाते थे।

**कृषि**—प्राचीनतम काल मे कृषि केवल वर्षा पर आधारित थी, बाद मे सिंचाई से भी काम लिया जाने लगा था। सिचाई नदी-नाले और कूओ से अथवा कृत्रिम जल-प्रवाह से की जाती थी। खेती के लिए हल और बैलो का उपयोग होता था। गेहूँ, जौ, धान, उडद, तिल आदि की खेती खाद्यान्न के लिए और कपास की वस्त्रो के लिए की जाती थी।

**व्यापार-वाणिज्य**—प्राचीनतम काल से ही यहाँ कृषि-गोरक्षा के साथ-साथ व्यापार-वाणिज्य भी वैश्यो का कर्म रहा है। बाद मे उद्योग-धधे और कला-कौशल के काम करने वालो के अलग-अलग वर्ग बन गये थे, किंतु उनके माल के क्रय-विक्रय करने वाले वैश्य ही थे। सभी पेशेवालो के सामाजिक सगठन थे और वे प्राय अलग-अलग स्थानो मे सामूहिक रूप से रहा करते थे। मथुरा नगर की गली सुनारान, गली कसेरान, गली ठठेरान आदि के नामो से ज्ञात होता है कि इनमे पहिले सुनार, कसेरे और ठठेरे ही रहते थे। पहिले व्यापार वस्तु-विनिमय के आधार पर किया जाता था, बाद मे मुद्राओ और सिक्को का भी उपयोग होने लगा था। सिक्के सोने, चाँदी और तावे के होते थे। सोने का सिक्का 'निष्क', चाँदी का 'पण' और तांबे का सिक्का 'मापक' कहलाता था।

व्यापार इस देश के विभिन्न भागो के अतिरिक्त विदेशो से भी किया जाता था। उसके लिए स्थल पर पशुओ और बैल-गाडियो द्वारा तथा नदियो पर नौकाओ द्वारा माल को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जाता था। वणिको और सार्थवाहो के अनेक सघ थे, जो सामूहिक रूप से व्यापारिक यात्राएँ करते थे। मार्ग की लूट-मार से बचने के लिए वे अपने साथ सशस्त्र सैनिक रखते थे। व्यापार-वाणिज्य बडी ईमानदारी के साथ होता था। किसी तरह की धोखा-धडी अथवा मिलावट करना घोर पातक समझा जाता था। बाद मे राज्य की ओर से भी उस पर अकुश रखा जाने लगा था। चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र मे मिलावट करने वाले, कम तोलने वाले अथवा अन्य प्रकार से गाहको को धोखा देने वालो पर शासन की ओर से भारी दड देने का उल्लेख किया है।

प्रमुख व्यापारी सेट्ठि ( सेठ ) कहलाते थे। उनका राजा और प्रजा पर भारी प्रभाव होता था। वे धनी-मानी होने के साथ उदार दानी भी होते थे। उनके द्वारा साहित्य, सगीत और कलाओ को सरक्षण प्राप्त होता था। वे विद्वानो, गुणियो और कलाकारो को मुक्त हस्त से आर्थिक सहायता देते थे। उस काल के अनेक देवालय, विद्यालय, औषधालय आदि उन्ही के अनुदान से चलाये जाते थे।

**स्थानीय स्वशासन**—लोकतत्र की जड स्थानीय स्वशासन है, जिसे वर्तमान काल की देन माना जाता है, किंतु भारतवर्ष मे यह अत्यत प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है। मौर्य काल मे नगरो और ग्रामो मे स्वशासन व्यवस्था प्रचलित थी, जिसका सचालन नगर सभाओ और ग्राम सभाओ द्वारा किया जाता था। मैगस्थनीज ने पाटलिपुत्र की नगर सभा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसकी ६ उपसमितियो द्वारा वहाँ सारी व्यवस्था की जाती थी। ग्रामो मे स्थानीय स्वशासन वहाँ की ग्राम पचायतो द्वारा चलाया जाता था। नगर सभाओ और गाम पचायतो को वे सभी अधिकार प्राप्त थे, जो आतरिक व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक थे। उनके बनाये हुए नियम और किये हुए निर्णय राज्य शासन को मान्य होते थे। उसी प्रकार की व्यवस्था उस काल मे मथुरा नगर और शूरसेन के गाँवो मे भी प्रचलित थी।

द्वितीय अध्याय

# पूर्व मध्य काल

[ विक्रमपूर्व स० ४३ से विक्रम सं० ६०० तक ]

●

ब्रज सस्कृति के इतिहास का यह युग शु ग और उनकी एक शाखा मित्र राजवशो के समाप्ति–काल स० ४३ से आरभ होता है और गुप्त राजवश के अतिम काल स० ६०० के लगभग इसकी समाप्ति होती है । यह सात शताब्दियो का काल इस देश के कई अन्य भागो की तरह शूरसेन प्रदेश के सास्कृतिक इतिहास मे भी 'स्वर्ण युग' के रूप मे चिर स्मरणीय है । उस काल मे मथुरा नगर का महत्व इतना बढ गया था कि प्राचीन 'शूरसेन' के स्थान पर इस जनपद का नाम भी 'मथुरा राज्य' हो गया था । मथुरा के उस अभूतपूर्व सास्कृतिक महत्व का सूत्रपात शको के शासन-काल मे हुआ था और कुषाण, नाग तथा गुप्त कालो मे उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई थी ।

## १. शक काल

[ विक्रमपूर्व सं० ४३ से विक्रम स० ९७ तक ]

**शक जाति**—शक लोग मध्य एशिया मे निवास करने वाले सीथियनो की एक शाखा युइची या युयिश जाति के थे । उनका उल्लेख भारत के प्राचीन ग्रथ रामायण, महाभारत, मनु-स्मृति और विविध पुराणो मे यवनो ( यूनानियो ) और पह्लवो के साथ–साथ मिलता है । वे तीनो जातियाँ विदेशो से आकर भारत मे बसी थी, किंतु भारतीय सस्कृति द्वारा आत्मसात् किये जाने से यहाँ के जन–जीवन मे समाँ गई थी । शक जाति के लोग विदेशी और आक्रामक होते हुए भी अत्याचारी नही थे । वे अपने परवर्ती हूण, अरब, तुर्क, मगोल और पठान जातियो के आक्रमण–कारियो की भाँति बर्बर और हिसाप्रिय भी नही थे । शक लोग भारत की सस्कृति से प्रभावित होकर यहाँ के धर्मो के अनुयायी बन गये थे । वे भारतीय जन–जीवन मे यहाँ तक घुल–मिल गये थे कि कुछ काल बाद ही उन्हे भारतीयो से प्रथक करना कठिन हो गया था । इस देश की कई महत्वपूर्ण जातियो की नसो मे शको का खून है, किंतु उसे अब पहिचानना बडा कठिन है ।

**शको के निवास स्थान**—शको का मूल निवास स्थान मध्य एशिया मे था, किंतु उन्हे वहाँ की एक यायावर बर्बर जाति हियगनू ( हूणो ) से पराजित होना पडा था । उसके फल स्वरूप उन्हे वहाँ से भाग कर मध्य एशिया के पश्चिम और दक्षिण–पश्चिम मे जाने को बाध्य होना पडा । उनका जो दल दक्षिण–पश्चिम की ओर बढा था, वह वर्तमान अफगानिस्तान मे यूनानियो के जमे होने से वहाँ नही टिक सका था, इसलिए उन्हे ईरान के पूर्वी और दक्षिण–पूर्वी भाग मे शरण लेनी पडी थी । फिर वे बोलन दर्रा मे होकर सिंधु नदी के पश्चिम तटवर्ती विशाल भू–भाग मे फैल गये थे । वह समस्त भू–भाग शको के नाम पर शकस्थान ( सीस्तान ) कहलाने लगा । पुराणो मे उसे **'शाकद्वीप'** कहा गया है । भूगोल–वेत्ताओ ने उसके आस–पास के भू–भाग को 'इडो सीथिया' नाम दिया है ।

**शको के भारतीय राज्य**—शको ने सिंधु नदी पार कर भारत के पश्चिमी भाग से बढना आरभ किया था। उन्होने अवंति के मालव गण को, शूरसेन के शु गवशी मित्र राजाओ को तथा पश्चिमोत्तर के हिंदी यूनानियो को पराजित कर अपने कई राज्य स्थापित किये थे। उनके प्रमुख केन्द्र उज्जयिनी, मथुरा और तक्षशिला थे। उन राजकुलो की उपाधि 'क्षत्रप' थी। उनमे जो अधिक शक्तिशाली हुए, वे 'महाक्षत्रप' कहलाते थे। भारत भूमि पर बस जाने और यहाँ राज्य क़ायम कर लेने पर भी वे काफी दिनो तक अपने प्राचीन स्थान 'शकस्थान' को नही भूल सके थे। मथुरा मे उनके द्वारा निर्मित पाषाण के एक सिंह-शीर्ष पर उत्कीर्ण 'सर्वस सकस्तनस पुयए'—अभिलेख इसका प्रमाण है।

**शको के राज्य विस्तार की जैन अनुश्रुति**—शको का भारत मे प्रवेश और यहाँ पर राज्य स्थापन करने से सबधित एक जैन अनुश्रुति बहुत प्रसिद्ध है। उससे ज्ञात होता है, शु गो के शासन-काल मे उज्जयिनी का राजा गर्दभिल्ल था। उसका नाम गधर्वसेन अथवा महेन्द्रादित्य भी मिलता है और उसे उज्जयिनी के मालव गणराज्य[1] का अधिपति भी बतलाया जाता है। गर्दभिल्ल के शासन-काल मे कालकाचार्य अथवा कालक सूरि नामक एक जैन यति उज्जयिनी गया था। उसके साथ सरस्वती नाम की उसकी रूपवती भगिनी थी, जो युवावस्था मे ही जैन धर्म के अनुसार साध्वी अर्थात् भिक्षुणी बना दी गई थी। गर्दभिल्ल ने सरस्वती का अपहरण करा कर उसे बलात् अपने रनिवास मे भेज दिया था। जैन यति उस घटना से अत्यत दुखित हुआ, किंतु राज्य शक्ति के कारण वह विवश था। अपमान और क्रोध की ज्वाला से दग्ध होता हुआ वह वहाँ से चल दिया और घूमता-फिरता सिंधु नदी के पार शकस्थान मे पहुँच गया। वहाँ पर उसने शको को उज्जयिनी पर आक्रमण करने के लिए भडकाया। फलत शको की एक बडी जमात ने कालकाचार्य के साथ सिधु नदी की दक्षिणी धारा को पार किया और उज्जयिनी की ओर कूँच कर दिया। मार्ग मे उन्हे जैनियो से सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हुई थी। जब शको ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया, तब वहाँ के जैनियो ने राज-विद्रोह कर उनका साथ दिया था। फलत भीषण सघर्ष के बाद गर्दभिल्ल की पराजय हुई और उसे अपने प्रमुख राज्याधिकारियो के साथ वहाँ से भागना पडा। इस प्रकार उज्जयिनी पर शको का अधिकार हो गया।

उपर्युक्त जैन अनुश्रुति मे उज्जयिनी के गण-प्रमुख गर्दभिल्ल को कामुक पौर व्यसनी बतलाते हुए उसे साध्वी सरस्वती के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसके अपहरण कराने का दोषी ठहराया है। उसे दड देने के लिए ही जैनियो को विदेशी शको की सहायता करने का देश-

---

(१) पजाब के प्राचीन गण राज्यो मे भद्र और रोहितक के साथ मालव भी था। मालव गण विक्रमपूर्व की तीसरी शती तक रावी और चिनाब नदियो के दोआब मे नीचे के भाग मे बसते थे। सिकदर के आक्रमण के समय उनका यूनानियो से भीषण सघर्ष हुआ था। उसके बाद वे वहाँ से हट कर इधर-उधर बसने लगे थे। उनका एक बड़ा भाग दक्षिण की ओर उत्तर-पूर्वी राजस्थान मे होता हुआ मध्य भारत के उस भाग मे बस गया था, जिसे प्राचीन काल मे अवंति जनपद कहते थे और जो बाद मे उन्ही के नाम से मालव प्रदेश या मालवा कहा जाने लगा।

द्रोहात्मक कार्य करना पडा था। यदि उक्त अनुश्रुति पर से धार्मिकता का आवरण हटा कर उसकी ऐतिहासिक दृष्टि से समीक्षा की जाय, तब गर्दभिल्ल के अपराध की गुरुता कम हो जाती है। ऐसा जान पडता है, गर्दभिल्ल वैदिक धर्मावलबी था और वह जैन धर्मानुसार युवती नारियो को गृहस्थ धर्म से उदासीन कर उन्हे विरक्त बनाये जाने को उचित नही समझता था। इसीलिए उसने युवती सरस्वती से गृहस्थ धर्म पालन कराने के लिए उसे अपनी रानी बना लिया था। कारण कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि घर की फूट से ही विदेशी शको ने उज्जयिनी पर अधिकार किया था। उस घटना का काल स० १५ विक्रमपूर्व बतलाया जाता है। उज्जयिनी पर आक्रमण करने के साथ ही साथ शको के दूसरे दलो ने भारत के पश्चिम और पश्चिमोत्तर सीमावर्ती राज्यो पर भी भीषण आक्रमण किये थे, जिनके फल स्वरूप मथुरा से लेकर तक्षशिला तक का विशाल क्षेत्र भी उनके अधिकार मे आ गया था। वहाँ पर उनके कई राज्य कायम हुए। मध्यदेशीय राज्य की राजधानी मथुरा और पश्चिमोत्तर राज्य की तक्षशिला थी। उस काल के शक नेताओ के नाम नहपान, भोमक, मावेस आदि मिलते है। उन्ही मे से कोई उज्जयिनी पर आक्रमण करने वाली शक सेना का सेनापति भी रहा होगा

## शकों का 'मथुरा राज्य' और उसके 'महाक्षत्रप'—

शको के विशाल साम्राज्य के मध्यदेशीय भाग की राजधानी मथुरा थी। उसका राजनैतिक महत्व इतना बढ गया था कि प्राचीन शूरसेन जनपद तब 'मथुरा राज्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार विक्रम सवत् के आरभ से यह जनपद मथुरा राज्य कहलाने लगा था। शको के शासन काल मे इस राज्य की सीमाएँ उत्तर मे वर्तमान दिल्ली तक, पश्चिम मे वर्तमान अजमेर तक और दक्षिण मे वर्तमान ग्वालियर तक थी। इस राज्य के शक शासक 'महाक्षत्रप' कहलाते थे। यहाँ पर उनका सक्षिप्त वृत्तात प्रस्तुत है।

**राजुवुल**—मथुरा के आरभिक शक शासको मे राजुवुल का नाम प्रसिद्ध है। सिक्को पर उसकी उपाधि 'अप्रतिहत चक्र' मिलती है और उसे 'महा छत्रपस' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि वह एक शक्तिशाली स्वतत्र शासक था। मथुरा मे पाषाण का एक सिंह-शीर्ष मिला है, जो अब लंदन के ब्रिटिश सग्रहालय मे है। उस पर खरोष्टी लिपि और प्राकृत भाषा मे जो लेख उत्कीर्ण है, उसमे राजुवुल की रानी कुमुइअ और उसके पुत्र शोडास के भी नाम अकित है। उस लेख से ज्ञात होता है कि शक राजमहिषी कुमुइअ ( कबोजिका ) ने मथुरा मे एक स्तूप और 'गुहा विहार' नामक एक सघाराम का निर्माण कराया था। वह सघाराम बौद्ध धर्म की सर्वास्तिवादी शाखा के भिक्षुओ को प्रदान किया गया था। इस प्रकार राजुवुल और उसकी रानी की बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी संप्रदाय के प्रति बडी श्रद्धा थी।

**शोडास**—राजुवुल के पश्चात् उसका पुत्र शोडास ( सुदास ) मथुरा का शासक हुआ था। उसका समय विक्रमपूर्व स० २३ से विक्रम सवत् के आरभिक काल के लगभग है। उसकी माता ने मथुरा मे जिस 'गुहा विहार' का निर्माण कराया था, उसके लिए कुछ भूमि उसने भी दान मे दी थी। उसके शासन-काल मे जैन महिला अमोहिनी ने मथुरा के जैन क्षेत्र मे एक 'आयाग पट्ट' की प्रतिष्ठा की थी और भागवत धर्म के अनुयायी एक वसु नामक व्यक्ति ने कृष्ण जन्म-स्थान पर भगवान् वासुदेव के चतु शाला मदिर के निमित्त तोरण तथा वेदिका का निर्माण

कराया था। मथुरा मे वासुदेव कृष्ण के मदिर बनवाये जाने के प्रमाण मे वह पहिला अभिलेख है, अत उसका ऐतिहासिक महत्व बहुत अधिक है। शोडास का शासन–काल विक्रम सवत् के आरभिक वर्ष तक अनुमानित होता है, अत वही काल उस मदिर के निर्माण का भी हो सकता है। उक्त धार्मिक कार्यो के सम्पन्न किये जाने से यह सिद्ध होता है कि शक–शासन मे मथुरा बौद्ध, जैन और भागवत तीनो धर्मो का केन्द्र था और वे धर्म यहाँ पर एक साथ उन्नति कर रहे थे। इससे शक राजाओ की उदार धार्मिक नीति का परिचय मिलता है।

**शको की पराजय**—शको के भारत–प्रवेश और उनके द्वारा उज्जयिनी के शासक को पराजित करने मे जैनियो की सहायता का उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। ऐसा जान पडता है, बाद मे जैन यतियो तथा जनता को उसके लिए पश्चात्ताप हुआ था, अत वे अपने देश–द्रोहात्मक कार्य के प्रायश्चित के लिए शको के विरुद्ध राज्यक्राति करने का उपक्रम करने लगे। उन्होने गर्दभिल्ल के पुत्र को भी उसके लिए उकसाया था। यद्यपि शक लोग धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु तथा भारतीय सस्कृति के प्रति निष्ठावान थे और उनका शासन भी बुरा नही था, फिर भी विदेशी होने के कारण वे यहाँ के अनेक लोगो के प्रीति–भाजन नही हो सके थे। ऐसे ही लोगो मे अवति के मालव गण थे, जो उज्जयिनी के शक शासन के विरुद्ध अभियान करने की तैयारी करने लगे।

शको से पराजित होकर गर्दभिल्ल और उसके साथी अनेक राजपुरुष उज्जयिनी छोड कर प्रतिष्ठान ( वर्तमान पैठन ) की ओर चले गये थे। कालातर मे गर्दभिल्ल के पुत्र ने मालव गण को सगठित किया तथा दक्षिणापथ के सातवाहन वशीय शासक की सहायता प्राप्त की। इस प्रकार पूरी तैयारी के साथ उसने प्रतिष्ठान से बढ कर शको के विरुद्ध उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया। उज्जयिनी के और आस-पास के जैनियो ने भी उसका साथ दिया था। उक्त अभियान का शको द्वारा कडा मुकाबला किया गया, किंतु स्थानीय जनता के विद्रोह के कारण उन्हे सफलता प्राप्त नही हुई। फलत. शको की बुरी तरह पराजय हुई और उन्हे उज्जयिनी छोड कर भागना पडा। अपनी मातृभूमि को विदेशियो से स्वाधीन करने के उपलक्ष मे विजेताओ ने बडा उत्सव मनाया। वास्तव मे वह एक भारी विजय थी, जिसका अवति की समस्त जनता ने अत्यत हर्ष पूर्वक स्वागत किया था।

**मालव गण का विजयोत्सव**—शको को पराजित कर मालव गण ने अपने खोये हुए राज्य को फिर से प्राप्त किया था, अत उसकी स्मृति मे विजयोत्सव मनाते हुए उन्होने कई महत्वपूर्ण कार्य किये थे। पहला कार्य यह किया कि उस अवसर पर मालवो की विजय के सूचक सिक्के चलाये, जिन पर 'मालवानाम् जय' अथवा 'मालव गणस्य जय' शब्द अकित थे। उस प्रकार की विजय सूचक शब्दावली के अनेक सिक्के उस काल के मिल चुके है। उसी उपलक्ष मे प्राचीन नाम अवति के स्थान पर वह प्रदेश 'मालव राज्य' अथवा 'मालवा प्रदेश' कहा जाने लगा। दूसरा कार्य यह किया कि जिस वीर सेनानायक की अध्यक्षता मे वह अपूर्व विजय प्राप्त हुई थी, उसे 'विक्रमादित्य' उपाधि से विभूषित किया गया। वह उपाधि कालातर मे इतनी प्रसिद्ध हुई कि भारतीय इतिहास के जिन महापुरुषो ने समय–समय पर विदेशियो को पराजित कर अपना अद्भुत शौर्य प्रदर्शित किया, अथवा कोई अन्य महत्वपूर्ण कार्य किया था, उन्होने 'विक्रम' या 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। तीसरा सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि एक नया सवत् चलाया गया, जो इस समय 'विक्रम सवत्' के नाम से प्रसिद्ध है। यह सवत् ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व के काल से चलता है।

**विक्रमादित्य और विक्रम संवत्**—मालव गरण ने उज्जयिनी को शको के विदेशी शासन से मुक्त कर वहाँ पर अपना राज्य कायम किया था, इसमे कोई विवाद नही है। विवाद विक्रमादित्य और विक्रम सवत् के नामो पर है। इसका कारण यह है कि जिस काल मे उज्जयिनी के शको को पराजित किया गया था, उस काल के किसी प्रसिद्ध महापुरुष के नाम या उसकी उपाधि के विक्रम या विक्रमादित्य होने का कोई उल्लेख नही मिलता है। उस काल मे अथवा उसके कई शताब्दी बाद तक विक्रम नामक किसी सवत् का भी प्रयोग नही मिलता है। जिस सवत् को अब विक्रम सवत् कहते है, उसका आरभिक नाम 'कृत' था, जो तीसरी से पाँचवी शताब्दियो तक के ताम्रपत्रो और शिलालेखो आदि मे मिलता है। उसके बाद पाँचवी से आठवी शताब्दी तक के अभिलेखो मे 'मालव गरण स्थिति', 'मालवेश' या 'मालव सवत्' नाम मिलते है। उसके पश्चात् नवमी शताब्दी से 'विक्रम सवत्' के नाम का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है, जो अब तक प्रचलित है। इस प्रकार नवमी शताब्दी से पहिले के काल मे इस सवत् का नाम 'विक्रम' नही मिलता है। वैसे ईसवी सन् से ५७ वर्ष पहिले के काल से अब तक इसकी अविच्छिन्न परपरा रही है, चाहे इसके नाम पहिले 'कृत' एव 'मालव' थे और बाद मे इसे 'विक्रम' कहा जाने लगा।

**क्या विक्रमादित्य कल्पित व्यक्ति थे ?**—विक्रमादित्य और विक्रम सवत् के विवाद के कारण कई विद्वानो की यह धारणा हुई है कि विक्रम या विक्रमादित्य नाम या उपाधि का कोई महापुरुष उस काल मे नही हुआ था। वह तो साहित्यिक अनुश्रुतियो और लोक कथाओ का एक काल्पनिक व्यक्ति है। इस विषय पर वर्षो से अनेक विद्वानो द्वारा पक्ष और विपक्ष मे अपने-अपने मत प्रकट किये जाते रहे है, किंतु अब तक कोई सर्व सम्मत निर्णय नही हो सका है। प्राकृत और सस्कृत के प्राचीन ग्रंथो तथा साहित्यिक एव धार्मिक अनुश्रुतियो मे विक्रमादित्य का नाम इतनी प्रचुरता से मिलता है कि उसे कल्पित व्यक्ति मानना सभव नही मालूम होता है। उससे सबधित इतिहास चाहे स्पष्ट नही है, किंतु साहित्य और सस्कृति से उसका आरभ से ही अविच्छिन्न सबध रहा है, इसलिए उसके अस्तित्व को अस्वीकार नही किया जा सकता है।

सातवाहन नरेश हाल कृत 'गाथा सत्तसई' और गुणाढ्य कृत 'वड्ड कहा' ( वृहत् कथा ) प्राकृत भाषा की दो प्रसिद्ध रचनाएँ है, जिनका काल दूसरी शताब्दी से पहिले का माना जाता है। इस प्रकार वे विक्रमादित्य के काल से कुछ ही बाद की रचनाएँ है। उनमे विक्रमादित्य का उल्लेख होने से उन्हे उसके अस्तित्व का सबसे बडा प्रमाण कहा जा सकता है। हाल कृत 'सत्तसई' मे विक्रमादित्य की उदारता और दानशीलता को व्यजित करने वाली एक सरस गाथा है। 'वृहत्कथा' और उसके आधार पर सोमदेव द्वारा रचित सस्कृत ग्रथ 'कथा सरितसागर' मे विक्रमादित्य के यश और प्रताप की अनेक कथाएँ है। 'गाथा सत्तसई' और 'वड्ड कहा' के पश्चात् भोज प्रबध, प्रबध चिंतामणि, विक्रम चरित्, राजतरगिणी, वेताल पचविंशतिका, द्वात्रिंशत् पुत्तलिका सिंहासन, कालकाचार्य कथा आदि बीसो रचनाओ के साथ ही साथ फरिश्ता और अबुलफजल के ग्रथो मे भी विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है। उनमे उस विख्यात महापुरुष की वीरता, उदारता, गुण-ग्राहकता, पर-दु खवत्सलता और अलौकिक शक्ति के साथ ही साथ उसके विद्या-व्यसन, सास्कृतिक प्रेम तथा अनेक विद्याओ के विशेषज्ञ नवरत्नो को प्रश्रय देने से सबधित विविध कथाएँ सगृहीत है। इस प्रकार भारतीय साहित्य और सस्कृति से विक्रमादित्य का घनिष्ट सबध है। ऐसी दशा मे उसे कल्पित व्यक्ति मानना साहित्य और सस्कृति के महत्व की अवहेलना करना है।

**विक्रमादित्य और विक्रम संवत् संबंधी समस्या और उसका समाधान**—यदि विक्रमादित्य नाम कल्पित नहीं है, तो वह कौन सा महापुरुष था और उसके चलाये हुए संवत् का नाम आरंभ से ही विक्रम संवत् क्यों नहीं मिलता है, ये ऐसी समस्याएँ हैं, जिनके समाधान के लिए विविध विद्वानों ने भिन्न–भिन्न मत प्रकट किये हैं। इस संबंध में हमारा मत है, विक्रम या विक्रमादित्य कोई नाम नहीं है बल्कि उपाधि है। इसे सर्वप्रथम विष्णु ने कृतयुग में असुरों को पराजित करने के उपरांत धारण किया था, जो वेदों में 'विक्रमिन्' के नाम से मिलती है। जब गर्दभिल्ल के पुत्र विषमशील की अध्यक्षता में शकों को पराजित किया गया, तब उक्त घटना को भी कृतयुग की पुनरावृत्ति माना गया। उज्जयिनी की जनता ने तब यह समझा था कि विदेशियों के शासन से मुक्ति मिलने के कारण जनता को अभूतपूर्व सुख-संतोष प्राप्त होगा और सतयुग अथवा कृतयुग की पुनः स्थापना होगी। फलतः उस समय प्रचलित संवत् को 'कृत संवत्' कहा गया। उसके साथ ही कृतयुग की 'विक्रम' नामक गौरवपूर्ण उपाधि विषमशील को प्रदान की गई। जब विदेशियों द्वारा पुनः अधिकार किये जाने पर कृतयुग की संभावना समाप्त हो गई, तब उक्त संवत् को मालव गण के नाम पर 'मालव संवत्' कहा जाने लगा। कालांतर में जब इस देश में गण राज्य समाप्त प्रायः हो गये और राजतंत्र का सर्वत्र बोलबाला हुआ, तब विक्रमादित्य के प्राचीन गौरव को स्थिर रखने के लिए उस संवत् का नाम 'विक्रम संवत्' प्रसिद्ध हुआ, जो अब तक प्रचलित है।

इस प्रकार गर्दभिल्ल का पुत्र विषमशील प्रथम विक्रमादित्य था, जो शकों की पराजय के पश्चात् उज्जयिनी के मालव गण राज्य का प्रथम अधिपति हुआ था। वह अत्यंत वीर, प्रजापालक, उदार और विद्याप्रेमी शासक था। उसकी वीरता और उदारता की अनेक बातें लोक कथाओं के रूप में प्रचलित हो गई, जो तब से अब तक सभी जगह कही–सुनी जाती रही हैं। उसके समय में जो नया संवत् प्रचलित किया गया था, वही आजकल का 'विक्रम संवत्' है। वह पहिले 'कृत', फिर 'मालव' और तदुपरांत 'विक्रम' के नाम से प्रसिद्ध होता हुआ ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व के काल से अब तक निरंतर प्रचलित रहा है। यह संवत् समस्त उत्तर भारत में और विशेष कर उत्तरप्रदेश, राजस्थान, गुजरात आदि राज्यों में प्रयुक्त होता है।

**मथुरा में शक शासन की समाप्ति**—उज्जयिनी के शकों की भीषण पराजय का प्रभाव भारत के जिन अन्य शक राज्यों पर पड़ा था, उनमें मथुरा राज्य का नाम उल्लेखनीय है। उसके फल स्वरूप मथुरा के शक क्षत्रपों का राज्याधिकार समाप्त हो गया और अन्य राज्यों की शक्ति भी क्षीण हो गई थी। उसके कारण भारत के राजनैतिक रंगमंच पर कुछ काल के लिए शकों का स्थान गौण हो गया था, यद्यपि वे इस देश के कई भागों में पर्याप्त काल तक जमे रहे और उनके कई छोटे राज्य जहाँ–तहाँ किसी प्रकार चलते रहे थे।

**दत्त राजवंश का उदय और अंत**—मथुरा के शक क्षत्रपों की शक्ति क्षीण होने पर यहाँ दत्त राजवंश का अधिकार हो गया था। इस क्षेत्र की पुरातात्विक सामग्री में दत्त वंशीय राजा पुरुषदत्त, उत्तमदत्त, रामदत्त, कामदत्त, शेषदत्त, भवदत्त तथा बलभूति के नाम मिलते हैं, जिनके सिक्कों पर लक्ष्मी, हाथी और बैल की मूर्तियाँ है। दत्त वंश के उक्त राजाओं में से किसका और कितने समय तक राज्याधिकार रहा था, उसका प्रामाणिक विवरण ज्ञात नहीं होता है। ऐसा जान पडता है, मथुरा राज्य पर दत्त वंश का अधिकार बहुत थोडे ही समय तक रहा था, क्यों कि शकों के कुछ समय बाद ही यहाँ कुषाण राजाओं का अधिकार कायम हो गया था।

# २. कुषाण काल

[ विक्रम सं० ६७ से सं० २३३ तक ]

## कुषाण जाति और उसके राजा—

शकों और दत्तों के पश्चात् मथुरा राज्य पर कुषाण नामक एक विदेशी जाति के राजाओं ने अधिकार कर लिया था। कुषाण लोग मध्य एशिया की युचिश जाति के थे, अत उन्हे भी शकों की एक दूसरी शाखा का समझा जा सकता है। कुछ विद्वानों ने कुषाण जाति का नाम ऋषिक तुरुष्क ( तुखार ) भी लिखा है[1]। कदाचित उसी के आधार पर गौरीशकर हीराचद ओझा ने उन्हे 'तुर्क' जाति का बतलाया है[2]। यद्यपि कुषाणों की जातीय परपरा के सबध मे मतभेद है, तथापि अधिक सभावना इस बात की है कि वे शकों की किसी शाखा से ही सबधित थे। वे भी शकों की ही भाँति मध्य एशिया से निकाले जाने पर काबुल-कधार की ओर आ गये थे। उनके काल मे वहाँ के हिंदी यूनानियों की शक्ति क्षीण हो गई थी, जिसके कारण उन्हे कुषाणों ने सरलता से पराजित कर दिया था। उसके बाद उन्होंने शकों की तरह इधर-उधर न भटक कर काबुल-कधार पर अपना राज्याधिकार कायम किया। उनके प्रथम राजा का नाम कुजुल कडफाइसिस था। उसने काबुल-कधार के यवनों ( हिंदी यूनानियों ) को दबा कर भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बसे हुए पह्लवों को भी पराजित किया था। इस प्रकार कुषाणों का अधिकार पश्चिमी पजाब तक हो गया था। कुजुल के पश्चात् उसके पुत्र विम तक्षम ने कुषाण राज्य का और भी अधिक विस्तार किया था। शकों की भाँति कुषाणों ने भारतीय सस्कृति से प्रभावित होकर यहाँ के धर्मों को अपना लिया था।

**विम तक्षम**—मथुरा का प्रथम कुषाण राजा विम तक्षम ( विम कडफाइसिस ) था। उसने काबुल, कधार और पजाब मे आगे बढ कर मथुरा राज्य पर अधिकार किया था। फिर उसने अपने राज्य की सीमाएँ वाराणसी तक बढाली थीं। मथुरा नगर उसके बडे राज्य का एक प्रमुख प्रशासनिक केन्द्र था। उसके सिक्के पजाब से बनारस तक काफी तादाद मे मिले हैं। उन सिक्कों पर एक ओर विम की तथा दूसरी ओर नदी सहित शिव की मूर्तियाँ अकित है। उन पर खरोष्ठी लिपि मे राजा का नाम तथा उसकी उपाधि 'महिश्वरस' ( माहेश्वरस्य ) भी है। शिव की मूर्ति और उक्त उपाधि से विम का शिव-भक्त और शैव धर्म का अनुयायी होना ज्ञात होता है।

उस राजा की विशाल मूर्ति मथुरा जिला के माट ग्राम के निकटवर्ती इटोकरी टीला से मिली है, जिस पर ब्राह्मी मे एक लेख भी है। लेख से ज्ञात होता है कि वहाँ पर एक देवकुल, उद्यान, पुष्करिणी और द्वार का निर्माण कराया गया था। 'देवकुल' से अभिप्राय मूर्ति-कक्ष से है, जहाँ कुषाणों के दिवगत राजाओं की बडी-बडी पाषाण प्रतिमाएं रखी जाती थी। मथुरा राज्य मे कुषाणों के कदाचित दो देवकुल थे,—पहिला मथुरा जिला के वर्तमान गाँव माट के इटोकरी टीला पर था और दूसरा सभवत मथुरा नगर के गोकर्णेश्वर टीला पर था। इटोकरी टीला के

(१) ब्रज का इतिहास ( प्रथम भाग ), पृष्ठ ८६

(२) भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री, पृष्ठ ५२-५७

देवकुल से विम के अतिरिक्त कनिष्क और चष्टन की मूर्तियाँ भी मिली हैं। ये सब मूर्तियाँ मथुरा के संग्रहालय मे है। विम की मूर्ति का सिर टूटा हुआ है और उस पर उपाधि सहित उसका नाम इस प्रकार अंकित है—'महाराज राजातिराज देवपुत्र कुषाण पुत्र शाहि विम तक्षम'। विम ने स० ९७ से स० १३४ के लगभग तक शासन किया था।

**कनिष्क**—विम का उत्तराधिकारी कनिष्क था। वह कुषाण राजाओ मे सर्वाधिक प्रसिद्ध होने के साथ ही साथ भारतवर्ष के महान् सम्राटों मे भी गिना जाता है। उसने स० १३५ से १५८ तक शासन किया था। उसका राज्य मध्य एशिया से लेकर भारत के पूर्वी भाग तक था। इस प्रकार वह एक विशाल साम्राज्य का शक्तिशाली सम्राट था। धर्मपिटक-निदान सूत्र के चीनी अनुवाद से ज्ञात होता है कि कनिष्क ने पाटलिपुत्र को भी जीत कर अपने साम्राज्य मे मिला लिया था। वहाँ से वह भगवान् बुद्ध के कमंडलु सहित अश्वघोष नामक विख्यात बौद्ध विद्वान को अपने साथ ले गया था[1]। उसके विशाल साम्राज्य के उत्तरी भाग की राजधानी पुरुषपुर या पुष्पपुर ( वर्तमान पेशावर ) थी, मध्य भाग की मथुरा थी और पूर्वी भाग की सारनाथ थी।

कनिष्क ने विदेशी होते हुए भी भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रति बडी आस्था प्रकट की थी। उसने अश्वघोष से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी, किंतु वह अन्य भारतीय धर्मों के प्रति भी उदार था और उन सब का आदर करता था। उसके भारतीय सिक्को पर बुद्ध के साथ ही साथ हिंदू देवताओ की मूर्तियाँ और उनके नाम मिलते हैं। वह कलाओ का संरक्षक और विद्वानो का आश्रयदाता था। उसके दरबार मे वसुमित्र, अश्वघोष, नागार्जुन, पार्श्व, चरक, संघरक्ष और माठर जैसे विख्यात विद्वानो के अतिरिक्त अनेक कवि और कलाकार भी थे। उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर अपने साम्राज्य के प्रमुख स्थानो मे बौद्ध स्तूप, संघाराम और मूर्तियो का निर्माण कराया था। उसने काश्मीर मे एक बौद्ध धर्म परिषद् का आयोजन किया था, जिसमे ५०० बौद्ध भिक्षु सम्मिलित हुए थे। उसका सभापति आचार्य वसुमित्र तथा उप सभापति विख्यात कवि और विद्वान अश्वघोष था। उस परिषद् मे कई दिनो तक बौद्ध धर्म ग्रंथो पर विचार-विमर्श होता रहा था। उसके बाद प्रमुख बौद्ध ग्रंथो को ताम्रपत्रो पर खुदवाया गया और उन्हे एक स्तूप मे सुरक्षित रख दिया गया था। उसके शासन-काल मे बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय की विशेष उन्नति हुई थी। महायान के प्रसिद्ध विद्वान वसुमित्र और अश्वघोष का कनिष्क पर बहुत प्रभाव था।

**शक संवत्**—विक्रम संवत् की भाँति शक संवत् भी भारतवर्ष का एक प्राचीन संवत् है, जो इस देश के अनेक भागो मे प्रचलित है। वह विक्रम संवत् से १३५ वर्ष तथा ईसवी सन् से ७८ वर्ष बाद से चलता है। विक्रम संवत् की तरह इसके प्रचलन के संबंध मे भी काफी विवाद है। साधारणतया इसके आरंभ करने का श्रेय शको को दिया जाता है और इसे कनिष्क के राज्यारोहण काल से प्रचलित माना जाता है। भारत सरकार ने सन् १९५२ मे 'राष्ट्रीय पंचाग सुधार समिति' नियुक्त की थी। उसके अध्यक्ष डा० मेघनाद शाह का मत है कि जब शको ने मध्य एशिया से निष्क्रमण किया था, तब ईसवीपूर्व सन् १२९ मे उन्होंने बैक्ट्रिया पर विजय प्राप्त की थी। उसके

---

(१) प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ ६३५

बाद ७ वर्ष तक वे पार्थियन राजाओ से युद्ध करते रहे और ईसवी सन् १२३ मे उन्हे पराजित किया। तभी उन्होने शक सवत् प्रचलित किया था। उसके बाद भारत मे बस जाने पर कनिष्क के राज्यारोहण–काल से इसका पुन प्रचलन आरभ हुआ; किंतु उसे २०० वर्ष आगे हटा दिया था। इस प्रकार भारत मे शक सवत् सन् ७८ ई० से चालू हुआ। उक्त सन् से आरभ होने वाले शक सवत् और ईसवी सन् से १२३ वर्ष पूर्व आरभ होने वाले शक सवत् मे कोई अतर नही है। नये सवत् मे केवल २०० वर्ष छूटे हुए हैं। कनिष्क सवत् का प्रथम वर्ष प्राचीन शक सवत् का २०१ वाँ वर्ष होता है।

कनिष्क द्वारा उक्त सवत् का चलाया जाना सर्वथा प्रामाणिक नही है, क्यो कि न तो स्वय कनिष्क ने कभी इसका उपयोग किया था और न उसके चार सौ वर्ष बाद तक इस सवत् का भारत मे प्रयोग मिलता है। स्वय कनिष्क ने अपने अभिलेखो मे जिस सवत् का प्रयोग किया था, वह गणना द्वारा मालव सवत् सिद्ध हुआ है, जो वस्तुत विक्रम सवत् है। शक सवत् का सबसे प्राचीन उदाहरण चालुक्य वल्लभेश्वर के बादामी शिलालेख मे मिलता है, जिसमे ४६५ शक सवत् दिया हुआ है। जैन अनुश्रुति के अनुसार इस सवत् को प्रथम कनिष्क ने नही, वरन् द्वितीय कनिष्क ने प्रचलित किया था। उसका आधार जैन मुनि कालकाचार्य का यह श्लोक कहा जाता है—
"ततो वर्ष शते पचत्रिंशत सन्धिके पुन । तस्य राज्ञोऽन्वय हत्वा वत्सर. स्थापित शकै ॥"
हिंदू अनुश्रुति के अनुसार इसका प्रचलनकर्त्ता शालिवाहन था, इसीलिए इसे 'शाके शालिवाहने' कहा जाता है। वह शालिवाहन राजा कौन था, यह विचारणीय है।

पहिले लिखा गया है, उज्जयिनी का अधिपति विषमशील प्रथम विक्रमादित्य था। उसी की भाँति शालिवाहन को भी विक्रमादित्य कहा जाता है और उसका अस्तित्व भी प्रथम विक्रमादित्य की तरह ही विवादास्पद है। दोनो के द्वारा ही शको को पराजित करने की बात कही जाती है। श्री रामचद्र वर्मा ने 'सक्षिप्त शब्द सागर' मे शालिवाहन को एक प्रसिद्ध शक राजा बतलाया है, जो हिंदू मान्यता के विरुद्ध है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के मतानुसार हाल राजा शातवाहन ही शालिवाहन था[1]। ऐसी दशा मे यह कहना बडा कठिन है कि शक सवत् को कनिष्क ने चलाया था, अथवा शालिवाहन नामधारी राजा हाल शातवाहन ने। यदि इसे कनिष्क ने चलाया, तो इसके साथ शालिवाहन नाम क्यो लगा मिलता है? फिर विदेशी शको द्वारा प्रचलित सवत् को भारतीयो ने क्यो अपनाया था? ये ऐसे प्रश्न है, जिनका ठीक तरह से उत्तर देना सभव नही है।

शक लोग विदेशी होते हुए भी भारतीय सस्कृति और धर्मो को स्वीकार कर पूरे भारतीय हो गये थे, इसलिए उनके द्वारा प्रचलित सवत् को भी भारतीयो ने अपनाने मे कोई सकोच नही किया होगा। उक्त सवत् को सबसे पहिले दक्षिणी भारत मे बसे हुए उन शाकद्वीपी ब्राह्मणो ने अपनाया था, जिनका सबध शक जाति से था। वे लोग वर्षफल और जन्मपत्री बनाने मे उसका प्रयोग करते थे। उसके बाद वह दक्षिण मे सर्वत्र और उत्तर भारत मे भी अधिकतर प्रचलित हो गया था। ज्योतिष की गणना मे तो प्राय इसी सवत् का प्रयोग होता है। प्राचीन

---

(१) 'महाराजाधिराज विक्रमादित्य' ( विक्रमोत्सव ग्रथ, पृष्ठ १२ )

शिलालेख और ताम्रपत्रो मे भी इसका प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। उसी सवत् की काल-गणना मे किचित फेर-बदल कर भारत सरकार ने इसे 'राष्ट्रीय सवत्' का गौरव प्रदान किया है और राजकीय कार्यो मे ईसवी सन् के साथ ही साथ इसे भी प्रचलित करने की व्यवस्था की है।

**परवर्ती कुषाण राजा**—कनिष्क के उत्तराधिकारी का नाम वासिष्क था। उसने स० १५९ से १६३ तक प्राय ४ वर्ष राज्य किया था। उसके राज्य काल का एक लेख मथुरा के ईसापुर गॉव से मिला है। उससे ज्ञात होता है कि उस काल मे मथुरा के कुछ ब्राह्मणो ने 'द्वादश रात्र' नामक वैदिक यज्ञ किया था। मथुरा मे उस काल मे बौद्ध और जैन धर्मो का ही विशेष प्रचार था, किंतु उक्त लेख से विदित होता है कि उस काल मे भी मथुरा के ब्राह्मण वैदिक कर्म-काड मे आस्था रखते थे।

वासिष्क का उत्तराधिकारी हुविष्क हुआ था। उसने स० १६३ से १९५ तक अर्थात् ३२ वर्ष तक राज्य किया था। कनिष्क की तरह हुविष्क भी बौद्ध धर्म मे आस्था रखता था। उसने अपने नाम से मथुरा मे एक विशाल बौद्ध विहार बनवाया था और कनिष्क के समय मे बने हुए माट के 'देवकुल' का जीर्णोद्धार कराया था। उसके काल मे कनिष्क द्वितीय काश्मीर और उसके निकटवर्ती प्रदेश का शासक था। उसका उल्लेख कल्हण कृत 'राज तरगिणी' और आरा से प्राप्त एक लेख मे हुआ है। उसे कनिष्क प्रथम का पौत्र और वासिष्क पुत्र माना जाता है। सभव है, वह हुविष्क का भाई हो। ऐसा जान पडता है, कनिष्क प्रथम के बाद कुषाण साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा था। उसका पूर्वी भाग अलग हो गया था तथा उत्तरी और मध्यदेशीय भागो मे कुषाणो के कई स्वतत्र राज्य बन गये थे। उत्तरी भाग कनिष्क द्वितीय के अधिकार मे था और मध्यदेशीय राज्य मे हुविष्क का शासन था।

कनिष्क के उत्तराधिकारी कुषाण राजाओ की उपाधि 'देवपुत्र षाहि षानुषाहि' ( देव पुत्र शाही शाहानुशाही ) थी। इसका उल्लेख समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तभ वाले लेख मे हुआ है। अंतिम कुषाण राजाओ मे वासुदेव का नाम प्रसिद्ध है। उसका राज्य काल स० १९५ से २३३ तक माना जाता है। उसके सिक्को पर शिव और नदी की मूर्तियाँ मिलती है। इनसे जान पडता है कि वह अपने पूर्वज विम तक्षम तथा कनिष्क द्वितीय की भाँति शैव धर्म का अनुयायी था। उसके शासन-काल मे हिंदू देवी-देवताओ की मूर्तियाँ प्रचुरता से बनाई गई थी।

**कुषाण शासन मे मथुरा राज्य की स्थिति**—शको के शासन काल मे मथुरा राज्य के जिस राजनैतिक तथा भौतिक महत्व का सूत्रपात हुआ था, वह कुषाणो के शासन काल मे और भी बढ गया था। कुषाण साम्राज्य के मध्यदेशीय भाग का प्रशासनिक केन्द्र होने के कारण तब मथुरा की बडी प्रसिद्धि थी। उस काल मे जो राजमार्ग पाटलिपुत्र ( वर्तमान पटना ) से पुरुषपुर या पुष्पपुर ( वर्तमान पेशावर ) तक जाता था, उसके प्राय बीचोबीच मथुरा पडता था। इसलिए यह नगर उस काल मे भारतीय व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र था और वह भारत के विभिन्न राज्यो के अतिरिक्त विदेशो से भी अपना व्यापारिक सबध रखता था। मथुरा नगर के व्यापारी तब देश और विदेश की अनेक वस्तुओ का क्रय-विक्रय कर यथेष्ट धनोपार्जन करते थे।

कुषाण सम्राट विदेशी होते हुए भी भारतीय सास्कृति के प्रति बडे आस्थावान थे। उनके प्रोत्साहन से मथुरा राज्य मे विद्या-कला और व्यापार-वाणिज्य की बडी उन्नति हुई थी।

कुषाण राज पुरुष
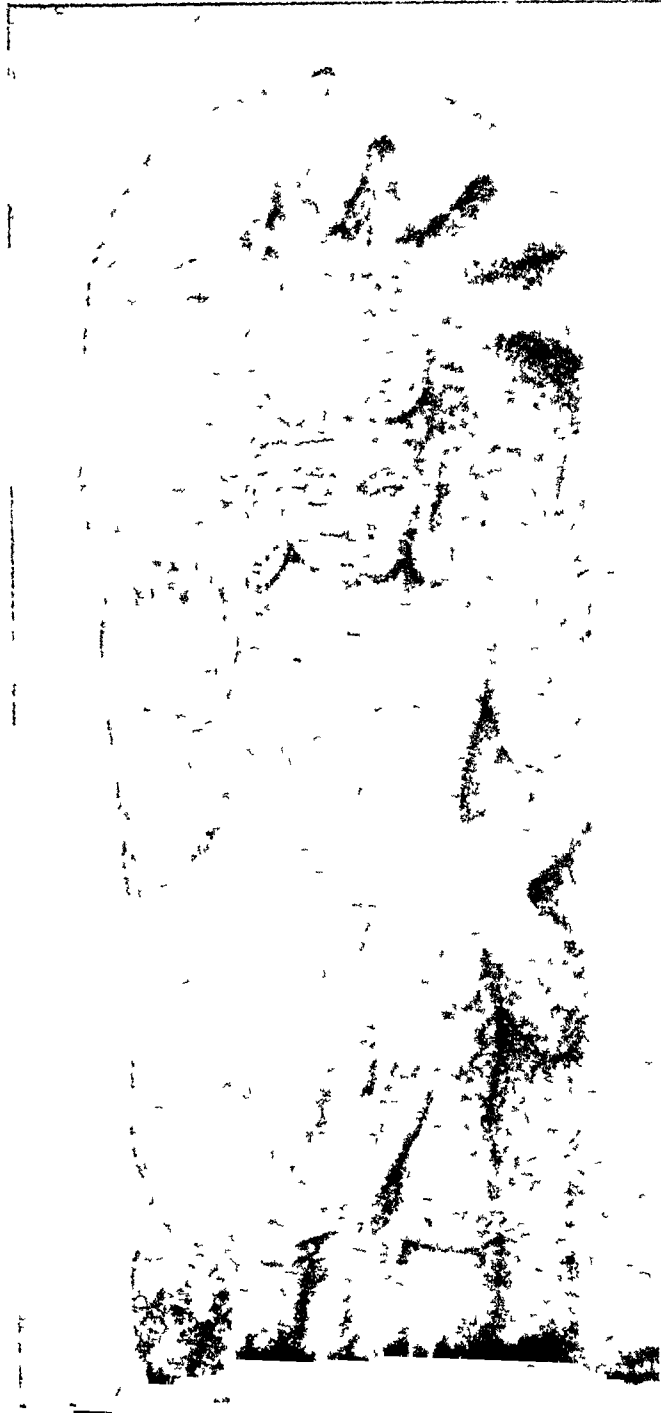
मानवाकार नाग मूर्ति

उस काल मे मथुरा मूर्ति कला का बडा प्रसिद्ध केन्द्र था। कुषाण शासक अधिकतर बौद्ध धर्मावलवी थे। उन्होने उक्त धर्म के महायान सम्प्रदाय की प्रगति मे विशेष योग दिया था, वैसे हीनयानी बौद्ध सम्प्रदायो के साथ ही साथ जैन और शैव धर्म भी तब उन्नति करते रहे थे। जहाँ तक भागवत धर्म का सबंध है, वह उस काल मे कुछ शिथिल हो गया था। शुग सम्राटो के प्रोत्साहन से विगत काल मे भागवत धर्म बौद्ध धर्म से आगे बढ गया था, किंतु कुषाण सम्राटो के कारण बौद्ध धर्म ने भागवत धर्म को दबा दिया था। कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते है कि कुषाण सम्राटो ने भागवत धर्म के मदिर–देवालयो और उनकी मूर्तियो को नष्ट भी किया था[1]। फिर भी मथुरा राज्य मे बौद्ध धर्म के हीनयानी सम्प्रदाय सर्वास्तिवाद और महायान के साथ ही साथ जैन, शैव और भागवत धर्म भी उन्नति के पथ पर थे। उन सबके प्रथक–प्रथक स्तूप, विहार, चैत्य, मदिर और मठ यहाँ पर प्रचुर सख्या मे विद्यमान थे।

**कुषाण शासन की समाप्ति**—तीसरी शताब्दी के आरभ होते–होते कुषाणो की महान् शक्ति का ह्रास होने लगा, जिसके कारण उनका विशाल साम्राज्य भी छिन्न–भिन्न हो गया था। यद्यपि कुषाण सम्राट भारतीय धर्म एव सस्कृति के प्रति आस्था रखते थे और उनका शासन भी प्राय सहिष्णुता का था, फिर भी विदेशी होने के कारण उनका राज्य स्थायी नही हो सका। उनके विरुद्ध अनेक भारतीय शक्तियाँ उठ खडी हुई, जिन्होने उनके शासन को समाप्त कर दिया था। वे शक्तियाँ मघ, नाग, यौधेय, मालव, कुणिद, वाकाटक आदि भारतीय राज्यो की थी। मथुरा राज्य तथा उसके निकटवर्ती भू–भाग के कुषाण शासन को समाप्त करने का श्रेय जिन नाग राजाओ को है, उन्हे इतिहास मे भारशिव नाग कहा गया है।

## ३. नाग काल

**[ स० २३३ से स० ४०० के लगभग तक ]**

### नाग जाति और भारशिव नाग—

जैसा पहिले लिखा गया है, नाग जाति भारत की एक अत्यत प्राचीन अनार्य जाति थी। उसका शूरसेन जनपद अथवा मथुरा राज्य से विविध युगो मे बडा घनिष्ट सबध रहा है। किंतु कुषाणो की प्रबल शक्ति से मोर्चा लेने वाले और मथुरा राज्य को विदेशी कुषाण शासन से मुक्त करने वाले जो 'भारशिव नाग' थे, उनका सबध प्राचीन अनार्य नाग जाति से नही मालूम होता है। वे भारशिव नाग कौन थे और उनकी असाधारण उन्नति का क्या रहस्य था, इसका निश्चित उत्तर इतिहास से प्राप्त नही होता है। जिन इतिहासज्ञो ने भारशिव नागो को भारत की प्राचीन नाग जाति के वशज बतलाया है, उनका मत इसलिए सदिग्ध मालूम होता है कि प्राचीन नाग जाति के लोग अनार्य और प्राय. असस्कृत थे, जब कि भारशिव नाग आर्य और सुसस्कृत थे। यदि उनका सबंध प्राचीन नाग जाति से ही था, तब यह कहा जा सकता है कि नागो की वह शाखा कालान्तर मे आर्यो के समान सुसस्कृत और सभ्य हो गई थी।

**भारशिव नागो के राज्य और उनके राजा**—ऐतिहासिक प्रमाणो से सिद्ध होता है कि नागो का एक प्राचीन केन्द्र विदिशा मे था। शुग सम्राटो का पतन होने पर जब विदिशा

(१) अधकार युगीन भारत ( काशीप्रसाद जायसवाल ), पृष्ठ ९९–१०१

और उसके निकटवर्ती क्षेत्र विदेशी शकों के प्रभाव में आ गये थे, तब नाग जाति के अनेक लोग विदिशा से भाग कर नर्मदा के दक्षिणवर्ती जंगलों में जा छिपे थे। वहाँ से वे समीप के भू-भाग पर अपना शासन कायम करने का प्रयत्न करते रहे। दूसरी शताब्दी के लगभग उन्होंने पद्मावती ( वर्तमान पदमपवाया, मध्य प्रदेश ) में अपना राज्य कायम कर लिया था। उनकी एक शाखा ने भव नाग के नेतृत्व में कुषाण राज्य के पूर्वी भाग पर अधिकार कर कांतिपुरी ( वर्तमान कनित, जिला मिर्जापुर ) को अपनी राजधानी बनाया था। नागों की तीसरी शाखा ने कुषाण साम्राज्य के प्रमुख नगर मथुरा पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा नागों के प्रमुख शासन केन्द्र हो गये थे। उन राज्यों के नाग नरेशों को ही इतिहास में 'भारशिव नाग' कहा गया है।

भारशिव नरेश भारतीय संस्कृति के पोषक और शैव धर्म के अनुयायी थे। वे अपने वंश और धर्म को सूचित करने के लिए शिव लिंग का चिन्ह धारण करते थे। उनके द्वारा अनेक अश्वमेध यज्ञ किये जाने का वर्णन पुराणों और अनुश्रुतियों में मिलता है। उनसे ज्ञात होता है कि वे अत्यंत प्रतापी और वीर थे। उनके वैवाहिक संबंध उस काल के अनेक शक्तिशाली राजवंशों से हुए थे, जो नागों से संबंध करने में अपना गौरव समझते थे। इतिहास से ज्ञात होता है कि वाकाटक वंश के गौतमी पुत्र का विवाह पद्मावती के शासक भव नाग की पुत्री के साथ हुआ था। सुप्रसिद्ध मगध सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की राजमहिषी कुबेरा नागवंश की थी। आग्रेय गण के प्रमुख एवं अग्रवंशियों के पूर्वपुरुष महाराज अग्रसेन और संभवत उनके पुत्रों का भी विवाह नाग कन्याओं के साथ हुआ था, जिसे वे अत्यंत महत्वपूर्ण मानते थे। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि उस काल के नागों का महत्व इतना बढ़ा हुआ था कि बड़ी-छोटी राज शक्तियाँ उनसे वैवाहिक संबंध करने में अपना गौरव समझती थीं।

नाग राजाओं के अनेक सिक्के और अभिलेख मिले हैं और दूसरे राजाओं के अभिलेखों में भी उनका उल्लेख हुआ है। नाग राजाओं के सिक्कों पर शिव के त्रिशूल और नांदी बैल के चिह्न मिलते हैं। विभिन्न सिक्कों और अभिलेखों में १४ नाग राजाओं के नाम अब तक मिल चुके है, जो इस प्रकार हैं—१ भीम नाग, २ विभु नाग, ३ प्रभाकर नाग, ४ स्कंद नाग, ५ बृहस्पति नाग, ६. व्याघ्र नाग, ७ वसु नाग, ८ देव नाग, ९ महेश्वर नाग. १० भव नाग, ११ वीरसेन नाग, १२. गणपति नाग, १३ कीर्तिसेन नाग और १४ नागसेन नाग।

**मथुरा के नाग राजा**—उपर्युक्त १४ नाग राजाओं में से अंतिम चार—१ वीरसेन नाग, २ गणपति नाग, ३ कीर्तिसेन नाग और ४. नागसेन नाग संभवत मथुरा के राजा थे। आरंभ के दस राजाओं का शासन कदाचित पद्मावती राज्य पर था। उन दोनों राजवंशों में किसी प्रकार का पारस्परिक संबंध था या नहीं, इसके विषय में प्रामाणिक रूप से कहना संभव नहीं है। यहाँ पर मथुरा के उक्त नाग राजाओं का उल्लेख किया जाता है।

**वीरसेन नाग**—वह अत्यंत प्रतापी राजा था। उसका शासन काल तीसरी शताब्दी का मध्य काल जान पड़ता है। मथुरा में उसके बहुत से सिक्के मिले हैं और फर्रुखाबाद के जनखट स्थान में उसका एक लेख मिला है। उक्त लेख के कारण उसका अधिकार मथुरा से फर्रुखाबाद तक होना ज्ञात होता है। उसने संभवत कुषाणों के अंतिम राजा वासुदेव को पराजित कर मथुरा

पर अधिकार कर लिया था और उसी उपलक्ष मे अश्वमेध यज्ञो का भी आयोजन किया था। उसने कदाचित एक नया सवत् भी चलाया था।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने नागो द्वारा दस अश्वमेध यज्ञ किये जाने का उल्लेख किया है, किंतु उन यज्ञो को उन्होने बनारस के दशाश्वमेध घाट पर किया जाना लिखा है[1]। बनारस मे किये गये यज्ञो का सबध पद्मावती के नाग राजाओ से हो सकता है। वीरसेन ने जो अश्वमेध यज्ञ किये थे, वे मथुरा मे हुए होगे। मथुरा मे यमुना नदी के उत्तरी घाटो मे एक 'दशाश्वमेध घाट' भी है। उसके निकट गोकर्णेश्वर और नीलकठेश्वर महादेव के प्राचीन धार्मिक स्थल है। मथुरा मे यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि यहाँ के नाग राजाओ ने इसी स्थान पर अश्वमेध यज्ञ किये थे। इससे अनुमान होता है, वीरसेन नाग के अश्वमेध यज्ञ का यही स्थल होगा।

**परवर्ती नाग राजा और नाग शासन की समाप्ति**—वीरसेन के पश्चात् मथुरा के जो प्रसिद्ध नाग राजा हुए, उनमे गणपति नाग ( शासन स० ३७२ से स० ३९७ तक ) और नागसेन ( शासन स० ३९७ से ४०१ तक ) के नाम उल्लेखनीय है। नागसेन मथुरा का अतिम नाग राजा था। उसे मगध के दिग्विजयी सम्राट समुद्र गुप्त ने पराजित किया था। उसके पश्चात् मथुरा राज्य मगध साम्राज्य मे मिला लिया गया था। इस प्रकार नाग शासन के अत के साथ ही साथ मथुरा के स्वाधीन राज्य की सत्ता भी समाप्त हो गई थी। यद्यपि समुद्र गुप्त के समय मे मथुरा और पद्मावती के सुप्रसिद्ध राज्य समाप्त अवश्य हो गये थे, तथापि गुप्त सम्राटो ने नाग जाति के विशिष्ट व्यक्तियो को उच्च राजकीय पदो पर नियुक्त किया था। स्कद गुप्त ने गगा-यमुना के मध्यवर्ती अतर्वेद का शासक ( विषयपति ) किसी शर्व नाग को बनाया था[2]।

**नाग शासन मे मथुरा राज्य की स्थिति**—शक-कुषाण काल मे मथुरा राज्य का जो सास्कृतिक, धार्मिक और भौतिक महत्व था, वह नाग शासन मे भी विद्यमान रहा था, बल्कि एक शक्तिशाली स्वाधीन राज्य होने के कारण उसका राजनैतिक महत्व और भी बढ गया था। नाग राजा शिवोपासक थे, अत उनके काल मे मथुरा राज्य मे शैव धर्म की विशेष उन्नति हुई थी। वैसे उनकी धार्मिक उदारता और सहिष्णुता के कारण उस काल मे बौद्ध, जैन और भागवत धर्म भी अपनी-अपनी उन्नति करते रहे थे। जैन धर्म के ग्रथो का प्रामाणिक पाठ निश्चित करने के लिए स० ३७० के लगभग मथुरा मे श्वेताबर जैनियो द्वारा आचार्य स्कदल की अध्यक्षता मे एक धर्म परिषद् का आयोजन किया गया था। उसमे निश्चित किया हुआ पाठ जैन धर्म मे **'माथुरी वाचना'** के नाम से प्रसिद्ध है। उससे ज्ञात होता है कि उस काल मे मथुरा जैन धर्म का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था।

मथुरा मे शैव धर्म की उन्नति का उल्लेख कुषाण काल से ही मिलता है। कुषाण राजाओ मे विम तक्षम, कनिष्क द्वितीय और वासुदेव शिवोपासक थे। नाग राजाओ ने अपने काल मे शैव धर्म की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया था। उस काल मे मथुरा का भूतेश्वर क्षेत्र और गोकर्णेश्वर टीला प्रसिद्ध शैव स्थान थे। गोकर्णेश्वर टीला को उस काल मे शिव का कैलास कहा

---

(१) हिस्ट्री आफ इडिया—सन् १५०-३५० ई० ( काशीप्रसाद जायसवाल ), पृष्ठ १-३२

(२) गुप्त इंसक्रिप्सस, पृष्ठ ७०

जाता था। पौराणिक परपरा के अनुसार मथुरा के रक्षक क्षेत्रपाल शिव है। उनके चार प्राचीन पूजा-स्थल इस नगर के चारो कोनो पर स्थित है,—उत्तर मे गोकर्णेश्वर, पूर्व मे पिप्पलेश्वर, दक्षिण मे रगेश्वर और पश्चिम मे भूतेश्वर। उक्त शैव स्थल सभवत नाग काल मे ही निश्चित हुए थे।

नाग राजाओ के मथुरा मे कई स्मारक स्थल भी प्रसिद्ध है। इनमे वीरसेन नाग का 'वीर स्थल' वर्तमान भूतेश्वर क्षेत्र है, जहाँ भूतेश्वर महादेव का प्राचीन पूजा-स्थान है। मथुरा के वीर भद्रेश्वर नामक स्थान का सबध भी वीरसेन नाग से हो सकता है। उनके अतिरिक्त नाग टीला, नाग तीर्थ, कर्कोटक तीर्थ भी नाग काल के प्राचीन स्थान है। नाग टीला पर नाग पचमी के दिन मथुरा की स्त्रियाँ नाग-पूजा करती हैं। यमुना पार का एक गाँव 'नगोटा' कहलाता है, जो कदाचित 'नाग गढ' का परिवर्तित नाम है। वहाँ पर नागो के शासन काल मे कोई गढ या दुर्ग रहा होगा।

# ४. गुप्त काल

[ स० ४०० के लगभग से स० ६०० के लगभग तक ]

## गुप्त राजवश का उदय और गुप्त सम्राट—

जिस समय मथुरा राज्य पर नाग राजाओ का शासन था, उस समय मगध मे एक ऐसे प्रभावशाली राजवश का उदय हुआ था, जिसने मौर्य सम्राटो की गौरवपूर्ण परपरा को आगे बढाते हुए इस देश मे एक शक्तिशाली साम्राज्य का सचालन किया था। उक्त वश के राजाओ को इतिहास मे 'गुप्त सम्राट' कहा गया है। उस वश का प्रथम राजा महाराज गुप्त था। उसका पुत्र घटोत्कच हुआ। घटोत्कच का पुत्र चद्रगुप्त प्रथम स० ३७७ मे पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आसीन हुआ था। वह एक शक्तिशाली शासक था और उसके काल मे मगध साम्राज्य का विस्तार अयोध्या तक हो गया था। उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की और अपने राज्यारोहण दिवस से एक नया सवत् चलाया, जो 'गुप्त सवत्' कहा जाता है। वह सवत् गुप्त सम्राटो के काल तक प्रचलित था, किंतु बाद मे उसका प्रचलन बद हो गया था।

मौर्य सम्राटो के पश्चात् जिन विदेशी शक-कुषाण राजाओ के शासन की इस देश मे धाक रही थी, उनमे कनिष्क सर्वोपरि था। उसके बाद कोई ऐसा सम्राट नही हुआ, जो यहाँ सुविस्तृत और सुदृढ साम्राज्य का निर्माण करता। फलत इस देश मे अनेक छोटे-बडे राज्य बन गये थे। उनमे से किसी मे राजतत्र और किसी मे जनतत्र का शासन था। राजतत्रो मे मथुरा और पद्मावती के नाग राज्य तथा प्राचीन वत्स और बघेलखड के मघ राज्य विशेष प्रसिद्ध थे। जनतत्रो मे यौधेय, मद्र, मालव और अर्जुनायन प्रमुख थे। विध्याचल के दक्षिण-पश्चिम मे वाकाटको का बडा राज्य था और उत्तर-पश्चिमी सीमा के वाह्लीक प्रदेश मे शक-कुषाणो के विदेशी राज्य थे। चद्रगुप्त प्रथम के उत्तराधिकारी समुद्र गुप्त ने शासन सँभालते ही उन छोटे-बडे राज्यो के स्थान पर एक विशाल और शक्तिशाली भारतीय साम्राज्य की स्थापना की थी।

**समुद्र गुप्त**—वह चद्रगुप्त प्रथम के पश्चात् स० ३९२ मे मगध के राज-सिंहासन पर आसीन हुआ और उसने स० ४३३ तक शासन किया था। उसका शासन-काल भारतीय इतिहास मे उस विजय अभियान के लिए प्रसिद्ध है, जिसे उसकी 'दिग्विजय' का नाम दिया गया है।

**दिग्विजय**—समुद्र गुप्त की ऐतिहासिक दिग्विजय का काव्यात्मक कथन महा दडनायक हरिषेण कृत उस 'प्रशस्ति' मे हुआ है, जो प्रयाग दुर्ग स्थित विजय स्तभ पर उत्कीर्ण है ।, उसका आशय इस प्रकार है,—"उस प्रतापी सम्राट ने अपने राज्य की पूर्वी सीमा के वग राज्य को आधीन कर पश्चिमी सीमा के बाहर वाले प्राचीन राज्य वत्स और बघेलखड के सब राजाओ को तथा मथुरा एव पद्मावती के नाग राजाओ को पराजित किया और उनके राज्यो को अपने साम्राज्य मे मिला लिया था । उसने वाकाटक साम्राज्य को जीत कर उसका दक्षिणी भाग, जिसमे चेदि और महाराष्ट्र के प्रदेश थे, वाकाटक रुद्रसेन के अधिकार मे ही रहने दिया था । उसने पश्चिम के अर्जुनायन और मालव गण को तथा पश्चिमोत्तर के यौधेय और मद्र गणो को अपने आधीन किया तथा सप्तसिधु के पार वाह्लिक राज्य पर विजय प्राप्त की थी । फिर उसने दक्षिण और धुर दक्षिण के राजाओ को पराजित किया था । इस प्रकार उसने अपनी भुजाओ के बल से समस्त भारतवर्ष पर एकाधिकार कायम कर अपनी विजय-दुदभी बजाते हुए 'दिग्विजय' की थी ।" समुद्र गुप्त की यह विजय-गाथा इतिहासज्ञो मे 'प्रयाग प्रशस्ति' के नाम से प्रसिद्ध है ।

उस अपूर्व दिग्विजय के उपरात समुद्र गुप्त के साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर मे हिमालय तक, दक्षिण मे विध्य पर्वत और नर्मदा नदी तक, पूर्व मे ब्रह्मपुत्र नदी तक तथा पश्चिम मे चबल और यमुना नदियो तक हो गई थी । पश्चिम और पश्चिमोत्तर के मालव, यौधेय और मद्रगणो को तथा दक्षिण के विविध राज्यो को उसने अपने साम्राज्य मे नही मिलाया, बल्कि उन्हे अधीनस्थ शासक बनाये रखा था । उसी प्रकार उसने पश्चिम और उत्तर के विदेशी शक तथा 'देवपुत्र शाही शाहानुशाही' कुषाण शासको से भी आधीनता सूचक उपहार प्राप्त किये थे । ऐसा कहा जाता है, उस महान् विजय के उपरात उसने अश्वमेध यज्ञ किया था और 'विक्रमादित्य' की गौरवपूर्ण उपाधि धारण की थी ।

**राज्य शासन**—समुद्र गुप्त ने अपने विशाल साम्राज्य के समुचित शासन के लिए उसे कई 'विषयो' ( प्रदेशो ) मे विभाजित किया था । प्रत्येक 'विषय' का शासक एक 'विषयपति' था, जो प्रचुर अधिकार प्राप्त सर्वोच्च श्रेणी का कोई राजपुरुष होता था । मथुरा के नाग राजा को पराजित कर उसने वहाँ किस प्रकार का प्रबध किया, इसके विषय मे ठीक तरह से पता नही चलता है । ऐसा जान पडता है, उसने मथुरा राज्य को गगा-यमुना के दोआब स्थित 'अतर्वेदी विषय' के अतर्गत रखा था और उसका विषयपति किसी नागवशी राजपुरुष को ही बनाया था । समुद्र गुप्त के वशज स्कद गुप्त के शासन-काल मे अतर्वेद का विषयपति कोई शर्व नाग था ।

वह महान् विजेता और यशस्वी सम्राट होने के साथ ही साथ विविध कलाओ का ज्ञाता और प्रश्रयदाता भी था । उसकी एक मुद्रा पर उसे वीणा-वादन करते हुए अकित किया गया है, जिससे ज्ञात होता था कि वह सगीतज्ञ और कुशल वीणावादक भी था । दिल्ली की कुतुब मीनार गुलाम वश के सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबक अथवा अल्तमश द्वारा बनवाई हुई कही जाती है, किंतु इसके स्थापत्य को देखने से वह मुसलमानी इमारत नही जान पडती । कुछ विद्वानो का मत है कि यह दिल्ली मे समुद्र गुप्त द्वारा बनवाई हुई एक वेधशाला का 'सूर्य स्तभ' है, जिसे मुसलमानी काल मे मीनार का रूप दे दिया गया था । समुद्र गुप्त के दो पुत्र थे—राम गुप्त और चद्र गुप्त । उसके बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र राम गुप्त मगध का सम्राट हुआ था ।

**राम गुप्त**—वह सं० ४३३ में मगध के राजसिंहासन पर आसीन हुआ और केवल कुछ महीनों तक ही मगध–सम्राट रह सका था। समुद्र गुप्त जैसे दिग्विजयी सम्राट का पुत्र होते हुए भी वह बड़ा कायर और अयोग्य सिद्ध हुआ था। समुद्र गुप्त ने जिन विदेशी शकों को पराजित कर दबा दिया था, वे उसके मरते ही फिर प्रबल हो गये थे। उनकी एक बड़ी सेना ने गुप्त साम्राज्य की सीमा में प्रवेश कर रामगुप्त को युद्ध की चुनौती दी थी। उस घटना का वर्णन विशाख दत्त कृत '**देवी चंद्रगुप्तम्**' नामक नाटक में हुआ है। उससे ज्ञात होता है कि शकों के आक्रमण से भयभीत होकर राम गुप्त ने उनसे संधि करने का प्रस्ताव किया था। शकों ने संधि की जो शर्तें रखी थीं, उनमें एक यह भी थी कि राम गुप्त को अपनी पटरानी ध्रुवदेवी, जिसे ध्रुवस्वामिनी भी कहा जाता था, शकराज के अर्पित करनी होगी। कहते हैं, राम गुप्त उस शर्त को भी मानने के लिए तैयार हो गया था, किंतु उसका छोटा भाई चंद्र गुप्त उस घोर अपमानजनक बात को मानने की अपेक्षा शकों से युद्ध कर मर जाना अच्छा समझता था। निदान वह ध्रुवस्वामिनी का वेश धारण कर अकेला ही शत्रुओं के शिविर में चला गया और वहाँ अवसर मिलते ही उसने शकराज को मार डाला। फिर उसने शक सेना से वीरतापूर्वक युद्ध कर उसे मगध साम्राज्य की सीमा से बाहर खदेड़ दिया था। चंद्र गुप्त के अदम्य साहस और शौर्य के कारण उस समय मगध के गौरव की रक्षा हुई और उसके नाम की चारों ओर ख्याति हो गई थी।

उक्त घटना किस स्थान पर हुई, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी का अनुमान है कि वह घटना मथुरा नगर अथवा उसके समीप ही किसी स्थान पर हुई थी[1]। ऐसा कहा जाता है, शकों को पराजित करने से चंद्र गुप्त की जो अनुपम ख्याति हुई थी, उससे राम गुप्त उससे ईर्ष्या करने लगा था। उसने चंद्र गुप्त को मारने का षडयंत्र रचा, किंतु उसमें स्वयं राम गुप्त को ही अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा था। राम गुप्त की मृत्यु के उपरांत चंद्र गुप्त मगध का सम्राट हुआ था।

**चंद्रगुप्त विक्रमादित्य**—चंद्रगुप्त सं० ४३३ में मगध का सम्राट हुआ और उसने सं० ४७० तक शासन किया था। राज्यासीन होते ही उसने राम गुप्त की विधवा ध्रुवस्वामिनी को अपनी पटरानी बनाया था। उसकी अन्य प्रिय रानी कुबेरा नागा थी, जिससे उसे प्रभावती नामक एक पुत्री हुई थी। शासन–सूत्र सँभालने के बाद उसने अपने राज्य का प्रबंध ठीक किया। फिर उसकी स्थायी सुरक्षा के लिए उसने शकों की शक्ति को समूल नष्ट करने का दृढ निश्चय किया। शक लोग पिछली पराजय के कारण मगध साम्राज्य से तो हट गये थे, किंतु वे भारत के पश्चिमी भाग में बसे हुए थे और अवसर मिलते ही पुनः आक्रमण करने की ताक में थे। उनसे सफलता पूर्वक मोर्चा लेने के लिए यह आवश्यक था कि गुप्त साम्राज्य की पश्चिमी सीमा के शक्तिशाली वाकाटक राज्य से घनिष्ट संबंध स्थापित किया जाय। उसके लिए चंद्रगुप्त ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर अपनी राजनैतिक सूझ–बूझ का अच्छा परिचय दिया था। इस प्रकार जहाँ दोनों राज्यों में घनिष्ट संबंध होने से गुप्त साम्राज्य की शक्ति बढ़ी थी, वहाँ शकों के विरुद्ध अभियान करने का मार्ग भी साफ हो गया था।

---

(१) ब्रज का इतिहास ( प्रथम भाग ), पृष्ठ १०५ की पाद–टिप्पणी

**शको की पूर्ण पराजय**—शक्तिशाली शक सेना से टक्कर लेने के लिए चद्रगुप्त स्वय एक बडी सेना के साथ विदिशा गया और वहाँ से अपना आक्रमण आरभ किया था। उस युद्ध मे शको की पूर्ण पराजय हुई, जिसके फल स्वरूप पश्चिमी मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र मे जमा हुआ शक शासन जड से उखड गया था। विदेशी शको की जो शक्ति पिछले कई सौ वर्षो से भारतीयो के लिए घोर सकट बनी हुई थी, उसे पूर्णतया समाप्त कर दिया गया। उस महान् विजय के कारण चद्रगुप्त को 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' कहा जाने लगा था।

**राज्य शासन**—शको को पराजित करने के पश्चात् चद्रगुप्त ने मगध साम्राज्य के तीन प्रशासनिक केन्द्र निश्चित किये थे। पश्चिमी भाग का केन्द्र उज्जयिनी को, मध्यवर्ती भाग का अयोध्या को और पूर्वी भाग का पाटलिपुत्र को बनाया गया। उसके साम्राज्य की राजधानी भी पाटलिपुत्र थी। उन तीनो नगरो की उसके काल मे बडी उन्नति हुई थी। उसके शासन मे विद्या, कला और उद्योग–वाणिज्य ने बडी प्रगति की थी। उस समय यह देश ज्ञान–गरिमा और सुख–समृद्धि की चरम सीमा पर पहुँच गया था। इसीलिए गुप्तो के शासन–काल को भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। कालिदास जैसे महान् कवि ने उसी काल मे अपनी अमर रचनाओ द्वारा भारतीय साहित्य को गौरव प्रदान किया था। चद्रगुप्त के शासन काल मे चीनी पर्यटक फाह्यान भारत के बौद्ध तीर्थो की यात्रा करने को आया था। उसने अपने यात्रा–विवरण मे गुप्त सम्राट के शासन की बडी प्रशसा की है।

**चंद्रगुप्त के शासन मे मथुरा की स्थिति**—उस काल मे मथुरा का राजनैतिक महत्व कम हो गया था, किंतु उसके धार्मिक और कला संबधी गौरव मे कोई कमी नही आई थी। चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है, उस काल मे मथुरा राज्य मे बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार था, किंतु जैन, शैव और भागवत धर्म भी उन्नत अवस्था मे थे। उस काल की बौद्ध और जैन मूर्तियो के साथ हिंदू देवी–देवताओ की मूर्तियाँ भी प्रचुर सख्या मे मिली है। उनसे फाह्यान के कथन की सत्यता प्रमाणित होती है। मथुरा राज्य के विभिन्न स्थानो से उस काल के कई अभिलेख प्राप्त हुए है। उनमे से एक मे किसी उदिताचार्य द्वारा वर्तमान रगेश्वर महादेव के निकट उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर नामक दो शिव मूर्तियो की प्रतिष्ठा किये जाने का उल्लेख है। वह अभिलेख गुप्त सवत् ६१ अर्थात् विक्रम स० ४३७ का है। दूसरे अभिलेख से स्वय चद्रगुप्त द्वारा मथुरा के कृष्ण-जन्मस्थान पर कोई महान् धार्मिक कार्य किये जाने का सकेत मिलता है। उस लेख के खडित हो जाने से यह ज्ञात नही होता है कि वह कौन सा धार्मिक कार्य था।

**चद्रगुप्त द्वारा निर्मित कृष्ण–जन्मस्थान का मदिर**—विद्वद्वर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान सबधी पुरातत्व की सामग्री का अनुसधान और अध्ययन करने के अनतर यह निष्कर्ष निकाला था कि चद्रगुप्त ने वहाँ पर "अवश्य ही एक भव्य मदिर का निर्माण कराया था। वह अत्यत विशाल और कला का एक अद्भुत उदाहरण होगा[1]।" चद्रगुप्त का तत्सबधी अभिलेख कृष्ण–जन्मस्थान के ऐतिहासिक स्थल से प्राप्त हुआ है और उस पर गुप्त सम्राट की उपाधि 'परम भागवत' लिखी हुई है, अत डा० अग्रवाल का उक्त निष्कर्ष यथार्थ ही कहा जा सकता है।

---

(१) श्री कृष्ण जन्मभूमि या कटरा केशवदेव, पृष्ठ ६

**विष्णुपद गिरि का विष्णुध्वज**—दिल्ली नगर के दक्षिण मे कुतुब मीनार के निकट मेहरौली नामक स्थल मे प्राचीन काल का एक लोह स्तभ ( कीली ) है, जिसे अब 'दिल्ली की लाट' कहा जाता है। इसके सबध मे यह निश्चित है कि यह स्तभ आरभ से ही वहाँ पर नही था, बल्कि इसे किसी अन्य स्थान से ला कर उस स्थल पर लगाया गया था। उक्त स्तभ पर सस्कृत भाषा के तीन श्लोको की एक प्रशस्ति है। उससे ज्ञात होता है कि उसे किसी 'चद्र' राजा के देहावसान के पश्चात् 'विष्णुपद गिरि' पर स्थापित किया था और उस पर उक्त स्वर्गीय राजा की गौरव–गाथा अकित की गई थी। इस प्रकार उस दिग्विजयी राजा की विजय और कीर्ति की स्मृति मे स्थापित वह एक जय स्तभ था, जिसे 'विष्णुध्वज' कहा गया है[1]।

सर्व श्री जायसवाल, दडेकर, मुखर्जी, मेहता, सरकार, चट्टोपाध्याय आदि विद्वानो के मतानुसार उक्त स्तभ मे उल्लिखित राजा 'चद्र' गुप्त वश का प्रतापी सम्राट चद्रगुप्त विक्रमादित्य था[2]। उसके देहावसान के पश्चात् गुप्त वश के किसी राजा ने उसकी स्थापना की होगी। श्रीराम गोयल का मत है कि उक्त स्तभ पर गुप्त वश के दिग्विजयी सम्राट समुद्र गुप्त की प्रशस्ति लिखी गई है। समुद्र गुप्त भी 'चद्र' अथवा 'चद्र प्रकाश' के नाम से प्रसिद्ध था[3]। इस मत को मानने पर उक्त स्तभ को चद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा स्थापित किये जाने की सभावना हो सकती है। श्री गौरी-शकर हीराचद ओझा ने बहुत पहिले ही लिखा था कि उक्त स्तभ को चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने स्थापित किया था[4]। श्री राय चौधरी का मत है कि चद्रगुप्त ने उस स्तभ को चौथी शताब्दी मे सभवत मथुरा मे स्थापित किया था। वहाँ से अनगपाल तोमर ने उसे मँगवा कर स० ११०९ मे वर्तमान स्थान पर लगाया था। जिस स्थान पर वह लगाया गया वहाँ पहिले अनेक मदिर भी थे, जिन्हे बाद मे मुसलमान आक्रमणकारियो ने तोड दिया था और उनके मसाले से उन्होंने एक बडी मसजिद बनवाई थी[5]।

समुद्र गुप्त भी अपने यशस्वी पुत्र चद्रगुप्त की भाँति भागवत धर्म का अनुयायी रहा होगा, क्यो कि गया और नालदा के अभिलेखो मे उसे 'परम भागवत' लिखा गया है। उसके सिक्को पर उसका राजचिह्न गरुड भी मिलता है। ऐसी दशा मे उसका कीर्ति–स्तभ मथुरा जैसे भागवत धर्म के केन्द्र मे स्थापित करना समीचीन कहा जावेगा। 'परम भागवत' चद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा मथुरा के कृष्ण–जन्म स्थान पर भगवान् वासुदेव के मदिर बनवाये जाने का उल्लेख किया जा चुका है, अत अनुमान होता है कि उसने अपने यशस्वी पिता के कीर्ति–स्तभ को भी 'विष्णुध्वज' के रूप मे उक्त मदिर मे ही स्थापित किया होगा। वैष्णव धर्म के मदिरो के साथ उस प्रकार के ध्वज स्तभ लगाये जाने की प्राचीन परपरा रही है।

---

(१) दिल्ली या इद्रप्रस्थ, पृष्ठ ७६

(२) समुद्रगुप्त . मेहरौली–स्तभ–अभिलेख का नरेश,

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६६ अक ३, पृष्ठ २७०

(३) ,, वही ,, ,, ( पृष्ठ २८१ )

(४) भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री, पृष्ठ ५३

(५) हिस्ट्री आफ ऐंशियेंट इडिया, पृष्ठ ६६ और ४०१

यदि उक्त सभावना को स्वीकार किया जाय, तो यह भी मानना होगा कि उक्त विष्णु-ध्वज का मूल स्थल 'विष्णुपद गिरि' भी मथुरा मे और सभवत कृष्ण-जन्मस्थान पर रहा होगा। विष्णुपद गिरि की ठीक-ठीक पहिचान करने मे अभी तक विद्वानो को सफलता नही मिली है। वाल्मीकि रामायण मे विष्णुपद गिरि को वाह्लिक प्रदेश मे सुदामा पर्वत तथा विपाशा (व्यास) और शाल्मली नदियो के साथ स्थित बतलाया गया है[1]। इस प्रकार उसकी स्थिति पचनद प्रदेश मे अथवा उसके निकटस्थ भाग मे सिद्ध होती है। डा० जायसवाल के मतानुसार विष्णुपद हरिद्वार के समीप का कोई पहाड था और वाह्लिक बैक्ट्रिया प्रदेश था[2]। उक्त स्थानो मे विष्णुपद गिरि का होना असगत मालूम होता है, अत उचित यह है कि उसे भागवत धर्म के विख्यात केन्द्र मथुरा मे ही खोजा जाय। इस सबध मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि मथुरामडल मे गिरिराज गोवर्धन के अतिरिक्त कोई दूसरा तथाकथित 'गिरि' नही है। सभव है, मथुरा के किसी ऊँचे टीले का नाम उस काल मे 'विष्णुपद गिरि' रहा हो। कृष्ण-जन्मस्थान अवश्य ही एक ऊँचे टीले पर स्थित है, जो निकस्थ भूमि से काफी ऊँचाई पर है। श्री कृष्ण के जन्म स्थल के महत्व के कारण उस काल मे वहाँ के टीले को ही 'विष्णुपद गिरि' कहा जाता हो तो इसमे कोई असगति नही होगी, क्यो कि अभी तक इस नाम का कोई दूसरा पर्वत नही मिला है। इस प्रकार अधिक सभावना इस बात की है कि उक्त 'विष्णुध्वज' को चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने उसी मदिर मे स्थापित किया होगा, जिसे उसने भगवान् वासुदेव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए मथुरा के कृष्ण-जन्मस्थान पर बनवाया था। वह मदिर मुसलमानो के आक्रमण-काल तक विद्यमान था और उसे महमूद गजनवी ने ११ वी शताब्दी मे तोडा था। उसी काल मे वह 'ध्वज स्तभ' भी उखाड कर फेंक दिया गया होगा, जो बाद मे वहाँ से हटा कर दिल्ली के मेहरौली नामक स्थान पर स्थापित किया गया था।

**कुमार गुप्त**—चद्रगुप्त विक्रमादित्य के पश्चात् उसका पुत्र कुमार गुप्त (प्रथम) मगध का सम्राट हुआ। उसने स० ४७१ से ५०२ तक शासन किया था। उसके शासन काल मे आतरिक शाति और सुव्यवस्था कायम रही तथा विद्याओ और कलाओ की यथेष्ट उन्नति हुई थी। उसने नालदा मे एक महा विहार की स्थापना की थी, जो उस समय भारत का सुप्रसिद्ध विश्व-विद्यालय माना जाता था। उसके शासन के अतिम काल मे राज्य की शाति और व्यवस्था मे गडबडी हो गई थी। उसका कारण कुछ देशी और विदेशी उपद्रवियो की आक्रमणकारी हलचले थी। विदेशी उपद्रवियो मे एक हूण जाति के लोग थे, जो मध्य एशिया से इस देश मे आकर यहाँ लूट-मार और गडबडी करने लगे थे। चद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा पराजित होने से शको की प्रबल शक्ति तो सदा के लिए समाप्त हो गई थी, किंतु हूणों के नये उपद्रव आरभ हो गये थे। उन हूण आक्रमणकारियो ने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा से आगे बढ कर पजाब तथा पूर्वी

---

(१) वयुर्मध्येन वाह्लिकान् सुदामानम् च पर्वतम्।
विष्णो पदम् प्रेक्षमाणाविपाशाम् चापि शाल्मलीम्॥
—रामायण, अयोध्या काड, सर्ग ६८, श्लोक १८-१९

(२) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, ( वर्ष ६९, अक ३, पृष्ठ २९८ )

मालवा मे अपने अड्डे बना लिये थे और गुप्त साम्राज्य के कुछ पश्चिमी भाग पर भी अधिकार कर लिया था। इस प्रकार वे यहाँ की शांति और सुव्यवस्था के लिए बडा संकट बन गये थे।

**स्कंद गुप्त**—कुमार गुप्त के पश्चात् उसका सुयोग्य पुत्र स्कंद गुप्त मगध का सम्राट हुआ, जिसने सं० ५०२ से सं० ५२४ तक शासन किया था। राज्यासीन होते ही उसने हूणो से भीषण युद्ध कर उन्हे पराजित किया और अपने साम्राज्य का खोया हुआ भाग उनसे वापिस ले लिया। इस प्रकार उसने दुर्दान्त हूणो को मालवा और दक्षिणी पंजाब से खदेड कर उत्तर-पश्चिम की ओर भगा दिया था। उसके जीवन काल मे हूणो ने फिर सिर नहीं उठाया था। स्कंद गुप्त कुशल सेनानी, योग्य प्रशासक और यशस्वी सम्राट था। उसने बडी कठिन परिस्थिति मे मगध साम्राज्य का शासन-सूत्र सँभाला था। उस समय आंतरिक और बाहिरी ऐसी अनेक कठिनाइयाँ थी, जिन्होने मगध साम्राज्य को हिला दिया था, किंतु उसने योग्यता पूर्वक उन पर विजय प्राप्त की थी। हूणो को पराजित करने के उपलक्ष मे उसे 'विक्रमादित्य' की गौरवपूर्ण उपाधि से अलंकृत किया गया। उसका देहावसान सं० ५२४ मे हुआ था। उसके निधन से भारतवर्ष का एक योग्य प्रशासक जाता रहा। वह समुद्र गुप्त और चंद्र गुप्त जैसे महान् सम्राटो की यशस्वी परंपरा का अंतिम महापुरुष था।

**परवर्ती गुप्त सम्राट**—स्कंद गुप्त के पश्चात् कई गुप्त सम्राट हुए, किंतु वे गुप्तो की गौरवशाली परंपरा के अनुरूप नहीं थे। उनके विषय मे पाश्चात्य विद्वानो का कथन है कि वे विशाल गुप्त साम्राज्य की रक्षा करने मे असमर्थ सिद्ध हुए थे, जिससे वह छिन्न-भिन्न होता हुआ कालांतर मे समाप्त हो गया था। इधर जो नवीन तथ्य प्रकाश मे आये है, उनसे ज्ञात होता है कि स्कंद गुप्त के उत्तराधिकारी गुप्त सम्राट अपने साम्राज्य की रक्षा करने मे असमर्थ नहीं थे। वे चाहे स्कंद गुप्त के समान पराक्रमी और विजयी नहीं थे, किंतु उनके काल मे गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न नहीं हुआ था। ऐसे गुप्त सम्राटो मे बुद्ध गुप्त का नाम उल्लेखनीय है, जिसने सं० ५३३ से ५५३ तक शासन किया था। उसका अधिकार पूर्व मे बंगाल से लेकर पश्चिम मे मालवा तक के विस्तृत क्षेत्र पर था।

**गुप्त साम्राज्य की समाप्ति**—बुद्ध गुप्त के बाद जो गुप्त सम्राट हुए, वे गुप्त साम्राज्य के ह्रास को नहीं रोक सके थे। सं० ५५७ के बाद से हूणो ने फिर आक्रमण आरंभ कर दिया था। उसे विफल करने मे गुप्त शासक असमर्थ सिद्ध हुए, फलत गुप्त साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर हूणो ने अधिकार कर लिया था। साम्राज्य के दूसरे कई भागो को वे सामंत और प्रशासक दाब बैठे, जो गुप्त सम्राटो की शक्तिहीनता का लाभ उठा कर स्वतंत्र बन गये थे। अंतिम गुप्त सम्राट भानु गुप्त और वज्र गुप्त थे, जो सं० ५६० के लगभग विद्यमान थे। भानु गुप्त के शासन काल मे हूणो के एक सरदार तोरमाण ने प्रबल हूण सेना के साथ भीषण आक्रमण किया था, जिसे रोकने मे गुप्त सम्राट को सफलता नहीं मिली थी। वज्र गुप्त के शासन काल मे गुप्त साम्राज्य समाप्त हो गया था।

**हूण और उनके आक्रमण**—हूण भी शक और कुषाण जातियो की भाँति मध्य एशिया के निवासी थे, किंतु वे अत्यंत क्रूर, बर्बर और असभ्य थे। वे अपने मूल स्थान से निकल कर जीविका की खोज मे पश्चिम, दक्षिण-पश्चिम और फिर दक्षिण की दिशाओ मे टिड्डी दल की

भाँति दूर-दूर तक छा गये थे। उनके एक दल ने यूरोप पहुंच कर वहाँ के शक्तिशाली रोम साम्राज्य का अत किया। दूसरा दल अफगानिस्तान मे होकर भारत के पश्चिमोत्तर सीमात पर आया और वहाँ से बढता हुआ तक्षशिला पहुँचा। उसने भारत की उस सास्कृतिक वैभव सम्पन्न प्राचीन नगरी को उसके विश्वविद्यालय सहित पूर्णतया नष्ट कर दिया था।

भारत के आतरिक भाग मे हूणो का सर्वप्रथम प्रवेश मगध सम्राट कुमार गुप्त के शासन के उत्तर काल स० ५०२ मे हुआ था, जिससे मगध साम्राज्य की नीव हिल गई थी। स्कद गुप्त ने उनकी बाढ को रोक दिया और स० ५२२ मे उन्हे बुरी तरह पराजित कर भारत से खदेड दिया था, जिससे वे कुछ काल तक इधर बढने का साहस नही कर सके थे। स० ५४१ मे उन्होने ईरानी राज्य को ध्वस कर अफगानिस्तान की बर्बादी की और फिर तूफान की सी तेजी से भारत मे बढते चले आये। उनके नेता तोरमाण ने स० ५५० के लगभग तत्कालीन गुप्त सम्राट से पूर्वी मालवा छीन लिया, किंतु परवर्ती गुप्त शासक बालादित्य द्वितीय ने उन्हे वहाँ से निकाल दिया था। उसके बाद वे भारत के उत्तर–पश्चिमी भाग मे जम कर बैठ गये और जब अवसर मिलता, तब लूट–मार करते हुए आगे बढते रहे। इस प्रकार उनका अधिकार कश्मीर पर भी हो गया था। स० ५७२ के लगभग तोरमाण की मृत्यु हो गई। उसके बाद मिहिरकुल हूणो का नेता हुआ। वह तोरमाण से भी अधिक क्रूर, अत्याचारी और हिसक था। उसे क्रूरता और हिसा के पाशविक कृत्यो मे बडा सुख मिलता था।

**हूणो द्वारा मथुरा की लूट**—स० ५८० के लगभग हूणो की एक विशाल सेना ने मिहिरकुल के नेतृत्व मे बडा धुँआधार आक्रमण किया था। वे पजाब के नगरो को लूटते और उजाडते हुए मथुरा तक आ गये थे और फिर वहाँ से ग्वालियर होते हुए मध्य भारत मे पहुँच गये थे। उसी अवसर पर उन्होने मथुरा के समृद्धिशाली सास्कृतिक नगर को लूटा था। उस समय मथुरामडल गुप्त साम्राज्य के अतर्गत था। गुप्त सम्राटो की ओर से वहाँ कोई राज्याधिकारी होगा, किंतु वह हूणो के आक्रमण से मथुरा की रक्षा करने मे असमर्थ रहा था। उस काल मे मथुरा विविध धर्मो का केन्द्र होने के कारण धार्मिक जगत् मे प्रसिद्ध था। वहाँ पर बौद्ध, जैन और हिंदू धर्मो से सबधित अनेक स्तूप, सघाराम, चैत्य और मदिर थे। उनमे प्रचुर सख्या मे मूर्तियाँ और कला कृतियाँ थी, तथा अगणित हस्तलिखित ग्रथ थे। उस बहुमूल्य सास्कृतिक निधि और ज्ञान-भडार पर बर्बर हूणो की क्रूर दृष्टि पडी थी।

श्री कृष्णदत्त बाजपेयी ने उस काल के मथुरा नगर की समृद्धि और हूणो द्वारा उसकी बर्बादी का उल्लेख करते हुए लिखा है—"मथुरा नगर उस समय बहुत समृद्ध था और यहाँ अनेक बौद्ध स्तूपो और सघारामो के अतिरिक्त विशाल जैन तथा हिंदू इमारते विद्यमान थी। हूणो के द्वारा अधिकाश इमारते जलाई और नष्ट की गई, प्राचीन मूर्तियाँ तोड डाली गई और नगर को बर्बाद किया गया। चद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय मे जिस विशाल मदिर का निर्माण श्री कृष्ण–जन्मस्थान पर किया गया था, वह भी हूणो की क्रूरता का शिकार हुआ होगा[१]।"

---

(१) ब्रज का इतिहास (प्रथम भाग), पृष्ठ ११४

हूणो के आक्रमण के प्राय सौ वर्ष पश्चात् जब चीनी यात्री हुएनसाग मथुरा आया था, तब उसने विभिन्न धर्मो से सबधित अनेक प्राचीन इमारतें यहाँ देखी थीं। उक्त साक्ष्य से यह समझा जा सकता है कि हूणो द्वारा मथुरा नगर की अधिकाश धार्मिक इमारतें नष्ट नहीं हुई होंगी। चद्रगुप्त विक्रमादित्य के काल का श्रीकृष्ण-जन्मस्थान वाला मदिर भी हूणो की क्रूरता का शिकार नही हुआ होगा। कारण यह है कि ११ वी शताब्दी मे महमूद गजनवी ने उसी स्थान पर जैसा विशाल और वैभवशाली मदिर तोडा था, वैसा वहाँ हूणो के आक्रमण के बाद फिर से बनवाये जाने का कोई उल्लेख नही मिलता है।

हमारा अनुमान है, हूणो ने बडी-बडी धार्मिक इमारतो को तोडने मे अपना समय नष्ट नही किया होगा, क्यो कि उन्हे मुसलमानो की तरह उनसे धार्मिक विद्वेष नही था। वे तो अपनी बर्बर प्रकृति के कारण उन्हे नष्ट-भ्रष्ट करते थे और धन-सपत्ति के लोभ से उन्हे लूटते थे। इससे उनके द्वारा छोटी इमारतो के साथ वह विशाल ग्र थ-भडार अवश्य नष्ट हुआ होगा, जो शताब्दियो से सचित ज्ञान-कोष के रूप मे यहाँ के मदिर-मठो मे सुरक्षित था। इस प्रकार हूणो द्वारा मथुरा की धन-सपत्ति लूटी गई, छोटे मदिर-स्तूप आदि नष्ट किये गये और ग्र थ-राशि जलाई गई, जिससे इस नगर की अपार सास्कृतिक हानि हुई थी। फिर भी उनके प्रहार से यहाँ विविध धर्मों के बडे-बडे सघाराम, स्तूप, मदिर और चैत्यादि कुछ क्षतिग्रस्त होने पर भी बच गये थे।

मथुरा मे लूट-मार करने के उपरात भी हूणों ने इस नगर को छोड नही दिया था, बल्कि इसे अपना स्थायी अड्डा बना लिया था। यहाँ की खुदाई मे उनके अनेक सिक्के मिले हैं, जो उनके यहाँ टिके रहने के प्रमाण है। मथुरा के चौबिया पाडा मे रत्नकु ड के पास 'मिहारपुरा' नामक एक मुहल्ला है, जहाँ के रहने वाले चतुर्वेदी 'मिहारी' कहलाते हैं। सभव है, उस स्थान पर पहिले हूणो की बस्ती रही हो, जिसका नाम उनके नेता 'मिहिरकुल' के नाम पर मिहारपुरा पडा हो। मथुरा मे अपना अड्डा जमाने के उपरात हूणो की सहारकारिणी सैन्य शक्ति ग्वालियर, बु देलखड और मध्यभारत तक के भागो मे छापे मारती रही थी। अपनी क्रूर प्रकृति के अनुसार उन्होने वहाँ पर भी बर्बादी का वातावरण उपस्थित कर दिया था।

**यशोधर्मन् का प्रादुर्भाव और हूणो की पराजय**—जिस समय यह देश मिहिरकुल और उसके बर्बर हूण सैनिको के अत्याचार से कराह रहा था, उसी समय मुक्ति दूत के रूप मे यशोधर्मन् नामक एक शक्तिशाली महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ था। उसने स० ५८७ के लगभग हूणो के बढते हुए बवडर को रोक दिया और उन्हे पराजित कर उत्तर की ओर भगा दिया था। यशोधर्मन् की उस ऐतिहासिक विजय गाथा का उल्लेख मंडसर (मालवा) के स० ५८६ के शिलालेख मे हुआ है। उससे ज्ञात होता है, यशोधर्मन् मालवा का राजा था और उसकी राजधानी मडसर थी। वह वैश्य जाति का एक महान् वीर पुरुष था। उसने हूणो को पराजित करने के उपरात उत्तर भारत के अधिकाश भाग पर अधिकार कर लिया था। मगध के अतिम सम्राट वज्र गुप्त से सधि कर उसने लडखडाते हुए गुप्त साम्राज्य का बहुत सा भाग भी अपने राज्य मे सम्मिलित किया था[१]। मथुरामडल पर भी उस काल मे कदाचित उसी का अधिकार था।

---

(१) १. बु देलखड का सक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २२
२ गुप्त इंसक्रिप्सस, पृष्ठ १४६

यशोधर्मन् के विषय मे स० ५८६ के मडसर शिलालेख के अतिरिक्त कोई अन्य प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नही हुई, अत उस महापुरुष का विशेष वृत्तात भी नही मिलता है। उसका कब जन्म हुआ, किस प्रकार उसने शक्ति सचित की, उसकी आश्चर्यजनक उन्नति का क्या रहस्य था, उसने कब तक शासन किया और उसका कब देहात हुआ, उसका वश चला या नही—ये सभी बाते भारतीय इतिहास के एक अधकारपूर्ण अध्याय मे ऐसी लुप्त हो गई है कि उन्हे आलोक मे लाने का अभी तक कोई साधन नही मिल सका है। इस पर विस्मय प्रकट करते हुए श्री गौरीशकर चटर्जी ने लिखा है—"भारत के प्राचीन इतिहास के रगमच पर यशोधर्मन् का लोप हो जाना उतना ही रहस्यमय है, जितना कि उस पर उसका प्रवेश करना[1]"।

यशोधर्मन् के शासन-काल की जो दो घटनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है, वे है—१. गुप्त साम्राज्य की समाप्ति और २ हूणो के भयकर आक्रमण तथा उनकी पूर्ण पराजय। यशोधर्मन् से पराजित होकर हूण लोग भारत के उत्तर और उत्तर-पश्चिमी भाग मे चले गये थे, जहाँ से वे फिर आगे नही बढ सके थे। उनके नेता मिहिरकुल का शासन कश्मीर और गधार तक के भू-भाग मे ही सीमित रह गया था। उसी स्थिति मे मिहिरकुल का देहात स० ६०० के लगभग हुआ था। हूणो को पराजित करने की घटना इतनी महत्वपूर्ण मानी गई कि उसके कारण यशोधर्मन् की गणना भारतीय इतिहास के विख्यात वीरो मे होने लगी थी। उसने अपनी विजय के उपरात एक अश्वमेध यज्ञ किया और फिर 'विक्रमादित्य' की गौरवपूर्ण उपाधि धारण की थी। इस प्रकार अश्वमेध यज्ञकर्त्ता और विक्रमादित्य उपाधिधारी वह अतिम महापुरुष था। उसके बाद फिर किसी को भी वह सौभाग्य प्राप्त नही हुआ था।

**विक्रमादित्यो की परंपरा**—विदेशी आक्रमणकारियो की पराधीनता से मातृभूमि को मुक्त करने वाले अथवा कोई अन्य अत्यत महत्वपूर्ण कार्य करने वाले महापुरुषो की परपरा मे जो कई 'विक्रमादित्य' हुए है, उनकी तालिका इस प्रकार है—

१ **विषमशील विक्रमादित्य**—वह प्रथम विक्रमादित्य था, जिसने मालव गण को सगठित कर उज्जयिनी से शको को भगाया था और 'विक्रम सवत्' की स्थापना की थी।

२. **शालिवाहन विक्रमादित्य**—वह सातवाहन वशीय राजा हाल था, जिसने 'शक सवत्' का प्रचलन किया था।

३ **समुद्र गुप्त विक्रमादित्य**—वह गुप्त वश का प्रतापी सम्राट था, जिसने 'दिग्विजय' द्वारा अनेक राज्यो को अधीन कर विशाल गुप्त साम्राज्य की स्थापना की थी।

४. **चद्रगुप्त विक्रमादित्य**—वह गुप्त वश का सबसे प्रसिद्ध सम्राट था, जिसने शको को पूर्णतया पराजित कर उनकी शक्ति का मूलोच्छेदन किया था, इसीलिए वह 'शकारि' कहलाता था।

५ **स्कद गुप्त विक्रमादित्य**—वह गुप्त वश का विजयी सम्राट था, जिसने हूणो की प्रबल शक्ति से सर्व प्रथम मोर्चा लेकर उन्हे पराजित किया था।

६. **यशोधर्मन् विक्रमादित्य**—वह मदसर (मालवा) का शासक था, जिसने हूणो की दुर्जय शक्ति को पूर्णतया समाप्त कर भारतवर्ष को सदा के लिए उनके सकट से मुक्त किया था।

---

(१) हर्षवर्धन, पृष्ठ १३

# कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियाँ

ब्रज संस्कृति के इतिहास का 'पूर्व मध्य काल' सात शताब्दियो से भी कम का होने के कारण अपने पूर्ववर्ती 'आदि काल' की अपेक्षा बहुत छोटा है, अत उसकी उपलब्धियाँ भी अपेक्षाकृत कम है। फिर भी यह काल विदेशी शक, कुषाण और हूण जातियो के आक्रमण, राज्य संस्थापन और अतत उनके पूर्ण पराभव के कारण अपना अनुपम ऐतिहासिक महत्व रखता है। वे जातियाँ बडे दल-बल के साथ भारत मे आई थी और उन्होने यहाँ की संस्कृति पर भला-बुरा प्रभाव भी डाला था, किंतु बाद मे वे यहाँ के जन-जीवन मे इस प्रकार घुल-मिल गई कि आज उनका केवल नाम ही शेष रह गया है। इसी काल मे नाग और गुप्त जैसे भारतीय राजाओ के गौरवशाली राज्यो का उद्भव, विकास और ह्रास हुआ था। उनका शासन काल जहाँ भारतीय इतिहास मे 'स्वर्ण युग' कहलाता है, वहाँ मथुरामडल के लिए भी अपना अनुपम महत्व रखता है। हम इस काल की कुछ उपलब्धियो की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करना चाहते है।

**राष्ट्र रक्षा और धर्मोन्नति**—आर्य संस्कृति और वैदिक धर्म मे राष्ट्रीय रक्षा और धार्मिक उन्नति दोनो पर समान रूप से बल दिया गया है। यहाँ राष्ट्र रक्षा को भी वस्तुत धर्म का ही एक अग माना गया है। वेदो मे इस आशय के अनेक मत्र मिलते है। आर्यों की वर्ण व्यवस्था मे ब्राह्मणो को धर्म और क्षत्रियो को रक्षा का उत्तरदायित्व देते हुए उन दोनो को ठोस आधार पर स्थापित करने के साथ ही साथ उन्हे संतुलित करने की भी चेष्टा की गई थी। यही कारण था कि असुरो और अनार्यो से निरतर संघर्ष होते रहने पर भी आर्य संस्कृति और वैदिक धर्म की उत्तरोत्तर उन्नति होती रही थी। जब वैदिक कर्मकाड के अनाचार की प्रतिक्रिया मे अवैदिक जैन-बौद्धादि निवृत्ति प्रधान धर्मो का प्रभाव बढा, तब धर्म और रक्षा के संतुलन मे शिथिलता के लक्षण दिखलाई देने लगे थे। फलत यूनानी आदि विदेशियो ने इस देश पर आक्रमण करने का साहस किया था। किंतु तब तक भी राष्ट्र रक्षा का प्रश्न इतना गौण नही हुआ था कि उन विदेशियो को यहाँ अधिकार जमाने मे सफलता प्राप्त होती। उस समय जो थोडी शिथिलता आई थी, उसको चाणक्य जैसे कूटनीतिज्ञ महामनीषी ने दूर कर दिया था। तभी चद्रगुप्त मौर्य के शासन काल मे एक ओर यूनानियो के आक्रमण की आशका को समाप्त किया गया और दूसरी ओर सभी क्षेत्रो मे राष्ट्र की अपूर्व उन्नति की गई।

कालातर मे मौर्य सम्राट अशोक ने निवृत्ति प्रधान धर्म के प्रचार पर इतना अधिक बल दिया कि राष्ट्र-रक्षा का प्रश्न तब गौण बन गया था। उस काल मे बौद्ध धर्म के कारण आर्यो की वर्ण व्यवस्था भी भग होने लगी थी। फलत धर्म और रक्षा का सतुलन बिगड गया, जिसके परिणाम स्वरूप विदेशी शक-कुषाणादि जातियो ने भारतवर्ष पर आक्रमण ही नही किया, वरन् उन्होने यहाँ राज्याधिकार कायम करने मे भी सफलता प्राप्त की थी। इस देश के मनीषियो ने 'शस्त्र' और 'शास्त्र' के पारस्परिक सबध का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—'**शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते।**' अर्थात् शस्त्रो से रक्षित राष्ट्र मे ही शास्त्रो का चिंतन सभव है। ब्रज संस्कृति के 'आदि काल' मे इस ध्रुव सत्य को भली भाँति समझा गया। बाद मे उसकी उपेक्षा होने से जो सांस्कृतिक हानि हुई, उसका परिज्ञान इस काल की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

राष्ट्र की अरक्षा का लाभ उठा कर विदेशी शक–कुषाण जातियो ने यहाँ अपने राज्य कायम किये और आरभ मे उनके द्वारा 'शास्त्र–चिंतन' मे कुछ बाधा भी उपस्थित की गई, किंतु बाद मे वे यहाँ की सस्कृति से प्रभावित होने के कारण इसके सहायक हो गये थे। जहाँ तक मथुरा राज्य का सबध है, यहाँ की सस्कृति के मूलाधार भगवान् वासुदेव कृष्ण का सबसे प्राचीन 'महा स्थान' ( मदिर ) शक क्षत्रप शोडास ( सुदास ) के शासन–काल मे ही किसी वसु द्वारा बनवाये जाने का उल्लेख मिला है। श्री कृष्ण की सबसे प्राचीन मूर्ति के रूप मे कृष्ण–लीला का एक शिलाखड कुषाण काल का उपलब्ध हुआ है। इन पुरातात्विक प्रमाणो से सिद्ध होता है कि शक–कुषाण राजा यहाँ की धर्मोन्नति मे सहायक हुए थे। उनके विपरीत हूणो ने 'शास्त्र' का सदा ही तिरस्कार किया था। उन्होने तक्षशिला के विख्यात सास्कृतिक केन्द्र को समाप्त कर मथुरा राज्य के ज्ञान–विज्ञान, धर्म–सस्कृति तथा यहाँ की विद्या–कला को बडी हानि पहुँचाई थी। इस प्रकार व्रज सस्कृति पर विदेशी राज्यो के भले–बुरे प्रभाव का लेखा–जोखा इस काल की उल्लेखनीय उपलब्धि कहा जावेगा।

इस काल की सबसे बडी उपलब्धि नागो और गुप्तो के भारतीय राज्य है, जिन्होने व्रज सस्कृति को भी गौरव प्रदान किया है। नाग और गुप्त राजागण धर्म और रक्षा दोनो के प्रति समान रूप से जागरूक रहे थे। नागो ने जहाँ कुषाणो की पराधीनता से मथुरा राज्य को मुक्त किया था, वहाँ गुप्तो ने शको के सकट को सदा के लिए समाप्त कर हूणो के प्रबल वेग को रोकने मे सफलता प्राप्त की थी। नाग राजा मथुरा के अतिम स्वाधीन शासक थे। यद्यपि उनके राज का अत गुप्तो द्वारा किया गया, किंतु उनका उद्देश्य एक ऐसे शक्तिशाली साम्राज्य का सगठन करना था, जो राष्ट्र–रक्षा और राष्ट्रोन्नति का अत्यत सुदृढ साधन सिद्ध हो सके। चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने अन्य चिरस्मरणीय कार्यो के साथ ही साथ मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर जो मदिर बनवाया था, वह कई शताब्दियो तक यहाँ की सास्कृतिक चेतना और धार्मिक भावना को जीवित–जागृत बनाये रखने का प्रधान प्रेरणा–स्रोत रहा था।

**प्रशासनिक और सैनिक व्यवस्था**—इस काल मे मथुरा राज्य की प्रशासनिक और सैनिक व्यवस्था किस प्रकार की थी, उसका ठीक–ठीक उल्लेख नही मिलता है। नाग शासन के थोडे से समय को छोड कर इस काल मे मथुरा राज्य विदशी और देशी साम्राज्यो का एक अग मात्र रहा था, अत. यहाँ का प्रशासन आदि भी उन्ही साम्राज्यो की व्यवस्था के अनुसार होता होगा। शक–कुषाण काल मे मथुरा राज्य उनके विशाल साम्राज्य के दक्षिण–पूर्वी भाग की एक महत्वपूर्ण इकाई था, जिसकी राजधानी मथुरा नगरी थी। यहाँ के शासक शक महाक्षत्रप और कुषाण सेनापति थे, जो स्वायत्त अधिकार प्राप्त राजाओ के समान थे। इसलिए उस काल मे और उसके पश्चात् नाग राजाओ के काल मे यहाँ की प्रशासनिक और सैनिक व्यवस्था स्वतंत्र रूप से सचालित होती थी। गुप्तो के काल मे मथुरा राज्य और नगर की वैसी महत्वपूर्ण स्थिति नही रही थी। गुप्त साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था के अनुसार इस राज्य और नगर की स्थिति एक 'भुक्ति' ( प्रात ) और 'विषय' ( जनपद ) के रूप मे जान पडती है। गुप्त काल मे भुक्ति–पति प्राय राजकुल का व्यक्ति होता था, जिसकी नियुक्ति स्वय सम्राट करता था। उसके अधीन सेनापति, दंडनायक, बलाधिकृत, भाडागाराधिकृत, दडपाशिक, विनय–स्थिति–स्थापक आदि बडे-

वडे सैनिक और असैनिक अधिकारी होते थे। गुप्तो ने मथुरा के स्वतत्र नाग राज्य को समाप्त करने के पश्चात् नाग जाति के राज पुरुपो को वडे-वडे महत्वपूर्ण पदो पर नियुक्त किया था। मथुरा भुक्ति के सर्वोच्च अधिकारी भी प्राय नाग जाति के राजपुरुप थे।

**आर्थिक अवस्था और समृद्धि**—इस काल मे मथुरा राज्य की आर्थिक अवस्था अत्यत उन्नत थी और यहाँ के निवासी सब प्रकार से समृद्ध एव सम्पन्न थे। विदेशी शक-कुषाणो के काल मे भी यह राज्य धन-धान्य से पूर्ण रहा था। उस काल मे मथुरा नगर व्यापार-वाणिज्य और उद्योग-धधो का एक महत्वपूर्ण केन्द्र माना जाता था। उसकी यह स्थिति नागो और गुप्तो के काल मे भी अक्षुण्ण रही थी। हूणो के आक्रमण काल मे जब यहाँ भीषण लूट-मार हुई थी, तब यहाँ की परपरागत समृद्धि मे अतर आया था, किंतु उसकी पूर्ति कालातर मे हो गई थी।

**रहन-सहन**—इस काल मे लोगो का रहन-सहन किस प्रकार का था, इसे जानने का सर्वोत्तम साधन उस समय रचे हुए काव्य-नाटकादि ग्रथ है। यदि कालिदास के कथन को गुप्त कालीन समाज का चित्रण माना जाय, तब यह कहा जा सकता है कि उस काल मे राजा और प्रजा सभी लोग आश्चर्यजनक रूप से समृद्धिशाली और सम्पन्न थे। उस समय मानो यहाँ सर्वत्र इद्र का सा वैभव, सुखोपभोग एव ऐश-आराम था और कुबेर की सी सपदा सभी जगह बिखरी हुई थी। कालिदास के उक्त कथन मे निश्चय ही अत्यत अतिशयोक्ति है, फिर भी गुप्तकालीन समाज सब प्रकार से सुखी और सतुष्ट था। यहाँ के निवासियो के रहन-सहन का स्तर बहुत ऊँचा था।

**वस्त्राभूषण और साज-शृगार**—उस काल की मूर्तियो और कला कृतियो मे नर-नारियो के वस्त्राभूपण की अच्छी झाँकी मिलती है। उनसे ज्ञात होता है, तब वस्त्रो का अधिक व्यवहार नही किया जाता था, किंतु जो वस्त्र भी पहिने जाते थे, वे कलात्मक होते थे। राजा-महाराजा भी कम वस्त्र पहिनते थे, किंतु जवाहरात से लदे रहते थे। पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ कुछ अधिक वस्त्र पहिनती थी। पुरुष और स्त्री दोनो ही आभूषण पहिनते थे। राजागण सिर पर मुकुट धारण करते थे और सामान्य पुरुष उष्णीश ( पगडी ) पहिनते थे। स्त्रियाँ साडी, लहँगा और चोली पहिनती थी, जिन्हे सुन्दर झीने वस्त्रो से बनाया जाता था। स्त्रियो को साज-शृगार करने का बडा ध्यान रहता था। वे अपने केशो को सजाने, अगराग लगाने और विविध भाँति के आभूषण धारण करने मे बडी रुचि लेती थी। उस काल की नारियो के केश-शृगार और वेणी-गूँथन के विविध प्रकारो को देखने मे उनकी अनुपम कलात्मक भावना का परिचय मिलता है।

**आमोद-प्रमोद**—इस काल मे लोगो के मनोरजन के लिए अनेक प्रकार के आमोद गृह थे, जिनमे रगशाला, सगीतशाला, नृत्यशाला, चित्रशाला, व्यायामशाला, द्यूत-गृह आदि उल्लेखनीय है। विविध प्रकार के उत्सवो और गोष्ठियो आदि का प्रचलन था, जिनमे जन साधारण से लेकर धनी-मानी राजा-महाराजा तक सभी योग देते थे। वन-विहार, जल-क्रीडा, चौगान के खेल, द्वंद्व युद्ध, जानवरो की लडाई, कबूतरो की उडान, मछली मारना, शिकार खेलना आदि नाना प्रकार के आयोजनो मे सब लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भाग लेते थे। वे समस्त आमोद-प्रमोद सुखी, समृद्ध और निश्चित जन-जीवन के चिह्न है, जिनसे ज्ञात होता होता है कि उस समय यहाँ की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी।

## तृतीय अध्याय

# मध्य काल

[ विक्रम स० ६०० से स० १२६३ तक ]

### मौखरी-वर्धन राज्य और कन्नौज की महत्व-वृद्धि—

गुप्त साम्राज्य के समाप्त होने से इस देश मे एक सार्वभौम शासन-सत्ता का अभाव हो गया था, जिसके कारण यहाँ अनेक छोटे-वडे राज्य वन गये थे। समुद्र गुप्त से पहिले भी उसी प्रकार के अनेक राज्य थे, जो आपस मे लड कर देश की शाति और व्यवस्था मे गडवडी करते रहते थे। गुप्त सम्राटो ने उन्हे एक शक्तिशाली साम्राज्य के अतर्गत सगठित कर देश मे शाति और व्यवस्था कायम की थी। अव गुप्त साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने से फिर वही स्थिति उत्पन्न हो गई थी। उस काल मे इस देश के राजनैतिक मच पर यशोधर्मन् जैसे शक्तिशाली वीर योद्धा का उदय हुआ था, किंतु उसके सहसा लुप्त हो जाने से कोई ऐसा महापुरुष नही रहा, जो देश की विगडी हुई परिस्थिति को सँभालने मे समर्थ होता। उस काल के वहुसख्यक राज्यो मे दो अधिक महत्वपूर्ण थे—१ मौखरियो का कन्नौज राज्य और २ वर्धनो का थानेश्वर राज्य। उन राज्यो की स्वतत्रता अतिम गुप्त सम्राटो की निर्वलता के कारण अस्तित्व मे आई थी।

**मौखरी राजवंश**—मौखरियो का आदिम स्थान मगध था और वे गुप्त सम्राटो के अधीनस्थ सामत थे। गुप्तो की निर्वलता का लाभ उठा कर उन्होने प्राचीन मध्यदेश मे एक स्वतत्र राज्य की स्थापना की और कन्नौज को अपनी राजधानी वनाया था[१]। उस वश का प्रथम राजा ईशानवर्मन था, जिसने स० ६०७ से ६३३ तक राज्य किया था। उसने स० ६११ मे 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी। उसका अधिकार प्राय समस्त मध्यदेश पर था और मथुरा राज्य भी उसी के अनुशासन मे था। कालातर मे उस वश का प्रसिद्ध राजा ग्रहवर्मन हुआ, जिसका विवाह थानेश्वर के राजा प्रभाकर वर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ था।

**वर्धन राजवंश**—वर्धनो ने अपने राज्य की स्थापना भारतीय सस्कृति के प्राचीन केन्द्र कुरु जनपद मे की थी और थानेश्वर उनकी राजधानी थी। उस वश को 'पुष्यभूति' अथवा 'वैस' भी कहा जाता था। वर्धन राजवश के विषय मे 'मजुश्री मूलकल्प' के रचयिता के अतिरिक्त चीनी यात्री हुएनसाग का भी मत है कि वह वैश्य वर्ण का था। 'वर्धन' नाम से भी उस राजवंश के राजागण वैश्य ही ज्ञात होते है[२]। उस वश का प्रसिद्ध राजा प्रभाकर वर्धन हुआ, जिसने स० ६४० से प्राय ६६२ तक राज्य किया था। उसका पुत्र हर्ष वर्धन वडा प्रतापी और यशस्वी नरेश हुआ था।

**कन्नौज का महत्व**—भारतवर्ष के राजनैतिक और सास्कृतिक महत्व का केन्द्र स्थल प्रागैतिहासिक काल मे कुरु-पचाल जनपदो का भू-भाग था। जव से इस देश के प्रामाणिक इतिहास का आरभ हुआ है, तव से उस महत्व का केन्द्र मगध हो गया था। मगध साम्राज्य और उसकी राजधानी राजगृह एव पाटलिपुत्र का वह महत्व प्राय एक हजार वर्षो तक रहा था। उसके

---

(१) हर्षवर्धन, पृष्ठ १३

(२) हर्षवर्धन, पृष्ठ ४८, १०३

उपरात गुप्त साम्राज्य के अत होने पर मगध का वह महत्व भी समाप्त हो गया। जब हर्षवर्धन का उदय हुआ, तब कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी कि उसे इच्छा न रहते हुए भी थानेश्वर के साथ ही साथ कन्नौज का राज्याधिकार भी ग्रहण करना पडा था। इस प्रकार वह पजाब से लेकर पूर्वी उत्तरप्रदेश तक के विशाल भू-भाग का अधिपति हो गया था। उसके काल मे कन्नौज का राजनैतिक और सास्कृतिक महत्व इतना बढ गया कि उसकी तुलना मगध से की जाने लगी। उसका वह महत्व छहसौ वर्ष अर्थात् मुसलमानो द्वारा जयचद्र के पराजित होने तक रहा था।

## १. वर्धन काल

**[ विक्रम स० ६४० से स० ७०४ तक ]**

**प्रभाकर वर्धन**—वह थानेश्वर के वर्धन वश का प्रसिद्ध राजा था, जिसने स० ६४० से स० ६६२ तक राज्य किया था। उसका शासन वर्तमान पजाब, राजस्थान और मालवा राज्यो के अधिकाश भाग पर था। उसके राज्य की दक्षिणी सीमा पर कन्नौज का मौखरी राज्य था, जिसका अधिपति ग्रहवर्मन था। उसकी उत्तरी सीमा पर हूणो द्वारा अधिकृत उत्तरी पजाब का प्रदेश था। प्रभाकर वर्धन की उपाधि 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' थी और वह सूर्य का उपासक था। उसके दो पुत्र थे और एक पुत्री थी। पुत्रो के नाम राज्यवर्धन और हर्षवर्धन थे तथा पुत्री का नाम राजश्री था। राजश्री का विवाह कन्नौज के राजा ग्रहवर्मन के साथ हुआ था। उस वैवाहिक सबध के कारण उत्तर भारत के दो सर्वाधिक प्रसिद्ध मौखरी और वर्धन राज्य प्रेम-सूत्र मे बँध गये थे, जिससे उन दोनो की शक्ति बहुत बढ गई थी।

**प्रभाकर वर्धन की मृत्यु और थानेश्वर की स्थिति**—प्रभाकर वर्धन के शासन के अतिम काल मे उत्तर के हूणो ने उपद्रव आरभ कर दिया था, जिसे दबाने के लिए उसने अपने बडे पुत्र राज्यवर्धन को एक प्रबल सेना के साथ भेजा था। जिस समय राज्यवर्धन हूणो से युद्ध कर रहा था, उसी समय उसका वृद्ध पिता असाध्य रूप से रुग्ण हो गया। प्रभाकर वर्धन की इच्छा थी कि उसके बाद उसका छोटा पुत्र हर्ष थानेश्वर का राजा हो। उसके अनेक दरबारी भी उसी मत के थे, किंतु हर्ष ने उसे एक दम अस्वीकार कर दिया था। उसने अपने बडे भाई राज्यवर्धन के पास दूतो को भेज कर महाराज की असाध्य बीमारी से उसे अवगत कराया और शीघ्रातिशीघ्र राजधानी मे आने का आग्रह किया। राज्यवर्धन हूणो को पराजित कर अपने पिता के अतिम दर्शन के लिए शीघ्रता पूर्वक राजधानी की ओर चल पडा, किंतु उसके आने से पहिले ही महाराज का स्वर्गवास हो गया था।

हर्ष, थानेश्वर राज्य के सरदार-सामत तथा प्रजाजन सभी शोकग्रस्त थे। राज्यवर्धन भी बडा दुखी था। वह अपनी मानसिक खिन्नता से अथवा महाराज की अतिम इच्छा के कारण थानेश्वर का राज्य लेने को तैयार नही हुआ। वह हर्ष को राज्याधिकार सोप कर आप विरक्त और तपस्वी का जीवन बिताना चाहता था। हर्ष को उससे अपार कष्ट हुआ। उसने राजा बनने से कतई इकार कर दिया और बडे आग्रह पूर्वक राज्यवर्धन से राज्यासीन होने की प्रार्थना की। उन दोनो भाइयो का वह दृश्य त्रेता युग के राम और भरत की कथा का स्मरण दिलाता था। वह दृश्य बाद के मुसलमानी काल से कितना भिन्न था, जब कि राज्य के कारण पारवारिक जनो की हत्या करना भी एक साधारण बात हो गई थी।

**कन्नौज का संकट**—जिस समय थानेश्वर मे बडी विषम परिस्थिति थी, उस समय कन्नौज मे भी युगातरकारी घटनाएँ घट रही थीं। थानेश्वर और कन्नौज के राजाओ के वैवाहिक सबध को देख कर उत्तर भारत के कई राजागण शकित और भयग्रस्त हो गये थे। उक्त दोनो राज्यो की सम्मिलित शक्ति के विरोध मे मालवा के शासक देवगुप्त और गौड के शासक शशाक ने अपना सघ बना लिया था। हुएनसाग ने शशाक को कर्णसुवर्ण का राजा लिखा है। कर्णसुवर्ण वर्तमान काल का मुर्शिदाबाद जिला है, जो उस समय गौड प्रदेश की राजधानी था।

उस काल मे गौड प्रदेश बगाल के एक भाग का नाम था, जो उत्तर मध्य काल तक रहा था, किंतु प्राचीन काल मे इस देश के कुछ दूसरे भाग भी 'गौड' कहलाते थे। थानेश्वर के निकट का भू-भाग किसी काल मे गौड प्रदेश कहलाता था और वहाँ के ब्राह्मणो को गौड ब्राह्मण कहा जाता था[1]। कूर्म (१, २०), लिग (१, २०) और मत्स्य (१२, ३०) पुराणो मे उत्तर कोशल (वर्तमान फैज़ाबाद कमिश्नरी) को गौड प्रदेश कहा गया है, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी। वर्तमान 'गोडा' जिला उसी प्राचीन नाम को पुष्टि करता है। शशाक का राज्याधिकार उस काल मे सभवत वर्तमान गोडा से मुर्शिदाबाद तक था।

जैसे ही मालवा के शासक देवगुप्त को प्रभाकर बर्धन की असाध्य बीमारी और राज्य-बर्धन का हूणो के सघर्ष मे फँसे रहने का समाचार मिला, वैसे ही उसने एक विशाल सेना के साथ कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। कन्नौज के मौखरी राजा ग्रहवर्मन ने वीरता पूर्वक मोर्चा लिया, किंतु दुर्भाग्य से उसकी मृत्यु हो गई। कन्नोज पर शत्रुओ का अधिकार हो गया और ग्रहवर्मन की रानी राजश्री को कारागार मे डाल दिया गया।

जब उस भयकर दुर्घटना का समाचार थानेश्वर पहुँचा, तब विरक्त जीवन बिताने की इच्छा रखने वाले राज्यबर्धन को बाध्य होकर अपना विचार त्यागना पडा। वह थानेश्वर के प्रबध का भार हर्ष पर छोड कर आप एक विशाल सेना के साथ देवगुप्त को दड देने के लिए चल दिया। उसका उद्देश्य ग्रहवर्मन की मृत्यु का बदला लेना और राजश्री को बधन-मुक्त करना था। उसने देवगुप्त को परास्त कर दिया था, किंतु गौड के शासक शशाक ने उसे धोखा देकर मार डाला। इस प्रकार जीती हुई बाजी पलट गई। जब वह दु खदायी समाचार थानेश्वर पहुँचा, तो वहाँ बडा कुहराम मच गया था।

**हर्ष बर्धन**—ऐसी भीषण परिस्थिति मे हर्ष को स० ६६३ मे थानेश्वर का शासन-सूत्र सँभालना पडा था। वह उन लगातार आने वाली आपत्तियो से तनिक भी हताश नही हुआ, बल्कि साहस पूर्वक उनका सामना करने को तैयार हो गया। वह शीघ्र ही अपनी सेना लेकर युद्ध स्थल को चल दिया। उसे सबसे पहिले अपनी बहिन राजश्री को बधनमुक्त करना था और फिर शशाक तथा देवगुप्त को दड देना था। जब हर्ष अपनी सेना सहित युद्ध अभियान के लिए जा रहा था, तब मार्ग मे उसे कन्नौज की सेना मिल गई। उसके सेनापति भाडी से उसे समाचार मिला कि राजश्री कन्नौज के कारागृह से भाग कर विध्याचल के वन्य प्रदेश मे चली गई है। हर्ष ने भाडी को शत्रु से मोर्चा लेने का भार सोपा और वह स्वय राजश्री की खोज मे चल पडा।

---

(१) राजपूतो का प्रारंभिक इतिहास, पृष्ठ १००

उनके अतिरिक्त बौद्ध ग्रथ 'मजुश्री मूलकल्प' मे तथा उस काल के कई अभिलेखो मे भी हर्ष सबधी पर्याप्त सामग्री मिलती है। इन सब साधनो से हर्ष के राज्य काल का प्रामाणिक विवरण प्राप्त हो जाता है। वह एक बडा सुयोग था कि हर्ष को वाणभट्ट जैसा कवि और हुएनसाग जैसा लेखक मिल गया था, जिनके कारण हर्ष का नाम भारतीय इतिहास मे अमर हो गया है।

**मृत्यु और महत्व**—हर्ष की मृत्यु स० ७०४ वि० मे हुई थी। वह भारत का अतिम हिंदू सम्राट था। उसके शासन का ४० वर्ष का काल राजनैतिक, धार्मिक और सास्कृतिक सभी दृष्टियो से अत्यत महत्वपूर्ण है। इसीलिए उसकी गणना अशोक, कनिष्क और चद्रगुप्त जैसे महान् सम्राटो की परपरा मे की जाती है।

**हुएनसांग और उसकी भारत-यात्रा**—हुएनसाग एक चीनी विद्वान और बौद्ध भिक्षु था। उसका जन्म और देहावसान चीन देश मे क्रमश सवत् ६५३ और सवत् ७२१ मे हुआ था। उसने अपने देश मे बौद्ध ग्रथो के चीनी अनुवाद पढे थे, जो उसे अशुद्ध मालूम हुए थे। इसलिए उसने भारत जाकर उक्त ग्रथो के पालि और सस्कृत भाषाओ मे लिखे हुए मूल सस्करण उपलब्ध करने का निश्चय किया, ताकि वह स्वय उनका शुद्ध चीनी अनुवाद कर सके। उक्त निश्चय की पूर्ति के लिए वह भारत चल पडा और मध्य एशिया के मार्ग से होता हुआ बडी कठिनता पूर्वक यहाँ पहुँचा था। इसने उत्तर-पश्चिमी सीमा से स० ६८६ मे भारत मे प्रवेश किया था। वह सबसे पहिले कश्मीर मे स० ६८७ मे पहुँचा और वहाँ २ वर्ष तक रहा था। फिर पचनद प्रदेश मे होता हुआ वह वैराट गया और वहाँ से मथुरा आया था। इस प्रकार वह प्राय १७ वर्ष तक समस्त भारत मे घूमता रहा था। उसने बौद्ध धर्म से सबधित विविध स्थानो की यात्रा की और बौद्ध ग्रथो के प्रामाणिक सस्करण प्राप्त किये। वह अपने साथ बहुसख्यक हस्त लिखित ग्रथो के अतिरिक्त इस देश से कुछ अन्य दुर्लभ वस्तुएँ भी ले गया था। जब वह दीर्घ कालीन प्रवास के पश्चात् अपनी बहुमूल्य भारतीय सामग्री सहित चीन पहुँचा, तब वहाँ के सम्राट ने उसका बडा आदर-सत्कार किया था। उसके बाद उसने अपना शेष जीवन भारत से उपलब्ध बौद्ध ग्रथो के चीनी भाषा मे अनुवाद करने मे लगाया था।

**सम्राट हर्षबर्धन से भेंट**—हुएनसाग अपनी भारत यात्रा मे सम्राट हर्षबर्धन से भेट करने कन्नौज भी गया और वहाँ कई महीनो तक रहा था। वह स० ७०० मे कन्नौज पहुँचा था। उस समय तक हर्ष ३० वर्ष से भी अधिक काल तक शासन कर चुका था और उसके यश, प्रताप, बल, विक्रम और वैभव की देश भर मे धूम थी। उसने हुएनसाग का बडा आदर करते हुए उसे अपने दरबार के समस्त धर्माचार्यो मे उच्चतम स्थान प्रदान किया था। उसके कारण वह विभिन्न धर्मों के अनेक विद्वानो का कोप-भाजन भी हुआ, किंतु फिर भी उसने उस विदेशी पर्यटक के आदर-सन्मान मे कोई कमी नही आने दी। वह प्रयाग मे होने वाले अपने पचवार्षिक धर्मोत्सव मे भी हुएनसाग को ले गया था और वहाँ उसने अन्य धर्म वालो के साथ उसके शास्त्रार्थ की व्यवस्था कराई थी। किंतु बिना शास्त्रार्थ कराये ही उसने हुएनसाग को विजयी घोषित कर दिया था, ताकि उस विदेशी विद्वान की किसी प्रकार अप्रतिष्ठा न हो। यह हर्ष की उदारता का ही फल था कि हुएनसाग भारतवर्ष मे रह कर अत्यधिक आदर-सन्मान और सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त करता रहा। जब वह यहाँ से जाने लगा, तब उसे इस देश की बहुमूल्य सामग्री को अपने साथ ले जाने की सभी राजकीय सुविधाएँ दी गई थीं।

**यात्रा-वृत्तांत**—हुएनसांग की भारत-यात्रा का वृत्तांत चीनी भाषा में लिखा हुआ मिलता है, जो 'सी-यु-की' ( Si-Yu-Ki ) कहा जाता है। उससे पहिले दूसरे चीनी यात्री फाह्यान ने भी भारत की यात्रा की थी, जिसका यात्रा-वृत्तांत 'फो-क्यु-की' ( Fo-Kue-Ki ) कहलाता है। इन दोनों के अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। हुएनसांग का यात्रा-विवरण फाह्यान की अपेक्षा अधिक विस्तृत और पूर्ण है। उन दोनों यात्रियों ने जिन स्थानों की यात्रा की थी, उनकी पारस्परिक दूरी का भी उन्होंने उल्लेख किया है। उसके लिए फाह्यान ने जहाँ 'योजन' का व्यवहार किया, वहाँ हुएनसांग ने 'योजन' के साथ ही साथ 'ली' का भी प्रयोग किया है। कनिंघम का मत है कि वर्तमान काल की एक 'मील' फाह्यान की ६.७१ 'ली' के बराबर और हुएनसांग की ६.७५ 'ली' के समतुल्य है[1], तथा फाह्यान का 'योजन' ६.७५ मील के बराबर होता है। कनिंघम के मतानुसार हुएनसांग द्वारा उल्लिखित दूरी के संबंध में कुछ भ्रांतियाँ भी हैं। जहाँ हुएनसांग ने एक हजार 'ली' और 'पश्चिम' दिशा लिखा है, वहाँ कभी-कभी वह एक सौ 'ली' और 'पूर्व' दिशा ही सिद्ध होती है[2]।

**मथुरा-आगमन**—हुएनसांग सं० ६९२ ( सन् ६३५ ई० ) में मथुरा आया था। यहाँ आने से पहिले उसने जालंधर में चातुर्मास्य किया था और फिर वैराट होकर मथुरा पहुँचा था। श्री कनिंघम ने उसकी यात्रा के विविध स्थानों की तारीखें निश्चित की हैं। उनके अनुसार वह सन् ६३५ . की १५ मार्च को जालंधर में था। वहाँ से २५ सितंबर को वह वैराट गया था और ५ अक्टूबर को मथुरा आया था। मथुरा से चल कर वह २५ अक्टूबर को थानेश्वर पहुँचा था। इस प्रकार वह शरद ऋतु में मथुरा आया और १५ दिन के लगभग यहाँ ठहरा था[3]।

**मथुरा राज्य और मथुरा नगर संबंधी उल्लेख**—हुएनसांग के यात्रा-विवरण में उसके समय के मथुरा राज्य और मथुरा नगर के संबंध में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उसमें लिखा है—"मथुरा राज्य का विस्तार ५ हजार ली ( ८३३ मील के लगभग ) है और उसकी राजधानी मथुरा नगर का विस्तार २० ली ( साड़े तीन मील के लगभग ) है[4]।" इस पर श्री कनिंघम का कथन है, "यदि हुएनसांग का उक्त अनुमान ठीक है, तब उस काल में मथुरा राज्य में न केवल वैराट और अतरजी जनपदों के बीच का समस्त प्रदेश ही होगा, वरन् आगरा से परे दक्षिण में नरवर और श्योपुरी तक तथा पूर्व में सिंध नदी तक का विशाल क्षेत्र भी सम्मिलित होगा। इन सीमाओं से घिरे हुए उस राज्य की परिधि सीधी नाप से ६५० मील और सड़क मार्ग से ७५० मील से भी ऊपर है। इसमें वर्तमान मथुरा जिला के साथ भरतपुर, खिरावली ( करौली ? ) और धौलपुर की छोटी रियासतें तथा ग्वालियर राज्य का उत्तरार्ध सम्मिलित था। पूर्व में उसकी सीमा जिझौती तक और दक्षिण में मालवा तक होगी[5]। हुएनसांग ने उन दोनों को पृथक-पृथक

---

(१) ऐंश्येंट ज्यागरफी आफ इंडिया, ( प्रस्तावना, पृष्ठ XXXI )
(२) ,, वही ,, , ( ,, पृष्ठ XX )
(३) ऐंश्येंट ज्यागरफी आफ इंडिया, पृष्ठ ६४६
(४) हुएनसांग्स ट्रैविल्स इन इंडिया ( जिल्द १, पृष्ठ ३०१-११ )
(५) 'मालवा' से अभिप्राय मालवा नदी जान पड़ता है, जिसे अब बेतवा कहते हैं।

राज्य वतलाया है[1] ।" कनिंघम के ग्रथ के सपादक श्री मजूमदार की इस पर टिप्पणी है, हुएनसाग के समय का मथुरा राज्य चवल नदी से लेकर मथुरा नगर के प्राय ५० मील उत्तर तक फैला हुआ था[2] ।"

हुएनसाग ने उस काल के मथुरामडल की उपज और यहाँ के निवासियो के सबध मे लिखा है—"यहाँ की भूमि वडी उपजाऊ और अन्न की पैदावार के लिए अधिक उपयुक्त है । यहाँ पर आमो के पेड इतनी अधिकता से पाये जाते है कि कही-कही उनके जगल ही खडे है । ये आम दो प्रकार के होते है । एक का फल छोटा होता है, जो कच्चा होने पर हरा और पकने पर पीला हो जाता है । दूसरे का फल वडा होता है, जो पकने पर भी हरा ही रहता है । यहाँ पर कपास की अच्छी फसल होती है और सोना भी मिलता है । ....मथुरा राज्य के निवासी विनम्र और सतोषी है । धार्मिक और तात्विक अध्ययन करना उन्हे अधिक पसद है । वे सदाचार और विद्या को विशेष महत्व देते है[3] ।

हुएनसाग के विवरण मे मथुरा के सवध मे जो विशेष वाते है, वे प्राय आजकल यहाँ दिखलाई नही देती है । वर्तमान मथुरा की भूमि अधिक उर्वरा नही है, इसलिए यहाँ पर अन्न की पैदावार दूसरे अन्न क्षेत्रो की तुलना मे कम ही होती है । यहाँ पर आमो के जगल तो क्या, वृक्ष भी अधिक सख्या मे नही है । कपास की अच्छी फसल भी यहा नही होती है और सोने के तो यहाँ दर्शन भी दुर्लभ है । ऐसी दशा मे यह शका होती है कि हुएनसाग ने मथुरा के नाम पर किसी अन्य स्थान का विवरण तो नही लिखा है ! किंतु उक्त शका के समाधान के लिए श्री ग्राउस का मत है—"मथुरा राज्य का विस्तार हुएनसाग के समय मे पूर्व मे मैनपुरी जिला की ओर रहा होगा, क्यो कि वही पर आमो की अच्छी फसल होती है । उस समय मथुरा राज्य मे वर्तमान जिले के पूवी अर्ध भाग के साथ आगरा का कुछ भाग तथा शिकोहावाद, मुस्तफावाद और मैनपुरी जिले के कुछ परगने भी सम्मिलित होने की सभावना है[4] ।"

हुएनसाग के लिखे हुए मथुरा राज्य के विवरण से डा० रमाशकर त्रिपाठी का मत है कि उस काल मे मथुरा का राज्य हर्ष के साम्राज्य के अतर्गत नही होगा[5] । हुएनसाग मथुरा मे हर्ष के शासन के उत्तर काल मे आया था । यह समझा जा सकता है, उस समय मथुरा के शासक ने स्वतत्रता की घोषणा कर अपना प्रथक राज्य वना लिया हो, जैसा कि हर्ष के बाद उसके विशाल साम्राज्य के अन्य भागो मे हुआ था । हर्ष की मृत्यु होते ही उसका साम्राज्य निश्चय ही छिन्न-भिन्न हो गया था और उसके कई भाग स्वतत्र राज्य वन गये थे, किंतु उसके जीवन-काल मे इस प्रकार के विघटन होने का कोई उल्लेख नही मिलता है ।

---

(१) ऐंश्येंट ज्यागरफी आफ इडिया, पृष्ठ ४२७-४२८
(२) ,, वही ,, , पृष्ठ ७०६
(३) हुएनसांग्स ट्रेवल्स इन इ डिया, ( जिल्द १, पृष्ठ ३०१-११ )
(४) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमायर, ( तृतीय सस्करण,) पृष्ठ ४
(५) हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृष्ठ ११९

# २. हर्षोत्तर काल

[ विक्रम स० ७०४ से स० ८१० तक ]

**युगातरकारी घटनाएँ**—हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरात इस देश मे ऐसी अनेक अभूत-पूर्व युगातरकारी घटनाएँ हुई, जिन्होने यहाँ के इतिहास को नया मोड दिया था। हर्ष का विशाल साम्राज्य छिन्न–भिन्न होकर अनेक छोटे राज्यो मे विभाजित हो गया। फिर शताब्दियो तक कोई ऐसा प्रभावशाली सम्राट नही हुआ, जो हर्ष की तरह इस देश को एकता के सूत्र मे बाँध कर यहाँ व्यापक रूप से शाति और व्यवस्था कायम करता। उस काल मे यहाँ जो छोटे–बडे अनेक राज्य बने थे, उनके राजागण अधिकतर राजपूत जातियो के थे। राजपूत जातियो का उदय और प्रसार उस काल की ऐसी महत्वपूर्ण घटना है, जिसने बाद मे कई शताब्दियो तक इस देश की राजनैतिक स्थिति पर अपनी महत्ता की छाप लगाई थी। जिस बौद्ध धर्म ने विगत अनेक शताब्दियो से इस देश के सास्कृतिक जीवन को समृद्धिशाली बनाते हुए विदेशो को भी अपना अमर सदेश दिया था और जो हर्ष के काल तक अपना गौरव बनाये हुए था, वह पतन के गर्त मे गिर कर लुप्तप्राय हो गया। उस प्राचीन धर्म का अपने जन्म के देश मे ही इस प्रकार समाप्त हो जाना उस काल की एक कल्पनातीत घटना है। उसी काल मे भारत के सुदूर पश्चिम मे इस्लाम के रूप मे एक नई शक्ति का उदय और प्रसार हुआ था। उसने अन्य देशो के साथ ही साथ भारत मे भी अपना विस्तार कर यहाँ के जन–जीवन को पूरी तरह झकझोर दिया था और इस देश की धार्मिक तथा राजनैतिक परिस्थिति को अद्भुत रीति से प्रभावित किया था। उन युगातरकारी घटनाओ का इस काल पर और उसके बाद भी पूरा प्रभाव पडा था।

**हर्ष के उत्तराधिकारी**—हर्ष के कोई सतान नही थी और उसका कोई योग्य सबधी भी नही था, अत उसके उत्तराधिकार के लिए झगडे होना स्वाभाविक था। उनके कारण ही हर्ष का विशाल साम्राज्य टुकडे–टुकडे होकर अनेक राज्यो मे बँट गया था। उन राज्यो पर हर्ष के सरदार–सामतो ने अधिकार कर अपना स्वतत्र शासन चलाया था। मथुरा राज्य भी तब सभवत स्वाधीन हो गया था। उसका राजा मथुरा के प्राचीन यादव या नाग वश का था, अथवा कसी अन्य वश का, इसका उल्लेख नही मिलता है।

**अर्जुन**—हर्ष के पश्चात् कन्नौज के राजसिंहासन पर कौन आसीन हुआ और वह किस राजवश का था, इसका प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नही है। चीनी सूत्रो के अनुसार हर्ष का उत्तराधिकारी उसका मत्री अर्जुन हुआ था, किंतु वह राज्य मे शाति और व्यवस्था कायम करने मे असमर्थ सिद्ध हुआ। फलत वह बहुत थोडे काल तक ही राज्याधिकारी रहा था। उक्त चीनी उल्लेख इतना भ्रमात्मक है कि उसके आधार पर अर्जुन के अस्तित्व की बात सदिग्ध हो जाती है।

चीनी इतिहासकारो ने लिखा है, हर्ष के बाद उसके मत्री अर्जुन ने राज्याधिकार ग्रहण किया था। उसके शासन–काल मे चीन देश का एक राजदूत वाड्–ह्यन्–त्से भारत आया था। अर्जुन ने उसके अग–रक्षको को मार कर उसे भगा दिया था। इस पर चीनी राजदूत ने तिब्बत और नेपाल से ८ हजार अश्वारोहियो की सेना लाकर अर्जुन को पराजित किया और उसे चीन सम्राट की अधीनता स्वीकार करने को विवश किया था। इस कपोलकल्पित उल्लेख मे तथ्य

की वात यह है कि हुएनसाग के कारण तव भारत और चीन मे राजदूतो का आवागमन होने लगा था। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् जो चीनी राजदूत भारत आया था, उसे यहाँ की राजनैतिक अशाति के कारण कुछ असुविधा हुई होगी। किंतु उसके अग-रक्षको को मार डालने तथा तिब्बत एव नैपाल की मुट्ठी भर सेना द्वारा हर्ष के उत्तराधिकारी को पराजित कर उससे चीन की अधीनता स्वीकार कराने की वात सर्वथा मिथ्या और हास्यास्पद है।

**यशोवर्मन**—हर्ष की मृत्यु के प्राय ५० वर्ष पश्चात् कन्नौज की राजगद्दी पर यशोवर्मन नामक एक योग्य राजा का अधिकार था। इसका उल्लेख यशोवर्मन के राजकवि वाक्पति कृत प्राकृत काव्य 'गौडवहो' मे हुआ है। उक्त ग्रथ मे यशोवर्मन के अनेक विजय-अभियानो का कथन किया गया है, किंतु उसकी वश-परपरा पर कुछ भी प्रकाश नही डाला गया। ऐसा ज्ञात होता है, वह उस मौखरी राजवश का था, जो हर्ष से पहिले कन्नौज राज्य का स्वामी था। यशोवर्मन ने आठवी शताब्दी के प्राय मध्य से अत तक शासन किया था। इस प्रकार वह कन्नौज की गद्दी पर प्राय स० ८०० वि० तक आसीन था। उसका राज्याधिकार अतर्वेद के वडे भू-भाग पर था, जिसमे सभवत मथुरा राज्य भी सम्मिलित था। वह एक शक्तिशाली और विद्या-प्रेमी राजा था। उसके दरवार मे अनेक कवि और विद्वान थे। प्राकृत कवि वाक्पति के अतिरिक्त सस्कृत का सुप्रसिद्ध कवि भवभूति भी उसके आश्रय मे था। कल्हण कृत 'राजतरगिणी' से ज्ञात होता है, यशोवर्मन के शासन के अतिम काल मे कश्मीर के विख्यात शासक ललितादित्य ने कन्नौज राज्य पर आक्रमण किया था, जिसमे यशोवर्मन की पराजय हुई थी। फलत कुछ काल के लिए मथुरा सहित कन्नौज राज्य पर ललितादित्य का अधिकार हो गया था। इस प्रकार हर्ष की मृत्यु के काफी समय वाद तक मथुरा राज्य की स्थिति अनिश्चित और डॉवाडोल रही थी।

# ३. राजपूत काल

[ विक्रम स० ८१० से स० १२६३ तक ]

## राजपूत जातियाँ और उनके राज्य—

**राजपूतो की विभिन्न जातियाँ**—प्राचीनतम काल मे आर्यो मे केवल चार वर्ण थे, जिनके अतर्गत वाद मे अनेक जातियाँ वन गई थी। क्षत्रिय वर्ण की अनेक जातियो को तथा उनमे मिश्रित कई देशी-विदेशी जातियो को कालातर मे 'राजपूत' कहा जाने लगा था। कवि चद वरदायी के कथनानुसार राजपूतो की ३६ जातियाँ थी। प्राचीन काल मे क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत सूर्य वश और चद्र वश के राजघरानो का वडा विस्तार हुआ था। जव उन वशो की जातियाँ वनी, तव सूर्यवशी राजपूतो मे गुहिल ( गहिलोत या शीशोदिया ), कछवाहा और राठौड तथा चद्रवशी राजपूतो मे यादव ( जादो ), भाटी और तँवर ( तोमर ) जातियाँ अधिक प्रसिद्ध हुई थी। उनके अतिरिक्त अग्निवशी राजपूत जातियाँ भी थी, जो अपेक्षाकृत वाद मे वनी थी। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार अग्निवशीय राजपूतो की उत्पत्ति ऋषियो के अग्निकुंड मे हुई थी। उसका यह अभिप्राय मालूम होता है कि जो देशी-विदेशी जातियाँ क्षत्रिय वर्ण स्वीकार कर क्षत्रिय जातियो मे मिल गई थी, उन्हे ऋषि-मुनियो ने अग्नि-होम द्वारा शुद्ध कर क्षत्रित्व की मान्यता प्रदान की थी। अग्निवशियो मे चौहान ( चाहमान ), पँवार (प्रमार या परमार ), सोलकी (चालुक्य) और पडिहार (प्रतिहार) नामक राजपूत जातियो ने वडी ख्याति प्राप्त की थी।

**राजपूतो के विविध राज्य**—जिन राजपूत जातियो ने उस काल मे तथा उसके बाद अपने राज्यो की स्थापना कर उनका योग्यता पूर्वक सचालन किया था, उनमे गुर्जर-प्रतिहार, गहिलोत, चालुक्य, राष्ट्रकूट, परमार, चदेल, चौहान और तोमर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनमे गुर्जर–प्रतिहारो का शासन मारवाड मे, गहिलोतो का मेवाड मे, चालुक्यो का गुजरात मे, राष्ट्रकूटो का विन्ध्याचल के दक्षिण मे, परमारो का मालवा मे, चदेलो का बु देलखड मे, चौहानो का पूर्वी राजस्थान मे और तोमरो का हरियाना प्रदेश मे था। उनके अतिरिक्त अन्य जातियो के भी अनेक राज्य थे, जिनमे पाल वशियो का बगाल मे प्रसिद्ध राज्य था। उन सभी राज्यो के राजागण एक दूसरे के क्षेत्र को हथियाने के लिए आपस मे युद्ध कर देश की शाति और व्यवस्था को भग किया करते थे। उनमे कोई ऐसा प्रभावशाली और सूझ–बूझ का राजा नहीं हुआ, जो विविध राज्यो को सगठित कर देश की एकता को सुदृढ करता। उस काल मे देश की पश्चिमी सीमा पर मुसलमानो के आक्रमण हो रहे थे, किंतु वे भविष्यत् सकट की ओर से बिलकुल बेखबर थे। उनका लक्ष अधिकतर कन्नौज राज्य पर अधिकार करना होता था। यद्यपि हर्ष जैसे किसी यशस्वी सम्राट की राजधानी न होने से कन्नौज का पहिले जैसा गौरव नहीं रहा था, तथापि देश के हृदय–स्थल अतर्वेद मे स्थित होने के कारण उस काल मे भी उसका राजनैतिक और सास्कृतिक महत्व कम नही माना जाता था। मथुरा राज्य भी उस काल मे प्राय कन्नौज राज्य से सबद्ध रहा था, अत उसके कुछ तत्कालीन राजाओ का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

**कन्नौज के प्रतिहार व शी राजा**—सम्राट हर्ष के शासन काल मे प्रतिहार वश का एक राज्य दक्षिणी बु देलखड मे था और वहाँ के शासक हर्ष के माडलिक थे। उनका राज्याधिकार वहाँ चदेलो से पहिले रहा था[१]। हर्ष की मृत्यु के प्राय डेढ सौ वर्ष पश्चात् नवमी शताब्दी के मध्य काल मे प्रतिहार वश के राजाओ ने कन्नौज राज्य पर अधिकार कर लिया था, जो प्राय दो शताब्दी तक रहा था। उस काल मे मथुरा राज्य भी प्राय उन्ही के शासन मे था। उस वश मे कई शक्तिशाली राजा हुए, जिन्होंने उत्तर भारत के अधिकाश भाग पर अपना अनुशासन रखा था। उस काल मे बगाल मे पालवशियो और विन्ध्याचल के दक्षिण मे राष्ट्रकूटो के प्रसिद्ध राज्य थे। उनके राजागण कन्नौज राज्य पर अधिकार करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे, अत प्रतिहार राजाओ को उनसे निरतर सघर्ष करना पडता था। उस वश के राजाओ मे नागभट्ट, मिहिरभोज, महेन्द्रपाल और महिपाल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

**नागभट्ट**—( स० ८६७–८८७ )—वह कन्नौज राज्य पर शासन करने वाले प्रतिहार वश का राजा था। वह बडा प्रतापी और यशस्वी नरेश था। उसका अधिकार उत्तर भारत के अधिकाश भाग पर हो गया था, जिसमे मथुरा राज्य भी सम्मिलित था। उसके राज्य के पूर्व मे पाल वशियो और दक्षिण मे राष्ट्रकूटो के शक्तिशाली राज्य थे। उनके राजाओ ने नागभट्ट के अधिकार को चुनौती दी थी। नागभट्ट ने पाल वश के प्रसिद्ध राजा धर्मपाल को तो पराजित कर दिया, किंतु राष्ट्रकूट राजा गोविंदचद्र ( तृतीय ) से उसे हारना पडा था। उसके फल स्वरूप कुछ काल तक उसका कन्नौज पर प्रभुत्व नही रहा था। बाद मे प्रतिहारो ने पुन कन्नौज पर अधिकार कर लिया था। नागभट्ट का पुत्र रामभद्र स० ८९० मे कन्नौज की गद्दी पर आसीन था।

---

(१) बु देलखड का सक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २७ और ४१

**मिहिरभोज**—( स० ८९३–९२४ )—वह नागभट्ट का पौत्र और रामभद्र का पुत्र था, जो प्रतिहार वश का बडा शक्तिशाली राजा हुआ था। उसके काल मे भी पाल और राष्ट्रकूट वश के राजाओ के साथ सघर्ष होता रहा, किंतु उसने उन दोनो को पराजित कर दिया था। उसका शासन अतर्वेद के साथ ही साथ मालवा और पजाब पर भी था। मथुरा राज्य भी उसके अनुशासन मे था।

**महेन्द्रपाल**—( स० ९२४–९६७ )—उसने प्रतिहार राज्य की सीमाओ को और भी बढा कर उत्तरी बगाल को भी अपने अधिकार मे कर लिया था। उसके बाद उसका पुत्र भोज ( द्वितीय ) कन्नौज का राजा हुआ, जिसने २–३ वर्ष तक राज्य किया था।

**महिपाल**—( स० ९६९–१००० ) वह महेन्द्रपाल का द्वितीय पुत्र था। उसके शासन काल मे प्रतिहार राज्य का अधिकार और गौरव बहुत बढ गया था। उसके समकालीन सस्कृतज्ञ विद्वान राजशेखर ने उसकी विजय गाथाओ का कथन करते हुए उसे 'आर्यवर्त का महाराजाधिराज' लिखा है। उसके राज्य की सीमाएँ पश्चिम मे सिध प्रदेश के कुछ भाग से लेकर पूर्व मे बगाल तक थी और उत्तर मे पजाब से लेकर दक्षिण मे राष्ट्रकूट राज्य से मिलती थी। इस प्रकार प्राय समस्त उत्तर भारत उसके अनुशासन मे था। उस काल मे भारत के पश्चिम और पश्चिमोत्तर भाग मे मुसलमानो की नई शक्ति का उदय हुआ था। भारत की पश्चिमी सीमा के सिंध प्रदेश पर तो अरब के मुसलमानो ने प्राय डेढ सौ वर्ष पहिले ही अधिकार कर लिया था, किंतु उस काल मे उत्तर–पश्चिमी भाग पर भी उनका सकट बढ गया था। महिपाल को अपने विशाल राज्य की रक्षा के लिए बहुत बडी सेना रखनी पडी थी। उस काल मे भारत आने वाले मुसलमान यात्री अल–मसूदी ने लिखा है कि महिपाल की सेना मे नौ लाख सैनिक तथा हजारो घोडे और ऊँट थे।

**प्रतिहार राज्य का ह्रास और अंत**—महिपाल के लबे शासन के अतिम काल मे उसका प्रभाव और अनुशासन कम हो गया था। उसी समय राष्ट्रकूटो ने उसके राज्य पर एक बहुत बडा आक्रमण किया, जिससे कन्नौज नगर को बहुत बडी क्षति उठानी पडी और प्रतिहार राज्य का एक बडा भाग राष्ट्रकूटो के अधिकार मे चला गया। महिपाल के पश्चात् जो प्रतिहार राजा हुए, वे अपने राज्य का ह्रास रोकने मे असमर्थ सिद्ध हुए थे। उनके काल मे अनेक सरदार–सामतो ने स्वतत्र होकर स्वाधीन राज्य कायम कर लिये थे। इस प्रकार क्रमश घटते–घटते कालातर मे प्रतिहार राज्य का अत हो गया। उस काल मे जो अनेक छोटे राज्य कायम हुए थे, वे भी आपस मे लडते रहे थे। इससे देश मे बडी अव्यवस्था फैल गई और पश्चिमोत्तर सीमा की ओर से आने वाले मुसलमान आक्रमणकारियो को यहाँ लूट-मार करने का अवसर मिल गया।

**मथुरा राज्य की तत्कालीन स्थिति**—राजपूत काल मे मथुरा राज्य की क्या स्थिति रही थी, उसका क्रमबद्ध प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नही है। नाग राजाओ के पश्चात् मथुरा राज्य को स्वाधीन रहने का बहुत कम अवसर मिला था। मथुरा के प्राचीन यादव वशियो ने भी यहाँ से हट कर अन्य स्थानो मे अपने राज्य कायम कर लिये थे। उस काल मे कन्नौज राज्य पर जिस राजा का अधिकार होता, मथुरा राज्य भी प्रायः उसी के शासन मे रहा करता था। इस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से तब मथुरा राज्य का कोई महत्व नही रहा था, किंतु धार्मिक दृष्टि से उसकी महत्ता और भी बढ गई थी। इस देश का प्रभावशाली बौद्ध धर्म हर्षबर्धन के पश्चात्

प्रभावहीन ही नही हुआ, वरन् समाप्तप्राय ही हो गया था। उसके स्थान पर पौराणिक ( हिंदू ) धर्म अपनी कई शाखा-प्रशाखाओ के साथ बडे विशद रूप मे फैल गया था। मथुरा इस धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ पर इस धर्म की विभिन्न शाखाओ के अनेक मदिर-देवालय बन गये थे, जिनके प्रति उस काल के सभी राजाओ की बडी श्रद्धा थी। विविध राजाओं की अधिकार-लिप्सा के कारण उस काल मे कन्नौज राज्य निरतर लडाई-झगडे, लूट-मार और राज्य परिवर्तन के कष्ट उठाता रहा, किंतु मथुरा राज्य उनसे प्राय अछूता रहा था। वे राजागण मथुरा को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाने के बजाय यहाँ के मदिर-देवालयो को प्रभूत सपत्ति अर्पित कर राज्य की वैभव-वृद्धि करने मे सहायक होते थे। जिन राष्ट्रकूट राजाओ ने कन्नौज के प्रतिहार राजाओ से निरतर सघर्ष करते हुए उनके विशाल राज्य को भारी क्षति पहुँचाई थी, उन्होंने भी मथुरा के धार्मिक महत्त्व को स्वीकार किया था। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने नवम शताब्दी का एक ऐसा लेख बतलाया है, जिससे 'राष्ट्रकूटो के उत्तर भारत आने तथा मथुरा के श्री कृष्ण-जन्मस्थान पर धार्मिक कार्य करने का पता चलता है[1]।' मथुरा की उस धार्मिक महत्ता के कारण यहाँ के मदिर-देवालयो मे इतनी सपत्ति सचित हो गई थी और यहाँ के निवासी इतने समृद्ध हो गये थे कि विगत काल मे हूणो द्वारा की हुई भीषण लूट-मार की बात एक कहानी सी जान पडती थी। उस समय के मथुरा नगर की समृद्धि को देख कर कोई कल्पना भी नही कर सकता था कि हूणो ने कभी यहाँ के सर्वस्व का अपहरण किया था। मथुरा की वह धार्मिक महत्ता और उसकी समृद्धि ही मुसलमानो के आक्रमण काल मे उसके सर्वनाश का कारण हुई थी।

## मुसलमानी आक्रमण—

**इस्लाम का उदय और प्रसार**—जिस समय भारतवर्ष मे हर्षवर्धन का राज्य था, उस समय अरब देश मे इस्लाम के रूप मे एक नये धर्म का उदय हुआ था। उसके अनुयायी मुसलमान कहलाते है। इस्लाम के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद थे और उनके उत्तराधिकारियो को खलीफा कहा गया है। खलीफा इस्लाम के सबसे बडे धर्म-गुरु तथा मुसलमानो के सबसे बडे धार्मिक और राजनैतिक नेता थे। इस्लाम का उदय एक धर्म के साथ ही साथ राजनैतिक शक्ति के रूप मे हुआ था और खलीफाओ ने उसी दृष्टिकोण से इसके प्रसार का आयोजन किया था। उनके आदेशानुसार अरब के मुसलमान बडे मजहबी जोश से निकल पडे और उन्होंने ससार के विभिन्न देशो पर आक्रमण कर वहाँ बलपूर्वक इस्लाम का प्रचार किया। उसके लिए उन्होंने उन देशो की मूल सस्कृति और वहाँ के धर्मो को बलात् समाप्त करने की पूरी चेष्टा की थी। इस प्रकार थोडे ही समय मे पश्चिमी एशिया, दक्षिणी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका के विभिन्न देशो मे इस्लामी धर्म और सस्कृति का प्रसार हो गया था।

**सिध पर आक्रमण**—भारत मे इस्लाम के प्रचारार्थ मुसलमानो ने सबसे पहिले सिंध प्रदेश पर आक्रमण किया था। सिंध भारत की पश्चिमी सीमा का एक ऐसा प्रदेश था, जो राजस्थान के विस्तृत मरुस्थल के पार होने के कारण देश के अन्य भागो से कटा-छटा सा था और वहाँ बहुत कम जन-सख्या थी। फिर भी वहाँ के राजा ने उनका वीरता पूर्वक सामना

(१) ब्रज का इतिहास ( प्रथम भाग ), पृष्ठ १२९

किया और उनके आक्रमण को कई वार विफल कर दिया । अत मे मुसलमानो की जोशीली और वहुसख्यक सेना से सिध के तत्कालीन राजा दाहर की अपेक्षाकृत अल्पसख्यक सेना को पराजित होना पडा । फलत सिध और मुलतान पर खलीफा का अधिकार हो गया । आक्रमणकारियो ने वहाँ के निवासियो को वलात् मुसलमान वनाने की चेष्टा की और उनकी धन-सपत्ति को लूट लिया । इस प्रकार सिध प्रदेश मुसलमानो के आक्रमण का प्रथम शिकार हुआ । सिध का तत्कालीन राजा दाहर कन्नौज के राजा यशोवर्मन का समकालीन था ।

सिंध के वाद मुसलमानो ने भारत मे आगे वढने की वहुत चेष्टा की, किंतु राजस्थान के गुर्जर-प्रतिहार राजाओ ने उनके आक्रमणो को विफल कर दिया था । सिंध और मुलतान पर अरवी मुसलमानो का शासन प्राय १५० वर्ष तक रहा था, किंतु वे चेष्टा करने पर भी इस देश के किसी अन्य भाग पर अधिकार नही कर सके थे । अत मे भारत का वह भाग भी अरवो की पराधीनता से मुक्त हो गया था । सिध की पराजय का प्रभाव भारत के अन्य भागो पर कुछ भी नही पडा था, अत उस काल के भारतीय राजा विदेशी आक्रमण के उस सकट की गुरुता को नही समझ सके । वे उसकी ओर से वेफिक्र होकर आपस मे ही लडते-झगडते रहे थे ।

**पश्चिमोत्तर सीमांत से आक्रमण**—जव पश्चिमी सीमा की ओर से भारत के आतरिक भाग मे पहुँचना सभव ज्ञात नही हुआ, तव मुसलमानो ने पश्चिमोत्तर सीमात से आक्रमण करना आरभ किया । उधर से आक्रमण करने वाले वे तुर्क जाति के लोग थे, जो कुछ समय पहिले मुसलमान हो गये थे । उनके एक नेता सुबुक्तगीन ने अफगानिस्तान के गजनी नगर पर अधिकार कर लिया था । उसके वाद वह भारत पर आक्रमण करने का आयोजन करने लगा, किंतु वहाँ के 'हिंदू शाही' राजाओ ने उसके उद्देश्य को सफल नही होने दिया था ।

**'हिंदू शाही' राजाओ की वश-परंपरा और उनका मुसलमानो से सघर्ष**—मुसलमानो के आरभिक आक्रमणो को रोकने मे भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा के 'हिंदू शाही' राजाओ ने वडा सघर्ष किया था । उनके राज्य की सीमाएँ चिनाव नदी से हिंदूकुश पर्वत तक थी । इस प्रकार पश्चिमी पजाव, पश्चिमोत्तर प्रदेश और कावुल सहित अफगानिस्तान पर उनका अधिकार था । उनके राज्य की स्थिति ऐसी थी कि पश्चिमोत्तर से भारत पर आक्रमण करने वालो का प्रथम प्रहार उन्ही को सहन करना पडता था । जव से मुसलमानो का सिध राज्य पर आक्रमण हुआ, तव से महमूद गजनवी के काल तक वह 'हिंदू शाही' राज्य अकेला ही मुसलमान आक्रमणकारियो का सामना करता रहा था । इस प्रकार उसने प्राय तीन सौ वर्ष तक मुसलमानो को भारत मे प्रवेश नही करने दिया था । इतिहासकारो ने 'हिंदू शाही' राजाओ के प्रतिरोध को तो वडा महत्व दिया है, किंतु वे उनकी वश-परपरा पर प्रकाश डालने मे असमर्थ रहे है । वे राजागण किस वर्ण अथवा जाति के थे और उनका उस प्रदेश मे कव से निवास था, इसका प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है ।

राजस्थान के जैसलमेर राज्य के विगत भाटी राजाओ की वश-परपरा का उल्लेख करते हुए वतलाया गया है कि वे श्री कृष्ण की वश-परंपरा मे उन यादवो के वशज थे, जो शूरसेन राज्य से इधर आ वसे थे । उसी प्रसग मे यह भी वतलाया गया है कि उनमे से वहुत से यदुवशी भारत के पश्चिमोत्तर भाग मे जाकर वस गये थे और वहाँ उन्होंने अपने राज्य कायम किये थे ।

श्री कृष्ण की १२ वी पीढी मे गज नामक एक राजा हुआ, जिसने खैवर घाटी के पार एक गढ वनवाया था, जो उसके नाम से 'गजनी' कहलाता है। राजा गज की नवी पीढी मे राजा मर्यादपति हुआ, जिसने गजनी से लेकर पजाव तक शासन किया था। मुसलमानो के आक्रमण काल मे उसकी वश-परपरा के यदुवशियो ने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए वडा सघर्ष किया था, किंतु उनमे से वहुतो को वलात् मुसलमान वना लिया गया था। वहाँ रहने वाले चगताई, वलोच और पठान उन्ही यदुवशियो की सतान है[1]। इस उल्लेख से समझा जा सकता है कि 'हिंदू शाही' राजा भी उन यदुवशियो की परपरा मे ही होंगे। इस प्रकार उनका श्री कृष्ण के वशज होने के कारण मथुरा के प्राचीन यादव राजाओ मे पारिवारिक सवध जुड जाता है। हमने गत पृष्ठो मे यदुवशियो के राज्य का विस्तार वतलाते हुए उनके पश्चिम, दक्षिण–पश्चिम और दक्षिण-वर्ती फैलाव का उल्लेख किया है[2]। यहाँ उनके उत्तर–पश्चिमी राज्यो मे से एक 'हिंदू शाही' राज्य की सभावना भी व्यक्त की गई है।

**'हिंदू शाही' राजाओ की पराजय और आक्रमणकारियो का भारत प्रवेश**—गज़नी के मुसलमान शासक सुवुक्तगीन के काल मे 'हिंदू शाही' वश के राजा का नाम जयपाल था। उसका सुवुक्तगीन से कई वार सघर्ष हुआ था। सुवुक्तगीन का पुत्र महमूद जव गजनी का शासक हुआ, तव उसने एक विशाल सेना के साथ जयपाल पर आक्रमण किया। स० १०५८ ( २७ नववर सन् १००१ ) मे दोनो का भीषण सग्राम हुआ, जिसमे जयपाल को पराजित होना पडा। उस अपमान से दुखित होकर वह जीते जी चिता पर वैठ गया और उसने अपने जीवन का अत कर दिया। जयपाल के पुत्र आनदपाल और उसके वशज त्रिलोचनपाल तथा भीमपाल ने भी महमूद से कई युद्ध हुए थे, जिनमे उनकी पराजय हुई थी। स० १०७१ मे हिंदू शाही राजाओ का परपरागत राज्य समाप्तप्राय हो गया और तुर्क आक्रमणकारियो द्वारा भारत मे प्रवेश करने का मार्ग साफ हो गया। डा० आशीर्वादीलाल ने लिखा है, 'हिंदू शाही' राज्य एक वांध की भाँति तुर्की आक्रमणो की वाढ को रोके हुए था। उसके टूट जाने से समस्त उत्तरी भारत मुसलमानी आक्रमणो की वाढ मे डूव गया[3]। महमूद गजनवी पहिला मुसलमान आक्रमणकारी था, जिसने सर्व प्रथम भारत के आतरिक भाग मे दूर-दूर तक जा कर भीषण लूट-मार की थी।

**महमूद गजनवी**—महमूद यमीनी वश का तुर्क सरदार था और वह गजनी के शासक सुवुक्तगीन का पुत्र था। उसका जन्म स० १०२८ वि० मे हुआ और २७ वर्ष की आयु होने पर स० १०५५ मे उसने राज्याधिकार प्राप्त किया था। वह वचपन से ही अपने देश के व्यापारियो द्वारा भारतवर्ष की अपार समृद्धि और धन–दौलत के विषय मे सुनता रहा था। उसके पिता ने एक वार 'हिंदू शाही' राजा जयपाल के राज्य को लूट कर प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त की थी, अत महमूद भी भारत की दौलत को लूट कर मालामाल होने का स्वप्न देखा करता था। अपने मजहवी जोश के कारण वह भारत के विरुद्ध 'जिहाद' ( धर्म युद्ध ) छेड कर वहाँ के लोगो को

---

(१) इतिहास राजस्थान, पृष्ठ २२८–२२६

(२) इस ग्रंथ का पृष्ठ ५५ देखिये।

(३) दिल्ली सल्तनत, पृष्ठ ५२

मुसलमान बनाने के लिए भी बड़ा लालायित था। अपने इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए उस काल की प्रथा के अनुसार उसने बगदाद के खलीफा से मान्यता प्राप्त की और भारत पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगा। वह इस देश मे दूर-दूर तक धावा मार कर लूट–मार करने वाला पहिला मुसलमान शासक था। उसने १७ बार भारत पर आक्रमण किया था और यहाँ की अपार सम्पत्ति को वह लूट कर गजनी ले गया था। उसके आक्रमण और लूट–मार के काले कारनामो से तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रथो के पन्ने भरे पडे है।

**गजनवी आक्रमणो के लेखक और उनके ग्रथ**—महमूद गजनवी के आक्रमणो का वर्णन उसके समकालीन अलउत्वी और अलवेरुनी ने तथा उसके परवर्ती मिन्हा जुस्सिराज और मुहम्मद कासिम फरिश्ता आदि लेखको ने अपने–अपने ग्रथो मे किया है। उनका वर्णन पक्षपातपूर्ण है और उन्होने भारतीयो की दुर्बलता तथा मुसलमान आक्रमणकारियो की वीरता का अतिशयोक्ति-पूर्ण कथन किया है। किंतु उस काल के अन्य प्रामाणिक विवरण न मिलने से सभी इतिहासकारो ने उन्ही का आधार लिया है। फिर भी विवेक बुद्धि से उनके कथनो पर विचार करने से सत्यासत्य का निर्णय किया जा सकता है।

**महमूद अलउत्वी**—वह महमूद गज़नवी का सचिव था, यद्यपि उसके आक्रमणो मे वह साथ नही रहा था। उसने सुबुक्तगीन तथा महमूद के शासन-काल का स० १०७७ तक का इतिहास अरबी भाषा मे अपने ग्रथ 'किताब–उल–यमीनी' मे लिखा है। इस ग्रंथ मे महमूद के स० १०७७ तक के आक्रमणो का विस्तृत वर्णन मिलता है।

**बुरिहा अलवेरुनी**—वह ज्योतिष तथा अन्य विषयो का एक विद्वान मुसलमान था, जो महमूद गज़नवी के काल मे भारत आया और यहाँ कई वर्ष तक रहा था। उसने यहाँ रह कर संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया और हिंदुओ के आचार–विचारो को समझने की चेष्टा की। उसने स० १०८८ के लगभग अपना 'तारीख–उल–हिंद' नामक एक बडा ग्रथ अरबी भाषा मे लिखा था। डा० एडवर्ड साचू ( Dr. Edward Sachu ) ने उस ग्रथ का अगरेजी अनुवाद प्रकाशित किया है।

**मिन्हा जुस्सिराज**—उसने विविध हिंदू राज्यो पर मुसलमानो के आक्रमणो का वर्णन अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'तबकाते नासिरी' मे किया है, जिसकी रचना स० १३१६ मे हुई थी। उसका अगरेजी अनुवाद रावर्टी ( Raverty ) ने किया था और यह जो बगाल एशियाटिक सोसाइटी की 'बिब्लिआथिका इडिका' नामक ग्रथमाला मे प्रकाशित हुआ है।

**महम्मद कासिम हिंदूशाह**—उसका उपनाम 'फरिश्ता' था। वह मुगल सम्राट अकबर के काल मे विद्यमान था। उसने बीजापुर मे रह कर मुसलमानो के इतिहास का गहन अध्ययन किया था। फारसी भाषा मे लिखा हुआ 'तारीखे फरिश्ता' उसका प्रसिद्ध ग्रथ है, जिसमे स० १६६६ तक के भारतीय मुसलमान शासको तथा उनके द्वारा विभिन्न हिंदू राज्यों को नष्ट किये जाने का विस्तृत वर्णन हुआ है। इस ग्रंथ के दो अगरेजी अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। उनमे एक जान ब्रिग्ज ( John Briggs ) का है, जिसे उसने अपने अगरेजी ग्रथ 'हिस्ट्री आफ दी राइज़ आफ दि मुहम्मडन पावर' ( जिल्द २ ) मे मूल फारसी ग्रंथ से अनुवादित किया है।

**गजनवी के आक्रमण**—महमूद गजनवी ने १७ बार भारत पर आक्रमण किया था। उसके आरंभिक कई आक्रमण तो 'हिंदू शाही' वंश के राजाओ के विरुद्ध ही हुए थे। उस वंश के जयपाल और उसके पुत्र आनदपाल ने पर्याप्त हानि उठा कर भी महमूद को पजाब से आगे नही बढने दिया, किंतु अत मे उन्हे पराजित होना पडा। इस प्रकार भारत मे आगे बढने के लिए महमूद को खुला मार्ग मिल गया और बाद के आक्रमणो मे उसने मुलतान, लाहौर, नगरकोट और थानेश्वर तक का विशाल भू-भाग रोध डाला था। उन आक्रमणो मे उसने खूब मार-काट और लूट-खसोट की थी तथा भारतीयो को बलात् मुसलमान बनाया था। उसका नवाँ (कुछ लेखको के मतानुसार बारहवाँ) आक्रमण स० १०७४ मे कन्नौज के विरुद्ध हुआ था। उसी अवसर पर उसने मथुरा पर भी आक्रमण कर उसे बुरी तरह लूटा था।

**मथुरा की लूट का अभियान और महावन का युद्ध**—मथुरा नगर को लूटने से पहिले महमूद गजनवी को यहाँ एक भीषण युद्ध करना पडा था। वह युद्ध मथुरा के निकटवर्ती महावन मे वहाँ के शासक कूलचद के साथ हुआ था। महमूद के सचिव अलउत्वी ने उसका विस्तृत वर्णन अपने ग्र थ 'तारीखे यमीनी' मे किया है। उसके बाद फरिश्ता और बदायूनी आदि दूसरे मुसलमान लेखको ने भी उस पर प्रकाश डाला है। उत्वी ने महमूद की उस लूट और उसके युद्ध का वर्णन करते हुए मथुरा या महावन का स्पष्ट रूप से नामोल्लेख नही किया, किंतु उक्त विवरण की सूचनाओ के अनुसार परवर्ती लेखको ने उन्हे मथुरा और महावन से ही सबधित माना है।

फरिश्ता ने लिखा है—"स० १०७४ (सन् १०१७) के बसत मे महमूद ने विशाल सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया था। उसका इस बार का लक्ष कन्नौज था। वहाँ के राजा कुँवरराज (राज्यपाल) को पराजित कर वह मेरठ गया और वहाँ के शासक हरिदत्त को भी उसने हरा दिया। फिर उसने महावन के दुर्ग पर आक्रमण किया था। महावन के शासक कूलचद ने उसका कडा मुकाबला किया था, किंतु उसे पराजित होना पडा। महावन के दुर्ग पर महमूद का अधिकार हो गया। उसके बाद उसने मथुरा पर आक्रमण कर उसे लूटा था।"

अलउत्वी के वर्णन को ग्राउस ने इस प्रकार उद्धृत किया है—"राजा कूलचद का दुर्ग महावन मे था। उसको अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा था, क्यो कि तब तक कोई भी शत्रु उससे पराजित हुए बिना नही रहा था। वह ऐसे विस्तृत राज्य, अपार वैभव, अगणित वीरो की सेना, विशाल हाथी और सुदृढ दुर्गो का स्वामी था, जिनकी ओर किसी को आँख उठा कर देखने का भी साहस नही होता था। जब उसे ज्ञात हुआ कि महमूद उस पर आक्रमण करने के लिए आ रहा है, तब वह अपने सैनिक और हाथियो के साथ उसका मुकाबला करने को तैयार हो गया। अत्यत वीरता पूर्वक युद्ध करने पर भी जब महमूद के आक्रमण को विफल नही किया जा सका, तब उसके सैनिक गढ से निकल कर भागने लगे, ताकि वे यमुना नदी को पार कर अपनी जान बचा सके। इस प्रकार प्राय ५०००० (पचास हजार) व्यक्ति उस युद्ध मे मारे गये, अथवा नदी मे डूब गये। तब कूलचद ने हताश होकर पहिले अपनी रानी को और फिर स्वय अपने को भी तलवार से समाप्त कर दिया। उस अभियान मे महमूद को लूट के अन्य सामान के अतिरिक्त १८५ सु दर हाथी भी प्राप्त हुए थे[1]।"

---

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमायर, (तृ० स०), पृष्ठ ३२

फरिश्ता ने भी उस युद्ध का उत्वी से मिलता हुआ वर्णन इस प्रकार किया है—

"मेरठ से आकर सुलतान ने महाबन के दुर्ग पर आक्रमण किया था। महाबन के शासक कूलचद से उसका सामना हुआ। उस युद्ध मे अधिकाश हिंदू सैनिक यमुना नदी मे धकेल दिये गये थे। राजा ने निराश होकर अपने स्त्री-बच्चो का स्वय बध किया और फिर अपना भी काम तमाम कर डाला। दुर्ग पर मुसलमानो का अधिकार हो गया। महाबन की लूट मे उसे प्रचुर धन-सपत्ति तथा ८० हाथी मिले थे[१]।"

**मथुरा नगर की भीषण लूट**—महाबन मे लूट-मार कर और वहाँ के मदिर-देवालयो को बर्बाद कर महमूद ने अपनी युद्धोन्मत्त विजय-वाहिनी के साथ यमुना नदी को पार किया और वह मथुरा के अरक्षित नगर पर चढ दौडा। नगर मे प्रवेश करते ही वह वहाँ के भव्य भवन, सु दर मदिर-देवालय और उनके अपार वैभव को देख कर चकित रह गया। मथुरा के मदिरो मे और विशेष रूप से यहाँ के कृष्ण-जन्मस्थान वाले प्राचीन देवालय मे सोने-चाँदी की अनेक देव-मूर्तियाँ जवाहरात के आभूषण धारण किये हुए विराजमान थी। धर्मप्राण राजा-महाराजा और सेठ-साहूकारो द्वारा भेट की हुई अपार धन-सम्पत्ति वहाँ कई शताब्दियो से सचित होती रही थी। उस 'कारूँ के खजाने' को देख कर महमूद की ललचायी हुई आँखे खुली की खुली रह गई। उसने अपने सैनिको को वहाँ लूट-मार करने का आदेश दिया। अलउत्वी ने महमूद के उस आक्रमण का विशद वर्णन किया है। उसने लिखा है,—"नगर को यमुना की बाढ से बचाने के लिए उसके चारो ओर पक्की सगीन दीवार थी, जिसके दो द्वार नदी की ओर थे। नगर मे दोनो बगल हजारो मकान और अनेक मदिर बने हुए थे। वे सब अत्यत मजबूत थे। उनके सन्मुख लकडी के खभो की कुछ अन्य इमारते भी थी। महमूद ने आदेश दिया कि सब मदिरो मे आग लगा कर उन्हे धराशायी कर दिया जाय। उस समय बीस दिनो तक नगर की लूट होती रही थी। उस लूट मे जो अपार सामग्री मिली, उसमे शुद्ध सोने की बनी हुई मूर्तियाँ थी, जिनकी आँखो मे लाल जडे हुए थे और जो बहुमूल्य रत्नो के आभूषण पहिने हुए थी। उनके अतिरिक्त बहुसख्यक चाँदी की प्रतिमाएँ भी थी। उन सबको ध्वस करने के बाद जब लूट का सामान इकट्ठा किया गया, तब वह १०० से अधिक ऊँटो पर लादने लायक हो गया। लूटा हुआ सामान अनुमानत ३० लाख के मूल्य का होगा। उसके अतिरिक्त महमूद ५००० हिंदुओ को गुलाम बना कर भी ले गया[२]।"

डा० आशीर्वादीलाल ने लिखा है,—"उत्वी के कथनानुसार उन मदिरो मे सोने की बहुमूल्य मूर्तियाँ थी, उनमे ५ पाँच-पाँच हाथ ऊँची थी और एक मे ५० हजार दीनार के मूल्य की लाल मणि जडी हुई थी। एक अन्य मूर्ति मे शुद्ध ठोस नीलम जडा हुआ था, जिसका मूल्य ४ सौ मिश्काल था। आक्रमणकारियो को अनेक मूर्तियो के नीचे गडा हुआ बहुत सा धन मिला। एक मूर्ति के चरणो के नीचे तो उसे ४ लाख स्वर्ण मिश्काल के मूल्य का कोष मिला था। अनेक

---

(१) **हिस्ट्री आफ दि राइज आफ दि महम्मडन पावर** ( जान ब्रिग्ज ), जिल्द १, पृष्ठ ५७-५८

(२) **मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर** ( तृतीय सस्करण ), पृष्ठ ३२-३३

मूर्तियाँ चाँदी की बनी होने के कारण बहुमूल्य थी। महमूद ने समस्त नगर को धूल मे मिला दिया और उसका कोना-कोना लूट लिया। वृ दावन मे भी वध, लूट, दाह, हत्या और बलात्कार का काड हुआ[1]।"

**कृष्ण-जन्मस्थान के मदिर का ध्वस**—महमूद की उस विनाश लीला का सबसे दु:ख-दायी प्रसग कृष्ण-जन्मस्थान के उस प्राचीन और भव्य मदिर का ध्वस किया जाना था, जो प्राय छह शताब्दी पूर्व चद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा बनवाया था। उस काल मे वह मदिर मथुरा नगर के मध्य मे बना हुआ था और उसके चारो ओर सैकडो मदिर देवालयो और भवनादि थे। अलउत्बी ने उस मदिर के विषय मे लिखा है,—"नगर के बीचो बीच एक मदिर था, जो सभी इमारतो से अधिक विशाल और सु दर था। उसका यथार्थ वर्णन करना किसी प्रकार सभव नही है। उसके बारे मे वहाँ के निवासियो का ख्याल था कि उसे मनुष्यो ने नही देवताओ ने बनाया है। सुलतान ने उसके सबध मे स्वय लिखा है—'यदि कोई व्यक्ति वैसी इमारत बनवाना चाहे, तो वह १० करोड दीनार खर्च कर दो सौ वर्षो मे भी वैसी नही बना सकेगा और वह भी तब, जब उसके बनाने मे बहुत होशियार और तजुर्बेकार कारीगर लगाये जावें[2]।" महमूद ने भारतीय स्थापत्य की उस अनुपम कला-कृति को नष्ट कर दिया और वहाँ की बहुमूल्य देव-मूर्तियो को तोड कर वह समस्त रत्न-राशि, सोना-चाँदी और कीमती सामान लूट कर ले गया।

महमूद गजनवी का मथुरा पर आक्रमण ऐसा सहारकारी और यहाँ की लूट ऐसी भयानक थी कि उन्होने पिछली सभी दु:खात घटनाओ को मात कर दिया था। प्राय ५०० वर्ष पहिले हूणो ने मथुरा की बडी बर्बादी की थी, किंतु महमूद की विनाश-लीला उनसे कही बढ कर थी। हूणो ने धन के लोभ से मथुरा मे लूट-मार तो खूब की, किंतु उन्होंने यहाँ के विशाल मदिर-देवालयो को नष्ट नही किया था, क्यो कि उन्हे उनसे कोई धार्मिक विद्वेष नही था। महमूद लालची होने के साथ ही साथ धर्मोन्मादी भी था। उसने लूट-मार के साथ ही साथ यहाँ के प्राय सभी मदिर-देवालयो को भी नष्ट कर दिया था। इस प्रकार हर्ष की मृत्यु के ३७० वर्ष बाद मथुरा राज्य के सास्कृतिक इतिहास की वह सबसे बडी दु:खात घटना थी।

**कुलचंद्र**—मथुरा मे लूट-मार करने से पहिले महमूद गजनवी को एक वीर सेना-नायक से भीषण युद्ध करना पडा था। अलउत्बी ने उसका नाम कूलचद (कुलचद्र) लिखा है और उसके सुदृढ दुर्ग, मदिर-भवनादि तथा उसकी विशाल सेना का आश्चर्यजनक वर्णन किया है। अकबर कालीन इतिहासज्ञ बदायूनी के उल्लेख मे उस वीर योद्धा का नाम गोविदचद्र मिलता है[3], किंतु वह ठीक नही मालूम होता। उस काल के लगभग गोविदचद्र नाम के दो प्रसिद्ध राजा हुए थे। एक गोविंदचद्र राष्ट्रकूट राजा था, जिसका समय महमूद के आक्रमण से प्राय दो सौ वर्ष पहिले का है। दूसरा गोविदचद्र कन्नौज का गाहडवालवशी राजा था, जिसके विशाल राज्य मे

---

(१) **दिल्ली सल्तनत** ( प्रथम सस्करण ), पृष्ठ ५३
(२) **मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर** ( तृतीय सस्करण ), पृष्ठ ३२-३३
(३) **मु तखबुत्तवारीख**, पृष्ठ २४-२५

मथुरा भी सम्मिलित था, किंतु उनका समय महमूद के आक्रमण से प्राय सौ वर्ष बाद का है। ऐसी दशा मे अलउत्बी के कथन को मान्यता देते हुए महमूद से युद्ध करने वाले उस वीर सेनानायक का नाम कुलचद्र मानना ही उचित होगा।

वह कुलचद्र नामक योद्धा मथुरा राज्य का कोई स्वाधीन राजा था अथवा किसी दूसरे राजा की ओर से यहाँ का रक्षक सेनापति अथवा सरदार–सामंत था, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। यदि वह यहाँ का स्वाधीन राजा था, तब वह किस वश का था और उस वश का मथुरा राज्य पर कब से अधिकार रहा था तथा उसके राज्य की सीमाएँ कहाँ से कहाँ तक थी; उसकी वश–परपरा से सबधित सिक्के, ताम्रपत्र, अभिलेख आदि कोई पुरातत्विक सामग्री क्यो नही मिलती — इन प्रश्नो का उत्तर देने वाला कोई प्रामाणिक साधन अभी तक उपलब्ध नही हो सका है। ऐसा जान पडता है, मुसलमानी शासन काल मे यहाँ अनेक बार विध्वस होने से अन्य ऐतिहासिक महापुरुषो की तरह कुलचद्र की गौरव–गाथा के सूत्र भी दुष्प्राप्य हो गये है। फिर भी न तो कुलचद्र के अस्तित्व को अस्वीकार किया जा सकता और न मथुरा की रक्षा के लिए किये गये उसके वीरतापूर्ण बलिदान की ही उपेक्षा की जा सकती है। ऐसी दशा मे उनका अनुसधान करना अत्यत आवश्यक है।

**कुलचद्र के अस्तित्व और वंश का अनुसंधान**—श्री युगलकिशोर चतुर्वेदी ने करौली के यादव राजाओ का उल्लेख करते हुए उनकी परपरा मथुरा के राजाओ से सबधित बतलाई है। यदि वह ठीक है, तब उससे कुलचद्र के अस्तित्व और उसकी वश–परपरा पर प्रकाश पड सकता है। श्री चतुर्वेदी ने लिखा है—"प्राचीन ख्यातो से सिद्ध होता है कि विक्रम स० ९३६ ( सन् ८७९ ई० ) मे इच्छपाल नामक एक यादव नरेश मथुरा का राजा था। उसके दो पुत्र ब्रह्मपाल तथा विनयपाल हुए। इच्छपाल के अनतर ब्रह्मपाल मथुरा का शासक हुआ तथा उसकी मृत्यु के उपरात उसका पुत्र जयेन्द्रपाल ( इद्रपाल ) वि० स० १०२३ ( ई० ९६६ ) मे गद्दी पर बैठा और स० १०४९ मे उसका देहात हुआ। उसके ११ पुत्रो मे से ही एक महाराजा विजयपाल थे, जो वर्तमान करौली राज्य के मूल सस्थापक माने जाते हैं। उन्ही महाराजा विजयपाल ने अपनी राजधानी मथुरा से हटा कर वहाँ से लगभग ५० मील दूर पश्चिम की ओर, प्राचीन श्रीपथ तथा वर्तमान भरतपुर जिले के अतर्गत, बयाना के समीप की पहाडी पर स्थापित की। उन्होने वहाँ विक्रम स० १०९७ ( सन् १०४० ई० ) मे 'विजय मदिर गढ' नाम से एक सुदृढ और विशाल दुर्ग का निर्माण किया, जो आज भी वहाँ उसी स्थिति मे खडा हुआ अपनी अनुपम अजेयता का प्रमाण प्रस्तुत कर रहा है। राजधानी के उस स्थानान्तरण का कारण उसको पर्वत श्रेणियो के मध्य एक सुरक्षित स्थान पर स्थापित करना ही था, ताकि वह आये दिन के तत्कालीन मुसलमानी आक्रमणो का आखेट बनने से बच सके। महाराजा विजयपाल अपने समय के एक बडे प्रबल प्रतापी नरेश हुए, जिनको तत्कालीन शिलालेखो मे 'महाराजाधिराज परम भट्टारक' लिखा है[१]।"

प्राचीन ख्यातो के उक्त विवरण को यदि सत्य माना जाय, तब जयेन्द्र ( इंद्रपाल ) के ११ पुत्रो मे से किसी एक को कुलचद्र समझा जा सकता है। उसके भाई विजयपाल को यहाँ से

---

(१) ब्रज–भारती (वर्ष १२, अंक ४), पृष्ठ २१–२२

हट कर अपनी राजधानी अन्यत्र बसाने की आवश्यकता ही इसलिए हुई कि उनका परंपरागत राज्य महमूद गजनवी के आक्रमण से संकटग्रस्त हो गया था। इस प्रकार कुलचंद्र को यादववंशीय राजा जयेन्द्रपाल ( इंद्रपाल ) का पुत्र और संभवत उत्तराधिकारी मानना समीचीन होगा। वह मथुरा राज्य का स्वामी था और दुर्ग सहित उसकी सैनिक छावनी महावन में थी। यद्यपि महमूद के आक्रमण से वह राजवंश बिखर गया, कुलचंद्र की मृत्यु हो गई और विजयपाल अन्यत्र चला गया, फिर भी शेष भाइयों में से किसी का वहाँ राज्य बने रहने की संभावना जान पडती है, चाहे उसकी स्थिति कितनी ही दुर्बल क्यो न हो। महावन से प्राप्त एक प्रशस्ति-अभिलेख से ज्ञात होता है कि सं० १२०७ मे वहाँ पर अजयपाल और सं० १२२७ मे हरपाल नामक राजाओं का शासन था। वे राजा कुलचंद्र के ही वंशज होंगे। उस काल मे यादव राजवंश के जो व्यक्ति मथुरा मे हटे थे, उन्होने कामवन, बयाना और करौली मे विविध राज्यों की स्थापना की थी तथा वहाँ की पहाडियो पर उन्होने सुदृढ दुर्ग, दर्शनीय देवालय और सुंदर सरोवरादि का निर्माण कराया था। कालांतर मे वे राज्य भी आक्रमणकारियो द्वारा संकट ग्रस्त हुए थे।

यादव राजा कुलचंद्र और उसके वंश का महत्व इसलिए अधिक है कि मथुरा के इतिहास मे कृष्णकालीन अथवा उनके परवर्ती यादव राजाओं के पौराणिक विवरण के बाद उसी यादव वंश की स्वतंत्र राजसत्ता का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है और वह भी एक समकालीन विदेशी लेखक द्वारा किया हुआ। उस राजवंश से पहिले मथुरा राज्य पर जिन महान् राजाओं का शासन रहा था, वे नाग राजाओं को छोड कर सभी दूसरे स्थानों के थे। मथुरा राज्य तो उनके विशाल साम्राज्य का एक भाग मात्र था।

**मथुरा के ध्वंस की प्रतिक्रिया और गजनवी के अन्य आक्रमण**—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, जब महमूद कन्नौज पर आक्रमण करने के लिए आया था, तभी उसने मथुरा को भी लूटा था। वह पहिले कन्नौज गया अथवा मथुरा आया, इस संबंध के विभिन्न उल्लेख मिलते हैं। अधिकतर इतिहासकारो का मत है, महमूद बुलंदशहर-मेरठ के राजा हरिदत्त को पराजित कर मथुरा आया था। मथुरा लूटने के बाद वह कन्नौज गया था। वहाँ के अंतिम प्रतिहार राजा राज्यपाल ने भयभीत होकर बिना लडे ही उसकी अधीनता मान ली थी। मथुरा मे महमूद को लूट का इतना अधिक सामान मिला था कि उससे लदे हुए जानवरो की लंबी कारवाँ को लेकर कन्नौज जाना संभव नही था। ऐसा मालूम होता है, मथुरा मे महमूद ने अपने कुछ सैनिको को मंदिर-देवालय नष्ट करने तथा लूट का सामान एकत्र करने को छोड दिया था और वह स्वयं अपनी अधिकांश सेना के साथ कन्नौज पर चढ दौडा था। इस प्रकार उसने एक ही झपाटे मे मथुरा और कन्नौज दोनो नगरो को बर्बाद किया था। महमूद को कन्नौज मे भी लूट का बहुत सामान मिला था। उसे लेकर वह मथुरा आया, फिर यहाँ की लूट के सामान सहित वह गजनी चला गया था। उस आक्रमण से मथुरा का समृद्धिशाली धार्मिक नगर बर्बाद हो गया और कन्नौज के प्रतिहार राज्य की प्रतिष्ठा धूल मे मिल गई। मथुरा के विख्यात मंदिर-देवालयो के नष्ट हो जाने का दुःखदायी समाचार जहाँ हिंदू धर्म के प्रति आस्था रखने वाली इस भू-भाग की धार्मिक जनता को मर्मान्तिक पीडा पहुँचाने वाला था, वहाँ हिंदू राजाओ के खून को खौला देने वाला भी था। इस प्रकार की प्रतिक्रिया जिन राजाओ पर विशेष रूप से हुई, उनमे कन्नौज के दक्षिणवर्ती चंदेल राज्य के अधिपति गंडदेव का नाम उल्लेखनीय है।

**गडदेव का प्रतिरोध**—गडदेव बडा शक्तिशाली राजा था, जिसने स० १०५६ मे राज्याधिकार प्राप्त किया था। वह धार्मिक प्रवृत्ति का एक वीर पुरुष था। उसे मथुरा के ध्वस से बडा दु ख हुआ, किंतु उसका दोषी उसने कन्नौज के प्रतिहार राजा राज्यपाल को समझा था, जिसने न तो मथुरा के राजा कुलचद्र को सहायता दी थी और न वह अपने राज्य की ही रक्षा कर सका था। गडदेव ने राज्यपाल को दड देने के लिए कन्नौज पर आक्रमण कर दिया और स० १०७७ मे उस पर अधिकार कर लिया। उस समाचार को सुन कर आगामी वर्ष महमूद ने गडदेव के विरुद्ध आक्रमण किया और वह कालिजर तक पहुँच गया। गडदेव ने उसका ऐसी वीरता से सामना किया कि आक्रमणकारी को वापिस लौटना पडा। यदि गडदेव अपने रोष का पात्र कन्नौज-नरेश को न बना कर उसके सहयोग से महमूद पर आक्रमण करता, तो दोनो की सम्मिलित शक्ति उसका पूरी तरह मान-मर्दन कर सकती थी। किंतु देश के दुर्भाग्य से उस समय के राजपूत राजाओ मे वह सुबुद्धि नही आई थी। वे सदैव आपस मे लडते रहे और विदेशी आक्रमणकारी एक-एक कर उनको पराजित करते रहे थे।

**सोमनाथ के मदिर का ध्वंस**—महमूद का सोलहवाँ आक्रमण स० १०८२ मे सौराष्ट्र पर हुआ था। उस अवसर पर उसने वहाँ के विख्यात सोमनाथ मदिर को लूट कर वडा धन प्राप्त किया था। वह महमूद का सबसे बडा और सबसे अधिक साहसपूर्ण अभियान था। गजनी से सैकडो मील दूर आकर और राजस्थान के विस्तृत रेगिस्तान की बाधा को पार कर उसने सोमनाथ पर चढाई की थी। अन्हिलवाडे के चालुक्य राजा भीमदेव ने महमूद का सामना किया, किंतु दुर्भाग्य से वह पराजित हो गया। सोमनाथ के भारतप्रसिद्ध देवालय मे कई शताब्दी से जो अपार सपत्ति सचित थी, उसे वह लुटेरा एक ही झपाटे मे उठा कर ले गया और पुजारियो की आँखो के आगे उनके उपास्य देव सोमनाथ की मूर्ति के भी टुकडे-टुकडे कर गया ! जो पुजारीगण भगवान् सोमनाथ द्वारा अलौकिक चमत्कार किये जाने की आशा से वहाँ निर्भय होकर बैठे थे, उनका महमूद ने कत्लेआम करा दिया था।

महमूद के उन तूफानी आक्रमणो से प्रत्येक व्यक्ति को आश्चर्य होना स्वाभाविक है। एक विदेशी आक्रमणकारी सैकडो मील दूर से आकर यहाँ के अनेक राजाओ को पराजित कर देता है। वह उनके राज्यो को लूटता है, धार्मिक मूर्तियो को नष्ट कर धर्मप्राण जनता के हृदय को चोट पहुँचाता है और यहाँ के निवासियो को धर्म-परिवर्तन करने के लिए बाध्य करता है। जो लोग उसके लिए तैयार नही होते, उनका वह कत्ले-आम कराता है और हजारो नर-नारियो को गुलाम बना कर ले जाता है। इस पर भी यहाँ के अनेक राजाओ और उनकी असख्य प्रजा के करे-धरे कुछ नही होता है ! बात वास्तव मे आश्चर्य की मालूम होती है, किंतु उस काल मे इस देश की जैसी दुर्वस्था थी, उसे देखते हुए इस पर आश्चर्य नही किया जा सकता।

**महमूद के परवर्ती राजपूत राज्य और उनके राजा**—जैसा पहिले लिखा गया है, महमूद के आक्रमण-काल मे यह देश अनेक छोटे-छोटे राज्यो मे विभाजित था। उन राज्यो के राजागण अपनी सीमाओ के विस्तार के लिए आपस मे युद्ध किया करते थे। मथुरा के चारो ओर भी ऐसे ही राज्य स्थित थे। इसके उत्तर मे हरियाना के तोमर वशी राजाओ ने पाडव कालीन प्राचीन इंद्रप्रस्थ के स्थान पर दिल्ली वसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया था। पश्चिम

मे चाहमान राजाओ का प्रभुत्व था, जिनकी राजधानी अजमेर थी। दक्षिण मे कछवाहे और चदेल राजाओ के राज्य थे, जिनकी राजधानी क्रमश ग्वालियर तथा खजुराहो और महोबा थी। पूर्व मे गाहडवाल वशीय राजाओ का अधिकार था, जिनकी राजधानी कन्नौज थी। सुदूर पूर्व मे पाल और बाद मे सेन वंशीय राजाओ का अधिकार क्षेत्र था। देश के दुर्भाग्य से वे सभी राज्य एक दूसरे से शत्रुता रखते थे और आपस मे युद्ध करते हुए अपनी शक्ति का ह्रास किया करते थे। तोमर और चाहमान, चाहमान और चदेल, चदेल और गाहडवाल तथा गाहडवाल और सेन राजाओ के बीच उस काल मे जो निरतर युद्ध हुए थे, उनसे इतिहास के पन्ने रँगे हुए हैं।

**गोविंदचद्र ( स० ११६६–१२१२ )**—उस काल मे कन्नौज मे गाहडवाल वश का राज्य था। उस राजवश मे गोविंदचद्र बडा प्रसिद्ध राजा हुआ था। उसने अपने निकटवर्ती राजाओ से सघर्ष कर एक बडे राज्य का निर्माण किया था। उसके राज्य की सीमाएँ मथुरा से मगध तक थी। उसके सुदीर्घ शासन–काल मे कन्नौज को फिर से अपना पहिले जैसा गौरव प्राप्त हुआ था। गोविंदचद्र हिंदू धर्मावलबी था, किंतु वह अन्य धर्मो के प्रति भी सहिष्णु और उदार था। उसने वाराणसी मे अनेक दान–पुण्य किये थे, जिनका उल्लेख उसके द्वारा प्रदत्त विविध ताम्रपत्रो और अभिलेखो मे हुआ है। उसने हिंदू धर्माचार्यो के साथ ही साथ बौद्ध भिक्षुओ को भी उदारता पूर्वक दान दिया था। उसकी रानी कुमारदेवी ने सारनाथ मे एक बौद्ध विहार बनवाया था। चूँकि मथुरा उसके राज्य मे था, अत वाराणसी और सारनाथ की तरह उसने यहाँ की धार्मिक उन्नति मे भी योग दिया होगा, किंतु उसका कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है।

**विजयपाल अथवा विजयचद्र ( स० १२१२–१२२७ )**—गोविंदचद्र के पश्चात् उसका पुत्र विजयपाल या विजयचद्र कन्नौज का राजा हुआ था। वह अपने पिता के समान ही यशस्वी और धार्मिक था। वह विद्याप्रेमी, कवियो का आश्रयदाता और उदार प्रकृति का नरेश था। कहते है, उसने 'विजयपाल देव रासो' ग्रथ के रचयिता नल्ह कवि को सात सौ गाँव पुरस्कार मे दिये थे। मथुरा के लिए उसका एक महत्वपूर्ण कार्य यहाँ वासुदेव कृष्ण का मदिर बनवाना था।

**वासुदेव कृष्ण का मदिर**—विजयपाल अपने पिता गोविंदचद्र के शासन काल मे मथुरा का राज्यपाल रहा था। उसी समय उसने यहाँ के कृष्ण–जन्मस्थान मे महमूद गजनवी द्वारा तोडे हुए मदिर के ध्वसावशेषो पर एक नये मदिर का निर्माण कराया था, जो स० १२१२ मे पूर्ण हुआ था। उसका उल्लेख कृष्ण–जन्मस्थान से प्राप्त एक तत्कालीन अभिलेख मे हुआ है। उस अभिलेख मे मदिर के दैनिक व्यय के लिए २ मकान, ६ दूकान और १ वाटिका के दिये जाने तथा उसके प्रबध के लिए १४ नागरिको की एक समिति बनाये जाने की व्यवस्था का भी उल्लेख है। उस समिति के अध्यक्ष का नाम जज्ज ( यज्ञ ) लिखा गया है, जो मथुरा का कोई प्रतिष्ठित नागरिक अथवा विशिष्ट राजकर्मचारी था। मथुरा राज्य मे किसी धार्मिक ट्रस्ट की योजना का यह एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अभिलेख मिला है, जो लखनऊ सग्रहालय मे सुरक्षित है।

**जयचद्र और पृथ्वीराज**—विजयपाल के पश्चात् जिन दो राजाओ ने उस काल मे विशेष ख्याति प्राप्त की थी, वे जयचद्र और पृथ्वीराज थे। जयचद्र कन्नौज के राजा विजयपाल का पुत्र था, जिसे उसके पिता ने अपने जीवन काल मे ही राज्याधिकारी बना दिया था। उसने स० १२२७ से स० १२५१ तक शासन किया। वह बडा वीर, प्रतापी और विद्वानो का आश्रय-

दाता था। उसने अपनी वीरता से गाहडवाल राज्य का काफी विस्तार किया था और कन्नौज के महत्व की वृद्धि की थी। उसने एक राजसूय यज्ञ भी किया था। अत मे वह मुसलमान आक्रमणकारी महम्मद गोरी से पराजित हो गया, जिसके फल स्वरूप उसकी जान गई और कन्नौज की गौरव–गरिमा भी समाप्त हो गई। मुसलमान आक्रमणकारियो को भारत मे बुला कर देश–द्रोह करने की जो अनुश्रुति उसके सबध मे प्रचलित है, वह सर्वथा निराधार और अप्रामाणिक है।

पृथ्वीराज अथवा राय पिथौरा चाहमान ( चौहान ) राजवश का अत्यत प्रसिद्ध राजा था। वह तोमर वश के राजा अनगपाल के पश्चात् दिल्ली राज्य का अधिपति हुआ था। उसे अनगपाल का दौहित्र और उत्तराधिकारी कहा जाता है। उसके राज्य मे दिल्ली से लेकर अजमेर तक का विस्तृत भू–भाग था। उसने स० १२२० से स० १२४८ तक शासन किया था। उसने अपनी राजधानी दिल्ली नगर के नव निर्माण मे बडा योग दिया था। उससे पहिले तोमर नरेश ने दिल्ली मे एक गढ के निर्माण का आयोजन किया था, जिसे पृथ्वीराज ने विशाल रूप देकर पूर्ण किया था। दिल्ली का वह पुराना किला 'राय पिथौरा का गढ' कहलाता है, जो वर्तमान दिल्ली के निकट महरौली मे साडे चार मील के घेरे मे था। उसमे अनेक महल और मदिर–देवालय भी थे, जो अब खडहर हो गये है। उस विशाल दुर्ग का निर्माण स० १२३७ से स० १२४३ की अवधि मे हुआ था। उसके अदर वह प्रसिद्ध मीनार और लोहे की कीली थी, जिसे अब 'कुतुब मीनार' और 'दिल्ली की लाठ' कहते है। किवदती के अनुसार उन दोनो को भी अनगपाल अथवा पृथ्वीराज ने ही बनवाया था, किंतु यह कथन ठीक नही है। 'कुतुब मीनार' सभवत उस बेधशाला का स्तभ है, जिसे समुद्र गुप्त ने आकाश के ग्रहो की चाल का ज्योतिष के अनुसार अध्ययन करने के लिए यहाँ बनवाया था। 'दिल्ली की लाठ' वह विष्णुध्वज है, जिसे समुद्रगुप्त के यशस्वी पुत्र चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने सभवत मथुरा मे स्थापित किया था। ऐसा जान पडता है, पृथ्वीराज के पूर्ववर्ती तोमर राजा अनगपाल ने उसे मथुरा से लाकर दिल्ली मे लगाया था। पृथ्वीराज अपने सपय का सबसे प्रसिद्ध वीर पुरुष था। उसने अपने समय के विदेशी आक्रमणकारी महम्मदगोरी को कई बार पराजित किया था, किंतु अत मे अपने प्रमाद और तत्कालीन राजपूत राजाओ के पारस्परिक विद्वेप के कारण उसकी पराजय हुई थी। वह कन्नौज के राजा जयचद्र का समकालीन था। उन दोनो प्रसिद्ध राजाओ मे कतिपय कारणो से बडा विद्वेष हो गया था, जिसके कारण उन दोनो को महम्मद गोरी से पराजित होना पडा था। उनसे सबधित घटनाओ का काव्यात्मक कथन 'पृथ्वीराज रासो' मे हुआ है।

**'पृथ्वीराज रासो' का कथानक तथा जयचद्र–पृथ्वीराज की कलह**—'पृथ्वीराज रासो' एक वृहत् महाकाव्य है, जिसे पृथ्वीराज के समकालीन और उसके दरबारी कवि चद द्वारा ऐतिहासिक घटनाओ के आधार पर रचा हुआ कहा जाता है। किंतु अब यह सिद्ध हो गया है कि न तो इसकी रचना पृथ्वीराज के समकालीन किसी कवि द्वारा हुई और न इसमे वर्णित घटनाएँ ही ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा प्रामाणिक है। कुछ विद्वानो का मत है, यह १६ वी शती से पहिले की रचना नही है। उसी काल के किसी चद नामक भाट कवि ने पृथ्वीराज सबधी अनुश्रुतियो के आधार पर इस काव्य की रचना की थी। उसमे तिथि-सवत् भी उसने मनमाने ढग से लिखे हैं, जो प्राय. अशुद्ध है। यदि पृथ्वीराज के समकालीन किसी कवि ने ही इसे रचा था, तो उसकी मूल रचना का

**'आल्हखंड' और महोवा का युद्ध**—'आल्हखड' एक लोक काव्य है, जिसका रचयिता जगनिक या जगनायक नामक कोई भाट कवि कहा जाता है। इस ग्रथ मे पृथ्वीराज और महोवा के विख्यात योद्धा आल्हा–ऊदल के युद्धो का अत्यत वीरतापूर्ण वर्णन हुआ है। पृथ्वीराज ने अपनी वीरता के प्रदर्शन और राज्य विस्तार के लिए अपने समकालीन कई राजाओ मे अनेक युद्ध किये थे। उनमे महोवा के युद्ध ने लोक–गाथाओ मे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। उसी का वर्णन 'आल्हखड' मे किया गया है, किंतु इसमे वर्णित घटनाओ का ऐतिहासिक मूल्य नगण्य है।

'आल्हखड' से ज्ञात होता है, पृथ्वीराज के समय महोवा का चदेल राजा परमाल था, जो इतिहास मे परमर्दि देव के नाम से प्रसिद्ध है। परमाल स्वयं तो कोई वडा वीर नही था, किंतु उसके सामत आल्हा–ऊदल के कारण उसकी शक्ति वहुत वढी हुई थी। आल्हा–ऊदल दोनो भाई थे। आल्हा के पुत्र का नाम इदल था। वे तीनो वीर योद्वा वनाफर जाति के राजपूत थे। आल्हा का एक मौसेरा भाई मलखान था, जो चदेल राज की ओर से सिरसा का शासक था। वह भी प्रवल वीर था। उन सवने परमाल की तरफ से पृथ्वीराज से युद्ध किया था। परमाल की सैन्य शक्ति पृथ्वीराज की अपेक्षा वहुत कम थी, किंतु अपने उन महावीर योद्धाओ के कारण उसने पृथ्वीराज से कडा सघर्ष किया था। 'आल्हखड' मे आल्हा–ऊदल की वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण कथन किया मया है। उसमे कई अवसर पर पृथ्वीराज की हार वतलाई गई है, जो कल्पना मात्र है। महोवा के युद्ध मे पृथ्वीराज के अनेक वीर सेनानायक मारे गये थे, किंतु परिणाम मे उसकी जीत और परमाल की हार हुई थी। आल्हा–ऊदल भी सभवत उसी युद्ध मे वीर-गति को प्राप्त हुए थे। वह युद्ध स० १२३९ के लगभग हुआ था।

**'पृथ्वीराज रासो' और 'आल्हखड' की तुलना**—ये दोनो ही ऐतिहासिक काव्य कहे जाते है, किंतु दोनो की घटनाएँ इतिहास द्वारा प्रामाणिक सिद्ध नही होती है। 'पृथ्वीराज रासो' मे पृथ्वीराज की और 'आल्हखड' मे आल्हा–ऊदल की वीरता का अतिरजित और अतिशयोक्तिपूर्ण कथन किया गया है। 'पृथ्वीराज रासो' का रचयिता चद और 'आल्हखड' का रचयिता जगनिक दोनो ही भाट थे। उन दोनो की रचनाएँ ही मूल रूप मे उपलब्ध नही है। जो रचनाएँ इस समय मिलती है, वे प्रक्षिप्त होने के कारण मूल रूप से सर्वथा भिन्न है। 'आल्हखड' तो विलकुल आधुनिक रचना है। दोनो ही रचनाएँ लोक काव्य की श्रेणी की है और दोनो ही अपने–अपने क्षेत्रो मे वडी लोकप्रिय रही है। जहाँ तक लोकप्रियता और प्रसिद्धि का प्रश्न है, 'आल्हखड' का स्थान 'पृथ्वीराज रासो' से कही ऊँचा है, किंतु काव्योत्कर्ष की दृष्टि से उसकी रासो से कोई तुलना नही है। 'पृथ्वीराज रासो' आल्हखड की अपेक्षा कही अधिक उत्कृष्ट काव्य है।

**महम्मद गोरी**—जिस समय उत्तरी भारत मे पृथ्वीराज और जयचद्र जैसे वीर राजाओ के राज्यो की धूम थी, उसी समय अफगानिस्तान मे शहाबुद्दीन महम्मद नामक एक मुसलमान सरदार ने महमूद गजनवी के वशजो से राज्याधिकार छीन कर एक नये मुस्लिम राज्य की स्थापना की थी। वह गोर नामक स्थान का निवासी था, इसलिए महम्मद गोरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। वह वडा महत्वाकाक्षी और साहसी सैनिक था। महमूद गजनवी की तरह वह भी भारत पर आक्रमण करना चाहता था, किंतु उसका उद्देश्य लूट–मार के साथ ही साथ यहाँ राज्य–स्थापन करना भी था। उस काल मे भारत के पश्चिमोत्तर सीमात से लेकर एक ओर

पश्चिमी पंजाब तक और दूसरी ओर मुलतान एवं सिंध तक मुसलमानों का अधिकार था, जिसके अधिकांश भाग पर महमूद के वंशज गज़नवी सरदार शासन करते थे। महम्मद गोरी को भारत के आंतरिक भाग तक पहुँचने के लिए पहिले उन मुसलमान शासकों से और फिर वहाँ के वीर राजपूतों से युद्ध करना था; अतः वह पूरी तैयारी के साथ भारत पर आक्रमण करने का आयोजन करने लगा।

**गोरी के आक्रमण**—महम्मद गोरी ने अपना पहिला आक्रमण सं० १२३२ में मुलतान पर किया था, जिसमें वहाँ के मुसलमान शासक को पराजित होना पड़ा। उससे उत्साहित होकर उसने अपना दूसरा आक्रमण सं० १२३५ में गुजरात के बघेल राजा भीम द्वितीय की राजधानी अन्हिलवाड़ा पर किया, किंतु राजपूत वीरों की प्रबल मार से वह पराजित हो गया। इस प्रकार भारत के हिंदू राजाओं की ओर मुँह उठाते ही उसे आरंभ में ही चोट खानी पड़ी थी। किंतु वह महत्वाकांक्षी मुसलमान आक्रांता उस पराजय से हतोत्साह नहीं हुआ। उसने अपने अभियान का मार्ग बदल दिया। वह तब पंजाब होकर भारत-विजय का आयोजन करने लगा। उस काल में पेशावर और पंजाब के शासक महमूद के जो वंशज थे, वे शक्तिहीन हो गये थे, अतः उन्हें पराजित करना गोरी को सरल ज्ञात हुआ। फलतः सं० १२३६ में उसने पेशावर पर आक्रमण कर वहाँ के ग़ज़नवी शासक को परास्त किया। उसके बाद उसने पंजाब के अधिकांश भाग को भी ग़ज़नवी के वंशजों से छीन लिया और वहाँ पर अपनी सुदृढ किलेबंदी कर भारत के हिंदू राजाओं पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगा।

गोरी के भारतीय राज्य की सीमा तब दिल्ली के विख्यात चाहमान वीर पृथ्वीराज के राज्य से जा लगी थी, अतः आगे बढ़ने के लिए उसे एक पराक्रमी शत्रु से मोर्चा लेना था। उससे पहिले महमूद के वंशज गज़नवी शासकों से हिंदू राजाओं के भी कई संघर्ष हुए थे, किंतु वे छोटी-मोटी स्थानीय लड़ाइयाँ थीं और उनमें प्रायः हिंदू राजाओं की ही विजय हुई थी। महम्मद गोरी ने पृथ्वीराज के विरुद्ध जो अभियान किया, वह एक प्रबल आक्रमण था। इसलिए महमूद गजनवी के बाद महम्मद गोरी ही भारत पर चढ़ाई करने वाला दूसरा मुसलमान आक्रांता माना गया है।

**गोरी और पृथ्वीराज का युद्ध**—महम्मद गोरी और पृथ्वीराज में कितने युद्ध हुए थे, इस विषय में इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। किंवदंतियों के अनुसार गोरी ने १८ बार पृथ्वीराज पर आक्रमण किया था, जिनमें १७ बार उसे पराजित होना पड़ा। किसी भी इतिहासकार को किंवदंतियों के आधार पर अपना मत बनाना कठिन होता है। इस विषय में इतना निश्चित है कि गोरी और पृथ्वीराज में कम से कम दो भीषण युद्ध अवश्य हुए थे, जिनमें प्रथम में पृथ्वीराज विजयी और दूसरे में पराजित हुआ था। वे दोनों युद्ध थानेश्वर के निकटवर्ती तराइन या तरावड़ी के मैदान में क्रमशः सं० १२४७ और १२४८ में हुए थे।

उन युद्धों से पहिले पृथ्वीराज कई हिंदू राजाओं से अनेक लड़ाइयाँ कर चुका था। चंदेल राजाओं को पराजित करने में उसे अपने कई विख्यात सेनानायकों और अनेक वीरों को खोना पड़ा था। जयचंद्र के साथ होने वाले संघर्ष में भी उसके बहुत से वीरों की हानि हुई थी। फिर उन दिनों पृथ्वीराज अपने वृद्ध मंत्री पर राज्य भार छोड़ कर आप संयोगिता के साथ विलास-क्रीड़ा में लगा हुआ था। उन सब कारणों से उसकी सैन्य शक्ति अधिक प्रभावशालिनी नहीं थी, फिर भी उसने गोरी के दाँत खट्टे कर दिये थे।

स० १२४७ मे जब पृथ्वीराज से महम्मद गोरी की विशाल सेना का सामना हुआ, तब राजपूत वीरो की विकट मार से मुसलमान सैनिको के पैर उखड गये। स्वय गोरी भी पृथ्वीराज के अनुज के प्रहार से बुरी तरह घायल हो गया था। यदि उसका खिलजी सेवक उसे घोडे पर डाल कर युद्ध भूमि से भगाकर न ले जाता, तो वही पर उसके प्राण पखेरू उड जाते। उस युद्ध मे गोरी की भारी पराजय हुई थी और उसे भीपण हानि उठाकर भारत भूमि से भागना पडा था। भारतीय राजा के विरुद्ध युद्ध अभियान मे वह उसकी दूसरी वडी पराजय थी, जो अन्हिलवाडा के युद्ध के पश्चात् उसे सहनी पडी थी।

**पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु**—महम्मद गोरी उस अपमानजनक पराजय का वदला लेने के लिए भारी तैयारी करने लगा। अगले वर्ष वह १ लाख २० हजार चुने हुए अश्वारोहियो की विशाल सेना लेकर फिर तराइन के मैदान मे आ डटा। उधर पृथ्वीराज ने भी उससे मोर्चा लेने के लिए कई राजपूत राजाओ को आमन्त्रित किया था। कुछ छोटे राजाओ ने तो अपनी सेनाएँ भेज दी, किंतु उस काल का सबसे प्रवल गाहड़वाल वशीय कन्नौज नरेश जयचद्र उससे तटस्थ रहा था। ऐसी किंवदती है कि पृथ्वीराज से विद्वेष रखने के कारण जयचद्र ने ही महम्मद गोरी को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया था। उस किंवदती की सत्यता का कोई प्रामाणिक आधार नही है, अत जयचद्र पर देश-द्रोह का दोपारोपण करना भी अप्रामाणिक ज्ञात होता है। उसमे केवल इतनी ही सत्यता है कि उसने उस अवसर पर पृथ्वीराज की सहायता नही की थी। पृथ्वीराज के राजपूत योद्धाओ ने उस वार भी मुसलमानी सेना पर भीपण प्रहार कर अपनी वीरता का परिचय दिया था, किंतु देश के दुर्भाग्य से उन्हे पराजित होना पडा। इस प्रकार स० १२४८ के उस युद्ध मे महम्मद गोरी की विजय और पृथ्वीराज की पराजय हुई थी।

युद्ध मे पराजित होने के पश्चात् पृथ्वीराज की किस प्रकार मृत्यु हुई, इस विषय मे इतिहासकारो के विभिन्न मत मिलते है। कुछ के मतानुसार वह पहिले वदी वनाकर दिल्ली मे रखा गया था और वाद मे गोरी के सैनिको द्वारा मार दिया गया था। कुछ का मत है कि वह वदी वनाकर गजनी ले जाया गया था और वहाँ पर उसकी मृत्यु हुई थी। ऐसी भी किंवदती है कि पृथ्वीराज का दरवारी कवि और सखा चद अपने स्वामी की दुर्दिन मे सहायता करने के लिए गजनी गया था। उसने अपने वुद्धि-कौशल से पृथ्वीराज द्वारा गोरी का सहार करा कर उससे वदला लिया था। फिर गोरी के सैनिकों ने उन दोनो को भी मार डाला था। उस किंवदती का कोई ऐतिहासिक आधार नही है, अत वह प्रामाणिक ज्ञात नही होती है।

**जयचद्र की पराजय और वीर-गति**—महम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज के पराजित होने से मुसलमानो का आधिपत्य पजाव से आगे दिल्ली के वडे राज्य तक हो गया था। उस विशाल भू-भाग पर अपना अधिकार स्थिर रखने के लिए गोरी ने अपने सेनानायक कुतुबुद्दीन एवक को वहाँ का शासक नियुक्त किया। उसके वाद उसने कन्नौज के विरुद्ध अपना अभियान आरभ किया। कन्नौज का राजा जयचद्र उस काल का सवसे शक्तिशाली हिंदू नरेश था; किंतु उसकी शक्ति भी वगाल के सेन राजाओं से निरतर युद्ध करते रहने से क्षीण हो गई थी। फिर भी उसने वडी वीरता से गोरी की सेना का सामना किया, किंतु दुर्भाग्य से उसे भी स० १२५१ मे पराजित होना पडा था। उस युद्ध का वर्णन करते हुए डा० आशीर्वादीलाल ने लिखा है—"जयचद्र की सेना ने

शत्रु पर भयकर प्रहार किये। गोरी घुटने टेकने ही वाला था कि राजा की आँख में एक घातक बाण लगा और वह मारा गया। इस दुर्घटना से हिंदू सेना में घबराहट फैल गई और भाग्य से गोरी जीत गया। जिस स्थान पर वह निर्णायक युद्ध हुआ था, उसका नाम चदावर लिखा गया है। वह स्थान पहिले कन्नौज तथा इटावा के बीच यमुना के किनारे का चदावर समझा जाता था, किंतु आधुनिक अनुसधानो से वह फीरोजाबाद के निकट का चदवार गाँव निश्चित हुआ है[1]।' वह युद्ध मुसलमानो के लिए ऐतिहासिक महत्व का सिद्ध हुआ, क्यो कि उसके बाद ही भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना सभव हुई थी।

**गोरी और उसके सेनापतियो के अन्य आक्रमण**—जयचद्र को पराजित करने के बाद महम्मद गोरी अपने गुलाम सेनापति कुतुबुद्दीन एबक को भारत में छोड कर स्वय स्वदेश चला गया था। कुतुबुद्दीन ने गोरी के भारतीय राज्य का शासन सँभालने की चेष्टा की; किंतु उसके लिए उसे हिंदू राजाओ से बडा सघर्ष करना पडा था। हिंदू राजाओ ने पहिले यह समझा था कि गोरी भी इस देश में लूट–मार कर चला जावेगा, किंतु जब उसके प्रतिनिधि यहाँ जम कर बैठ गये, तब उन्होंने उनको उखाडने के लिए कई बार विद्रोह किये थे। कुतुबुद्दीन तथा दूसरे मुस्लिम सेना-नायक उन्हे दबाने के लिए जहाँ–तहाँ दौडते फिरते थे। उन्होंने बयाना के यादव राजा को पराजित कर वहाँ के 'विजय मदिर गढ' पर अधिकार कर लिया और फिर ग्वालियर के दुर्ग पर घेरा डाला। वे लोग बडी कठिनता और बडे सघर्ष के बाद उस दुर्ग पर भी अधिकार करने में सफल हो गये। कुतुबुद्दीन ने मालवा, गुजरात तथा बुंदेलखड में मार–काट मचा दी थी और उसके साथी बख्तियार खिलजी ने बिहार को बर्बाद कर दिया था। वहाँ की बर्बादी का सबसे दुखान्त प्रकरण नालदा और विक्रमशिला के विख्यात विश्वविद्यालयो का सर्वनाश करना था। बर्बर आक्रमण-कारियो ने उन विद्या–केन्द्रो के अनेक विद्वान प्राध्यापको तथा शिक्षा प्राप्त करने वाले बहुसख्यक छात्रो की हत्या की और वहाँ के प्राचीन ग्रथ भडारो को जला डाला। भारतीय ज्ञान–विज्ञान और विद्या–कला के वे विश्वविख्यात केन्द्र स० १२६० के लगभग नष्ट किये गये थे।

बिहार को बर्बाद करने से बख्तियार का साहस बहुत बढ गया था। वह फिर बगाल पर चढ दौडा। वहाँ का वृद्ध राजा लक्ष्मणसेन राज्य प्रबंध और रक्षा व्यवस्था के प्रति उदासीन होकर दिन–रात विद्या–विनोद और साहित्य–चर्चा में लगा रहता था। उसकी राजसभा में महाकवि जयदेव के अतिरिक्त उमापति, शरण, धोयी और गोवर्धन जैसे दिग्गज विद्वान थे। लक्ष्मणसेन को स्वप्न में भी आशका नहीं थी कि विदेशी आक्रमणकारी उसके सुदूर राज्य तक धावा मारेंगे। बख्तियार ने बेखबर राजा को अकस्मात जा दबाया और उसे पराजित कर दिया। लक्ष्मणसेन की पराजय से उसकी विद्यासभा भी बिखर गई, फलत देश के अन्य भागो की तरह बगाल में भी अज्ञान का अधकार छा गया।

**गोरी की मृत्यु और भारत मे मुसलमानी राज्य की स्थापना**—इधर गोरी के सेनापति उत्तर भारत में दूर–दूर तक धावा मार कर वहाँ के भारतीय राजाओ से सघर्ष कर रहे थे, उधर दिल्ली और पजाब में विद्रोह हो गया था। कुतुबुद्दीन दिल्ली के विद्रोहियो को दबाने में व्यस्त था,

---

(१) दिल्ली सल्तनत, पृष्ठ ७९

अत पजाब की जनता को दड देने के लिए स्वय महम्मद गोरी को आना पडा। जब वहाँ की स्थिति को ठीक कर वह स्वदेश वापिस जा रहा था, तभी मार्ग मे विद्रोहियो ने उसे मार डाला। इस प्रकार स० १२६३ ( १५ मार्च, सन् १२०६ ) मे महम्मद गोरी का अत हुआ था। उसका समस्त जीवन मार-काट और लडाई-झगडे करते हुए ही बीता था, इसलिए उसे कभी चैन से बैठने का सुयोग नही मिला था। फिर भी वह भारत मे उस मुसलमानी राज्य की नीव डाल गया, जो उसके बाद कई शताब्दियो तक यहाँ कायम रहा था।

## कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियाँ

**राजनैतिक स्थिति**—ब्रज सस्कृति के इतिहास का 'मध्य काल' केवल ६६३ वर्ष का है, किंतु इसमे होने वाली अभूतपूर्व घटनाओ से इसका महत्व बहुत बढ गया है। हर्ष के साम्राज्य का उदय और अत, राजपूतो की शक्ति का विस्तार और उनके बहुसख्यक राज्यो का प्रसार तथा मुसलमानो के आक्रमण का आरभ और फिर उनके राज्य सस्थापन का सूत्रपात इस काल की ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएँ है, जिन्होने मथुरा राज्य की राजनैतिक स्थिति पर युगातरकारी प्रभाव डाला था। इस काल के आरभ मे हर्षवर्धन जैसा यशस्वी सम्राट हुआ, जो भारतवर्ष के अत्यत प्रसिद्ध राज्याध्यक्षो की परपरा मे माना जाता है। वह वीर योद्धा और सुयोग्य शासक था और उसने साम्राज्य की व्यवस्था भी ठीक रखी थी, किंतु अपनी प्रकृति से वह राजकीय पुरुष की अपेक्षा सास्कृतिक व्यक्ति अधिक था। वह भी अशोक की भाँति राज्य शासन से उदासीन होकर धर्मोन्नति के कार्यो मे अधिक रुचि लेता था। फलत उसके बाद उसके साम्राज्य की भी वही दशा हुई, जो अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य की हुई थी। हर्ष के शासन काल मे मथुरा राज्य उसके साम्राज्य का एक अग था। उस समय की किसी विशेष राजनैतिक घटना का तो उल्लेख नही मिलता है, किंतु हर्ष के साम्राज्य की दो महत्वपूर्ण इकाइयो—थानेश्वर और कन्नौज के राज्यो के बीच मे होने के कारण उसका राजनैतिक महत्व मान्य था। हर्ष के बाद उसके साम्राज्य के कई अन्य भागो की तरह मथुरा राज्य भी सभवत स्वाधीन हो गया था, किंतु उसके राजाओ की गति-विधियो का कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है।

महमूद गजनवी के आक्रमण काल मे मुसलमानी सूत्रो के अनुसार मथुरा मे एक वीर योद्धा कुलचद्र ( कूलचद ) हुआ था। उसने विदेशी आक्रमणकारियो से मथुरा राज्य की रक्षा करते हुए अपने सर्वस्व की आहुति दी थी। यदि कुलचद्र की वश परपरा, उसके राज्य का विस्तार और तत्सबधी राजकीय घटनाओ का प्रामाणिक विवरण उपलब्ध होता, तो वह इस काल की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता। फिर भी गजनवी काल के लेखक अलउत्बी के उल्लेख से यह भली भाँति ज्ञात होता है कि उस समय मथुरा एक शक्तिशाली और समृद्ध राज्य था। उसके राज्याध्यक्ष के अधिकार मे विशाल सेना सहित सुदृढ दुर्ग और सम्पन्न नगर थे। मथुरा नगर की उस काल की समृद्धि अपूर्व थी। अतर्राष्ट्रीय वाणिज्य का केन्द्र और इस देश के प्रमुख व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने से यहाँ के नर-नारी धन-धान्य से पूर्ण थे। उनके बडे-बडे भवन, मदिर और बाग-बगीचे थे। यहाँ के मदिर-देवालयो मे विभिन्न धर्मो के अनुयायियो द्वारा प्रदत्त अपार सपत्ति सचित थी। इन सब बातो से मथुरा राज्य की समुन्नत राजनैतिक अवस्था का बोध होता है। गजनवी और गोरी के आक्रमणो ने उसे विकृत कर दिया था।

**धार्मिक स्थिति**—इस काल मे मथुरा राज्य की धार्मिक स्थिति अत्यन्त उन्नत थी। यहाँ पर विविध धर्मो के मदिर–देवालय थे, जो देश के सभी स्थानो की धर्म–प्राण जनता के आकर्षण–केन्द्र थे। महमूद गजनवी के आक्रमण मे यहाँ के कृष्ण–जन्मस्थान वाले सुप्रसिद्ध मदिर का ध्वस हुआ था और दूसरे मदिर–देवालयो की भी वडी क्षति हुई थी; किंतु उसकी बहुत-कुछ पूर्ति उस समय के राजपूत राजाओ ने कर दी थी। उस काल मे पौराणिक हिंदू धर्म का नवोत्थान हुआ था और मथुरा उसका एक वडा केन्द्र एव प्रसिद्ध तीर्थ स्थान माना जाता था। उस काल के प्राय सभी राजपूत राजागण पौराणिक हिंदू धर्म के अनुयायी थे, अत उन सब को मथुरा की धार्मिक महत्ता मान्य थी। वे राजागण आपस मे लडते हुए एक दूसरे के राज्य को क्षति पहुँचाते रहते थे, किंतु मथुरा के प्रति उन सब की श्रद्धा थी। श्री कृष्ण–जन्मस्थान से प्राप्त १० वी शताव्दी के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि दक्षिण के जिन राष्ट्रकूटो ने प्रतिहार राज्य पर आक्रमण कर कन्नौज को वडी हानि पहुँचाई थी, उन्होंने मथुरा मे आकर यहाँ के कृष्ण–जन्मस्थान पर धार्मिक आयोजन किये थे। मुसलमानो के आक्रमण और उनके राज्य की स्थापना से यहाँ की राजनैतिक स्थिति की भाँति धार्मिक स्थिति पर भी वडा प्रतिकूल प्रभाव पडा था।

मुसलमानो से पहिले भी इस देश पर विदेशियो के आक्रमण हुए थे और उन्होंने मुसलमानो की तरह यहाँ लूट–मार भी की थी, किंतु उनके द्वारा यहाँ की धार्मिक स्थिति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पडा था। उसका कारण यह था कि उन आक्रमणकारियो को अपने किसी धर्म का आग्रह नही था और वे अन्य धर्मो के प्रति असहिष्णु भी नहीं थे। यहाँ तक कि वे भारतीय धर्मो को स्वीकार कर स्वय उनके समर्थक और प्रचारक हो गये थे। उनके विरुद्ध मुसलमानो के आक्रमण का उद्देश्य ही अपने धर्म का प्रचार करना था, जिसे उन्होंने तलवार के वल पर किया था। उस काल के प्राय सभी धर्मो मे मूर्ति–पूजा मान्य थी और मथुरा मे उन सबके मदिर–देवालय और पूजा–स्थान थे। इस्लाम मे मूर्ति–पूजा को कुफ्र माना गया है, अत उस काल के मुसलमान आक्रमणकारी देव–स्थानो को नष्ट–भ्रष्ट कर उनकी मूर्तियो को तोडना अपना मजहवी फर्ज समझते थे। महमूद गजनवी ने जहाँ मथुरा की अपार धन–सपत्ति को लूटा था, वहाँ उसने यहाँ के मदिरो और उनकी मूर्तियो को भी नष्ट किया था। उसके वाद के मुसलमान आक्रमणकारी भी वही करते रहे थे। उनके कारण मथुरा की धार्मिक स्थिति सदैव वडी शोचनीय रही थी।

**राजपूतो की पराजय और मुसलमानो की सफलता का कारण**—उस काल में यहाँ राजपूत राजाओ के अनेक राज्य थे, जिन्होंने अपनी प्रवल सैन्य शक्ति से मुसलमान आक्रमण-कारियो का सामना किया था। राजपूत वीर, साहसी और शक्ति सम्पन्न होते हुए भी क्यो पराजित हो गये और विदेशी मुसलमान आक्रमणकारियो को क्यो इतनी सफलता मिली ?—ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका समुचित उत्तर इस काल की सवसे वडी उपलब्धि माना जा सकता है। राजपूतो की पराजय और मुसलमानो की सफलता के कई कारण थे, जिन्हे सक्षेप मे यहाँ लिखने की चेष्टा की गई है।

उस काल के राजपूत राजाओ मे सगठन और एकता का वडा अभाव था, जव कि आक्रमणकारी पूरी तरह सगठित और मजहवी एकता के सूत्र मे आवद्ध थे। राजपूत राजाओ के पारस्परिक वैमनस्य और विद्वेप के कारण उन्हे मुसलमानो ने एक–एक कर पराजित कर दिया।

फिर राजपूतो की रणनीति मुसलमानो की अपेक्षा दोषपूर्ण थी। राजपूती सेना युद्ध के समय दक्षिण, वाम और मध्य—इन तीन भागो मे विभाजित होकर शत्रु का सामना करती थी, जब कि मुसलमानी सेना मे उन तीन भागो के अतिरिक्त एक चौथा भाग सुरक्षित सैन्य टुकडी का भी होता था। जब दोनो सेनाएँ भीषण युद्ध करते-करते थक जाती थी, तब मुसलमानो के ताजादम सुरक्षित सैनिक अचानक राजपूतो पर टूट पडते थे, जिससे उन्हे पराजित होना पडता था। राजपूत सेना मे छोटे घोडे और विशालकाय हाथी थे, जो मुसलमानो के तेज घोडो की तुलना मे निकम्मे सिद्ध हुए थे। उनके हाथी तो कभी-कभी ऐसे भडक जाते थे कि वे शत्रुओ की अपेक्षा उनकी सेना को ही रोद डालते थे। राजपूत सदैव धर्म युद्ध करते थे, किंतु आक्रमणकारियो को छल-कपट का व्यवहार करने मे भी कोई सकोच नही था। कभी-कभी आक्रमणकारी युद्ध क्षेत्र से भागने का दिखावा करते थे, जिसके धोखे मे राजपूती सेना की व्यूह-रचना भग हो जाती थी। उसी समय आक्रमणकारी लौट कर बडे प्रबल वेग से धावा बोल देते थे। वे कूए-तालाबो मे गो-मास डाल कर उन्हे भ्रष्ट कर देते थे, जिससे राजपूती सेना को पीने के पानी का अभाव हो जाता था। वे ऐसे ही अनेक जघन्य कृत्य करते थे, जिनके बारे मे राजपूत कभी सोच भी नही सकते थे।

गजनवी काल के इतिहासज्ञ अलबेरुनी ने लिखा है कि भारत मे भगी, चमार और जुलाहे आदि आठ श्रेणियो के व्यक्तियो को नगरो के बाहर रहने का अधिकार था, जब कि चातुर्वर्ण्य के लोग नगरो मे अदर रहते थे। उसके आधार पर मुसलमानो की विजय का निष्कर्ष प्रो० महम्मद हबीब और खलीक अहमद निजामी ने यह निकाला है कि जब मुसलमानो ने उन नगरो पर आक्रमण किया, तब उन निम्न श्रेणियो के लोगो ने विद्रोह और क्राति कर दी थी, जिसके फल स्वरूप नगर के अदर के व्यक्तियो को आक्रमणकारियो के सम्मुख झुकना पडा था। अलबेरुनी को यहाँ की नगर योजना को समझने मे कुछ भ्रम हुआ है, फलत उस पर आधारित मुस्लिम विद्वानो के निष्कर्ष भी यथार्थ नही है। प्राचीन भारत की नगर-योजना से सबधित अनेक ग्रथ उपलब्ध है, जिनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि नगरो के अदर ही सब जातियो, वर्गों और धधो के लोगो के निवास स्थान नियत किये जाते थे। निम्न श्रेणी के लोगो द्वारा विद्रोह अथवा क्राति कर विदेशी आक्रमणकारियो को सहायता देने का एक भी उदाहरण इतिहास मे नही मिलता है।

उक्त मुस्लिम विद्वानो ने हिंदुओ के कठोर और जटिल जाति-विधान को भी मुसलमानो की विजय मे सहायक माना है, किंतु वह भी कपोल-कल्पना मात्र है। उस काल मे निम्न जातियो को चाहे कितनी ही सामाजिक असुविधा होती थी, किंतु उन्होने कभी देश-द्रोह कर मुसलमान आक्रमणकारियो को सहायता दी हो, अथवा स्वेच्छा से उनके धर्म को स्वीकार किया हो, उसके भी उदाहरण नही मिलते है। उस काल मे यहाँ के धार्मिक विद्वानो और विचारको ने स्वय ही जाति-विधान की कठोरता को कम करने और निम्न जातियो के लोगो की असुविधाओ को दूर करने का प्रबल प्रयत्न किया था। उसके लिए बौद्ध सिद्धो, नाथो और योगियो ने जो धार्मिक क्राति की थी, वह इतिहास से प्रमाणित है।

मुस्लिम विद्वानो के उपर्युक्त तर्कों और निष्कर्षों का प्रामाणिक एव युक्तिसगत खडन करते हुए श्री बुद्धप्रकाश ने लिखा है कि मुसलमानो की विजय और हिंदू राजाओ की पराजय का कारण न तो उस काल की नगर-योजना थी, न निम्न जातियो का विद्रोह था और न जाति-पाति

## चतुर्थ अध्याय

# उत्तर मध्य काल

[ विक्रम सं० १२६३ से सं० १८८२ तक ]

**मुसलमानी राज्य की स्थापना**—पृथ्वीराज और जयचंद्र जैसे प्रबल राजपूत राजाओं की सं० १२४८ और सं० १२५१ में पराजय होने के उपरांत महम्मद गोरी द्वारा भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना की गई और दिल्ली उसकी शासन-सत्ता का प्रधान केन्द्र निश्चित हुई। उसके बाद महम्मद गोरी इस नये राज्य की देख-भाल का काम अपने सेनापति कुतुबुद्दीन पर छोड़ कर आप स्वदेश वापिस चला गया। जब तक महम्मद गोरी जीवित रहा, तब तक कुतुबुद्दीन उसके अधीनस्थ शासक के रूप में मुसलमानी सत्ता को जमाने के लिए दौड़-धूप करता रहा था। सं० १२६३ में गोरी की मृत्यु हो गई। उसके बाद कुतुबुद्दीन भारत के मुसलमानी राज्य का प्रथम स्वतंत्र शासक बन गया और उसने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। इस प्रकार आरंभ से ही दिल्ली मुसलमानी राज्य की राजधानी हुई और उसके अंत तक बनी रही थी। मुगल काल में आगरा को भी दूसरी राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ था, किंतु शाहजहाँ ने फिर दिल्ली को ही एक मात्र राजधानी रखा था।

**दिल्ली की राजकीय परंपरा**—दिल्ली का प्राचीन नाम इंद्रप्रस्थ है, जहाँ कृष्ण-काल में पांडवों की राजधानी थी। महाभारत के पश्चात् दिल्ली का वह महत्व समाप्त हो गया। कालांतर में पहिले राजगृह-पाटलिपुत्र ( पटना ) को और फिर कन्नौज को भारत की प्रमुख राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ था। राजपूती काल में अनंगपाल तोमर ने उजड़ी हुई दिल्ली को ११ वीं शताब्दी में फिर से बसाया और पृथ्वीराज चौहान के काल में उसका महत्व बहुत बढ़ गया था। जब मुसलमानों ने भारत में अपने राज्य की स्थापना की, तब उन्होंने दिल्ली को ही अपनी राजधानी बनाया था। उसके बाद फिर अब तक दिल्ली ही भारत की एक मात्र राजधानी रही है। इस प्रकार १२ वीं शताब्दी से अभी तक उसका वह गौरव अक्षुण्ण रहा है।

भारतीय राजाओं के शासन काल में उनकी राजधानियाँ राजनैतिक केन्द्र होने के साथ ही साथ सांस्कृतिक केन्द्र भी रही थी। मुसलमानी काल में दिल्ली राजनैतिक केन्द्र तो थी, किंतु सांस्कृतिक केन्द्र नहीं हो सकी थी। उसका कारण मुसलमानी शासकों का संकीर्ण दृष्टिकोण था। वे लोग-जब्र से इस्लामी मजहब के साथ ही साथ इस्लामी संस्कृति का भी प्रसार करना चाहते थे। मजहब तो बलपूर्वक लादा भी जा सकता है, किंतु संस्कृति का प्रसार सहिष्णुता और सद्भावना से ही होना संभव है। चूँकि अधिकांश मुसलमान शासकों में इन गुणों का अभाव था, अतः वे अपनी राजधानी दिल्ली को भारत का सांस्कृतिक केन्द्र बनाने में असफल रहे थे। दिल्ली कई शताब्दियों तक मुसलमानी शासन की राजधानी रही थी; अतः उस पर मुस्लिम संस्कृति का प्रचुर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, किंतु फिर भी उसका महत्व उसकी भारतीय परंपरा के कारण ही माना गया है।

# १. सल्तनत काल

[ विक्रम सं० १२६३ से सं० १५८३ तक ]

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, भारत में मुसलमानी राज्य का प्रथम स्वतंत्र शासक कुतुबुद्दीन था। उसने सं० १२६३ में दिल्ली को अपनी राजधानी बना कर पहिले 'मलिक' और फिर 'सुलतान' की पदवी धारण की थी। कुतुबुद्दीन से लेकर इब्राहीम लोदी तक दिल्ली में अनेक सुलतान हुए, जिनके कारण सं० १२६३ से सं० १५८३ तक का प्रायः ३२० वर्ष का समय 'सल्तनत काल' कहलाता है। दिल्ली के वे सुलतान कई वंशों के थे। इतिहास में वे गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश, सैयद वंश और लोदी वंश के नामों से प्रसिद्ध हैं। वे सभी वंश तुर्क जाति के थे, केवल एक लोदी वंश पठान जाति का था। यहाँ पर सुलतानों के उन विविध राजवंशों का नामोल्लेख करते हुए उनमें से प्रमुख सुलतानों की कुछ कारगुजारियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

## १ गुलाम वंश ( सं० १२६३ से सं० १३४७ तक )—

**कुतुबुद्दीन** ( सं० १२६३—सं० १२६७ )—इस वंश का आरंभकर्ता कुतुबुद्दीन ऐबक था। वह अपने आरंभिक जीवन में महम्मद गोरी का गुलाम रह चुका था, इसलिए यह वंश गुलाम वंश के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ है। इस वंश में कुतुबुद्दीन के बाद इल्तमश और बलबन जैसे प्रसिद्ध सुलतान हुए, किंतु अपने आरंभिक जीवन में वे सभी गुलाम रह चुके थे। कुतुबुद्दीन वीर सैनिक और सुयोग्य सेनापति था। अपनी प्रतिभा के बल पर ही वह गुलाम की निम्नतम स्थिति से उठ कर सुलतान के उच्चतम पद को प्राप्त कर सका था।

उसने दो मसजिदें बनवा कर भारत में इस्लामी इमारतों के निर्माण का आरंभ किया था। वे मसजिदें हिंदू मंदिरों को तोड़ कर उनके मसाले से एक दिल्ली में और दूसरी अजमेर में बनाई गई थीं। दिल्ली की 'कुतुब मीनार' उसी के नाम से प्रसिद्ध है, किंतु उसे बाद में बनवाया गया था।

**इल्तमश** ( सं० १२६७—सं० १२९२ )—उसका पूरा नाम शमसुद्दीन इल्तमश था। बचपन में वह कुतुबुद्दीन ऐबक का गुलाम रहा था, किंतु अपनी योग्यता के कारण वह पहिले अपने स्वामी का दामाद और फिर उत्तराधिकारी हुआ था। उसने भारत के मुसलमानी इलाके को गोरी के वंशजों की प्रभुता से मुक्त कर उसे स्वतंत्र राज्य की स्थिति प्रदान की थी, अतः वैधानिक रूप से वही दिल्ली का प्रथम सुलतान था।

दिल्ली की 'कुतुब मीनार' इल्तमश के द्वारा बनवाई हुई कही जाती है, किंतु यह अनुश्रुति ठीक नहीं है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, यह मीनार समुद्रगुप्त द्वारा दिल्ली में बनवाई हुई एक वेधशाला का सूर्य स्तंभ है। बाद में अनंगपाल तोमर और पृथ्वीराज चौहान के काल में उसके निकट अनेक मंदिर तथा भवन बनवाये गये थे, जिन्हें मुसलमान आक्रमणकारियों ने दिल्ली पर अधिकार करते ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। कुतुबुद्दीन ने उनके मसाले से 'कुव्वत-उल-इस्लाम' नामक एक मसजिद बनवाई थी और इल्तमश ने उक्त सूर्य स्तंभ में कुछ तोड़-फोड़ कर उसे मुसलमानी मीनार का रूप दिया था। तब तक नव स्थापित मुसलमानी राज्य के

पैर भी नही जम पाये थे; अत उस काल मे वैसी बढिया इमारत का पूरी तरह बनवाना असभव था। फिर इस मीनार की मूल स्थापत्य कला से भी यह हिंदू इमारत ही जान पडती है। मुसलमानी काल मे इसका उपयोग मुल्ला द्वारा 'अजाँ' देने के लिए किया जाता था।

२ खिलजी वश ( स० १३४७ से सं० १३७६ तक )—

**अलाउद्दीन** ( स० १३५३–स०१३७३ )—वह खिलजी वश का सबसे प्रसिद्ध सुलतान था। अपने उपकारी चाचा की हत्या करा कर उसने राज्याधिकार प्राप्त किया था और वह जीवन भर युद्धो द्वारा अपने राज्य की सीमाएँ बढाता रहा था। वह क्रूर और हिंसक प्रकृति का महत्वकाक्षी शासक तथा एक कुशल सेनानायक था। अपने २० वर्ष के शासन काल मे उसने भारत के अधिकाश भाग पर अधिकार कर लिया था। उसके काल मे ही देवगिरि, गुजरात, राजस्थान, मालवा और दक्षिण के अधिकाश भाग पर सर्व प्रथम मुसलमानो का शासन हुआ था। उसने चित्तौड की रानी पद्मिनी के लिए राजपूतो से छलपूर्ण सघर्ष किया, जिसमे हजारो राजपूत नर–नारियो का बलिदान हुआ था। राज्याधिकार प्राप्त करते ही उसकी क्रूर दृष्टि मथुरा पर पडी थी। उसने स० १३५४ मे यहाँ के असिकुडा घाट के निकटवर्ती प्राचीन मदिर को तोड कर उसके मसाले से एक मसजिद बनवाई थी, जो बाद मे यमुना की बाढ से नष्ट हो गई थी।

यद्यपि वह पढा–लिखा नही था, तथापि साहित्य और कला का प्रेमी था। उसके दरबार मे विद्वानो और कलाकारो को आश्रय प्राप्त हुआ था। अमीर खुशरू जैसा प्रसिद्ध विद्वान और कला-मर्मज्ञ उसके दरबार मे था। उसी के काल मे अमीर खुशरू और गोपाल नायक की सगीत प्रतियोगिता हुई थी, जिसमे भारतीय कला का प्रथम बार विदेशी कला से सघर्ष हुआ था।

**अमीर खुशरू**—उसका पिता मध्य एशिया से आया हुआ एक विदेशी मुसलमान था, किंतु खुशरू का जन्म एटा जिला के पटियाली ग्राम मे स० १३१० के लगभग हुआ था। वह दिल्ली के गुलाम वशी सुलतान गयासुद्दीन बलबन के समय मे शाही नौकरी मे आया था और अलाउद्दीन खिजली के काल तक विद्यमान था। उसका देहावसान प्राय ७२ वर्ष की आयु मे स० १३८२ के लगभग दिल्ली मे हुआ था, जहाँ उसका मकबरा बना हुआ है। वह कई भाषाओ का ज्ञाता, फारसी का महाकवि और सगीत का विख्यात विद्वान था। उसने भारतीय सगीत मे अरबी, ईरानी और तूरानी तत्वो का समावेश कर मिश्रित राग और नवीन वाद्य यत्रो का आविष्कार किया था। उसने मनोरजक शैली की कुछ हिंदी कविताएँ भी लिखी थी, जिनसे उसका भारतीय भाषा के प्रति प्रेम प्रदर्शित होता है।

अमीर खुशरू के समय मे दक्षिणी भारत के एक विख्यात सगीतज्ञ गोपाल नायक की बडी ख्याति थी। सगीत ससार मे खुशरू और गोपाल की सगीत–प्रतियोगिता प्रसिद्ध है। इसका उल्लेख फकीरुल्ला, विलर्ड और भातखडे जैसे विख्यात सगीतज्ञो के ग्रथो मे हुआ है। गोपाल दक्षिण से दिल्ली गया था और उसने अलाउद्दीन खिजली के दरबार मे उपस्थित होकर दरबारी सगीतज्ञो को गायन–प्रतियोगिता की चुनौती दी थी। अमीर खुशरू उस काल मे खिलजी दरबार का सर्वश्रेष्ठ सगीतज्ञ था। उसकी गोपाल से सगीत–प्रतियोगिता हुई थी, जिसमे खुशरू ने छलपूर्वक गोपाल को पराजित किया था, किंतु उसके प्रकाड सगीत ज्ञान का लोहा खुशरू को मानना पडा था[1]।

(१) लेखक कृत 'सगीताचार्य बैजू और गोपाल', पृष्ठ १४–१७

## ३ तुगलक वंश ( सं० १३७७ से सं० १४७० तक )—

**महम्मद तुगलक** ( सं० १३८२–सं० १४०८ )—इस वंश के सुलतानों में महम्मद तुगलक का नाम अपने प्रयोगात्मक क्रांतिकारी कार्यों के लिए प्रसिद्ध है। पूर्ववर्ती सुलतानों की राजस्व, कृषि और मुद्रा विषयक नीति में परिवर्तन करने और अपनी राजधानी को दिल्ली से हटा कर देवगिरि ले जाने के उसके ऐसे विचित्र प्रयोग थे, जिनके कारण वह जनता में बड़ा अप्रिय हो गया था। यद्यपि वह विद्वान, कुशाग्रबुद्धि और सूझ–बूझ का व्यक्ति था, तथापि व्यवहार-कुशल न होने के कारण उसका शासन असफल माना जाता है। अनेक इतिहासकारों ने उसके चरित्र का मूल्यांकन किया है, किंतु उनके निष्कर्ष एक–दूसरे से बहुत भिन्न हैं। इस प्रकार दिल्ली के सुलतानों में उसका चरित्र जैसा विवादग्रस्त और मनोरंजक था, वैसा किसी दूसरे का नहीं मिलता है। कुछ इतिहासकारों ने उसे पागल बतलाया है, किंतु वह निश्चय ही पागल नहीं था। उसके शासन काल में इब्नबतूता नामक एक मुसलमान यात्री भारत यात्रा के लिए आया था। वह सं० १३९० में दिल्ली पहुँचा था और वहाँ कई वर्ष तक रहा था। उसने अपने यात्रा–विवरण में महम्मद तुगलक के शासन का विस्तृत उल्लेख किया है।

**फीरोज तुगलक** ( सं० १४०८–सं० १४४५ )—वह महम्मद तुगलक का चचेरा भाई था। उसकी माता भट्टी राजपूत जाति की एक सुंदर रमणी थी, जिसके साथ उसके पिता ने बलपूर्वक निकाह किया था। एक हिंदू माता का पुत्र होने के कारण उस काल के तुर्क सरदार उसे पक्का मुसलमान नहीं मानते थे। इसलिए फीरोज अपने को किसी भी तुर्क से कम मुसलमान सिद्ध न होने देने के लिए हिंदुओं के साथ बड़ी कठोरता और असहिष्णुता का व्यवहार करता था। हिंदुओं को बलात् मुसलमान बनाना और उनके धर्म–स्थानों को नष्ट करना वह अपना मजहबी फर्ज समझता था। उसने मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान वाले उस मंदिर को क्षतिग्रस्त किया, जिसे प्राय दो शताब्दी पहिले विजयपाल देव ने बनवाया था। वह मंदिर बाद में ठीक करा दिया गया था, क्यों कि सिकंदर लोदी के काल में फिर उसके ध्वंस किये जाने का उल्लेख मिलता है।

**तैमूर का आक्रमण**—तुगलक वंश के परवर्ती सुलतान अयोग्य थे। उन्हीं में से एक नासिरुद्दीन महमूद था, जो शक्तिहीन शासक था। उसके शासन-काल में मध्य एशिया के क्रूर आक्रांता तैमूर लंग का भारत पर भीषण आक्रमण हुआ था। उसने सं० १४४५ में पंजाब और दिल्ली पर आक्रमण कर वहाँ के लाखों नर–नारियों का कत्ले–आम कराया था। उसका आक्रमण एक मुसलमानी राज्य पर हुआ था और उसमें मुसलमान भी मारे गये थे, किंतु जनता में अधिकांश हिंदू होने के कारण हानि अधिकतर हिंदुओं की हुई थी। दिल्ली पर आक्रमण करने से पहिले उसने पंजाब में एक लाख हिंदुओं को गुलाम बनाने के लिए बंदी बनाया था। जब वह दिल्ली पहुँचा, तब उसकी सेना के साथ बंदियों की भी भारी भीड़ थी। उस भीड़ के कारण आक्रमण में बाधा न पड़े, इसलिए उस नर–पिशाच ने उन सब का कत्ल करा दिया था! फिर दिल्ली में नागरिकों के खून से उसने वह होली खेली, कि तभी से उसका नाम भय और आतंक के साथ लिया जाता है। तैमूर के समान नरघाती राक्षस विश्व के इतिहास में शायद ही कोई दूसरा हुआ हो! तत्कालीन सुलतानों की अयोग्यता के कारण उनके राज्य की पहिले ही बहुत बुरी अवस्था थी। फिर तैमूर के आक्रमण से ऐसी तबाही और बर्बादी हुई कि तुगलक राज्य ही समाप्त हो गया।

### ४ सैयद वश ( सं० १४७१ से स० १५०८ तक )—

वह तुर्क जाति के सुलतानो का अंतिम राजवंश था। उक्त वश का शासन थोडे काल तक रहा था। उसमे जो ३–४ सुलतान हुए, उनके शासन–काल की कोई घटना उल्लेनीय नही है।

### ५. लोदी वश ( स० १५०८ से सं० १५८३ तक )—

**सिकंदर लोदी** ( स० १५४६–स०१५७४ )—इस वश के सुलतान पठान जाति के थे। उनमें सिकदर लोदी सवसे अधिक धर्मांध शासक था। वह एक हिंदू सुनारिन का पुत्र था, अत हीन भावना से ग्रसित रहता था। अपने को किसी विदेशी मुसलमान सरदार से कम पक्का मुसलमान सिद्ध न होने देने के लिए वह हिंदुओ पर वडे अत्याचार करता था। उसने अपने राज्य के हिंदू मदिरो को नष्ट करने और अपनी हिंदू प्रजा को बल–पूर्वक मुसलमान वनाने मे वडा उत्साह दिखलाया था।

उसके जीवन का उत्तरार्ध ग्वालियर के कलाप्रिय हिंदू राजा मानसिह तोमर के विरुद्ध युद्व करने मे बीता था। उसने मानसिंह को पराजित करने का कई बार प्रयत्न किया, किंतु हर बार उसे विफल होकर वापिस लौटना पडा था। दिल्ली से ग्वालियर पर सीधा आक्रमण करने मे असुविधा समझ कर उसने स० १५६१ मे आगरा को अपनी सैनिक छावनी वनाया था और उसी स्थान से ग्वालियर पर आक्रमण करने की उसने व्यवस्था की थी। आजकल जहाँ सिकदरा है, वही उसकी सेना का पड़ाव था। उसी के नाम पर उक्त स्थल का नाम 'सिकदरा' पडा है। सिकदर से पहिले आगरा एक छोटा नगर था। जव से वह लोदी सुलतान की सैनिक राजधानी वना, तभी से उसका विस्तार होने लगा था। सिकदर ने वहाँ पर ईंट–चूने का एक छोटा दुर्ग भी वनवाया था, जो कालातर मे मुगल सम्राट अकवर द्वारा वडे आकार मे पक्का सगीन किया गया था। मुगलो के काल मे आगरा को भारत की राजधानी होने का गौरव प्राप्त हुआ था।

मथुरा के लिए सिकदर का शासन विशेष रूप से सकटप्रद रहा था। उसने यहाँ के हिंदुओ के धार्मिक कृत्यो पर पूरी पावदी लगा दी थी। यहाँ तक कि कोई हिंदू न तो बाल बनवा सकता था और न यमुना–स्नान कर सकता था। उसने विविध भाँति से मथुरा की धार्मिक जनता को त्रस्त करने मे ही अपने राजकीय कर्त्तव्य की पूर्ति समझी थी।

**कृष्ण–जन्मस्थान के मदिर का ध्वस**—सिकदर के काल की सवसे दुखद घटना मथुरा के श्री कृष्ण–जन्मस्थान वाले उस मदिर का ध्वस होना था, जिसे कन्नौज के गाहडवालवशी राजा विजयपाल देव ने स० १२१२ मे वनवाया था। वह मदिर विगत युग मे मथुरा के हिंदुओ का प्रमुख पूजा–स्थल था, जो सुलतानो के भीषण काल मे भी यहाँ के हिंदुओ की धार्मिक भावना जागृत रखने मे वडा सहायक रहा था। उसे पहिले फीरोज तुगलक ने क्षतिग्रस्त किया था; किंतु वाद मे कदाचित उसका जीर्णोद्वार करा दिया गया था। सिकदर लोदी ने उसे पुन पूरी तरह नष्ट कर दिया था। जव श्री वल्लभाचार्य और चैतन्यदेव मथुरा आये थे, तव उन्होंने उस मदिर मे केशव भगवान् के दर्शन किये थे। इससे सिद्व होता है कि वह मदिर मथुरा मे स० १५७३ तक विद्यमान था। उसके वाद स० १५७३ के अत मे सिकदर लोदी ने उसे नष्ट कराया होगा। स० १५७४ मे सिकदर की मृत्यु हुई थी। इस प्रकार अपने जीवन के अतिम वर्ष मे उस धर्मांध सुलतान ने मथुरा

के उस प्रसिद्ध देवालय का विध्वंस करा कर आखिरी नवाब लूटा था। उसका मकबरा दिल्ली मे बना हुआ है, जो इस समय अरक्षित सा पड़ा है।

**इब्राहीम लोदी** ( स० १५७४– स० १५८३ )—वह लोदी वंश का अंतिम सुलतान था। उसके शासन–काल मे बाबर ने भारत पर आक्रमण कर उसे पराजित किया था। उसके परिणाम स्वरूप दिल्ली के सुलतानो की परंपरा समाप्त हुई और भारत मे मुगल राज्य की स्थापना हो गई थी।

## सुलतानी शासन मे मथुरामंडल (ब्रज) की स्थिति—

**ब्रज या ब्रजमंडल नाम का प्रचलन**—महमूद गजनवी द्वारा मथुरा के शासक कुलचंद्र की पराजय होने से मथुरा राज्य समाप्त हो गया था। उसके बाद सुलतानो के शासन में उसका कोई राजनैतिक महत्व नही था। उस काल मे 'मथुरा राज्य' जैसी किसी राजनैतिक इकाई का कोई अस्तित्व नही था, अत उस नाम का प्रचलन भी नहीं रहा था। उस समय वैष्णव धर्माचार्यो द्वारा इसके जिस धार्मिक रूप का निर्माण हुआ, उसे 'ब्रज' अथवा 'ब्रजमडल' कहा जाने लगा। उस काल से लेकर अब तक धार्मिक जगत् मे मथुरामडल का यही नाम प्रचलित रहा है।

**सुलतानो द्वारा ब्रज का उत्पीडन**—कुतुबुद्दीन एबक से लेकर इब्राहीम लोदी तक, स० १२०६ से स १५८३ तक के काल मे ब्रज पर दिल्ली के सुलतानो का शासन रहा था। उन्होंने इस प्रदेश के राजनैतिक महत्व को तो कभी स्वीकार किया ही नहीं, इसके धार्मिक महत्व को भी नष्ट करने की उन्होने पूरी चेष्टा की थी। सुलतानो ने एक 'इस्लामी सैनिक राज्य' की स्थापना की थी और उनका शासन उसी के अनुरुप होता था। राज्य के समस्त कानून शरीयत के अनुसार थे, जिन्हे सैनिक शक्ति से मनवाया जाता था। उस प्रकार के शासन मे इस्लाम और मुसलमानो को सब प्रकार की राजकीय सुविधाएँ दी गई थी और दूसरे धर्मो तथा उनके मानने वालो के साथ उपेक्षा, घृणा, उत्पीडन एव अत्याचार का व्यवहार किया जाता था। चूँकि ब्रजमडल उस काल मे पौराणिक हिंदू धर्म का एक बडा केन्द्र था; अत यहाँ के निवासियो को सुलतानो के उत्पीडन से सदा ही कष्ट उठाना पडा था। दिल्ली के सुलतानो की नाक के नीचे रहने के कारण चाहे जब उनकी क्रूर दृष्टि ब्रजमडल पर पड जाती थी। तभी यहाँ के मदिर–देवालयो को तोडने, लोगो को बलात् मुसलमान बनाने अथवा लूट-मार और कत्लेआम करने की एक आँधी सी चल पडती थी, जो ब्रज के धार्मिक स्वरूप को धूमिल कर देती थी। निजामुद्दीन, फरिश्ता और बदायूनी आदि मुसलमान इतिहास–लेखको के ग्रथ ही सुलतानो के उन काले कारनामो से भरे पडे हैं।

**धर्म-स्थानो का विध्वस**—सुलतानी शासन से पहिले मथुरामडल जैन और पौराणिक हिंदू धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ पर श्वेतांबर–दिगंबर जैन तथा वैष्णव, शैव, शाक्तादि धर्मो के अनेक मदिर–देवालय थे। सुलतानो ने उन्हे एक-एक कर नष्ट कर दिया। कामवन की पहाडी पर एक विख्यात विष्णु मदिर था, जिसे यादव वशीय राजा पर्जन्यदामा ने स १२५० के लगभग बनवाया था। उस कलापूर्ण विशाल देवालय को गुलाम वश के सुलतान इल्तमश ने क्षतिग्रस्त किया और बाद मे उसे फीरोज तुगलक ने पूरी तरह बर्बाद कर दिया था। उसके स्थान पर एक मसजिद बनवा दी गई थी। मथुरा के असिकुडा घाट पर बने हुए प्राचीन मंदिर को

अलाउद्दीन खिलजी ने स० १३५४ मे तोड कर उसके स्थान पर भी एक मसजिद का निर्माण कराया था। मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर कन्नौज के राजकुमार विजयपाल देव ने स० १२१२ मे जो मदिर बनवाया था, उसे पहिले फीरोज तुगलक ने क्षतिग्रस्त किया और फिर सिकदर लोदी ने स० १५७३ मे उसे पूर्णतया नष्ट कर दिया था। इसी प्रकार व्रजमडल के प्राय सभी मदिर-देवालय सुलतानी शासन मे वर्वाद कर दिये गये थे। जो किसी प्रकार बच रहे, वे जीर्ण–शीर्ण होकर स्वत समाप्त हो गये, क्यो कि उस काल मे मदिर–देवालयो का जीर्णोद्धार करना भी शासन की ओर से वर्जित था। सुलतानो की असहिष्णुता और उनके मजहबी तास्सुब के कारण यहाँ के धर्म स्थानो का ऐसा व्यापक विनाश किया गया कि उस काल का कोई ध्वसावशेष तक नही मिलता है। इस समय व्रजमडल मे जो प्राचीन मदिर–देवालय हैं, उनमे से कोई भी मुगल सम्राट अकबर से पहिले का नहीं है।

**गैर मुस्लिमो पर अत्याचार**—सुलतानी शासन का एक प्रमुख उद्देश्य इस देश मे इस्लाम का प्रचार करना था। उसके लिए सुलतानो ने उचित–अनुचित सभी प्रकार के साधनो को अपनाया था। उनके कर्मचारी यहाँ के लोगो को मुसलमान बनाने के लिए अनेक प्रकार के प्रलोभन देते थे। जो मुसलमान बन जाते थे, उन्हे सब प्रकार की राजकीय सुविधाएँ दी जाती थी और जो नही बनते थे उनके साथ बडा कठोर व्यवहार किया जाता था। मुसलमानी कानून 'शरीयत' के अनुसार इस्लाम पर विश्वास न करने वालो को जीवित रहने का कोई अधिकार नही था। काजी और मुल्लाओ की गैर मुसलमानो के लिए एक ही शर्त होती थी कि वे या तो इस्लाम स्वीकार करे अथवा मरने के लिए तैयार हो जावें। चू कि उस काल के मुट्ठी भर मुसलमानो द्वारा यहाँ के करोडो निवासियो को एक दम न तो मुसलमान बनाया जा सकता था और न उन्हे मारा ही जा सकता था, इसलिए सुलतानो को मुस्लिम कानून मे कुछ सशोधन करने को बाध्य होना पडा था। उन्होने मुसलमान न बनने वालो को जीवन-दान देने के लिए भारी कर लगा दिया, जिसे 'जजिया' कहा जाता था।

डा० आशीर्वादीलाल ने लेनपोल, स्मिथ, वूल्जले, हेग, जदुनाथ सरकार आदि लेखको के आधार पर लिखा है,—"जजिया कर सिर्फ हिंदुओ पर लगता था और वह इसलिए कि वे अपने को हीन महसूस करे और उन पर आर्थिक–सामाजिक दवाव डाल कर मजहब–परिवर्तन के लिए उन्हे बाध्य किया जा सके। इस टैक्स की दरे भी काफी ऊँची थी। अमीरो को ४८, सामान्य व्यक्तियो को २४ तथा गरीबो को भी कम से कम १२ रजत मुद्राएँ इस टैक्स के फल स्वरूप देनी होती थी। शुरू मे ब्राह्मण इस कर से मुक्त थे, किंतु फीरोज तुगलक के जमाने मे उन्हे भी टैक्स से मुक्त नही किया गया। आदेश यह था कि इस कर का दाता स्वय कलक्टर के सामने हाजिर होकर विनम्रता और पूर्ण हीनता प्रदर्शित करते हुए कर जमा करे[1]!" इस प्रकार सुलतानो के शासन-काल मे व्रज के हिंदुओ को सुखी और सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करना असभव हो गया था। वे हीन श्रेणी के नागरिको की भाँति अर्थ-कष्ट और सामाजिक अपमान सहते हुए अपना जीवन बिताने के लिए बाध्य थे।

---

(१) 'सैनिक' विशेषांक और दिल्ली सल्तनत, पृष्ठ ३५७

## वैष्णव धर्माचार्यों का साहसपूर्ण अभियान—

**धर्माचार्यों का ब्रज-आगमन**—जिस काल में उत्तरी भारत में मुसलमानों के आक्रमण और इस्लामी राज्य की स्थापना के प्रयत्न हो रहे थे, उसी काल में दक्षिण भारत के विविध धर्माचार्य वैष्णव धर्म के पुनरुद्धार और कृष्ण-भक्ति के प्रचार का व्यापक आयोजन कर रहे थे। उन्होंने भगवान् श्री कृष्ण के लीला-धाम में ही अपने केन्द्र स्थापित करने का निश्चय किया; ताकि वे उस भीषण काल में लोगों को सान्त्वना देते हुए उन्हें श्री कृष्ण पर ही आश्रित रहने का संदेश दे सकें। इस प्रकार ब्रज में आने वाले धर्माचार्यों में श्री निम्बार्काचार्य कदाचित पहिले महानुभाव थे। उन्होंने ब्रज के गोवर्धन स्थित उस स्थान पर निवास किया था, जिसे अब निंबग्राम अथवा नीमगाँव कहा जाता है। उनके पश्चात् निंबार्क संप्रदाय के अनेक आचार्यों और उनके अनुयायियों का ब्रज से घनिष्ट संबंध रहा था। उस काल में जिन धर्माचार्यों ने यहाँ की विषम परिस्थिति के कारण अनेक असुविधाएँ और कष्ट उठाते भी अपने असीम साहस, अद्भुत आत्मबल और सुदृढ़ धार्मिक विश्वास का परिचय दिया था, उनमें निंबार्क संप्रदाय के आचार्य केशव काश्मीरी भट्ट, माध्व संप्रदाय के आचार्य माधवेन्द्र पुरी तथा पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य और गौड़ीय संप्रदाय के प्रतिष्ठाता श्री चैतन्य महाप्रभु के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

**केशव काश्मीरी भट्ट**—सुलतानी काल में ब्रज में आकर कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने वाले धर्माचार्यों और भक्त महानुभावों में श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी का नाम प्रसिद्ध है। वे तैलंग प्रदेशीय दाक्षित्य ब्राह्मण थे, किंतु कश्मीर में अधिक काल तक निवास करने के कारण काश्मीरी कहलाते थे। वे श्री निंबार्काचार्य की शिष्य-परंपरा में उन्हीं के जन्म-स्थान वैदूर्यपत्तन (आंध्र राज्य) में उत्पन्न हुए थे[1], और उनकी गद्दी के ३३ वें आचार्य थे[2]। उन्होंने श्री गंगल भट्ट से दीक्षा ली थी। वे दिग्विजयी विद्वान, तपस्वी महात्मा, परम भक्त और प्रकांड शास्त्र-वेत्ता थे। उन्होंने तीन बार समस्त भारत की यात्राएँ की थी, जिनमें उन्होंने विभिन्न धर्मावलंबियों को पराजित कर कृष्णोपासना का प्रचार किया था। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी। प्रस्थान-त्रयी पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य और भागवत की विस्तृत टीका आदि ग्रंथ उनके पांडित्य के परिचायक हैं। उनके जीवन-काल की घटनाओं में मथुरा के विश्राम घाट की यंत्र-बाधा और मुसलमान काज़ी से उनके विवाद की घटना अधिक प्रसिद्ध है। इसका उल्लेख आगे किया गया है।

**माधवेन्द्र पुरी**—उनका प्रामाणिक जीवन-वृत्तांत अज्ञात है। ऐसा कहा जाता है, वे तैलंग प्रदेश के दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। वे माध्व संप्रदाय के आचार्य, सर्व शास्त्रों के ज्ञाता और परम भक्त सन्यासी थे। उन्होंने अनेक बार विविध स्थानों की यात्राएँ कर कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार किया था। कालांतर में उनके भक्ति-सिद्धांत को और भी समृद्ध करते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु ने गौड़ीय संप्रदाय कि प्रतिष्ठा की थी। 'चैतन्य चरितामृत' में उनके ब्रज में आने और गोवर्धन में श्रीनाथ-गोपाल की देव प्रतिमा का प्राकट्य करने की कथा लिखी गई है। उससे ज्ञात होता है, जिस सुलतानी काल में ब्रज में मूर्ति-पूजा की बात करना भी बड़े संकट का काम था

---

(१) श्री भक्तमाल ( वृंदावन ), पृष्ठ ५०६
(२) श्री आचार्य परंपरा परिचय, पृष्ठ १३

श्री केशव काश्मीरी भट्ट
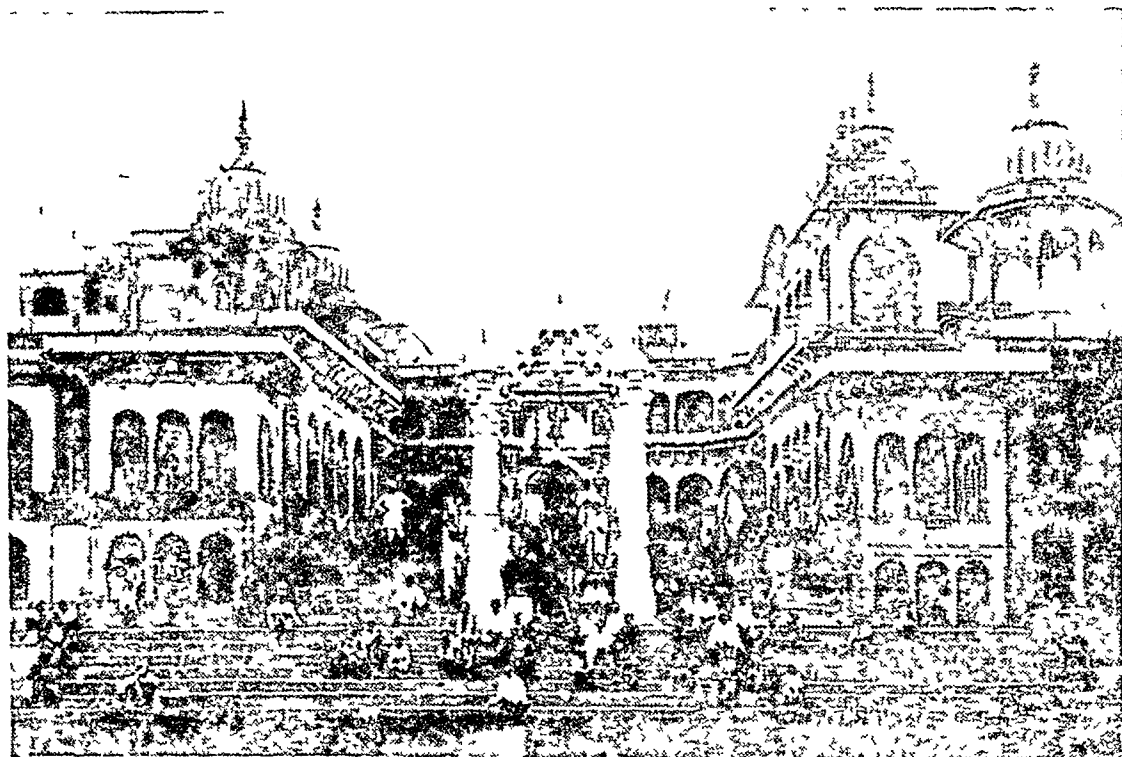
यन्त्र-बाधा का स्थल विश्रामघाट

महाप्रभु वल्लभाचार्य
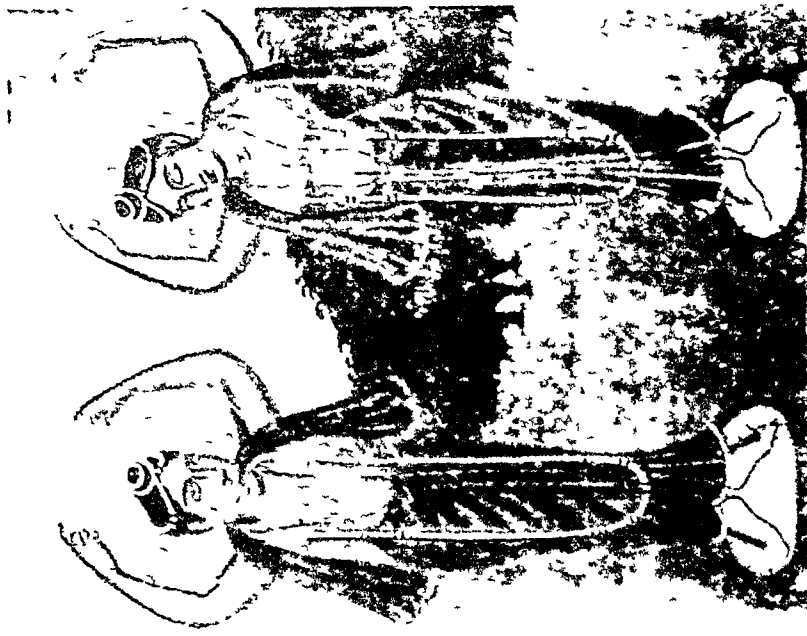
चैतन्य महाप्रभु और नित्यानद प्रभु

उसी काल मे उन्होने यहाँ बडे साहस पूर्वक श्रीनाथ जी की देव प्रतिमा को प्रकट कर उनकी सेवा-पूजा का आयोजन किया था। वे निर्भय होकर व्रज मे विचरण करते हुए कृष्णोपासना का प्रचार किया करते थे। उनके जीवन-वृत्तात से सवधित तिथि-सवत् अनिश्चित है। ऐसा अनुमान है, वे स० १५०० से पहिले उत्पन्न हुए थे और स० १५४६ के लगभग व्रज मे आये थे। उनका देहावसान स० १५५० के लगभग दक्षिण प्रदेश मे हुआ था।

**महाप्रभु वल्लभाचार्य**—सुलतानी काल मे व्रज मे कृष्ण-भक्ति के प्रचार का समुचित आयोजन वाले धर्माचार्यो मे श्री वल्लभाचार्य जी का स्थान अद्वितीय है। उनके महान् व्यक्तित्व, प्रखर पाडित्य और अनुपम आत्मबल से व्रज के सकटग्रस्त हिंदू धर्म को जो शक्ति प्राप्त हुई थी, वह उनकी महान् देन है। उनका जन्म स० १५३५ की वैशाख कृ० ११ को जिला रायपुर (म प्र) के चपारण्य नामक स्थान मे हुआ था। वे आध्र प्रदेशीय तैलग ब्राह्मण थे। उनका आरभिक जीवन काशी मे बीता था और वही पर उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा उनके अध्ययन की व्यवस्था की गई थी। वे प्रकाड विद्वान, समस्त शास्त्रो के अपूर्व ज्ञाता और धार्मिक सिद्धातो के बडे धर्मोपदेष्टा थे। उन्होने अपने भक्ति-ज्ञान और पाडित्य के बल पर अपने समय के विद्वत् समाज मे सर्वोपरि स्थान प्राप्त किया था तथा पुष्टि सप्रदाय की स्थापना की थी।

वे स० १५५० मे प्रथम वार व्रज मे आये थे। उसके वाद उन्होने यहाँ की कई यात्राएँ की थी। उन्होने सुलतानो के सकट काल मे ही गोवर्धन मे श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की समुचित व्यवस्था की थी और एक नये मदिर के निर्माण का उपक्रम किया था। वे निर्भय होकर व्रज मे कृष्ण-भक्ति और कृष्णोपासना के व्यापक प्रचार का आन्दोलन करते रहे थे। उनका देहावसान स० १५८७ मे काशी मे हुआ था। मथुरा के विश्राम घाट की यत्र-बाधा वाली जिस घटना का सबध श्री केशव काश्मीरी जी से बतलाया जाता है, वह श्री वल्लभाचार्य जी से भी सवधित कही जाती है।

**चैतन्य महाप्रभु**—सुलतानी काल मे कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार करने वाले महानुभावो मे श्री चैतन्य महाप्रभु अन्यतम थे। वे बगाली ब्राह्मण थे और उनका जन्म स १५४२ की फाल्गुन शु० १५ को बगाल के नवद्वीप नामक स्थान मे हुआ था। वे प्रतिभाशाली विद्वान और भक्ति-सिद्धात के अद्वितीय व्याख्याता थे। उन्होने युवावस्था मे ही घर-बार छोड कर सन्यास की दीक्षा ली थी और फिर जीवन भर कृष्ण-भक्ति के प्रचार मे वे लगे रहे थे। उन्होने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए बगाल मे मुसलमान काजी का डट कर विरोध किया था और व्रज मे अपने शिष्य-सेवको द्वारा कृष्ण-भक्ति के प्रचार का भारी प्रयत्न किया था। वे स्वय भी स० १५७३ मे व्रज मे आये थे। तभी उन्होने सिकदर लोदी के दमन काल मे ही कृष्णोपासना के प्रचार का वृहत् आयोजन किया था। उनका देहावसान स० १५९० मे जगन्नाथपुरी मे हुआ था।

**मथुरा के विश्राम घाट की यत्र-बाधा**—नाभा जी और प्रियादास जी कृत 'भक्तमाल' मे श्री केशव काश्मीरी भट्ट की महिमा का कथन करते हुए मथुरा के विश्राम घाट की 'यत्र-बाधा' विषयक एक घटना का उल्लेख हुआ है। उससे ज्ञात होता है, 'जव भट्ट जी कश्मीर मे थे, तव उन्होने सुना कि मथुरा के विश्राम घाट पर वहाँ के काजी ने एक चमत्कारपूर्ण 'यत्र' लगा रखा है। जव कोई हिंदू अपने धार्मिक कृत्य के लिए उधर जाता है, तभी यत्र के प्रभाव से

उसकी सुन्नत ( इस्लामी सस्कार–क्रिया ) हो जाती है। फिर काजी के कर्मचारी उस व्यक्ति को वलात् मुसलमान वना लेते हैं। उसके कारण मथुरा के हिंदू वडे दुखी और भयभीत थे। भट्ट जी उनके कष्ट के निवारणार्थ मथुरा आये और अपनी शिष्य–मडली के साथ विश्राम घाट पर जम कर बैठ गये। उनके भक्ति–प्रताप से वह यत्र प्रभावशून्य हो गया। जब काजी के कर्मचारी उनके पास आये, तो उन्होने उन्हे फटकार दिया। उक्त कर्मचारियो ने मुसलमान सूवेदार से फरियाद की। सूवेदार ने वहाँ पर सैनिक भेज दिये, किन्तु भट्ट जी और उनके शिष्यो ने उन्हे पराजित कर मार भगाया। इस प्रकार भट्ट जी को आध्यात्मिक शक्ति का परिचय प्राप्त कर मथुरा के काजी और मुसलमान शासक सभी भयभीत हो गये थे[1]।'

'भक्तमाल' मे मथुरा की यत्र–वाधा विषयक जिस घटना का सबध श्री केशव काश्मीरी जी से बतलाया गया है, वल्लभ सम्प्रदायी साहित्य मे उसी को श्री वल्लभाचार्य जी से सर्वधित कहा गया है। 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' और श्री यदुनाथ जी कृत 'वल्लभ दिग्विजय' ( स० १६५८ ) मे उक्त घटना का उल्लेख करते हुए उसका श्रेय श्री वल्लभाचार्य जी को दिया गया है। 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' मे लिखा है, जब आचार्य जी मथुरा आये थे, तब वहाँ के विश्रामघाट के दरवाजे पर सिकदर लोदी के कर्मचारी रुस्तम अली ने एक ऐसा यत्र टाँग रखा था, जिसके प्रभाव से जो भी हिंदू उधर से निकलता था, उसकी चोटी कट जाती थी और डाढी निकल आती थी। इस प्रकार मुसलमान किये जाने के भय से कोई भी हिंदू यमुना-स्नान नही कर सकता था। आचार्य जी पर उस यत्र का कोई प्रभाव नही हुआ। उन्होंने अपने साथियो सहित आनद पूर्वक यमुना–स्नान किया था। बाद मे मथुरा के चौबो ने उनसे सदा के लिए उस यत्र-वाधा को दूर कराने की प्रार्थना की। उस पर वल्लभाचार्य जी ने अपने दो सेवक वासुदेवदास और कृष्णदास को दूत वना कर और उन्हे 'पातसाह' के लिए अपना पत्र देकर दिल्ली भेजा था। पादशाह ने वल्लभाचार्य जी की इच्छानुसार मथुरा से यत्र-वाधा हटवा दी थी। उसने अपने कर्मचारी रुस्तम अली को आदेश दिया कि 'वह मथुरा से तत्काल अपना यत्र हटा ले और फिर कभी किसी के मजहव पर निगाह न डाले[2]।'

उक्त घटना दिल्ली के किस 'पातसाह' के काल मे हुई थी, उसके नाम का उल्लेख न तो 'भक्तमाल' मे हुआ है और न 'वार्ता' मे। निंवार्क संप्रदायी विद्वानो ने उक्त घटना को अलाउद्दीन ख़िलजी के काल ( स० १३५३–स० १३७३ ) की अथवा उससे भी पहिले ( स० १२१७ ) की वतलाते हुए श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी की विद्यमानता भी उसी काल की सिद्ध करने का प्रयास किया है[3]। उक्त विद्वानो का यह कथन सर्वथा अप्रामाणिक है। ऐतिहासिक और साप्रदायिक उल्लेखो के आधार पर उक्त घटना अलाउद्दीन खिलजी अथवा उसके पहिले के काल की न होकर उसके बहुत बाद की—सिकदर लोदी के काल ( सं० १५४८ – स०१५७४ ) की सिद्ध होती है। इतिहास

---

(१) भक्तमाल, छप्पय सं० ७५ और कवित्त सं० ३३७

(२) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १०-११

(३) श्री आचार्य परपरा परिचय, पृष्ठ १३, निंवार्क माधुरी, पृष्ठ ७-६
भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ३२१ और युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ १३

से ज्ञात होता है, सिकदर लोदी की आज्ञा से हिंदुओ को यमुना मे स्नान करना तथा वहाँ के घाटो पर बाल बनवाना सर्वथा वर्जित था। अलीगढ विश्वविद्यालय मे सुरक्षित 'तबकाते अकबरी' की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर प्रोफेसर हलीम ने लिखा है कि सिकदर लोदी के शासन मे राज्य की ओर से मथुरा के घाटो पर कर्मचारी नियुक्त थे, जो यमुना मे स्नान नही करने देते थे और बाल नही बनवाने देते थे। प्रोफेसर हलीम की तरह डा० ईश्वरीप्रसाद और डा० आशीर्वादी लाल ने भी लिखा है कि सं० १५४६ के आस-पास मथुरा मे हिंदुओ को यमुना मे स्नान करने की स्वतत्रता प्राप्त न थी। 'तारीखे दाऊदी' मे भी इसी प्रकार का उल्लेख हुआ है[1]।

'तारीखे दाऊदी' जहाँगीर कालीन इतिहास-लेखक अब्दुल्ला की रचना है। उसमे सिकंदर लोदी के धर्मोन्माद और अत्याचारो का जो उल्लेख है, उसे श्री ग्राउस ने इस प्रकार उद्धृत किया है—"सिकदर ने मथुरा के हिंदुओ पर सिर और दाढी मुडाने तथा धार्मिक कृत्य करने की कडी पाबदी लगा दी थी। उसके आदेश के कारण मथुरा मे हिदुओ को नाई मिलना कठिन हो गया था[2]।" अब्दुल्ला से पहिले अकबर कालीन इतिहास-लेखक फरिश्ता ने भी 'तारीखे फरिश्ता' मे उसी प्रकार का कथन करते हुए लिखा था,—"सिकदर का आदेश था कि कोई हिंदू यमुना-स्नान न करे। उसने नाइयो को कडी हिदायत की थी कि वे हिदुओ के सिरो और दाढियो को न मूँडे। उसके कारण हिंदू अपनी धार्मिक क्रियाएँ नही कर सकते थे[3]।"

'भक्तमाल' और 'वार्ता' मे मथुरा की यत्र-बाधा विषयक जिस बात का उल्लेख हुआ है, वह सुलतानी काल के उत्पीडन की एक ऐतिहासिक घटना है, किंतु उनमे भट्ट जी और आचार्य जी के व्यक्तित्व की अलौकिकता बतलाने का व्यर्थ प्रयास किया गया है। उसके कारण साम्प्रदायिकता के आवरण ने ऐतिहासिक तथ्य को ऐसा ढक दिया है कि उसका महत्व ही समाप्तप्राय हो गया है। मुसलमान काजी अथवा रुस्तम अली द्वारा चमत्कारपूर्ण यत्र लगाना, उसके कारण हिंदुओ की 'सुन्नत' होना अथवा चोटी कटना, भट्ट जी और आचार्य जी पर यत्र का कोई प्रभाव न होना, भट्ट जी के द्वारा मथुरा के काजी के कर्मचारियो और सूबेदार के सैनिको को मार कर भगाना आदि सभी बाते कपोलकल्पित है। उनमे तथ्य की बात यह है कि सिकदर लोदी ने अपनी असहिष्णुता और मजहबी तास्सुब के कारण मथुरा के हिदुओ को तग करने के लिए उन्हे यमुना मे स्नान करने की मनाही करदी थी और उन्हे अपने धार्मिक कृत्य करने से रोक दिया था। उसने हिदुओ को बलात् मुसलमान बनाने के लिए और भी कई अमानवीय आज्ञाएँ प्रचारित की थी। उनके कारण मथुरा के हिदुओ मे बडा असतोष, आतक और भय का वातावरण बना हुआ था। श्री भट्ट जी और आचार्य जी जैसे तत्कालीन सतो ने साहस पूर्वक हिंदुओ के कष्ट को दूर करने की चेष्टा की थी।

'भक्तमाल' मे मुसलमान काजी के कर्मचारियो और सूबेदार के सैनिको के विरुद्ध भट्ट जी के जिस आक्रमणात्मक प्रतिरोध का उल्लेख किया गया है, वह सुलतानी काल की आतक-

---

(१) वार्ता साहित्य : एक बृहत् अध्ययन, पृष्ठ ५४१

(२) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर ( तृतीय सस्करण ), पृष्ठ ३४

(३) हिस्ट्री आफ दि राइज आफ दि महम्मडन पावर, जिल्द २, पृष्ठ ५८६

पूर्ण स्थिति मे कदापि सभव नही था। उसकी अपेक्षा 'वार्ता' का यह कथन कि वल्लभाचार्य जी ने मुसलमान अधिकारियो की अमानवीय आज्ञा को न मानने का साहस दिखलाया था और उसके विरुद्ध सुलतान से फरियाद करने के लिए अपने दो दूतो को दिल्ली भेजा था, अधिक उपयुक्त ज्ञात होता है। आचार्य जी को अपने प्रयास मे कितनी सफलता मिली थी, इसका उल्लेख इतिहास के ग्रथो मे नही मिलता है। ऐसा जान पडता है, उन्होंने किसी प्रकार सिकदर के कर्मचारियो से हिंदुओ को यह सुविधा दिलादी थी कि वे राजकीय कर देने पर यमुना मे स्नान कर सकते है और अपने बाल बनवा सकते हैं। इस प्रकार का तीर्थ-कर सुलतानो के शासन मे मथुरा मे लगता था, जिसे स० १६२० मे मुगल सम्राट अकबर ने हटवाया था।

'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' के अनुसार सुलतान से फरियाद करने को दिल्ली जाने वाले व्यक्ति श्री वल्लभाचार्य जी के दो सेवक थे। उसमे उस कार्य के लिए श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी के नाम का उल्लेख नही हुआ है, किंतु श्री वल्लभाचार्य जी की 'निज वार्ता' मे भट्ट जी का नाम भी जाने वालो मे मिलता है। इससे सिद्ध होता है, केशव काश्मीरी भट्ट जी और वल्लभाचार्य जी के सम्मिलित प्रयत्न से ही मथुरा के हिंदुओ को सिकदर लोदी की उस अमानवीय आज्ञा से कुछ राहत मिली थी। वार्ताकार का यह लिखना कि आचार्य जी के प्रभाव से सिकदर लोदी ने अपने कर्मचारियो को यह आदेश दिया था कि 'किसी के मजहब पर निगाह मत करना' सर्वथा इतिहास विरुद्ध कथन है। यदि सिकदर लोदी मे उस प्रकार की सहिष्णुता होती, तो वह उक्त घटना के पश्चात् ब्रज के मदिरो को क्यो नष्ट-भ्रष्ट करवाता ! मथुरा का सुप्रसिद्ध केशवराय जी का मदिर उस घटना के बाद ही सिकदर की आज्ञा से नष्ट किया गया था।

उक्त घटना से सिद्ध होता है कि श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी और श्री वल्लभाचार्य जी समकालीन थे और वे सिकदर लोदी के काल मे विद्यमान थे। उसी काल मे श्री माधवेन्द्र पुरी और श्री चैतन्य महाप्रभु भी हुए थे। सर्वश्री भट्ट जी और पुरी जी पर्याप्त वयोवृद्ध थे, जब कि आचार्य जी और चैतन्य देव जी युवा थे। वह घटना किस काल मे हुई, उसका निश्चय करने के लिए श्री आचार्य जी के ब्रज-आगमन काल का अनुसधान करना होगा। वल्लभ सप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि श्री वल्लभाचार्य जी ब्रज मे पहिली बार स० १५५० के लगभग आये थे और दूसरी बार स० १५५६ मे तथा तीसरी बार स० १५६४ मे आये थे[1]। ऐसा अनुमान होता है, यत्र-बाधा विषयक घटना उनकी दूसरी अथवा तीसरी यात्रा के अवसर पर हुई थी। इस प्रकार उसका काल स० १५५६ अथवा १५६४ माना जा सकता है।

**श्रीनाथ जी की सेवा और उनका मदिर**—सुलतानो के कठोर शासन काल मे मूर्ति-पूजा और मदिर-निर्माण पर कडी पाबदी लगाई गई थी। सिकदर लोदी ने उनके सबध मे और भी कडे आदेश जारी किये थे। श्री वल्लभाचार्य जी ने उनकी उपेक्षा कर अपने अदम्य साहस और आत्मबल का परिचय दिया था। स० १५५९ मे जब वे दूसरी बार ब्रज मे आये थे, तब मथुरा से गोवर्धन जाने पर उन्हे ज्ञात हुआ कि वहाँ की गिरिराज पहाडी पर एक देव-विग्रह का प्राकट्य हुआ है। श्री माधवेन्द्र पुरी ने उनका नाम 'गोपाल' रख कर उनकी सेवा का आर-

---

(१) अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ ७-८

भिक आयोजन किया था; किंतु उसकी यथोचित व्यवस्था नही हो सकी थी। शायद सुलतानी शासन के भय से वहाँ के निवासी उसके लिए कोई दिखावा करने का साहस नही कर पाते थे। श्री बल्लभाचार्य जी ने उस देव-विग्रह का नाम 'श्री गोबर्धननाथ' अथवा 'श्रीनाथ जी' रखा और गिरिराज पहाडी पर एक छोटा सा कच्चा मदिर बनवा कर उसमे उन्हे विराजमान कर दिया था। फिर उन्होने वहाँ के ब्रजवासियो को उनकी यथोचित सेवा-पूजा करने के लिए उत्साहित किया, जिसमे उन्हे पूरी सफलता प्राप्त हुई थी।

उसी समय सद्दू पाडे, रामदास चौहान, कु भनदास, अच्युतदास सनाढ्य प्रभृति अनेक ब्रजवासी गरण श्री बल्लभाचार्य जी के शिष्य-सेवक हुए थे। आचार्य जी ने माधवेन्द्र पुरी के सेवक बगाली वैष्णवो को श्रीनाथ जी की सेवा करने के लिए नियुक्त किया। सद्दू पाडे और रामदास चौहान श्रद्धा–भक्ति पूर्वक सेवा मे सहयोग देते थे और कु भनदास कीर्तन करते थे। श्रीनाथ जी की सेवा की वह आरभिक व्यवस्था कर आचार्य जी पुन अपनी यात्रा को चले गये। गोबर्धन मे श्रीनाथ जी की सेवा के प्रचलन से मानो ब्रज मे धार्मिक और सास्कृतिक पुनरुत्थान की आधार-शिला ही रख दी गई थी, जिसका श्रेय श्री बल्लभाचार्य जी को है।

उसके बाद जब श्री बल्लभाचार्य जी स० १५५८ मे ब्रज मे आये, तब उन्होने अम्बाला के एक धनाढ्य हरिभक्त पूरनमल खत्री को श्रीनाथ जी का पक्का मदिर बनवाने की आज्ञा दी थी। आचार्य जी के प्रोत्साहन से वह श्रद्धालु जन मदिर-निर्माण की आवश्यक व्यवस्था करने लगा। उसके लिए आगरा से हीरामन नामक एक कुशल शिल्पी बुलाया गया, जिसने मदिर का मानचित्र बनाया और उसके निर्माण का आवश्यक प्रबध किया था। उस समय की स्थिति को देखते हुए किसी नये मंदिर के निर्माण का आयोजन करना बडे ही साहस का काम था। 'वार्ता' साहित्य से ज्ञात होता है, उस मदिर के निर्माण का आरभ स० १५५६ की वैशाख शु० ३ ( अक्षय तृतीया ) को हुआ था। उसका अधिकाश भाग बन गया था, किंतु मदिर पूरा नही हो सका था। उसका कारण 'वार्ता' मे द्रव्याभाव बतलाया गया है। उसमे लिखा है, पूरनमल जितना धन अपने साथ लाया था, वह समाप्त हो गया था, इसीलिए मदिर बनते–बनते रुक गया था[1]।

हमारे मतानुसार मदिर के पूर्ण न होने का कारण द्रव्याभाव से भी अधिक उस काल के सुलतानी शासन का मजहबी तास्सुब था। ऐसा जान पडता है, सिकदर लोदी के आदेश से या तो मदिर को तोड दिया गया, या उसके निर्माण-कार्य को रोक दिया गया था। उसका सकेत चैतन्य मप्रदायी साहित्य मे मिलता है, जिसके आधार पर लिखा गया है,—"सिकदर लोदी के काजी ने जब ब्रज के मदिरो पर अत्याचार करना आरभ किया, तब यवनो के उपद्रव के डर से गौडीय पुजारी श्रीनाथ–गोपाल को मदिर से नीचे उतार कर तीन मील दूर 'टोड का घना' नामक घने वन मे ले गये और वहाँ गुप्त भाव से सेवा करने लगे। उधर सुलतान के लोगो ने पूरनमल द्वारा बनवाये हुए मदिर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यवनो का उपद्रव शात होने पर एक मील दूर 'श्याम ढाक' नामक स्थान पर एक 'पर्ण मदिर' बनवा कर उसमे श्रीनाथ–गोपाल को विराजमान किया था[2]।"

---

(१) श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १७–१६

(२) श्री माधवेन्द्र पुरी एवं बल्लभाचार्य, पृष्ठ १७–१८

कालातर मे स० १५६४ मे श्री वल्लभाचार्य जी ने पूरनमल के अपूर्ण मदिर मे ही श्रीनाथ जी को विराजमान कर दिया था। स० १५७४ मे सिकदर लोदी की मृत्यु हुई थी। उसके मरने पर ब्रजवासियो ने सतोप की साँस ली थी। उसका पुत्र इब्राहीम लोदी जौनपुर और कडा-मानिकपुर के युद्ध अभियानो मे उलझा हुआ था, इसलिए उस काल मे ब्रज मे कुछ शाति थी। उस परिस्थिति का लाभ उठा कर श्रीनाथ जी के अधूरे मदिर को बनाना आरभ किया गया। स० १५७६ की वैशाख शु० ३ को मदिर पूरा बन कर तैयार हो गया था। उस समय वल्लभाचार्य जी ने गोवर्धन आकर एक बडा उत्सव किया था। इस प्रकार सुलतानो के आतकपूर्ण काल मे ब्रज मे किसी हिंदू मदिर के निर्माण का एक मात्र उदाहरण वह श्रीनाथ जी का मदिर ही था, जो बाद मे औरगजेब के शासन काल मे तोडा गया था।

**श्रीनाथ जी को टोड के घने मे ले जाकर छिपाना**—वल्लभ सप्रदायी साहित्य मे ज्ञात होता है, सिकदर लोदी के सैनिको द्वारा जब मथुरा के मदिरो को नष्ट-भ्रष्ट किया जा रहा था, तब गोवर्धन आदि ब्रज के अन्य धार्मिक स्थानो मे भी भय का वातावरण उत्पन्न हो गया था। गोवर्धन के सद्दू पाडे, रामदास चौहान, कुभनदास प्रभृति ब्रजवासियो को आशका होने लगी कि कदाचित सिकदर के सैनिको की क्रूर दृष्टि श्रीनाथ जी पर भी पडे। उससे बचने के लिए वे लोग श्रीनाथ जी के देव-विग्रह को 'टोड का घना' नामक एक निर्जन और बीहड वनस्थली मे गये थे। ब्रजवासी गण खान-पान और रहन-सहन की कठिनाइयो को सहन करते हुए भी उस दुर्गम स्थल मे तब तक रहे, जब तक भय की आशका बनी रही थी। शाति स्थापित होने पर वे पुन: श्रीनाथ जी को लेकर गोवर्धन लौट आये थे। उस घटना के समय कुभनदास भी श्रीनाथ जी के साथ 'टोड के घने' मे गये थे। उन्होने उस स्थिति का उल्लेख अपने दो पदो मे किया है[1]। उक्त पदो की उल्लेखनीय बात यह है कि इनमे आक्रमणकारियो के प्रति रोप व्यक्त न करते हुए श्रीनाथ जी के प्रति ही व्यगोक्ति की गई है! कुभनदास प्रभृति ब्रजवासियो की भावना थी कि वे घटनाएँ श्रीनाथ जी की लीला मात्र हैं। श्रीनाथ जी अपनी इच्छा से ही इस प्रकार के खेल कर रहे हैं, वरना उस तुच्छ सुलतान की क्या सामर्थ्य है कि वह श्रीनाथ जी का बाल भी बाँका कर सके!

उक्त घटना का उल्लेख चैतन्य मत के साहित्य मे भी हुआ है, जहाँ उसका काल स० १५५५ लिखा गया है[2]। वार्ता साहित्य मे उस घटना को तिथि स० १५५२ की श्रावण शुक्ला ३ बुधवार बतलाई गई है[3]। गणना के अनुसार उक्त तिथि मे वार की भूल मालूम हुई है[4]। हमारे मतानुसार वह घटना स० १५५६ के कुछ समय बाद की है, जब कि आचार्य जी श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की आरभिक व्यवस्था कर अपनी यात्रा के लिए चले गये थे[5]।

---

(१) कुभनदास ( काकरौली ), पद स० ३९८-३९९
(२) श्री माधवेन्द्र पुरी एव बल्लभाचार्य, पृष्ठ १७
(३) श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १७
(४) वार्ता साहित्यः एक बृहत् अध्ययन, पृष्ठ ५४२
(५) अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ८-१०

# २. मुगल काल

[ विक्रम सं० १५८३ से सं० १८०५ ]

**इस काल का सिंहावलोकन**—भारत मे मुसलमानी शासन काल के अतर्गत 'मुगल काल' अत्यत महत्वपूर्ण माना जाता है। सल्तनत काल के विरुद्ध इस काल मे देश की राजनैतिक प्रगति के साथ ही साथ इसकी भौतिक समृद्धि और सास्कृतिक उन्नति भी हुई थी। जहाँ तक ब्रजमडल का प्रश्न है, इसका उसी काल मे पुनरुत्थान हुआ था और इसके सास्कृतिक स्वरूप को सँभारा-सजाया गया था। इसका श्रेय उस काल के वैष्णव धर्माचार्यों और भक्त महानुभावो के साथ ही साथ मुगल सम्राट अकबर की उदार धार्मिक नीति को है। पूर्ववर्ती सुलतानो के मजहबी तास्सुब के कारण उनके काल मे यहाँ की जो अभूतपूर्व सास्कृतिक क्षति हुई थी, उसकी पूर्ति इस काल मे हो गई थी, जिसका बहुत बडा श्रेय सम्राट अकबर को है। इसीलिए अकबर का शासन काल ब्रज के इतिहास का 'स्वर्ण युग' कहा जा सकता है। अकबर की नीति का थोडा-बहुत अनुसरण जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी किया था, अत उनका शासन-काल भी ब्रज सस्कृति की प्रगति मे कुछ न कुछ सहायक ही हुआ था। उनके बाद औरगजेब की कुटिल नीति ने जहाँ मुगल साम्राज्य की जड खोदने का काम किया, वहाँ ब्रज सस्कृति को भी भीषण क्षति पहुँचाई थी। इस प्रकार उसने अपने पूर्वजो के प्रयत्नो पर पानी फेर दिया था।

**मुगल राजवंश**—इस देश मे मुगल राजवश की स्थापना का श्रेय बाबर को है। बाबर और उसके वशज 'मुगल' कहे जाते है, किंतु वास्तव मे वे मुगल न होकर अपने पूर्ववर्ती सुलतानो की भाँति तुर्क ही थे। उनके मुगल कहलाने की इतनी ही सार्थकता है कि बाबर की माता मगोल जाति की महिला थी। मध्य एशिया मे मगोलो का राजवश बडा गौरवशाली माना जाता था। चगेजखाँ उसी वश का एक विख्यात विजेता हुआ है, जिसने १३ वी शताब्दी मे एशिया और यूरोप के विस्तृत भू-भाग को हस्तगत कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। बाबर का पिता तुर्क जाति के बदनाम आक्राता तैमूर का वशज था और उसकी माता मुगल जाति के विख्यात चगेजखाँ के वश मे खान यूनस की पुत्री थी। इस प्रकार बाबर की नसो मे तुर्को के साथ मगोलो का भी रक्त था। जब बाबर ने काबुल पर अधिकार किया, तब वहाँ के पठानो पर अपना रौब जमाने के लिए उसने अपने को 'मुगल' प्रसिद्ध किया था। वही नाम बाद मे भारत मे भी प्रचलित हो गया। इस प्रकार इतिहास मे इस राजवश का गलत नाम चल पडा है।

**बाबर**—मुगल राजवश और मुगल साम्राज्य के सस्थापक जहीरुद्दीन बाबर का जन्म मध्य एशिया के फरगाना राज्य मे हुआ था। उसका पिता वहाँ का शासक था, जिसकी मृत्यु के पश्चात् बाबर को उक्त राज्य का अधिकार प्राप्त हुआ था। पारिवारिक कठिनाईयो के कारण वह मध्य एशिया के अपने पैतृक राज्य पर शासन नही कर सका था, किंतु उसने केवल २२ वर्ष की आयु मे काबुल पर अधिकार कर स० १५६१ मे अफगानिस्तान मे अपना राज्य कायम किया था। वह २२ वर्ष तक काबुल का शासक रहा था। उस काल मे उसने अपने पूर्वजो के राज्य को हस्तगत करने की कई बार चेष्टा की, किंतु वह सफल नही हो सका था। जब उसे मध्य एशिया मे बढने की आशा नही रही, तब वह भारत की सीमा मे प्रवेश करने का उपक्रम करने लगा।

**पानीपत का युद्ध और इब्राहीम लोदी की पराजय**—उस काल मे इब्राहीम लोदी दिल्ली का सुलतान था और उसकी ओर से दौलतखाँ लोदी पजाव का राज्यपाल था। दौलतखाँ इब्राहीम से असनुष्ट था, अत उसने दिल्ली सल्तनत से विद्रोह कर दिया और वावर को अपनी महायता के लिए कावुल से बुलाया था। वावर स्वय ही भारत पर आक्रमण करने का आयोजन कर रहा था और उसने इस देश की उत्तर–पश्चिमी सीमा के कुछ भाग पर अधिकार कर आगे वढने का मार्ग भी साफ कर रखा था। उसने दौलतखाँ लोदी के निमत्रण को अपने उद्देश्य की सिद्धि का एक स्वर्ण सुयोग समझा और उसके लिए वह वडी भारी तैयारी करने लगा। उस काल मे तुर्क–अफगान सैनिक भारत पर आक्रमण करने के किसी भी आयोजन मे योग देकर यहाँ की लूट से मालामाल होने के लिए सदैव लालायित रहते थे। इसलिए थोडे प्रयत्न से ही वावर के पास एक वहुत वडी सेना हो गई, जिसे लेकर वह पजाव की ओर चल दिया। उधर इब्राहीम लोदी ने जव दौलतखाँ के विद्रोह और वावर के आक्रमण का समाचार सुना, तव वह भी उनका सामना करने के लिए अपनी विशाल सेना के साथ आगे वढा। दोनो ओर की सेनाएँ पानीपत के मैदान मे एक दूसरे से भिड गई। इब्राहीम की सेना वावर की सेना से सख्या मे अधिक थी, किंतु वह उत्साह-हीन और अव्यवस्थित थी, जव कि वावर की सेना उत्साह और जोश से भरपूर थी। उसके अतिरिक्त इब्राहीम की सेना मे बदूक–तोप धारी सैनिको की सख्या वहुत कम थी, क्यो कि भारत मे तव तक गोला–वारूद का अधिक प्रचार नहीं हुआ था। उसके विरुद्ध वावर की सेना मे वदूक-चियो और तोपचियो की सख्या काफी थी, जो गोला–वारूद की युद्ध कला मे वडे निपुण थे। उन सव कारणो से सुलतानी सेना की पराजय हो गई और इब्राहीम लोदी अपने प्रमुख सामतो और सहायको के साथ युद्ध मे मारा गया। उसी युद्ध मे ग्वालियर के तोमर राजा विक्रमाजीत की भी मृत्यु हुई थी। इस प्रकार स० १५८३ (२१ अप्रैल, सन् १५२६ ई०) मे पानीपत के युद्ध मे विजयी होने से वावर को अपनी चिरकालीन अभिलाषा की पूर्ति का सुयोग प्राप्त हुआ था। उसने दौलतखाँ लोदी को पजाव के कुछ भाग का शासक वना दिया और आप दिल्ली–आगरा पर अधि-कार कर भारत मे लोदी राज्य के स्थान पर मुगल राज्य की स्थापना का आयोजन करने लगा।

**राणा सागा और वावर का युद्ध**—उस काल मे उत्तरी भारत मे दिल्ली के सुलतान के वाद सवसे अधिक शक्तिशाली शासक चित्तौड का राजपूत नरेश राणा सागा (सग्रामसिंह) था। उसने दो मुसलमान अधिनायक इब्राहीम और वावर के युद्ध मे तटस्थता की नीति अपनायी थी। वह समझता था कि अन्य आक्रमणकारियो की भाँति वावर भी लूट–मार कर वापिस चला जावेगा और तव लोदी शासन को हटा कर दिल्ली मे हिंदू राज्य कायम करने का उसे सुयोग प्राप्त होगा। किंतु जव उसने देखा कि वावर भारत मे जम कर वैठ गया है और वह यहाँ मुगल राज्य की स्थापना का आयोजन कर रहा है, तव वह उसके प्रयत्न को विफल करने के लिए तैयार हो गया। राणा सागा विख्यात वीर और कुशल सेनानी था। वह तव तक अनेक युद्ध कर चुका था, जिनमे उसका शरीर क्षत–विक्षत हो गया था, किंतु उसे सदैव विजय प्राप्त हुई थी। वावर के विरुद्ध युद्ध मे भी उसे विजय की पूरी आशा थी, अत वह राजपूत वीरो की सेना के साथ विदेशी आक्रमण-कारी से युद्ध करने को चल दिया।

उधर वावर ने भी भली भाँति समझ लिया था कि राणा सागा के रहते हुए भारत मे मुगल राज्य की स्थापना करना सभव नही है, अत उसने भी अपनी सेना के साथ राणा से युद्ध

करने का निश्चय किया। तुर्क-अफगान सैनिक राजपूतो वीरो से भीषण युद्ध करने की अपेक्षा अपने घरो को वापिस जा कर ऐश–आराम करना चाहते थे, किंतु बाबर ने बडे आग्रह पूर्वक उन्हे रोका था। उसने अपने जोशीले भाषण मे उन्हे उत्साहित करते हुए कहा कि विदेश मे विजयी होने के बाद अब पराजित की तरह भागना उनके लिए उचित नही है। निदान मुसलमान सैनिक भी मरने-मारने के लिए तैयार हो गये। दोनो ओर की सेनाएँ एक–दूसरी से भिड गईं और उनमे बडा भयकर युद्ध होने लगा।

राजस्थान के ऐतिहासिक काव्य 'वीर विनोद' मे सागा और बाबर के उस युद्ध का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। उससे ज्ञात होता है, बाबर बीस हजार मुगल सैनिको को लेकर सागा से युद्ध करने आया था। उसने सागा की हिरावल सेना के लोदी सेनापति को प्रलोभन देकर अपनी ओर कर लिया था, जिससे वह सागा को धोखा देकर अपनी सेना के साथ बाबर से जा मिला था। फिर भी बाबर को सागा से युद्ध जीतने मे शका हो रही थी। उसने खुदा से दुआ माँगी कि वह उसे कामयाब करे। उसके काबुली ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की थी कि यदि वह शराब न पीने का अहद करे, तो खुदा उसे कामयाबी दे सकता है। निदान बाबर ने उसी समय शराब छोडने का अहद किया और फिर जीवन भर उसने उसे नही छूआ। उसी स्मृति मे वहाँ एक मसजिद बनाई गई थी, जिसके खडहर अभी तक विद्यमान है।

बाबर और सागा की पहिली मुठभेड बयाना मे और दूसरी उसके निकटवर्ती खनुवाँ नामक स्थानो मे हुई थी। राजपूतो ने अत्यत वीरता पूर्वक युद्ध किया था और राणा सागा ने अपने प्रबल प्रहारो से बाबर के छक्के छुडा दिये थे, किंतु अत मे सागा की पराजय हुई और बाबर विजयी हुआ था। उसका कारण बाबर के सैनिको की वीरता नही थी, बल्कि उनके नये प्रकार के अस्त्र–शस्त्र थे और उन्नत तोपखाना था। राजपूतो से सन्मुख युद्ध करते हुए तुर्कों के पैर उखड गये थे, जिससे राजपूतो की विजय और तुर्कों की पराजय दिखाई देने लगी थी। किंतु जब बाबर के तोपखाने ने आग बरसाना आरभ किया, तब सागा की जीती हुई बाजी हार मे बदल गई। फिर भी सागा और उसके राजपूत वीर भीषण अग्नि–वर्षा मे भी मरते दम तक शत्रुओ का सहार करते रहे थे। बाबर ने राजपूतो के सबध मे लिखा है,—'वे मरना-मारना तो जानते है, किंतु युद्ध करना नही जानते!' सागा और बाबर का वह निर्णायक युद्ध सीकरी के निकटवर्ती खनुवाँ नामक स्थान मे स० १५८४ ( १६ अप्रैल, सन् १५२७ ) मे हुआ था। इस प्रकार उस काल के व्रजमडल की पावन धरा पर ही जयचद्र के पश्चात् सागा की भी पराजय हुई थी, जिससे एक बार फिर भारत के भाग्य का पाँसा पलट गया था।

**मुगल राज्य की स्थापना और बाबर की मृत्यु**—इब्राहीम लोदी और राणा सागा की पराजय के पश्चात् बाबर ने भारत मे मुगल राज्य की विधिवत् स्थापना की थी और आगरा को अपनी प्रमुख राजधानी बनाया था। उससे पहिले सुलतानो की राजधानी दिल्ली थी, किंतु बाबर ने उस पर अधिकार करने पर भी उसे राजधानी बनाना उचित नही समझा था। कारण यह था कि वहाँ सुलतानी काल के पठानो का प्राबल्य था, जो तुर्कों की शासन–सत्ता को पसद नही करते थे। फिर वहाँ विदेशी आक्रमण की सदैव आशका रहती थी। इसलिए प्रशासन और प्रतिरक्षा दोनो ही दृष्टियो से बाबर को दिल्ली की अपेक्षा आगरा मे अधिक सुविधा मालूम हुई थी। मुगल राज्य की राजधानी आगरा मे होने से उसका आरभ से ही व्रज से घनिष्ट सबध रहा था।

मध्य एशिया मे वहाँ के शासको का सबसे बडा पद 'खान' था, जो मगोल वंशियो को ही दिया जाता था। दूसरे बडे से बड़े शासक 'अमीर' कहलाते थे। बाबर का पूर्वज और तुर्क वंश का प्रबल आक्राता तैमूर भी 'अमीर' ही कहलाता था। भारत मे दिल्ली के मुसलमान शासक 'सुलतान' कहे जाते थे। बाबर ने मध्य एशिया और भारत के मुसलमान शासको से बढ कर अपना पद 'बादशाह' घोषित किया था, जिससे वह मुसलमान शासको और हिंदू राजाओ पर अपना बड़प्पन स्थापित कर सके। बाबर के बाद सभी मुगल सम्राट 'बादशाह' कहलाते थे।

बाबर केवल ४ वर्ष तक भारत मे राज्य कर सका था। उस काल मे उसने अपने शासन को दृढ करने के साथ ही साथ अपनी राजधानी आगरा मे एक महल का निर्माण कराया, सु दर स्नानागार बनवाया तथा बाग लगवाया था। उसकी मृत्यु स० १५८७ ( २६ दिसंबर, सन् १५३० ) मे आगरा मे हुई थी। उस समय उसकी आयु केवल ४८ वर्ष की थी। बाबर की अंतिम इच्छा के अनुसार उसका शव काबुल ले जाकर दफनाया गया था, जहाँ उसका मकबरा बना हुआ है। उसके पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र हुमायू मुगल बादशाह हुआ था।

**हुमायू**—बाबर के पुत्रो मे हुमायू सबसे बडा था। वह वीर, उदार और भला मानस था, किंतु बाबर के समान कुशल सेनानी और नीति निपुण शासक नही था। वह स० १५८७ मे अपने पिता की मृत्यु होने के अनतर बादशाह हुआ था और १० वर्ष तक अपने राज्य को दृढ करने के लिए शत्रुओ के अतिरिक्त अपने भाइयो से भी सघर्ष करता रहा था। उसे शेरखा नामक एक पठान सरदार ने शाहबाद जिला के चौसा नामक स्थान मे स० १५९६ मे पराजित कर दिया था। वहाँ से पराजित होने पर हुमायू ने अपनी शक्ति को सचित किया और कन्नौज नामक स्थान पर शेरखां की सेना से स० १५९७ ( १७ मई, सन् १५४० ) में उसने मोर्चा लिया, किंतु दुर्भाग्य वश फिर भी उसकी पराजय हुई। उससे हताश होकर वह इस देश से भाग दिया और प्राय १४ वर्ष तक भारत और उससे बाहर ईरान एव अफगानिस्तान के विभिन्न स्थानो मे भटकता फिरा था।

१४ वर्ष बाद स० १६११ मे उसने काबुल से भारत पर चढ़ाई की और लाहौर तक के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। उसके बाद उसने शेरशाह वश के तत्कालीन बादशाह सिकदर सूर के विरुद्ध आक्रमण किया और उसे पराजित करने मे सफल हो गया। उसके फल स्वरूप स० १६११ ( २३ जुलाई, सन् १५५५) मे वह पुन भारत का बादशाह हुआ, किंतु केवल ७ महीने राज्य करने के बाद स० १६१२ ( २४ जनवरी, सन् १५५६ ) मे अपने पुस्तकालय-भवन की सीढ़ी से फिसल कर गिरने से उसकी मृत्यु हो गई। उसका मकबरा दिल्ली मे बना हुआ है। जिस समय हुमायू की मृत्यु हुई थी, उस समय उसका पुत्र अकबर केवल १३-१४ वर्ष का बालक था।

**शेरशाह सूर**—हुमायू को पराजित कर भारत से भगाने वाला वीर सेनानी शेरखा सूर वंश का एक पठान सरदार था। वह स० १५९७ मे शेरशाह के नाम से बादशाह हुआ और उसने आगरा को अपनी राजधानी बनाया था। अपने पूर्ववर्ती दिल्ली के सुलतानो की हिंदू विरोधी नीति के विपरीत उसने हिंदुओ से मेल-जोल करने की नीति अपनाई थी, जिससे उसे अपनी शासन-व्यवस्था को दृढ करने मे बड़ी सुविधा हुई थी। उसका दीवान और सेनापति हेमू ( हेमचद्र ) एक हिंदू वीर था तथा उसकी सेना मे भी हिंदुओ की पर्याप्त सख्या थी।

उसने अपने अधिकृत क्षेत्र मे शाति स्थापित कर जनता को सुखी और समृद्ध बनाने के अनेक प्रयास किये थे। उसने यात्रियो एव व्यापारियो की सुरक्षा का पूरा प्रबध किया था और लगान तथा मालगुजारी वसूल करने की उसने सतोपजनक व्यवस्था की थी। वह पहिला बादशाह था, जिसने बगाल के सोनारगाँव से सिंध नदी तक दो हजार मील लबी पक्की सडक बनवाई थी। उस सडक पर घुडसवारो द्वारा डाक लाने–ले जाने की व्यवस्था की गई थी, जिसके लिए एक-एक कोस पर घुडसवार और हरकारे रखे गये थे। उसके सिक्को पर नागरी को स्थान मिला था और उसके फरमान फारसी के साथ नागरी अक्षरो मे भी जारी किये जाते थे।

मलिक महम्मद जायसी, फरिश्ता और बदायूनी आदि ने शेरशाह के शासन की बडी प्रशसा की है। बदायूनी ने लिखा है, बगाल से पजाब तक तथा आगरा से मालवा तक, सडक पर दोनो ओर छाया के लिए फल वाले वृक्ष लगाये गये थे। कोस–कोस भर पर एक सराय, एक मसजिद और एक कूआ का निर्माण किया था। मसजिद मे एक इमाम और अजाँ देने वाला एक मुल्ला था। निर्धन यात्रियो का भोजन बनाने के लिए एक हिंदू और एक मुसलमान नौकर था। "प्रबध की यह व्यवस्था थी कि बिलकुल अशक्त बुड्ढा अशरफियो का थाल हाथ पर लिये चला जाय और जहाँ चाहे वहाँ पड रहे। चोर या लुटेरे की मजाल नही कि आँख भर कर उसकी ओर देख सके[1]!"

शेरशाह केवल ५ वर्ष तक ही शासन कर सका था, किंतु उस थोडे काल मे ही उसने अपनी योग्यता और प्रबध–कुशलता का सिक्का जमा दिया था। स० १६०२ ( २४ मई, सन् १५४५ ) मे जब वह कालिजर के दुर्ग की घेराबदी कर रहा था, तब बारूदखाने मे अकस्मात आग लग जाने उसकी अकाल मृत्यु हो गई थी।

**शेरशाह के उत्तराधिकारी**—शेरशाह सूर के मरने पर उसका पुत्र इस्लामशाह स० १६०२ ( २४ मई, सन् १५४५ ) मे गद्दी पर बैठा। उसने अपने शासन–काल मे शेरशाह की नीति को कायम रखा, किंतु उसके समय मे शाति और व्यवस्था कायम नही रह सकी थी। उसका अधिकाश समय सघर्षो मे बीता था। फिर भी वह काव्य और सगीत के लिए समय निकाल लेता था। 'असलमसाह' के नाम से उसकी कुछ हिंदी रचनाएँ भी मिलती है[2]। वह अपनी राजधानी आगरा से बदल कर ग्वालियर ले गया था और वहाँ पर ही उसकी स० १६१० ( ३० अक्टूबर, सन् १५५३ ) मे मृत्यु हुई थी।

इस्लामशाह के पश्चात् उसका चचेरा भाई मुहम्मद आदिलशाह गद्दी पर बैठा था। वह बडा ऐयाश, शराबी और मस्त तबियत का व्यक्ति था। उसके काल मे शासन की व्यवस्था शिथिल हो गई, जिससे सर्वत्र अशाति फैलने लगी थी। शासन कार्य मे अयोग्य होने पर भी वह सगीत कला का बडा विद्वान था। उस काल मे बडे–बडे सगीतज्ञ भी उसका लोहा मानते थे। उसने अपने दरबार मे अनेक सगीतज्ञो को आश्रय दिया था। बाबा रामदास तथा तानसेन जैसे विख्यात गायक पहिले उसी के दरबार मे रहे थे और बाद मे वे अकबर के दरबारी गायक हुए थे।

---

(१) अकबरी दरबार ( दूसरा भाग ), पृष्ठ ४५४

(२) सगीत राग कल्पद्रुम ( प्रथम खड ), पृष्ठ १९२, १९३ और ३०३

आदिलशाह की शासन विपयक अयोग्यता के कारण अनेक लोग उसके विरोधी हो गये थे और राज्य मे सर्वत्र विद्रोह होने लगा था। अत मे उसे अपनी राजधानी से भाग कर विहार मे शरण लेनी पडी थी। उस समय सिकदरशाह सूर उसके स्थान पर गद्दी पर बैठ गया था। उस काल की अव्यवस्था से लाभ उठा कर ही हुमायू ने कावुल से भारत पर आक्रमण किया था और वह सिकदर सूर को हराकर स० १६११ मे पुन भारत मे मुगल राज्य की स्थापना कर सका था।

**हेमचद्र**—वह शेरशाह का सुयोग्य दीवान, कोषाध्यक्ष और सेनानायक था। उसकी प्रवध-कुशलता और वीरता का शेरशाह की सफलता मे वडा योग रहा था। आर्थिक और सामरिक सूझ-वूझ मे उसकी तुलना का कोई दूसरा व्यक्ति उस काल मे नही था। वह किस जाति का था और उसका कहाँ जन्म हुआ था, इस विषय मे विद्वानो का एक मत नही है। मुसलमान इतिहास लेखको ने उसे पश्चिमी प्रदेश का वनिया (वणिक-वैश्य) लिखा है। आजाद ने उसे 'दूसर' वतलाया है[1]। श्री भगवतमुदित कृत 'रसिक अनन्य माल' मे उसे तथा हित हरिवंश के एक शिष्य नवलदास को 'धूसर' लिखा गया है[2]। राहुल सास्कृत्यायन के मतानुसार वह सहसराम (जि० आरा) का रौनियार वैश्य था। उसी क्षेत्र मे शेरशाह का अभ्युदय हुआ था, जिसके साथ हेमचद्र भी प्रकाश मे आया था[3]। राहुल जी का उक्त मत प्रामाणिक नही मालूम होता है।

शेरशाह के वाद जव उसका पुत्र इस्लामशाह वादशाह हुआ, तव वह हेमचद्र पर अपने शासन का समस्त भार डाल कर निश्चित हो गया था। इस्लामशाह के वाद जव आदिलशाह वादशाह हुआ, तव राज्य के पठान सरदारो मे फूट पडने से पारस्परिक सघर्ष होने लगा था। हेमचद्र आदिलशाह का वजीर और प्रधान सेनापति था। वह विहार मे वहाँ की गडवडी और अव्यवस्था को दूर करने मे लगा हुआ था, उसी समय हुमायू ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया, किंतु ७ महीने वाद ही उसकी मृत्यु हो गई थी। हुमायू के वाद जव उसका वालक पुत्र अकवर उत्तराधिकारी घोषित किया गया और उसका सरक्षक वैरमखा वनाया गया, तव हेमचद्र अपनी सेना लेकर दिल्ली आया था और वहाँ से उसने मुगलो को भगा दिया था।

**हिंदू राज्य की स्थापना का विफल प्रयास**—हेमचद्र ने तव तक पठानो के राज्य को व्यवस्थित और सुदृढ करने के लिए वडी ईमानदारी से प्रयत्न करता रहा था, किंतु वह शेरशाह के वशजो की अकर्मण्यता और पठान सरदारो की फूट से वडा परेशान हो गया। उसने देखा कि सूर पठानो मे अव इतना दम नही है कि वे मुगलो के मुकावले मे पुन शासन का उत्तरदायित्व सँभाल सके। इसलिए उसने स्वय ही मुगलो को पूरी तरह पराजित कर दिल्ली मे स्वतत्र हिंदू राज्य की स्थापना करने का निश्चय किया। उसके लिए वह स० १६१२ मे 'विक्रमादित्य' की पदवी धारण कर दिल्ली के राजसिंहासन पर वैठ गया। वह राय पिथौरा (पृथ्वीराज) और जयचद्र जैसे महान् हिंदू राजाओ की परपरा को आगे वढाना चाहता था।

---

(१) **अकवरी दरवार** (प्रथम भाग), पृष्ठ २६७

(२) **श्री नवलदास की परचई** (रसिक अनन्य माल), पृष्ठ १५

(३) **अकवर**, पृष्ठ ८

उसका वह महान् उद्देश्य तत्कालीन मुगल शक्ति को पूरी तरह समाप्त किये विना सभव नही था। उसने मुगल सरदारो से कई बार युद्ध किये और उन्हे दिल्ली राज्य से खदेड कर पंजाब की ओर भगा भी दिया। फिर भी मुगल सरदार भारत छोड कर जाने को तैयार नही हुए। वे एक बार फिर हेमचद्र से बडा युद्ध कर अतिम निर्णय करना चाहते थे। उसके लिए मुगल सेना ने खानजमाँ अलीकुलीखा और बैरमखा के नेतृत्व मे पानीपत मे एकत्र होकर अपना भाग्य-निर्णय करने का निश्चय किया। हेमचद्र भी अपनी सेना सहित उनसे मोर्चा लेने को वहाँ पहुँच गया था। दोनो सेनाओ मे भीषण युद्ध हुआ। हेमचद्र हाथी पर बैठा हुआ स्वय सेना का सचालन कर रहा था। उसी समय शत्रुओ की सेना का एक तीर उसकी आँख मे लगा और वह आँख को फोड कर पार हो गया। हेमचद्र को असह्य पीडा होने लगी, किंतु उस वीर ने उस तीर को अपने हाथ से निकाल फेका और खून की धार रोकने के लिए आँख पर रूमाल बाँध लिया! वह उस अवस्था मे भी युद्ध करने लगा, किंतु वहुत खून बह जाने से बेहोश होकर हाथी के हौदा मे गिर गया।

हेमचद्र के गिरते ही उसकी सेना की हिम्मत टूट गई और वह तितर-वितर होने लगी। इसे देख कर मुगलो ने बडे जोर का हमला कर शत्रु सेना को पराजित कर दिया। बेहोश हेमचद्र मुगलो का वदी वना लिया गया। जब उसे होश हुआ, तब वह हथकडी-बेडियो से जकडा हुआ मुगलो के मनोनीत बालक बादशाह अकबर के सन्मुख उपस्थित था। मुगल सरदार बैरमखा ने अकबर से कहा कि वह उस काफिर को अपने हाथ से मार कर गाजी बने! अकबर ने उस पर वार करना उचित नही समझा। इस पर बैरमखा ने स्वय ही उसका अत कर दिया। उस समय अकवर १३-१४ वर्ष का बालक था, किंतु फिर भी उसने मरणासन्न वीर पर हाथ न उठा कर अपने बडप्पन का परिचय दिया था। उस समय तक उसमे इतनी समझ नही आई थी कि वह हेमचद्र को अपने पक्ष मे करने की चेष्टा करता। यदि हेमचद्र जैसी अद्भुत योग्यता का वीर पुरुष अकवर के साथ हो जाता, तो वह उसके नवरत्नो मे से किसी से भी कम योग्य सिद्ध नही होता। हेमचद्र की पराजय स० १६१३ ( ६ नवबर सन् १५५६ ) मे पानीपत के मैदान मे हुई थी। उसी दिन स्वतत्र हिंदू राज्य के सस्थापन की आशा समाप्त हुई और बालक अकबर के नेतृत्व मे मुगलो की शासन सत्ता जम गई।

## ब्रजमडल का आकर्षण—

**कृष्णोपासक भक्तो की अभिलाषा**—वैष्णव धर्माचार्यो द्वारा कृष्ण-भक्ति का प्रचार किये जाने से विभिन्न सप्रदायो के कृष्णोपासक भक्त जनो का ब्रज के प्रति बडा आकर्षण हो गया था। देश के अनेक भागो मे रहने वाले भक्त जनो की बडी अभिलापा रहती थी कि वे ब्रजमडल मे पहुँच कर भगवान् श्री कृष्ण के लीला-स्थलो का दर्शन करे और वहाँ निवास कर अपने जीवन को सार्थक करे। उस सात्विक अभिलापा की पूर्ति के लिए वे भक्त जन उस काल की सकटपूर्ण स्थिति की उपेक्षा कर और मार्ग की अनेक कठिनाइयो को सहन कर ब्रज मे पहुँचने का प्रयास करते थे। मुसलमान अधिकारियो की असहिष्णुता और उनके कठोर व्यवहार के कारण उक्त काल मे भक्त जनो का मथुरा मे रहना बडा कठिन था, अत वे गिरिराज पहाडी के पुराण प्रसिद्ध गोबर्धन क्षेत्र मे जाकर निवास करते थे। श्रीनाथ जी के मदिर की स्थापना और वहाँ की समुचित सेवा-पूजा के कारण तत्कालीन ब्रज मे गोवर्धन कृष्ण-

भक्ति का प्रमुख केन्द्र था। उसके अतिरिक्त गोकुल, राधाकुड, वृदावन, नदगाँव, बरसाना आदि लीला–स्थल भी भक्त जनो के आकर्षण केन्द्र थे, किंतु उन निर्जन और बीहड स्थानो की अनेक कठिनाइयो के कारण कतिपय वैष्णव साधु–सत और विरक्त जन ही वहाँ पहुँच पाते थे। उन स्थानो मे निवास करने का साहस तो बहुत थोडे ही भक्त जन कर सकते थे।

**बल्लभ संप्रदायी भक्तो का ब्रज–वास**—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा श्रीनाथ जी की सेवा–पूजा का आरभ किये जाने पर उनके शिष्य रामदास चौहान और कुभनदास को क्रमश सेवा और कीर्तन का काम सोपा गया था। उसके बाद जब स० १५६७ मे सूरदास, स० १५६८ मे कृष्णदास और स० १५७७ मे परमानददास भी आचार्य जी से दीक्षा लेकर गोवर्धन मे निवास करने के लिए आ गये, तब श्रीनाथ जी की सेवा और भी समुचित रूप मे होने लगी थी। कृष्णदास को श्रीनाथ जी के मदिर का अधिकारी बनाया गया और सूरदास तथा परमानददास को कीर्तन करने के लिए नियुक्त किया गया था। वल्लभाचार्य जी के देहावसान के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी पुष्टि सप्रदाय के आचार्य हुए थे। किंतु जब स० १५९९ मे उनका भी देहावसान हो गया, तब उनके अनुज श्री विठ्ठलनाथ जी ने आचार्यत्व का उत्तरदायित्व सँभाला था। उन्होने अधिकारी कृष्णदास के सहयोग से श्रीनाथ जी की सेवा का विस्तार कर उनके लिए शृगार, भोग और राग की समुचित व्यवस्था की थी। उसके कारण श्रीनाथ जी का मदिर कृष्णोपासना का प्रसिद्ध केन्द्र होने के साथ ही साथ ब्रज की विविध कलाओ के प्रसार का माध्यम भी बन गया था। उस समय देश के विभिन्न स्थानो के भक्त जन वहाँ प्रचुर सख्या मे निवास करने लगे थे। उनमे अनेक कवि, सगीतज्ञ और कलाकार भी थे, जो अपनी–अपनी कलाओ को श्रीनाथ जी की सेवा मे सर्मपित करते थे।

**'अष्टछाप' की स्थापना**—वल्लभ सप्रदायी सेवा–विधि मे भगवान् श्री कृष्ण के लीलागान को बडा महत्व दिया गया है। उसके लिए 'राग' मे गायन करने का विधान है। जब श्री विठ्ठलनाथ जी ने श्रीनाथ जी की सेवा का विस्तार किया, तब स० १६०२ मे उन्होंने सप्रदाय के आठ सगीतज्ञ भक्त–कवियो की एक मडली का सगठन भी 'अष्टछाप' के नाम से किया था। उस मडली के चार सदस्य कुभनदास, सूरदास, कृष्णदास और परमानददास श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे तथा शेष चार गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नददास स्वय श्री विठ्ठलनाथ जी के शिष्य थे। अष्टछाप के उन आठो महानुभावो ने गोवर्धन मे निवास कर श्रीनाथ जी के कीर्तन के लिए जिन अगणित पदो की रचना की थी, उनसे ब्रज की भक्ति–भावना के प्रसार के साथ ही साथ ब्रज के साहित्य और सगीत की बडी समृद्धि हुई थी।

**चैतन्य संप्रदायी भक्तो द्वारा ब्रज का अनुसधान**—चैतन्य महाप्रभु द्वारा बगाल मे कृष्ण–भक्ति का व्यापक प्रचार होने से वहाँ के भक्त जनो मे श्री कृष्ण का नाम–कीर्तन और भागवतादि पुराणो का प्रवचन हुआ करता था। पुराणो मे श्री कृष्ण के जिन लीला–स्थलो का उल्लेख हुआ है, उनमे वृदावन का महत्व सबसे अधिक है, अत बगीय भक्तो को इस लीला–धाम के प्रति सहज आकर्षण था। वे ब्रज मे जाकर वृदावन तथा अन्य लीला–स्थलो मे निवास करने के लिए बडे लालायित रहते थे। उस काल मे यात्रा की कठिनाइयो के कारण बगाल के दूरस्थ प्रदेश से ब्रज मे पहुँचना बडा सकटपूर्ण था। फिर सिकदर लोदी के दमनकारी शासन से उस समय

व्रज मे आतक और भय का वातावरण बना हुआ था। तब भी चैतन्य सप्रदायी भक्त जनो के मन मे व्रज–वास करने का बडा उत्साह था। स० १५६६ मे चैतन्य देव के दो अनुचर लोकनाथ और भूगर्भ व्रज मे आये थे। उनसे पहिले चैतन्य जी के दो गुरुजन सर्वश्री माधवेन्द्रपुरी और ईश्वरपुरी भी व्रज की यात्रा कर चुके थे। किंतु वे चारो महानुभाव व्रज के समस्त लीला स्थलो का दर्शन नही कर पाये थे; क्यो कि उस काल मे प्राय सभी लीला–स्थल सघन वनो से आच्छादित होने के कारण दुर्गम और अज्ञात थे। चैतन्य देव का उद्देश्य उन लीला स्थलो का अनुसधान कर उन्हे भक्त जनो के निवास योग्य बनाना था। उसके लिए वे स्वय स०१५७३ मे व्रज मे आये थे। उन्होने तब गोवर्धन के निकटवर्ती राधाकु ड तीर्थ का उद्धार किया था और व्रज के अन्य लीला-स्थलो की यात्रा कर उनकी कठिनाइयो को दूर करने का आयोजन किया था। वे स्वय तो यहाँ रह कर उस कार्य को नही कर सके, किंतु उन्होने अपने अनेक शिष्य–सेवको को उसके लिए प्रेरित किया था। उनकी प्रेरणा से सर्व प्रथम रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी क्रमश स० १५७४ और स० १५७६ मे व्रज मे आकर स्थायी रूप से रहे थे। फिर स० १५८८ मे गोपाल भट्ट, स० १५९० मे कृष्णदास कविराज, स० १५९१ मे रघुनाथदास, स० १५९८ मे जीव गोस्वामी और स० १६०२ मे नारायण भट्ट भी यहाँ आकर रहने लगे थे। उनके अतिरिक्त समय–समय पर और भी अनेक चैतन्य सप्रदायी भक्त जन आये थे। उन्होने व्रज के विविध लीला–स्थलो का अनुसधान किया और व्रज की भक्ति–भावना के प्रसार के लिए विविध ग्रथो का निर्माण किया था। व्रज के अनुसधानात्मक ग्रथो मे नारायण भट्ट जी की रचनाएँ उल्लेखनीय है और भक्ति–ग्रथो मे सर्वश्री सनातन, रूप और जीव गोस्वामियो की रचनाओ के साथ ही साथ कृष्णदास कविराज कृत 'चैतन्य चरितामृत' अधिक महत्वपूर्ण है। चैतन्य सप्रदाय के इन सिद्धात ग्रथो को उक्त विद्वत्जनो ने व्रज के विविध स्थानो मे निवास करते हुए रचा था।

**हित हरिवंश जी का वृंदाबन-निवास**—राधावल्लभ सप्रदाय के प्रवर्त्तक हित-हरिवश जी देववन ( जि० सहारनपुर ) के निवासी थे, किंतु अपनी भक्ति–भावना की सिद्धि के लिए वे व्रज के उस पावन स्थान मे आकर रहने लगे थे, जिसे अब वृ दावन कहा जाता है। उनके आगमन का काल स० १५९० है। यह वह समय था, जब नव स्थापित मुगल राज्य के अस्तित्व की रक्षा के लिए हुमायू अपने शाक्तिशाली शत्रुओ से सघर्ष करता हुआ फिर रहा था। उस समय व्रज मे शासन की ओर से उत्पीडन तो नही था, किंतु यहाँ अराजकता और अव्यवस्था फैली हुई थी। उस काल मे वर्तमान वृ दावन एक निर्जन वन था, जहाँ बस्ती प्राय: नही थी। उसके अधिकाश भाग मे हिसक जीवो और चोर–डाकुओ का भय था। वहाँ नरवाहन नामक एक तस्कर ने अपनी लूट–मार से बडा आतक पैदा कर रखा था। 'रसिक अनन्य माल' नामक ग्रथ से ज्ञात होता है कि नरवाहन व्रज के भैगाँव नामक स्थान का निवासी था। उसकी तस्करी वृत्ति से व्रजमडल मे बडा आतक छाया हुआ था। वह इतना निर्भीक था कि शाही अनुशासन की उपेक्षा कर चाहे जहाँ लूट–मार करने लगता था। उसके नाम से बडे–बडे सरदार–सामत भी काँपते थे। ऐसी विषम परिस्थिति मे हित हरिवश जी अपने घर–बार और ठाकुर–सेवा के साथ निर्जन वृ दावन मे निवास करने को आये थे। उससे नरवाहन को बड़ा विस्मय हुआ। वह एक दिन अकस्मात उनसे मिलने चला आया और हित जी के दर्शन तथा उनके उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि अपनी कठोरता और दस्यु वृत्ति को छोड कर उनका शरणागत हो गया था। हित

हरिवंश जी वृ दावन मे आकर उस स्थल पर रहे थे, जिसे अब 'सेवा–कुंज' कहा जाता है। उस बनस्थली मे ही उन्होने श्री राधावल्लभ जी का पाटोत्सव स० १५६१ मे किया था।

इस प्रकार हित जी ने वृ दावन मे आते ही वहाँ के एक बडे सकट को दूर किया और ब्रजवासियो पर अपने महत्व की छाप लगायी थी। उसके बाद शेरशाह ने हुमायू को पराजित कर एक सुव्यवस्थित राज्य की स्थापना की थी। उसके काल मे ब्रज मे शाति और व्यवस्था कायम रही थी। उस समय सडको का निर्माण और मार्ग की सुरक्षा होने से आवागमन की भी कठिनाई दूर हो गई थी, जिससे ब्रज के प्रेमो दूरस्थ स्थानो से आकर यहाँ निवास करने लगे थे। फलत वृ दावन तथा ब्रज के अन्य लीला–स्थल आबाद हो गये। उसके बाद सम्राट अकबर के शासन काल मे इन स्थानो की बडी उन्नति हुई थी।

**अन्य भक्त जनो का ब्रज-वास**—निंबार्क सप्रदाय के आचार्य श्री केशव काश्मीरी भट्ट और मथुरा की 'यत्र–बाधा' का उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। उक्त घटना के बाद उन्होने मथुरा के 'ध्रुव टीला' पर निवास किया था। उक्त भट्ट जी के पश्चात् उनके शिष्य सर्वश्री श्रीभट्ट जी और हरिव्यासदेव जी भी मथुरा के उसी स्थल पर निवास करने रहे थे और वहाँ पर ही उनका देहावसान हुआ था। उन तीनो की समाधियाँ मथुरा के 'नारद टीला' पर बनी हुई है।

ब्रज के विख्यात सत स्वामी हरिदास जी भी उसी काल मे वृ दावन मे आकर रहे थे। उनका निवास उस स्थल पर था, जिसे अब 'निधुवन' या 'निधिवन' कहा जाता है। वे परम भक्त और सगीत कला के अद्वितीय ज्ञाता थे। ऐसा कहा जाता है, अकबरी दरबार के श्रेष्ठतम गायक तानसेन ने स्वामी हरिदास जी से सगीत की शिक्षा प्राप्त की थी। मुगल सम्राट अकबर उनकी सगीत कला से इतना प्रभावित हुआ था कि वह स्वय उनसे मिलने के लिए निधुवन मे आया था।

## अकबर ( शासन-काल स० १६१३ से १६६२ )—

**आरभिक जीवन**—मुगल सम्राट अकबर का जन्म सिंध के रेगिस्तान मे अमरकोट के पास स० १५६६ ( २३ नवबर, सन् १५४२ ) मे उस समय हुआ था, जब उसका पिता हुमायू शेरशाह से पराजित होकर विदेश भागने की तैयारी मे था। हुमायू की दयनीय दशा के कारण अकबर की बाल्यावस्था बडे सकट मे बीती थी और कई बार उसकी जान पर भी जोखम आगई थी। जिस समय वह ५ वर्ष का था, उसके स्वार्थी चाचा ने तोपो की गोलाबारी के बीच मे उसे बैठा दिया था, किंतु दैवी इच्छा से उसका बाल भी बाँका नही हुआ था। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, स० १६१२ मे हुमायू ने भारत पर आक्रमण कर अपना खोया हुआ राज्य पुन प्राप्त कर लिया था, किंतु वह केवल ७ माह तक ही जीवित रहा था। उसकी मृत्यु स० १६१२ के अत मे दिल्ली मे हुई थी। उस समय अकबर पजाब मे था। मृत्यु के २१ दिन बाद ( १४ फरवरी, सन् १५५६ मे ) पजाब के जिला गुरदासपुर के कलानूर नामक स्थान मे बडी सादगी के साथ उसकी गद्दीनशीनी की रस्म पूरी की गई थी। तब तक हुमायू की मृत्यु का समाचार गुप्त रखा गया और अकबर के गद्दीनशीन हो जाने पर ही हुमायू को दिल्ली मे दफनाया गया था। उसका सुदर मकबरा उसकी दूसरी पत्नी रानी बेगम ने अपने निजी धन से बनवाना शुरू किया था, जो १३–१४ वर्ष बाद ( अप्रैल, सन् १५७० मे ) बन कर तैयार हुआ था। यह मकबरा अकबर कालीन मुगल स्थापत्य शैली का एक दर्शनीय नमूना है।

अकबर बाल्यावस्था से ही अपने अनुपम गुणो का परिचय देने लगा था। जिस समय हुमायू ने भारत से निष्कापित होने के बाद काबुल पर अधिकार किया, उस समय उसने १० वर्ष के बालक अकबर को स० १६०६ ( जनवरी, सन् १५५२ ) मे गजनी का राज्यपाल बनाया था। जब हुमायू पुन भारत मे आया, तब १३ वर्ष का अकबर पजाब का राज्यपाल था। जिस समय कलानूर मे उसे हुमायू का उत्तराधिकारी घोपित किया गया, उस समय उसकी आयु केवल १३-१४ वर्ष की थी। किंतु उस छोटी अवस्था मे ही वह अनेक वयष्क व्यक्तियो से अधिक दु ख-सुख और उतार-चढाव के अनुभव प्राप्त कर चुका था। फिर भी आरभ मे बैरमखा उसका सरक्षक बनाया गया, जो उसकी तरफ से राज्य का सचालन करता हुआ सब झगडे-झझट निपटाता रहा था।

अकबर के शासन काल के आरभिक ५ वर्ष उसके सरक्षक बैरमखा के प्रभुत्व थे। अकबर को बैरमखा की कठोर नीति कतई पसद नही थी। इधर उन वर्षो मे उसने अपनी योग्यता, वीरता और प्रबध-कुशलता का भी पूरा परिचय दिया था। फलत वह बैरमखा के हाथ की कठपुतली बना रहना नही चाहता था। उसने स० १६१७ मे बैरमखा को हज जाने के लिए विवश किया और आप स्वतत्रता पूर्वक राज्य की व्यवस्था करने लगा। हज के मार्ग मे बैरमखा की मृत्यु हो गई थी। उस समय उसका एक मात्र पुत्र रहीम केवल ४ वर्ष का बालक था। अकबर ने रहीम को अपने सरक्षण मे रखा और उसके पालन-पोषण तथा उसकी पढाई-लिखाई की यथोचित व्यवस्था कर दी थी।

**हिंदुओ से सद् व्यवहार और राजपूतों से वैवाहिक संबध**—बैरमखा के अनुशासन से मुक्त होते ही अकबर ने उसकी कठोर नीति के बजाय अपनी उदार नीति से शासन करना आरभ किया था। उसने शेरशाह का अनुकरण करते हुए हिंदुओ के साथ सद् व्यवहार किया और उनके सहयोग से राज्य के विस्तार तथा शासन को सुदृढ करने मे सफलता प्राप्त की थी। वह राजपूतो की वीरता और उनकी प्रतिज्ञा-पालन की प्रकृति से बडा प्रभावित हुआ था। उसने राज्याधिकार प्राप्त करते ही अपनी कुशाग्र बुद्धि से यह समझ लिया था कि यदि भारत मे मुगल राज्य को सुदृढ और स्थायी बनाना है, तो राजपूत वीरो का सहयोग और उनकी सहायता प्राप्त करना आवश्यक है। उसके लिए वह राजपूत राजाओ से मित्रतापूर्ण वैवाहिक सबध स्थापित करने का आयोजन करने लगा। उससे पहिले सुलतानो के काल मे बडे घरो की सुदर हिंदू लडकियो को मुसलमानी शासक बलात् पकड कर उनके साथ निकाह कर लेते थे, जिससे पारस्परिक कटुता की निरतर वृद्धि होती रही थी। अकबर ने बल-प्रदर्शन के स्थान पर मित्रता का व्यवहार किया था। इस प्रकार उसने सुलतानी काल की कुप्रथा का रूप बदल कर कटुता के स्थान पर हिंदुओ का प्रेम अर्जित किया था।

स० १६१६ ( १४ जनवरी, सन् १५६२ ) मे जब उसने अपनी प्रथम अजमेर यात्रा की थी, तब मार्ग मे वह आमेर के राजा बिहारीमल से मिला था और राजपूत वीरो से वैवाहिक सबध स्थापित कर उनका सहयोग प्राप्त करने मे सफल हुआ था। इस प्रकार राजपूत राजाओ मे कछवाहा नरेश सबसे पहिले अकबर के सबधी और सहायक हुए थे[1]। राजा बिहारीमल ने अपनी

---

(१) अकबरनामा ( अगरेजी सस्करण ), भाग २, पृष्ठ ८८०

पुत्री का विवाह अकबर के साथ कर दिया और विवाह की रस्म साभर नगर मे हुई। उस समय अकबर की आयु १९ वर्ष की थी और तब उसके राज्यारोहण का छटा वर्ष था। वह विवाह अकबर की उन्नति का प्रमुख आधार बन गया। उसके द्वारा उसने राजपूतो का हार्दिक सहयोग प्राप्त कर उनकी सहायता से अपने साम्राज्य का विस्तार किया था। बिहारीमल का पुत्र भगवानदास और पौत्र मानसिंह उसी समय ( स० १६१९ ) से अत तक अकबर के प्रमुख सहयोगी और सहायक बने रहे थे। उनके अनुकरण पर और भी कितने ही राजपूत नरेशो ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर उसकी सहायता मे अपना जीवन अर्पित किया था।

अकबर ने जहाँ हिंदू कन्याओ से विवाह किया था, वहाँ वह यह भी चाहता था कि हिंदू भी मुसलमान कन्याओ से विवाह करें। उसने राजपूत राजाओं से मुसलमान सरदारो और राजवश वालो की कन्याओ से विवाह करने को विशेष रूप से कहा भी था। उन्होंने जवाब दिया—'जहाँपनाह ! आप बडे है, आप हमारी लडकियाँ ले सकते हैं, मगर हम आपकी लडकियाँ नहीं ले सकते है।" इस प्रकार अपने को छोटा बतला कर राजपूत राजाओ ने अपने विचारानुसार अपने रक्त को अशुद्ध होने से बचा लिया था। उनका कहना था कि लडकी देने से उनका रक्त नही बिगडेगा। उसे तो उन्होने शरीर के दूपित भाग की तरह काट कर फैंक दिया, किंतु मुसलमानो की लडकियो के साथ विवाह करने से उनकी वश-परपरा ही दूपित हो जावेगी। राजपूतो का वह तर्क उनके दृष्टिकोण से चाहे ठीक रहा हो, किंतु उससे हिंदुओ को पूरा घाटा और मुसलमानो को बडा लाभ रहा था। यदि उस समय हिंदू-मुसलमानो मे पारस्परिक विवाहो का प्रचलन हो जाता, तो मुसलमान भी विशाल हिंदू समाज के वैसे ही अग बन जाते, जैसे जैन, सिक्ख आदि है।

**आगरा मे राजधानी का निर्माण**—आगरा का प्राचीन नाम अग्रवन, अर्गलपुर अथवा उग्रसेनपुर[1] कहा जाता है और इसका इतिहास भी काफी पुराना बतलाया जाता है, किंतु सिकदर लोदी के शासन काल ( स० १५४६-स० १५७४ ) से पहिले यह एक साधारण कस्बा था। मुसलमानी शासन के आरभ से लेकर सुलतानो के अतिम काल तक दिल्ली ही भारत की राजधानी रही थी। सिकदर लोदी के शासन के उत्तर काल मे उसकी राजनैतिक गति-विधियो का केन्द्र दिल्ली की अपेक्षा आगरा हो गया था। उसका कारण चाहे ग्वालियर के तोमर राजा मानसिंह के विरुद्ध युद्ध करने की सुविधा हो, चाहे उत्तर के निरतर आक्रमणो से सुरक्षा हो। इस प्रकार सल्तनत काल के अत होते-होते आगरा सैनिक राजधानी अवश्य था, चाहे उसे सपूर्ण राजधानी होने का महत्व प्राप्त नही हुआ था। मुगल राज्य के सस्थापक बाबर ने आरभ से ही आगरा मे अपनी राजधानी कायम की थी। उसके बाद हुमायू ने और फिर शेरशाह तथा उनके उत्तराधिकारियो ने भी आगरा मे ही अपनी राजधानी रखी थी।

मुगल सम्राट अकबर ने भी पुरानी परपरा को कायम रखा था। वह अपनी गद्दीनशीनी के तीसरे वर्ष स० १६१५ ( ३० अक्टूबर, सन् १५५८ ) मे आगरा आया था। तभी उसने वहाँ महल, किला आदि शाही इमारते बनवाने का निश्चय किया था, ताकि उसे राजधानी के उपयुक्त

---

(१) ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृष्ठ ८१-२४४

बनाया जा सके, किंतु उस कार्य को वह बैरमखा के सरक्षण से स्वतत्र होने के बाद ही कर सका था। अकबर के काल मे आगरा की बडी उन्नति हुई थी और वह एक विशाल नगर बन गया था। उसके बाद जहाँगीर और शाहजहाँ के काल मे उसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती रही थी। आगरा की उस अभूतपूर्व उन्नति के कारण मुगल काल मे ब्रजमडल और उसके प्रमुख नगर मथुरा का भी महत्व बढ गया था।

**आगरा का क़िला**—आगरा मे जहाँ वर्तमान किला है, वहाँ पहिले ईट–चूने का बना हुआ एक छोटा सा दुर्ग था, जो 'बादलगढ' कहलाता था। ऐसी अनुश्रुति है, उस दुर्ग को बादलसिह नामक एक राजदूत सरदार ने बनवाया था, जिनका अधिकार वहाँ सिकदर लोदी से पहिले रहा था। जब वहाँ लोदी सुलतान की सैनिक छावनी बनी, तब उस दुर्ग की मरम्मत कराई गई थी। अकबर ने उसे एक विशाल सगीन किला का रूप देने का निश्चय कर स० १६२२ ( ११ मार्च, सन् १५६५ ) मे उसकी नीव रखी थी। वह किला कासिमखाँ नामक एक कुशल शिल्पी के नियत्रण मे म० १६२८ मे बन कर पूरा हुआ था। जहाँगीर ने अपने सस्मरण मे लिखा है, उस किले के निर्माण मे तब ३५ लाख रुपया लगा था। यह लाल पत्थर का विशाल दुर्ग अकबर कालीन स्थापत्य का एक भव्य नमूना है।

**सीकरी मे राजधानी का स्थानान्तरण**—अकबर की कई रानियाँ और बेगमे थी, किंतु दुर्भाग्य से उनमे से किसी से भी कोई पुत्र नही हुआ था। अकबर उसके लिए पीरो-फकीरो से दुआ माँगता फिरता था। आगरा जिला का फतहपुर–सीकरी उस काल मे एक छोटा सा गाँव था, जिसे 'सीकरी' के नाम से धौलपुर के राजपूतो ने १४ वी शती मे बसाया था। उस समय वहाँ शेख सलीम चिश्ती नामक एक मुसलमान फकीर रहता था। उसने बादशाह को शीघ्र ही पुत्र प्राप्त होने की दुआ दी थी। दैवयोग से अकबर की बडी रानी, जो कछवाहा राजा बिहारीमल की पुत्री और भगवानदास की बहिन थी, गर्भवती हुई। इसे शेख की दुआ का प्रभाव माना गया। अकबर की इच्छा हुई कि उसकी रानी का प्रसव शेख के सान्निध्य मे ही हो। इसके लिए उसने गर्भवती रानी को सीकरी भेज दिया और उसके रहन–सहन के लिए उस छोटे से गाँव मे ही सब व्यवस्था कर दी। उसी समय वहाँ कई राजकीय भवन बनवाये गये थे। स० १६२६ ( ३० अगस्त, सन् १५६९ ) मे कछवाहा रानी ने सीकरी मे एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम शेख के नाम पर 'सलीम' रखा गया। वही बाद मे जहाँगीर के नाम से अकबर का उत्तराधिकारी होकर मुगल सम्राट हुआ था।

अकबर शेख से प्रभावित होकर उसके निवास स्थान को इतना शुभ समझने लगा कि उसने अपनी राजधानी को भी वही कायम करने का निश्चय किया। उसके लिए स० १६२६ मे वहाँ बडे–बडे राजकीय भवन बनाये जाने लगे, जो २ वर्ष तक दिन–रात बनते रहे थे। आगरा से केवल १२ कोस दूर एक दूसरा बडा नगर बन कर तैयार हो गया, जहाँ राजधानी का स्थानान्तरण कर दिया गया। इस प्रकार स० १६२८ ( ७ अगस्त, सन् १५७१ ) मे आगरा के बजाय सीकरी मुगल साम्राज्य की राजधानी हो गई। उसी साल अकबर ने गुजरात को फतह किया था, जिसके उपलक्ष मे नई राजधानी का नाम 'फतहपुर सीकरी' रखा गया।

स० १६२८ से १६४१ ( ७ अगस्त १५७१ से फरवरी १५८५ ) तक के प्राय १४ वर्ष तक फतहपुर–सीकरी ही सम्राट अकबर के मुगल साम्राज्य की राजधानी रही थी। उस काल मे उसकी बडी उन्नति हुई थी। अकबर ने वहाँ पर अपनी बेगमो के लिए अनेक महल बनवाये थे। उसके सामत–सरदारो के भी वहाँ भवन बने थे। शाही कार्य के लिए दीवाने–आम, दीवाने–खास, सचिवालय आदि के अतिरिक्त वहाँ एक विशाल इबादतखाना भी स० १६३२ ( जनवरी, १५७५ ) मे बनवाया गया था। उस समय समस्त देश की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि प्रवृत्तियो की प्रमुख हलचलो का वही केन्द्र था और इनमे आगरा से उसकी प्रतियोगिता होने लगी थी। स० १६४१ मे एक अगरेज व्यापारी अपने व्यापार के सिलसिले मे अकबर की राजधानी मे गया था। उसने लिखा है,—"आगरा और फतहपुर दोनो बडे शहर है। उनमे से हरेक लदन से बडा और अधिक जनसकुल है। सारे भारत और ईरान के व्यापारी यहाँ रेशमी तथा दूसरे कपडे, बहुमूल्य रत्न, लाल, हीरा और मोती बेचने के लिए लाते हैं[1]।"

सत–भक्ति की धुन मे अकबर ने बिना सोचे–विचारे और वास्तु कला विशेषज्ञो से बिना पूछे ही सीकरी को राजधानी बना दिया था, जिसका प्रायश्चित्त बाद मे करना पडा था। उस स्थान मे पानी की बडी कमी थी, जिसकी पूर्ति के लिए पहाडी पर बाँध बना कर एक कृत्रिम झील बनाई गई थी। उसी का पानी राजधानी मे आता था। स० १६३९ ( अगस्त १५८२ ) मे वह बाँध टूट गया, जिसके कारण नगर की पर्याप्त हानि हुई थी। १४ वर्ष तक सीकरी मे राजधानी रखने पर अकबर को अनुभव हुआ कि वह स्थान अनेक दृष्टियो से इसके उपयुक्त नही है, अत स० १६४१ मे वहाँ से राजधानी हटा कर पुन आगरा लाई गई। राजधानी के हटते ही फतहपुर-सीकरी का ह्रास होने लगा और अब वह एक छोटा सा कस्बा मात्र रह गया है।

**दरबारी नवरत्न**—भारत मे महाराजा विक्रमादित्य के नवरत्नो की अनुश्रुति बडी प्रसिद्ध है। कदाचित उसी से प्रेरणा प्राप्त कर अकबर ने अपने ९ प्रमुख दरबारियो को नवरत्न का पद प्रदान किया था। उन नवरत्नो के नाम इस प्रकार हैं,—१ महाराजा मानसिंह, २ राजा टोडरमल, ३ राजा बीरबल, ४ मिर्जा अब्दुर्रहीम खानखाना, ५ महाकवि फैजी, ६ मुशी अबुलफजल, ७ सगीत–सम्राट तानसेन, ८. हकीम हुमाम और ९ मुल्ला दोपियाजा। उनमे से मानसिंह, टोडरमल, बीरबल, रहीम और तानसेन ने अकबरी दरबार की गौरव–वृद्धि करने के साथ ही साथ ब्रज सस्कृति के विकास मे भी योग दिया था, अत उनके सक्षिप्त वृत्तात यहाँ लिखे जाते है—

१. महाराजा मानसिंह—वह आमेर के कछवाहा राजा भगवानदास का भतीजा और उसका दत्तक पुत्र था। उसका जन्म स० १५८७ मे आमेर मे हुआ था। जब आमेर नरेश बिहारीमल की पुत्री और भगवानदास की बहिन का विवाह अकबर के साथ हुआ, तब आमेर का राजवश मुगल सम्राट का प्रधान सहयोगी बन गया था, जिससे उसके साम्राज्य के विस्तार मे बडी सहायता मिली थी। राजा भगवानदास और राजा मानसिंह जन्म भर अकबरी दरबार मे रह कर अकबर के सर्वप्रधान सहायक बने रहे थे।

---

(१) अकबर, पृष्ठ २१०

सम्राट अकबर

महाराजा मानसिंह
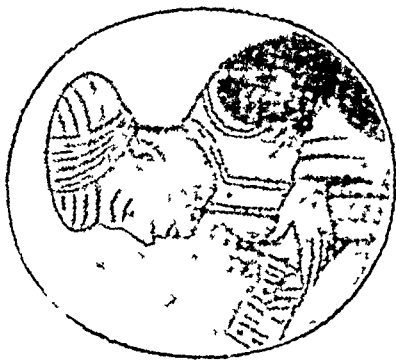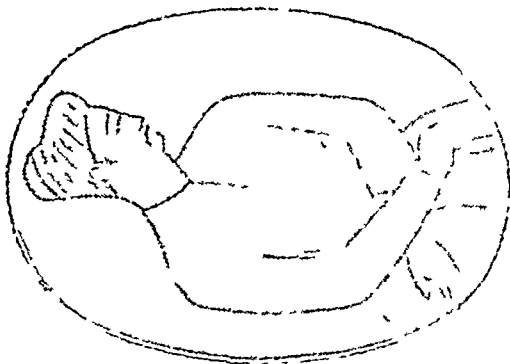
राजा टोडरमल    राजा बीरबल    मुंशी अबुलफजल

राजा मानसिह बडा वीर, कुशल सेनानायक और प्रतापी राजपुरुष था। उसकी भूआ सम्राट अकबर की प्रधान रानी और जहाँगीर की माता थी, जो 'मरियम जमानी' कहलाती थी। उसकी बहिन जहाँगीर की प्रमुख रानी और खुसरो की माता थी। इस प्रकार मुगल राजवश से उसका घनिष्ट पारिवारिक सबध था। वह अकबर का प्रधान सेनापति और सबसे बडा मनसबदार था। उसका मनसब साडे सात हजारी था। उससे पहिले किसी भी अमीर को पाँच हजारी से बडा मनसब नही दिया गया था। तुर्क सरदारो का सबसे बडा पद 'अमीर' होता था और शाहजादो को 'अमीरजादा' कहा जाता था। अमीरजादा शब्द ही बदल कर ( मीरजादा-मीरजा ) 'मिरजा' कहलाने लगा था। अकबर ने अपने जिन तीन सबसे बडे सेनापतियो को मिरजा का ओहदा दिया था, वे राजा मानसिह, खानखाना अब्दुर्रहीम और खानआजम अजीज कोकलताशखा थे। वे क्रमश मिर्जा राजा, मिर्जा खान और मिर्जा अजीज कहलाते थे। सम्राट अकबर स्वय उन्हे इन्ही नामो से सबोधित करता था।

मिर्जा राजा मानसिह ने अकबर के लिए बडे-बडे युद्ध किये थे और उन सब मे सफलता प्राप्त की थी। उसने बगाल से लेकर काबुल-कधार तक का विस्तृत क्षेत्र अपने पुरुषार्थ और पराक्रम से जीत कर उससे अकबर के विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था। यदि अकबर का साम्राज्य राजा मानसिह द्वारा जीता हुआ कहा जाय, तो इसमे कोई अत्युक्ति न होगी। वह कई सूबो का राज्यपाल रहा था और बगाल उसकी जिमीदारी मे था। आगरा मे जहाँ ताजमहल बनाया गया है, वह भूमि भी राजा मानसिह की मिल्कियत थी। उसे बाद मे जहाँगीर के कहने से उसे देदी गई थी[1]।

राजा भगवानदास और राजा मानसिह ब्रज सस्कृति के बडे अनुरागी थे और वे ब्रज के सत-महात्माओ के प्रति बडी श्रद्धा रखते थे। जब वे आगरा मे होते और उन्हे राजकीय कार्य से अवकाश मिलता, तब वे ब्रज के महात्माओ के सत्सग का लाभ उठाने की अवश्य चेष्टा करते थे। अकबर से पहिले ब्रज मे देव-मदिर बनवाने पर रोक लगी हुई थी। भगवानदास और मानसिह के प्रभाव से अकबर ने वह रोक हटा दी थी। उसके फल स्वरूप ही वृदावन, गोवर्धन और गोकुल आदि स्थानो मे मदिर बन सके थे। राजा भगवानदास ने गोवर्धन मे श्री हरिदेव जी का मदिर बनवाया था और राजा मानसिह ने वहाँ के मानसीगगा तीर्थ को पक्का करवाया था। राजा मानसिह ने वृदावन मे श्री गोविददेव जी का विशाल मदिर भी बनवाया था, जो स० १६४७ मे पूरा हुआ था। वह मदिर उस काल मे उत्तरी भारत के सर्वश्रेष्ठ देवालयो मे गिना जाता था। उसका छोटा भाई माधवसिह भी साहित्य और कला का बडा अनुरागी तथा विद्वानो का आश्रयदाता था। उसका 'माधव भवन' उस काल मे साहित्य और सगीत का प्रधान केन्द्र था। विख्यात सगीतशास्त्री पुडरीक विट्ठल ने माधवसिह के प्रोत्साहन से ही उस काल मे कई सुप्रसिद्ध सगीत ग्रथो की रचना की थी।

शाहजादा सलीम ( जहाँगीर ) ने अपने उद्धत व्यवहार से सम्राट अकबर को इतना अप्रसन्न कर दिया था कि वह सलीम के बजाय उसके पुत्र खुसरो को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। उसमे राजा मानसिह की भी सम्मति थी। अकबर के बाद भी राजा मानसिह ने

---

(१) आईन-ए-अकबरी, पृष्ठ ३६१

अपने भानजे खुसरो को जहाँगीर के स्थान पर मुगल सम्राट बनाना चाहा था, किंतु उसे सफलता नही मिली थी। उसकी मृत्यु जहाँगीर के राज्यारोहण के नवें वर्ष स० १६७१ मे हुई थी

२ राजा टोडरमल—राजा मानसिह के वाद राजा टोडरमल अकवरी दरवार का सवसे वडे स्तभ था। यदि राजा मानसिंह ने अपने पुरुषार्थ से विभिन्न प्रदेशो को जीत कर मुगल साम्राज्य का निर्माण किया था, तो राजा टोडरमल ने अपनी बुद्धिमत्ता मे उसका यथोचित प्रवध कर और प्रशासन मे कुशलता ला कर उसे सुदृढता प्रदान की थी। वह भूमि–कर और आर्थिक मामलो का सवसे वडा विशेषज्ञ माना जाता था। उसने इनके सवध मे जो नियम वनाये थे, उनका अनुसरण मुगल साम्राज्य मे ही नही, वल्कि वाद मे अगरेजी राज्य मे भी किया जाता रहा। भारतवर्ष मे चाणक्य के वाद राजा टोडरमल ही ऐसा व्यक्ति हुआ, जिसके बुद्धि–कौशल की ऐसी स्थायी छाप भारतीय प्रशासन पर लगी थी।

'शिवसिंह सरोज' के अनुसार टोडरमल का जन्म स० १५८० मे और देहावसान स० १६४३ मे हुआ था[1]। वह जाति का खत्री था और उसकी अल्ल टडन थी। उसका जन्म स्थान पजाव का लाहौर नगर माना जाता है। इधर एशियाटिक सोसाइटी की जाँच से निश्चय हुआ है कि उसका जन्म अवध मे सीतापुर जिले के लाहरपुर गाँव मे हुआ था। उक्त गाँव का नाम तारापुर भी वतलाया गया है[2]।

टोडरमल की आरभिक नियुक्ति राजकीय भूमिकर विभाग मे मुजफ्फरखा के आधीन एक मुशी के रूप मे हुई थी। फिर वह अकवर के मुसद्दियो मे हो गया, जहाँ उसने अपनी योग्यता और कार्य–कुशलता से सम्राट को प्रसन्न कर लिया था। जव अकवर ने स० १६३० मे गुजरात को फतह किया, तव वहाँ की विगडी हुई अर्थ–व्यवस्था और भूमि–कर के कुप्रवध को ठीक करने का काम टोडरमल को सोपा गया था। उसे उसने ऐसे सुदर ढग से पूरा किया कि वह अकवर की नजरो मे चढ गया और फिर उत्तरोत्तर उन्नति करता गया था। स० १६३४ मे उसने टकसाल का पुनर्गठन किया था और भूमिकर विभाग मे सुधार के अनेक नियम वनाये थे। उनके कारण राज्य कोश की आय वहुत वढ गई थी और साम्राज्य माला–माल हो गया था। अकवर ने उसकी कार्य–कुशलता से प्रसन्न होकर उसे 'राजा' का पद प्रदान किया और उसे 'दीवान–कुल' अर्थात् प्रधान वित्त मत्री वना दिया था। उसका मनसव चार हजारी था।

राहुल सास्कृत्यायन ने टोडरमल की योग्यता की प्रशसा करते हुए लिखा है—"टोडरमल राज्य शासन के सारे रहस्यो के ज्ञाता और हिसाव–किताव के काम मे वेनजीर थे। वह मत्रालय के कायदे–कानून, सल्तनत के विधान, रैयत की भलाई, दफ्तर के कायदे को ठीक-ठाक से चलाने के गुर जानते थे। कोश को भरपूर रखना, यातायात के साधनो को कायम रखना, परगनो की मालगुजारी की दर निश्चित करना, जागीरो की तनखाह, अमीरो के मनसवो के नियम उन्होने ही वनाये थे, जो वाद मे अगरेजो के आने तक चलते रहे थे[3]।"

---

(१) शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ४२५

(२) अकबरी दरबार (तीसरा भाग), पृष्ठ ११६, वार्ता साहित्य. एक वृहत् अध्ययन, पृष्ठ २७६

(३) अकबर, पृष्ठ १३५

टोडरमल वित्त, प्रशासन और दफ्तर के कामो मे माहिर होते हुए भी एक साहसी योद्धा और कुशल सेनापति भी था। उसने कई बडे युद्धो मे सेनापति के रूप मे तलवार के जौहर दिखलाये थे और युद्ध-सचालन विषयक अपनी योग्यता का अच्छा परिचय दिया था। वह कायदे-कानून की पाबदी का कठोर समर्थक था। वित्तीय और प्रशासकीय कार्यो मे तनिक सी अनियमितता को भी वह सहन नही कर सकता था। उस काल के बडे-बडे तुर्क-पठान ओहदेदार इसीलिए उससे असतुष्ट थे कि वह हिंदू होते हुए भी उन पर कठोरता से शासन करता था। टोडरमल की ईमानदारी और कार्य-कुशलता की ऐसी धाक थी कि बडे से बडा मुसलमान ओहदेदार भी उसका कुछ भी बिगाड करने मे असमर्थ था।

मुगल साम्राज्य का इतना बडा उत्तरदायित्व सँभालते हुए भी वह अपने धार्मिक नित्य नियम और पूजा-पाठ का बडा ध्यान रखता था। लबी यात्राओ मे और भीषण युद्धो मे भी उसकी पूजा-पाठ का क्रम नियमित रूप से चलता रहता था। जब तक वह अपना धार्मिक कृत्य पूरा नही कर लेता, तब तक न तो कोई काम करता था और न अन्न का दाना मुँह मे डालता था। एक बार युद्ध के मैदान मे उसकी सेवा-पूजा का सामान उसके उपास्य देव की प्रतिमा सहित चोरी चला गया था। चोर ने उसे वित्त मत्री का खजाना समझ कर चुराया होगा। बहुत तलाश करने पर भी जब वह सामान नही मिला, तब टोडरमल ने खाना छोड दिया! उससे अकबर बडा परेशान हुआ। उसने कहा—"ठाकुर जी चोरी गये तो कोई चिता नही, तुम्हारा अन्नदाता ठाकुर तो मौजूद है! उसी का ध्यान धर कर खाना खाओ, फिर ठाकुर जी की तलाश करते रहना।" आखिर बहुत समझाने-बुझाने पर वह अन्न-ग्रहण करने को रजामद हुआ था।

पश्चिमोत्तर सीमावर्ती पठानो के विरुद्ध युद्ध करता हुआ जब वीरबल मारा गया, तब टोडरमल और मानसिंह को पठानो का दमन करने के लिए भेजा गया था। टोडरमल ने वहाँ की सामरिक व्यवस्था ठीक कर शत्रुओ को पराजित कर दिया। उसके बाद का बाकी काम मानसिंह को सौंप कर वह वहाँ से वापिस चला आया। जब वह बूढा हो गया, तब अपना अतिम काल हरिद्वार मे गगा तट पर बिताना चाहता था। उसके लिए उसने पद से मुक्त होने के लिए अकबर से आज्ञा माँगी थी। अकबर उसके जैसे सुयोग्य व्यक्ति को छोडना नही चाहता था, अत इच्छा रहते हुए वह अपना अतिम जीवन हरिद्वार मे नही बिता सका था। उसकी मृत्यु स० १६४६ ( नवबर, सन् १५८६ ) मे लाहौर के निकट हुई थी।

दिल्ली के सुलतानो के शासन-काल मे फारसी राजभाषा थी, किंतु मुगलो के शासन-काल मे देशी भाषा हिंदी भी राज-काज मे चल पडी थी। 'आइने अकबरी' से ज्ञात होता है कि टोडरमल ने सभी राजकीय दफ्तरो मे फारसी को अनिवार्य कर दिया था। उसके लिए अनेक विद्वान उसे दोष देते हैं। उनका कहना है, यदि टोडरमल ने उस काल मे फारसी को अनिवार्य राजभाषा न बनाया होता, तो हिंदी की बडी उन्नति हुई होती। कुछ लोगो की राय है, उससे हिंदुओ को राजकीय उच्च पदो पर पहुँचने मे बाधा पडती थी। फारसी अनिवार्य हो जाने पर हिंदुओ ने उसे सीख कर बडे-बडे राजकीय पदो का उत्तरदायित्व सँभाला था और वे इसी के कारण मुगलो के शासन काल मे बडे-बडे ओहदो पर पहुँच सके थे।

मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आजाद' ने इस संबंध मे लिखा है—"सिकंदर लोदी के समय तक धार्मिक हिंदू फारसी या अरबी नही पढते थे। उन्होने उनका नाम 'म्लेच्छ विद्या' रख छोड़ा था। राजा टोडरमल ने निश्चय किया कि समस्त भारतवर्ष के दफ्तर केवल फारसी भाषा मे हो जाँय। उसका परिमाण यह हुआ कि लिखने-पढने वाले व्यापारी और कृषक हिंदुओ के लिए फारसी पढना आवश्यक हो गया। कुछ ही वर्षो मे बहुत से हिंदू फारसी पढने वाले और उसके अच्छे ज्ञाता हो गये और वे दफ्तरो मे विदेशी लोगो के बराबर बैठने लगे। जरा राजा साहब की युक्ति को देखना चाहिए कि उन्होने कैसी सुंदरता से ( हिंदू ) जाति के राजनीतिक तथा आर्थिक उद्देश्यो की सिद्धि के लिए राजमार्ग खोला है। बल्कि सच पूछिये तो उसी समय से फारसी तथा अरबी शब्दो को हिंदुओ की भाषाओ, बल्कि घरो मे जाने के लिए मार्ग मिल गया। यही से रेखता के द्वारा उर्दू की नीव दृढ हुई[१]।"

टोडरमल अर्थ, वित्त, राजस्व, प्रशासन और रण-कौशल का ही अनुपम ज्ञाता नही था, वरन् वह ग्रथ-रचयिता, कवि और साहित्यकार भी था। 'आजाद' ने उसके एक ग्रथ 'खजाने इसरार' का उल्लेख किया है, जिसकी प्रति टोडरमल की मृत्यु के ८ वर्ष बाद की लिखी हुई मिलती है। उसके दो भाग है,—एक मे धर्म, ज्ञान और पूजा-पाठ आदि के प्रकरण है, दूसरे मे नीति, गृह-प्रबंध आदि के अतिरिक्त मुहूर्त्त, सगीत, स्वरोदय, पक्षियो के शब्दो के शकुन और उनकी उडान आदि के संबंध की बाते लिखी गई है। हिसाब-किताब से संबंधित एक छोटी सी पुस्तिका भी उसकी रची हुई बतलाई गई है[२]। 'कवि विनोद' नामक ग्रथ मे टोडरमल के कुछ ऐसे छंदो का संकलन हे, जो हिसाब-किताब के 'गुरो' से संबंधित है। वे शायद उसी पुस्तिका से लिये गये है। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने वैसे कुछ छंदो को अपने शोध प्रबंध मे भी उद्धृत किया है[३]।

डा० सी० कुन्हन राजा जब बीकानेर के सुप्रसिद्ध 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' मे वहाँ के हस्त लिखित ग्रथो का अनुसंधान कर रहे थे, तब उन्होने वहा 'टोडरानंद' नामक एक बडा ग्रथ देखा था। उनके मतानुसार यह टोडरमल की रचना है। उन्होने उक्त ग्रथ की विस्तृत समीक्षा करते हुए अंगरेजी मे एक लेख लिखा था, जो 'साप्ताहिक भारत' मे अनूदित होकर प्रकाशित हुआ था। उसका साराश इस प्रकार है,—"यह धर्म, कानून और राष्ट्रीय जीवन से संबंधित अनेक आवश्यक विषयो का विश्वकोश है। इसमे लगभग ८,००० दोहे है और यह आकार मे महाभारत के ( हरिवंश परिशिष्ट को छोड कर ) बराबर है। इसमे ज्योतिष, धर्म, मंदिर, पूजा, भूगोल, राजनीति, चिकित्साशास्त्र, सामाजिक रीति-रिवाज, विश्व-इतिहास, अंतरिक्ष शास्त्र आदि सभी विषयो की सामग्री का समावेश हे। यह मूल कृति नही है, वरन् शोध-संकलन का ऐसा विशद ग्रथ है, जिसमे युगो का संचित ज्ञान जनता की सूझ-बूझ की परिधि मे लाकर रखा गया है। इसमे हर विषय की अत्यधिक व्यापक सामगी है। इसकी रचना के लिए टोडरमल ने अपने समकालीन अनेक विद्वानो का सहयोग प्राप्त किया होगा। किंतु यह निश्चित है कि ग्रथ का

---

(१) अकबरी दरबार ( तीसरा भाग ), पृष्ठ १४१

(२) वही ,, , पृष्ठ १४२-१४३

(३) अकबरी दरबार के हिंदी कवि ( परिशिष्ट ), पृष्ठ ४५२

अधिकाश उन्होने स्वय ही तैयार किया होगा और समूचे ग्रथ की तैयारी उन्ही की देख–रेख मे हुई होगी। इस ग्रथ के नाम से ही जाहिर है कि वह इसके लेखक थे।"

टोडरमल ने व्रजभाषा मे नीति और उपदेश से सबधित कवित्तो की भी रचना की थी। इस प्रकार के कुछ कवित्त डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने प्रकाशित किये है[1]। काकरौली विद्या विभाग के बध सख्या ४३/१६ की पोथी मे भी टोडरमल के कुछ कवित्त और पद मिलते है। उनमे से एक पद की प्रथम पक्ति है,—"जसुमति के भवन मे कछु किंकिनी की धुनि सुनि।" इससे ज्ञात होता है कि टोडरमल ने कृष्ण–लीला के भक्तिपूर्ण पद भी रचे थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' स० १९ और स० ७५ मे टोडरमल का उल्लेख मिलता है, जिससे उसका वल्लभ सप्रदाय से सबध ज्ञात होता हे। किंतु उसने अपने राजकीय प्रभाव से व्रज की तत्कालीन धार्मिक और सास्कृतिक प्रगति मे विशेष योग दिया हो, इसका उल्लेख नही मिलता है। कुछ सप्रदायो मे यह अनुश्रुति प्रचलित है कि व्रज सस्कृति के पुनरुद्धार काल मे राजा टोडरमल ने यहाँ के कुछ देवालयो का जीर्णोद्धार और रासमडलो का निर्माण कराया था[2], किंतु इसके समर्थन मे कोई विश्वनीय प्रमाण नही मिलता है। राजा टोडरमल का समकालीन भटानिया ( ज़िला अलीगढ ) का निवासी साहू टोडर नामक एक जैन सेठ था। उसने अकवर के शासन–काल मे व्रज के जैन स्तूपो और मदिरादि का पुनरुद्धार कराया था। सभव है, उसके निर्माण कार्यो के उल्लेख से नाम–साम्य के कारण इस प्रकार का भ्रम हुआ हो।

**३. राजा बीरवल**—अकबर कालीन प्रतिष्ठित हिंदुओ मे वीरवल की ख्याति बहुत अधिक है। उसका नाम अकबर के साथ उसी प्रकार जुडा हुआ है, जिस प्रकार अरस्तू का सिकदर के साथ और चद का पृथ्वीराज के साथ, किंतु वीरवल का प्रभाव अरस्तू और चद दोनो से कही अधिक था। वह न तो वडा विद्वान था, न भारी योद्धा, न कुशल प्रशासक और न प्रचड सेनानी, किंतु अकवरी दरवार मे उसका प्रभाव किसी भी वडे से वडे विद्वान, योद्धा, प्रशासक और सेनाध्यक्ष से कम नही था। उसका कारण यह था कि वह विलक्षण बुद्धिमान, प्रत्युत्पन्न मति, अपूर्व मेधावी, अद्भुत सूझ–बूझ वाला होने के साथ ही साथ हाज़िर जवाब और विनोदी स्वभाव का था। उसकी बुद्धिमत्ता और विनोद–प्रियता से अकवर की वडी से वडी चिंता दूर हो जाती थी। इसलिए वह वीरवल को सदैव अपने साथ रखता था और एक क्षण का विछोह भी उसे सहन नही होता था। दरवार से लेकर अत पुर तक सव जगह वीरवल की पहुँच थी। वह दरवारी नवरत्नो मे से एक होने के साथ ही साथ सम्राट का अभिन्न मित्र भी था। उसकी अपूर्व प्रतिष्ठा के कारण अकवर के वडे–वडे दरवारी और ओहदेदार उससे ईर्ष्या करते थे और उसे नीचा दिखाने का अवसर ढूँढा करते थे, किंतु वीरवल की बुद्धिमत्ता और सूझ–बूझ से सदा उन्हे ही नीचा देखना पड़ता था।

उसका नाम महेशदास अथवा ब्रह्मदास था और वीरवल उसकी उपाधि थी, जो वदायूनी के उल्लेखानुसार अकवर द्वारा प्रदान की गई थी[3]। वह अपने नाम के वजाय उक्त

---

(१) अकवरी दरवार के हिंदी कवि, पृष्ठ ५२–५३

(२) श्री सर्वेश्वर का 'वृंदावनांक', पृष्ठ २६२

(३) अकवरी दरबार ( दूसरा भाग ), पृष्ठ २२१

उपाधि से ही प्रसिद्ध हुआ था। वह जाति का ब्राह्मण था और उसका जन्म काल्पी ( जिला जालौन ) मे हुआ था। वह अकवर के राज्यासीन होने के आरभिक काल मे ही उसकी सेवा मे आ गया था और अपनी प्रतिभा के बल पर उन्नति करता हुआ प्रतिष्ठा के उच्च शिखर पर पहुँच गया था। अकवर के प्रताप की वृद्धि के साथ ही साथ बीरवल की प्रतिष्ठा भी बढती रही थी। मुल्ला बदायूनी कट्टर मुसलमान होने के कारण वीरवल की उन्नति से प्रसन्न नही था, इसलिए उसने उसके प्रति कुछ अपशब्द भी लिखे हैं, फिर भी उसकी योग्यता का वह भी कायल था। उसने लिखा है,—"वीरवल अपनी बुद्धिमत्ता और स्वभाव परखने के गुण के कारण हर बात पर अपनी इच्छानुसार वादशाह की आज्ञा प्राप्त कर लेते थे। इसीलिए बडे-बडे राजा-महाराजा, अमीर और खान आदि लाखो रुपये के उपहार उनके पास भेजा करते थे। वादशाह भी प्राय राजाओ के पास उन्हे दूत बनाकर भेजता था और उनसे वे ऐसे काम निकाल लाते थे, जो बडे-बडे लश्करो से भी न निकलते थे[1]।"

अकवर-बीरवल के अनेक लतीफे तथा निम्न कोटि के बाज़ारू मज़ाक प्रचलित हैं। उनमे वीरवल अपनी मनोरजक बातो मे अकवर को प्रसन्न करने वाला एक हाजिर जवाब मसखरा से अधिक ज्ञात नही होता है। किंतु यह भलीभाँति समझा जा सकता है कि अकवर जैसे महान् सम्राट के प्रीति-भाजन बनने के लिए उक्त बाजारू बातो के अतिरिक्त कुछ अन्य दुर्लभ गुणो की भी आवश्यकता थी, जो निश्चय ही वीरवल मे थे। जिस सम्राट के दरवार मे देश भर के चुने हुए विद्वान और गुणी जन एकत्र थे, वहाँ अपनी प्रतिष्ठा का सिक्का जमाने के लिए उन बाजारू लतीफो से काम नही चल सकता था। इससे सिद्ध होता है, वे बाद मे लोगो द्वारा गढ लिये गये है और जिनका वीरवल से कोई सबध नहीं था।

अकवर ने जब 'दीन इलाही' नामक एक नया सम्प्रदाय चलाया था, तब हिंदू दरबारियो मे से केवल वीरवल ने ही उसे स्वीकार किया था। राजा मानसिंह और राजा टोडरमल जैसे निकटतम प्रधान दरवारी भी उस सम्प्रदाय मे सम्मिलित नही हुए थे। इससे ज्ञात होता है, वीरबल हवा के रुख को देख कर चलना जानता था। वल्लभ सम्प्रदायी वार्ता साहित्य मे 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अतर्गत वीरवल की बेटी की वार्ता, छीतस्वामी की वार्ता, रूपमजरी की वार्ता, चापाबाई की वार्ता और 'भावसिंधु' के अतर्गत ताजबीबी की वार्ता मे वीरवल का उल्लेख हुआ है। 'छीतस्वामी की वार्ता' से विदित होता है, छीतस्वामी वीरवल के पुरोहित थे। वे प्रति वर्ष उससे वार्षिक वृत्ति प्राप्त करने के लिए गोकुल से आगरा जाया करते थे। एक बार उसी प्रसग मे जब वे आगरा मे वीरवल के निवास-स्थान पर थे, तब प्रातःकालीन कीर्तन करते हुए उन्होने गोसाई विट्ठलनाथ जी को भगवद्रूप मे वर्णित किया था। उससे वीरवल को भय हुआ कि यदि सम्राट अकवर ने उसे सुन लिया, तो कदाचित उसे बुरा लगेगा। फिर मुसलमानी राज्य की राजधानी मे उस प्रकार का गायन करने से छीतस्वामी के लिए शायद कोई सकट पैदा हो जावे, इस आशका से वीरवल ने छीतस्वामी से उस प्रकार का गायन न करने की प्रार्थना की। इस पर छीतस्वामी ने उसे बुरा-भला कहा और उसकी वृत्ति का परित्याग कर वे गोकुल वापिस आ गये और फिर कभी उन्होने वीरवल का मुँह भी नही देखा[2]।

(१) अकबरी दरबार ( दूसरा भाग ), पृष्ठ २२५
(२) अष्टछाप ( छीतस्वामी की वार्ता ), पृष्ठ ६१०-६१५

'ताज बीबी की वार्ता' से ज्ञात होता है कि बीरबल की पुत्री शोभावती गोसाईं विट्ठलनाथ जी की बडी भक्त थी। वह अकबर की एक बेगम ताजबीबी की परिचर्या मे रहा करती थी। शोभावती धार्मिक विचारो की एक चतुर महिला थी। उसका ताजबीबी से उसी प्रकार घनिष्ठ सबध था, जिस प्रकार अकबर से बीरबल का था। शोभावती के कारण ताजबीबी भी गोसाईं विट्ठलनाथ के प्रति श्रद्धा रखती थी[1]। इस वार्ता से सिद्ध होता है कि शोभावती पूर्ण आस्थावान वैष्णव महिला थी, यद्यपि उसका पिता 'दीन इलाही' मे सम्मिलित होने के कारण हिंदू धर्म से कुछ विचलित हो गया था।

बीरबल विलक्षण बुद्धिमान और चतुर राजनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ उत्तम कवि भी था। सम्राट अकबर ने उसे 'कविराय' की उपाधि प्रदान की थी। उसकी रचनाएँ 'ब्रह्म' के उपनाम से मिलती है, जिनमे रीतिकालीन शैली के काव्य-चमत्कार के साथ शृ गार रस, भक्ति और उपदेश का कथन हुआ है। काकरौली विद्या विभाग के बध स० $\frac{५}{१}$ की पोथी मे बीरबल के कुछ पद और कवित्तो का सकलन है। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने अपने शोध प्रबध मे बीरबल की रचनाएँ प्रकाशित की है[2]। उसकी रचनाओ मे उपमा अलकार का चमत्कार अधिक है, इसीलिए उसके सबध मे यह उक्ति प्रचलित हो गई है,—'उत्तम पद कवि गग के, उपमा मे बलबीर।' वह कवि होने के साथ ही साथ कवियो का प्रशसक और पुरस्कर्त्ता भी था। केशवदास की रचनाओ पर प्रसन्न होकर उसने पुष्कल पुरस्कार प्रदान किया था, और उसके आश्रयदाता ओरछा-नरेश पर किये गये भारी जुर्माने को भी सम्राट अकबर से माफ करा दिया था।

बीरबल का मनसब तो 'दो हजारी' ही था, किंतु उसका रुतबा बडे-बडे मनसबदारो से भी अधिक था। स० १६३० मे बादशाह ने नगरकोट (जि० कागडा) का धार्मिक क्षेत्र उसकी जागीर के लिए प्रदान किया था। उसके अतिरिक्त कालिजर भी उसकी जागीर मे था। उसके दो पुत्र थे, बडे का नाम लाला और छोटे का हरमराय था। उन दोनो मे से किसी मे भी अपने पिता का कोई गुण नही था, इसीलिए उनकी उन्नति नही हुई थी। बीरबल की मृत्यु स्वात के पठान यूसुफजाई कबालियो का दमन करते हुए स० १६४२ मे हुई थी। उसके देहावसान का समाचार सुनते ही अकबर को इतना दु ख हुआ कि जितना उसे अपने सगे-सबधी की मृत्यु पर भी कभी नही हुआ था। उसने उसी दु ख मे कई दिनो तक खाना भी नही खाया था।

४ **रहीम**—अब्दुर्रहीम खानखाना उपनाम 'रहीम' अकबरी दरबार का विशिष्ट रत्न और हिंदी का प्रसिद्ध कवि था। उसका पिता बैरमखा खानखाना था, जो अकबर के आरभिक काल मे उसका सरक्षक रहा था। उसकी माता जमालखा मेवाती की छोटी बेटी थी, जिसकी बडी बहिन हुमायू को विवाही थी। रहीम का विवाह भी अकबर की धाय मा माहम अनगा की बेटी माहबानू से हुआ था। इस प्रकार रहीम का मुगलो के शाही खानदान से घनिष्ट पारिवारिक सबध था। उसका जन्म स० १६१३ मे अकबर की गद्दीनशीनी के प्राय १० माह बाद लाहौर मे हुआ था। जब उसका पिता बैरमखा अकबर के आदेशानुसार हज को जा रहा था, तब पाटन

---

(१) भावसिंधु (ताजबीबी की वार्ता), पृष्ठ ३००-३०२

(२) अकबरी दरबार के हिंदी कवि, पृष्ठ ३४५-३५६

( गुजरात ) के एक पठान ने पिछले वैर के कारण उनकी हत्या कर दी थी। उस समय रहीम की आयु केवल ४ वर्ष की थी। अकबर ने बालक रहीम को अपने संरक्षण में रख कर उसके पालन-पोषण एवं शिक्षण का यथोचित प्रबंध किया था। रहीम आरम्भ से ही बड़ा प्रतिभावान था। उसने उच्च कोटि की सैनिक शिक्षा के साथ ही साथ तुर्की, फारसी, हिंदी, संस्कृत आदि भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था।

अकबर के शासन-काल में रहीम ने बड़ी उन्नति की थी। वह मान-प्रतिष्ठा, धन-वैभव और यश-कीर्ति में अपने समय के किसी दरबारी से कम नहीं था। उसने गुजरात, सिंध और बीजापुर के युद्धों में बड़ी-बड़ी विजय प्राप्त की थीं, जिनके कारण उसे कई बड़े सूबों की सूबेदारी मिली थी तथा 'खानखाना' का खिताब और पाँच हजारी का मनसब दिया गया था। राजा टोडरमल की मृत्यु के बाद उसे 'वकील-कुल' भी बनाया गया था, जो मुगलों के राज्य में सबसे बड़ा प्रशासनिक पद था। उसका धन-वैभव अपार था किंतु उसकी दानशीलता की भी कोई सीमा नहीं थी। उसकी प्रसिद्धि का अधिकांश कारण उसकी अपूर्व उदारता, गुणग्राहकता और दानशीलता थी।

वह प्रतिष्ठित राजपुरुष होने के साथ ही साथ फारसी, तुर्की, अरबी, हिंदी आदि भाषाओं का विद्वान, व्रजभाषा का उत्कृष्ट कवि और कवियों का बड़ा आश्रयदाता था। उसके दरबार में कवियों की भीड़ लगी रहती थी और वह मुक्त हस्त से उन्हें लाखों रुपया पुरस्कार में दिया करता था। उस काल के अनेक हिंदी कवियों ने रहीम की प्रशंसा में अगणित छंद रचे थे। केशवदास और गंग जैसे विख्यात कवियों के अतिरिक्त मंडन, प्रसिद्ध, जाड़ा, मंत, हरिनाथ, अलाकुली, तारा, मुकुंद आदि अनेक कवियों द्वारा रची हुई रहीम की प्रशंसात्मक सूक्तियाँ उपलब्ध हैं। उसने प्रचुर परिमाण में हिंदी कविताएँ रची थीं, जिनमें उसके दोहे बड़े प्रसिद्ध हैं। उसकी रचनाओं पर हिंदू धर्म और ब्रज संस्कृति की ऐसी गहरी छाप है, जैसी रसखान के अतिरिक्त किसी अन्य मुसलमान हिंदी कवि की रचनाओं में दिखलाई नहीं देती है। उनसे किसी को आभास तक नहीं होता है कि वे किसी मुसलमान की कृतियाँ हैं। रहीम कृत नीति और उपदेश के दोहे लाखों व्यक्तियों को कहावत के रूप में कंठस्थ हैं। उक्त दोहावली के अतिरिक्त रहीम की रचनाओं के नाम १ बरवा नायिकाभेद, २ नगर-शोभा, ३ मदनाष्टक आदि हैं। उनका संकलन श्री मयाशंकर याज्ञिक कृत 'रहीम रत्नावली' नामक ग्रंथ में हुआ है।

रहीम का दीवान सुंदरदास नामक एक कायस्थ था। वह राधावल्लभीय संप्रदाय का अनुयायी था और उसने हित हरिवंश जी के छोटे पुत्र गोपीनाथ जी से दीक्षा ली थी। उसने ठाकुर राधावल्लभ जी का मंदिर बनवाया था। वह मंदिर ३ वर्ष में पूरा हुआ था और मंदिर बनने के एक वर्ष के अंदर ही उसका देहावसान हो गया था। राधावल्लभ संप्रदायी उल्लेखों के अनुसार उस मंदिर का निर्माण-काल सं० १६४१ कहा जाता है[1]।

अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर के शासन-काल में रहीम की मान-प्रतिष्ठा बहुत कम हो गई थी और उसका उत्तर जीवन बड़े दुःख से बीता था। उसकी पत्नी, तीन पुत्र, एक मात्र

---

(१) रसिक अनन्य माल ( प्रस्तावना ), पृष्ठ १८

पुत्री तथा दामाद सब की मृत्यु उसके सामने ही हुई थी । जहाँगीर काल के राजनैतिक प्रपचो मे फँस जाने के कारण उसका सारा मान-सन्मान जाता रहा था । जीवन के इतने चढाव-उतार देखने पर भी उसने सदैव धैर्य और दृढता का परिचय दिया था और कभी हिम्मत नही हारी थी । अत मे सवत् १६८३ के फागुन मास मे उसकी मृत्यु हुई । उस समय उसकी आयु ७१ वर्ष की थी । उसे दिल्ली मे दफनाया गया था, जहाँ उसका मकबरा बना हुआ है । इस समय वह मकबरा जीर्णावस्था मे है ।

५. **तानसेन**—भारत के महान सगीतज्ञो और गायको मे तानसेन का नाम बहुत प्रसिद्ध है । वह अकबर का दरबारी गायक और अपने समय का विख्यात सगीतशास्त्री था, इसीलिए उसे सगीत-सम्राट भी कहा जाता है । उसके जन्म-स्थान और जन्म-सवत् का कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है । ऐसी अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि उसका जन्म ग्वालियर मे अथवा उसके निकटवर्ती बेहट ग्राम मे हुआ था । उसके जन्म-सवत् के विषय मे भी कई मत प्रचलित है । श्री शिवसिंह सेगर ने उसका जन्म-सवत् १५८८ लिखा है[1], जो हिंदी साहित्य मे प्रसिद्ध है । डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने उसका जन्म-सवत् १५७८ निश्चित किया है[2] । इधर जो नवीन सामग्री उपलब्ध हुई है, उसके कारण उक्त मतो मे सुधार करने की आवश्यकता हो गई है । हमारे मतानुसार तानसेन का जन्म स० १५६३ मे हुआ था[3] ।

उसका जन्म ब्राह्मण कुल मे हुआ था । यह किवदती प्रसिद्ध है कि वह बाद मे मुसलमान हो गया था, किंतु इसका भी कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है । ऐसा जान पडता है, मुसलमानो के साथ अधिक सपर्क और सहवास तथा आहार-विहार की स्वच्छदता के कारण उस काल के कट्टरपथी हिंदुओ ने उसे मुसलमान घोषित कर दिया था । उसने स्वेच्छा से कभी मुसलमान मजहब स्वीकार किया हो, इसका प्रमाण नही मिलता है । तानसेन की मृत्यु होने पर उसकी शव-यात्रा का जैसा उल्लेख अबुलफजल कृत 'अकबरनामा' मे किया गया है[4], उससे सिद्ध होता है कि वह मृत्यु-काल तक भी मुसलमान नही हुआ था । इस प्रकार यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि वह स्वयं तो जीवन पर्यन्त हिंदू रहा था, किंतु उसके वशज मुसलमान हो गये थे[5] ।

उसकी आरभिक सगीत-शिक्षा ग्वालियर मे हुई थी । वहाँ के सूफी सत गौस महम्मद को उसका गुरु बतलाया जाता है, किंतु यह मत सर्वथा अप्रामाणिक सिद्ध हो गया है[6] । यह किवदती बहुत प्रसिद्ध है कि उसने वृ दावन के सत-सगीतज्ञ स्वामी हरिदास से सगीत-शिक्षा प्राप्त की थी । यद्यपि उक्त किंवदती का भी कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नही हुआ है, तथापि वह सर्वथा अप्रामाणिक भी नही मालूम होती है । तानसेन ने किसी समय और किसी रूप मे स्वामी

---

(१) **शिवसिंह सरोज**, पृष्ठ ४२६

(२) **सम्मेलन पत्रिका** ( ज्येष्ठ-आषाढ, स० २००३ ) मे प्रकाशित लेख

(३) **लेखक कृत 'संगीत सम्राट तानसेन'**, पृष्ठ ५-८

(४) **अकबरनामा** ( अगरेजी अनुवाद ), जिल्द २, पृष्ठ ८८०

(५) **सगीत-सम्राट तानसेन**, पृष्ठ १०-१२ और ४६

(६) वही, , पृष्ठ १२-१६

हरिदास से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी, यह प्राय मान लिया गया है[1]। वल्लभ सप्रदाय के वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि उसने अपने उत्तर जीवन मे अष्टछाप के विख्यात सगीताचार्य गोविंद-स्वामी से भी कीर्तन पद्धति की गायन कला का शिक्षण प्राप्त किया था[2]।

'अकबरनामा' और 'आईन अकबरी' से ज्ञात होता है कि तानसेन सं० १६१९-२० मे अकबरी दरबार मे आया था[3]। उससे पहिले वह ग्वालियर नरेश विक्रमाजीत, शेरशाह सूरी के वंशज आदिलशाह और बाघवगढ के राजा रामचद्र के दरबारो मे रह चुका था। उक्त राजाओ के आश्रय मे उसने विपुल सपत्ति और पर्याप्त कीर्ति अर्जित की थी। अकबरी दरबार मे आने पर तो उसकी ख्याति समस्त देश मे व्याप्त हो गई थी और अकबर द्वारा उसे असीम आदर और अपार वैभव प्राप्त हुआ था। अब्दुलफजल ने लिखा है, सम्राट ने उसके प्रथम गायन पर ही उसे दो लाख का पुरस्कार दिया था[4]।

तानसेन ब्रज की ध्रुपद गायन शैली का विख्यात गायक और दीपक राग का विशेषज्ञ था। उसने कई नये राग भी बनाये थे। उसके रचे हुए ध्रुपद ब्रज की भक्ति-भावना से अनुप्राणित हैं, जिसे गोसाई विट्ठलनाथ जी के सत्सग तथा गोविंदस्वामी के सपर्क का प्रभाव कहा जा सकता है। ब्रज की सगीत कला के विकास मे तानसेन और उसके वशजो का बडा योग रहा है। उसके रचे हुए ध्रुपद उस काल से अब तक सगीतज्ञो के घराने मे प्रसिद्ध रहे हैं। उसकी रचना-शैली से ज्ञात होता है कि तानसेन उच्च कोटि का कवि भी था। उक्त ध्रुपदो के अतिरिक्त उसके रचे हुए कुछ ग्रंथ भी प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम सगीतसार, रागमाला और गणेश स्तोत्र हैं। इनमे से कौन सा ग्रंथ प्रामाणिक है, यह अभी तक निश्चय नही हुआ है।

अबुलफजल ने लिखा है तानसेन की मृत्यु अकबर के शासनारूढ होने के ३४ वें वर्ष अर्थात् स० १६४६ ( २६ अप्रेल, सन् १५८९ ) मे आगरा मे हुई थी[5]। उसका अतिम सस्कार भी सभवत आगरा मे हुआ था, किंतु उसकी समाधि उसके जन्म-स्थान ग्वालियर मे बनाई गई थी। यह समाधि ग्वालियर किले के नीचे गौस महम्मद के मकबरा के पास बनी हुई है।

**धार्मिक नीति**—सम्राट अकबर की धार्मिक नीति उसकी प्रशासन पद्धति का ही एक अग थी, जिसके कारण उसे अपने राज्य काल मे इतनी सफलता प्राप्त हुई थी। सुलतानो के काल मे उनके मजहबी तअस्सुब के कारण गैर मुसलमानो के साथ असहिष्णुता का व्यवहार किया जाता था, किंतु अकबर ने सभी धर्म वालो के साथ सहिष्णुता और न्याय की नीति अपनायी थी। ऐसा कहा जाता है, बाबर ने अपने पुत्र हुमायू को एक वसीयतनामा लिखा था, जिसकी प्रति भोपाल के राजकीय पुस्तकालय मे सुरक्षित बतलाई जाती है। उसमे हुमायू को उपदेश देते हुए

(१) संगीत-सम्राट तानसेन, पृष्ठ १६-२०
(२) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता ( द्वितीय खड ), पृष्ठ १५६
(३) अकबरनामा ( अंगरेजी सस्करण ), जिल्द १, पृष्ठ २७९-२८० तथा
आईन अकबरी ( एच. ब्लोचमैन ), द्वितीय सस्करण, पृ० ४४५
(४) आईन अकबरी ( एच. ब्लोचमैन ), पृष्ठ ४४६
(५) अकबरनामा ( अगरेजी सस्करण ), भाग २, पृष्ठ ८८०

ता है—"हिंदुस्तान में अनेक धर्मों के लोग बसते हैं। भगवान् को धन्यवाद दो कि उन्होंने इस देश का राजा बनाया है। तुम तआस्सुब से काम न लेना, निष्पक्ष होकर न्याय करना र सभी धर्मों के लोगों की भावना का ख्याल रखना। गाय को हिंदू पवित्र मानते हैं, अतएव ं तक हो सके, गोवध नहीं करना और किसी भी संप्रदाय के पूजा स्थानों को नष्ट न करना[1]।" र की उक्त वसीयत के अनुसार हुमायू को आचरण करने का अवसर नहीं मिला, क्यों कि ने थोड़े काल तक ही शासन किया था और उसमें भी वह युद्धों तथा संघर्षों में फँसा रहा था। ायू के बाद शेरशाह का शासन भी थोड़े ही समय तक रहा, किंतु उसने उक्त नीति का अनुसरण बड़ी सफलता पूर्वक प्रशासन किया था। शेरशाह के बाद अकबर ने उसका पूरी तरह पालन अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी।

**इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण**—आरंभ में अकबर का इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण श्रद्धा का यद्यपि उसमें मजहबी कट्टरता नहीं थी। उसका कारण उसकी माता मरियम मकानी हमीदा-नू और उसके संरक्षक बैरमखाँ का शिया होना था। उनका प्रभाव अकबर पर काफी रहा था, ससे आरंभ से ही उसमें सुन्नियों की सी कट्टरता नहीं आई थी। अपने आरंभिक जीवन में वह श्रद्धालु मुसलमान की भाँति पीरों एवं फकीरों के पास उनकी दुआ लेने जाता था और जियारत ने में उसे बड़ी दिलचस्पी थी। उसने कई बार आगरा से अजमेर शरीफ तक की पैदल यात्रा थी। वह हज जाने वाले मुसलमान यात्रियों का पूरा खर्चा शाही खजाने से देता था।

बाद में विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के विद्वानों एवं संत-महात्माओं से धार्मिक विचार-मर्श करते रहने से वह बड़े उदार विचारों का हो गया था। उस समय इस्लाम के प्रति उसकी द्धा में शिथिलता आ गई थी और उसके विचार हिंदू तथा जैन धर्मों से विशेष प्रभावित हो गये थे। ने उत्तर जीवन में उसकी इस्लाम से बिलकुल अरुचि हो गई थी और उसका आचार-व्यवहार य हिंदुओं जैसा हो गया था। उसके परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण उस काल के काजी-मुल्ला र कट्टरपंथी मुसलमान मन ही मन उससे कुढ़ा करते थे।

**ब्रज के हिंदुओं के साथ उदारता**—अकबर ने सभी धर्म वालों के साथ जो सहि-ष्णुता और न्याय की नीति अपनायी थी, उसी के अनुरूप उसने ब्रज के हिंदुओं के साथ भी उदा-रता का व्यवहार किया था। सुलतानों के शासन-काल में ब्रज के हिंदुओं पर तीर्थ कर और जिया कर लगाये गये थे तथा उनके मंदिर-देवालयों के पुनरुद्धार और निर्माण पर रोक लगी थी। उनके कारण उन्हें बड़ा आर्थिक और मानसिक कष्ट था। फिर मुसलमानों द्वारा मुहि-म गो-हत्या किये जाने से उनके हृदय को बड़ा आघात पहुँचता था। अकबर ने राज्याधिका-र करते ही हिंदुओं की उन कठिनाइयों को दूर कर दिया था, जिससे उन्होंने बड़े संतोष की स ली थी। यहाँ पर अकबर के उन उदारतापूर्ण कार्यों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

**तीर्थ कर और जजिया बंद**—अकबर अपने राज्यारोहण के ८ वें वर्ष सं० १६२० में स बार मथुरा आया था। तब निकट के जंगलों में उसने शिकार की थी और ७ बाघ मारे थे। ी समय उसे ज्ञात हुआ कि मथुरा में तीर्थ-यात्रियों से कर लिया जाता है। उसने उसी समय

---

(१) संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ २[illegible]

अपने सारे राज्य मे तीर्थ कर बद करने का हुक्म दे दिया, यद्यपि उसमे शाही खजाने को १० लाख सालाना की आमदनी होती थी[1] ।

मुसलमानी शासन के आरभिक काल से ही गैर मुस्लिमो पर एक कर लगाया गया था, जो 'जजिया' कहलाता था। उस कर से मुसलमान शासक एक ओर हिदुओ पर हीनता का आरोपण करते थे और दूसरी ओर अपने खज़ाने को भरते थे। उस कर से शासन को पर्याप्त आय होती थी। सम्राट अकबर ने अपने राज्यारोहण के नवे वर्ष स० १६२१ (मार्च, सन् १५६४) मे उस कर को भी हटा दिया था। उससे हिदुओ ने, जो कई शती से अपमान का अनुभव करते थे, सुख और सतोप की साँस ली थी और वे हृदय मे अकबर के शुभचितक बन गये थे। उस कर को हटवाने मे अकबर की हिंदू रानियो और हिंदू दरबारियो का विशेप रूप से हाथ रहा था।

**धर्म-स्थानो के निर्माण की आज्ञा**—सुलतानो के काल मे मुसलमानो के अतिरिक्त अन्य धर्मावलबियो के धार्मिक स्थानो तथा मदिर-देवालयो के निर्माण पर रोक लगी हुई थी। यहाँ तक कि उनकी मरम्मत भी नही करने दी जाती थी। उसके फल स्वरूप ब्रज मे विभिन्न धर्माव-लबियो के पूजा-स्थल नाम मात्र को रह गये थे। सम्राट अकबर ने उस पुरानी आज्ञा को रद्द कर सभी धर्म वालो को अपने-अपने मदिर-देवालय आदि बनवाने की स्वतत्रता प्रदान की थी। उसके कारण ब्रज के विभिन्न स्थानो मे पुराने पूजा-स्थलो का पुनरुद्धार किया गया और नये मदिर-देवालयो का बनना आरभ हुआ था।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यो द्वारा ब्रजमडल का पुनरुद्धार किये जाने से पहिले मथुरा जैन धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ पर श्वेताबर और दिगबर दोनो सप्रदायो के अनेक जैन-मदिर और स्तूपादि थे, जो सुलतानी काल की असहिष्णुता के कारण या तो नष्ट हो गये थे, या जीर्णावस्था मे पडे हुए थे। सम्राट अकबर की आज्ञा से उत्साहित होकर विभिन्न स्थानो के जिन धनाढ्य जैनो ने मथुरा के प्राचीन स्तूपो और जैन मदिरो का जीर्णोद्धार कराया था, उनमे साहू टोडर, कविवर दयाकुशल और बीकानेर के राज्यमत्री कर्मचद के नाम उल्लेखनीय हैं। साहू टोडर भटानिया जिला अलीगढ का एक अग्रवाल सेठ था। वह स० १६३० मे मथुरा सिद्ध क्षेत्र के जैन तीर्थो की यात्रा करने आया था। उसी समय उसने यहाँ के पुराने जैन स्तूपो के पुनरुद्धार का आयोजन किया था। कवि दयाकुशल स० १६४८ मे जैन तीर्थो की यात्रा करते हुए मथुरा आया था। उसने यहाँ के जैन धर्म स्थानो का जीर्णोद्धार कराया था। उसी काल के लगभग बीकानेर नरेश रायसिह के जैन मत्री कर्मचद ने भी मथुरामडल के चैत्यो का जीर्णोद्धार किया था[2] ।

देव स्थानो के पुनरुद्धार और निर्माण सबधी सम्राट अकबर की उक्त आज्ञा से ब्रज के कृष्णोपासक वैष्णव सप्रदायो को बडा लाभ हुआ था। उन सप्रदायो के अनुयायी राजा-महाराजा और धनी-मानी व्यक्तियो ने उसी काल मे यहाँ के लीला-स्थलो मे मदिर-देवालय बनवाना आरभ किया था, जिनसे ब्रज की धार्मिक भावना के प्रसार मे बडा योग मिला था। वल्लभ सप्रदाय के आचार्य गो० विट्ठलनाथ जी ने सम्राट अकबर से सुविधा प्राप्त कर स० १६२८ मे गोकुल की नयी बस्ती बसायी थी। उस समय उन्होने वहाँ कई मदिर भी बनवाये थे। स० १६३० मे उन्होंने

(१) **अकबर,** पृष्ठ १८६ (२) **ब्रज-भारती,** वर्ष ११ अक २, वर्ष १५ अक २

गोपालपुर ( गोबर्धन ) स्थित श्रीनाथ जी के मदिर मे 'मणिकोठा गैया मदिर' का निर्माण कराया था। उसी काल मे आमेर के राजा भगवानदास ने गोबर्धन मे श्री हरिदेव जी का और राजा मानसिह ने वृ दाबन मे श्री गोविददेव जी का मदिर बनवाया था। वृ दावन मे उसी काल मे जो और देवालय बने थे, उनमे श्री राधाबल्लभ जी, श्री मदनमोहन जी, श्री गोपीनाथ जी और श्री युगलकिशोर जी के पुराने मदिर उल्लेखनीय है।

**गो–बध पर रोक**—समस्त हिंदू समुदाय मे गो को पवित्र माना गया है। सभी हिंदू उसे 'गो माता' कह कर उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते है। ब्रजमडल मे तो गोपाल श्री कृष्ण के कारण गो का और भी अधिक महत्व माना गया है। सुलतानी काल मे मुसलमान जान-बूझ कर और हिंदुओ को आतकित करने के लिए गो–वध किया करते थे। उससे ब्रज के हिंदुओ को घोर मानसिक क्लेश था। सम्राट अकबर ने गो–वध को बद करने की आज्ञा प्रचारित कर अपनी हिंदू जनता के मन को जीत लिया था। शाही आज्ञा से गो–हत्या के अपराध की सजा मृत्यु नियत थी। उसके कारण उस काल मे गो–हत्या बिलकुल बद हो गई थी। ऐसा कहा जाता है, अकबर की हिंदू रानियो और उसके हिंदू दरबारियो के प्रभाव के कारण ही सम्राट ने वह आज्ञा प्रचारित की थी।

इसके सबध मे एक ऐतिहासिक अनुश्रुति भी प्रसिद्ध है, जिसके अनुसार गो-हत्या बद कराने का श्रेय अकबर के दरबारी कवि नरहरि को दिया जाता है। वह अनुश्रुति इस प्रकार है—'कविराज नरहरि बदीजन अकबर का दरबारी कवि था। वह मुसलमानो द्वारा गोहत्या किये जाने से अत्यत दुखी था। उसे बद कराने के लिए उसने बीरबल के परामर्श से एक गाय के गले मे तख्ती बाँध कर उसे उस राजमार्ग मे खडा कर दिया, जहाँ से होकर सम्राट अकबर की सवारी निकलती थी। जब अकबर वहाँ होकर निकला, तो उसने उस गाय को भी वहाँ देखा। उसे देख कर उसने बीरबल से उसके विषय मे पूछा। बीरबल ने कहा—'जहाँपनाह, यह बेजबान जानवर आपसे कुछ अर्ज करना चाहता है। उसकी अर्जी उसके गले मे बँधी हुई है।' अकबर की आज्ञा से गाय के गले की तख्ती खोल कर पढी गयी। उस पर लिखा था—

अरिहु दत तृन धरहिं, ताहि मारत न सबल कोइ।
हम सतत तृन चरहिं, बचन उच्चरहि दीन होइ॥
अमिय छीर नित स्रवहिं, बच्छ महि थभन जावहि।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरुकहिं न पिबावहि॥
कहै कवि 'नरहरि' अकबर सुनो, बिनवत गउ जोरै करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुए हु चाम सेवहि चरन॥

बीरबल ने अपनी स्वाभाविक बुद्धिमत्ता के साथ उक्त कविता का ऐसा युक्तिपूर्ण, करुणोत्पादक और मार्मिक अर्थ किया कि उससे अकबर बडा प्रभावित हुआ। उसने अपने दरबारियो की ओर देखा। उन्होने बादशाह का रुख देख कर कहा—"हुजूर, अगर गाय खुदा के लिए पवित्र वस्तु न होती, तो कुरान का सबसे पहिला सूरा ( अध्याय ) गाय ( बकर ) क्यो होता ?' इस पर बादशाह ने गाय के मास को हराम कर दिया और हुक्म निकाल दिया कि जो गाय को मारेगा, वह मारा जायगा[1]।"

---

(१) अकबर, पृष्ठ २३३

**धार्मिक विद्वानो एव सतो का सत्सग**—जिस काल मे अकवर ने अपनी राजधानी फतहपुर–सीकरी मे स्थानान्तरित की थी, उस समय उसकी धार्मिक जिज्ञासा वडी प्रवल थी। उसने वहाँ अन्य राजकीय इमारतो के साथ ही साथ एक 'इवादतखाना' ( उपासना गृह ) भी स० १६३२ मे वनवाया था, जहाँ वह विभिन्न धर्मो के आचार्यों, सत–महात्माओ और विद्वानो के प्रवचन सुनता था और उनसे धार्मिक विचार–विमर्श किया करता था। राजकीय कार्यो मे अवकाश मिलते ही वह महीनो तक सीकरी मे निवास कर अपना अधिकाश समय धर्म–चर्चा मे ही लगाता था। उसने वहाँ मुस्लिम धर्म के विद्वानो के साथ ही साथ ईसाई, जैन और वैष्णव धर्माचार्यो के प्रवचन सुने थे और कभी–कभी उनके शास्त्रार्थ भी कराये थे। स० १६३३ ( जनवरी सन् १५७६ ) मे वहाँ धार्मिक विचार–विमर्श का जोर वढ गया था, जो ३ वर्ष तक चलता रहा था। उस काल मे सम्राट ने विविध धर्मो की अच्छाइयो और वुराइयो का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उस पर जिन धर्माचार्यो का विशेप प्रभाव पडा था, उनमे जैनाचार्य हीरविजय सूरि और वैष्णव धर्माचार्य श्री विट्ठलनाथ जी के नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। हीरविजय सूरि श्वेतावर जैन धर्म के विद्वान आचार्य थे। सम्राट ने उन्हे वडे आदरपूर्वक गुजरात मे फतहपुर–सीकरी वुलाया था और कितने ही दिनो तक उनका धर्मोपदेश सुना था। उसके विचारो पर जैन धर्म के सिद्धातो का पर्याप्त प्रभाव पडा था।

**गो० विट्ठलनाथ जी का व्रज–वास और सन्मान**—श्री विट्ठलनाथ जी पुष्टि सप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र और श्री गोपीनाथ जी के छोटे भाई थे। उनका जन्म स० १५७२ की पौप कृ० ६ को काशी के निकटवर्ती चरणाट ( चुनार ) नामक स्थान मे हुआ था। उनकी शिक्षा–दीक्षा काशी मे हुई थी। उन्होने सागोपाग वेद, विविध शास्त्र और भागवतादि पुराणो का विशद ज्ञान प्राप्त कर साप्रदायिक ग्रथो का गहन अध्ययन किया था। उनकी विद्वता का परिचय उनके रचे हुए ग्रथो से भली भाँति मिलता है। श्री वल्लभाचार्य जी के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी पुष्टि सप्रदाय के आचार्य हुए थे। जव स० १५६६ मे गोपीनाथ जी का देहात हो गया, तव उनके पुत्र पुरुपोत्तम जी केवल १२ वर्प के वालक थे। फलत सप्रदाय की व्यवस्था का समस्त उत्तरदायित्व विट्ठलनाथ जी पर ही आ गया था। वे स० १६०० मे सह कुटुव व्रज मे आये थे और अपने ज्येष्ठ भ्राता की पुण्य स्मृति मे उन्होने व्रज–यात्रा की थी। उससे निवृत्त होकर वे गोवर्धन स्थित श्रीनाथ जी के मदिर की व्यवस्था और पुष्टि सप्रदाय की उन्नति मे लग गये थे। स० १६०२ मे उन्होने 'अष्टछाप' की स्थापना की थी। स० १६०५ मे गोपीनाथ जी के पुत्र पुरुपोत्तम जी का भी असामयिक निधन हो गया था। उसके पश्चात् उन्होने विधि पूर्वक आचार्यत्व ग्रहण किया था। उनके द्वारा पुष्टि सप्रदाय की जो अभूतपूर्व उन्नति हुई, वह सर्व विदित है।

यद्यपि पुष्टि सप्रदायी आचार्यो का स० १५५० से ही व्रज से घनिष्ट सवध रहा था, तथापि वे स्थायी रूप मे वहाँ स० १६२३ से पहिले नही रहे थे। उनका स्थायी निवास पहिले काशी एव चरणाट ( चुनार ) मे था और फिर प्रयाग के निकटवर्ती अडैल मे रहा था। उक्त स्थानो से ही उन्होने समय–समय पर व्रज मे आकर श्रीनाथ जी की सेवा–पूजा की देख–भाल करते हुए यहाँ की धार्मिक प्रगति मे अपना महत्वपूर्ण योग दिया था। जव अकवर के शासन–काल मे व्रज मे पूरी तरह शाति और व्यवस्था कायम हो गई, तव श्री विट्ठलनाथ जी अडैल से हट कर

स्थायी रूप से ब्रज मे निवास करने को आ गये थे। यहाँ आने से पहिले वे गोडवाना की रानी दुर्गावती के आग्रह से उसकी राजधानी गढा ( मध्य प्रदेश ) मे गये और वहाँ उन्होने कुछ समय तक निवास किया था। जब रानी को विट्ठलनाथ जी के ब्रज–वास करने की बात मालूम हुई, तब उसने मथुरा मे उनके रहने के लिए एक विशाल भवन बनवा दिया था। स० १६२१ मे जब दुर्गावती के राज्य पर अकबर के आक्रमण की आशका हुई, तब वे वहाँ से चल दिये और घूमते–फिरते अडैल पहुँचे। वहाँ से अपने घर–बार को उठा कर वे परिवार सहित मथुरा आगये और रानी के बनवाये हुए भवन मे रहने लगे। उधर अकबर की विशाल सेना से वीरता पूर्वक युद्ध करने हुए रानी दुर्गावती का स० १६२१ मे देहावसान हो गया था। मथुरा के जिस भवन मे विट्ठलनाथ जी का निवास था, उसमे उनके लिए और उनके छहो पुत्रो के लिए सात घर बनवाये गये थे, जिनके कारण वह 'सतघरा' कहलाता था। इस समय वह प्राचीन भवन तो नही रहा, किंतु उसके स्थान पर एक दूसरा छोटा मकान बना हुआ है। मथुरा मे जिस स्थान पर वह भवन था, उसका निकटवर्ती मुहल्ला अब भी 'सतघरा' के नाम से प्रसिद्ध है।

जब विट्ठलनाथ जी मथुरा मे निवास करते थे, तब स० १६२३ मे उनका सम्राट अकबर से सपर्क हुआ और फिर वह उत्तरोत्तर बढता ही गया था। वल्लभ सप्रदायी साहित्य से ज्ञात होता है, विट्ठलनाथ जी की विद्वत्ता तथा उनके धार्मिक ज्ञान से अकबर बडा प्रभावित हुआ था और वह उनका बडा आदर–सन्मान करता था। मथुरा की राजकीय हलचलो के कारण विट्ठल-नाथ जी को वहाँ रहना असुविधाजनक ज्ञात होने लगा, अतः वे यमुना पार गोकुल के उस एकात स्थान मे निवास करने का विचार करने लगे, जो वल्लभाचार्य जी के समय से ही पुष्टि सप्रदाय का एक पुण्य स्थल बन गया था। स० १६२७–२८ मे विट्ठलनाथ जी ने सम्राट अकबर से राजकीय सुविधाएँ प्राप्त कर गोकुल मे नयी बस्ती बसायी थी, जहाँ शीघ्र ही अनेक मकान और मदिर–देवालय बन गये थे। सम्राट ने समय–समय पर शाही फरमान जारी कर विट्ठलनाथ जी को गोकुल मे सुखपूर्वक निवास करने की आवश्यक व्यवस्था की थी।

विट्ठलनाथ जी के महत्व से अनभिज्ञ कोई राजकीय कर्मचारी कभी उनकी अवज्ञा न कर बैठे, उसकी रोक-थाम के लिए सम्राट अकबर ने स० १६३४ ( सन् ९८५ हिजरी ) मे एक फरमान जारी किया था, जिसमे 'खलायक पनाह के नौकरो व गैरो' को हिदायत की गई थी कि वे विट्ठलनाथ जी के साथ 'किसी किस्म की मुजाहमत न करे और किसी भी वजह से कोई चीज न माँगे[1]।' स० १६३८ मे सम्राट ने सीकरी के इबादतखाने मे एक धर्म परिषद् का आयोजन किया था, जिसमे सम्मिलित होने के लिए विविध धर्मो के अनेक विद्वानो को बुलाया गया था। श्री विट्ठलनाथ जी भी उक्त अवसर पर आमन्त्रित होकर वहाँ गये थे। उन्होने परिषद् मे उपस्थित विद्वानो के समक्ष अपने पाडित्य का अपूर्व प्रदर्शन किया था। उससे प्रसन्न होकर सम्राट ने एक फरमान जारी किया, जिसमे व्यवस्था की गई थी कि विट्ठलनाथ जी 'आज़ादी से गोकुल मे रहे,' उनकी 'गाये जहाँ कही होवे चरे। खालसा व जागीरदार कोई उनको तकलीफ न देवे न रोके–टोके व चरने से मुमानियत न करे[2]।' ऐसा ही एक फरमान सम्राट की माता हमीदाबानु बेगम ने

(१) वार्ता साहित्य : एक बृहत् अध्ययन, पृष्ठ ५११
(२) वही ,, , पृष्ठ ५११

भी उसी वर्ष जारी किया था, जिसमें विट्ठलनाथ जी की गायों को स्वतन्त्रता पूर्वक चरने की पुष्टि की गई थी[१]।

वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है, सम्राट अकबर की इच्छानुसार एक बार विट्ठलनाथ जी ने सूरत के एक साहूकार की पुत्र-वधू का न्याय बड़ी कुशलता पूर्वक किया था[२]। वल्लभ सम्प्रदाय में यह अनुश्रुति बहुत प्रसिद्ध है कि उस न्याय से प्रसन्न होकर सम्राट ने विट्ठलनाथ जी को 'गोसाईं जी' का पद और न्यायाधीश का अधिकार प्रदान किया था। विट्ठलनाथ जी का एक चित्र न्यायाधीश की राजकीय वेश-भूषा का प्राप्त भी होता है[३]। सम्राट ने गोसाईं जी के सम्मान के लिए उन्हें 'खिलअत' दी थी तथा घोड़े की सवारी, दमामा, छत्र और पखा आदि के प्रयोग करने का अधिकार दिया था। ये सब बातें मुसलमानी शासन काल में सर्वाधिक प्रतिष्ठित व्यक्तियों को ही विशेष राजकीय आज्ञा से प्राप्त होती थीं। उससे सिद्ध होता है कि सम्राट अकबर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का कितना सम्मान करता था।

सम्राट अकबर द्वारा जारी किये गये दो फरमान ऐसे मिलते हैं जिनसे गो० विट्ठलनाथ जी और उनके वशजों को जतीपुरा गाँव, जहाँ 'गोवर्धननाथ जी का मंदिर, मकानात, बागात व गायों के खिड़क' थे और गोकुल गाँव, जहाँ विट्ठलनाथ जी अपने परिवार सहित निवास करते थे, माफी में 'नसलन बाद नसल मुकर्रिर कर सुपुर्द' किये गये थे। वे दोनों फरमान सं० १६५१ (सन् ९८९ हिजरी) के हैं[४]। उस समय तक गो० विट्ठलनाथ जी का देहावसान हो चुका था, किंतु उनमें नाम उन्हीं का है।

ब्रज के संत-महात्माओं की उपेक्षा-वृत्ति—सम्राट अकबर ने ब्रज के संत-महात्माओं और भक्त कवियों के संपर्क में आने की बड़ी चेष्टा की थी। उसके लिए उसने कुंभनदास को बड़े सम्मान पूर्वक सीकरी में बुलाया था और वह स्वयं सूरदास से मथुरा में तथा स्वामी हरिदास से वृंदावन में जाकर मिला था। किंतु उन सभी ने सम्राट की उपेक्षा की थी और उसके संपर्क से बचने का प्रयास किया था। वे त्यागी महात्मा अपनी एकांत साधना और भगवत् सेवा को छोड़ कर सम्राट के संपर्क में आना तो दूर रहा, उसका मुँह तक देखना नहीं चाहते थे। कुंभनदास को जब विवश होकर सीकरी जाना पड़ा था, तब उन्होंने सम्राट के समक्ष ही निर्भय होकर गाया था,—"संतन कहा सीकरी काम ?...जाकौ मुख देखैं दुख उपजै, ताकौं करनी पड़ी प्रनाम[५]।" इसी प्रकार जब अकबर ने सूरदास से मथुरा में भेंट की थी, तब उन्होंने सम्राट का यश वर्णन करने की बजाय ये उपदेशात्मक पद गाये थे,—"मन रे, तू कर माधौ सो प्रीत।" और "नाहिन रह्यौ मन में ठौर[६]।"

---

(१) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ १०५
(२) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता ( द्वितीय खंड ), पृष्ठ ३३३
(३) अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ३७
(४) वार्ता साहित्य : एक वृहत् अध्ययन, पृष्ठ ५११-५१२
(५) अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ १०२
(६) सूर-निर्णय, पृष्ठ ९४ और अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ १३८
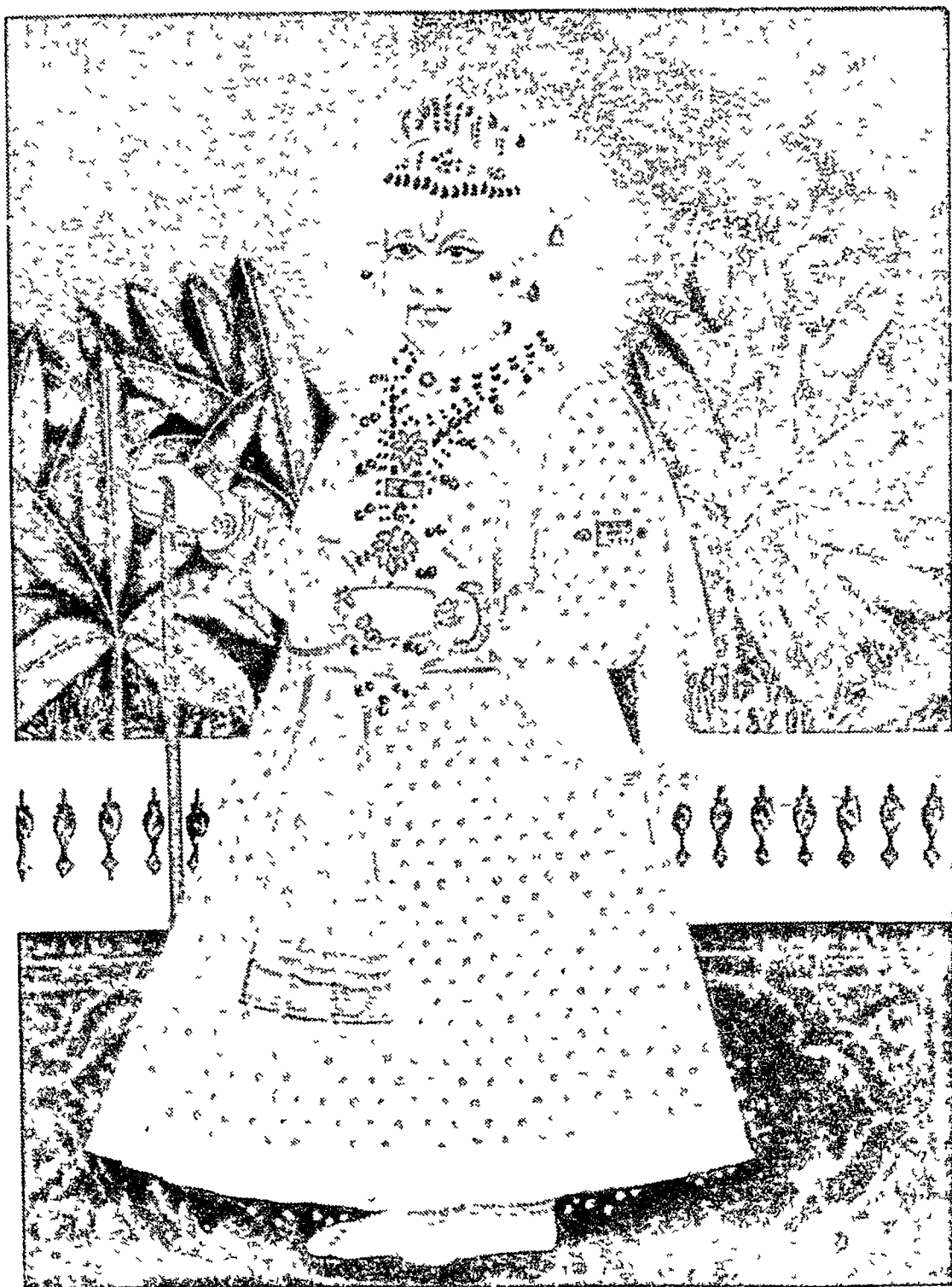
गोसाई विट्ठलनाथजी ( न्यायाधीश के वेश मे )
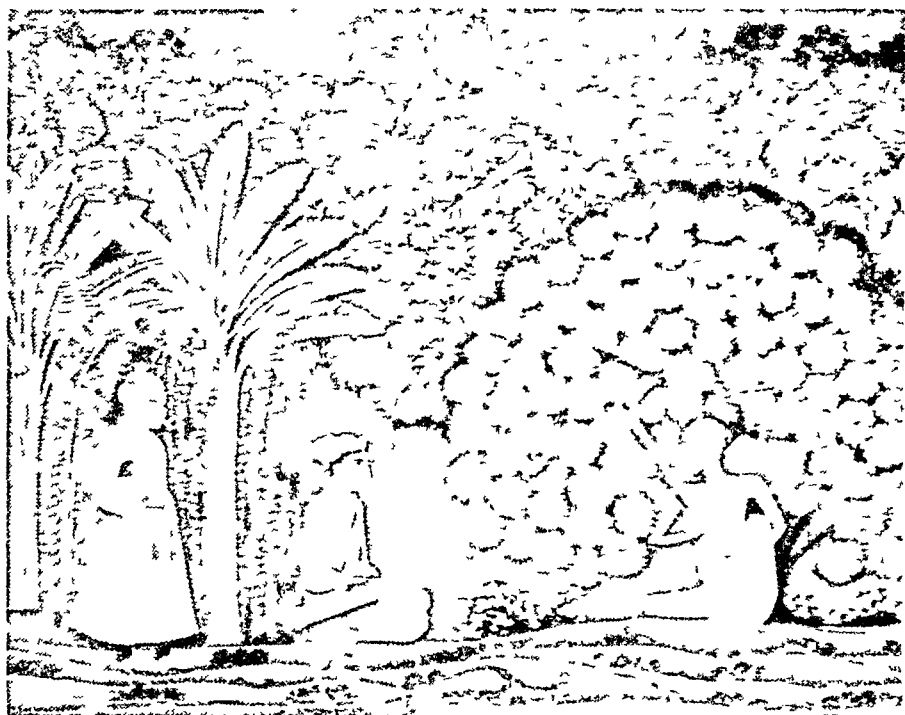
अकवर-हरिदास भेंट

( स्वामी हरिदास के समक्ष तानसेन बैठे हैं और अकबर खड़े हैं )

गो० तुलसीदास जी सम्राट अकबर के समकालीन थे। वे अष्टछाप के अन्यतम कवि नंददास के ज्येष्ठ भ्राता और अकबर के प्रसिद्ध दरबारी कविवर रहीम के मित्र थे। उनका नंददास और रहीम से बराबर संबंध रहा था, किंतु वे सम्राट अकबर के संपर्क में भी कभी आये हों, उसका उल्लेख नहीं मिलता है। ब्रज के भक्त कवियों की भाँति उनका भी शाही मान-सम्मान के प्रति उपेक्षा का ही दृष्टिकोण रहा होगा। इसका प्रमाण उनका एक प्रसिद्ध दोहा है,—"हम चाकर रघुवीर के, पटौ लिखौ दरबार। 'तुलसी' अब का होंहिगे नर के मनसबदार॥"

**हिंदू धर्म का प्रभाव**—हिंदू रानियों और हिंदू सरदार-सामंतों के संपर्क से तथा हिंदू धर्माचार्य, संत और महात्माओं के सत्संग से अकबर पर हिंदू धर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा था। उसकी हिंदू रानियाँ अपने धर्म-कर्म और पूजा-पाठ में पूर्ण आस्था रखती थीं। उनके महलों में हिंदू देवी-देवताओं की उपासना होती थी और वहाँ दैनिक कृत्य, रहन-सहन तथा तीज-त्यौहारों में हिंदू विधि का पालन किया जाता था। उसकी मुस्लिम बेगमों में भी एक ताजबीबी वल्लभ संप्रदायी साहित्य के अनुसार परम वैष्णव और गो० विट्ठलनाथ जी की सेविका थी[1]। अकबर की पतोहू और जहाँगीर की मारवाड़िन रानी जोधाबाई[2] अकबर के काल में ही 'जगत गोसाइन' कहलाती थी। उसके महल में राम और कृष्ण की मूर्तियाँ थीं, जिनकी हिंदू विधि से पूजा होती थी और वहाँ यज्ञ-होमादि बराबर होते रहते थे। उसके घर में तुलसी के बिरवा थे। वह रानी अपने धर्म-कर्म में इतनी पक्की थी कि अकबर और जोधाबाई के महलों के मार्ग में हरम की किसी बेगम को भी बिना आज्ञा जाने की मुमानियत थी। अकबर के हिंदू सामंतों में राजा भगवानदास, राजा मानसिंह, राजा टोडरमल, राजा बीरबल, राजा पृथ्वीराज आदि सभी पक्के हिंदू थे। उनमें राजा टोडरमल नियमित रूप से पूजा-पाठ करने में सबसे बढ़ा हुआ था।

अकबर हिंदू धर्म के प्रति इतना आकर्षित हुआ था कि उसका रहन-सहन और कार्य-व्यवहार सभी प्रायः हिंदुओं की तरह होने लगा था। उसने ब्राह्मणों से पूजा-पाठ और उपासना के मंत्र सीखे थे। वह प्रातः सूर्य का दर्शन करता था, सूर्य के मंत्र का जाप करता था और गंगा-जल पीता था। उसने मांस खाना प्रायः छोड़ दिया था और गो-हत्या बंद कर दी थी। वह कभी-कभी हिंदुओं की तरह तिलक-छापे लगाकर जनेऊ धारण करता था और हिंदुओं के से वस्त्राभूषण पहिनता था। वह दाढ़ी नहीं रखता था और आत्मीय जन की मृत्यु पर सिर मुड़वाता था। जब उसकी माता मरियम मकानी और धाय माता माहम अनगा की मृत्यु हुई थी, तब उसने हिंदुओं की तरह मुंडन कराया था। जब अनगा की मृत्यु हुई, तब उसके निजी पुत्र खानआजम मिर्जा अजीज कोकलताश ने भी अकबर की तरह मुंडन कराया था। श्री राहुल जी ने लिखा है, "इन दोनों के मुँडे सिर देख कर बड़े-बड़े मुसलमान दरबारी भी भद्र कराने लगे। जब इसका पता अकबर को लगा, तो उसे रोकने के लिए जब तक संदेश पहुँचा, तब तक चार सौ सिर और मुँह सफाचट हो गये थे[3]।"

---

(१) ताजबीबी की वार्ता ( भावसिंधु, पृष्ठ ३००-३०२ )

(२) कुछ विद्वानों ने भ्रम से जोधाबाई को अकबर की प्रधान रानी लिखा है। उदाहरणार्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' पृष्ठ २७८ देखिये।

(३) अकबर, पृष्ठ २३७

अकबर के जन्म-दिन और राज्यारोहण-दिवस पर जो उत्सव होते थे, उन्हे भी हिंदू रूप दिया गया था। उन अवसरो पर वह सोने की तराजू मे बैठ कर अपनी तुला करवाता था और अपने को १२ वस्तुओ ( सोना, चाँदी, रेशम, सुगध, लोहा, ताँबा, जस्ता, तूतिया, घी, तैल, चाँवल और सतनजा ) तथा १२ प्रकार की मेवा-मिठाइयो मे तुलवाता था। वे सव वस्तुएँ ब्राह्मणो और भिखारियो मे बँटवा दी जाती थीं। उन अवसरो पर ब्राह्मण हवन-पूजन करने के उपरात पुष्कल दक्षिणा प्राप्त करते थे। वह हिंदुओ के प्रमुख त्यौहार जैसे होली, दिवाली, दशहरा और श्रावणी आदि वडे उत्साह पूर्वक मनाता था। होली पर राजमहलो मे कई दिनो तक रग-गुलाल की धूम रहती थी। अकवर स्वय अपनी रानियो के साथ होली खेलता था। दीवाली पर वडी भारी रोशनी की जाती थी। दशहरा पर वह ब्राह्मणो मे पूजा करवाता तथा माथे पर टीका लगवाता था और श्रावणी पर मोती-जवाहर की जडी हुई राखी हाथ मे बँधवाता था। उसके अनुकरण पर सारा दरवार भी हिंदू त्यौहारो को मनाता था। आरभ मे अकवर शिकार खेलने का बडा शौकीन था, किंतु जव उसे जीव-हिंसा से अरुचि हो गई, तव उसने शिकार खेलना भी वद कर दिया था। वह सभी प्राणियो पर दया करने लगा था और गोमास नहीं खाता था। अपने अंतिम काल मे तो उसने सभी प्रकार का मास खाना छोड दिया था। साल मे विशेष अवसरो पर कसाईखाने वद रहते थे और मास की दूकानो पर ताले पड जाते थे।

उसने साधु-सतो, योगियो और फकीरो के रहन-सहन तथा खान-पान की सुविधा के लिए आगरा मे दो विशाल दातव्य भवन वनवाये थे, जिन्हे 'धर्मपुरा' और 'खैरपुरा' कहा जाता था। 'धर्मपुरा' मे हिंदू साधु-सतो के रहने और खाने-पीने का प्रवध किया था तथा 'खैरपुरा' मे मुस्लिम फकीरो को ठहराया जाता था। जव साधु-सतो की सख्या वढ कर 'धर्मपुरा' मे नही सँमाने लगी, तव 'जोगीपुरा' नामक एक दूसरा भवन वनवाया गया था। राहुल जी ने लिखा है,—"अकवर कुछ खिदमतगारो के साथ रात को स्वय वहाँ सतसग करने जाता और योग की वाते सीखता था। आगरा मे शिवरात्रि के मेले के समय कितनी वार सतो के साथ वादशाह भी भोजन करता था[1]।" इन सव वातो से ज्ञात होता है कि अकवर पर हिंदू धर्म का वडा गहरा रग चढ गया था। यदि उस समय हिंदू उसे अपनाने की वुद्धिमत्ता दिखलाते, तो उसका पूरी तरह हिंदू हो जाना सभव था। फिर उसके अनुकरण पर अनेक मुसलमान भी हिंदू धर्म को अगीकार कर लेते, जिसके कारण भारतीय इतिहास का रूप ही वदल जाता।

**दीन इलाही**—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, फतहपुर-सीकरी के इवादतखाने मे विभिन्न धर्मो के आचार्यो और सत-महात्माओ के साथ विचार-विमर्श करते रहने से अकवर के धार्मिक विचारो मे वडी क्राति हुई थी। उस समय इस्लाम से उसकी अरुचि थी और हिंदू धर्म स्वीकार करना उसके लिए सभव नही था, अत स० १६३६ मे उसने एक नये धार्मिक सप्रदाय को प्रचलित करने का निश्चय किया। उसने अपने दृष्टिकोण से इस्लाम, हिंदू, जैन, ईसाई आदि सभी धर्मो की अच्छाइयो को लेकर उस नये सप्रदाय की स्थापना की थी और उसका नाम 'दीन इलाही' ( भगवान् का धर्म ) रखा था। उक्त सप्रदाय का सस्थापक होने से अकवर का स्थान

---

(१) अकबर, पृष्ठ २५६

स्वभावतया ही सर्वोच्च था। वह सम्राट के साथ ही साथ पैगंबर भी बन गया और अबुलफजल उस नये सप्रदाय का खलीफा हुआ। उसके मुरीदो मे दो दर्जन से भी कम प्रमुख दरबारी थे और कुछ हजार अन्य लोग थे। यद्यपि उनमे मुसलमान और हिंदू दोनो ही थे, तथापि उनकी सख्या उँगलियो पर गिनने लायक थी। अधिकाश मुसलमानो और हिंदुओ ने उस नये सप्रदाय के प्रति उपेक्षा का व्यवहार किया था। प्रमुख दरबारियो मे मुसलमानो मे शेख मुबारक, फैजी, अबुल-फजल तथा १०–१२ और थे। हिंदुओ मे केवल एक बीरबल ने उसे स्वीकार किया था। अकबर के निकट सबधी और प्रमुख दरबारी राजा भगवानदास तथा मानसिह ने उसके प्रति कोई रुचि नही दिखलाई थी। अकबर के अत पुर मे से किसी रानी या बेगम ने भी उसे स्वीकार नही किया था।

'दीन इलाही' मे सूर्य की उपासना को प्रधानता दी गई थी। अग्नि की पूजा और दीपक को नमस्कार करने का भी विधान था। प्रात, मध्याह्न, साय ओर रात्रि मे चार बार पूर्व दिशा की ओर मुँह करके सूर्य की पूजा की जाती थी। सूर्य सहस्रनाम का जप किया जाता था। प्रात काल और मध्य रात्रि को प्रार्थना करने की सूचना नगाडे बजा कर दी जाती थी। "साल मे सौ से अधिक दिन मास भोजन वर्जित था। यह हुक्म केवल राजधानी ही नही, बल्कि सारे राज्य पर लागू था। 'दीन–इलाही' के अनुयायी के लिए दाढी मुँडाना आवश्यक था। उसके लिये गोमास ही नही, लहसुन–प्याज खाना भी वर्जित था। बादशाह के सामने सिजदा ( दडवत ) करना आवश्यक था। इसे दीन के बाहर के लोग भी मानने के लिये मजबूर थे[1]।" धार्मिक विधियो के अतिरिक्त उक्त सप्रदाय मे कुछ सामाजिक सुधार की बाते भी थी। इस्लाम मे बहु विवाह मान्य है, किंतु उस सप्रदाय मे स्त्री के बाझ होने की अवस्था के अतिरिक्त एक से अधिक विवाह करना वर्जित था। सती प्रथा बद कर दी थी। किसी भी लडके का नाम मुहम्मद अथवा देववाची नही रखा जाता था। यदि वैसा नाम होता, तो दीक्षा के समय बदल दिया जाता था। कहा जाता है, "उसने नई मसजिदे बनवाना रोक दिया था और पुरानी की मरम्मत करने की आज्ञा नही थी[2]।"

उस नये सप्रदाय से सबधित धार्मिक क्रिया और पूजा–पद्धति की कई पुस्तिकाएँ लिखी गई थी तथा धर्मशास्त्र तैयार कराये गये थे, किंतु अकबर की मृत्यु होते ही उन सबका लोप हो गया। जो लोग 'दीन इलाही' के मुरीद बने थे, वे सब अपने–अपने धर्मो मे वापिस चले गये। कारण यह था, कि हिंदू और मुसलमान सभी ने उस नये सप्रदाय का विरोध किया था। अकबर के समय वह विरोध ऊपर उभर कर नही आ सका था, किंतु उसकी मृत्यु होते ही वह फूट पडा। राजा से प्रजा तक सब उसके विरोधी थे। ऐसी परिस्थिति मे 'दीन इलाही' के मुरीद बने रहने से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक थी। इस प्रकार अकबर के बाद 'दीन इलाही' का नाम केवल इतिहास मे ही शेष रह गया। सम्राट अकबर को अपने अर्ध शताब्दी के शासन काल मे अनेक सफलताएँ प्राप्त हुई थी। वह राजनीति और प्रशासन के साथ ही साथ वास्तु, चित्र, सगीतादि के सास्कृतिक क्षेत्र मे भी सफल रहा था, किंतु धर्म के क्षेत्र मे उसे सफलता नही मिली थी।

---

(१) अकबर, पृष्ठ २५६

(२) वही, पृष्ठ २५६

**विद्या, साहित्य और कलाओ का संरक्षण**—अकबर पढा-लिखा नही था, किंतु उसने विद्या, साहित्य और कलाओ के प्रोत्साहन तथा सरक्षण मे वडी रुचि प्रदर्शित की थी। वह रात्रि मे सोने से पहिले नियमित रूप से नये-नये ग्रथो को पढवा कर सुनता था और उनकी वातो को हृदयगम करता था। 'उसकी स्मरण शक्ति-वहुत अच्छी थी, जिससे उसे अनेक ग्रथ कठस्थ हो गये थे। इस प्रकार पढा-लिखा न होने पर भी वह वहुत 'गुना' था, जिसके कारण अनेक पढे-लिखे लोगो की अपेक्षा भी वह अधिक ज्ञानवान था। वह सदैव विद्वानो और गुणी जनो से घिरा रहता था और उनके साथ विचार-विमर्श तथा शास्त्रार्थ करता था। उसके दरवार मे जो अनेक विद्वान और पडित आया करते थे, उनमे मधु सरस्वती, नारायण मिश्र, दामोदर भट्ट, रामतीर्थ और आदित्यराम आदि के नाम मिलते है।

उसने सस्कृत के उत्तम ग्रथो का फारसी मे अनुवाद करने की आज्ञा दी थी, जिसके फल स्वरूप योग वाशिष्ठ, अथर्ववेद, रामायण, महाभारत और हरिवश के अतिरिक्त पचतत्र, लीलावती, नल दमयती तथा सिंहासन वत्तीसी के फारसी अनुवाद किये गये थे। अनूदित ग्रथो के अतिरिक्त उस काल मे फारसी मे अनेक मौलिक रचनाएँ भी हुई थी। फैजी उस काल का सर्वश्रेष्ठ फारसी कवि था। वह अमीर खुशरू के वाद भारत का सवसे वडा फारसी भाषा का कवि माना जाता है।

उसके दरवार मे अनेक हिंदी कवि थे और दूसरे कितने ही कवियो को उसने सन्मानित किया था। नरहरि, गग, मनोहर, चतुर्भुज ब्राह्मण उसके दरवार मे स्थायी वृत्ति पाते थे। कुंभनदास, सूरदास, हरिदास स्वामी को उसने सन्मानित किया था। उसके कई प्रमुख दरवारी भी हिंदी मे कविता करते थे, जिनकी रचनाओ को अकवर द्वारा सदैव प्रोत्साहन मिलता था। ऐसे कवियो मे वीरवल, पृथ्वीराज, आसकरन, सूरदास मदनमोहन, भगवानदास और टोडरमल के नाम उल्लेखनीय है। रहीम अकवरी दरवार का सर्वश्रेष्ठ मुसलमान कवि था, जो हिंदी साहित्य के साथ ही साथ हिंदू सस्कृति का भी उपासक था।

इस्लाम मे मूर्ति-पूजा को 'कुफ्र' (पाप) माना गया है, अत मुसलमान आक्रमण-कारियो ने भारत की जैन, वौद्ध और हिंदू धर्म की मूर्तियो को तोड दिया था तथा उनके स्तूप, मठ, सघाराम और मदिरो को नष्ट किया था। इस प्रकार सुलतानो के काल मे भारत की प्राचीन वास्तु कला का कोई समूचा नमूना शेष नही रहा था। मुसलमानो को वास्तु कला के प्रति कोई अभिरुचि नही थी, अत दिल्ली के सुलतानो ने केवल कुछ मसजिदे वनवाने के अतिरिक्त कोई दूसरी अच्छी इमारत नही वनवाई थी। मुसलमान शासको मे अकवर ने सर्व प्रथम वास्तु कला की ओर विधिवत् ध्यान दिया था। उसके शासन काल मे जहाँ 'हिंदू वास्तु कला' का पुनरुद्धार हुआ, वहाँ 'मुगल वास्तु' नामक एक नवीन शैली का भी प्रादुर्भाव हुआ था। वह शैली हिंदू और ईरानी वास्तु शैलियो का मिश्रित रूप थी, जो अकवर के समय प्रचलित हुई और जिसका पूर्ण विकास शाहजहाँ के काल मे हुआ था। शाहजहाँ के बाद औरगजेव की मजहवी दुर्नीति के कारण हिंदू शैली के साथ ही 'मुगल वास्तु शैली' का भी ह्रास हो गया था। मुगल कालीन हिंदू वास्तु कला के उल्ले-खनीय नमूने वृंदावन के प्राचीन मदिरो के साथ ही साथ मथुरा का सती वुर्ज भी है। मुगल शैली के नमूने फतहपुर-सीकरी की इमारते, दिल्ली मे हुमायू का मकवरा तथा आगरा और इलाहावाद के किले आदि है। मदिर-मूर्तियो की तरह चित्रो के प्रति भी सुलतानो का विरोधी भाव था। वे इस

कला को भी 'कुफ्र' मानते थे। उन्होने भारत के प्राचीन चित्रो को नष्ट कर दिया था और नये बनाने का निषेध किया था। सम्राट अकबर अन्य कलाओ की भाँति चित्रकला का भी बडा प्रेमी और आश्रयदाता था। उसके प्रोत्साहन से चित्र कला की उस नई शैली का विकास हुआ, जो 'मुगल चित्र शैली' कहलाती है।

**आमोद-प्रमोद और मनोरंजन**—अकबर के समय मे आमोद-प्रमोद और मनोरजन के जो अनेक साधन प्रचलित थे, उनमे शिकार, घुडसवारी, नाव की सैर, तैराकी, कबूतरबाजी, पतगबाजी, चौपड, शतरज, चौगान आदि के खेल उल्लेखनीय है। उनसे सम्राट अकबर, उसके दरबारी, सरदार-सामत तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियो के साथ ही साथ साधारण लोग भी अपना मनोरजन करते थे।

**शराब और तबाकू**—हिंदू धर्म की तरह मुसलमानी मजहब मे भी शराब पीना वर्जित है, किंतु उसका प्रचार हिंदू और मुसलमान सभी बडे-बडे दरबारियो तथा ओहदेदारो मे था। उसे प्राचीन काल से ही शौक-मौज का साधन माना जाता था। तबाकू का प्रचार इस देश मे पहिले नही था। उसे पुर्तगाली अपने साथ भारत मे लाये थे और वह गोआ मे मिलता था। वहाँ से वह पहिले दक्षिण मे प्रचलित हुआ और अकबर के काल मे सर्व प्रथम उत्तरी भारत मे लाया गया था। उसे लाने वाला असदबेग नामक एक प्रतिष्ठित मुसलमान था। उसने आगरा आकर अन्य वस्तुओ के साथ तबाकू भी अकबर को भेंट किया था। इसके सबध मे उसने लिखा है,—"बीजापुर मे मुझे तबाकू मिला। हिंदुस्तान मे ऐसी चीज कभी नही देखी थी, इसलिए मैने उसे ले लिया और एक जडाऊ सुदर हुक्का तैयार किया। ...आग के लिए एक सुनहली चिलम भी तैयार की। ...हुजूर ( अकबर ) मेरी भेंट स्वीकार कर बडे खुश हुए। उसे तैयार करने के लिए मुझे हुक्म हुआ। मेरी प्रसन्नता के लिए नैचे को मुँह मे डाल कर दो-तीन कश खीचे। उससे शाही हकीम को बडी परेशानी हुई। उसने और कश खीचने नही दिया। मैं अपने साथ काफी तबाकू लाया था। मैंने थोडा-थोडा कितने ही अमीरो के पास भेजा। तबाकू पीने का रवाज तेजी से चल पडा। तब भी आला हजरत ( अकबर ) ने उसे फिर पीना स्वीकार नही किया[1]।"

**प्रशासन व्यवस्था**—सुलतानो के शासन काल मे प्रशासनिक अथवा राजनैतिक दृष्टि से व्रजमडल का कोई महत्व नही था। वही स्थिति अकबर के काल मे भी थी, यद्यपि उस समय इसका धार्मिक महत्व बढ गया था। अकबर के काल मे वित्त मत्री राजा टोडरमल ने राज्य के प्रशासन का सारा ढाँचा ही बदल दिया था। उसने भूमि का नया बदोबस्त कर समस्त साम्राज्य को १५ सूबो मे विभाजित किया था। प्रत्येक सूबा मे कई सरकारें ( जिले ), प्रत्येक सरकार मे कई परगने और प्रत्येक परगना मे कई मुहाले होते थे। सूबे के शासक को सिपहसालार और सरकार के हाकिम को फौजदार कहा जाता था। बड़े-बडे शहरो मे कोतवाल भी होते थे। साम्राज्य के समस्त सूबो मे आगरा का सूबा सब से बडा और महत्वपूर्ण था। आगरा सूबा मे १३ सरकारे और २०३ परगने थे। आगरा सरकार मे ३१ परगने थे; जिनका क्षेत्रफल १८६४ वर्गमील था।

उस काल मे मथुरामडल आगरा सरकार के अतर्गत था और उसका प्रशासनिक केन्द्र महावन था। मथुरा नगर तब एक साधारण मुहाल था, जिसका कोई प्रशासनिक महत्व नही

(१) अकबर, पृष्ठ २८६-२६०

था। सुलतानो के काल से ही मथुरामडल का प्रशासनिक केन्द्र महावन रहा था और मुगल काल मे भी वही व्यवस्था कायम रही थी। जब बाबर ने इस भू-भाग पर अधिकार किया, तब उसने मरगूब नामक एक गुलाम को महावन का हाकिम बनाया था। अकबर के काल मे महावन का हाकिम अलीखान था। उसका पिता ब्रज के बच्छगाँव का रहने वाला गोरवा क्षत्रिय था, जो पठानो के शासन काल मे मुसलमान हो गया था। अलीखान की पुत्री पीरजादी बचपन से ही कृष्ण-भक्त थी। उसके प्रभाव से अलीखान कृष्ण-भक्त हो गया था। वे दोनो पिता-पुत्री गो० विट्ठलनाथ जी के प्रति बडी श्रद्धा रखते थे[1]।

राजस्व की वसूली के लिए एक करोड दाम ( प्राय ढाई लाख रुपया ) की मालगुजारी पर एक अफसर होता था, जिसे 'करोडी' कहा जाता था। करोडी लोग सरकारी कर वसूल करने मे जनता पर प्राय अत्याचार किया करते थे। उनके अत्याचारो की शिकायत यदि अकबर के कानो तक पहुँच जाती थी, तो वह उन्हे दूर करने की पूरी चेष्टा करता था। टोडरमल ने भी करोडियो पर अनुशासन रखने के लिए कडाई से काम लिया था। मथुरा मुहाल का तब विस्तार ३७,३४७ बीघा था और उसकी मालगुजारी ११, ५५,८०७ दाम थी[2]।

**आर्थिक स्थिति**—अकबर के काल मे देश की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी और जनता सुखी एव सतुष्ट थी। उस समय जीवन-यापन की सभी वस्तुएँ बहुत सस्ती थी और लोगो को किसी प्रकार का अभाव नही था। अकबरी सेर आजकल के हिसाब से साडे दस छटाँक का होता था और मन २८ सेर का। आजकल का रुपया अकबर कालीन ४० दामो का था और एक दाम मे आजकल के ढाई नये पैसे होते थे। 'दाम' फारसी शब्द 'दिरहम' का अपभ्रंश था और वह ताबे का सिक्का था। ४० दामो का एक रुपया और ९ रुपयो की एक सुनहरी मुहर होती थी, जिसे अशर्फी कहते थे। वह मुहर या अशर्फी शुद्ध सोने की थी, जिसका वजन ११ ॥ माशा का था। इस प्रकार अकबर के काल मे सोने का भाव प्रायः १०) तोला था।

उक्त काल मे खाद्य वस्तुएँ इतनी सस्ती थी कि आज के लोग उस पर सहसा विश्वास नही कर सकते हैं। आजकल के हिसाब से तब गेहूँ ४७ पैसे मन, चना ८० पैसे मन, मूग ७१ पैसे मन, उड़द ८० पैसे मन और घटिया चावल ७५ पैसे मन था। तब तिली का तेल ३ रुपया मन और घी ४ रुपया मन था तथा चीनी ४ रुपया ७६ पैसे मन थी। नमक ८० पैसे मन, दूध ७५ पैसे मन और मास २ रुपये मन था। एक मजदूर की दैनिक मजदूरी २ दाम अर्थात् आजकल के ५ पैसे तथा कारीगर की ७ दाम अर्थात् १५ पैसे थी। उतनी कम मजदूरी मे भी वह खाने-पीने की इतनी वस्तुएँ खरीद सकता था, कि एक दिन की मजदूरी कई दिनो के लायक सामान खरीदने को पर्याप्त होती थी[3]।

**अंतिम काल और मृत्यु**—शाहशाह अकबर अपनी योग्यता, बुद्धिमत्ता और सूझ-बूझ से एक बडे साम्राज्य का स्वामी हुआ था। उसका यश, वैभव और प्रताप अनुपम था,

---

(१) पीरजादी और अलीखान की वार्ता ( दोसौ बावन वैष्णव की वार्ता, प्रथम खड, पृष्ठ २९९
(२) मथुरा गजेटियर ( ड्रेक ब्लाकमैन ), पृष्ठ १९२
(१) अकबर ( राहुल सास्कृत्यायन )

इसीलिए उसकी गणना भारतवर्ष के महान् सम्राटो की जाती है। फिर भी उसका अतिम काल वडे क्लेश और दु ख मे वीता था। उसने ५० वर्ष तक शासन किया था। उस दीर्घ काल मे मानसिंह और रहीम के अतिरिक्त उसके सभी विश्वसनीय सरदार–सामतो का देहात हो गया था। वीरवल, टोडरमल, पृथ्वीराज, अवुलफजल जैसे प्रिय दरवारी उसे छोड कर परलोक जा चुके थे। उसके दोनो छोटे पुत्र मुराद और दानियाल का भरी जवानी मे देहात हो चुका था। वडा पुत्र सलीम शेष था, किंतु वह अपने पिता के विरुद्ध सदैव षडयत्र और उपद्रव करता रहा था। उसके कारण अकवर वडा दुखी रहता था।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, अकवर को काफी समय तक कोई पुत्र नही हुआ था। वडी मिन्नतो और दुआओ के वाद सलीम उत्पन्न हुआ, अत अकवर उससे वडा स्नेह करता था। वह प्यार से उसे 'शेखू वावा' कहा करता था। सलीम आरभ से ही ऐयाश और शरावी था। वह अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर उसके जीते जी स्वय गद्दी पर वैठने का षडयत्र करने लगा था। अकवर ने उसे ठीक रास्ते पर लाने की वडी चेष्टा की; किंतु वह सदैव उसकी इच्छाओ के विपरीत आचरण करता रहा और अपने प्रत्येक व्यवहार से वृद्ध पिता को कष्ट पहुँचाता रहा था। उसने अकवर के परम विश्वासी और विद्वान दरवारी अवुलफजल को इस भ्रम से मरवा डाला था कि वह उसे अपने विरुद्ध अकवर को मत्रणा देने वाला समझता था। अवुलफजल की हत्या स० १६५६ ( १६ अगस्त, सन् १६०२ )मे ग्वालियर के निकटवर्ती आतरी गाँव मे उस समय की गई थी, जव वह सम्राट के आदेशानुसार दक्षिण से उसके पास आगरा जा रहा था। उसकी मृत्यु का समाचार सुनते ही अकवर को फिर वैसा ही दु ख हुआ, जैसा उसे वीरवल के देहावसान पर हुआ था। वीरवल ने तो रणक्षेत्र मे वीर गति पायी थी, किंतु अवुलफज़ल की मौत का कारण उसका लाडिला, किंतु दु खदायी वेटा सलीम था। उस समय अकवर ने विह्वल होकर कहा था—"शेखू जी, तुमने यह क्या किया ! यदि तुम्हे गद्दी लेनी थी, तो मुझे मारते, अवुलफजल जैसे फरिश्ते को क्यो मारा ?"

जव तक अकवर जीवित रहा, तव तक सलीम अपने दुष्कृत्यो से उसे दुखी करता रहा, किंतु वह सदैव उसके अपराधो को क्षमा करता रहा था। आखिर क्षमा की भी कोई सीमा होती है ! जव वह सलीम के विद्रोहो से तग आ गया, तव अपने उत्तर काल मे उसने उस के वडे वेटे शाहजादा खुसरो को अपना उत्तराधिकारी वनाने का विचार किया था। किंतु फिर सोच–समझ कर उसने वह विचार त्याग दिया था। यद्यपि भविष्यत् दुष्परिणाम की आशका से अकवर ने खुसरो को अपना उत्तराधिकारी नही वनाया, तथापि उस महत्वाकाक्षी युवक के मन मे राज्य प्राप्ति की जो लालसा जागृत कर दी थी, वह उसकी अकाल मृत्यु का कारण हुई थी।

जिस समय अकवर अपनी मृत्यु–शैया पर पडा हुआ था, उस समय उसने सलीम के सभी अपराधो को क्षमा कर दिया और वह अपना ताज एव खजर देकर उसे ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर गया था। उस समय अकवर की आयु ६३ वर्ष की और सलीम की ३८ वर्ष की थी। अकवर का देहावसान स० १६६२ ( अक्टूवर, सन् १६०५) मे हुआ था। उसे आगरा के निकटवर्ती सिकदरा मे दफनाया गया, जहाँ उसका कलापूर्ण मकवरा वना हुआ है।

## जहाँगीर (शासन काल सं० १६६२–१६८४)—

**आरंभिक जीवन**—अकबर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सलीम जहाँगीर के नाम से मुगल सम्राट हुआ था। उसका जन्म स० १६२६ (३० अगस्त, सन् १५६६) मे सीकरी मे हुआ और वह अपनी प्रौढावस्था मे स० १६६२ मे गद्दी पर बैठा था। उससे पहिले वह एक शराबी ऐशपसद और आवारा शाहजादा के रूप मे बदनाम था। अकबर ने उसकी बुरी आदतें छुडाने की बहुत चेष्टा की थी, किंतु उसे सफलता नही मिली। इसीलिए समस्त सुख होते हुए भी वह अपने उस बेटे की ओर से जीवन पर्यंत बडा दुखी रहा था। ऐसे व्यक्ति के बादशाह हो जाने पर जनता मे असतोष होना स्वाभाविक था। अकबर के शासन–काल मे इस देश के निवासियो ने बहुत समय बाद सुख और शाति का अनुभव कर एक सुदृढ तथा समृद्धिशाली शासन का सुखोप-भोग किया था। जहाँगीर के गद्दी पर बैठते ही सब लोगो को आशका होने लगी कि अब सुख–शाति के दिन विदा हो गये तथा अशाति–अव्यवस्था और लूट–खसोट का जमाना फिर आ गया।

**जनता मे घबराहट**—उस समय लोगो मे कितना भय और आतक था, इसका उल्लेख जैन कवि बनारसीदास कृत 'अर्द्ध कथानक' मे हुआ है। बनारसी कवि अकबर की मृत्यु के समय १९ वर्ष का युवक था और वह उस समय जौनपुर मे निवास करता था। वहाँ पर जैसे ही अकबर की मृत्यु का समाचार पहुँचा, लोगो मे भारी घबराहट फैल गयी। बनारसी तो उस समाचार के सुनते ही बेहोश होकर गिर पडा था। उसने उस काल की आशकापूर्ण स्थिति का मार्मिक कथन करते हुए कहा है—

सवत सोलह सै बासठा। आयौ कातिक पावस घटा॥
छत्रपति अकबर साहि जलाल। नगर आगरे कीनो काल॥
आई खबर जौनपुर माह। प्रजा अनाथ भई बिनु नाह॥
पुरजन लोग भये भयभीत। हिरदै व्याकुलता मुख पीत॥
अकसमात बनारसी, सुनि अकबर कौ हाल।
सीढी पर बैठ्यौ हुतौ, भयौ भरम चित जाल॥
आइ तमारौ गिरि पर्‌यौ, सक्यौ न आपा राखि।
फूटि भाल लोहू चल्यौ, कह्यौ देव मुख भाखि॥
इस ही बीच नगर मे सोर। भयौ उदगल चारिहु ओर॥
घर–घर दर–दर दिये कपाट। हटवानी नहिं बैठें हाट॥
भले वस्त्र अरु भूपन भले। ते सब गाडे धरती तले॥
घर–घर सबन्हि बिसाहे अस्त्र। लोगन पहिरे मोटे वस्त्र॥

**खुसरो का विद्रोह**—जहाँगीर का प्रथम विवाह आमेर के राजा भगवानदास की पुत्री और राजा मानसिंह की बहिन मानबाई के साथ स० १६४२ मे हुआ था। उससे दो सतान हुई थी,—एक पुत्र खुसरो और दूसरी पुत्री सुलतानुन्निसा। शाहजादा खुसरो बडा सु दर जवान, वीर योद्धा, कलाकोविद और विद्वान था। उसने अकबरी दरबार के विख्यात विद्वान मु शी अबुलफजल से शिक्षा प्राप्त की थी। शिवदत्त भट्टाचार्य नामक एक प्रसिद्ध पडित से उसे हिंदू धर्म और हिंदू

सस्कृति का ज्ञान प्राप्त हुआ था। वह बहुत से गुणो मे अपने बाबा अकबर के समान था, इसीलिए जनता मे वह बडा प्रिय था। अकबर भी उसे बहुत प्यार करता था।

जहाँगीर के कुकृत्यो से जब अकबर बहुत दुखी हो गया, तब अपने अतिम काल मे उसने खुसरो को अपना उत्तराधिकारी बनाने का विचार किया था। स्वय खुसरो भी उसका आकाक्षी था, अत उसका पिता उससे द्वेष रखने लगा। पिता-पुत्र के उस वैमनस्य का दुष्परिणाम खुसरो के विद्रोह के रूप मे प्रकट हुआ था। जहाँगीर की बडी रानी और खुसरो की माता मान-बाई पिता-पुत्र के उस विद्वेष से बडी दुखी रहा करती थी। जब उसने अपने पुत्र के विद्रोह का समाचार सुना तो उसने कई दिनो तक अन्न-जल ग्रहण नही किया। एक दिन अपने पति की अनुपस्थिति मे उसने अधिक मात्रा मे अफीम खा कर अपने जीवन का अत कर दिया! उसकी मृत्यु सम्राट अकबर के देहावसान और जहाँगीर के गद्दी पर बैठने के प्राय एक वर्ष पूर्व स० १६६१ ( १६ मई, सन् १६०४ ) मे हुई थी।

गद्दी पर बैठने के उपरात जहाँगीर ने खुसरो का अपराध क्षमा कर दिया, किंतु उसे अपने कठोर नियत्रण मे आगरा मे ही रहने को बाध्य किया था। खुसरो उस नजरबदी की स्थिति से ऊब कर फिर विद्रोह कर बैठा। वह एक दिन चुपचाप आगरा से भाग कर सिकंदरा होता हुआ मथुरा पहुँच गया। जहाँगीर का एक सरदार हुसेनबेग बदख्शी अपने सवारो के साथ शाही आज्ञा से आगरा आ रहा था। वह मथुरा मे खुसरो से मिला और उसके विद्रोही मनसूबे मे उसका मददगार बन गया। उसके सैनिको ने मथुरा मे लूट-मार कर वहाँ से धन एकत्र किया। उसके बाद खुसरो और उसके साथी मथुरा से दिल्ली पहुँचे। वहाँ नरेला की सराय को जला कर वे पानीपत गये और फिर उन्होने लाहौर की ओर कूच किया। मार्ग मे सिक्खो के गुरु अर्जुनदेव से वे लोग तरनतारन मे मिले थे। गुरु ने उन्हे आशीर्वाद दिया। खुसरो ने गुरू से रुपयो की माँग की। गुरू ने कहा,—"मेरे पास जो कुछ है, वह जरूरतमदो के लिए है, बादशाह और शाहजादो के लिए नही।" खुसरो ने कहा—"मै भी इस समय जरूरतमद हूँ। मेरी मदद कीजिये।" इस पर गुरु ने उसे पॉच हजार रुपया दिया था।

जहाँगीर की सेना खुसरो का पीछा करती हुई लाहौर के निकट पहुँची। उससे युद्ध करने पर खुसरो पराजित होकर भाग निकला, किंतु अपने साथियो सहित पकड लिया गया। उसके साथियो को बडी यत्रणाएँ देकर मारा गया और खुसरो को बादशाह की आज्ञा से अधा कर कैद मे डाल दिया गया। गुरु अर्जुनदेव को खुसरो की सहायता करने के कारण अपराधी माना गया और उन पर एक लाख रुपया जुर्माना किया गया। उन्होने जुर्माना देने से इकार कर दिया, इसलिए उन्हे मृत्यु दड दिया गया।

अधा खुसरो नजरबदी की दशा मे अपने छोटे भाई शाहजादा खुर्रम की देख-रेख मे रखा गया था। खुर्रम उसे अपने मार्ग का काटा समझता था, अत उसके इशारे से खुसरो की हत्या स० १६७७ मे कर दी गई और जहाँगीर को सूचित किया गया कि कैदी की मृत्यु 'कौलज' रोग के कारण हुई है। जहाँगीर को अपने अभागे पुत्र की मृत्यु का बहुत दु ख हुआ था। शाही आदेशानुसार खुसरो को प्रयाग के उस बाग मे दफनाया गया, जो उसी के नाम से 'खुसरो बाग' कहलाता है। खुसरो की बहिन शाहजादी सुलतानुन्निसा भी उसी बाग मे दफनाई गई थी। दोनो के मकबरे वहाँ बने हुए है।

**शाही परिवार**—जहाँगीर के कई विवाह हुए थे। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उसका प्रथम विवाह आमेर की राजकुमारी मानबाई के साथ हुआ था, जिससे खुसरो और सुलतानुन्निसा नामक दो संतान हुई थीं। उसका दूसरा विवाह जोधपुर के राजा उदयसिंह उपनाम मोटा राजा की पुत्री जोधाबाई के साथ सं० १६४३ में हुआ था। वह मुगलों के हरम में रहती हुई भी हिंदू धर्म के अनुसार रहन-सहन और पूजा-पाठ करती थी, इसीलिए वह 'जगत् गोसाइन' कहलाती थी। सलीम की मुस्लिम बेगमों में से एक का पुत्र खुर्रम था, जो जहाँगीर के बाद शाहजहाँ के नाम से मुगल सम्राट हुआ था। जहाँगीर की अंतिम बेगम नूरजहाँ थी, जिससे उसने सं० १६६८ में निकाह किया था।

नूरजहाँ का आरम्भिक नाम मेहरुन्निसा था। जहाँगीर अपनी युवावस्था में ही उससे प्रेम करने लगा था और वह उसके साथ विवाह करने का बड़ा इच्छुक था। ऐसा कहा जाता है, अकबर ने उस विवाह की स्वीकृत नहीं दी थी। फलतः उस अपूर्व सुंदरी युवती का विवाह अकबर के एक सरदार शेरअफगन से हुआ था। जब जहाँगीर बादशाह हुआ; तब शेरअफगन बर्दमान का फौजदार था। ऐसी प्रसिद्धि है, जहाँगीर के इशारे पर शेरअफगन को सं० १६६३ में मार दिया गया और मेहरुन्निसा को उसकी संतानों सहित जहाँगीर के हरम में भेज दिया गया। पाँच वर्ष बाद सं० १६६८ में जहाँगीर ने मेहरुन्निसा से निकाह कर लिया और उसका नाम नूरजहाँ रखा। उसके बाद जहाँगीर नूरजहाँ का परम भक्त हो गया था कि वह साम्राज्य का शासन-भार उसी पर छोड़ कर आप शराब और ऐश में अपना जीवन बिताने लगा था। नूरजहाँ जहाँगीर की मृत्यु तक मुगल साम्राज्य की कर्ता-धर्ता बनी रही थी।

**प्रशासन**—जहाँगीर ने गद्दी पर बैठते ही अपनी पुरानी बदनामी को दूर करने के लिए अपने विशाल साम्राज्य का सुंदर प्रशासन करने की ओर ध्यान दिया था। उसने यथा संभव अपने पिता अकबर की शासन नीति का ही अनुसरण किया और पुरानी व्यवस्था को क़ायम रखा था। जिन व्यक्तियों ने आरंभ से ही उसका साथ दिया था और उसके षडयंत्र में सहायक होकर अकबर के बुरे बने थे, उन्हें तो उसने मालामाल कर दिया, मगर जिन्होंने अकबर के काल में उसका विरोध किया था, उनसे बदला लेने का उसने कोई प्रयास नहीं किया। जो कर्मचारी जिन पदों पर अकबर के काल में थे, उनको उन्हीं पदों पर रखते हुए उनकी प्रतिष्ठा को यथावत् बनाये रखा गया था। कुछ अधिकारियों की तो उसने पदोन्नति भी कर दी थी। इस प्रकार के उदारतापूर्ण व्यवहार का उसके शासन पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा था।

**न्याय**—जहाँगीर ने अपने काल में न्याय व्यवस्था ठीक रखने की ओर विशेष ध्यान दिया था। न्यायाधीशों के अतिरिक्त वह स्वयं भी जनता के दुःख-दर्द को सुनने की चेष्टा करता था। उसके लिए उसने अपने निवास-स्थान से लेकर नदी के किनारे तक एक जंजीर बँधवाई थी और उसमें बहुत सी घंटियाँ लटकवा दी थीं। उसकी आज्ञा थी, यदि किसी को कुछ फरियाद करनी हो, तो वह उस जंजीर को पकड़ कर खींच सकता है, ताकि उसमें बँधी हुई घंटियों की आवाज़ सुन कर बादशाह उस फरियादी को अपने पास बुला सके। जहाँगीर के आत्मचरित से ज्ञात होता है, वह जंजीर सोने की थी और उसके बनवाने में बड़ी लागत आई थी। उसकी लंबाई ४० गज़ थी और उसमें ६० घंटियाँ बँधी हुई थीं। उन सबका वज़न १० मन के लगभग था[1]।

---

(१) जहाँगीर का आत्मचरित, पृष्ठ १४

उससे जहाँ बादशाह के वैभव का प्रदर्शन होता था, वहाँ उसके न्याय का भी ढिढोरा पिट गया था। किंतु इस वात का कोई उल्लेख नही मिलता है कि किसी व्यक्ति ने उस जजीर को हिलाकर वादशाह को कभी न्याय करने का कष्ट दिया हो। उस काल मे मुसलमान शासको का ऐसा आतक था कि उस जजीर मे वँधी हुई घटियो को वजा कर वादशाह के ऐशो-आराम मे विघ्न डालने का साहस करना वडा कठिन था।

**राजधानी की स्थिति**—जहाँगीर के शासन काल मे मुगल साम्राज्य की राजधानी आगरा थी। सम्राट अकवर के काल मे आगरा नगर की वडी उन्नति हुई थी। जव जहाँगीर गद्दी पर वैठा था, तव यह नगर अत्यत विशाल और वैभवशाली था। उसके सवध मे जहाँगीर ने लिखा है—"आगरा हिंदुस्तान के वडे नगरो मे से है। यह नगर यमुना नदी के दोनो ओर वसा हुआ है। नदी के इस ओर दस कोस लवा और चार कोस चौडा है, तथा नदी के उस ओर तीन कोस लवा और दो कोस चोडा है। वडी मसजिदो, स्नानघरो तथा सरायो की इतनी अधिकता है कि इसके समान नगर ईराक और खुरासान मे कुछ ही होंगे। वहुधा मनुष्यो ने तीन-तीन और चार-चार खडो के मकान वनवाये है। इस नगर मे इतनी प्रजा वसी है कि प्रात काल से एक प्रहर रात्रि तक मार्ग मे कठिनता से चला जा सकता है, यहाँ तक कि लोग एक दूसरे पर गिरे पडते है। यह कहा जाता है कि आगरा हिदुस्तान के सभी नगरो मे ऐश्वर्य मे वढ गया है[1]।"

आगरा की वह स्थिति जहाँगीरी शासन के अतिम काल तक नही रही थी। उसका कारण जहाँगीर का आगरा मे वहुत कम रहना था। वहाँ का मौसम उसे अनुकूल नही पडता था, अत. वह अधिकतर पजाव और कश्मीर मे रहा करता था। उस काल मे वादशाह के साथ ही साथ उसका रनवास, वडे-वडे हाकिम-हुक्काम, शाही दफ्तर और भारी सैन्य दल भी चलता था। उसके कारण जहाँ वादशाह का पडाव पड़ता था, वहाँ एक नगर सा वस जाता था। जहाँगीर के राजधानी मे न रहने से वहाँ की समृद्धि और शान-शौकत मे वहुत कमी हो गई थी।

**प्लेग का प्रकोप**—जहाँगीर के शासन-काल मे प्लेग नामक भयकर वीमारी का कई वार प्रकोप हुआ था। स० १६७५ मे जव वह वीमारी दोवारा आगरा मे फैली थी, तव उससे वडी वर्वादी हुई थी। उसके सवध मे जहाँगीर ने लिखा है—"आगरा मे पुन महामरी का प्रकोप हुआ है, जिससे लगभग एक सौ मनुष्य प्रति दिन मर रहे हैं। वगल, पट्ठे या गले मे गिल्टियाँ उभर आती है और लोग मर जाते है। यह तीसरा वर्ष है कि यह रोग जाडे मे जोर पकडता है और गर्मी के आरभ मे समाप्त हो जाता है। इन तीन वर्षो मे इसकी छूत आगरा के आस-पास के गामो तथा वस्तियो मे फैल गई है।...जिस आदमी को वह रोग होता था, उसे जोर का वुखार आता था और उसका रग पीलापन लिये हुए स्याह हो जाता था। कै और दस्त होते थे और दूसरे दिन ही वह मर जाता था। जिस घर मे एक आदमी वीमार होता, उससे सभी को उस रोग की छूत लग जाती और घर का घर वरवाद हो जाता था[2]।"

---

(१) जहाँगीर का आत्मचरित्, पृष्ठ ८
(२) वही , पृष्ठ ५७५-५७७

**व्यक्तित्व और चरित्र**—जहाँगीर का व्यक्तित्व बडा सु दर और आकर्षक था तथा उसका चरित्र बुरी और भली आदतो का अद्भुत मिश्रण था। अपने आरभिक जीवन मे वह कुसग के कारण जिन बुराइयो के वशीभूत हो गया था, उनमे कामुकता और मदिरा-पान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने गद्दी पर बैठते ही अपनी अनेक बुरी आदतो को छोड कर अपने को बहुत कुछ सुधार लिया था, किंतु मदिरा-पान को वह अत समय तक भी नही छोड सका था। अतिशय मद्य सेवन के कारण उसके चरित्र की बहुत सी अच्छाईयाँ दव गई थी। साधारणतया वह आरामतलब और शात स्वभाव का था। उसका प्रकृति प्रेम अपूर्व था और उसकी कलाभिरुचि अनुपम थी। राजधानी के झगडे-झझटो से दूर रह कर उसे कश्मीर की प्राकृतिक सुषुमा और वहाँ के मनोरम उद्यानो मे निवास करना अत्यत प्रिय था।

**मदिरा-पान की लत**—जहाँगीर को युवावस्था से ही मदिरा-पान की ऐसी लत लगी थी कि उसने अत समय तक भी उसका पीछा नही छोडा था। इसके सबध मे उसने अपने आत्म-चरित मे लिखा है,—"हमने सोलह वर्ष की आयु से मदिरा पीना आरभ कर दिया था। हमारा मदिरा-पान यहाँ तक वढ गया था कि प्रति दिन बीस प्याला तथा कभी-कभी इससे भी अधिक पीते थे। इस कारण हमारी ऐसी अवस्था हो गई कि यदि एक घडी भी न पीते तो हाथ काँपने लगते तथा बैठने की शक्ति नही रह जाती थी। हमने निरुपाय होकर इसे कम करना आरभ कर दिया और छह महीने के समय मे बीस प्याले से पाँच प्याले तक पहुँचा दिया[1]।"

**शराबबंदी की आज्ञा**—शराब के प्रति स्वय इतनी रुचि होने पर भी उसके दुष्परिणाम से जनता को बचाने के लिए जहाँगीर ने गद्दी पर बैठते ही शराब बनाने और बेचने पर पाबदी लगा दी थी। उसने शासन-भार सँभालते ही एक शाही फरमान निकाला था, जिस मे १२ आज्ञाओ को साम्राज्य भर मे मानने का आदेश दिया गया था। उसमे तीसरी आज्ञा शराबबदी से सबधित थी। उस प्रकार की आज्ञा होने पर भी वह स्वय शराब पीता था और उसके प्राय सभी सरदार-सामत, हाकिम और कर्मचारी भी शराब पीने के आदी थे। ऐसी स्थिति मे शराबबदी की शाही आज्ञा का कोई प्रभावकारी परिणाम निकला हो, इसमे बडा सदेह है।

**साहित्य और कला के प्रति अभिरुचि**—जहाँगीर की साहित्य और कला के प्रति अभिरुचि उसके लिए पैतृक देन थी। यद्यपि उसने अकबर की तरह उनके सरक्षण और प्रसार मे विशेष योग नही दिया था, तथापि उनका ज्ञान उसे अपने पिता से भी अधिक था। वह अरबी, फारसी और हिंदी का ज्ञाता तथा फारसी का अच्छा लेखक था। उसकी रचना 'तुजुके जहाँगीरी' सस्मरणात्मक आत्मचरित की उत्कृष्ट कृति है। चित्रकला का वह कुशल पारखी और विशेषज्ञ था। इसके संबध मे उसका ज्ञान इतना बढा हुआ था कि वह चित्र को देखते ही बतला देता था कि उसे एक चित्रकार ने बनाया है अथवा कई ने। यदि उसे कई ने बनाया है, तो उसका कौन सा भाग किसके द्वारा चित्रित किया गया है। वह स्थापत्य कला का भी प्रेमी और प्रोत्साहनकर्त्ता था। उसने फतेहपुर-सीकरी मे शेख सलीम चिश्ती का और आगरा के सिकदरा नामक स्थान मे अपने पिता अकबर का सु दर मकबरा बनवाया था। सम्राट अकबर का मकबरा जहाँगीरकालीन स्थापत्य कला का दर्शनीय नमूना है, जो स० १६७० मे पूरा हुआ था।

---

(१) जहाँगीर का आत्मचरित, पृष्ठ १७-१८

जहाँगीर की प्रिय वेगम नूरजहाँ अपने अन्य गुणो के साथ एक सुरुचिपूर्ण महिला थी। उसका कला–प्रेम प्रसिद्ध है। वह सगीत कला की प्रेमिका और गायिका थी। उसे सु दर उद्यानो और सुगधित पुष्पो से बडा प्रेम था। गुलाव का इत्र उसी के द्वारा आविष्कृत कहा जाता है। स्थापत्य कला के लिए उसकी देन आगरा का सुप्रसिद्ध 'एतमादुद्दोला' है, जिसे उसने अपने पिता के मकवरा के रूप मे वनवाया था।

**ब्रजमंडल की दशा**—मुगल साम्राज्य की राजधानी आगरा का ब्रजमडल से घनिष्ठ सबध होने के कारण उसकी उन्नति–अवनति, शासन व्यवस्था तथा शाही रीति–नीति का ब्रज पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता था। अकबर के शासन काल मे ब्रज की जैसी प्रगति हुई थी, वैसी जहाँगीर के काल मे नही हुई, फिर भी यहाँ की दशा सतोषजनक थी। हिंदुओ की सुविधा के लिए सम्राट अकबर ने जो व्यवस्था की थी, वह जहाँगीर के काल मे बनी रही थी और ब्रज मे मदिरो के निर्माण का जो सिलसिला अकबर के काल मे चला था, वह जहाँगीर के काल मे भी जारी रहा था। उसने अधिकतर अपने पिता की उदार धार्मिक नीति का अनुसरण किया था, अत उसके काल मे ब्रजमडल मे प्राय. शाति और व्यवस्था कायम रही थी। उसके २२ वर्षीय शासन काल मे दो–तीन बार ही ब्रज मे शाति भग होने का अवसर आया था, किंतु फिर शीघ्र ही उस स्थिति पर काबू पा लिया गया था। हम यहाँ पर उन प्रसगो का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते है।

**मथुरा की लूट**—ब्रज मे शाति–भग होने का प्रथम अवसर जहाँगीर के गद्दी पर बैठते ही उस समय आया था, जब उसके ज्येष्ठ पुत्र खुसरो ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया था। जैसा पहिले लिखा गया है, आगरा से भाग कर खुसरो मथुरा पहुँचा था, जहाँ उसके साथी हुसेनवेग बदख्शी ने लूट–खसोट और मार–धाड की थी। उसके सैनिको ने मथुरा मे जो अत्याचार किये, उनका उल्लेख स्वय जहाँगीर ने इस प्रकार किया है—"हिंदुओ के तीर्थ स्थान मथुरा से समाचार मिला कि हुसेनवेग बदख्शी ने वहाँ बड़ी लूट–मार तथा अत्याचार किया है और जो कुछ लोगो के पास मिला, उसे ले लिया है। यहाँ तक की लोगो की पुत्रियो और बहिनो की रक्षा नही रह गई है। मार्ग मे जिस व्यापारी को पा गये, उसे लूट कर रात्रि के लिए खाने को भी उसके पास न छोडा। इन लोगो ने ऐसा अत्याचार और उपद्रव प्रजा मे मचा दिया था तथा ऐसी कठोरता का बर्ताव किया था कि खुसरो भी इन लोगो से त्रस्त तथा भयभीत हो उठा और अपने कर्म से लज्जित तथा दुखी होकर आश्चर्य के साथ अपने सेवको से बोला कि मै कहाँ जा रहा हूँ और किससे अपने को अलग कर रहा हूँ। मेरा वह सन्मान और आदर कहाँ गया? मेरे पिता के देश मे ये लोग जो अत्याचार करे, उसमे इच्छा या अनिच्छा से मुझे भी राजी होना पडेगा[1]।"

**ग्रामीणो का विद्रोह**—जहाँगीर के शासन–काल मे एक वार ब्रज मे यमुना पार के किसानो और ग्रामीणो ने विद्रोह करते हुए कर देना वद कर दिया था। जहाँगीर ने खुर्रम को उसे दवाने के लिए भेजा। विद्रोहियो ने बडे साहस और दृढता से युद्ध किया, किंतु शाही सेना से वे पराजित हो गये थे। उनमे से वहुत से मार दिये गये और स्त्रियो तथा बच्चों को कैद कर लिया गया। उस अवसर पर सेना ने खूब लूट की थी, जिसमे उसे वहुत धन मिला था। उक्त घटना

(१) जहाँगीर का आत्मचरित्, पृष्ठ ११०–१११

का उल्लेख स्वय जहाँगीर ने अपने आत्म चरित मे किया है[1], किंतु उसके कारण पर प्रकाश नही डाला। सभव है, वह विद्रोह हुसेनवेग वदख्शी की लूट-मार के प्रतिरोध मे किया गया हो।

**ब्रज के जगलो मे शिकार**—उस काल मे ब्रज मे अनेक वीहड वन थे, जिनमे शेर आदि हिंसक पशु भी पर्याप्त सख्या मे रहते थे। मुसलमानी शासक उन वनो मे शिकार करने को आते थे। जहाँगीर वादशाह ने भी नूरजहाँ के साथ वहाँ कई वार शिकार की थी। जहाँगीर वडा अचूक निशानेवाज था। उसका निशाना कभी खाली नही जाता था। उसने अपने जीवन मे अनेक वार शिकार की थी और सैकडो जीव-जतु मारे थे। स० १६७१ मे जव जहाँगीर मथुरा मे था, तव अहेरियो ने सूचना दी कि पास के जगल मे एक शेर है, जो जनता को वडा कष्ट दे रहा है। यह सुन कर वादशाह ने हाथियो द्वारा जगल पर घेरा डाल दिया और आप नूरजहाँ के साथ शिकार को चला। उस काल मे जहाँगीर ने जीव-हिंसा न करने व्रत लिया था, अत स्वय गोली न चला कर उसने नूरजहाँ को ही गोली चलाने की आज्ञा दी थी। नूरजहाँ ने हाथी पर से एक ही निशाने मे शेर को मार दिया था[2]।

स० १६८३ मे जव जहाँगीर मथुरा मे नाव मे वैठ कर यमुना की सैर कर रहा था, तव अहेरियो ने उसे सूचना दी कि पास के जगल मे एक शेरनी अपने तीन वच्चो के साथ मौजूद है। वह नाव से उतर कर जगल मे गया और वहाँ उसने शेरनी को मार कर उसके वच्चो को जीवित पकडवा लिया था। उस अवसर पर जहाँगीर ने अपने जन्म-दिन का उत्सव भी मथुरा मे ही मनाया था। उसके जीवन के तव ५६ वर्ष पूरे हुए और ५७ वाँ वर्ष आरभ हुआ था। उसके उपलक्ष मे उसने तुलादान किया और वहुत सा दान-पुण्य किया था[3]।

**माला-तिलक पर रोक**—जहाँगीर के शासन काल मे ब्रज मे शाति-भग होने का एक वडा अवसर तव आया, जव शाही आज्ञा से वैष्णवो की कठी-माला और तिलक पर रोक लगा दी गई थी। मुसलमान हाकिमो ने शाही आदेश के पालनार्थ ब्रज के माला-तिलकधारी वैष्णवो पर अत्याचार करना आरभ कर दिया था। उसके कारण वहुत से लोगो ने विवश होकर कठीमाला उतार कर रख दी और तिलक लगाना वद कर दिया था। जिन्होने ऐसा करना पसद नही किया, वे मुसलमान हाकिमो की दृष्टि से वचने के लिए ब्रज छोड कर अन्य स्थानो मे जाने लगे। उस काल मे विभिन्न सप्रदायो के अनेक धर्माचार्य तथा उनके हजारो शिष्य-सेवक ब्रज के विभिन्न स्थानो मे विद्यमान थे, किंतु उस शाही आज्ञा के विरोध करने का किसी को भी साहस नही हुआ था। पुष्टि सप्रदाय मे यह धार्मिक अनुश्रुति वडी प्रसिद्ध है कि गो० गोकुलनाथ जी के प्रयास से जहाँगीर ने वह आज्ञा वापिस लेली थी, जिसके कारण उस काल मे वैष्णव सप्रदायो के गौरव की रक्षा हुई थी। यहाँ पर उस घटना का कुछ विस्तार से उल्लेख किया जाता है।

**गोकुलनाथ जी का सफल प्रयास**—श्री गोकुलनाथ जी गो० विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र थे। उनकी विद्यमानता का काल स० १६०८ से स० १६९७ तक माना जाता है। वे अपने छहो भाइयो की अपेक्षा अधिक विद्वान, व्यवहार कुशल और लोकप्रिय थे। उनके वडे भ्राता गिरिधर जी ( स० १५९७-स०१६७७ ) पुष्टि सप्रदाय के तिलकायत आचार्य अवश्य थे, किंतु

---

(१) जहाँगीर का आत्मचरित्, पृष्ठ ८०६, (२-३) जहाँगीर का आत्मचरित्, पृष्ठ ६१५

गोमाई गोकुलनाथ जो
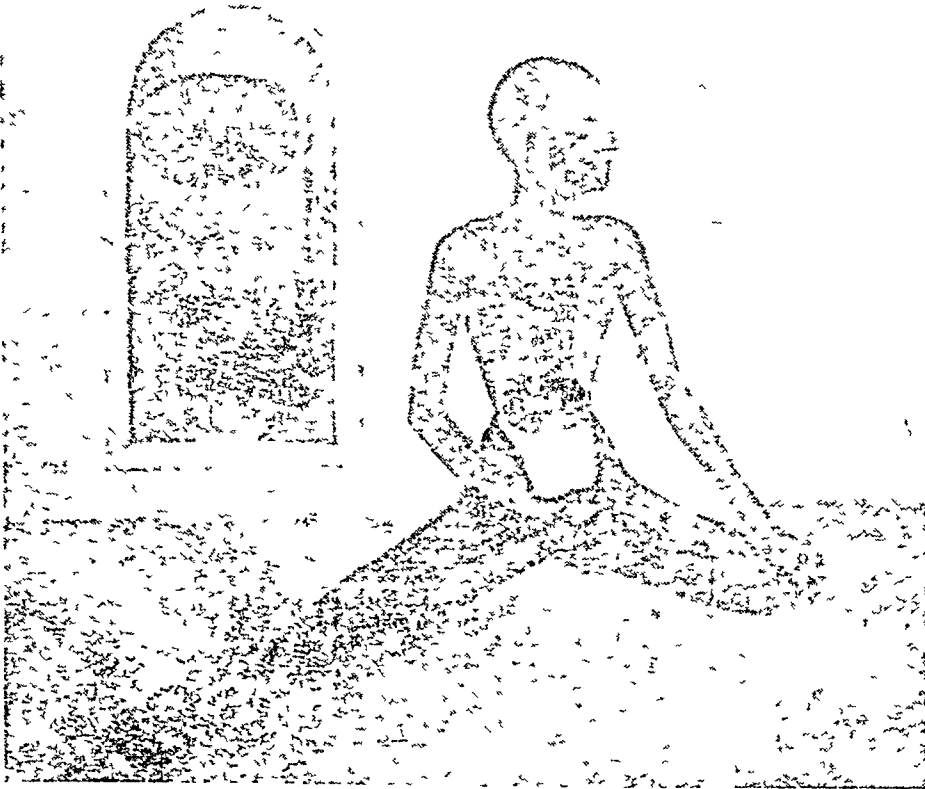
भत जदरूप

ओरछा-नरेश वीरसिंह देव

सप्रदाय, कुटु व–परिवार और समाज मे गोकुलनाथ जी का ही अधिक प्रभाव था। जब शाही आज्ञा के कारण व्रज के मुसलमान हाकिमो ने वैष्णवो की कठीमाला और तिलक के विरुद्ध अपना कठोर अभियान आरभ किया, तब सघर्ष से बचने के लिए श्री गोकुलनाथ जी अपने परिकर के साथ गोकुल छोड कर सोरो नामक तीर्थ स्थान मे चले गये थे, जहाँ उनकी बैठक बनी हुई हे।

उस काल मे जो वैष्णव व्रज मे रहे आये, उनका माला–तिलक के कारण मुसलमान अधिकारियो से प्राय प्रति दिन झगडा होता था। एक बार ३०० शस्त्रधारी राजपूतो ने उस आज्ञा का उल्लघन किया और वे मरने–मारने पर उतारू हो गये। जब गोकुलनाथ जी ने वह समाचार सुना, तब वे मथुरा आये और उन राजपूत वैष्णवो को शात किया। फिर उस झगडे को दूर करने के लिए उन्होने शाही दरबार मे फरियाद करने का निश्चय किया था। उस समय सम्राट जहाँगीर कश्मीर मे था। श्री गोकुलनाथ जी ७० वर्ष की वृद्धावस्था मे लबी यात्रा करते हुए कश्मीर पहुँचे। वहाँ पर उन्होने बादशाह से मिल कर तिलक–माला के पक्ष मे शास्त्रोक्त प्रमाण प्रस्तुत किये और सम्राट अकबर की धार्मिक सहिष्णुता तथा गो० विट्ठलनाथ जी के साथ उसके घनिष्ट सबध का स्मरण दिलाया। उसके फल स्वरूप जहाँगीर ने अपनी आज्ञा वापिस लेली थी[1]। इस प्रकार सफलता प्राप्त कर जब वे व्रज मे वापिस आये, तब सभी वैष्णवो ने उनका उल्लासपूर्ण स्वागत किया था। वे हर्ष पूर्वक 'जय जय श्री गोकुलेश' कह कर उनका जय–जयकार करने लगे। यह जय–ध्वनि तभी से वल्लभ सप्रदाय मे प्रचलित हुई है। पुष्टि सप्रदायी उल्लेखो के अनुसार जहाँगीर ने उक्त आज्ञा स०१६७४ मे जारी की थी और १६७७ मे उसे वापिस लिया था[2]।

उक्त घटना का उल्लेख उस काल के किसी फारसी ग्रथ मे नही मिलता है, किंतु वल्लभ सप्रदायी साहित्य के साथ ही साथ तत्कालीन अनेक कवियो की रचनाओ मे भी उसका विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। गोकुलनाथ जी के शिष्य व्यारा वाला गोपालदास द्वारा स० १६९९ मे रचे हुए 'मालोद्धार' काव्य मे तथा कल्याण भट्ट कृत 'कल्लोल' ( रचना काल स० १६८५–९३ ) मे उक्त घटना का विस्तृत वर्णन हुआ है[3]। गोकुलनाथ जी के सेवक जिस प्रसिद्ध नामक कवि ने उसका छदोबद्ध कथन किया था, उसके १९ छद पुराने सग्रहो मे से खोज कर डा० भवानीशकर याज्ञिक द्वारा प्रकाशित किये गये है[4]। जिन अन्य कवियो ने उस घटना का कथन किया है, उनमे प्राणनाथ, वृदावनदास, विहारी, श्रीपति, शेख, गहरगोपाल और खेम के नाम उल्लेखनीय है[5]। श्री गोकुलनाथ जी की जन्म–बधाई के एक बडे पद मे भी उसका उल्लेख किया गया है। उस पद की प्रारभिक पक्ति इस प्रकार है,—"जयति विट्ठल–सुवन प्रकट वल्लभ बली, प्रबल पन करी तिलक–माल राखी[6]।"

---

(१) पुष्टिमार्ग नो इतिहास, ( गुजराती ) पृष्ठ ७९, १०१, १०६

(२) अष्टछाप–परिचय, पृष्ठ ७६–७७

(३) वैष्णव धर्म नो सक्षिप्त इतिहास ( गुजराती ), पृष्ठ २६९ की टिप्पणी

(४) समिति वाणी, वर्ष १ अक २, पृष्ठ २९–३४

(५) वार्ता साहित्य : एक बृहत् अध्ययन, पृष्ठ ३८५–३८७

(६) लेखक के निजी हस्त लिखित संग्रह से

**गोसाई जदरूप की प्रेरणा**—वल्लभ सप्रदायी साहित्य से ज्ञात होता है, जहाँगीर ने वैष्णवो की कठीमाला और उनके तिलक पर जो रोक लगायी थी, उसकी प्रेरणा गोसाई जदरूप ( चिद्रूप ) नामक एक दडी सन्यासी से उसे मिली थी। जहाँगीर की आत्म कथा मे ज्ञात होता है, गोसाई जदरूप पहिले उज्जैन के निकटवर्ती वन की एक गुफा मे तपस्या करता था और बाद से वह मथुरा आकर यमुना के किनारे भजन करने लगा था। जहाँगीर ने स० १६७३ और १६७५ मे उज्जैन मे तथा स० १६७६ मे मथुरा मे उससे कई बार भेंट की थी। वह उसकी विद्वता, त्याग वृत्ति और तपस्या से बडा प्रभावित हुआ था। उसके उल्लेखो से ज्ञात होता है, उस सन्यासी से सत्सग करने मे जहाँगीर को इतनी शाति और इतना आनद मिलता था कि जब उसे अवसर मिलता, तभी वह उससे मिल कर ज्ञान-चर्चा किया करता था[1]।

जहाँगीर के उल्लेखो मे एक शब्द भी ऐसा नही है, जिससे सिद्ध हो सके कि सन्यासी जदरूप ने वैष्णवो की कठीमाला और उनके तिलक पर रोक लगाने के लिए कभी कुछ कहा हो। उस जैसे तपस्वी सत से यह आशा भी नही की जी जा सकती है कि वह साप्रदायिक ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित होकर कोई ऐसी बात कहेगा। फिर जहाँगीर की धार्मिक नीति से भी उस घटना की सगति नही होती है। इसलिए डा० हरिहरनाथ टडन ने उक्त घटना की आलोचना करते हुए लिखा है कि उसका सबध जहाँगीर की अपेक्षा शाहजहाँ से हो सकता है, क्यो कि उसी ने हिंदुओ के पुराने मदिरो का जीर्णोद्धार रोक कर एक बार सारे उत्तर भारत की शाति भग कर दी थी[2]। हमारे मतानुसार उक्त घटना का सबध शाहजहाँ से जोडने का कोई प्रमाण नही मिलता है। इस विषय के साहित्यिक उल्लेखो मे स्पष्ट रूप से जहाँगीर का नाम आया है, शाहजहाँ का नाम किसी मे नही है। फिर उस घटना को जिस जदरूप सन्यासी की प्रेरणा से होना बतलाया गया है, वह जहाँगीर के काल मे ही हुआ था। जहाँगीर ने उससे प्रभावित होने का उल्लेख स्वय अपने आत्मचरित मे किया है। ऐसी दशा मे उस घटना का जहाँगीर के काल मे ही होना सभव है।

जहाँगीर के आत्मचरित से ज्ञात होता है कि सत जदरूप ने एक बार उससे उस काल के प्रचलित सेर के दामो मे परिवर्तन करने को कहा था[3]। सतो की विचित्र बातें होती हैं। वे बडी से बडी बात पर प्राय ध्यान नही देते हैं, किंतु छोटी-छोटी बातो पर कभी-कभी बहुत जोर देते है। जब सेर के दाम बदलवाने जैसी तुच्छ सासारिक बात के लिए सत जदरूप बादशाह से कह सकता था, तब यह समझा जा सकता है कि वैष्णव भक्तो के आचार-विचार और वेश-भूषा के सबध मे बादशाह से चर्चा करते हुए कदाचित उसने कठीमाला और तिलक के प्रति भी अपना भिन्न मत प्रकट किया हो। जदरूप वेदाती सन्यासी था, अत वैष्णवो के बाह्याचार के प्रति उसका असहमत होना स्वाभाविक था। सभव है माला-तिलक पर रोक लगाने के लिए उसने स्वय न कहा हो और बादशाह ने ही उसके विचारो के समर्थन मे वह आज्ञा प्रचारित कर दी हो। कारण कुछ भी रहा हो, किंतु वह घटना अवश्य हुई जान पडती है। उसका प्रतिकार गोकुलनाथ जी के अदम्य साहस से ही सभव हो सका था।

---

(१) जहाँगीर का आत्मचरित, पृष्ठ ४१७-४१६, उज्जयिनी दर्शन, पृष्ठ १०१-१०२
(२) वार्ता साहित्य : एक बृहत् अध्ययन, पृष्ठ ३६३
(३) जहाँगीर का आत्मचरित, पृष्ठ ६१८, उज्जयिनी दर्शन, पृष्ठ १०२

**राजा वीरसिंह और मथुरा का केशव-मंदिर**—जहाँगीर के शासन काल मे ब्रज की एक महत्वपूर्ण घटना मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर श्री केशवराय जी के नये मदिर का निर्माण होना है। उसका निर्माता ओडछा का बुदेला राजा वीरसिंह था, जो जहाँगीर का अत्यत कृपापात्र सामत था। वह ओडछा के भक्त–राजा मधुकरशाह (स० १६११–१६५०) का पुत्र और रामशाह का छोटा भाई था। सम्राट अकबर के शासन काल मे रामशाह ओडछा का राजा और मुगल दरबार का सामत था। उसका भाई वीरसिंह बडा तेजस्वी और महत्वाकाक्षी युवक था। वह रामशाह को हटा कर स्वय ओडछा की गद्दी पर बैठना चाहता था, किंतु सम्राट अकबर उसकी इच्छा मे बाधक था। फलत उसने रामशाह और अकबर दोनो के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। उन दिनो युवक जहाँगीर ने भी अपने पिता अकबर से विरोध कर रखा था, अत उसने वीरसिंह को अपनी ओर मिला लिया। जहाँगीर की धारणा थी कि अबुलफजल उसके विरुद्ध अकबर के कान भरा करता है, अत उसने वीरसिंह को ओडछा राज्य का प्रलोभन देकर उसके द्वारा अबुलफजल का बध करा दिया था।

जब अकबर की मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर बादशाह हुआ, तब उसने अपने वचन के अनुसार रामशाह को हटा कर वीरसिंह को ओडछा का राजा बना दिया था। मुगल सम्राट जहाँगीर का कृपापात्र होने के कारण वीरसिंह ने ओडछा राज्य की बडी उन्नति की थी। उसने अपनी योग्यता और शासन–कुशलता से इतनी लोकप्रियता प्राप्त की थी कि लोग उसके आरभिक जीवन के उद्धत कार्यों को, यहाँ तक कि अबुलफजल के बध को भी, भूल गये थे। किंतु स्वय वीरसिंह उसे नही भूल सका था। वह समझता था कि उसने अपने स्वार्थ के लिए एक निरपराध विद्वान का बध कर भारी पाप किया है। उसके प्रायश्चित के लिए वह जीवन पर्यंत अनेक दान-पुण्य और धार्मिक कृत्य करता रहा था।

'श्री लोकेन्द्र ब्रजोत्सव' और 'ओडछा स्टेट गजेटियर' से ज्ञात होता है कि वीरसिंह ने स० १६७१ मे ब्रज–यात्रा की थी। उस अवसर पर उसने मथुरा के विश्रामघाट पर अपनी सोने की तुला कराई थी। तुला मे अपने भार बराबर स्वर्ण–दान के साथ ही साथ उसने ८१ मन सोने का और भी धर्मार्थ सकल्प किया था। उस विशाल स्वर्ण–राशि के धन से विविध स्थानो मे ५२ भवन एक साथ बनवाये गये थे। उन सब का शिलान्यास एक ही मुहूर्त—स० १६७५ की माघ शु० ५ रविवार को हुआ था[1]। उन ५२ भवनो मे मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर निर्मित श्री केशवराय जी का मदिर भी था, जो वीरसिंह के निर्माण कार्यो मे सबसे बडा और सबसे अधिक महत्वपूर्ण था।

**श्री केशवराय जी का मदिर**—मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर कन्नौज के युवराज विजयपाल ने स० १२०७ मे जो मदिर बनवाया था, उसे सिकदर लोदी ने स० १५७३ मे नष्ट कर दिया था। उसके बाद वहाँ ओडछा–नरेश वीरसिंह द्वारा स० १६७५ मे बनवाये गये मदिर का ही इतिहास मे उल्लेख मिलता है। उससे यह समझा जाता है कि प्राय एक शताब्दी तक वहाँ कोई मदिर नही था। सिकदर लोदी की मृत्यु के पश्चात् बाबर, हुमायू और शेरशाह के काल मे जिस उदार धार्मिक नीति का सूत्रपात हुआ था, उससे ब्रज का वातावरण ही बदल गया था।

---

(१) ओड़छा स्टेट गजेटियर, पृष्ठ ३ और २२

उस काल मे जहाँ श्री वल्लभाचार्य जी की प्रेरणा से गोवर्धन मे श्रीनाथ जी का मदिर पूर्ण हुआ था और श्री हित हरिवश जी द्वारा वृ दावन मे श्री राधावल्लभ जी का पाटोत्सव किया गया था, वहाँ मथुरा का कृष्ण–जन्मस्थान जैसा महत्वपूर्ण प्राचीन स्थल सूना रहा हो, यह समझ मे आने वाली बात नही है।

वल्लभ सप्रदायी वार्ता साहित्य मे ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि अकबर के शासन काल से पहिले ही मथुरा मे श्री केशव भगवान् का मदिर था और वहाँ ठाकुर-सेवा होती थी। श्री वल्लभाचार्य जी के सेवक गोविंददास भल्ला और वावा वेणु की वार्ताओ मे लिखा है कि उन्होने मथुरा मे श्री केशवराय जी के मदिर मे ठाकुर-सेवा की थी और वहाँ पर ही उनका देहावसान हुआ था[1]। श्री अगरचद नाहटा ने रामानदी भक्त–कवि सासदास कृत 'भगति भावती' नामक एक रचना का उल्लेख किया है। उसकी पुष्पिका मे लिखा गया है, सासदास ने स० १६०९ की आश्विन कृ० ११ रविवार को मथुरा मे परिक्रमा की थी और 'केशवालय' मे रात्रि–जागरण किया था। उस दिन छह प्रहर अर्थात् १८ घटो मे उनने 'भगति भावती' पुस्तिका की रचना कर उसे केशव भगवान् के अर्पित किया था[2]। उससे भी यही सिद्ध होता है कि अकबर के शासन काल से पहिले मथुरा मे केशवराय जी का मदिर विद्यमान था।

सम्राट अकवर ने ब्रज मे मदिर–निर्माण करने की खुली छूट दी थी, जिसके कारण स० १६२० के वाद गोकुल, वृ दावन और गोवर्धन मे अनेक वडे–वडे मदिर वनाये गये थे। उस समय मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर भी श्री केशवराय जी का कोई मदिर अवश्य रहा होगा, चाहे वह छोटा देवालय ही हो। उसकी पुष्टि गो० विट्ठलनाथ जी के सेवक गोविंदस्वामी की वार्ता से होती है। वार्ता मे लिखा है, एक वार विट्ठलनाथ जी गोविंदस्वामी के साथ गोकुल से मथुरा गये थे। वहाँ उन्होने श्री केशवराय जी के मदिर मे जा कर दर्शन किये थे। उस समय गर्मी का मौसम होते हुए भी ठाकुर जी को शीत काल के से भारी वस्त्र धारण कराये गये थे, जिससे गोविंदस्वामी ने व्यगोक्ति की थी[3]। उस घटना का काल स० १६२८ से १६४२ तक के वीच का हो सकता है, क्यो कि स० १६२८ से श्री विट्ठलनाथ जी गोकुल मे स्थायी रूप से रहने लगे थे और स० १६४२ मे उनका देहावसान हुआ था।

ओडछा के राजा वीरसिंह ने जहाँगीर के काल मे कृष्ण–जन्म स्थान के उस छोटे और जीर्ण देवालय के स्थान पर एक अत्यत विशाल और कलापूर्ण मदिर वनवाया था। उसके निर्माण की कथा और उसके कलात्मक रूप का वर्णन वीरसिंह के राजकवि और उस मदिर के निर्माण कार्य के निरीक्षक श्री मित्र मिश्र कृत 'आनदकद चम्पू', बु देली कवि प्रतीतराय लक्षमणसिंह कृत 'श्री लोकेन्द्र ब्रजोत्सव' और 'ओडछा स्टेट गजेटियर' मे वर्णित है। जिन देशी–विदेशी यात्रियो ने उस मदिर को समय–समय पर देखा था, उन्होंने भी उसका प्रशसात्मक उल्लेख किया है।

---

(१) 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में गोविंददास भल्ला की वार्ता, प्रसंग २ तथा बाबा बेणु की वार्ता, प्रसग १

(२) ब्रजभारती, वर्ष १३ अक ३

(३) 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' मे गोविंदस्वामी की वार्ता, प्रसग १७

उक्त मदिर के निर्माण–निरीक्षक मित्र मिश्र ने उसके भव्य रूप का कलात्मक वर्णन करते हुए लिखा है,—"वह मदिर पर्वत के समान विशाल, सुदृढ और ऊँचे शिखर वाला था, जिस पर केसरिया ध्वजा फहराती थी। उसके शिखर मे अनेक आले वने हुए थे, जिन पर हजारो कवूतरो का आवास था। जिस समय वे कवूतर वहाँ से एक साथ उड कर आकाश पर छा जाते थे, तव वडा ही सुहावना दृश्य दिखलाई देता था। देवमूर्ति का स्थान चारो ओर से वद था, जिससे वह 'गुहा मदिर' सा जान पडता था। मदिर मे सर्वत्र सु दर नक्काशी और वढिया चित्रकारी की गई थी[1]।"

वह मदिर इतना विशाल और भव्य था कि उसे देखने के लिए प्रति वर्ष अनेक यात्री मथुरा आया करते थे। उनमे से कई यात्रियो के नाम और मदिर के सवध से लिखे हुए उनके विवरण उपलब्ध है। एक फ्रेंच यात्री टेवर्नियर ने स० १७०७ मे, दूसरे यूरोपियन यात्री वर्नियर ने स० १७२० मे तथा एक वीकानेरी सेठ ने स० १७१३ मे उस मदिर के दर्शन कर अपने वृत्तात लिखे थे। एक इटालियन यात्री मनूची का भी उसके सवध मे लिखा हुआ विवरण मिलता है। टेवर्नियर ने उसके सवध मे लिखा है,—"यह मदिर भारत भर के अत्यत उत्कृष्ट मदिरो मे से एक है।. .यह इतना विशाल है कि नीची जगह मे अवस्थित होते हुए भी ५–६ कोस की दूरी से दिखाई पडता है। मदिर की इमारत वहुत ही ऊँची और भव्य है[2]।" मनूची ने लिखा है,—"इसका स्वर्णाच्छादित शिखर इतना ऊँचा था कि वह १८ कोस दूर आगरा से भी दिखाई पडता था[3]।" जन्माष्टमी की रात्रि मे जब उसके शिखर के चारो ओर वने हुए आलो मे हजारो दीपक जलाये जाते थे, तव उनकी ज्योति से झिलमिलाता हुआ वह स्वर्ण मडित शिखर गले हुए स्वर्ण पु ज के सदृश दिखलाई देता था। उसका वह भव्य रूप हजारो-लाखो नर–नारियो द्वारा वडी दूर से कौतुहल पूर्वक देखा जाता था। उसकी विशालता का अनुमान आगरा किले की तुलना से किया जा सकता है। उस काल मे उस किले के वनवाने मे ३० लाख रुपया लगा था, जव कि मथुरा के उस मदिर की लागत ३३ लाख आई थी। वह विशाल, भव्य और कलापूर्ण देव-स्थान वाद मे औरगजेव के शासन–काल मे नष्ट कर दिया गया था। इस समय उसका वह कौतुहलोत्पादक वृत्तात ही शेष रह गया है।

कतिपय इतिहासकारो ने उस मदिर का निर्माण काल स० १६७० ( सन् १६१३ ) लिखा है[4], किंतु हमारे मतानुसार वह उससे कुछ काल वाद मे वना था। 'श्री लोकेन्द्र व्रजोत्सव' और 'ओडछा स्टेट गजेटियर' के अनुसार उक्त मदिर का शिलान्यास स० १६७५ मे हुआ था[5]। उस जैसे विशाल मदिर के वनने मे कम से कम ५ वर्ष अवश्य लगे होगे, अत• उनका निर्माण–काल स० १६८० मानना उचित होगा।

---

(१) आनंदकद चम्पू, अष्टम उल्लास, श्लोक स० ७१ से ६४ तक

(२) पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ८३४

(३) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, पृष्ठ ११८

(४) श्री कृष्ण–जन्मस्थान का इतिहास ( द्वितीय संस्करण ), पृष्ठ ८

(५) ओड़छा स्टेट गजेटियर, पृष्ठ ३

**अंतिम काल और मृत्यु**—जहाँगीर ने अपने उत्तर जीवन मे शासन का समस्त भार नूरजहाँ को सोप दिया था। वह स्वय शराव पीकर निश्चिंत पडे रहने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझता था। शराव की बुरी लत और ऐश-आराम के रहन-सहन ने उसकी काया को इतना निकम्मा कर दिया था कि वह कोई महत्वपूर्ण कार्य कर ही नही सकता था। सौभाग्य से अकवर के काल मे मुगल साम्राज्य की नींव इतनी दृढता पूर्वक रखी गई थी कि जहाँगीर के निकम्मेपन से उसमे कोई खास कमी नही आई थी। अपने पिता द्वारा स्थापित नीति और परपरा का पल्ला पकडे रहने से जहाँगीर अपने शासन-काल के २२ वर्ष विना खास झगड़े-झमटो के प्राय सुख-चैन मे पूरे कर गया था। नूरजहाँ अपने सौतेले पुत्र खुर्रम को नहीं चाहती थी। इसलिए जहाँगीर के उत्तर काल मे खुर्रम ने दो-एक वार विद्रोह भी किया था, किंतु वह असफल रहा था।

स० १६८४ मे जव जहाँगीर कश्मीर से वापिस आ रहा था, तव लाहौर के निकट उसकी मृत्यु हो गई थी। उस समय उसकी आयु ५८ वर्ष की थी। उसे लाहौर के समीपस्थ शाहदरा के रमणीक उद्यान मे दफनाया गया था। वाद मे वहाँ उसका सु दर मकवरा वना था। जिस समय जहाँगीर की मृत्यु हुई, उस समय खुर्रम दक्षिण मे था। उस समाचार को सुनते ही वह दल-वल सहित कूँच करता हुआ आगरा आ पहुँचा। उसने अपने को सम्राट घोषित किया और शाहजहाँ के नाम से मुगल-साम्राज्य का सचालन करने लगा।

## शाहजहाँ ( शासन काल स० १६८४ से स० १७१५ तक )—

**प्रारंभिक काल और प्रशासन**—शाहजहाँ सम्राट जहाँगीर का छोटा पुत्र था, जो अपने पिता के पश्चात् मुगल सम्राट हुआ था। उसका जन्म स० १६४६ (५ जनवरी, सन् १५६२) मे लाहौर मे हुआ और उसका आरभिक नाम खुर्रम था। वह वडा कुशाग्रवुद्धि, वीर, कलाप्रिय और वडे ठाट-वाट का वादशाह था। चूँकि जहाँगीर अपने ज्येष्ठ पुत्र खुसरो से उसकी राज्य-प्राप्ति की महत्वाकाक्षा के कारण वडा असतुष्ट रहता था, अत खुर्रम को ही जहाँगीर का उत्तराधिकारी समझा जाता था। उसका विवाह नूरजहाँ की भतीजी और आसफखाँ की पुत्री अरजुमद वानू से स० १६६६ मे हुआ था। वही वाद मे मुमताज महल के नाम से उसकी प्रियतमा वेगम हुई थी। उस समय वह २० वर्ष का युवा था, किंतु उसी आयु मे वह राज्य का एक शक्तिशाली स्तभ समझा जाता था। फिर उस विवाह के कारण उसकी शक्ति वहुत वढ गई थी। नूरजहाँ, आसफखाँ और उनका पिता एतमादुद्दौला, जो जहाँगीरी शासन के कर्ता-वर्ता थे, शाहजहाँ के समर्थक हो गये थे।

जव नूरजहाँ की पुत्री, जो उसके पूर्व पति शेरअफगन से उत्पन्न हुई थी, खुर्रम के छोटे भाई शहरयार को विवाही गई, तव नूरजहाँ खुर्रम की अपेक्षा शहरयार की पक्षपातिनी हो गई थी। उसके कारण जहाँगीर के हरम मे ही दो गुट वन गये थे—एक खुर्रम का और दूसरा शहरयार का। उन दोनो गुटो की प्रतिद्वंदिता से प्रशासन मे वडी गडवड पैदा हो गई थी। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् खुर्रम के गुट की जीत हुई और शहरयार को गिरफ्तार कर अंधा वना दिया गया। उस समय नूरजहाँ का प्रभाव समाप्त हो गया था और उसे लाहौर मे अपना अंतिम जीवन शांति पूर्वक विताने के लिए विवश किया गया था। खुर्रम वडी धूमधाम से स० १६८४ मे जहाँगीर के नाम से मुगल सम्राट हो गया।

शाहजहाँ के काल मे मुगल साम्राज्य की समृद्धि, शान–शौकत और ख्याति चरम सीमा पर पहुँच गई थी। उसके दरबार मे देश–विदेश के अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति आते रहते थे, जो उसके वैभव, रौब–दौब और ठाट-वाट को देख कर चकित रह जाते थे। उसके शासन का अधिकांश काल सुख–शांति से बीता था, अत उसके राज्य मे खुशहाली और बहबूदी रही थी। उसके शासन की सबसे बडी देन उसके द्वारा निर्मित सुदर, विशाल और भव्य भवन है। उस प्रकार का निर्माण कार्य वही बादशाह कर सकता है, जिसके राज्य मे सुख–शांति हो, युद्ध एव शत्रु का भय न हो, और जिसके राजकोश मे अपार धन हो। शाहजहाँ को वे सब सुविधाएँ प्राप्त थी।

**निर्माण-कार्य**—शाहजहाँ का नाम उसके द्वारा निर्मित भवनो के कारण इतिहास मे प्रसिद्ध है। उक्त भवनो मे आगरा का ताजमहल सर्वश्रेष्ठ है, जो अपनी भव्यता और सुदरता के लिए ससार भर मे विख्यात रहा है। उसके अतिरिक्त आगरा किला की सुंदर मसजिद, दिल्ली का सुप्रसिद्ध लाल किला और उसके अतर्गत दीवाने–आम, दीवाने–खास, मोती महल, मोती मसजिद तथा विशाल जामा मसजिद उसके स्थापत्य प्रेम की अमर यादगार है। शाहजहाँ की एक फतहपुरी बेगम ने दिल्ली मे फतहपुरी मसजिद बनवाई थी। उसकी पुत्री जहानआरा बेगम ने आगरा किले के पास जामा मसजिद का निर्माण स० १७०६ मे कराया था। ये सभी इमारते मुगल वास्तु कला की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ है। कश्मीर का शालीमार बाग शाहजहाँ की उद्यान प्रियता का अच्छा उदाहरण है। उसका राजसिंहासन 'तख्त ताऊस' उसकी समृद्धि और कलाभिरुचि का अनुपम प्रतीक था। शाहजहाँ के निर्माण कार्यो मे 'ताजमहल' और 'तख्त ताऊस' की अधिक प्रसिद्धि है, अत उनका कुछ विशद वर्णन किया जाता है।

**ताजमहल**—आगरा का ताजमहल ऐसी भव्य और उत्कृष्ट इमारत है कि इसकी गणना ससार के सप्त आश्चर्यो मे की जाती है। इसे शाहजहाँ ने अपनी प्रिय बेगम मुमताज महल के मरने पर उसकी स्मृति को चिरस्थायी करने के लिए बनवाया था। इसके निर्माण का आरभ सं० १६८८ मे हुआ और १८ वर्ष के अथक परिश्रम के उपरात इसे स० १७०५ मे पूरा किया गया था। कहते है, २० हजार कारीगर इसके बनाने मे लगे थे। उन लोगो की वहाँ एक बस्ती ही बस गई थी, जिसे अब 'ताजगज' कहा जाता है।

सफेद संगमरमर से बनी हुई इस अद्भुत इमारत को एक सुदर उद्यान के बीच मे ऊँचे चबूतरे पर बडे कलात्मक ढग से बनाया गया है। चबूतरे के चारो ओर गगन चुबी चार मीनारे है और बीच मे सुदर गुम्मजदार विशाल मकबरा है। इसकी सगतराशी, पच्चीकारी और नक्काशी को देख कर दर्शक आश्चर्य से चकित रह जाता है। यद्यपि इसे बने हुए तीन सौ वर्ष से अधिक हो गये, तब भी यह ऐसा मालूम होता है, मानो अभी बन कर तैयार हुआ हो! शरद पूर्णिमा की रात मे इसकी आभा और भी खिल उठती है। तब इसका स्वच्छ श्वेत रूप परी लोक के दृश्य को भी मात करता है। उस समय इसके सौन्दर्य की झाकी करने के लिए हजारो नर–नारी एकत्र होते हैं। यह मुगल सम्राट शाहजहाँ के पत्नी–प्रेम का उज्ज्वल प्रतीक है। इसीलिए इसे 'सगमरमर का एक प्रणय–गीत' भी कहा गया है।

इसके निर्माण मे उस काल के जग विख्यात वास्तु विशेषज्ञो ने योग दिया था। प्रमुख शिल्पियो की सख्या ३८ थी, जिनकी देख–रेख मे कई हज़ार सगतराश और कारीगर नियुक्त थे।

आगरा निवासी उस्ताद ईसाखाँ प्रमुख निर्माता और प्रधान शिल्पी था। उस्ताद पीरा प्रधान मिस्त्री तथा भट्टमल और जोरावर प्रमुख सगतराश थे। अमानतखाँ शीराजी नक्काशी तथा रायमल काश्मीरी और चिरजीलाल पच्चीकारी के माहिर थे। इसका वास्तु शिल्प भारतीय और ईरानी कलाओ का मिश्रण हे, जो मुगल स्थापत्य शैली की विशेषता मानी जाती है। जब यह बन कर तैयार हो गया, तब इसे देख कर शाहजहाँ इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपने लिए भी सगमूसा ( कीमती काले सगमरमर ) का वैसा ही मकबरा बनवाने का निश्चय किया था, किंतु उसकी वह मनोभिलाषा पूरी नही हो सकी थी।

इसके निर्माता के रूप मे शाहजहाँ का नाम जग जाहिर है, किंतु अब इसकी सत्यता मे सदेह किया जाने लगा हे। सदेह का मुख्य कारण यह हे कि ऐसी अनुपम और अपार व्यय-साध्य शाही इमारत के निर्माण का लेखा–जोखा उस समय के सरकारी कागज–पत्रो मे नही मिलता हे। वर्तमान काल के कुछ शोधक विद्वानो का मत है कि इसका मूल निर्माता शाहजहाँ नही था, बल्कि राजा मानसिंह अथवा उसके उत्तराधिकारी कछवाहा नरेश थे, जो मुगल दरबार के सबसे बडे स्तभ माने जाते थे। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री पी० एन० ओक ने इस मत के समर्थन मे कई अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किये है। उनका कथन है, यदि इसे मूल रूप मे मुसलमानी मकबरा की तरह बनाया गया होता, तब इसकी वास्तु शैली मे हिंदू प्रतीको और उनके अगीभूत लक्षणो का इस प्रकार समावेश नही होता। इसके फर्श और दीवारो पर जो घनी समुज्ज्वल शखक सजावट है, वह भी न होती। इससे सिद्ध होता है कि यह मूल रूप मे एक हिंदू इमारत हे। श्री ओक की स्थापना है, ताजमहल पहिले राजा मानसिंह के परिवार का राजमहल था। अकबर के बाद मानसिंह और उसके वशजो का प्रभाव कम हो गया था। तब शाहजहाँ ने मुमताज महल की मृत्यु बहाने से उस पर अधिकार कर लिया था और उसके रूप मे कुछ परिवर्तन कर उसे राजमहल के बजाय मकबरा बना दिया था[1]।

उपर्युक्त मत को पूर्णतया स्वीकार करना कदापि सभव नहीं है, किंतु यह एक दम कपोलकल्पित भी नही मालूम होता है। उस काल के सरकारी कागजो मे ही लिखा गया है कि जिस भूमि पर ताजमहल बना है, उसको शाहजहाँ ने राजा मानसिह के वशज मिर्जा राजा जयसिंह से प्राप्त किया था। सभव है, उस भूमि पर उक्त राजाओ का महल भी रहा हो, जिसे शाहजहाँ ने पुनर्निमित कर ताजमहल का रूप प्रदान किया था। शाहजहाँ के समकालीन मुल्ला हमीद लाहौरी ने इसके निर्माण का व्यय केवल ५० लाख रुपया लिखा है। ताजमहल जैसी महान् कला-कृति के निर्माण पर इतनी कम लागत तभी आ सकती थी, जब वह पूरी तरह शाहजहाँ द्वारा न बनवायी गई हो। किंतु उसका एक दूसरा कारण भी हो सकता है। उसी काल के उल्लेखो से ज्ञात होता है कि उसके निर्माण मे हिंदू राजाओ और मुसलमान ओहदेदारो ने पुष्कल धन प्रदान किया था। उसके लिए सगमरमर और दूसरा पाषाण अधिकतर सरकारी कर या भेट के रूप मे नि शुल्क प्राप्त हुआ था। इस प्रकार यह निश्चित है कि उसके निर्माण मे जितनी लागत आई थी, उसका थोडा अश ही सरकारी खजाने से दिया गया था। ऐसी दशा मे शाहजहाँ को इसके निर्माण के श्रेय से पूरी तरह वचित करना उचित नही है।

---

(१) **मुस्लिम स्मारको के असली निर्माता कौन ?** ( साप्ताहिक भारत का उल्लेख )

शाहजहाँ का दरबार

ताजमहल

दारा शिकोह

**तख्त ताऊस**—वह शाहजहाँ का सुप्रसिद्ध राजसिहासन था। उसे नाँचते हुए मोरो की आकृति का बनाया गया था, इसीलिए उसका नाम 'तख्त ताऊस' ( मयूर सिहासन ) रखा गया था। कहते है, उसके रूप की प्रेरणा जैन धर्म के एक आख्यान से प्राप्त की गई थी, जिसमे किसी प्राचीन राजा के 'मयूर यान' का उल्लेख हुआ है। शाहजहाँ जैसी शान-शौकत का बादशाह था, उसी के अनुरूप उसने अपना तख्त भी बनवाया था। बादशाही शान ताज और तख्त से ही तो है! विगत सुलतानो और बादशाहो द्वारा लूट तथा भेट मे प्राप्त अपार स्वर्ण एव अगणित बहुमूल्य रत्नो से शाहजहाँ का जो राजकोश भर गया था, उसका उपयोग उसने उस तख्त के निर्माण मे किया था! उसके भव्य रूप का जो आश्चर्यजनक वर्णन मिलता है, उसका साराश यहाँ दिया गया है।

वह तख्त ३॥ गज लबा, २ गज चौडा और ५ गज ऊँचा था। उसके २-२ गज ऊँचाई के ६ पाये थे, जो ठोस सोने के बनाये गये थे और जिन पर हीरा-जवाहरात जडे थे। तख्त की छत गोलाकार थी, जिसकी महरावो पर नाना रगो के रत्न बडे कलात्मक ढग से लगाये गये थे। उसमे भीतर और बाहर सभी जगह अद्भुत मीनाकारी और पच्चीकारी की गई थी। मध्यवर्ती महराव के बीचोबीच जवाहरात का एक वृक्ष बनाया गया था, जिसके पत्ते, फूल और फल विभिन्न रगो के रत्नो से निर्मित थे। वृक्ष के दोनो ओर दो नाँचते हुए मोर बनाये गये थे, जिनके पखो मे नीलम, पन्ना और लाल जडे हुए थे। उनकी चोच मे बेशकीमती मोतियो की मालाएँ थी। तख्त के चारो ओर, ऊपर और नीचे तथा अदर की ओर बहुमूल्य मोतियो की लडियाँ लटकाई गई थी। उसके गद्दी-तकिया भी रत्नजटित थे। बडे तकिया के बीच मे एक चमकदार लाल लगाया गया था, जिसकी किरणे चकाचोध करती थी। उस पर चढने की जो तीन सीडियाँ थी, वे भी सोने की बनाई गई थी। उक्त तख्त को इस प्रकार बनाया गया था कि आवश्यकता पडने पर उसके कई खड किये जा सकते थे और फिर उन्हे सरलता से जोडा जा सकता था।

उसके निर्माण मे जो विविध प्रकार के बहुमूल्य रत्न और सच्चे मोती लगे थे, उनका वजन ६ मन २० सेर २ छटाँक था! उसमे लगे हुए सोने का वजन ३१ मन २० सेर था! उस समय का मन आजकल के हिसाब से चौदह सेर का होता था। उस काल मे उसके रत्नो का मूल्य ८६ लाख रुपया तथा सोने का मूल्य १४ लाख रुपया समझा गया था। कहते है, उसको ५ हजार कारीगरो ने ७ वर्ष मे बनाया था! उन सबकी मजदूरी तथा स्वर्ण और रत्नो के मूल्य की कुल लागत उस काल मे २ करोड १४ लाख ५० हजार के लगभग आई थी! उसके निर्माण के निरीक्षक प्रधान सुनार का नाम बेबदलखाँ बतलाया गया है। ऐसा अद्भुत तख्त शाहजहाँ से पहिले ससार के किसी राजा-महाराजा ने शायद ही बनवाया हो। परियो की कहानियो मे जैसी अद्भुत वस्तुओ का कथन होता है, उनसे भी अधिक विचित्र वह तख्त था।

उसका निर्माण कार्य स० १६९१ ( सन् १६६४ ) मे पूरा हुआ था। शाही ज्योतिपियो ने उस पर बैठने का जो मुहूर्त्त निश्चित किया था, वह ईसवी सन् की गणना के अनुसार ३ फरवरी' सन् १६३४ शुक्रवार दिन के ठीक १२ बजे का था। उस पर बैठने के मुहूर्त्त के दिन आगरा के किले मे एक बडा दरबार किया गया था। उस अवसर पर दरबारियो ने बादशाह को बहुमूल्य भेट दी थी और कवियो तथा शायरो ने शाह एव तख्त की प्रशसा मे कविता और नज्म पढी थी।

वह दरबार १० दिनों तक निरंतर होने वाले राग-रंग के बाद समाप्त हुआ था। उस समय बादशाह ने सब दरबारियों को यथा योग्य मनसबे, ओहदे, मनसबें और तोहफे दिये थे तथा दिल खोल कर खूब धन लुटाया था। वह तख्त शाहजहाँ के काल में सं० १६९१ से लेकर मुहम्मदशाह के काल में सं० १७९६ तक मुगल सम्राटों के दरबार की शोभा बढ़ाता रहा था। सं०१७९६ में जब नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया था, तब वह मुगल दरबार की अन्य बहुमूल्य वस्तुओं के साथ 'तख्त ताऊस' को भी उठा कर ईरान ले गया था। उसके बाद उस तख्त का क्या हुआ इसका उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता है।

**कलाभिरुचि**—शाहजहाँ को स्थापत्य कला के प्रति जितनी अभिरुचि थी, उतनी अन्य कलाओं के प्रति नहीं थी। फिर भी उसके द्वारा विभिन्न कलाओं और विद्याओं को प्रोत्साहन मिला था। अकबर और जहाँगीर के काल में जिन कलाओं का विकास हुआ था, वे शाहजहाँ के काल में भी प्रगति करती रही थीं। उस काल में संगीत की उन्नति के संबंध में एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया गया कि सुप्रसिद्ध गायक बख्शू के उपलब्ध ध्रुपदों को एकत्र करा कर उन्हें संपादित रूप से 'सहस रस' नामक ग्रंथ में संकलित किया गया था। वह ग्रंथ आजकल भारत में नहीं मिलता है। उसकी एक हस्त-प्रति इंगलैंड की आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी के किंग्स कालेज पुस्तकालय में है[1]।

उस काल में कलाकारों के साथ ही साथ कतिपय साहित्यकारों को भी राजकीय प्रश्रय प्रदान किया गया था। शाहजहाँ के दरबार में फारसी के अतिरिक्त संस्कृत और ब्रजभाषा के भी कई विख्यात कवि थे। उनमें 'रस गंगाधर' और 'गंगा लहरी' के रचयिता सुप्रसिद्ध पंडितराज जगन्नाथ तथा ब्रजभाषा के रीति कालीन कवि चिंतामणि और सुंदर के नाम उल्लेखनीय हैं।

**राजधानी का स्थानान्तरण**—सुलतानों के काल में उनके साम्राज्य की राजधानी दिल्ली थी। उनके पश्चात् सूर पठानों तथा मुगल सम्राटों की राजधानी आगरा रही थी। बाबर से लेकर शाहजहाँ के आरंभिक काल तक आगरा को ही भारत की राजधानी होने का गौरव प्राप्त था। सं० १७०५ में शाहजहाँ ने अपनी राजधानी आगरा से हटा कर दिल्ली में कायम की थी। उस समय मुगल दरबार का समस्त वैभव दिल्ली में स्थानान्तरित हो गया था। शाहजहाँ का सुप्रसिद्ध तख्त ताऊस आगरा के किले से हटा कर दिल्ली के लाल किले में स्थापित किया गया था। जहाँगीर के आगरा में कम रहने के कारण वहाँ की प्रगति में पहिले से ही शिथिलता आ गई थी। अब राजधानी के स्थानान्तरण से आगरा की प्रगति रुक गई थी, जिसका प्रतिकूल प्रभाव ब्रज की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर भी पड़ा था।

**धार्मिक नीति**—मुगल सम्राट अकबर ने जिस उदार धार्मिक नीति के कारण अपने शासन में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी, वह कहने को जहाँगीर और शाहजहाँ के काल में भी जारी रही थी; किंतु उन दोनों में उक्त नीति के प्रति अकबर की सी आस्था नहीं थी। शाहजहाँ में तो इस्लाम के लिए कट्टरता और कुछ हद तक धर्मान्धता भी थी। वह मुसलमानों में सुन्नियों का पक्षपाती और शियाओं के लिए अनुदार था। ऐसी स्थिति में उससे हिंदू धर्म के प्रति सहिष्णु और उदार होने की आशा नहीं की जा सकती थी। उसने एक बार मंदिरों के पुनरुद्धार पर रोक

(१) तासी कृत 'हिंदुई साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १३६

लगाने की आज्ञा दी थी, जिससे हिंदुओ मे बडी खलबली मच गई थी। फिर बडे–बडे हिंदू दरबारियो के प्रभाव के कारण उस आज्ञा के पालन पर जोर नही दिया गया था। इस प्रकार शाहजहाँ ने चाहे खुले–आम हिंदू धर्म के प्रति विरोध भाव प्रकट नही किया था; तथापि उसकी धार्मिक नीति ने उसके उत्तराधिकारी औरंगजेब के मजहबी उन्माद के लिए पृष्ठभूमि अवश्य प्रस्तुत कर दी थी।

**ब्रज की स्थिति**—शाहजहाँ के काल मे ब्रज की स्थिति सतोषप्रद नही रही थी। राजधानी का आगरा से स्थानान्तरण और सम्राट की हिंदू धर्म के प्रति अनुदारता ये दो बाते ऐसी थी, जिन्होंने ब्रज की प्रगति मे ही बाधा ही उपस्थित नही की, वरन् बिगाड का भी सूत्रपात कर दिया था। उस काल मे ब्रज के विविध सप्रदायो मे कोई ऐसा प्रभावशाली धर्माचार्य नही हुआ, जो यहाँ की स्थिति को सुधारने मे समर्थ होता। पुष्टि सप्रदाय मे श्री गोकुलनाथ के पश्चात् श्री हरिराय जी एक प्रसिद्ध आचार्य हुए है, जिनके व्यक्तित्व का विकास शाहजहाँ के काल मे ही हो गया था, किंतु उनका कर्तृत्व बाद मे औरगजेब के काल मे दिखलाई दिया था।

राजकीय प्रशासन की दृष्टि से ब्रज की स्थिति मे कोई अतर नही आया था। जिस प्रकार अकबर के काल मे यहाँ का प्रशासन एक फौजदार द्वारा होता था, उसी प्रकार शाहजहाँ के काल मे भी होता रहा था। उस काल मे यहाँ जो फौजदार रहे थे, उनके नाम क्रमश ईसातार खाँ ( स० १६८६–१६६३ ), मुर्शिदकुली खाँ ( स० १६६३–१६६६ ), अल्लावर्दी खाँ ( स० १६६६–१६६८ ), आजम खाँ ( स० १६६६–१७०२ ), मकरावत खाँ ( स० १७०२–१७१० ), जफर खाँ ( स० १७१५ ) और कासिम खाँ मिलते है। उनमे से ईसातार खाँ ने यमुना पार का ईसापुर गाँव बसाया था, जो बाद मे जाटो के काल मे हसगज कहलाता था। आजिम खाँ का दूसरा नाम मीरमुहम्मद बाकिर अथवा इरादत खाँ भी था। उसने कोसी मे 'सराय आजमाबाद' बनवाई थी तथा आजमपुर और बाकिरपुर गाँव बसाये थे। कुछ लोग सराय आजमाबाद को औरगजेब के पुत्र आजमशाह द्वारा बनवाई हुई समझते है, किंतु यह उनकी भूल है।

**दारा शिकोह**—शाहजहाँ के चार पुत्र थे, जिनमे दारा शिकोह सबसे बडा था। उससे छोटे क्रमश. शुजा, औरगजेब और मुराद थे। दारा बडा होने के कारण राज्य का उत्तराधिकारी था। उसे शाहजहाँ सदैव अपने साथ रखता था और उसी को अपने पश्चात् बादशाह बनाना चाहता था। शुजा, औरगजेब और मुराद को उसने क्रमश बगाल, दक्षिण और गुजरात की सूबेदारी दी थी। दारा प्राय राजधानी मे रहता था और शासन कार्य मे अपने पिता को सहयोग देता था। स० १७११ के बाद से उसका शासन मे अधिक हाथ रहा था; इसलिए उस काल मे राज्य की धार्मिक नीति मे भी कुछ परिवर्तन हुआ था।

दारा उदार प्रकृति का धार्मिक विद्वान था। उसे सूफियो और वेदातियो से बडा प्रेम था। उसने हिंदू धर्म का अच्छा अध्ययन किया था और वह हिंदुओ के प्रति बडी सहानुभूति रखता था। उसका दरबार हिंदू पडितो, कवियो और विद्वानो से भरा रहता था। वह स्वय भी सूफी विचारो का था। मथुरा का परगना उसकी जागीर मे था, अत उसकी उदार नीति के कारण उस काल मे ब्रज की स्थिति मे कुछ सुधार दिखलाई दिया था। उसने मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान पर बने हुए श्री केशवराय जी के मदिर के लिए एक सगीन कटहरा भेट किया था, जो उसके नाम

से वहाँ लगा दिया गया था। उन्ही सब कारणों से वह अपने पूर्वज अकबर की तरह ब्रज के हिंदुओ मे बडा लोकप्रिय हो गया था। यदि वह शाहजहाँ के पश्चात् मुगल सम्राट हो जाता, तो उसके द्वारा ब्रज का बहुत उपकार होता, किंतु दुर्भाग्य से वैसा नही हुआ।

**शाहजहाँ की बीमारी और उसके पुत्रो का सघर्ष**—स० १७१४ मे शाहजहाँ बहुत बीमार हो गया था। उस समय उसके जीने की आशा नही रही थी, अत उसने दारा को अपना विधिवत् उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। दारा भी राजधानी मे रह कर अपने पिता की सेवा-सुश्रुषा और शासन कार्य की देख-भाल करने लगा। शाहजहाँ के शेष तीनो पुत्र भी राज्य प्राप्ति के इच्छुक थे। वे अपने पिता की असाध्य बीमारी का समाचार सुन कर अपने-अपने सूबो से सेनाएँ लेकर राजधानी की ओर चल पडे, ताकि वे राज्य प्राप्ति के सघर्ष मे अपने-अपने भाग्य की परीक्षा कर सके। दारा ने उनका सामना करने के लिए सेना भेज दी। औरगजेब ने छलपूर्वक मुराद को अपनी ओर मिला लिया और उन दोनो की सम्मिलित फौज ने दारा की सेना को पराजित कर दिया था। फिर उन्होने शुजा को भी भागने के लिए बाध्य किया। उसके बाद औरगजेब ने मुराद को धोखे से तेज शराब पिला कर उसे बेहोशी की दशा मे कैद कर लिया और बीमार पिता को गद्दी से हटा कर स्वय बादशाह बनने के लिए दिल्ली की ओर चल पडा।

**दारा का शोचनीय अत**—दारा हताश होकर राजधानी से भाग गया, किंतु उसे शीघ्र ही पकड कर औरगजेब के सन्मुख लाया गया। उसके दोनो बेटे सुलेमान और सिपहर भी गिरफ्तार कर कैदी बना लिये गये थे। इस प्रकार भाग्य के फेर और औरगजेब की छल-फरेब भरी कुटिल नीति के कारण दारा शिकोह गद्दी से ही वचित नही हुआ, वरन् अपने पुत्रो सहित मार डाला गया। उसे मारने से पहिले बडा अपमानित किया गया था। वह और उसके बेटे को हथकडी-बेडी से जकड कर तथा गदे कपडे पहिना कर एक बिना हौदे की एव धूल से सनी हुई हथिनी पर बैठाया गया और फिर उन्हे दिल्ली के बाजारो मे घुमाया गया। उसके बाद उन्हे कैदखाने मे डाल दिया गया। लोगो ने उन अभागो की दुर्दशा पर आँसू बहाये थे, किंतु किसी को कुछ कहने या करने का साहस नही हुआ था।

दारा का सबसे बडा अपराध यह था कि वह उदार धार्मिक विचारो का था, इसलिए वह 'काफ़िर' था और काफिर की सजा मौत होती है। फलत उसे कत्ल किया गया और उसका सिर काट कर औरगजेब की सेवा मे भेज दिया गया। औरगजेब ने हुक्म दिया कि इस अभागे को हुमायू के मकबरे मे दफना दो। दारा के दोनो पुत्र सुलेमान और सिपहर ग्वालियर के किले मे कैद कर दिये गये, जहाँ अफीम का पानी पिला कर उन्हे धीरे-धीरे मरने को बाध्य किया गया। वही दशा मुराद की भी हुई थी। शुजा भागता हुआ बगाल मे मारा गया था। इस प्रकार औरगजेब एक ओर अपने भाई-भतीजो से बेफिक्र हुआ और दूसरी ओर उसने वृद्ध एव बीमार पिता को उसके शानदार तख्त ताऊस से हटा कर आगरा के किले मे कैद कर दिया और आप स० १७१५ मे मुगल सम्राट बन बैठा।

**शाहजहाँ का अतिम काल और मृत्यु**—शाहजहाँ प्राय ८ वर्ष तक आगरा किले के शाहबुर्ज मे कैद रहा था। उसका अतिम काल बडे दु ख और मानसिक क्लेश मे बीता था। उस समय उसकी प्रिय पुत्री जहानआरा उसकी सेवा के लिए साथ रही थी। शाहजहाँ ने उन वर्षो

को अपने वैभवपूर्ण विगत जीवन के स्मरण करने के साथ 'तख्त ताऊस' की याद करते हुए और 'ताजमहल' को अश्रुपूरित नेत्रो से देखते हुए बिताए थे। अत मे स० १७२३ (जनवरी, सन् १६६६) मे उसका देहात हो गया। उस समय उसकी आयु ७४ वर्ष की थी। उसे उसकी प्रिय बेगम के पार्श्व मे ताजमहल मे ही दफनाया गया था।

## औरगजेब ( शासन काल स० १७१५ से सं० १७६४ तक )—

**आरंभिक जीवन और राज्याधिकार**—औरगजेब का जन्म स० १६७५ ( ३ नवबर, सन् १६१८ ) मे मालवा मे हुआ और वह अपने पिता की विद्यमानता मे स० १७१५ मे गद्दी पर बैठा था। वह आरभ से ही बडा धूर्त, स्वार्थी और निर्दयी था। उसे बचपन मे अरबी-फारसी की शिक्षा दी गई थी, जिससे उसे कुरान और हदीस जैसी मुसलमानी मजहब की पुस्तको का अच्छा ज्ञान हो गया था, किंतु फिर भी उसके हृदय मे उच्च धार्मिक भावना का उदय नही हुआ था। वह बेहद तअास्सुबी एव कट्टर धर्मान्ध था और गैर मुस्लिमो से बडी घृणा करता था। इस प्रकार वह अकबर की नीति का कट्टर विरोधी था। उसकी वह दूषित नीति ही मुगल साम्राज्य के पतन का कारण हुई थी।

वह अपने पिता से विद्रोह कर उसके जीते जी सम्राट बना था। इस प्रकार उसने तुर्को की क्रूर प्रकृति और अपने पूर्वजो की दूषित परपरा का ही अनुसरण नही किया, वरन् वह उनसे भी चार कदम आगे बढ गया था। हुमायू के विरुद्ध उसके भाई कामरान ने, अकबर के विरुद्ध उसके पुत्र सलीम ने और सलीम ( जहाँगीर ) के विरुद्ध उसके पुत्र खुसरो ने विद्रोह किया था, किंतु उनके व्यवहार मे आत्मीय स्नेह का सर्वथा लोप नही हुआ था। जहाँगीर के बाद खुर्रम ( शाहजहाँ ) ने और फिर उसके बाद औरगजेब ने आत्मीय स्नेह के उस दुर्बल सूत्र को भी तोड डाला था। औरगजेब ने अपने वृद्ध पिता को उसकी मृत्यु तक कैद मे रखा और अपने सभी भाई-भतीजो को निर्दयता पूर्वक मरवा डाला था। इस प्रकार अपने आत्मीय जनो के खून से रँगे हुए नापाक हाथो से उसने मुगल सल्तनत की बागडोर सँभाली थी।

**प्रशासनिक नीति**—औरगजेब ने शासन-सूत्र सँभालते ही अकबर के समय से प्रचलित प्रशासनिक नीति मे परिवर्तन कर दिया। उसने धार्मिक उदारता और सहिष्णुता के स्थान पर मजहबी तअास्सुब को अपनाया और वह मुगल साम्राज्य को एक कट्टर इस्लामी सल्तनत बनाने की पूरी चेष्टा करने लगा। अपनी असहिष्णुता से उसने हिंदुओ का ही विरोध नही किया, वरन् सुन्नियो के अतिरिक्त मुसलमानो के अन्य फिरको जैसे शियाओ और सूफियो को भी बेहद परेशान किया था। नई प्रशासनिक नीति को कार्यान्वित करने के लिए उसने शासन के समस्त पदो से उन हाकिमो और कर्मचारियो को हटा दिया, जिनमे थोडी भी धार्मिक उदारता थी अथवा जिन्हे हिंदुओ से कुछ भी सहानुभूति थी। उनके स्थान पर उसने चुन-चुन ऐसे व्यक्ति नियुक्त किये, जो गैर मुस्लिमो को सताना अपना प्रथम कर्त्तव्य समझते थे।

जिन राजपूत राजाओ की वीरता और स्वामि-भक्ति के कारण मुगल साम्राज्य इतना विस्तृत और समृद्धिशाली बना था, उन्हे वह सदा सदेह की दृष्टि से देखा करता था। उसे जब भी अवसर मिला, तब ही उसने उनका सफाया करने में तनिक भी सकोच नही किया। जिस समय वह मुगल सम्राट बना था, उस समय शासन और सेना के कितने ही बडे-बडे पदो पर राजपूत

राजागण नियुक्त थे। वह उनसे हार्दिक घृणा करता था और अंदर ही अंदर उनका अहित करने का कुचक्र रचता रहता था। अपनी हिंदू विरोधी नीति की सफलता मे उसे जिन हिंदू राजाओ की ओर से बाधा जान पडती थी, उनमे जोधपुर के महाराज यशवतसिंह और आमेर के मिर्जा राजा जयसिंह प्रमुख थे। उन दोनो का मुगल सम्राटो से पारिवारिक सबध होने के कारण राज्य मे बडा प्रभाव था। इसलिए औरगजेब को प्रत्यक्ष रूप मे उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही करने का साहस नही होता था, किंतु वह उनका अहित करने की नित्य नई चाले चलता रहता था। औरगजेब की कुटिल प्रशासनिक नीति के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ पर महाराज यशवतसिंह और मिर्जा राजा जयसिंह के सक्षिप्त वृत्तात दिये जाते है।

**महाराज यशवंतसिंह**—जोधपुर के राठौड राजा गजसिंह के दो पुत्र थे—१. अमरसिंह और २ यशवतसिंह। अमरसिह बडा होने से राज्य का उत्तराधिकारी था, किंतु वह अपने उद्धत स्वभाव के कारण अपने पिता द्वारा राज्याधिकार से वचित कर दिया गया था। फलत वह शाहजहाँ के दरबार मे एक सामत के रूप मे रहता था। एक बार कुछ अपमानित होने से उसने भरे दरबार मे सम्राट के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था, जिससे वह आगरा के किले मे लडता हुआ मारा गया था। उसी स्मृति मे किले का दक्षिणी द्वार 'अमरसिंह दरवाजा' कहलाता है। यशवतसिह का जन्म स० १६८३ मे हुआ था। वह अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् स० १६९५ मे जोधपुर का राजा हुआ था। उसने शाहजहाँ और औरगजेब के शासन–काल मे बडे–बड़े युद्धो मे भाग लिया था तथा प्रशासन के सर्वोच्च पदो को सँभाला था। शाहजहाँ ने उसे 'महाराज' की पदवी दी थी, जो उस समय तक किसी भी दरबारी को प्राप्त नही हुई थी।

जब औरगजेब मुगल सम्राट हुआ था, तब दक्षिण मे मरहठा वीर शिवाजी के रूप मे एक नवीन शक्ति का उदय हुआ था। उससे चौकन्ना होकर वह उसके मूलोच्छेदन के लिए अपनी कुटिल नीति का जाल फैलाने लगा। उसने महाराज यशवतसिंह को दक्षिणी कमान का प्रधान सेनापति बना कर उसे शिवाजी का दमन करने का आदेश दिया। इससे वह 'एक पथ दो काज' की नीति को कार्यान्वित करना चाहता था। एक ओर उसका उद्देश्य यशवतसिंह के प्रभाव को कम करने के लिए उसे राजधानी से बहुत दूर रखना था और दूसरी ओर उसका अभिप्राय हिंदू से हिंदू को भिडा कर 'काँटे से काँटे को निकालना' था। यशवतसिंह औरगजेब की इच्छानुसार शिवाजी को पराजित नही कर सका, अत उसे दक्षिण से वापिस बुला कर सुदूर उत्तर मे काबुल का सूबेदार बना कर भेज दिया गया था।

काबुल के सूबे मे उन दिनो पठानो ने बडा उपद्रव मचा रखा था। उनसे सघर्ष करते हुए मुगलो के कई सूबेदार मारे जा चुके थे। यशवतसिंह औरगजेब की धूर्तता को समझता था और अपनी वृद्धावस्था मे उस कठिन अभियान के लिए सुदूर उत्तर मे नही जाना चाहता था, किंतु फिर भी वह चला गया। स० १७२८ से स० १७३६ तक के ८ वर्षो मे वह काबुल मे ही रहा था। उस काल मे उसने पठान उपद्रवियो को दबा कर वहाँ शांति और व्यवस्था कायम कर दी थी। अत मे स० १७३६ मे उसका काबुल मे ही देहात हो गया था। ऐसा कहा जाता है, उसका शव काबुल से आगरा लाया गया था और यमुना के किनारे उसका दाह सस्कार हुआ था। उस काल मे शव का काबुल से आगरा लाना सभव नही मालूम होता है। ऐसा जान पडता है,

यशवंतसिंह की दाह–क्रिया काबुल मे ही हुई थी और उसके अस्थि–अवशेष आगरा लाये गये थे। यहाँ पर उसकी ६ रानियाँ सती हुई थी।

महाराज यशवंतसिंह चतुर राजनीतिज्ञ, कुशल सेनानी और वीर योद्धा होने के साथ ही साथ कवि, साहित्याचार्य और तत्वज्ञानी भी था तथा वह साहित्यकारो एव विद्वानो का आश्रयदाता था। हिंदी साहित्य मे उसकी प्रसिद्धि काव्यशास्त्र के आचार्य के रूप मे है। उसका रचा हुआ 'भाषाभूषण' ग्रथ अलकार शास्त्र की एक प्रसिद्ध रचना है। इसके अतिरिक्त उसके कई ग्रथ तत्वज्ञान से सबधित है, जिनके नाम अपरोक्ष सिद्धात, अनुभव प्रकाश, आनद विलास, सिद्धात बोध, सिद्धात सार और प्रबोध चद्रोदय नाटक है। ये सब ग्रथ पद्य मे है और इनसे उसका तत्व-ज्ञान विषयक पाडित्य प्रकट होता है। हिंदी साहित्य मे इन ग्रथो की अपेक्षा उसका 'भाषाभूषण' ग्रथ ही अधिक प्रसिद्ध रहा है।

**यशवंतसिंह की छतरी**—आगरा मे यमुना के किनारे लाल पत्थर की एक राजपूती इमारत है, जिसे 'यशवंतसिंह की छतरी' कहा जाता है। इसे महाराज यशवंतसिंह की रानियो के सती होने की स्मृति मे औरगजेब के शासन काल मे ही बनाया गया था। यह छतरी यमुना के किनारे एक बाग मे बनी हुई है। आजकल इस छतरी पर नाथद्वारा के मदिर का अधिकार है। जोधपुर के राजाओ ने इसे उक्त मदिर की भेट कर दिया था। नाथद्वारा के पुजारी आश्विन मास मे दशहरा के अवसर पर आगरा आकर छतरी मे पूजा करते है और चढावा लेते है। सती का स्थान होने से आसपास के गाँव वाले दशहरा के दिन नव विवाहिता वधुओ को लाकर वहाँ सुहाग की वस्तुओ का चढावा चढाते है और सतियो से उनके चिर सुहाग की कामना करते है।

**मिर्जा राजा जयसिंह**—वह जहाँगीर के शासन–काल मे स० १६७८ मे आमेर का राजा हुआ था। उस समय उसकी आयु कम थी, किंतु तभी से उसने अपनी योग्यता और वीरता का भली भाँति परिचय दिया था। बाद मे उसका प्रभाव बहुत बढ गया था। उस काल मे मुगल दरबार मे उसकी प्राय वैसी ही प्रतिष्ठा थी, जैसी अकबर के काल मे उसके पूर्वज राजा भगवान-दास और राजा मानसिंह की थी। औरगजेब उसके प्रभाव और दबदबा से बडा शकित रहता था। वह उससे आतरिक द्वेष रखता हुआ उसका अहित करने की चाले चला करता था। जिस समय दक्षिण मे शिवाजी के विजय–अभियानो की धूम थी और उससे युद्ध करने मे अफजलखाँ एव शायस्ताखाँ की पराजय हुई थी तथा महाराज यशवंतसिंह को भी सफलता नही मिली थी, तब औरगजेब ने मिर्जा राजा जयसिंह को शिवाजी के दबाने के लिए भेजा था।

जयसिंह ने बडी बुद्धिमत्ता, वीरता और कूटनीति से शिवाजी को औरगजेब से सधि करने के लिए राजी था। उसने औरगजेब की इच्छानुसार शिवाजी को आगरा दरबार मे उपस्थित होने को भी भेज दिया, किंतु वहाँ शिवाजी के साथ अनुचित व्यवहार हुआ और औरगजेब की आज्ञा से उसे नजरबद कर लिया गया। बाद मे शिवाजी किसी प्रकार औरगजेब के चगुल मे से निकल कर सकुशल अपने राज्य को लौट गया था। इस प्रकार हाथ मे आई हुई शिकार के निकल जाने से औरंगजेब बडा दुखी हुआ। उसने उन सभी लोगो को कडा दड दिया, जिनकी असाव-धानी से शिवाजी को निकल भागने का अवसर मिल गया था।

जयसिंह और उसका पुत्र रामसिंह भी उसके लिए दोषी समझे गये, क्यो कि वे ही शिवाजी की आगरा मे सुरक्षा के लिए अधिक चिंतित थे। वे दोनो पिता–पुत्र औरगजेब की नजर से उतर गये। उसने रामसिंह का मनसब और जागीर छीन ली तथा जयसिंह को दक्षिण से वापिस आने का हुक्मनामा भेजा। जयसिंह अत्यत निराश और दुखी होकर दक्षिण से वापिस लौटा था। उसे इस बात का बडा खेद था कि शिवाजी को आगरा भेजने मे उसने जिस कूटनीतिज्ञता और कुशलता का परिचय दिया था, उसके बदले मे उसे वृद्धावस्था मे अपमान और लाछन सहना पडा था। उसी दु ख मे वह अपनी यात्रा भी पूरी नही कर सका और मार्ग मे बुरहानपुर नामक स्थान पर स० १७२४ मे उसकी मृत्यु हो गई। जयसिंह वीर सेनानायक और कुशल राजनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ साहित्य और कला का भी बडा प्रेमी था। उसी के प्रोत्साहन से कविवर बिहारीलाल ने अपनी सुप्रसिद्ध 'सतसई' की पूर्ति स० १७१६ मे की थी। जयसिंह की मृत्यु से औरगजेब को बडी प्रसन्नता हुई थी। तभी उसे हिंदू धर्म के विरुद्ध अपना क्रूर अभियान आरभ करने का साहस हुआ था और उसी काल मे उसने हिंदुओ के मदिर–देवालय नष्ट करने का आदेश दिया था।

**शिवाजी**—औरगजेब को अपने सुदीर्घ शासन काल मे जिन शत्रुओ से सघर्ष करते हुए सबसे अधिक परेशान होना पडा था, उनमे मरहठा वीर शिवाजी का नाम अत्यत प्रसिद्ध है। वह महापुरुष जब तक जीवित रहा, तब तक मुगल सम्राट की प्रबल सैन्य–शक्ति से सफलता पूर्वक लोहा लेता रहा था। उसका साहस, रण–कौशल, धर्मानुराग और देश–प्रेम अपूर्व था। इसीलिए उसका स्थान राष्ट्रीय हिंदू वीरो की प्रथम पक्ति मे माना जाता है। उसका जन्म स० १६८४ मे हुआ था। उसी वर्ष जहाँगीर की मृत्यु हुई थी और शाहजहाँ मुगल सम्राट हुआ था। शिवाजी ने छोटी आयु मे ही अद्भुत वीरता और रण-कुशलता का परिचय दिया था। जिस समय औरगजेब शाहजहाँ की ओर से दक्षिण मे सूबेदार था, उस समय शिवाजी बीजापुर के सुलतान की फौजो को पराजित कर उससे छीने हुए भू–भाग मे हिंदू राज्य की स्थापना का आयोजन कर रहा था। औरगजेब उसकी बढती हुई शक्ति से पूरी तरह अवगत था, किंतु शाहजहाँ की असाध्य बीमारी का समाचार सुन कर वह मराठो से युद्ध मे समय नष्ट करने की बजाय उत्तर मे जाकर राजगद्दी के लिए सघर्ष करना आवश्यक समझता था। इसीलिए वह उस समय शिवाजी के विरुद्ध कोई बडा अभियान नही कर सका था।

जब औरगजेब शाहजहाँ के जीते जी दिल्ली मे मुगल सिंहासन पर बैठ गया, तब उसने दक्षिण के सूबेदार को शिवाजी का दमन करने के लिए हुक्मनामा भेजा। मुगल सेनापति अफजल खाँ ने शिवाजी पर आक्रमण किया, किंतु वह स्वय शिवाजी के हाथो मारा गया और उसकी सेना बुरी तरह पराजित हुई। इस प्रकार गद्दी पर बैठने के केवल १५ महीने बाद ही औरगजेब को शिवाजी से प्रथम पराजय का अपमान सहन करना पडा था। उसके बाद दक्षिण का सूबेदार शायस्ता खाँ और वहाँ का प्रधान सेनापति महाराज यशवतसिंह भी चेष्टा करके हार गये, किंतु वे शिवाजी पर काबू नही पा सके थे। उसके बाद शिवाजी का साहस दिन पर दिन बढता गया। वह कभी बीजापुर के सुलतान से और कभी मुगलो से सघर्ष करता हुआ अपने राज्य का विस्तार करता रहा था। महाराष्ट्र के बडे-बडे सुदृढ दुर्ग उसके अधिकार मे आ गये थे। उसकी
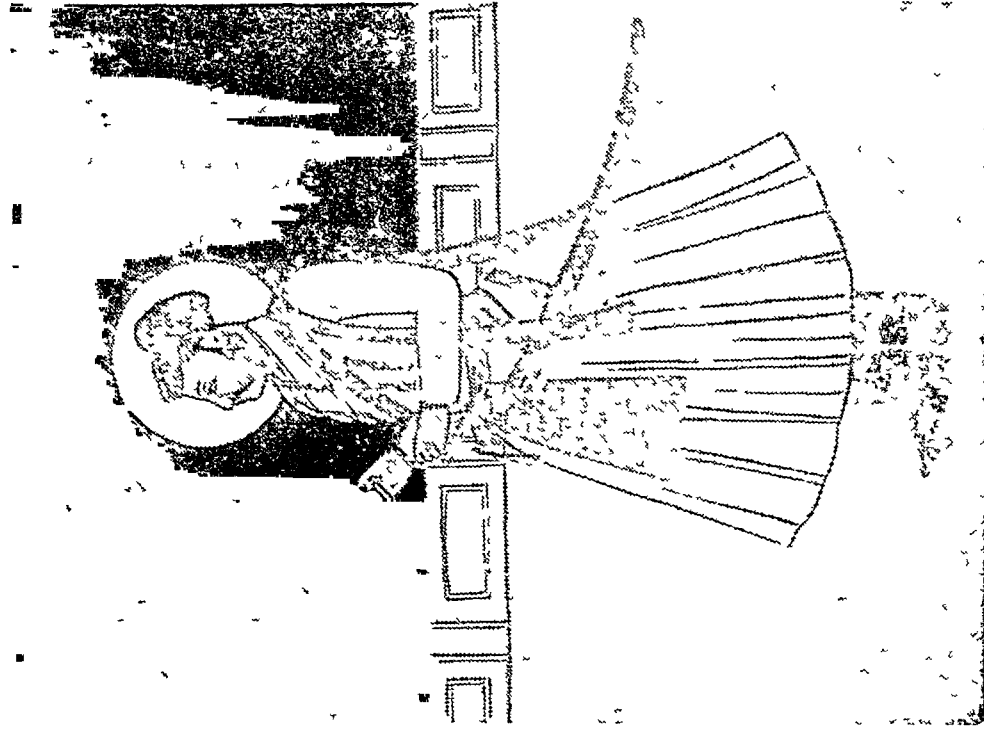
मिर्जा राजा जयसिह
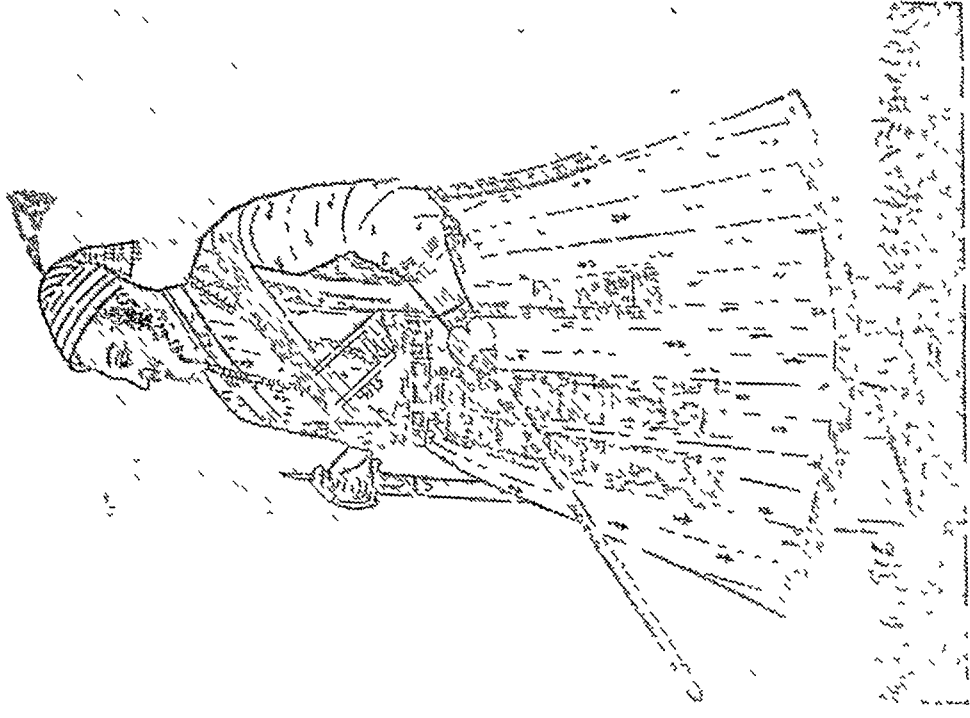
छत्रपति शिवाजी

सवाई राजा जयसिह

सफलता का ओजस्वी वर्णन भूपण कवि की रचनाओ मे मिलता है[1]। औरगजेब उसकी सफलता और अपने बडे–बडे सेनापतियो की विफलता पर कुपित होता हुआ कुढ रहा था।

सवत् १७२२ मे औरगजेब ने अपने सबसे बडे सेनापति मिर्जा राजा जयसिह को पूर्ण अधिकार देकर दक्षिण भेजा और उसे आदेश दिया कि वह किसी भी प्रकार से शिवाजी को अधीन कर उसे उसके दरबार मे उपस्थित करे। जयसिह अपनी प्रबल सेना के साथ दक्षिण पहुँचा और वहाँ शिवाजी को अधीन करने का आयोजन करने लगा। उसने मरहठा राज्य के चारो ओर घेरा डाल कर उसके प्रमुख दुर्गो पर एक साथ आक्रमण कर दिया। शिवाजी की सैन्य शक्ति जयसिह की तुलना मे आटे मे नमक बराबर भी नही थी, किंतु अपने अदम्य साहस और रण–कौशल से वह शत्रुओ के आक्रमणो को विफल करता रहा।

शिवाजी ने सोचा कि जयसिह की अपार सेना का अधिक काल तक प्रतिरोध करना सभव नही है। फिर इस सघर्प मे व्यर्थ ही दोनो ओर के हिंदू वीरो का ही सहार हो रहा है, इसलिए उसने सन्मानपूर्ण सधि करने के लिए अपने दूत मिर्जा जयसिह के पास भेजे और एक व्यक्तिगत पत्र भी राजा को देने के लिए उन्हे दिया। शिवाजी का वह पत्र हिंदू राजनीति का परिचायक एक ऐतिहासिक अभिलेख है[2]। उसकी भापा ऐसी मर्मस्पर्शिनी और नीतिज्ञतापूर्ण है कि उसे पढते ही जयसिह ने शिवाजी से सधि कर ली। उसके अनुसार शिवाजी और उसके पुत्र शभूजी को आगरा जाकर औरगजेब के दरबार मे उपस्थित होना था और वहाँ मुगल सम्राट द्वारा उनका यथोचित सन्मान किया जाना था। जयसिह ने शिवाजी को आश्वासन दिया था कि उनकी सुरक्षा का पूरा प्रबध किया जावेगा। जयसिह का पुत्र रामसिह स्वय उनकी सुरक्षा का उत्तरदायी होगा और वही उन्हे पूरे सन्मान के साथ शाही दरबार मे ले जावेगा।

जब से औरगजेब ने राज्याधिकार प्राप्त किया था, तब से वह आगरा नही गया था। स० १७२३ मे जब शाहजहाँ की मृत्यु हो गई, तब उसने प्रथम बार आगरा जा कर वहाँ बडे ठाट से दरबार करने का निश्चय किया था। उसी समय शिवाजी के साथ जयसिह द्वारा की हुई सधि को भी स्वीकार किया गया। औरगजेब ने शिवाजी के लिए शाही खिलअत के साथ एक पत्र भेज कर उसे दरबार मे आने के लिए आमन्त्रित किया था। ऐसा कहा जाता है, जब शिवाजी आगरा पहुँचा, तब सम्राट की ओर से उसके स्वागत-सत्कार का यथोचित प्रबध नही किया गया था। जब वह रामसिह के साथ दरबार मे उपस्थित हुआ, तब उसे तीसरी श्रेणी के दरबारियो की पक्ति मे स्थान दिया गया। उस अपमान से शिवाजी क्रोध से तिलमिला उठा और रोषपूर्ण मुद्रा मे दरबार से वापिस आ गया। भूपण कवि ने उस समय की स्थिति का बडा ओजपूर्ण कथन किया है[3]।

---

(१) दुग्ग पर दुग्ग जीते, सरजा सिवाजी गाजी, डग्ग नाँचे डग्ग पर, रु ड मु ड फरके।
'भूषन' भनत बाजे जीत के नगारे भारे, सारे करनाटी भूप सिहल को सरके॥
मारे सुनि सुभट, पनारे वारे उदभट, तारे लागे फिरन सितारे गढधर के।
बीजापुर बीरन के, गोलकुंडा धीरन के, दिल्ली उर मीरन के दाडिम से दरके॥
—भूपण ग्रथावली, पृष्ठ ८६

(२) वह पत्र 'त्रिवेणी' पत्रिका ( जनवरी, सन् १९४८ ) के अक मे छपा है।

(३) भूषण ग्रथावली, पृष्ठ ७९

शिवाजी का औरंगजेब के दरबार मे आने का वर्णन उस काल के फारसी ग्रंथो मे नही मिलता है। तत्संबंधी अनुश्रुतियो और भूषण आदि कवियो की रचनाओ से जो कुछ ज्ञात होता है, उसे पूर्णतया प्रामाणिक मानना कठिन है। इधर जयपुर के राजकीय अभिलेखागार मे उस काल के कुछ कागज-पत्र मिले है। उन्हे आमेर राज्य के दूतावास के एक अधिकारी कल्याणदास ने अपनी नियमित रिपोर्ट के रूप मे राजस्थानी भाषा मे लिख कर भेजा था। उनमे शिवाजी के आगरा आने का विवरण भी है। उससे ज्ञात होता है, शिवाजी को आगरा के शाही दरबार मे उपस्थित होने का अवसर नही मिला था, इसलिए उसे दरबारियो की तीसरी पंक्ति मे खडे करने और उसके क्रोधपूर्ण मुद्रा मे वहाँ से वापिस आने की बात अप्रामाणिक है। उस दिन के शाही दरबार का समय प्रात काल का निश्चित किया गया था, किंतु शिवाजी कुछ देर से आगरा पहुँचा था। कल्याणदास का कथन है, औरंगजेब स्वयं शिवाजी से दरबार मे नही मिलना चाहता था, अत उसकी अडचनो से ही शिवाजी को आगरा पहुँचने मे विलंब हुआ था।

औरंगजेब और शिवाजी की भेंट दरबार के पश्चात् हुई थी, जिसमे शिवाजी के साथ उचित शिष्टाचार का व्यवहार नही किया गया था। जब तक शिवाजी आगरा मे रहा, तब तक वह नजरबंदी की सी स्थिति मे था। उस पर कडी निगरानी रखी गई थी। फौलादखाँ नामक एक गुप्तचर अधिकारी शिवाजी की गति–विधि की देख–रेख के लिए नियुक्त था। शिवाजी को विश्वास हो गया कि औरंगजेब की नियत ठीक नही है और वह उसका अनिष्ट करने के अवसर की प्रतीक्षा मे है। शिवाजी आगरा से जाना चाहता था, किंतु उसके लिए शाही आदेश नही मिला था। बिना आदेश प्राप्त किये चुपचाप चला जाना उस कडी निगरानी मे संभव नही था। ऐसा कहा जाता है, वह अपने पुत्र सहित मिठाई के दो बडे डलो मे बैठ कर और गुप्तचरो की आँखो मे धूल झोंक कर आगरा से निकल भागा था। किंतु जयपुर राज्य के तत्कालीन अभिलेखो से ज्ञात होता है कि शिवाजी ने उस काल के भ्रष्ट मुगल शासन के बडे–बडे अधिकारियो को घूस देकर अपने जाने का जाली फरमान तैयार कराया था और उस पर शाही मुहर लगवायी थी। उस फरमान के द्वारा शिवाजी सं० १७२३ की भाद्रपद शु० १४ शनिवार को आगरा से निकल कर अपने राज्य मे सकुशल पहुँच गया था।

जब औरंगजेब ने शिवाजी के इस प्रकार निकल जाने का समाचार सुना, तो वह क्रोध मे दाँत पीसता और पश्चात्ताप से हाथ मलता हुआ रह गया। उसने शिवाजी को पकडने के लिए अनेक सैनिक दौडाये और बहुत से व्यक्तियो को उनकी असावधानी के लिए दंडित किया। किंतु उसके जाल से निकला हुआ पछी फिर किसी भी प्रकार उसकी पकड मे नही आ सका था। कई लेखको ने लिखा है, शिवाजी आगरा से चल कर गुप्त रूप से विविध तीर्थो की यात्रा करता हुआ अपने राज्य मे पहुँचा था। उनका यह कथन सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ यदुनाथ सरकार को स्वीकृत नही है। सरकार का मत है, शिवाजी मथुरा और प्रयाग होते हुए दक्षिण गया था, किंतु अन्य तीर्थो मे उसके जाने की बात असंगत है, क्यो कि वह मुगल साम्राज्य की सीमाओ से निकल कर जल्दी से जल्दी अपने राज्य मे पहुँचना चाहता था[1]।

---

(१) शिवाजी और उनका युग, पृष्ठ १५६–१५७

शिवाजी घर पहुँच कर अपने स्वास्थ्य और राज्य की व्यवस्था को ठीक करने मे लग गया, इसलिए तीन वर्ष तक उसने मुगलो से कोई छेड–छाड नही की थी। उसी बीच दक्षिण के सूबेदार राजकुमार मुअज्जम और सेनापति महाराज यशवतसिंह की शिवाजी से सधि हो गई, जिसे औरगजेब ने भी मान लिया था। पर वास्तव मे हृदय से न तो शिवाजी और न औरगजेब ही स्थायी सधि करना चाहते थे। शिवाजी अपने को शक्तिशाली बनाने के लिए समय चाहता था और औरगजेब उसे फिर से अपने चगुल मे फँसाने के उपयुक्त अवसर की ताक मे था। उस विषम परिस्थिति मे सधि कैसे टिक सकती थी ! निदान फिर दोनो पक्षो मे सघर्ष छिड गया। स० १७३१ ( ६ जून, १६७४ ई० ) मे शिवाजी का रायगढ मे बडी धूम--धाम से राज्याभिषेक हुआ, जिसमे हिदू परपरा और शास्त्रोक्त विधि का पूरी तरह पालन किया गया था। स० १७३७ ( ४ अप्रेल, सन् १६८० ) मे उसका देहात हो गया, किंतु वह ऐसे शक्तिशाली मरहठा राज्य की जड जमा गया, जो मुसलमानी शासन के लिए सदा ही सिर-दर्द रहा था। उसके लिए औरगजेब मृत्यु पर्यत अफसोस करता रहा और उसे अपने शासन काल के अतिम २५ वर्ष मरहठो से सघर्ष करने मे ही बिताने पडे थे। औरगजेब ने अपने उत्तराधिकारियो को हिदायत करते हुए एक वसीयतनामा लिखा था, जिसकी १२ वी और अतिम धारा इस प्रकार है,—"मुल्क की खबरो की अच्छी जानकारी रखना ही सल्तनत की बुनियाद है। एक लहमे की भी गफलत सालो के लिए बेइज्जती का बायस हो जाती है। मेरी लापरवाही की वजह से ही बदनसीब शिवा बच कर भाग सका। इसका नतीजा यह हुआ कि मुझे अपनी जिदगी के आखिरी दिनो तक मरहठो के खिलाफ सख्त मेहनत करनी पडी[1]।"

**हिदुओ का दमन**—औरगजेबी शासन का प्रमुख आधार उसका मजहबी ताअस्सुब था और उसके लिए उसने गैर मुस्लिमो, विशेष कर हिंदुओ के दमन करने की नीति अपनायी थी। वह राज्याधिकार प्राप्त करते ही हिंदुओ के प्रधान केन्द्र ब्रज मे दमनकारी शासन आरभ करने के आयोजन मे लग गया था। उसने स० १७१६ मे कासिम खॉ को मथुरा का फौजदार नियुक्त किया, किंतु उसे साल भर मे ही हटा दिया गया। शायद वह उसकी कट्टर नीति का पालन नही कर सका था। स० १७१७ मे कासिम खॉ के स्थान पर अब्दुलनबी को मथुरा का नया फौजदार बनाया गया। उसने औरगजेब की नीति के अनुसार ही ब्रज पर शासन किया था।

**अब्दुलनबी का कठोर शासन**—अब्दुलनबी स०१७१७ से १७२६ तक मथुरा का फौजदार रहा था। वह औरगजेब की तरह ही बडा कट्टर और तअास्सुबी मुसलमान था। उसने ब्रज के हिदुओ को विविध भॉति से परेशान कर उन्हे मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया और उनके मदिर–देवालयो को अपवित्र करने का आयोजन किया। उसने शाही आज्ञा से कृष्ण–जन्मस्थान पर बने हुए श्री केशवराय जी के मदिर का वह सगीन कटहरा तोडवा दिया, जिसे कुछ समय पहिले दारा ने बनवाया था। स० १७१८ मे उसने मथुरा मे एक विशाल 'जामा मसजिद' बनवाई, जो शहर के बीचोबीच चौक बाजार मे अब भी विद्यमान है। जिस स्थान पर मसजिद बनी हुई है, वहॉ पहिले एक हिंदू मदिर था, जिसे सिकदर लोदी ने नष्ट करा दिया था और जिसके निकट की

---

(१) 'धर्मयुग' मे प्रकाशित श्री वैकुंठनाथ मेहरोत्रा का लेख

भूमि पर उसने कसाइयो को बसा कर मास का बाजार लगवाया था। अब्दुलनबी ने कसाइयो से ही वह भूमि लेकर वहाँ मसजिद बनवाई थी। फिर उसने औरंगजेब के आदेशानुसार ब्रज के हिंदुओ पर दमन–चक्र चलाना आरभ किया। उन पर नित्य नये अत्याचार किये जाने लगे। होली, दीवाली और दशहरा जैसे बडे–बडे हिंदू त्यौहारो का मनाना रोक दिया गया और धार्मिक सगीत पर पाबदी लगा दी गई। हिंदू व्यापारियो पर नये कर लगाये गये और मुसलमानो को उनसे मुक्त किया गया, जिससे हिंदुओ का व्योपार चौपट हो गया।

स० १७२४ मे जब मिर्जा राजा जयसिंह की मृत्यु हो गई, तब औरंगजेब को अपनी हिंदू विरोधी नीति को और भी कडा करने का अवसर मिला था। उसने एक फरमान निकाल कर हिंदुओ के मदिर–देवालय बनने बद करा दिये और मूर्ति–पूजा पर पाबदी लगा दी थी। फिर उसने मदिर–देवालयो को नष्ट करने की आज्ञा प्रचारित की, जिससे ब्रज मे कुहराम मच गया। उस समय के प्रभावशाली हिंदू राजाओ मे केवल यशवतसिंह ही औरंगजेबी अत्याचार का विरोध कर सकता था, किंतु वह वृद्ध और अकेला होने के कारण अपने को असमर्थ मानता था। उस समय उसने बडे दु ख से मिर्जा राजा जयसिंह का स्मरण करते हुए कहा था—"घट न बाजे देहरा, शक न माने शाह। एकरणहा फिर आवज्यो, माहूरा जयशाह॥"

**ब्रज मे विद्रोह**—औरंगजेबी दमन के फल स्वरूप अनेक स्थानो के हिंदुओ मे विरोध की ज्वाला भडक उठी, किंतु उसकी भयकर लपट ब्रज मे दिखलाई दी थी। महावन के निकट निवास करने वाली ग्रामीण जनता ने स० १७२६ मे गोकुला जाट के नेतृत्व मे विद्रोह कर दिया। औरंगजेबी अत्याचारो के विरुद्ध हिंदुओ का वह कदाचित प्रथम सगठित सघर्ष था। मथुरा का फौजदार अब्दुलनबी एक बडी सेना लेकर विद्रोहियो को दड देने के लिए गया। महावन परगना के सिहोरा गाँव मे उसकी विद्रोहियो से मुठभेड हुई, जिसमे अब्दुलनबी मारा गया और मुसलमानी सेना बुरी तरह पराजित हो गई। उसके बाद विद्रोहियो ने सादाबाद के समृद्धिशाली इलाके को लूटा और फिर आगरा तक लूट–मार करते रहे।

औरंगजेब ने उन्हे दबाने के लिए कई बार सेना भेजी, किंतु उसे सफलता नही मिली। उससे औरंगजेब की क्रोधाग्नि भीषण रूप से प्रज्वलित हो गई। वह स० १७२७ (नवबर, सन् १६६९) मे स्वय दल–बल सहित दिल्ली से मथुरा की ओर बढा। उसने अपने एक सेनापति हसनअली को मथुरा का फौजदार नियुक्त किया और उसे आदेश दिया कि वह हर सभव उपायो से विद्रोहियो को कुचल दे और ब्रज के हिंदुओ को बर्बाद कर दे। फलत हसनअली ने विशाल शाही सेना के साथ गोकुला को उसके साथियो सहित घेर लिया और प्रबल वेग से उन पर आक्रमण कर दिया। गोकुला की सेना शाही सेना की तुलना मे आटे मे नमक बराबर भी नही थी, फिर भी उसने कडा मुकाबला किया। अत मे उसकी पराजय हुई। "उस भीषण युद्ध मे ५,००० विद्रोही मारे गये और ७००० कैद हुए, जिसमे गोकुला तथा उसके कुटबी भी थे। कैदियो को आगरा ले जाया गया। वहाँ कोतवाली के सामने गोकुला के विभिन्न अग एक–एक कर काटे गये, जिसके फल स्वरूप अत मे उसकी मृत्यु हुई। उसके कुटुबियो को बल पूर्वक मुसलमान बनाया गया[1]।"

(१) ब्रज का इतिहास, (प्रथम भाग), पृष्ठ १६२

**ब्रज के मंदिरो का ध्वस**—औरंगजेब ने ब्रज के मंदिरो को पूरी तरह नष्ट–भ्रष्ट करने का आदेश जारी किया था। उसके अनुसार मथुरा का केशवराय जी का विशाल मंदिर, वृंदावन का गोविंददेव जी का कलापूर्ण मंदिर तथा गोबर्धन का श्रीनाथ जी का प्रसिद्ध मंदिर उसी काल मे ध्वस किये गये थे। उनके अतिरिक्त वृंदाबन के मदनमोहन जी, गोपीनाथ जी, जुगलकिशोर जी तथा राधाबल्लभ जी के मंदिरो को भी उसी समय नष्ट–भ्रष्ट किया गया था। मथुरा के श्री केशव-राय जी के मंदिर को धराशायी कर उसकी विशाल कुर्सी के पूर्वी भाग मे एक बडी मसजिद बनवाई गई, जो 'ईदगाह' कहलाती है। टूटे हुए मंदिर–देवालयो के स्थान पर सराय, मकतब और कसाईखाने बनाये गये। निरपराध बच्चे, बूढे और जवानो का बध किया गया, स्त्रियो का अपहरण किया गया और लोगो को बल पूर्वक मुसलमान बनाया गया। ब्रज के मंदिरो की देव प्रतिमाएँ खंडित कर आगरा लाई गई, जहाँ मसजिद की सीढियो मे उन्हे लगा दिया गया।

**देव–मूर्तियो का स्थानान्तरण**—जिस समय ब्रज के मंदिर–देवालय नष्ट–भ्रष्ट किये जा रहे थे, उस समय यहाँ के धर्माचार्यो को सबसे बडी चिंता अपनी उपास्य देव–मूर्तियो को बचाने की हुई थी। किंतु उस काल की भयावह स्थिति मे मुसलमान अधिकारियो की दृष्टि से उनका बचाना बडा कठिन था। फिर भी ब्रज के अनेक धर्माचार्य जान–जोखम उठा कर अपनी प्राणाधिक मूर्तियो को धर्म ग्रंथो तथा कुछ अत्यावश्यक सामान के साथ सुरक्षित स्थानो को ले जाने मे सफल हुए थे। ऐसे धर्माचार्यो मे बल्लभ सप्रदायी गोस्वामी गण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे गोवर्धन और गोकुल के प्रसिद्ध मंदिरो को छोड कर अपनी देव–मूर्तियो के साथ हिंदू राज्यो मे चले गये थे। बल्लभ सप्रदाय के परमोपास्य श्रीनाथ जी के देव स्वरूप को गोवर्धन–गिरिराज के मंदिर से स० १७२६ की आश्विन शु० १५, शुक्रवार को हटाया गया और फिर बडी कठिनाइयो के बाद उन्हे मेवाड राज्य के सिंहाड नामक स्थान मे विराजमान किया गया था। श्रीनाथ जी के कारण ही वह अप्रसिद्ध स्थान अब 'श्रीनाथद्वारा' के नाम से समस्त भारतवर्ष मे विख्यात है। उसी काल मे गोकुल के बल्लभ सप्रदायी मंदिरो की प्राय समस्त और वृंदाबन के चैतन्य सप्रदायी मंदिरो की अधिकाश मूर्तियाँ भी हटा कर हिंदू राज्यो मे ले जाई गई थी, जो अभी तक वही विराजमान है। उन मूर्तियो के साथ अनेक धर्माचार्य अपने कुटुंब–परिवार, शिष्य–सेवक और परिकर के साथ ब्रज से चले गये थे। बल्लभ सप्रदायी गोस्वामियो मे सर्वाधिक प्रसिद्ध श्री हरिराय जी भी अपनी ८० वर्ष की वृद्धावस्था मे उसी काल मे गोकुल छोड कर मेवाड राज्य मे गये थे। उन धर्माचार्यो का इस प्रकार ब्रज से निष्क्रमण करना औरंगजेबी अत्याचार का अत्यंत शोचनीय प्रसग है। वह ब्रज के इतिहास की ऐसी दुखद घटना है, जिसने गोवर्धन, गोकुल तथा वृंदाबन के हरे–भरे धार्मिक क्षेत्रो को उजाड दिया और ब्रज की अत्यंत समृद्ध सस्कृति का सर्वनाश कर दिया था।

**जजिया कर का पुनर्प्रचलन**—जो लोग मुसलमान नही होना चाहते थे, उनसे मुसलमानी शासन मे 'जजिया' नामक एक कर वसूल किया जाता था। वह कर अकबर के शासन–काल मे हटा दिया गया था। तब से लेकर औरंगजेबी शासन के आरंभिक काल तक भी वह बंद रहा था। जब मिर्जा राजा जयसिंह के बाद महाराज यशवंतसिंह का भी देहात हो गया, तब औरंगजेब ने निरंकुश होकर स० १७३६ मे फिर से उस कर को चालू किया। उस अपमानपूर्ण कर का हिंदुओ द्वारा प्रबल विरोध किया गया था। मेवाड के वृद्ध राणा राजसिंह ने उसके विरोध मे औरंगजेब को उपालंभ देते हुए एक पत्र लिखा था, जिसका उल्लेख टाड कृत 'राजस्थान' नामक

प्रसिद्ध ग्रथ मे हुआ है। यहाँ तक कि औरगजेब के वेतनभोगी कविवर वृद ने भी निर्भय होकर उसकी आलोचना करते हुए कहा था,—"ए हो साह औरग ! कहावत हो पातसाह, आप ही विचारो यह कैसी सुवहानगी। जव जमवत सुरपुर को सिधाए, तव तेग वाँध आए, यह कैसी मरदानगी[1] ?" किंतु आलोचना, उपालभ और विरोध सभी अरण्य-रोदन के समान व्यर्थ सिद्ध हुए और हिंदू जनता औरगजेवी अत्याचारो की चक्की मे पिसती रही !

**ब्रज के नामो का परिवर्तन**—औरगजेब ने ब्रज मे हिंदू धर्म और हिंदू सस्कृति को नष्ट कर उसके स्थान पर इस्लामी मजहव और तहजीव को प्रचलित करने की वडी चेष्टा की थी। उसके लिए जो उपाय काम मे लाये गये, उनमे ब्रज के नामो का मुसलमानीकरण भी था। उसके अनुसार मथुरा का नाम वदल कर 'इस्लामावाद' या 'इस्लामपुर' किया गया, वृदावन को 'मोमिनावाद' और परासोली-चद्रसरोवर को 'मुहम्मदपुर' वनाया गया। किंतु वे वदले हुए नाम मुसलमानी शासन काल मे सरकारी कागजो मे ही रहे आये, जनता मे वे कभी प्रचलित नही हुए थे।

**साहित्य, सगीत और कला सबधी दृष्टिकोण**—प्रशासनिक नीति और धार्मिक उदारता की तरह साहित्य, सगीत और कला के सवध मे भी औरगजेब का दृष्टिकोण अपने पूर्ववर्ती मुगल सम्राटो से भिन्न था। उसने अपने मजहवी तअास्सुव के चश्मे से साहित्य-सगीतादि को भी देखा था, अत उसके द्वारा उनका सरक्षण अथवा प्रोत्साहन किया जाना सभव नही था। यह प्रसिद्ध वात है कि उसने अपने दरवार के इतिहास-लेखको, गुणियो और कलाकारो मे से बहुतो को हटा दिया था। वे लोग दिल्ली छोड कर हिंदू राजाओ के राज्यो मे चले गये थे। जो नही जा सके, वे निराश्रित होकर भूखो मरने लगे थे। उस काल के कलाकारो मे सबसे अधिक हानि सगीतज्ञो की हुई थी। औरगजेब के मतानुसार एक इस्लामी राज्य मे गवैयो की आवश्यकता नही थी ! फलत उसने सगीत का निषेध कर सगीतज्ञो को निरुत्साहित किया था।

कुछ विद्वानो का मत है, औरगजेब जितना कला विरोधी और अरसिक प्रसिद्ध है, उतना वह नही था। आचार्य चद्रवली पाडे ने लिखा है,—"औरगजेब सगीत का द्रोही नही, राग-रग अथवा भ्रष्ट और अश्लील गानो का शत्रु था[2]।" आचार्य वृहस्पति का कथन है,—"पीर, फकीर या सत के रूप मे अपने आपको प्रसिद्ध करने का औरगजेब का प्रयत्न राजनीतिक था और उसी झोक मे उसने अपने दरवार मे सगीत का निषेध किया था, परतु उसके अत पुर की वात और थी। वहाँ राग-रग और सगीत की धूम रहती थी[3]।"

औरगजेब ने चाहे किसी भी कारण से सगीत का निषेध किया हो, किंतु उसके दरवार से उसका पूर्णतया वहिष्कार नही हुआ था। उसका काश्मीरी सूवेदार फकीरुल्ला कट्टर मुसलमान और औरगजेब के मजहवी तअास्सुव की नीति का समर्थक होते हुए भी सगीत का वडा प्रेमी था। उसका रचा हुआ 'राग दर्पण' ग्र थ प्रसिद्ध है। उससे ज्ञात होता है कि औरगजेब के दरवार मे खुशहाल खाँ, सरससेन, सुखीसेन, करवाई आदि सगीतज्ञ थे[4]। स्वय औरगजेब द्वारा रचे हुए भी

---

(१) **सतसई सप्तक** ( प्रस्तावना ) पृष्ठ १६

(२) **मुगल बादशाहो की हिंदी**, पृष्ठ ४६

(३) **औरगजेब का सगीत-प्रेम** ( धर्मयुग, २५ अक्टूबर १९५९ ई० )

(४) **मानसिह और मानकुतूहल**, पृष्ठ १४३

कुछ ध्रुपद मिलते है[1], जिसमे सगीत और ब्रज साहित्य के प्रति उसकी अभिरुचि प्रकट होती है। सभव है, वे स्वय औरगजेब की रचना न हो और उन्हे उसके दरबारी कवियो अथवा संगीतज्ञो ने उसके नाम से रच दिया हो, जैसा कि उस काल मे प्राय होता था। फिर भी वे रचनाएँ यदि औरगजेब को पसद न होती ,तो वह उन्हे अपने नाम से प्रचारित ही क्यो होने देता ! यह दूसरी बात है कि वे रचनाएँ उसके आरभिक जीवन की हो, अथवा तख्त पर बैठने के आठ–दस साल के अदर की हो, जब कि उसके मजहबी उन्माद ने अधिक जोर नही पकडा था।

औरगजेब के पूर्ववर्ती प्राय सभी मुगल सम्राट स्थापत्य कला के प्रेमी और आश्रयदाता थे। उनके द्वारा बडे–बडे निर्माण कार्य किये गये थे, किंतु औरगजेब ने दो–एक मसजिदे बनवाने के अतिरिक्त इस कला की प्रगति मे कोई योग नही दिया था। उसने आगरा के किले मे 'नगीना मसजिद' बनवाई थी तथा उसकी पुत्री जेबुन्निसा ने दिल्ली मे दरियागज वाली मसजिद का निर्माण कराया था।

**औरंगजेब की मृत्यु और उसकी नीति का दुष्परिणाम**—स० १७४० मे औरगजेब दक्षिण की अशाति को दबाने के लिए स्वय दल–बल के साथ गया था। वह राजधानी से दूर रहता हुआ अपने शासन–काल के प्राय अतिम २५ वर्ष तक उसी अभियान मे उलझा रहा था। अत मे ५० वर्ष तक शासन करने के बाद दक्षिण के अहमदनगर मे उसकी मृत्यु स० १७६४ (२० फरवरी, सन् १७०७) मे हो गई। उसकी दूषित नीति ने सर्वत्र उसके विरोधी पैदा कर दिये थे और पिछले मुगल सम्राटो के प्रयत्नो पर पानी फेर दिया था। उसके अत्याचारो के कारण जनता मे रोष का ऐसा तूफान उठा कि उसने मुगल साम्राज्य के दुर्ग को ही ढाह दिया था।

वर्तमान काल के अनेक विद्वानो ने औरगजेब की दूषित नीति की कटु आलोचना करते हुए उसके दुष्परिणामो का उल्लेख किया है। प्रो० कादरी ने लिखा है,—"बाबर ने मुगल राज्य के भवन के लिए मैदान साफ किया, हुमायू ने उसकी नीव डाली, अकबर ने उस पर सु दर भवन खडा किया, जहाँगीर ने उसे सजाया–सँभारा, शाहजहाँ ने उसमे निवास कर आनद किया, किंतु औरगजेब ने उसे विध्वस कर दिया था।" डा० रामधारीसिह का कथन है,—"बाबर से लेकर शाहजहाँ तक मुगलो ने भारत की जिस सामासिक सस्कृति को पाल–पोस कर खडा किया था, उसे औरगजेब ने एक ही झटके मे तोड डाला और साथ ही साम्राज्य की कमर भी तोड दी ! वह हिंदुओ का ही नही, सूफियो का भी दुश्मन था और सरमद जैसे सत को उसने सूली पर चढा दिया[2]।"

औरगजेब की दूषित नीति की बडी व्यापक और प्रभावशाली प्रतिक्रिया हुई थी। उसके कारण ही ब्रज के कृषिजीवी जाटो की एक लडाकू जाति बन गई थी और पजाब के सिक्खो का धार्मिक समुदाय कृपाण लेकर लडने को खडा हो गया था। जिन राजपूतो ने अपने रक्त से सीच कर मुगल साम्राज्य का वट वृक्ष खड़ा किया, वही उस पर कुठाराघात करने को तैयार हो गये और दक्षिण के सीधे–सादे मरहठे कुशल सैनिको के रूप मे मुगल साम्राज्य को नष्ट करने के लिए सबसे अधिक सचेष्ट दिखलाई दिये।

---

(१) संगीत रागकल्पद्रुम ( प्रथम भाग )
(२) संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ३१७

## परवर्ती मुगल सम्राट ( शासन काल सं० १७६४–१८०५ तक )—

**राज्याधिकार के लिए संघर्ष**—औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में राज्याधिकार के लिए संघर्ष छिड़ गया। बड़ा बेटा मुअज्जम धुर उत्तर के जमरूद नामक मुकाम पर था और छोटा बेटा आजम दक्षिण के अहमदनगर में था। दोनों ही अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर दिल्ली-आगरा की ओर चल दिये। वे दोनों ही मुगल सिंहासन पर अधिकार करने के इच्छुक थे। उनकी सेनाएँ जाजऊ नामक स्थान पर एक दूसरी से भिड़ गईं। जाजऊ वृहत्तर ब्रजमंडल का एक छोटा सा गाँव है, जो आगरा से धौलपुर जाने वाली सड़क के समीप उटंगन नदी के बायें किनारे पर स्थित है। उक्त स्थान पर जो युद्ध हुआ, उसमें आजम पराजित होकर मारा गया और मुअज्जम बहादुरशाह के नाम से मुगल सम्राट हो गया।

**आजमशाह**—वह ब्रजभाषा साहित्य का प्रेमी और पोषक था। उसने ब्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मीरजा खाँ नामक एक विद्वान से फारसी भाषा में ग्रंथ लिखवाया था, जिसका नाम 'तोहफतुल-हिंद' है। यह ब्रजभाषा साहित्य का ऐसा विश्वकोश है जिसमें पिंगल, रस, अलंकार, शृंगार रस नायिकाभेद, संगीत, सामुद्रिक, कोष, व्याकरण आदि अनेक विषयों का उल्लेख किया गया है। आजम ने निवाज कवि को भी आश्रय प्रदान कर उससे कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुंतल' नाटक का ब्रजभाषा में अनुवाद कराया था। उसी की आज्ञा से बिहारी सतसई का क्रमबद्ध संपादन हुआ, जो 'आजमशाही क्रम' के नाम से प्रसिद्ध है[१]। ब्रज साहित्य के विख्यात विद्वान पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का मत है कि सतसई का आजमशाही क्रम दिल्ली के आजमशाह के नाम पर नहीं, बल्कि आजमगढ़ के आजमखाँ के नाम पर प्रसिद्ध हुआ है। जौनपुर के हरिजू नामक कवि ने सतसई का यह क्रम उक्त आजमखाँ के अनुरोध पर निश्चित किया था[२]।

**बहादुरशाह ( शासन काल सं० १७६४–१७६९ )**—जिस समय मुअज्जम अपने छोटे भाई आजम को पराजित कर बहादुरशाह के नाम से मुगल सम्राट हुआ था, उस समय उसकी आयु प्रायः ६४ की थी। वह शरीर से अशक्त होने के साथ ही साथ स्वभाव से भी दुर्बल था, अतः वह शासन व्यवस्था पर नियंत्रण रखने में असमर्थ सिद्ध हुआ। वह केवल ५ वर्ष तक शासन कर सका था। उसके बाद सं० १७६९ ( २७ फरवरी, सन् १७१२ ) में उसकी मृत्यु हो गई। उसे दिल्ली में दफनाया गया था।

बहादुरशाह के पश्चात् उसका पुत्र जहाँदार शाह ५१ वर्ष की आयु में बादशाह हुआ था। वह बड़ा विलासी और अयोग्य शासक था। वह एक वर्ष भी शासन नहीं कर पाया कि अपने भतीजे फर्रुखसियर द्वारा मार डाला गया। सं० १७७० में फर्रुखसियर बादशाह हुआ। वह भी अयोग्य शासक था और उसे सं० १७७५ में अत्यंत निर्दयतापूर्वक मार दिया गया था। उसके बाद थोड़े काल में कई बादशाह हुए, किंतु वे सब अपने मंत्रियों के हाथ की कठपुतली थे।

---

(१) पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ५२१

(२) बिहारी की वाग्विभूति पृष्ठ २७२

उस समय दो सैयद भाइयो के हाथो मे मुगल शासन की बागडोर थी। वे जिसे चाहते, उसे बादशाह बनाते और जब चाहते, तब उसे गद्दी से उतार देते थे। उस काल मे दक्षिण के मरहठो का प्रभाव बहुत बढ गया था। राजस्थान मे राजपूत राजा और ब्रज प्रदेश मे जाट सरदार अपनी-अपनी शक्ति बढा रहे थे। उत्तर मे सिक्खो और रुहेलो का जोर बढ़ रहा था। उन सबके कारण मुगल सम्राट के प्रभाव और उसकी प्रतिष्ठा मे बडी कमी हो गई थी। उस काल मे मुगलो के प्रताप का सूर्य निरतर अस्ताचल की ओर जा रहा था।

**मुहम्मदशाह ( शासन काल सं० १७७६-१८०५ )**—वह आरामतलब, विलासी एव शक्तिहीन होने के कारण शासन कार्य के सर्वथा अयोग्य था, किंतु राग-रग और गायन-वादन का बडा प्रेमी एव प्रोत्साहनकर्त्ता था। उसने शासन का समस्त दायित्व और राज्याधिकार अपने मत्रियो तथा सेनापतियो को सोप दिया था और वह स्वय दिन-रात गायन-वादन मे ही लगा रहता था। वह राग-रग का इतना शौकीन था कि उसके आनद की तुलना मे उसे अपने ताज-तख्त की बिलकुल चिंता नही थी। इसीलिए वह मुहम्मदशाह 'रगीला' के नाम से प्रसिद्ध है। औरगजेब के काल से जो सगीत कला ह्रासोन्मुखी हो रही थी, वह उसके काल मे पुन प्रगति के पथ पर अग्रसर हो गई। उसके प्रोत्साहन से उसके दरबारी गायक और वीणावादक सदारग-अदारग ने 'ख्याल' की गायकी का व्यापक प्रचार किया था। स्वय उसके रचे हुए भी ख्याल के अनेक गीत उपलब्ध है, जिनमे 'मुहम्मदशा' अथवा 'सदा रगीले मुहम्मदशा' की नाम-छाप मिलती है।

उसके शासन काल मे राज्य प्रबध की शिथिलता के कारण अनेक स्थानो मे उपद्रव होने लगे थे। आगरा के आस-पास के क्षेत्र मे जाटो की विद्रोहात्मक हलचले बहुत बढ गई थी, जिनसे आगरा का तत्कालीन सूबेदार बडा परेशान था। मुहम्मदशाह ने अपने राज्य की प्रबध-व्यवस्था को ठीक करने के लिए आमेर के तत्कालीन राजा जयसिह का सहयोग प्राप्त किया और उसे आगरा का सूबेदार बना दिया। जयसिह ने जाटो को दबाने के लिए उनके प्रसिद्ध केन्द्र 'थूण' के गढ पर आक्रमण किया और स० १७७६ मे उस पर विजय प्राप्त की। उससे प्रसन्न होकर मुहम्मदशाह ने जयसिह को 'राजराजेश्वर सवाई महाराज' की पदवी प्रदान की थी। जहाँ उसका पूर्वज जयसिह 'मिर्जा राजा' कहलाता था, वहाँ वह 'सवाई राजा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी सूबेदारी का काल ब्रज की सास्कृतिक हलचलो के लिए बडा प्रसिद्ध है, अत यहाँ उसका विस्तार से उल्लेख किया जाता है।

**सवाई राजा जयसिह**—वह स० १७७७ से स०१७८३ तक आगरा का सूबेदार रहा था। उस काल मे मथुरा-वृदाबन सहित समस्त ब्रजमडल उसके प्रशासन और प्रभाव क्षेत्र मे था। ब्रज मे उसकी सैनिक छावनी मथुरा नगर से प्राय दो मील दूर वृदाबन की सडक पर उस स्थान पर थी, जिसे अब 'जयसिहपुरा' कहते है। वृदाबन मे उसकी कचहरी का स्थान 'जयसिह का घेरा' कहलाता है। उसके पूर्वज राजा मानसिह ने मथुरा मे जो दुर्ग बनवाया था, वह उसके काल मे जीर्ण हो गया था। जयसिह ने उसकी मरम्मत करा कर उसमे ज्योतिष की एक 'वेधशाला' बनवाई थी। उसने अपनी पुत्री का विवाह भी स० १७८० मे श्री कृष्ण-जन्माष्टमी के शुभ अवसर पर मथुरा मे ही किया था।

सवाई जयसिंह ने जहाँ मुगल साम्राज्य की राजकीय व्यवस्था को ठीक किया था, वहाँ हिंदुओ की शोचनीय स्थिति को सुधारने के लिए मुहम्मदशाह ने अनेक सुविधाएँ भी प्राप्त की थी। औरंगजेब ने गैर मुस्लिमो पर जो 'जजिया' कर लगाया था, उसे मुहम्मदशाह ने जयसिंह के प्रभाव के कारण ही स० १७८० मे हटा दिया था। अकबर के काल मे महाभारत का फारसी अनुवाद 'रज्मनामा' के नाम से किया गया था और उसे अनेक कलात्मक चित्रो मे सजाया गया था। उस अमूल्य ग्र थ की जिल्दे मुहम्मदशाह ने सवाई राजा जयसिंह को भेंट कर दी थी, जो अभी तक जयपुर के राजकीय सग्रहालय मे सुरक्षित है। इस प्रकार मुगल कला की वह बहुमूल्य निधि बाद मे होने वाली नादिरशाही लूट मे बच गई थी।

सवाई जयसिंह हिंदू धर्म और सस्कृति का प्रबल पक्षपाती एक धर्मप्राण राजा था, किंतु फिर भी उसके द्वारा वृ दावन के वैष्णव सप्रदायो को धर्म-सकट सहन करना पडा था। उसका कारण यह था कि कुछ वैष्णव विरोधी लोगो ने राजा को यह कह कर भडका दिया था कि वृ दावन के भक्ति सप्रदाय वैदिक विधि-निषेध को नही मानते है। सवाई जयसिंह स्मार्त्त धर्म और वैदिक विधि-विधान का सुदृढ समर्थक था। उसे यह सहन नही हुआ कि वैष्णव धर्म का कोई सप्रदाय 'लोक' के साथ 'वेद' की भी उपेक्षा करे! फलत उसने वृ दावन के भक्ति सप्रदायो को अपनी मान्यताओ की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए विवश किया था। उसके लिए स० १७८० के लगभग आमेर मे एक वृहत् धर्म समेलन का आयोजन किया गया। राजा का आदेश था कि वृ दावन के सभी भक्ति सप्रदाय अपने प्रतिनिधि भेज कर वहाँ अपने सप्रदायो की प्रामाणिकता सिद्ध करे। भक्ति सप्रदायी महानुभाव प्रेमा भक्ति के एकात उपासक थे। वे धार्मिक विवाद और शास्त्रार्थ के झझट मे नही पडना चाहते थे। किंतु राजा के आदेश की अवहेलना करना भी सभव नही था। उस काल मे जिन भक्ति सप्रदायो ने उक्त समेलन मे भाग लेकर अपने सिद्धातो की प्रामाणिकता सिद्ध की थी, वे सवाई राजा द्वारा पुरस्कृत हुए थे। जो वहाँ नही जा सके, वे राजा के कोप से बचने के लिए वृ दावन ही छोड कर चले गये थे। इस प्रकार निष्क्रमण करने वालो मे उस काल के राधावल्लभीय धर्माचार्य गण प्रमुख थे। उन्हे कई वर्ष तक वृ दावन से बाहर रहना पडा था और राजा के देहावसान होने के बाद ही वे अपने घरो को वापिस लौट सके थे।

स० १७८४ मे सवाई जयसिंह आगरा की सूबेदारी से अवकाश लेकर अपने आमेर राज्य मे चला गया, जहाँ वह स० १७८९ तक रहा था। उस काल मे उसने जयपुर नगर का निर्माण किया, ज्योतिष की अनेक वेधशालाएँ बनवाई और अपने राज्य की श्री-वृद्धि की थी। उसने 'अश्वमेध यज्ञ' भी किया, जो पिछले हजार-बारहसौ वर्षो से भारत मे नही हुआ था। स० १७८९ मे मुहम्मदशाह ने फिर उसे मालवा का सूबेदार बनाया था, ताकि वह मरहठो को उत्तर की ओर बढने से रोक सके। स० १७९१ मे उसकी बाजीराव पेशवा से सधि हो गई थी, अत वह मालवा से जयपुर लौट गया और अपने राज्य को समृद्ध करने मे लग गया था।

सवाई जयसिंह प्रतिष्ठा और प्रभाव मे अपने पूर्वज राजा भगवानदास, राजा मानसिंह, मिर्जा जयसिंह की परपरा मे था, किंतु विद्वत्ता मे उन सबसे बढा हुआ था। वह सस्कृत का ज्ञाता तथा ज्योतिष और वास्तु कला का विशिष्ट विद्वान था। उसने लैटिन भाषा के गणित ग्रथो का तथा रेखा गणित की प्रसिद्ध रचना 'यूकलिड' का सस्कृत मे अनुवाद कराया था। उसने अपने

राज्य को विद्या, कला और वाणिज्य का केन्द्र बनाने के लिए भारत के विभिन्न स्थानो से बडे-बडे विद्वानो, कलाकारो और व्यापारियो को बुलाया और उन्हे सम्मान पूर्वक जयपुर मे बसाया था। यही कारण है कि आज जयपुर नगर विविध विद्याओ एव कलाओ का प्रमुख केन्द्र है और उद्योग-वाणिज्य की भी बडी मडी है। जयपुर राज्य की श्री-वृद्धि मे सवाई राजा जयसिह का बहुत बडा योग था। उसका देहावसान स० १८०० मे हुआ था।

राजा जयसिह के अनुकरण पर उसके उच्च पदाधिकारियो ने भी धर्म, साहित्य और कला का सरक्षण किया था। उसका मत्री राजा आयामल्ल साहित्य का प्रेमी और कवियो का आश्रयदाता था। उसके प्रोत्साहन से ही मथुरा के कृष्ण कवि ने विहारी सतसई की सुप्रसिद्ध टीका की थी। इस टीका की एक सचित्र प्रति भी उपलब्ध है। इसमे विहारी के प्रत्येक दोहा के भाव को गद्य-पद्यात्मक टीका के साथ ही साथ कलात्मक चित्रो द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। इसके चित्र आयामल्ल के आश्रित किसी चित्रकार ने बनाये थे और इसकी पूर्ति स० १७८८ मे हुई थी[1]। आयामल्ल का देहाँत स० १८०४ मे हुआ था[2]। जयसिह के एक दूसरे पदाधिकारी हरीसिह के आश्रय मे जैन कवि भूधरदास ने स० १७८१ मे 'जैन शतक' की रचना की थी[3]।

**नादिरशाह का आक्रमण**—मुहम्मदशाह के शासन-काल की एक अत्यत दु खात घटना नादिरशाह का आक्रमण थी। मुगल शासन के आरभ से अब तक किसी बाहरी शत्रु का इस देश पर आक्रमण नही हुआ था, किंतु उस काल मे दिल्ली की शासन-सत्ता इतनी दुर्बल हो गई थी, कि ईरान के एक महत्वाकाक्षी लुटेरे शासक नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण करने का साहस किया था। उसने मुगल सम्राट द्वारा शासित कावुल-कधार के प्रदेश पर अधिकार कर पेशावर स्थित मुगल सेना का विध्वस कर डाला। जब मुहम्मदशाह को नादिरशाह के आक्रमण की वात बतलाई गई, तो उसने उसे हँसी मे उडा दिया। उसकी आँखे तब खुली जब नादिर की सेना पजाब को रोंधती हुई करनाल तक आ पहुँची थी। मुहम्मदशाह ने अपनी सेना उसके विरुद्ध भेजी, किंतु स० १७९६ (२४ फरवरी, १७३९) मे उसकी पराजय हो गई। नादिर ने पहिले २ करोड़ रुपया हर्जाना देने की माँग की थी, किंतु उसके स्वीकार होने पर वह २० करोड माँगने लगा।

मुगलो का कारू का सा खजाना भी उस काल मे खाली हो गया था, अत २० करोड कैसे दिया जा सकता था। फलत नादिर ने दिल्ली को लूटने और वहाँ नर-सहार करने की आज्ञा प्रदान कर दी। उसके बर्बर सैनिक राजधानी मे घुस पडे और उन्होने लूट-मार का बाजार गर्म कर दिया। उसके कारण दिल्ली के हजारो नागरिक मारे गये और वहाँ बुरी तरह लूट की गई। दिल्ली की लूट मे उस ईरानी को २० की बजाय ३० करोड रुपया नकद मिला था और उसके अतिरिक्त वेशुमार जवाहरात, बेगमो के बहुमूल्य वस्त्राभूषण, सोने-चाँदी के बर्तन, किमख्वाव एव अतलश की वर्दियाँ तथा तोपो के साथ ही साथ तख्त ताऊस और कोहनूर हीरा भी उसके हाथ लगा था। शाही हरम की सु दर स्त्रियो के साथ मुहम्मदशाह की पुत्री शहनाज बानू भी उसके हाथ पड गई, जिसका विवाह उसने अपने पुत्र नसरुल्ला खाँ से कर दिया था।

---

(१) भारतीय चित्र कला (मेहता), पृष्ठ ८४

(२) फाल आफ मुगल एम्पायर (सरकार), भाग १, पृष्ठ २९६

(३) मिश्रबधु विनोद, द्वितीय खड, पृष्ठ ६५१

नादिरशाह प्राय दो महीने तक दिल्ली मे लूट-मार करता रहा। उसके कारण मुगलो की राजधानी उजाड और बर्बाद सी हो गई थी। जब वह यहाँ से जाने लगा, तब करोड़ो की सपदा के साथ ही साथ वह "१००० हाथी, ७,००० घोडे, १०,००० ऊँट, १०० खोजे, १३० लेखक, २०० सगतराश, १०० राज और २०० बढई भी अपने साथ ले गया था[1]।" उसने मुगल साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी काबुल-कधार के सूबे को भी अपने राज्य मे मिला लिया था। ईरान पहुच कर उसने तख्त ताऊस पर बैठ कर बडा शानदार दरबार किया। भारत पर आक्रमण करने से पहिले उसने अपने सैनिको से वायदा किया था कि वह लूट के माल को उनमे बराबर-बराबर बाँट देगा, मगर ईरान पर पहुँच कर वह अपने वचन से फिर गया। उसके कारण उसके सैनिको मे बडा असतोष फैल गया था। उसके फल स्वरूप उसके सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और फिर सुयोग मिलते ही उसका वध कर डाला। नादिरशाह की मृत्यु स० १८०४ मे हुई थी।

**नादिरशाही और ब्रज**—नादिरशाही का ताडव नृत्य दिल्ली तक ही सीमित रहा था, वह आगे नही बढा था। दिल्ली से जो लोग माल-मता लेकर भागे थे, उनका पीछा करते हुए नादिर के कुछ सैनिक थोडा आगे भी बढे थे, किंतु उन्होने मथुरा-वृदावन मे लूट-मार की हो, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने लिखा है कि नादिरशाह के सिपाहियो ने मथुरा-वृदावन मे भी लूट-मार की थी। उसी मे ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि घनआनद की मृत्यु हुई थी[2]। श्री वाजपेयी जी का उक्त कथन ठीक नही है। घनआनद नादिरशाह के आक्रमण के बाद भी जीवित रहा था, अत नादिशाही मे उसका मारा जाना अप्रामाणिक है। उसकी मृत्यु बाद मे अहमदशाह के आक्रमण-काल मे हुई थी। फिर भी मथुरा-वृदावन मे नादिरशाह के भीषण आक्रमण से बडा भय और आतक छा गया था। उसकी अभिव्यक्ति ब्रज के लोक गीतो मे हुई थी। भयभीत नारियो द्वारा गाये हुए गीतो की ध्वनि—"नादिरशाह डरी तेरे हौले तें" वर्षों तक ब्रज के वातावरण मे गूँजती रही थी।

**मुहम्मदशाह की मृत्यु**—नादिरशाह के आक्रमण के बाद भी मुहम्मदशाह कई वर्ष तक जीवित रहा था, किंतु उसका शासन दिल्ली के आरे-पास के भाग तक ही सीमित रह गया था। साम्राज्य के अधिकाश सूबे स्वतत्र हो गये और विभिन्न स्थानो मे साम्राज्य विरोधी शक्तियो का उदय हो गया था। मुहम्मदशाह उन्हे दबाने मे असमर्थ था। वह स्वय अपने मत्रियो और सेनापतियो की दया पर निर्भर था। उसकी मृत्यु स० १८०५ (२६ अप्रेल, सन् १७४८) मे हुई थी। इस प्रकार उसने ३० वर्ष तक शासन किया था। वह किसी तरह अपने शासन काल को पूरा तो कर गया, किंतु मुगल साम्राज्य को सर्वनाश के कगार पर खडा कर गया था।

**अंतिम मुगल सम्राट**—मुहम्मदशाह के बाद भी दिल्ली मे कई मुगल सम्राट हुए, किंतु वे नाम मात्र के सम्राट या बादशाह थे। उनके नाम क्रमश. अहमदशाह (स० १८०५–१८११), आलमगीर द्वितीय (स० १८११–१८१६), शाहआलम (स० १८१६–१८६३), मुहम्मद अकबर (स० १८६३–१८९४) और बहादुरशाह (स० १८९४–१९१५) मिलते है। उनके काल मे जाट—मरहठा अत्यत शक्तिशाली हो गये थे और ब्रज के अधिकाश भाग पर जाटो का अधिकार हो गया था। इस प्रकार चाहे मुगल साम्राज्य का अस्तित्व बहादुरशाह के काल तक बना रहा, किंतु ब्रज की राजनैतिक हलचलो की दृष्टि से मुहम्मदशाह को ही अतिम मुगल सम्राट माना जा सकता है।

---

(१) **मुगल कालीन भारत** (भाग २), पृष्ठ १५४ (२) **ब्रज का इतिहास** (प्रथमभाग), १८१ पृष्ठ

# ३. जाट–मरहठा काल

[ विक्रम स० १८०५ से सं० १८८३ तक ]

**जाट–मरहठा राज–शक्तियाँ**—मुगल काल मे जिन नवीन राज–शक्तियो का उदय हुआ था और मुगल शासन के शिथिल होते ही जिन्होने व्रज के इतिहास मे अत्यत महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी, उनमे जाटो और मरहठो के नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। जाट जाति का इतिहास काफी पुराना हे और मुमलमानी शासन के आरभिक काल मे ही इसका आक्रमण-कारियो से सघर्ष होता रहा है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, जाट जाति मूलत कृपि जीवी हे, किंतु मुमलमानी शासन की असहिष्णुता, विशेप कर औरगजेबी काल मे अत्याचारो ने उसे एक शक्तिशाली सैनिक शक्ति बना दिया था[1]। मरहठो का इतिहास अधिक पुराना नही है, किंतु उन्होने शिवाजी के नेतृत्व मे औरगजेबी काल मे वडी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। वाद मे पेशवाओ और उनके सैनिक सरदारो ने मरहठा शक्ति का इतना विस्तार किया कि उसका भारतव्यापी महत्व हो गया था। मुगल शासन के अतिम काल से लेकर अगरेजी शासन के आरभिक काल तक व्रज मे जाटो और मरहठो की समानान्तर हलचले होती रही थीं और उन दोनो राज–शक्तियो ने यहाँ के राजनैतिक और सास्कृतिक जीवन को वडा प्रभावित किया था, अत वह 'जाट–मरहठा काल' के नाम से व्रज के इतिहास मे अपना विशिष्ट महत्व रखता है।

**जाटों का राजनैतिक महत्व**—यद्यपि प्रस्तुत काल मे मरहठो ने अपनी प्रवल सैनिक शक्ति से समस्त देश को प्रभावित किया था, तथापि व्रज की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति पर मरहठो की अपेक्षा जाटो का अधिक प्रभाव रहा था। जाट जाति के नेताओ ने इसी काल मे व्रज के विविध स्थान जैसे सिनमिनी, थूण, डीग, भरतपुर, मुरसान और हाथरस आदि मे कई छोटे–वडे राज्यो की स्थापना की थी और उनका सचालन किया था। उक्त राज्यो के शासको मे डीग-भरतपुर के राजाओ का अधिक महत्व है। उन्होने व्रज की गौरव–वृद्धि के लिए वडा प्रयत्न किया था, इसीलिए उन्हे 'व्रजेन्द्र' अथवा 'व्रजराज' कहा जाता था। व्रज के लवे इतिहास मे कृष्णकालीन यादवो के पश्चात् जिन थोडे से हिंदू राजवशो ने यहाँ शासन किया था, उनमे डीग–भरतपुर के राजा गण अन्यतम थे। उन्होने प्राय एक शताब्दी तक व्रज के वडे भाग पर स्वतत्र शासन किया था, अत उनका 'व्रजेन्द्र' अथवा 'व्रजराज' विरुद सार्थक ही था। उनके सैनिक सघर्ष और राज्य सचालन के कारण ही जाटो को उस काल मे वडा राजनैतिक महत्व प्राप्त हुआ था।

**जाट शासन की पृष्ठभूमि**—मुगल सम्राट शाहजहाँ के शासन मे ही व्रज के हिंदुओ के साथ असहिष्णुता और अत्याचार का सूत्रपात हो गया था। उसके शासन काल मे मथुरा के एक फौजदार मुर्शिदकुली खाँ ( स० १६९३–१६९६ ) ने अपनी कामुकता से व्रज मे वडा अधेर मचा दिया था। 'मासिर-उल-उमरा' के आधार पर श्री यदुनाथ सरकार ने उसके अत्याचारो का उल्लेख करते हुए लिखा है,—"मुर्शिदकुली खाँ व्रज के गाँवो मे सु दरियो की तलाश मे धावा किया करता था। उसकी एक बुरी आदत यह थी कि हिंदू उत्सव–त्यौहारो के अवसर पर वह हिंदुओ ती तरह तिलक लगा कर और धोती पहिन कर उनकी भीड मे मिल जाता था। जब वह

---

(१) **व्रज सस्कृति की भूमिका**, पृष्ठ ७०–७४

किसी चद्रमुखी को देखता, तो भेडिया की तरह झपट कर उसे ले भागता था। उसके आदमी पहिले से ही यमुना के किनारे नाव लेकर तैयार रहते थे[1]।" उसके अत्याचारो से तग आकर ब्रज की रुष्ट जनता ने उसका वध कर दिया था।

शाहजहाँ के उत्तर काल मे स० १७११ के बाद से ब्रज प्रदेश पर दारा का नियत्रण रहा था। उसकी उदार धार्मिक नीति के कारण ब्रज की स्थिति मे कुछ सुधार हुआ था। जब औरगजेब द्वारा दारा की पराजय हुई, तब उसके सैनिक ब्रज मे भाग गये थे। उस समय यहाँ फिर अशाति और अव्यवस्था फैल गई थी। उस काल मे मथुरा और कोल (अलीगढ) के परगनो मे बसने वाली जाट जाति के एक नेता नदराम का उदय हुआ था। उसने कुछ इलाके पर अधिकार भी कर लिया, किंतु मुगल सेना ने उसे दबा कर पुन उस क्षेत्र पर आधिपत्य कायम कर लिया था। उसके बाद औरगजेब के फौजदार अब्दुलनबी का ब्रज पर अत्याचारी शासन आरभ हुआ, जिसके प्रतिकार मे ब्रज की ग्रामीण जनता ने स० १७२६ मे विद्रोह कर दिया था। उस विद्रोह का नेता तिलपट का जिमीदार गोकुला जाट था। उसने शक्तिशाली मुगल सेना के छक्के छुडा दिये थे, किंतु अत मे उसे पकड कर आगरा ले जाया गया, जहाँ उसका निर्दयता पूर्वक वध किया गया था।

**राजाराम की हलचलें**—गोकुला की मृत्यु के अनतर स० १७४२ मे जाटो ने फिर विद्रोह किया था। उस समय उनका नेता सिनसिनी का राजाराम था। उस काल मे औरगजेब दल-बल सहित दक्षिण मे था और वहाँ वह लबे युद्धो मे उलझा हुआ था। दिल्ली से दक्षिण को जो सैन्य सामग्री और रसद जाती थी, उसका मार्ग ब्रज प्रदेश मे होकर था। राजाराम अपने जाट सैनिको के साथ शाही सेना पर अचानक छापा मारा करता था। वह शाही खजाना, अस्त्र-शस्त्र और खाद्यान्न को लूट कर ले जाता था। उस समय जाटो ने अपनी सुरक्षा के लिए कई स्थानो मे छोटे दुर्गो के रूप मे 'गढी' बना ली थी। उनमे 'थूण' और 'सिनसिनी' के नाम उल्लेखनीय हैं। सिनसिनी ब्रज का एक छोटा सा गाँव है, जो डीग से कुछ दक्षिण मे और भरतपुर मे १६ मील उत्तर-पश्चिम की ओर है। भरतपुर के जाट राजाओ के पूर्वज उसी गाँव के थे, इसीलिए वह राज घराना 'सिनसिनवार' कहलाता था।

राजाराम और उसके साथियों की हलचलो का क्षेत्र सिनसिनी से धौलपुर तक और मथुरा से आमेर राज्य की सीमा तक विस्तृत था। उस काल मे शाही रसद और खजाने को लूटने के लिए जाटो के दल के दल घूमते रहते थे। वहाँ के राजमार्गो पर मुगल शासन का कोई प्रभाव नही रह गया था। जो व्यापारी और यात्री निर्विघ्नता पूर्वक यात्रा करना चाहते थे, उन्हे जाट नेताओ को धन देकर अनुमति-पत्र प्राप्त करने पडते थे[2]। जो ऐसा नही करते थे, वे प्राय मार्ग मे लुट जाते थे। उस काल मे मुगल शासन के स्थानीय कर्मचारी इतने भ्रष्ट हो गये थे कि वे अपने क्षेत्र की अराजकता को दबाने की बजाय जाटो से स्वय मिले रहते थे, ताकि उन्हे लूट मे हिस्सा मिल सके। उसके लिए शाही सूचना-पत्र के विवरण का एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। आगरा के हाकिम फाजिल खाँ को बादशाह का फरमान मिला था कि वह शाही खजाने को कडे पहरे मे

---

(१) हिस्ट्री आफ औरगजेब, भाग ३, पृष्ठ ३३२

(२) हिस्ट्री आफ दि जाट्स (परिशिष्ट 'सी') पृष्ठ ३४२,

चम्बल नदी तक पहुँचाने की व्यवस्था करे। उसका प्रबध करने से पहिले ही उसने उसकी गुप्त सूचना जाटो को भेज दी थी। उस समय वहाँ के जाटो के पास गोली-बारूद का इतना सामान नही था कि वे शाही पहरे के सिपाहियो को पराजित कर खजाने को लूट सके। फाजिल खॉ ने गुप्त रूप से उनके पास गोली-बारूद भी भेजने का प्रबध कर दिया। फलत जाटो ने खजाना लूट लिया और उसमे से फाजिल खॉ को भी हिस्सा मिला था[1]।

औरगजेब ने दक्षिण स्थित सदर मुकाम से अपने नाती वेदारवख्त को आदेश दिया कि वह एक बडी मुगल सेना के साथ जाटो की आतककारी हलचले बद करने के लिए प्रस्थान करे। उसके पहुँचने से पहिले ही राजाराम ने और भी कई साहसपूर्ण अभियान कर डाले थे। उसने आगरा मे सिकंदरा के निकट पडाव डालने वाली मुगल सेना पर धावा कर दिया और सम्राट अकबर के मकबरा को लूट लिया[2]। स० १७४५ ( २८ मार्च, सन् १६८८ ) मे उक्त मकबरा के प्रबधक मीर अहमद ने औरगजेब को सूचना भेजी कि राजाराम के एक शक्तिशाली जाट-दल ने मकबरा पर छापा मारा था। वे वहाँ की कीमती कालीने, सोने-चाँदी के बर्तन, शमादान और सजावट का दूसरा सामान लूट कर ले गये। दूसरी सूचना इस आशय की भेजी गई कि शाहजहाँ के मकबरा के व्यय के लिए जो आठ गाँव लगाये गये थे, उन पर भी राजाराम ने अधिकार कर लिया।

इटालियन यात्री मनूची ने लिखा है, जब जाटो ने मकबरा पर छापा मारा था, तब उन्होने सम्राट अकबर की कब्र भी खोद डाली थी। उन्होने उस कब्र मे से अस्थि अवशेषो को निकाल कर उनका दाह-सस्कार किया था। इस घटना का उल्लेख उस काल के शाही कागज-पत्रो मे नही मिलता है, इसलिए उसकी सत्यता मे कुछ विद्वानो ने सदेह प्रकट किया है। इस पर श्री कानूनगो का मत है कि वह घटना सभवत सत्य है। कारण यह है, औरगजेब जाटो की हलचलो से इतना कुपित हो गया था कि उसने उनका कत्ले-आम करने के लिए बार-बार हुक्मनामे भेजे थे, जिनसे जाटो मे प्रतिहिसा की अग्नि प्रज्वलित हो गई थी[3]। उस घटना के कुछ समय पश्चात् स० १७४५ ( ४ जुलाई, सन् १६८८ ) मे एक दूसरे अभियान मे राजाराम की अचानक मृत्यु हो गई थी।

**जाट-मुगल सघर्ष**—राजाराम की मृत्यु के पश्चात् भी जाटो की हलचलो मे कोई कमी नही हुई। वे राजाराम के वृद्ध पिता भज्जासिह के नेतृत्व मे मुगलो से निरतर सघर्ष करते रहे। औरगजेब उनसे बडा परेशान था। उसने आमेर के कछवाहा राजा बिशनसिह को ब्रज का हाकिम नियुक्त कर उसे आदेश दिया कि वह जाटो का सर्वनाश कर उनकी सिनसिनी गढी को अपने अधिकार मे कर ले। राजा बिशनसिंह की ओर से दिल्ली के आमेर दूतालय मे केशोराय नामक एक राजकीय प्रतिनिधि था। वह शाही आदेशो की नियमित सूचनाएँ अपने राजा को भेजा करता था। दूतालय के वे सूचना-पत्र 'अखबारात-दरबारे मुअल्ला' कहे गये है। उनमे मुगल सम्राट द्वारा जाटो को 'जाटे बदजात' लिखा गया है। इसी से ज्ञात होता है कि औरगजेबी शासन का जाटो के प्रति कितना तीव्र रोष था।

---

(१) हिस्ट्री आफ दि जाट्स ( परिशिष्ट 'सी' ), पृष्ठ ३४१
(२) ,, वही ,, पृष्ठ ४२
(३) ,, वही ,, ( परिशिष्ट 'सी' ), पृष्ठ ३४२

सं० १७४७ में राजा विशनसिंह और शाहजादा वेदारवख्त की सम्मिलित सेना ने सिनसिनी पर आक्रमण कर दिया। उस समय राजाराम के पुत्र जोरावर ने वडा कडा मुकावला किया था। राजा विशनसिंह का सेनापति हरीसिंह घायल हो गया, किंतु शाही सेना गढी को घेरे पडी रही। जाट वडी वीरतापूर्वक प्रतिरोध करते रहे, किंतु गढी के अंदर सामान की कमी पड जाने से वे वाहर निकल कर मुगल सेना से भिड गये। दोनो मे वडा भीपरण युद्ध हुआ, जिसमें सैकडो सैनिक दोनो पक्ष के मारे गये थे। मुगलो की विशाल सेना ने सिनसिनी की गढी पर अधिकार कर लिया और जोरावर को पकड कर उसे निर्दयता पूर्वक मार डाला था।

राजाराम, जोरावर और भज्जा की मृत्यु के पश्चात् जाटो का नया नेता चूडामन हुआ था। वह राजाराम का भतीजा था। वह भी मुगल सेना से वरावर टक्कर लेता रहा, किंतु औरगजेव के जीवन काल मे उसका प्रभाव नही वढ सका था। औरगजेव की मृत्यु के वाद जव उसके दोनो पुत्र राज्याधिकार के लिए आपस मे युद्ध कर रहे थे, तव चूडामन ने दोनो की सेनाओ को अच्छी तरह लूटा था। उस लूट मे उसे अपार सम्पत्ति और सैन्य सामग्री प्राप्त हुई, जिसका उपयोग उसने जाटो की शक्ति वढाने मे किया था। औरगजेव के वाद उसका ज्येष्ठ पुत्र मुअज्जम जव वहादुरशाह के नाम से मुगल सम्राट हो गया, तव उसने चूडामन से सधि कर ली और उसे मुगल दरवार मे एक मनसवदार वना दिया था। तभी से जाटो ने लूट-मार की अपेक्षा अपने अधिकृत क्षेत्र के शासन पर अधिक ध्यान दिया था।

**चूडामन द्वारा जाटो का सगठन**—चूडामन वीर योद्धा और अत्यत कुशल सेनानायक था। उसमे योग्य सगठनकर्त्ता के भी गुण थे। उसने विखरी हुई जाट जाति को एक सूत्र मे वाँध कर उसे एक सुदृढ सेना के रूप मे सगठित किया था। अपने सुरक्षित निवास के लिए उसने मथुरा के दक्षिण-पश्चिम और आगरा के पश्चिमवर्ती एक नीची दलदली और सघन वनखड मे घिरी हुई भूमि पर एक कच्चा गढ वनवाया, जो वाद मे भरतपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। सं० १७६९ मे वहादुरशाह की मृत्यु होने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र जहाँदारशाह दिल्ली के तख्त पर वैठा था। वह ऐश-आराम मे दिन विताने लगा। उस समय मुगल साम्राज्य मे सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता वढ गई थी। उस स्थिति का लाभ उठा कर चूडामन ने अपनी शक्ति को और भी सुदृढ कर लिया था। तव उसके अधिकार मे थूण और सिनसिनी के पुराने जाट गढ भी आ गये थे।

जहाँदार शाह केवल ९ महीनो तक मुगल सम्राट रहा था। उसके उपरात उसके भतीजे फर्रुखसियर ने दिल्ली के तख्त पर अधिकार कर लिया। उसने भी चूडामन की सत्ता को स्वीकार किया था। जाटो की लूट-मार से मुगल साम्राज्य को वचाने के लिए उसने दिल्ली से चवल तक के पूरे मार्ग की रक्षा का भार चूडामन को सोप दिया था। इस प्रकार वह ब्रज प्रदेश के अधिकाश भाग का विना छत्र का राजा वन गया था। उसकी मृत्यु सं० १७७८ मे हुई थी। चूडामन योग्य और प्रभावशाली जाट सरदार था, किंतु उसने ब्रज मे व्यवस्थित रूप से जाट राज्य की स्थापना का प्रयास नही किया था। वह शासन करने की अपेक्षा लूट-मार द्वारा मुगलो को परेशान करने मे ही अपनी सफलता समझता था। फिर भी उसके द्वारा जाटो का जो सगठन हुआ, उससे जाट-शासन की सुदृढ पृष्ठभूमि का निर्माण हो गया था।

चूडामन

बदनसिंह

सूरजमल

भरतपुर का किला

**बदनसिंह** ( **शासन स० १७७६-१८१२** )—राजाराम और चूडामन आदि सरदारो की सैनिक हलचलो से ब्रज मे जाट शासन की जो पृष्ठभूमि निर्मित हुई थी, उस पर व्यवस्थित रूप से जाट राज्य की स्थापना करने का श्रेय बदनसिह को है। बदनसिह चूडामन का भतीजा था, किंतु पारिवारिक कलह के कारण उसे चूडामन ने कारागार मे बद कर दिया था। उसी काल मे फर्रुख-शियर के बाद मुहम्मदशाह मुगल बादशाह हुआ था। उसने अपने साम्राज्य की अव्यवस्था को ठीक करने और शासन मे सहयोग देने के लिए आमेर के राजा जयसिंह को आगरा सूबे का राज्य-पाल नियुक्त किया था। उसके कारण समस्त ब्रजमडल भी जयसिह के प्रभाव क्षेत्र मे आ गया था। उसने इस भू-भाग मे शाति और व्यवस्था कायम करने के लिए जाटो की हलचलो पर अकुश लगाना आवश्यक समझा। फलत उसने जाटो के प्रमुख केन्द्र थूण के गढ पर आक्रमण कर दिया। चूडामन के पुत्र मोहकम ने गढ की रक्षा के लिए बडा सघर्ष किया था, किंतु उसकी पराजय हो गई। उसी काल मे बदनसिंह कारागार से भाग कर जयसिंह के पास पहुँच गया था और वह उसकी सेना के साथ मोहकम के विरुद्ध लडा था। उसके फलस्वरूप थूण की विजय के उपरात स० १७७६ मे बदनसिंह को जाटो का नया नेता मान लिया गया था।

बदनसिह वीर सेनानायक होने के साथ ही साथ व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ भी था। उसमे एक सुयोग्य शासक के सभी गुण थे। उसने थूण और सिनसिनी के पुराने गढो की ओर से ध्यान हटा कर डीग और कुम्हेर के जाट क्षेत्र पर अधिकार कर लिया और वहाँ सुदृढ दुर्गो का निर्माण कराया। वह ठाकुर कहा जाने लगा। इस प्रकार उसने स० १७७६-८० मे जाट राज्य की आधार-शिला रखी और डीग को अपनी राजधानी बनाया। उसने मुगल सम्राट मुहम्मदशाह और उसके प्रभावशाली सहायक जयसिंह से अच्छे सबध बनाये रख कर अपने राज्याधिकार को सुरक्षित रखा था। उसने स० १७७६ से स० १८१२ तक के सुदीर्घ ३३ वर्षो तक शासन किया था। अपने जीवन काल मे ही उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र सूरजमल उपनाम सुजानसिह को राज्याधिकार सौप दिया था और कनिष्ट पुत्र प्रतापसिह को वयर के नये दुर्ग सहित वहाँ की जागीर प्रदान की थी। उसने अपना अतिम जीवन ब्रज के सहार नामक स्थान मे साहित्य-चर्चा और काव्य-रचना करते हुए बिताया था।

वह एक सुयोग्य शासक होने के साथ ही साथ साहित्य और कला का प्रेमी एव प्रोत्सा-हन कर्ता था। वह कवि और कवियो का आश्रयदाता था। उसके रचे हुए कुछ स्फुट छद मिलते है, जिनमे 'बदन' अथवा 'बदनेश' की छाप है। उसने डीग और वयर मे किले बनवा कर उनमे भवन और वाटिका का निर्माण कराया था तथा सहार और कामर नामक स्थानो मे हवेलियाँ बनवाई थी। उनके अतिरिक्त वृ दावन के धीरसमीर घाट पर उसने एक मदिर भी बनवाया था। उसका देहावसान स० १८१२ की ज्येष्ठ शु० १० को हुआ था।

**सूरजमल** ( **शासन सं० १८१२-१८२०** )—ठाकुर वदनसिह के चार पुत्रो मे सूरज-मल उपनाम सुजानसिंह सबसे वडा और सबसे अधिक योग्य था। वदनसिह के अन्य पुत्रो के नाम प्रतापसिंह, शोभाराम और वीर नारायण थे। ऐसा कहा जाता है, सूरजमल वदनसिह की औरस सतान नही था, बल्कि उसका पालित पुत्र था[1], किंतु उसने अपने पिता के नाम को ही उजागर

(१) भरतपुर कवि कुसुमांजलि, पृष्ठ २१

नही किया, बल्कि ब्रज मे एक स्वतत्र हिंदू राज्य के योग्यतापूर्वक सचालन करने का गौरव भी प्राप्त किया था। उसका शासन–काल स० १८१२ से स० १८२० तक है। वैसे स० १८१२ मे कई वर्ष पहिले से अपने पिता वदनसिंह के काल मे ही वह शासन का समस्त कार्य करता रहा था।

उसके दरबारी कवि सूदन ने उसकी प्रशसा मे 'सुजान चरित्र' नामक काव्य ग्रथ की रचना की थी। इस ग्रथ मे उससे सबधित घटनाओ का, विशेष कर उनके युद्धो का, आँखो देखा वर्णन किया गया है। इसमे स० १८०२ से १८१० तक के काल मे लडे गये उनके ७ 'जगो' का बडा ओजपूर्ण कथन है। उन युद्धो मे सूदन ने भी भाग लिया था, अत उनका कथन विश्वसनीय माना जा सकता है। उक्त ग्र थ मे आमेर के सवाई राजा जयसिंह की मृत्यु के अनतर उसके ज्येष्ठ पुत्र ईश्वरीसिंह के पक्ष मे मरहठो के विरुद्ध लड़ा गया स० १८०४ का युद्ध, आगरा–अजमेर के सूबेदार सलावत खाँ के विरुद्ध लडा गया स० १८०५ का युद्ध और स० १८१० मे की गई दिल्ली की लूट के वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसा कहा जाता है, यह ग्रथ पूर्ण नही है, क्यो कि इसमे सूरजमल से सबधित १८१० के बाद की घटनाओ का उल्लेख नही हुआ है। सूदन की मृत्यु कदाचित स० १८१० के कुछ समय बाद ही हो गई थी, इसीलिए उसमे बाद की घटनाएँ नहीं लिखी जा सकी थी। इस ग्रथ मे वर्णित दिल्ली की तथाकथित लूट कई दृष्टियो से महत्वपूर्ण है, अत उसका यहाँ कुछ विस्तार से वर्णन किया जाता है।

**दिल्ली की लूट**—सल्तनत काल से मुगल काल तक के छहसौ वर्षो मे ब्रज मे जितने भी सकट आये, उन सबका कारण दिल्ली का मुसलमानी शासन था। इसलिए उसके प्रति समस्त ब्रज-मडल मे अत्यत रोष और प्रतिहिंसा की भावना जागृत हो गई थी, जो समय–समय पर यहाँ के विद्रोहो द्वारा व्यक्त हुई थी। अब तक दिल्ली शासन के अधिकारी ही अपने मजहबी तआस्सुब के कारण ब्रज मे लूट–मार किया करते थे, जिसका बदला लेना तो दूर, उससे जान बचाना भी ब्रज-वासियो के लिए कठिन हुआ करता था। किंतु सूरजमल के शासन काल मे स्थिति बदल गई थी। उस समय यहाँ के वीर पुरुष किसी आक्रमणकारी से आत्म–रक्षा करने मे ही नहीं, वरन् उन पर जवाबी हमला करने के लिए भी अपने को समर्थ समझने लगे थे। उनकी उस सामर्थ्य का प्रदर्शन सूरजमल द्वारा की गई तथाकथित 'दिल्ली की लूट' मे हुआ था। वह सूरजमल का अत्यत साहसपूर्ण सामरिक अभियान था, जिसका वर्णन उसके दरबारी कवि सूदन कृत 'सुजान चरित्र' मे हुआ है।

सूदन ने लिखा है, जाट राजा सूरजमल ने अपने विजयोन्मत्त सैनिको के दल के साथ स० १८१० के वैशाख माह मे दिल्ली की ओर प्रस्थान किया था। वह मुगल सम्राट की विशाल सेना से कई माह तक सघर्ष करता रहा और फिर उसे पराजित कर कार्तिक के महीने मे राजधानी मे प्रविष्ट हुआ था। उस समय उसने दिल्ली को लूट कर मुसलमानी शासन के विगत अत्याचारो का अपने ढग से बदला लिया था। उस लूट मे उसे जो अपार सम्पत्ति प्राप्त हुई थी, उसका काव्यात्मक कथन 'सुजान चरित्र' मे इस प्रकार हुआ है—

देस देस तजि लच्छमी, दिल्ली कियौ निवास।
अति अधर्म लखि लूट मिस, चली करन ब्रज–वास॥

अथवा—कलि के आदि क्रूर मघवा ने, ब्रज पर कोप जनायौ है।
वही अकस धरि श्री ब्रजेश-सुत, इद्रपुरहि लुटवायौ है॥

सूरजमल का दिल्ली अभियान केवल जाटो की कारगुजारी तक ही सीमित नही था, वरन् वह ब्रज के समस्त उत्साही वीरो का सामूहिक प्रयास था। उसमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जाट, गोसाईं आदि के साथ गूजर, मैना और अहीरो ने भी बडे उल्लास पूर्वक भाग लिया था। सूदन ने लिखा है—

गूजर गरूर गाढ़े गरज्जि। मैना मलूक मदमत्त धीर।
वे पीर वीर चाले अहीर॥

सूदन कवि ने दिल्ली अभियान मे सम्मिलित होने वाले जिन प्रमुख वीरो के नाम गिनाये है, उनमे अनूपसिह, सुखराम, शभू, चमूपति, कृपाराम महत, रामकृष्ण कटारा, कुशलराम कटारा, घमडीराम पुरोहित, हरनारायण, गगाराम, हरजी गूजर, दल्ला मेव, बहादुर गडरिया, लालजो गूजर, ठाकुरदास सेगर और मोहकमसिह के नाम उल्लेखनीय है। उस युद्ध मे गोसाईं राजेन्द्र गिरि और उमराव गिरि ने भी अपने नागा सैनिको के साथ भाग लिया था। दिल्ली अभियान के पश्चात् सूरजमल ने गोवर्धन मे आकर श्री गिरिराज जी की पूजा की थी और मानसी गगा पर दीपावली उत्सव मनाया था। दिल्ली से वह जो अपार सम्पत्ति लाया था, उसका उपयोग उसने विभिन्न स्थानो के निर्माण कार्यो मे किया था।

सूरजमल के उक्त साहसिक अभियान से जहाँ शताब्दियो से दबी हुई और आतकित हिदू जनता मे स्वाभिमान और वीरत्व की भावना का उदय हुआ था, वहाँ मुसलमानी शासन के कर्मचारियो की हिम्मत पश्त हुई थी। वे लोग उस अभियान को 'जाटगर्दी' कह कर अति काल तक आतकित होते रहे थे। उनको ऐसा जान पडने लगा कि उनकी पिछली ज्यादतियो के कारण ही खुदा की मर्जी से उन्हे यह सब सहना पडा है, क्यो कि अब हिदुओ का समय बदला है और तुर्कों का जमाना लद गया है। उनकी उक्त मनोदशा का वर्णन करते हुए सूदन कवि ने कहा है,—
"रब की रजा है, हमे सहना ही बजा है, वख्त हिदू का गजा है, आया और तुरकानी का।"

**मरहठो की हलचलें**—जिस समय ब्रज और उसके निकटस्थ भाग मे सूरजमल के वीरत्व का डका बज रहा था, उसी समय मरहठे पेशवाओ की सैनिक हलचलें भी इस ओर बडी तीव्र गति से होने लगी थी। उनकी अदम्य शक्ति का विस्तार दक्षिण से दिल्ली तक हो गया था, जिससे मुगल सम्राट भी भयभीत रहता था। सूरजमल की स्थिति उस समय बडी विचित्र थी। उसे अपने अधिकार की सुरक्षा के लिए राजपूतो और मुगलो के साथ ही साथ मरहठो से भी सघर्ष करना पडता था, जिससे उसकी बढी हुई शक्ति क्षीण हो रही थी। उसी काल मे अहमदशाह अब्दाली के इस देश पर आक्रमण हो रहे थे, किंतु मरहठे सरदार उधर ध्यान न देकर जाटो और राजपूतो से सघर्ष करने मे ही अपनी शक्ति का अपव्यय करते रहे। इस प्रकार मरहठो की हलचलो ने जहाँ राजपूतो और जाटो को कमजोर किया, वहाँ अहमदशाह अब्दाली को अपने आक्रमणो के विस्तार करने का भी अवसर प्रदान किया था।

**अब्दाली के आक्रमण**—अहमदशाह अब्दाली स० १८०४ मे नादिरशाह की मृत्यु के पश्चात् अफगानिस्तान का शासक हुआ था। उसने स० १८०५ से १८१५ तक के काल मे कई बार भारत पर आक्रमण किया था। वह हर बार पजाब से दिल्ली तक के किसी भाग मे लूट-मार कर वहाँ अपना अधिकार कायम करता रहा था। उसका सबसे बडा आक्रमण स० १८१४ ( जनवरी,

सन् १७५७ ) मे दिल्ली पर हुआ था। उस समय मुगल सम्राट आलमगीर ( द्वितीय ) दिल्ली के तख्त पर आसीन था। वह एक शक्तिहीन और निकम्मा शासक था। उसने अहमदशाह के आक्रमण का प्रतिरोध करने की अपेक्षा उससे अपमानपूर्ण संधि कर ली थी। संधि की शर्तों के अनुसार आलमगीर ने अपनी शाहजादी का विवाह अहमदशाह के पुत्र से कर दिया और दहेज मे उसे दिल्ली लूटने को कह दिया। अहमदशाह एक माह तक दिल्ली मे ठहर कर लूट-मार करता रहा था, जिसमे उसे कई करोड रुपये की संपदा हाथ लगी थी। उसके अतिरिक्त उसने मुगलो के हरम की खूबसूरत बेगमो और शाहजादियो को भी अपने अधिकार मे कर लिया था।

**अब्दाली द्वारा ब्रज की भीषण लूट**—अहमदशाह अब्दाली की तृष्णा दिल्ली लूटने के बाद और भी बढ गई थी। उसने दिल्ली से आगे चल कर लगे हाथ जाटो के अधिकृत क्षेत्र को भी लूटने का विचार किया। उस समय ब्रज प्रदेश के स्वामित्व के लिए जाटो और मरहठो मे वैमनस्य और विवाद चल रहा था। उसके कारण इस क्षेत्र की सुरक्षा के लिए दोनो पक्षो मे से कोई भी अपने को पूर्ण रूप से उत्तरदायी नही समझता था। उस विषम स्थिति का लाभ अहमदशाह को अनायास मिल गया। उसने पठानो की प्रबल सेना के साथ दिल्ली से कूँच कर दिया। उस समय रुहेले अफगानो का सरदार नजीबुद्दौला और मुगल बादशाह का वज़ीर इमदाद खाँ भी अपनी-अपनी सेनाओ सहित उसके साथ थे।

दिल्ली से कूँच करने के बाद अब्दाली की उस विशाल सेना की पहिली मुठभेड जाटो के साथ बल्लभगढ मे हुई थी। वहाँ सूरजमल के ज्येष्ठ पुत्र जवाहरसिंह के नेतृत्व मे जाट सेना की एक छोटी टुकडी थी। उन थोडे से जवानो ने दो दिन तक बडी वीरता पूर्वक गढ की रक्षा की, किंतु अंत मे उन्हे मुसलमानो की बहु संख्यक सेना से पराजित होना पडा था। आक्रमणकारियो ने बल्लभगढ और उसके निकटवर्ती इलाके को अच्छी तरह लूटा और वहाँ व्यापक जन-संहार किया था। उसके बाद अहमदशाह ने अपने दो सरदारो के नेतृत्व मे २० हजार पठान सैनिको को मथुरा नगर के लूटने के लिए आगे बढा दिया। उसने उन्हे आदेश दिया था,—"मथुरा नगर हिंदुओ का पवित्र स्थान है। उसे पूरी तरह नेस्तनाबूद कर दो। आगरा तक एक भी इमारत खडी न दिखाई पडे। जहाँ कही पहुँचो, कत्ले-आम करो और लूटो। लूट मे जिसको जो मिलेगा, वह उसी का होगा। सिपाही लोग काफिरो के सिर काट कर लावे और प्रधान सरदार के खेमे के सामने डालते जाँय। सरकारी खजाने से प्रत्येक सिर के लिए पाँच रुपया इनाम दिया जायगा[१]।"

अब्दाली की आज्ञानुसार अफगानी सेना जिहाद का झंडा उठाती हुई मथुरा की ओर चल पडी। मार्ग मे मथुरा से ८ मील पहले चौमुहाँ नामक स्थान पर जाट सेना की एक दूसरी छोटी टुकडी के साथ उसका मुकाबला हुआ। जाटो ने वहाँ भी बडी वीरता पूर्वक लोहा लिया, किंतु शत्रुओ की बहुसंख्यक सेना से उन्हे पराजित होना पडा। उसके बाद विजयोन्मत्त पठानो ने मथुरा के अरक्षित नगर मे प्रवेश किया। वे लोग वर्तमान भरतपुर दरवाजा और महोली की पौर के मार्गो से नगर मे घुस कर सर्वत्र मार-काट और लूट-खसोट करने लगे। "उस समय फाल्गुन का मास था। होली का हर्षवर्धक त्यौहार अति समीप था। आबाल-वृद्ध नर-नारी नाँच-गान,

(१) ब्रज का इतिहास, ( प्रथम भाग ) पृष्ठ १८७ तथा हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ ९९

आमोद-प्रमोद में मग्न हो रहे थे। माथुरों के मुहल्लों में बड़ी चहल-पहल थी। कुछ लोग गलियों में, सड़क पर ढोल-ढप के साथ नाचें उड़ा रहे थे। स्त्रियाँ छत व छज्जों पर बैठी हुई उनका नाच-रंग को देख कर प्रसन्न हो रही थीं। सभी अपने-अपने राग में मस्त थे तब क्रूर सेना माथुरों के मेले में अकस्मात आ धमकी और लगी अपनी पैशाचिक प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करने। तीन दिवस तक निरंतर नर हत्याओं का वीभत्स व्यापार चलता रहा। दिन भर लूट-मार होती थी, रात्रि को घरों में आग लगाई जाती थी .. सर्वत्र गली सड़क चौराहों पर, मकानों के ऊपर-नीचे नर-मुंडों के ढेर लग गये। रंग की होली के स्थान पर खून की होली मनाई गई[1]।"

"भरतपुर दरवाजे के समीप सीतला घाटी की एक गली में मथुरा देवी के मंदिर के अंदर एक गुफा थी। पास का जन समूह उस गुफा को सुरक्षित समझ कर उसी में जा घुसा। सैनिकों को उसका भी पता लग गया। सब लोग वहीं भस्मीभूत करके गोलोक पठा दिये गये। ...उस जन संहार में चुटौआ और जौनमाने अल्ल वाले माथुरों का बहुत वध हुआ था। उनके वंशज अब तक फाल्गुन शुक्ला ११, १२, १३ को उनकी स्मृति में श्राद्ध करते हैं[2]।" मथुरा के छत्ता बाजार की नागर गली के सिरे पर बड़े चौबों का पुराना मकान है। उसमें उस समय अनेक नर-नारी और बाल-बच्चे एकत्र थे। यवनों ने उन सबको मार डाला और मकान को तोड़ कर उसमें आग लगा दी। उस भग्न भवन का एक भाग लाल पत्थर के कलात्मक बुर्ज के रूप में अभी तक विद्यमान है, जो अब्दाली के अफगान सैनिकों की क्रूरता पर आँसू बहा रहा है। इस प्रकार अब्दाली के सैनिकों ने उस वर्ष मथुरा में खून की होली खेली और नगर के अधिकांश भाग को एक विशाल होली की तरह जला डाला था। "एक प्रत्यक्षदर्शी मुसलमान ने लिखा है—"गलियों और बाजारों में सर्वत्र हलाल किये हुए लोगों के धड़ पड़े हुए थे और सारा शहर जल रहा था। कितनी ही इमारतें धराशायी कर दी गई थीं। यमुना नदी का पानी नर-संहार के बाद सात दिनों तक लगातार लाल रंग का बहने लगा। नदी के किनारे पर वैरागियों और संन्यासियों की बहुत सी झोंपड़ियाँ थीं। उनमें से हर झोंपड़ी में साधु के सिर के मुँह में लगा कर रखा हुआ गाय का कटा सिर दिखाई पड़ता था[3]।"

हो गया था। एक प्रत्यक्षदर्शी मुसलमान ने लिखा है,—"वृंदावन में जिधर नजर जाती, मुर्दों के ढेर के ढेर दिखाई पड़ते थे। सड़कों से निकलना तक मुश्किल हो गया था। लाशों से ऐसी दुर्गंध आती थी कि साँस लेना भी दूभर हो गया था[१]।"

जिस काल में वृंदावन पर अब्दाली के सैनिकों ने आक्रमण किया था, उस समय ब्रज के भक्त-कवि चाचा वृंदावनदास विद्यमान थे। वे किसी प्रकार बच कर वृंदावन से भरतपुर चले गये थे। उन्होंने जाट राजा सूरजमल के उस नवीन दुर्ग में ही अपनी एक काव्य कृति 'हरि कला वेली' की रचना की थी। उसमें वृंदावन पर यवनों के आक्रमण और उसमें हुई भीषण क्षति का मर्मस्पर्शी कथन किया है। उन्होंने उसका आरंभ करते हुए लिखा है—"अठारह सौ तेरह बरस, हरि ऐसी करी। जमन बिगोयौ देस, बिपति गाढ़ी परी॥" उक्त रचना में तीन कलाएँ (खंड) हैं। प्रथम कला में उन्होंने औरंगजेब के समय में हुए वृंदावन के आक्रमण का उल्लेख किया है, जिसमें राधावल्लभ जी के मंदिर सहित अनेक प्रसिद्ध मंदिर-देवालय नष्ट-भ्रष्ट किये गये थे। दूसरी कला में अब्दाली के आक्रमण का वर्णन है। उसमें बतलाया गया है कि उस समय वृंदावन में जो वैष्णव भक्त मारे गये थे, उनमें कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—गो० मुकुंदलाल (चाचा वृंदावनदास के गुरु गो० रूपलाल के बड़े भाई), बाबा प्रेमदास (हितचतुरासी के सुप्रसिद्ध टीकाकार), कृष्णदास भावक, जादौदास (मीराबाई के शिष्य), घनानंद (शाह आलम के मीर मुंशी), जुगलदास (अवधूत साधु), पुजारी कृष्णदास और भगवानदास आदि[२]। उक्त उल्लेख से सिद्ध होता है कि ब्रजभाषा के विख्यात कवि घनानंद जी अब्दाली के उक्त आक्रमण में मारे गये थे, न कि नादिरशाह के आक्रमण में, जैसा कुछ विद्वानों ने लिखा है[3]। नादिरशाह का आक्रमण अधिकतर दिल्ली तक ही सीमित रहा था, जैसा पहिले लिखा जा चुका है।

अफगान सैनिकों द्वारा मथुरा-वृंदावन में लूट-मार और बर्बादी किये जाने के तत्काल पश्चात् अहमदशाह अब्दाली स्वयं भी अपनी शेष सेना के साथ मथुरा आ पहुँचा था। उसका लक्ष्य अब ब्रज के तीसरे प्रमुख केन्द्र गोकुल में लूट-मार कर वहाँ से आगरा जाना था। उसने मथुरा से यमुना नदी पार कर पहिले महावन को लूटा और फिर वह गोकुल की ओर बढ़ा। वहाँ पर सशस्त्र नागा साधुओं के एक बड़े दल ने यवन सेना का जम कर सामना किया था। उसी समय अब्दाली की फौज में हैजा फैल गया, जिससे अफगान सैनिक बड़ी संख्या में मरने लगे। उसके कारण अब्दाली वहाँ से वापिस लौट गया। इस प्रकार नागाओं की अद्भुत वीरता और आकस्मिक दैवी सहायता से गोकुल उसकी क्रूरता का शिकार होने से बच गया था। ऐसा उल्लेख मिलता है, गोकुल-महावन से लौटते समय अब्दाली ने फिर वृंदावन को लूटा था। मथुरा-वृंदावन की लूट में ही अब्दाली को "लगभग १२ करोड़ रुपये की धन-राशि प्राप्त हुई, जिसे वह तीस हजार घोड़ों, खच्चरों और ऊँटों पर लाद कर ले गया। उसके अतिरिक्त वह कितनी ही स्त्रियों को भी वहाँ से अफगानिस्तान ले गया था[४]।"

---

(१) ब्रज का इतिहास (प्रथम भाग), पृष्ठ १८८

(२) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ ५१८

(३) ब्रज का इतिहास (प्रथम भाग), पृष्ठ १८१ (४) वही, पृष्ठ १८६

अहमदशाह अब्दाली के उस आक्रमण का उल्लेख उस काल की मराठी पुस्तिका 'भाऊ साहब ची बखर' मे भी मिलता है। उसका लेखक इद्रप्रस्थ प्रवासी कृष्णाजी श्यामराव नामक एक मरहठा विद्वान था। उसके विवरण की अधिकाश बाते प्रामाणिक है, किन्तु उसमे कुछ भ्रमात्मक उल्लेख भी हो गया है। उदाहरणार्थ उसका यह कथन ठीक नही है,—"जब अब्दाली ने मथुरा पर आक्रमण किया था, तब २००० वैरागियो ने वृदावन मे उसके विरुद्ध शस्त्र धारण किया और वे युद्ध करते हुए वीर गति को प्राप्त हुए थे। अब्दाली ने गोकुल मे निवास करने वाले अनेक धार्मिक वैरागियो का भी कत्ले-आम किया था। ( पृष्ठ ३२ )।" वास्तव मे वैरागियो ने गोकुल मे सघर्ष किया था और भक्तजनो का कत्ले-आम वृदावन मे हुआ था। इसका उल्लेख तत्कालीन फारसी ग्रथो के अतिरिक्त उस समय लिखे गये पत्रो मे भी मिलता है[१]।

अब्दाली की सेना व्रज के धार्मिक स्थलो को लूटती और वर्बाद करती हुई तथा मार्ग मे धूँआधार मचाती हुई आगरा गई। उसने वहाँ के किले पर आक्रमण कर उसे लूटा और नगर मे मार-काट की। उसी समय वहाँ भी उसकी सेना मे हैजा फैल गया था, जिसके कारण उसे शीघ्र ही वापिस लौटना पडा। उसके बाद वह अपार धन-दौलत तथा लूट की प्रचुर सामग्री के साथ अपने देश अफगानिस्तान को चला गया। मुसलमान लेखको ने लिखा है—"अब्दाली द्वारा ऐसा भारी विध्वस किया गया था कि आगरा-दिल्ली सडक पर झोपडी भी ऐसी नही बची थी, जिसमे एक आदमी भी जीवित रहा हो। अब्दाली की सेना के आवागमन के मार्ग मे सभी स्थान ऐसे वर्बाद हुए कि वहाँ दो सेर अन्न या चारा तक मिलना कठिन हो गया था[२]।"

**व्रज की लूट के पश्चात्**—अब्दाली की वह भीषण लूट-मार स० १८१३-१४ मे हुई थी। दुर्भाग्य की बात यह है कि जाट-मरहठा विवाद के कारण किसी ने कही भी लुटेरो का जम कर प्रतिरोध नही किया और वे एक ही झपाटे मे दिल्ली से आगरा तक के समृद्धिशाली भू-भाग को चौपट कर गये। औरगजेब के क्रूर प्रहार से सिसकता हुआ व्रज प्रदेश तो ऐसा मरणासन्न हुआ कि फिर वह उठ ही नही सका! उस काल के प्रवल मरहठा सरदार कन्नी काट गये और सूरजमल अपने गढ मे आँख छिपा कर पडा रहा! अहमदशाह अब्दाली ने उसके बाद भी कई बार आक्रमण किये, जिनमे उसे सदैव सफलता मिलती रही थी। ऐसा मालूम होता है, अब्दाली के उन सफल अभियानो ने मरहठा और जाट दोनो की आँखे खोल दी थी और उसके दुष्परिणाम से शिक्षा लेकर उन्होने आपस मे सधि कर ली थी। किंतु उसके लिए बहुत विलब हो चुका था, जिसका कुफल इस देश को पानीपत के मैदान मे भोगना पडा!

**पानीपत का युद्ध**—स० १८१८ मे पानीपत का वह इतिहास-प्रसिद्ध महायुद्ध हुआ, जिसमे राजपूत-जाट-मरहठा जैसी प्रवल हिंदू शक्तियो के होते हुए भी इस देश को विदेशियो से पराजित होना पडा था। उसका कारण हिंदुओ की आपसी फूट थी। छत्रपति शिवाजी ने 'हिंदू पातशाही' के महान् उद्देश्य को लेकर मरहठा राज्य की स्थापना की थी, किंतु उसके उत्तराधिकारी पेशवाओ ने अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति और स्वार्थपूर्ण नीति के कारण उस उद्देश्य को भुला दिया

(१) हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ ३५४

(२) फाल आफ दि मुगल एम्पायर ( यदुनाथ सरकार ), पृष्ठ १२०-१२४

था। उन्होने अपनी प्रवल शक्ति का उपयोग विदेशी शासन से भी अधिक राजपूतो और जाटो को दवाने मे किया था। उसके कारण उस काल की तीनो हिंदू शक्तियो मे वडा वैमनस्य था, जिसका लाभ अहमदशाह अव्दाली और रुहेले सरदारो ने उठाया था। अहमदशाह अव्दाली के वर्वर आक्रमणो से शिक्षा लेकर मरहठो ने जाटो से सधि कर ली थी, किंतु वे राजपूतो से सुलह-सफाई करने मे सफल नही हुए थे। फिर भी वे अपने वल पर ही अव्दाली के आतक को सदा के लिए समाप्त करने के लिए दृढ सकल्प थे।

उस युद्ध से पहिले मरहठा सरदारो ने जाट और राजपूत राजाओ का सहयोग प्राप्त करने के लिए उन्हे आमन्त्रित किया था। उनके जवाव मे सूरजमल अपनी जाट सेना के साथ मरहठा शिविर मे पहुँच गया, किंतु राजपूत राजाओ ने साफ इकार कर दिया था। मरहठा और जाट सेनाएँ मरहठा सरदार सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व मे पानीपत के मैदान मे एकत्र हो गई और वे अहमदशाह अव्दाली से मोर्चा लेने की तैयारी करने लगी। उसी समय रण-नीति के सवध मे सूरजमल और भाऊ मे मतभेद हो गया। भाऊ ने सूरजमल की उचित मत्रणा की ही उपेक्षा नही की, वरन् उसके साथ अपमानपूर्ण वार्ता भी की थी। उससे रुष्ट होकर सूरजमल अपनी समस्त सेना के साथ रण के मैदान से वापिस चला गया। मरहठा सरदार को अपनी शक्ति पर इतना भरोसा था कि उसने जाटो के चले जाने की कतई परवा नही की थी।

जव युद्ध आरभ हुआ, तव एक ओर अव्दाली के अफगान सैनिक और भारत के मुसलमान रुहेले थे, जिनकी सख्या ६२ हजार थी। दूसरी ओर अकेले मरहठा जवान थे, जिनकी सख्या ४५ हजार थी। दोनो ओर की सेनाओ मे वडा भीषण सघर्ष हुआ था। उसमे मरहठाओ ने वडी वीरता दिखलाई थी, किंतु सैन्य सख्या की कमी और प्रवध की शिथिलता के कारण उनकी पराजय हो गई। उस महायुद्ध मे मरहठा सैनिक वहुत वडी सख्या मे हताहत हुए थे। उनकी ऐसी भीषण हानि हुई थी कि 'हिंदू पातशाही' का उनका स्वप्न सदा के लिए समाप्त हो गया। यदि मरहठा अपनी वीरता के मद मे मत्त न होकर सभी हिंदू शक्तियो का सहयोग प्राप्त करते अथवा कम से कम सदाशिवराव भाऊ जाट राजा सूरजमल उपनाम सुजानसिंह की सम्मति को अस्वीकार कर जाटो को असतुष्ट न करता, तव भी उस युद्ध का परिणाम निश्चय ही दूसरा होता। किंतु देश के दुर्भाग्य से वैसा नही हो सका था। भरतपुर के 'मथुरेश' कवि ने उस स्थिति पर खेद प्रकट करते हुए ठीक ही कहा है—"नाँच उठी भारत की भावी सदाशिव शीश, खोवी हुई बुद्धि, उस जनरल महान् की। होती न हीन दशा हिंदी-हिंद-हिंदुओ की, मानता जो भाऊ, कही सम्मति सुजान की॥" पानीपत के युद्ध मे पराजित होकर जो मरहठा सैनिक थके-मादे और घायल अवस्था मे जाटो के इलाके मे होकर वापिस लौटे थे, उनके खान-पान, उनकी सेवा-शुश्रुषा और दवा-दारू की यथोचित व्यवस्था सूरजमल की ओर से कर दी गई थी।

**जाटो की शक्ति का विस्तार**—पानीपत के रणक्षेत्र में अफगानी पठानो और उनके साथी रुहेलो की विजय अवश्य हुई थी, किंतु उन्हे हानि भी पराजित मरहठो से कम नही उठानी पड़ी थी। अहमदशाह अव्दाली अपनी थकी हुई पठान सेना को विश्राम देने के लिए अफगानिस्तान लौट गया था, जहाँ से उसके जल्दी वापिस आने की सभावना नही थी। रुहेले इतने क्षतिग्रस्त हुए थे कि वे भी शीघ्र ही कोई प्रभावशाली कदम उठाने मे असमर्थ थे। पराजित मरहठो की तो

उस युद्ध मे मानो कमर ही टूट गई थी। यद्यपि वे अपनी अनुपम कर्मठता से युद्ध की क्षति को शीघ्र ही पूरी कर पुन बलशाली हो गये थे, तथापि निजाम आदि दक्षिणी शक्तियो का दमन करने मे व्यस्त हो जाने के कारण वे कुछ समय तक उत्तर की ओर मुँह उठाने की स्थिति मे नही थे। वह परिस्थिति सूरजमल जैसे कुशल राजनीतिज्ञ को अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए बडी अनुकूल ज्ञात हुई थी। फिर पानीपत से बिना लडे ही वापिस आने के कारण उसकी शक्ति पहले ही अक्षुण्ण थी।

सूरजमल ने उस अवसर का लाभ उठा कर यमुना से चंबल तक के विस्तृत जाट क्षेत्र मे से मुस्लिम प्रभाव को पूरी तरह समाप्त करने का आयोजन किया। उसने सब से पहिले मुगलो की पुरानी राजधानी और उनके साम्राज्य के दूसरे बडे नगर आगरा को अच्छी तरह लूटा और फिर उस पर अधिकार कर उसे अपने राज्य मे मिला लिया। उसके बाद उसकी दृष्टि हरियाना के उस धन-धान्य पूर्ण इलाके पर गई, जो जाटो की अधिक आबादी का होते हुए भी शक्तिशाली मुसलमान जागीरदारो के अधिकार मे था। उसने वहाँ के बलूची शासक मुसब्बीखाँ पर आक्रमण कर उसे पराजित किया और उसे कैद कर भरतपुर भेज दिया। उसकी राजधानी फर्रुखनगर को उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र जवाहरसिंह को सोप कर उस मेवाती क्षेत्र का उसे स्वामी बना दिया था। इस प्रकार आगरा से लेकर दिल्ली के निकटवर्ती भू-भाग तक मे सूरजमल की तूती बोलने लगी। अब उसे अपने अधिकृत क्षेत्र की प्रभु-सत्ता को दिल्ली के मुगल सम्राट द्वारा स्वीकृत कराना शेष था। उसके लिए सूरजमल ने तत्कालीन सम्राट शाहआलम से माँग की कि वह दिल्ली के समीपस्थ उस इलाके के राजस्व और फौजदारी सबधी समस्त अधिकार उसे प्रदान कर दे। उस काल के शक्तिहीन मुगल सम्राट का सरक्षक उसका शक्तिशाली रुहेला वजीर नजीबुद्दोला था, जिसे अहमद-शाह अब्दाली का भी समर्थन प्राप्त था। वह जाटो का कट्टर वैरी था। उसने मुगल सम्राट की ओर से जाट राजा की उस माँग को ठुकरा दिया था।

सूरजमल ने शक्ति द्वारा अपने अधिकार को स्वीकृत कराने के उद्देश्य से अपनी सेना को दिल्ली की ओर कूँच करने का आदेश दिया। रुहेला वजीर भी सतर्कता पूर्वक जाटो का सामना करने की तैयारी करने लगा। उसने जाटो के उस अभियान का समाचार अहमदशाह अब्दाली और अन्य रुहेले सरदारो के पास भेज कर उन्हे शीघ्र ही उसकी सहायतार्थ दिल्ली आने का निमत्रण भेजा। फिर उसने राजधानी के चारो ओर के फाटक बद करा कर उसकी समुचित रक्षा के लिए समस्त शाही सेना को तैनात कर दिया। जाट सेना ने दिल्ली के निकट पहुँच कर उसे चारो ओर से घेर लिया और वह शाही सेना से मुठभेड करने की प्रतीक्षा करने लगी।

**सूरजमल का अतिम युद्ध और उसकी मृत्यु**—रुहेला वजीर उस युद्ध को अब्दाली की सेना के आने तक टालना चाहता था, किंतु सूरजमल उसे वह समय देने को तैयार न था। उस समय जाटो की सेना का मुख्य भाग दिल्ली के निकट यमुना और हिंडन नदियो के दोआब मे एकत्र था और शाही सेना अधिकतर दिल्ली नगर की चारदीवारी के अंदर थी। सूरजमल की सेना की एक टुकडी ने दिल्ली पर गोलाबारी आरभ कर दी। उसका जवाब देने के लिए शाही सेना को भी बाहर आकर मोर्चा जमाना पडा, किंतु वह जाटो की विकट मार के कारण पीछे हटने को बाध्य हो गई। उसी समय सूरजमल ने केवल ३० घुडसवारो के साथ शत्रुओ की सेना में घुस कर उसे

पराजित करने की दुस्साहसपूर्ण मूर्खता कर डाली, जिसके कारण उस अद्वितीय वीर पुरुष को व्यर्थ मे ही अपनी जान गँवानी पडी थी ।

सूरजमल की मृत्यु ऐसे अचानक और अप्रत्याशित ढग से हुई थी कि उसका यथार्थ कारण किसी को भी ज्ञात नही हो सका । इसीलिए उसके सबध मे कई प्रकार के विरोधी विवरण मिलते है । एक विवरण के अनुसार सूरजमल अपने कुछ घुडसवारो के साथ युद्ध स्थल का निरीक्षण कर रहा था कि अचानक ही वह शत्रु सेना मे घिर गया । उसने अपने मुट्ठी भर सैनिको के साथ शत्रुओ की वडी सेना का सामना किया, किंतु वह वीरता पूर्वक युद्ध करता हुआ मारा गया[1]। अन्य विवरणो के अनुसार वह शत्रु क्षेत्र मे अकेला आखेट कर रहा था, अथवा कुछ साथियो के साथ निश्चित होकर चौपड खेल रहा था कि उसी समय उसे रुहेलो की एक सेना ने घेर कर मार डाला था । उसकी मृत्यु का समाचार दो दिन वाद सवको मिल सका था[2] ।

ब्रज के उस महान् वीर पुरुष की शोचनीय मृत्यु स० १८२० ( रविवार, २५ दिसवर, सन् १७६३ ) मे हुई थी । उस समय उसकी आयु ५५ वर्ष की थी । उसके देहावसान के वाद की स्थिति के उल्लेख ( सियार, ४–३२ ) मे कहा गया है,—"जाट सेना का अनुशासन ऐसा प्रशसनीय था कि सूरजमल की मृत्यु का समाचार मिलने पर भी जाट सैनिक तनिक भी विचलित नही हुए थे । वे सब अपने मोर्चो पर ऐसे जमे रहे, मानो कुछ हुआ ही नही था, जव कि मुसलमानी सेना भविष्यत् सकट की आशका से भयभीत होकर भाग खडी हुई थी और अपने शिविरो मे जा कर छिप गई थी । उसके वाद जाट सेना ने विजयी की भाँति रणक्षेत्र से प्रस्थान किया था[3]।" रुहेला वजीर नजीवुद्दोला सूरजमल की मृत्यु के वाद काफी दिनो तक वडा सतर्क रहा था, क्यो कि वह उस कहावत से परिचित था,—"जाट मरा तव जानिये, जव चालीसा होय ।" सूरजमल की समाधि गोवर्धन के निकट कुसुम सरोवर पर वनी हुई है । उसके पुत्र जवाहरसिंह ने उसकी स्मृति मे वहाँ एक कलापूर्ण छतरी वनवाई थी, जो ब्रज की वास्तु कला का अनुपम उदाहरण है ।

**सूरजमल का महत्व और मूल्याकन**—ब्रज के जाट राजाओ मे सूरजमल सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक, कुशल सेनानी और सफल राजनीतिज्ञ था । उसने जाटो मे सवसे पहिले 'राजा' की पदवी धारण की थी और एक शक्तिशाली हिंदू राज्य का सचालन किया था । उसका राज्य काफी विस्तृत था, जिसमे डीग–भरतपुर के अतिरिक्त मथुरा, आगरा, धौलपुर, हाथरस, अलीगढ, एटा, मैनपुरी, गुडगाँवा, रोहतक, रेवाडी, फर्रुखनगर और मेरठ के जिले थे । इस प्रकार यमुना से एक ओर गगा तक और दूसरी ओर चबल तक का सारा प्रदेश उसके राज्य मे सम्मिलित था । दिल्ली के निकटवर्ती वल्लभगढ से लेकर ग्वालियर के समीपवर्ती गोहद तक का 'जटवाडा' क्षेत्र उसके प्रभाव मे था । 'जटवाडा' नाम उस समय के मरहठा राज्य के दरवारी कागज–पत्रो मे मिलता है । सूरजमल की सेना भी अत्यत विशाल थी । "उसमे ६० हाथी, ५०० घोडे, १५०० अश्वारोही, २५००० पैदल तथा ३०० तोपे थी । अपनी मृत्यु के समय उसने लगभग दस करोड रुपया राजकोश मे छोडा था[4] ।"

---

(१) हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ १५५
(२) वही ,, , पृष्ठ १५७
(३) वही ,, , पृष्ठ १५२ (४) ब्रज भारती, वर्ष १३ अक २

वह लबे कद, पुष्ट शरीर और श्याम वर्ण का बडा रौबीला राजा था। यद्यपि वह पढा-लिखा नही था, तथापि साहित्य और कला का अत्यत प्रेमी था। उसके दरबार मे अनेक कवियो को आश्रय प्राप्त हुआ था, जिसमे सूदन कवि का नाम अधिक प्रसिद्ध है। उसने डीग और कुम्हेर के दुर्गो को सुदृढ किया था और भरतपुर के कच्चे किले को पक्का कर उसे सैनिक दृष्टि से एक अजय दुर्ग बना दिया था, जहाँ कालातर मे उसने अपनी राजधानी भी कायम की थी। उसके निर्माण कार्यो मे उक्त दुर्गो के अतिरिक्त कई सु दर महल भी है, जिनमे डीग के 'भवन' अपनी कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। उसकी रानी किशोरी ने गोवर्धन मे मानसी गगा के तट पर एक महल और श्री किशोरीश्याम का मदिर बनवाया था तथा वृ दावन मे यमुना के किनारे 'कु ज' और किशोरीघाट का निर्माण कराया था। उसके पुरोहित रूपराम कटारा ने ब्रज के बरसाना नामक धार्मिक स्थल मे कई मदिर, भवन, बाग और छतरियो के अतिरिक्त लाडिली जी के पुराने मदिर की सीढियाँ और वहाँ के बाजार का निर्माण कराया था। उक्त निर्माण कार्यो से बरसाना उस काल मे एक सु दर कस्बा बन गया था।

सूरजमल की कई रानियाँ थी, जिनमे हसा रानी का नाम अधिक प्रसिद्ध है। वह होडल के प्रभावशाली जाट सरदार काशी चौधरी की पुत्री और बडी सूझ--बूझ की प्रतिभाशालिनी महिला थी। उसने अपने पति के महत्वपूर्ण कार्यो मे उचित मत्रणा देकर एक सुयोग्य सहचरी की समुचित भूमिका प्रस्तुत की थी। मथुरा नगर के सामने यमुना पार का एक घाट, गज और बाग उसी के नाम पर क्रमश हसिया घाट, हसगज और हसिया रानी का बाग कहलाते थे। वे सभी अब भग्नावस्था मे पडे है। जब तक मथुरा-वृ दावन मार्ग पर स्थित कृष्णगगा का पुल और वहाँ की पक्की सडक नही बनी थी, तब तक मथुरा से वृ दावन का मार्ग हसगज होकर जाता था। उसके कारण वह स्थान एक मडी के रूप मे प्रसिद्ध था। मथुरा-वृ दावन की नई सडक बन जाने पर हसगज उजड गया। उसके निकट का बडा बाग अब से कुछ समय पूर्व तक विद्यमान था, किंतु यमुना नदी की पिछली बडी बाढ मे वह नष्ट हो गया था। हसगज मे दो पक्के बुर्ज भी बने हुए थे, जो यमुना नदी को मथुरा के घाटो पर प्रवाहित कराने मे सहायक थे। उक्त बाढ ने उन्हे भी नष्ट कर दिया था, जिससे यमुना नदी द्वारा मथुरा के घाटो को छोडने की सदैव आशका बनी रहती है।

सूरजमल के पाँच पुत्र थे, जिनके नाम क्रमश जवाहरसिंह, रतनसिंह, नवलसिंह, रणजीतसिंह और नाहरसिंह थे। उनमे जवाहरसिंह सबसे बडा और अत्यत वीर था। सूरजमल की किशोरी रानी के कोई पुत्र नही हुआ था, अत उसने जवाहरसिंह को गोद ले लिया था। वह बडे उद्धत स्वभाव का युवक था, अत अपने माता-पिता का प्रीति-भाजन नही हो सका था, किंतु सूरजमल की आकस्मिक मृत्यु होने के उपरात वही अपनी शूरवीरता और निर्भयता के कारण जाटो का राजा हुआ था।

**जवाहरसिंह**—( शासन स० १८२०-१८२५ ) वह जाटो के यशस्वी राजा सूरजमल का प्रतापी पुत्र था। यद्यपि वह अपने बाप-दादा के समान ही वीर और साहसी था, तथापि वह नीति-निपुण और विनम्र नहीं था। उसके उद्धत स्वभाव और उग्र व्यवहार से प्रमुख जाट सरदार उससे असतुष्ट थे, यहाँ तक कि उसका पिता सूरजमल भी उससे अप्रसन्न रहता था। एक बार जवाहरसिंह ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर डीग पर आधिपत्य करने का उपक्रम किया था।

उस समय सूरजमल को बाध्य होकर उनके विरुद्ध कार्यवाही करनी पडी थी। उस गृह युद्ध मे जवाहरसिंह घायल और लगडा हो गया था। उसके बाद वह अपने माता–पिता से अलग होकर हरियाना के फर्रुखनगर मे रहने लगा था। सूरजमल ने उसके स्थान पर अपने छोटे पुत्र नाहरसिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाने का निश्चय किया था।

जिस समय दिल्ली अभियान मे सूरजमल की अचानक मृत्यु हुई थी, उस समय जवाहरसिंह फर्रुखनगर मे था। बलराम, मोहनदास आदि प्रमुख जाट सरदार सूरजमल की इच्छानुसार नाहरसिंह को जाटो की राजगद्दी पर बैठाने का आयोजन करने लगे। उस समाचार को सुन कर जवाहरसिंह ने उनके पास सदेशा भेजा कि राजगद्दी का आयोजन करने से पहिले हत्यारे रुहेलो से स्वर्गीय राजा की मृत्यु का बदला लेना चाहिए, जिसकी व्यवस्था के लिए वह स्वय डीग आ रहा है। जाट सरदारो ने राजगद्दी का आयोजन रोक दिया और वे रुहेलो से युद्ध करने की तैयारी करने लगे। इस प्रकार हवा का रुख बदल जाने से नाहरसिंह हताश हो गया। वह स्वभावत ही डरपोक और कायर था, अत युद्ध स्थल मे जाने की बजाय वह रातो–रात अपने परिवार और धन–सपत्ति के साथ धौलपुर चला गया। वह इलाका सूरजमल के समय से ही उसकी निजी जागीर मे था।

जवाहरसिंह ने डीग आकर राजा रहित राजधानी पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार अनायास राज–सत्ता उसके हाथ मे जाते देख कर जाट सरदारो को बडी बेचैनी होने लगी। वे युद्ध अभियान मे सहयोग देने की अपेक्षा जवाहरसिंह से असहयोग करते हुए डीग से खिसकने लगे। पुराने जाट सरदारो मे सबसे प्रभावशाली बलराम जाट था, जो हसिया रानी का भाई होने के साथ ही साथ सूरजमल की घुडसवार सेना का सेनापति और भरतपुर का राज्यपाल था। उस काल मे राजकोश भी भरतपुर के सुरक्षित दुर्ग मे उसी के अधिकार मे रखा गया था। उसने भरतपुर आकर किले के दरवाजे बद करा दिये और राजकोश मे से धन देना अस्वीकार कर दिया[1]। दूसरा प्रभावशाली सरदार मोहनदास था, जो तोपखाने का सेनापति था। वह भी जवाहरसिंह के साहस को तोडने वाली बाते करने लगा। प्रमुख जाट सरदारो के विरोध करने पर भी जवाहरसिंह अपने पक्ष को सुदृढ करने मे लग गया। उसने दिल्ली–अभियान के लिए जाटो की एक शक्तिशाली सेना भी सगठित कर ली थी। उसके अतिरिक्त उसने मरहठो और सिक्खो की सेनाएँ भी भाडे पर प्राप्त करने का प्रबध किया था। अब उसे युद्ध–व्यय के लिए केवल धन की आवश्यकता थी, जिसका प्रबध करने की वह चेष्टा करने लगा।

एक दिन जवाहरसिंह डीग के राजमहलो मे अपनी माता को प्रणाम करने के लिए गया था। उस समय उसके सिर पर शानदार पगडी बँधी हुई थी। उस पगडी को देख कर राजमाता ने रोते हुए कहा—"बेटा, तेरे बाप की पगड़ी तो दिल्ली मे पड़ी हुई मुगलो की ठोकर खा रही है, और तू यह शानदार पगड़ी बाँधे हुए है! इसकी शोभा तो तब रहेगी, जब तू अपने बाप की मृत्यु का बदला दिल्ली के शासको से चुका लेगा[2]।" माता के उन मार्मिक वचनो को सुनते ही

---

(१) हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ १७२–१७३

(२) पड़ी बाप की पगड़ी दिल्ली, रही मुगल की ठोकर खाय।
दिल्ली सर कर इन हाथन तें, छत्रिन की लेउ लाज बचाय॥

जवाहरसिंह का खून खौलने लगा। उसने माता के चरण छू कर प्रतिज्ञा की, कि वह शीघ्र ही उस अपमान का बदला लेने के लिए दिल्ली प्रस्थान कर देगा। बस, केवल कुछ धन का प्रबध करना बाकी है। कहते है, राजमाता ने अपने निजी कोश से उस युद्ध अभियान के लिए आवश्यक धन की पूरी व्यवस्था कर दी थी[1]।

**दिल्ली अभियान**—स० १८२१ (अक्टूबर, सन् १७६४) मे जवाहरसिंह ने विशाल और सुसज्जित सेना के साथ दिल्ली की ओर कूँच कर दिया। उसके साथ ६० हजार जवान और १०० तोपे जाट सेना की थी, २५ हजार मरहठो की सेना मल्हारराव होल्कर के कमान मे थी, और १५ हजार सिक्ख सेना थी[2]। जवाहरसिंह का उद्देश्य दिल्ली के नवाब वजीर नजीबुद्दोला रुहेले से सूरजमल के खून का बदला लेना था और उसके साथ ही पानीपत मे हार जाने से हिंदुओ के स्वाभिमान को जो ठेस पहुँची थी, उसका परिष्कार करना भी था।

जब रुहेला वजीर ने जाटो के उस प्रतिहिंसात्मक भीषण युद्ध अभियान का समाचार सुना, तो उसने अपनी सहायता के लिए अहमदशाह अब्दाली के पास विशेष दूत भेज कर उसे तत्काल आने के लिए कहलाया और दूसरे रुहेले सरदारो को भी बुलाने के लिए दूत भेजे। फिर उसने शाही खजाने और स्त्री–बच्चो को सुरक्षित स्थान पर भेजने का प्रबध किया। उसके बाद दिल्ली नगर के चारो ओर नाकेबदी करा कर वह एक दीर्घकालीन सघर्ष के लिए तैयार हो गया। यह सब करने पर भी उसका साहस जाटो से खुले आम युद्ध करने का नही हुआ, वरन् वह दिल्ली नगर के चारो ओर के फाटको को बद करा कर केवल आत्म–रक्षा की व्यवस्था करने लगा था। जाट सेना ने चारो ओर से दिल्ली नगर को घेर लिया और उस पर गोलाबारी आरभ कर दी। उस गोलाबारी को विफल करने के लिए शाही सेना के कई दलो ने जाटो से सघर्ष किया, किंतु उन्हे सदैव पीछे हटना पडा। उसी समय जवाहरसिंह ने दिल्ली के निकटवर्ती शाहदरा नगर को लूट लिया और वहाँ से दिल्ली के किले पर प्रभावशाली गोलाबारी करने के लिए अपना तोपखाना जमा दिया। तोपो के गोले दिल्ली नगर की सीमा मे गिर कर धुँआधार करने लगे, जिससे वहाँ भीषण बर्बादी होने लगी[3]।

इस प्रकार घेराबदी और गोलाबारी मे तीन महीने निकल गये। दिल्ली नगर की जनता को उस काल मे बडी कठिनाइयाँ और परेशानियाँ उठानी पडी थी, यहाँ तक कि खाद्य वस्तुओ के अभाव मे लोगो के भूखे मरने तक की नौबत आ गई! नजीबुद्दोला उस सकट काल मे अहमदशाह अब्दाली के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था। उसने दिल्ली निवासियो को समझाने–बुझाने की बहुत चेष्टा की, किंतु भूखी जनता नगर के फाटको को तोड कर बाहर निकल पडी और जाट सेना के शिविर मे जा कर अनाज की भीख माँगने लगी! उस समय जवाहरसिंह के आदेशानुसार प्रचुर खाद्यान्न का वितरण किया गया था। उस विषम स्थिति से घबडा कर रुहेला वजीर नजी-बुद्दोला ने जाटो से सधि करने का प्रस्ताव किया, किंतु जवाहरसिंह अपने पिता सूरजमल की मृत्यु

(१) हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ १७३
(२) हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ १७४
(३) ,, वही ,, , पृष्ठ १७५

के बदले मे पूरा मुआवजा लेकर और दिल्ली शासन पर से नजीब का प्रभाव समाप्त करने पर ही संधि करना चाहता था। उस पर रुहेला वज़ीर ने एक चाल चली। उसने मरहठो के सेनापति मल्हारराव होलकर को प्रचुर भेंट देकर अपनी ओर मिला लिया और उसे संधि करने के लिए राजी कर लिया। जो जाट सरदार जवाहरसिंह से ईर्ष्या रखते थे, वे भी मरहठा सेनापति का समर्थन करने लगे। इस प्रकार जब नजीबुद्दौला पूरी तरह हार मानने की स्थिति मे था, तब अपने सेनापतियो और सरदारो के षडयंत्र से जवाहरसिंह को बाध्य होकर उनसे संधि करनी पडी थी। किंतु वह उससे इतना असंतुष्ट था कि नजीब से बिना मिले ही वह वापिस लौट गया था[1]।

ब्रज की अनुश्रुतियो और लोक-कविताओ से ज्ञात होता है कि उस अभियान मे जवाहरसिंह ने नजीबुद्दौला की सेना को पूरी तरह पराजित किया था और फिर उसने दिल्ली नगर मे प्रवेश कर उसे खूब लूटा था। इस प्रकार रुहेलो से उसने अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया, और दिल्ली की लूट मे अपार संपदा प्राप्त की थी। किंतु उस काल के उल्लेखो मे वैसा विवरण नही मिलता है। उनके अनुसार जाटो ने शाहदरा को अवश्य लूटा था, किंतु दिल्ली मे उनका प्रवेश नही हुआ था। एक फ्रासीसी लेखक फादर विडैल ने तो यहाँ तक लिखा है,—"उस युद्ध मे जवाहरसिंह को एक करोड साठ लाख रुपया खर्च करना पडा था, किंतु उससे उसे कोई खास लाभ नही हुआ था। यदि कुछ लाभ हुआ भी तो वह यह था कि उस युद्ध के पश्चात् उसके अधीनस्थ सरदार और सैनिक उसका अधिक सन्मान करने लगे थे[2]।" किंतु दिल्ली की लूट के संबंध मे ब्रज की अनुश्रुतियो और लोक-रचनाओ मे ऐसी जोरदारी से कहा जाता रहा है कि उसे सर्वथा असत्य नही माना जा सकता।

ऐसा मालूम होता है, जिस समय जवाहरसिंह की घेराबंदी और गोलाबारी से तंग आकर दिल्ली की जनता अनुशासन हीन होकर नगर से बाहर निकल पडी थी, उसी समय जाट सेना ने दिल्ली को लूटा था। उस अवसर पर जवाहरसिंह ने दिल्ली के किले पर लगे हुए अष्टधातु के उन किवाडो को भी उतरवा लिया था, जिन्हे मुगल सम्राट अकबर के काल मे चित्तौड को जीत कर वहाँ से लाया गया था। राजपूती गौरव के प्रतीक उन ऐतिहासिक किवाडो को जवाहर-सिंह ने भरतपुर किले के उत्तरी सिंहद्वार पर लगवाया था, जो अभी तक वहाँ लगे हुए हैं और जाट वीरो के गौरव की साक्षी दे रहे है। जवाहरसिंह अपार सम्पत्ति और चित्तौड के ऐतिहासिक किवाडो के साथ अपनी विजय का डंका बजाता हुआ दिल्ली से वापिस लौटा था।

**जाट राज्य की गौरव-वृद्धि**—दिल्ली अभियान के पश्चात् जवाहरसिंह ने पूरी तरह शासन-सत्ता सँभाल ली थी। उसने अपने विरोधी जाट सरदारो को समाप्त कर अपनी सेना का नये ढंग से संगठन किया था। उसके लिए उसने नई युद्ध-शैली के विशेषज्ञ यूरोपियन सेनानायको को विशेष रूप से नियुक्त किया था। फ्रासीसी सेनापति कप्तान मैडक पहिले से ही जाट सेना मे ऊँचे पद पर था। उसके बाद जर्मन कप्तान समरू भी उसकी सेवा मे आ गया था। उन दोनो यूरोपियन सेनानायको ने सं० १८२२के बाद के जाट-युद्धो मे महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। इस प्रकार अपनी सेना को सुदृढ

---

(१) हिस्ट्री आफ दि जाट्स, पृष्ठ १७८
(२) ,, वही ,, , पृष्ठ १७९

कर जवाहरसिंह ने कई बडे-बडे युद्ध किये थे और उन सबमे सफलता प्राप्त की थी। उसके अपूर्व साहस, रण-कौशल और पराक्रम की दुदभी चारो ओर बजने लगी थी। उसके बाप-दादा तो 'राजा' और 'ब्रजेन्द्र' ही कहलाते थे, किंतु उसने 'महाराजा सवाई भारतेन्द्र' की पदवी धारण की थी! उसका यश, वैभव और शौर्य चरम सीमा पर पहुँच गया, जिससे वह बडा अभिमानी और दुस्साहसी हो गया था। वही दुर्गुण बाद मे उसके पतन के कारण हुए थे।

दिल्ली के युद्ध मे मल्हारराव होलकर ने रुहेला वजीर नजीबुद्दौला से मिल कर जो चाल चली थी, उसके कारण जवाहरसिंह मरहठो का कट्टर दुश्मन हो गया था। उधर मरहठा भी पानीपत की पराजय के कलक को धोने के लिए उत्तर भारत मे अपना प्रभाव बढा रहे थे, अत उनका जाटो से सघर्ष होना अनिवार्य था। फलत जवाहरसिह और मरहठा सरदारो मे कई बार सघर्ष हुए, जिनमे दोनो पक्ष की पर्याप्त हानि हुई थी। रुहेले अफगानो से जाटो के सघर्ष होते ही रहते थे, जिनमे भी उनकी शक्ति क्षीण हो रही थी। ये सब होते हुए भी जवाहरसिंह राजपूतो से नया विवाद छेड बैठा, जो उसकी अवनति का मुख्य कारण हुआ था। अपनी वीरता के मद मे मत्त होकर उसने पुष्कर-यात्रा के बहाने राजस्थान के क्षत्रिय राजाओ पर अपना रौब जमाने का विचार किया। वह जाटो को राजपूतो से कम नही समझता था। यदि राजपूत सूर्यवश और चद्रवश के क्षत्रिय होने का दावा करते है, तो जाट भी अपने को प्राचीन यादवो की परपरा मे मानते हैं।

**पुष्कर यात्रा और मृत्यु**—जवाहरसिंह ने अपने वीरत्व की उमग मे जाटो की प्रबल सेना के साथ पुष्कर-यात्रा के लिए प्रस्थान किया। वह जयपुर के राजा माधवसिंह को सूचित किये बिना ही उसके राज्य की सीमा मे होकर जाटो की पताका फहराता और धोसा बजाता हुआ पुष्कर पहुँच गया। उस समय जयपुर की सेना को उसे रोकने का साहस नहीं हुआ, किंतु जब वह वहाँ से वापिस आया, तब दोनो मे युद्ध छिड गया। जवाहरसिंह अपनी जाट सेना के साथ राजपूतो से वीरतापूर्वक मुठभेड करता हुआ जयपुर राज्य की सीमा को पार कर सकुशल आगरा आ गया, किंतु उसे बडी हानि उठानी पडी थी। उस युद्ध मे राजपूतो के साथ ही साथ जाटो के भी अनेक योद्धा मारे गये थे। उसके बाद जयपुर नरेश और जवाहरसिंह मे कटुता और विद्वेष की निरतर वृद्धि होती रही, जिससे दोनो की शक्ति क्षीण हुई थी। स० १८२५ मे किसी अज्ञात सैनिक ने आगरा मे जवाहरसिंह का धोखे मे वध कर डाला था। ऐसा कहा जाता है, वह एक गुप्त षडयत्र था, जिसमे विशेष रूप से जयपुर नरेश का हाथ था।

**जवाहरसिंह का मूल्यांकन**—जवाहरसिंह स० १८२० से स० १८२५ तक के थोडे वर्षो तक ही भरतपुर की राजगद्दी पर रहा था, किंतु उसी काल मे वह अपने अद्भुत साहस और अनुपम शौर्य से जहा अपना नाम अमर कर गया, वहाँ उसने जाट राज्य के गौरव को भी चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। जाट राजवश मे चूडामन से लेकर अब तक जो अनेक वीर पुरुष हुए थे, उनमे जवाहरसिंह किसी से कम नही था। यदि वीरता और साहस के साथ ही साथ उसमे गभीरता, नीतिज्ञता और व्यवहार-कुशलता भी होती, तो वह ब्रज के इतिहास को एक नया मोड़ दे सकता था। किंतु उसने अपनी शक्ति को व्यर्थ के युद्धो मे नष्ट कर दिया, जिसके कारण उसके बाद ही जाट राज्य का महत्व कम होकर उसका ह्रास होने लगा था।

जवाहरसिह एक साहसी योद्धा होने के साथ ही साथ साहित्य और कला का प्रेमी तथा प्रोत्साहनकर्त्ता भी था। उसके आश्रित कवियो मे भूधर, रगलाल और मोतीराम के नाम उल्लेखनीय है। ब्रजभाषा का विख्यात महाकवि देव भी अपनी वृद्धावस्था मे उसके दरबार मे उपस्थित हुआ था। उस समय उसने प्रतापसिह की प्रशसा मे दो कवित्त सुनाये थे, जिनके लिए उसे पाँच हजार रुपया का पुरस्कार प्राप्त हुआ था। जवाहरसिह ने दिल्ली की लूट मे जो विपुल धन प्राप्त किया था, उससे उसने डीग, गोवर्धन और भरतपुर मे अनेक निर्माण कार्य कराये थे। उनमे गोवर्धन–राधाकु ड की सडक पर स्थित ब्रज का रमणीक 'कुसुम सरोवर' मुख्य है। उसने वहाँ सूरजमल और उसकी रानी की कलात्मक छतरियाँ बनवा कर उसे अपने पिता–माता के भव्य स्मारक का रूप दिया था। यह सरोवर उसकी वास्तु कला प्रियता का ज्वलत उदाहरण है। उसके अतिरिक्त उसने गोवर्धन के चद्रसरोवर नामक कु ड को भी अष्टदल कमल के सु दर आकार मे पक्का बनवाया था।

**जाट राज्य का ह्रास—( स १८२५–सं० १८३२ )**—जवाहरसिह के काल तक जाट राज्य की निरतर उन्नति होती रही थी। उसके बाद उसके ह्रास का युग आरभ हुआ। जवाहरसिह की मृत्यु के अनतर उसका छोटा भाई रत्नसिह जाटो का राजा हुआ था। वह दुर्भाग्यवश बहुत थोडे काल तक ही राजगद्दी पर रह सका था। राजा होने के कुछ समय बाद ही वह वृ दावन गया और वहाँ नृत्य–गान कराने मे तल्लीन हो गया था। वहाँ के गोसाई रूपानद नामक एक मायावी तान्त्रिक ने अद्भुत चमत्कार दिखाने के भुलावे मे डाल कर उसे स० १८२६ ( ८ अप्रेल, सन् १७६९ ) मे मार डाला था। ऐसा समझा जाता है, उसकी मृत्यु भी सभवत. उसी षडयत्र का परिणाम थी, जिसका शिकार उसका बडा भाई जवाहरसिह हुआ था। वृ दावन मे श्री मदनमोहन जी के मदिर के समीप एक भग्न छतरी विद्यमान है, जो उसी दुर्घटना की स्मृति मे बनाई हुई कही जाती है।

रत्नसिह के पश्चात् उसके पुत्र केहरीसिह को राजा बनाने का विचार किया जाने लगा। चू कि वह छोटा बालक था, अत उसके सरक्षक बन कर राज्याधिकार का उपभोग करने के लिए उसके दोनो चाचा नवलसिह और रणजीतसिह मे प्रतिद्व दिता होने लगी। उसके परिणाम स्वरूप गृह–कलह का सूत्रपात हुआ और राज्य के प्रमुख जाट सरदार दो गुटो मे विभाजित हो गये। पानीपत मे पराजित मरहठे माधवराव पेशवा के नेतृत्व मे पुन शक्तिशाली हो गये थे। वे उत्तर भारत मे अपना प्रभाव बढा कर गगा–यमुना के दोआब पर फिर से अधिकार करना चाहते थे। उसके लिए उन्हे पहिले जाट शक्ति पर काबू पाना आवश्यक था। कूटनीतिज्ञ पेशवा ने जाटो के गृह–कलह से लाभ उठाने की चेष्टा की। उसने स० १८२६ के अत मे एक बडी मरहठा फौज ब्रज की ओर भेजी, जिसके सेनापति तुकोजीराव होलकर और माधव जी ( महादजी ) सिधिया जैसे सुयोग्य सरदार थे।

जाटो के बालक राजा केहरीसिह का सरक्षक उसका बडा चाचा नवलसिह था, जिसके अधिकार मे अधिकाश जाट सेना थी। छोटे चाचा रणजीतसिह के साथ भी कुछ जाट सैनिक थे। उनके अतिरिक्त मरहठो ने भी उसके पक्ष को पुष्ट करने के लिए अपनी सहायता देने का वचन दिया था। रणजीतसिह ने मरहठो की सहायता से स० १८२७ मे कुम्हेर के दुर्ग पर घेरा डाल
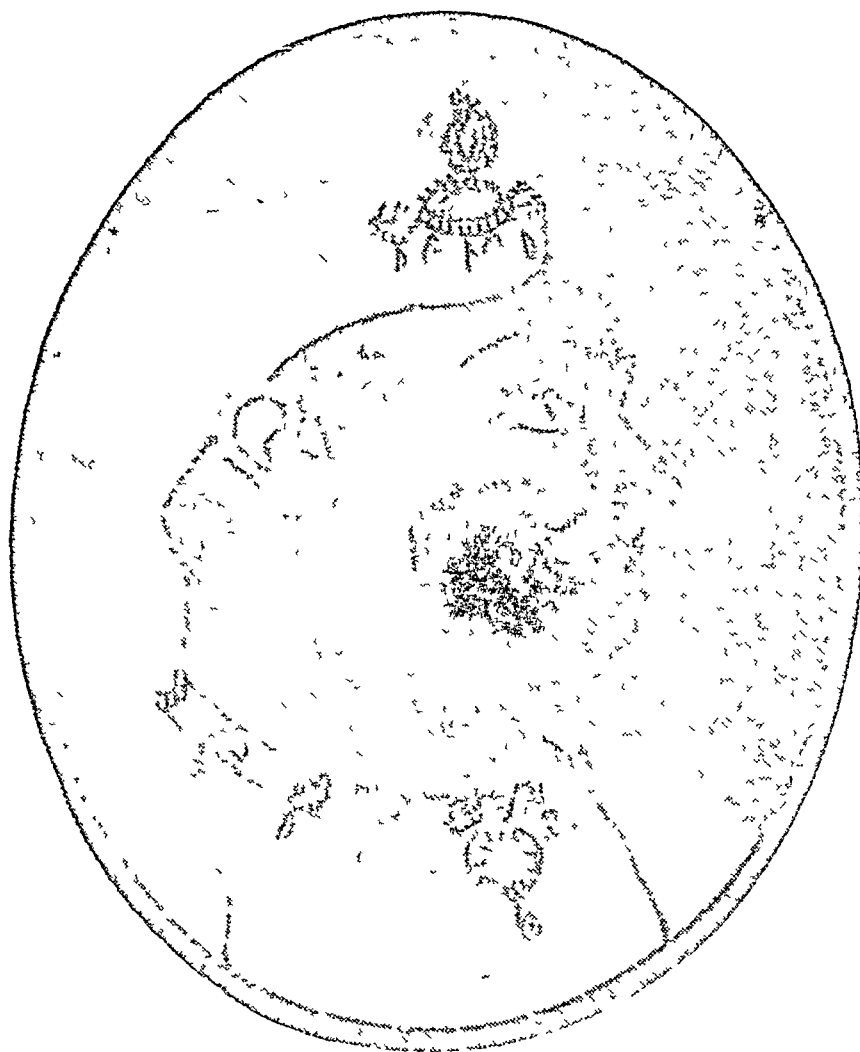
जवाहरसिंह
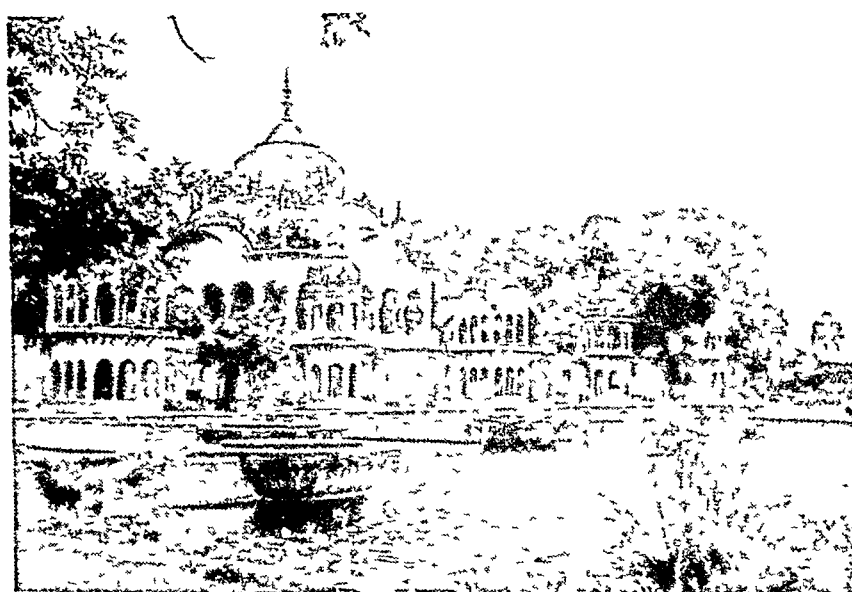
जवाहरसिंह द्वारा निर्मित कुसुम सरोवर पर सूरजमल की छतरी
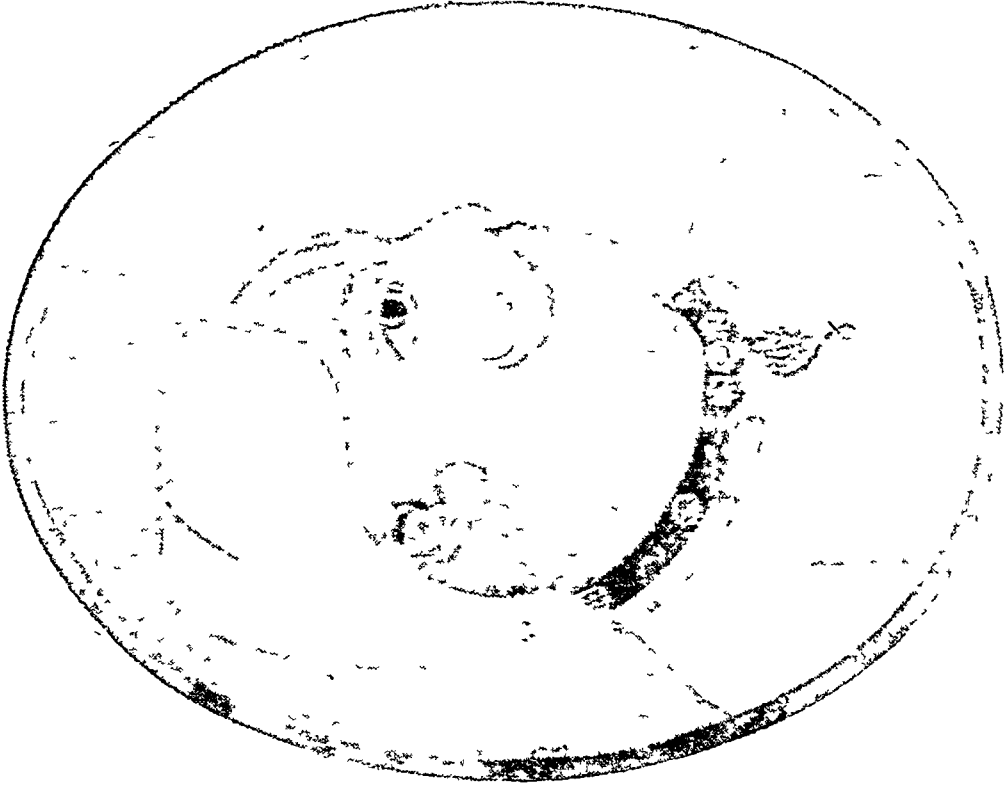
रणजीतसिंह
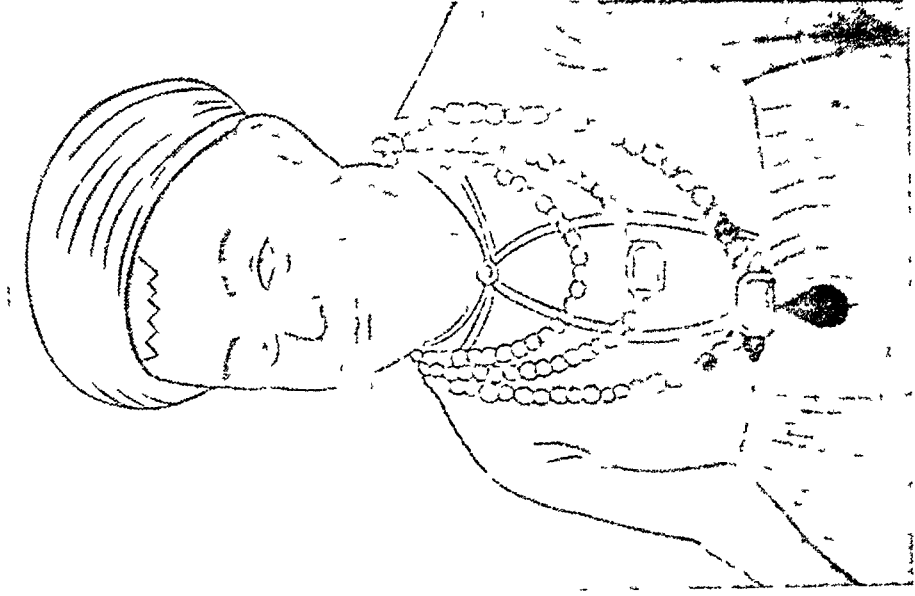
माधवजी ( महादजी ) सिंधिया

दिया। नवलसिह उस समय डीग मे था। मरहठा फौज का एक बडा भाग तुकोजीराव होलकर के नेतृत्व मे नवलसिह की गति–विधि पर दृष्टि रखने को आगे बढा। उसने मथुरा मे अपना पड़ाव डाल दिया। उधर नवलसिह जाट सेना के साथ डीग से निकल कर मथुरा की ओर बढा। सोख और अडीग मे मरहठो तथा जाटो मे घमासान युद्ध हुआ, जिसमे नवलसिह की पराजय हुई। वह डीग की ओर भाग गया। उक्त विजय से मरहठा शक्ति का प्रभाव दोआब के भू–भाग मे स्थापित हो गया था। स० १८२८ मे उन्होने दिल्ली दरबार पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और वे तत्कालीन मुगल सम्राट शाहआलम के सरक्षक बन गये थे।

**जाट–मुगल संघर्ष**—स० १८३० मे माधवराव पेशवा की मृत्यु हो गई थी। उसके उत्तराधिकार के लिए मरहठा सरदारो मे विवाद होने लगा, जिसके कारण उनका ध्यान उत्तर भारत की गति–विधियो मे हट गया था। उधर जाटो की राज्य शक्ति आपसी मतभेद के कारण पहिले ही क्षीण हो गई थी। उस स्थिति का लाभ उठाने के लिए मुगल सम्राट शाहआलम की ओर से उसके वजीर मिर्जा नजफखाँ ने उस क्षेत्र मे शाही प्रभाव की पुनर्स्थापना करने का विचार किया, फलत उसने मुगल सेना को जाटो के अधिकृत क्षेत्र मे भेज दिया। स० १८३० मे मुगलो और जाटो का शाहदरा, बल्लभगढ और कोटबन आदि कई स्थानो मे सघर्ष हुआ, जिनमे जाट सेना को बराबर पीछे हटना पडा था। स० १८३१ मे जाटो ने ब्रज के बरसाना नामक स्थान मे अपना मोर्चा जमा लिया और वहाँ से वे बढती हुई मुगल सेना का जम कर मुकाबला करने लगे। दोनो पक्ष की सेनाओ मे बडा घमासान युद्ध हुआ, जिसमे जाटो ने बडी वीरता दिखलाई थी। यद्यपि मुगलो के सैनिक जाटो की अपेक्षा कही अधिक सख्या मे हताहत हुए थे, तब भी अत मे जाटो की पराजय और मुगलो की जीत हुई थी। उसके बाद मुगलो ने जाट सेना के शिविर के साथ ही साथ बरसाना कस्बा को भी बुरी तरह लूटा, जिसके फलस्वरूप उन्हे अपार सैनिक सामग्री और प्रचुर सपत्ति प्राप्त हुई थी। उनकी बर्बरता से रूपराम कटारा की सुदर इमारतो को बहुत क्षति पहुँची और बरसाना का समृद्धिशाली कस्बा बर्बाद हो गया। उसके उपरात वजीर नजफखाँ की सेना आगरा की ओर बढी। मुगल शासन के उस प्रमुख केन्द्र पर स० १८१८ मे सूरजमल ने अधिकार कर लिया था, तब से वह जाट राज्य के अतर्गत था। नजफखाँ ने उसे भी जाटो से छीन लिया। इस प्रकार स० १८३१ के अत तक जाट राज्य का काफी बडा भाग छिन्न–भिन्न हो गया था और नवलसिह की शासन–सत्ता सीमित क्षेत्र मे ही रह गई थी।

**रणजीतसिह ( शासन सं० १८३२–१८६२ )**—स० १८३२ मे नवलसिह की मृत्यु हो गई। उस समय उसका छोटा भाई रणजीतसिह कुम्हेर मे था। वहाँ से वह डीग पहुँच कर जाट राज्य का निर्विरोध स्वामी बन गया। शासन सँभालते ही उसे मुगलो के आक्रमण का सामना करना पडा था। स० १८३३ मे वजीर नजफखाँ ने डीग पर आक्रमण कर दिया। उसने वहाँ के किले पर घेरा डाल कर डीग से कामा और कुम्हेर जाने वाली सडको पर भी नाकाबदी कर दी थी। उसके कारण जाट राज्य के अन्य स्थानो से डीग को सहायता पहुँचना बद हो गया। उससे वहाँ के दुर्ग मे खाद्य सामग्री की बडी कमी हो गई। मुगलो ने दुर्ग पर आक्रमण कर भीषण मार–काट आरभ कर दी थी। फलत जाट सैनिक भारी सख्या मे मारे गये और अनेक जाट स्त्रियो ने मुगलो से बचने के लिए आत्म–घात कर लिया। इस प्रकार जाट राज्य के प्रसिद्ध केन्द्र डीग और

कामाँ का भी पतन हुआ और वे मुगलो के अधिकार मे चले गये। रणजीतसिंह वहाँ से भाग कर भरतपुर चला गया। अब उसका अधिकार केवल भरतपुर के किले पर और उसके निकटवर्ती क्षेत्र तक ही सीमित रह गया था और उसकी वार्षिक आय केवल ९ लाख रुपया थी।

**ब्रज की दुर्दशा**—जाटो की पराजय से ब्रज की स्थिति बडी सकटग्रस्त हो गई थी। उस काल मे इस पावन प्रदेश के सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थलो का कोई धनी–धोरी नही रहा था। मुगल और रुहेले सैनिक जब चाहे यहाँ आकर लूट–मार मचा देते थे। ब्रज मे निवास करने वाले भक्त-गण अनिच्छा पूर्वक ब्रज को छोड कर इधर–उधर भागते फिरते थे। वृदावन के भक्त–कवि चाचा वृदावनदास उसी समय वृदावन से कृष्णगढ गये थे। उन्होने अपनी एक रचना 'श्रीकृष्ण विवाह वेलि' मे स० १८३१ के सकट का वर्णन करते हुए लिखा है—

"जमन कछू सका दई, ब्रज जन भये उदास। ता समयै चलि तहाँ तें, कियौ कृष्णगढ वास॥"

स० १८१४ से १८३२ तक ब्रज प्रदेश पर यवन सेना के बार–बार आक्रमण हुए थे, जिससे वह प्राय दो दशाब्दी का काल ब्रज के लिए भीषण सकट का रहा था। ब्रज के निरुपाय भक्त जन हताश होकर भक्त–भयहारी भगवान् से सहायता की प्रार्थना करते थे, पर भगवान् भी उस काल मे शायद शेष–शैया पर लबी तान कर सो गये थे। चाचा वृदावनदास ने उस काल की दुर्वस्था का कथन करते हुए लिखा है—

"जमन कि जम की जातना, भुगताई इह देह। अब अपने अपनाइ लेउ, वास रावरे गेह॥
काँपत कपिला गाय ज्यो, कहत मरत हौं लाज। कलि केहरि ते अब करौ, रच्छा सुत ब्रजराज॥
अजू बरस दस–बीस ते, खुले विपति भडार। या ब्रज गरुवे मुखनि की,विदित दुरी हटतार[1]॥'

रणजीतसिंह के शासन काल की आरभिक पराजयो से ब्रज मे सकट और भी बढ गया था। उस समय भी ब्रजवासी भक्त गण ब्रज छोड कर इधर–उधर भटकने को बाध्य हो रहे थे। चाचा वृदावनदास उस काल मे कृष्णगढ मे ही थे, किंतु उनका मन वृदावन के वियोग, अपनी वृद्धावस्था और उस समय के सकट से बडा खिन्न रहता था। वे आर्त्तनादपूर्वक उसके निवारण के लिए भगवान् से प्रार्थना किया करते थे। स० १८३५ मे उन्होने अपनी 'आरति पत्रिका' की रचना कृष्णगढ मे ही की थी। उसमे अपनी मनोदशा का वर्णन करते हुए उन्होने लिखा है—

"एक धाम बिछुरन जु दुख दूबर है जु शरीर। तीजै निर अपराध दुख देत नीच बेपीर[2]॥"

ब्रज की वैसी दुर्दशा करने वाले और जाटो के प्रबल शत्रु मुगल दरबार के वजीर मिर्जा नजफखाँ की मृत्यु स० १८३९ मे हो गई थी। उसके स्थान पर मुगल सम्राट ने नजफ के सहकारी अफरासियाब को नियुक्त किया था। चूँकि वह अयोग्य सिद्ध हुआ, अत उसे साल भर के अदर ही अपने पद से हटा दिया गया था। उससे मुगल दरबार मे बडी गडबड मच गई थी और साम्राज्य मे सर्वत्र अव्यवस्था फैल गई थी। उस काल मे उत्तर भारत मे मरहठो का प्रभाव पुन बढ गया था और वे वहाँ की राजनीति मे प्रभावशाली भूमिका प्रस्तुत कर रहे थे। तत्कालीन

---

(१) राधाबल्लभ सप्रदाय : सिद्धात और साहित्य, पृष्ठ ५१९
(२) वही ,, , पृष्ठ ५५०

सम्राट शाहआलम को अपने राज्य की अव्यवस्था दूर करने के लिए मरहठो की सहायता लेने को वाध्य होना पडा था। उसने सुयोग्य मरहठा सरदार माधव जी ( महादजी ) सिंधिया को अपने मुख्य मत्री ( मीर बख्शी ) और प्रधान सेनापति के पदो पर नियुक्त कर दिया। इस प्रकार मरहठो का मुगल शासन पर प्रभाव बढ जाने से ब्रजवासियो ने सतोप की साँस ली थी और वे अपने दीर्घ कालीन सकट के समाप्त होने की आशा करने लगे थे।

**माधवजी ( महादजी ) सिंधिया**—रणजीतसिह के शासन-काल मे ब्रज की राजनैतिक गति-विधि के प्रमुख सचालको मे मरहठो के सरदार माधव जी सिंधिया का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उसका जन्म मरहठो की एक नीची जाति मे और एक निम्न परिवार मे हुआ था। उसका पिता रानोजी आरभ मे पेशवा का एक साधारण सेवक था और उसके जूतो की देख-भाल किया करता था। उसकी स्वामि-भक्ति और बुद्धिमत्ता से प्रसन्न होकर पेशवा ने उसे सेना मे भर्ती कर लिया, जहाँ वह उन्नति करता हुआ सेनानायक के पद पर पहुँच गया था। उसके पुत्र माधव जी ने अपनी वीरता, बुद्धिमत्ता और नीति-निपुणता से और भी अधिक शीघ्रता पूर्वक उन्नति की और वह मरहठा सेना के योग्यतम सेनानायको मे गिना जाने लगा। पानीपत के युद्ध मे अन्य मरहठा सरदारो की भाँति वह भी सम्मिलित था, किंतु शत्रुओ से लडता हुआ घायल और लगडा हो गया था। उसके वाद उत्तर भारत मे आश्चर्यजनक शीघ्रता से मरहठा शक्ति के विस्तार करने का श्रेय जिन सरदारो को है, उनमे माधवजी का नाम सबसे पहिले लिया जाता है।

जैसा पहिले लिखा जा चुका, दिल्ली दरवार के वजीर मिर्जा नजफखाँ की स० १८३९ मे मृत्यु होने के वाद मुगल साम्राज्य मे सर्वत्र अव्यवस्था फैल गई थी, जिसे दूर करने के लिए तत्का-लीन मुगल सम्राट शाहआलम ने माधव जी सिंधिया को अपना मुख्य मत्री ( मीर बख्शी ) बनाया था। उस काल मे पेशवा की ओर से उत्तर भारत मे जो मरहठा सेना थी, उसके सेनापतियो मे माधव जी ही सबसे अधिक योग्य था। उसने मुगल साम्राज्य की अव्यवस्था दूर कर मुगल दरबार के उपद्रवी रुहेले सरदारो को दवा दिया और जयपुर राज्य से वकाया कर वसूल किया। फिर डीग, आगरा, अलीगढ, मथुरा आदि प्रमुख स्थानो पर अधिकार कर उसने अपनी योग्यता, शक्ति और सत्ता की धाक जमा दी थी। वह मुगल साम्राज्य का मुख्य मत्री होने के साथ ही साथ प्रधान सेनापति और सम्राट का सरक्षक ( वकील मुत्तलक ) भी था। इसलिए वह सम्राट शाहआलम के नाम पर शासन करने लगा। उसके कारण मरहठो का प्रभाव उत्तर भारत मे बहुत बढ गया था और तब मरहठो की भगवा पताका दिल्ली के लाल किले पर फहराने लगी थी।

स० १८४४ मे माधवजी को अपनी सेना के पुनर्गठन के लिए मालवा जाना पडा था। उसकी अनुपस्थिति मे गुलाम कादिर रुहेला ने दिल्ली पर और इस्मायल वेग ने आगरा पर अधिकार कर लिया। उन दोनो आततायी यवन तानाशाहो ने क्रमश दिल्ली और ब्रज मे अत्याचार करना आरभ कर दिया था। गुलामकादिर ने शाहआलम, उसकी वेगमो और परिवार वालो पर ऐसे अमानुषिक अत्याचार किये, जैसे शासनारूढ मुगल सम्राटो मे से किसी को कभी सहन नहीं करने पडे थे। उसने वादशाह की आँखे निकलवा कर उसे अधा कर दिया और उसकी स्त्रियो की वेइज्जती की। उस समय अधे वादशाह ने माधवजी के पास खवर भेजी कि वह उसकी दयनीय दशा मे सहायता करने को शीघ्र ही दिल्ली आवे। उसने माधवजी को अपने प्रिय पुत्र की तरह

सवोधन करते हुए ( माधौजी सिंधिया ,फर्जन्दे जिगरवदे मनग्रस्त ) एक मार्मिक कविता लिखी थी। उसमे कहा गया था—"मेरे राज्य को दु ख की आँधी ने छिन्न-भिन्न कर दिया है। जो राज्य सूर्य की तरह प्रकाशित था, उसे गुलामकादिर ने तिमिरावृत कर दिया। अल्लाह मदद करे, मेरा प्रिय पुत्र माधवजी सिंधिया मेरी अवश्य रक्षा करेगा और मेरे अपमान का बदला लेगा।"

बादशाह की उस दु खभरी पुकार को सुन कर माधवजी ने रानाखाँ और जिव्बादादा के नेतृत्व मे एक शक्तिशाली मरहठा सेना दिल्ली भेजी, जिसने गुलामकादिर को पराजित कर उसे दिल्ली से भागने के लिए बाध्य किया। स० १८४५ मे मरहठो का अधिकार पुन दिल्ली के किले और नगर पर हो गया। उस समय माधवजी भी वहाँ पहुँच गया था और उसने मथुरा मे डेरे डाले हुए थे। दिल्ली से भागते हुए गुलामकादिर को मरहठा सेना ने मेरठ के पास पकड लिया था और उसे मथुरा मे माधवजी के सन्मुख उपस्थित किया। शाहआलम ने माधवजी से आग्रह किया कि गुलामकादिर के साथ भी वही सलूक किया जावे, जो उसने मेरे साथ किया था और फिर उसे कत्ल कर दिया जावे। बादशाह की इच्छानुसार गुलामकादिर के नृशस अत्याचारो के दड स्वरूप उसकी आँखे निकलवाई गई और उसे अग-भग किया गया। उसका काला मुँह करके उसे गधे पर चढा कर नगर मे घुमाया गया और फिर उसे मार दिया गया।

स० १८४६ के आरभ मे माधवजी मथुरा मे असाध्य रूप से बीमार हो गया था। उसके चिकित्सक रोग का निदान नही कर सके और उसकी दशा दिन पर दिन बिगडने लगी थी। कुछ विशेषज्ञो ने बतलाया कि उस पर किसी तात्रिक ने मारक मत्र का प्रयोग किया है। खोज करने पर पता चला कि वृ दावन के गोसाई हिम्मतबहादुर ने माधवजी से शत्रुता के कारण एक तात्रिक महिला द्वारा वह प्रयोग कराया था। उस महिला को प्रचुर पुरस्कार दिये जाने पर उसने अपने मत्र से माधवजी को मुक्त कर दिया और फिर उसका रोग भी जाता रहा। माधवजी की सफलता और उसके प्रभाव के कारण कुछ मरहठे सरदार भी उससे ईर्ष्या करने लगे थे। होलकर उसका सबसे बडा प्रतिद्व दी और विरोधी था। पेशवा के दरबार मे भी उसके विरुद्ध षडयत्र होने लगा था। उन समस्याओ के समाधान के लिए माधव जी को पूना जाना आवश्यक हो गया। वहाँ पहुँच कर उसने पेशवा के समक्ष उसी प्रकार दीनता प्रदर्शित की, जिस प्रकार उसके पूर्वज किया करते थे, किंतु उसका पूना दरबार पर कोई विशेष प्रभाव नही पडा था। फलत मरहठा सरदारो की गृह-कलह भी दूर नही हो सकी। स० १८५२ ( १२ फरवरी, सन् १७९५ ) मे माधवजी का देहात हो गया।

**माधवजी की महत्ता और ब्रज को देन**—माधवजी सिंधिया एक युगातरकारी महापुरुष था। उसकी वीरता, नीतिज्ञता और दूरदर्शिता अनुपम थी। उसने अपने पुरुषार्थ से मरहठो की ध्वजा दिल्ली के किले पर फहराई थी और उत्तर भारत मे मरहठो की शक्ति, सत्ता और प्रभुता को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। उसकी ब्रज को देन भी बडी महत्वपूर्ण थी। जाट राज्य का ह्रास होने से ब्रज मे जो भीषण सकट पैदा हुआ था, वह माधवजी के कारण दूर हो गया था। मरहठा हिंदू धर्म के प्रबल समर्थक थे, अत उनके प्रभाव से ब्रज मे हिंदू धर्म और सस्कृति की एक बार पुन प्रगति हुई थी। माधवजी का मुगल सम्राट पर जो प्रभाव था, उसका सदुपयोग उसने हिंदू धर्म की दुर्वस्था दूर करने मे किया था। उसने मुगल दरबार की ओर से गोवध बद किये

जाने का फरमान जारी कराया और हिंदू धर्म विरोधी उन सभी आदेशो को रद्द करा दिया, जो पिछले बादशाहो द्वारा प्रचलित किये गये थे ।

माधवजी भगवान् श्री कृष्ण का अनन्य भक्त और ब्रज का बडा प्रेमी था । उसे जब अवकाश मिलता, तभी वह मथुरा–वृ दावन मे निवास कर कृष्ण–भक्ति मे रम जाता था । स० १८४२ मे वह ८ महीने तक लगातार मथुरा और उसके निकटवर्ती ब्रज के रमणीक स्थानो मे रहा था । ब्रज का सुरम्य स्थल चीरघाट उसे अधिक प्रिय था । वहाँ भी वह काफी समय तक रहता था । उसने ब्रज के मदिरो को उदारतापूर्वक दान दिया था और यहाँ के तीर्थ स्थलो का जीर्णोद्धार एव घाटो का पुनर्निर्माण कराया था । उसके निर्माण कार्यो मे मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान का विशाल पोतराकु ड उल्लेखनीय है । स्थापत्य कला की दृष्टि से यह एक दर्शनीय इमारत है, जिसका निर्माण स० १८३९ मे हुआ था । वह कृष्ण–जन्मभूमि पर एक विशाल मदिर भी बनवाना चाहता था, किंतु स्थान के सबध मे पडितो मे मतभेद होने और फिर राज-नैतिक झझटो मे फँस जाने के कारण वह अपनी मनोभिलाषा को पूरा नही कर सका था । उसका खेद उसे मृत्यु पर्यंत रहा था । कालातर मे सिंधिया राज्य के खजाची गोकुलदास पारिख ने मथुरा मे श्री द्वारिकाधीश जी का मदिर बनवा कर माधव जी की उस अभिलाषा को किसी अश मे पूरा किया था ।

वह वृ दावन के धर्माचार्यो और विशेष कर हरिदासी सप्रदाय के विरक्त सतो के प्रति बडी श्रद्धा रखता था । टट्टी सस्थान और श्री रसिकबिहारी मदिर के तत्कालीन महत ललित-मोहिनी जी और गोवर्धनदास जी उसके आदरणीय जन थे । वह जब वृ दावन मे होता था, तब वहाँ रासलीला भी कराया करता था, जिसमे वहाँ के सभी प्रमुख भक्त जन उपस्थित होते थे । इसका उल्लेख 'ललित प्रकाश' मे हुआ है[1] । वह ब्रज साहित्य और सगीत का बडा प्रेमी तथा मर्मज्ञ था । उसने स्वय भी ब्रजभाषा मे पदो की रचना की थी, जिन्हे वह भक्ति भाव से ब्रज के पुण्य स्थलो मे गाया करता था । उसकी रचनाओ का सकलन 'माधव विलास' के नाम से प्रका-शित हुआ है । उसका रचना काल स० १८२८ से १८५२ तक माना जा सकता है ।

**हिम्मतबहादुर**—वह माधवजी सिंधिया का समकालीन एक नागा गोसाई था और एक वीर, साहसी एव कुशल सेनानायक के रूप मे प्रसिद्ध था । उसके अधिकार मे नागा सन्यासियो की सशस्त्र सेना थी, जिसके द्वारा वह उस काल की सामरिक और राजनैतिक हलचलो मे सक्रिय भाग लेता था । ब्रज की तत्कालीन राजनीति से भी उसका घनिष्ट सबध रहा था, अत उसका सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है । वह कुलपहाड का निवासी सनाढ्य ब्राह्मण था और बचपन मे ही सन्यासी होकर राजेन्द्र गिरि का शिष्य हो गया था । तब उसका नाम अनूपगिरि रखा गया था । उसकी रुचि सैनिक कार्यो मे अधिक थी, अत वह लखनऊ के नवाब शुजाउद्दौला की घुड-सवार सेना मे भर्ती हो गया था । वहाँ उसने वीरता मे बडा नाम पैदा किया, जिसके कारण नवाब ने उसे 'हिम्मतबहादुर' की पदवी और जागीर प्रदान की थी । बाद मे वह अनूपगिरि के

---

(१) नाम महाजी सिंधिया, वृंदावन बिच आय ।
श्री गुपाल लीला करी, परम प्रीत दरसाय ।। ( निवार्क माधुरी, पृष्ठ ६५५)

बजाय हिम्मतबहादुर के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ था। उसने युद्ध को अपनी जीविका का साधन बनाया था। उसे जिस व्यक्ति से धन मिलता, उसी के पक्ष मे वह सेना लेकर युद्ध किया करता था। इस प्रकार उसने अवध के नवाब, बुंदेलखंड के राजा, दिल्ली के मुगल सम्राट, मरहठे और अंगरेज सभी के पक्ष मे अनेक युद्ध किये थे। इस संबंध मे उसका न कोई सिद्धांत था और न कोई नीति। उसने रुपये के लिए मुसलमान और अंगरेज जैसे विधर्मी और विदेशी आक्रमणकारियो का साथ देकर वीर धर्म को ही कलंकित नही किया, बल्कि देशद्रोह का भी परिचय दिया था।

फिर भी अपने समय मे उसकी वीरता की बड़ी धाक थी। मुगल दरबार का साथ देकर उसने माधवजी सिंधिया को नीचा दिखाना चाहा था, किंतु उसमे वह सफल नही हुआ। वह माधवजी को सदा परेशान करता रहा था। माधवजी ने उसकी जागीर का बड़ा भाग छीन लिया था और उसके अधिकार मे केवल मोठ और वृंदावन की जागीरें रहने दी थीं। वह वृंदावन मे राजाओ की भाँति बड़ी शान से रहता था और माधवजी से शत्रुता रखने के कारण सदैव उसके विरुद्ध चाले चला करता था। उसने सैनिक दाव-पेच और कूटनीति के अतिरिक्त मंत्र-तंत्र का प्रयोग भी किया था। उसी की प्रेरणा से माधवजी पर मारक मंत्र का प्रयोग किया गया था, जिसके कारण वह असाध्य रूप से बीमार हो गया था।

उस काल मे पेशवा की ओर से उत्तर भारत मे जो मरहठा सेना थी, उसका एक सेनानायक अलीबहादुर नामक मरहठा सरदार था। वह बाजीराव पेशवा की मुस्लिम उपपत्नी मस्तानी का पौत्र था। पेशवा का वंशज होने से मरहठा राज्य मे उसका बड़ा प्रभाव था और उसकी गणना बड़े सरदारो मे होती थी। पेशवा की तरफ से अलीबहादुर को आदेश दिया गया था कि वह उत्तर भारत मे मरहठों की शक्ति का विस्तार करे। हिम्मतबहादुर ने अलीबहादुर से मिल कर माधवजी और उसके बीच वैमनस्य पैदा कर दिया, जिसके कारण मरहठो मे गृह-कलह होने लगा। सं० १८६१ मे हिम्मतबहादुर का देहांत हो गया था। वह कुशल सेना-नायक और कूटनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ कवि, काव्य-प्रेमी तथा कवियो का आश्रयदाता भी था। ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि पद्माकर ने उसी के आश्रय मे अपने एक मात्र वीर काव्य 'हिम्मत-बहादुर विरुदावली' की रचना की थी। उसने वृंदावन मे घाट, कचहरी और वाटिका आदि का निर्माण कराया था।

**ब्रज की अव्यवस्था और अंगरेजो की सैनिक हलचलें**—माधव जी सिंधिया की मृत्यु के कुछ समय बाद ही मरहठा राज्य के सर्वोच्च शासक पेशवा का तथा अहिल्याबाई होलकर का देहावसान हुआ था। उन बड़े-बड़े स्तंभो के अभाव मे मरहठों की प्रबल राज्य शक्ति डगमगाने लगी और उनकी शासन-नीति मे अनेक उलट-फेर होने लगे थे। माधव जी का उत्तराधिकारी दौलतराव सिंधिया हुआ तथा अहिल्याबाई का उत्तराधिकारी तुकोजीराव और उसकी मृत्यु होने पर यशवंतराव होलकर हुआ था। उत्तर भारत मे सत्ता और प्रभुत्व की प्रतियोगिता मे सिंधिया और होलकर का वैमनस्य इतना बढ़ गया कि उनमे निरंतर संघर्ष होने लगा। उसके कारण मरहठा, जाट और मुसलमानो मे भी नित्य नये झगड़े होने लगे थे। कभी सिंधिया और होलकर आपस मे लड़ते, कभी उनमे से एक पक्ष वाले जाटो से मिलकर मुसलमानो को दबाते, तो दूसरे पक्ष वाले मुसलमानो को साथ लेकर जाटो के दुर्ग पर हमला करते और कभी जाट और मुसलमान मिल कर मरहठो को खदेड़ते थे। उन सिद्धांतहीन और मूर्खतापूर्ण संघर्षों के कारण ब्रजमंडल और उसके

PLAN OF THE MEMORABLE SIEGE OF BHURTPORE 1805
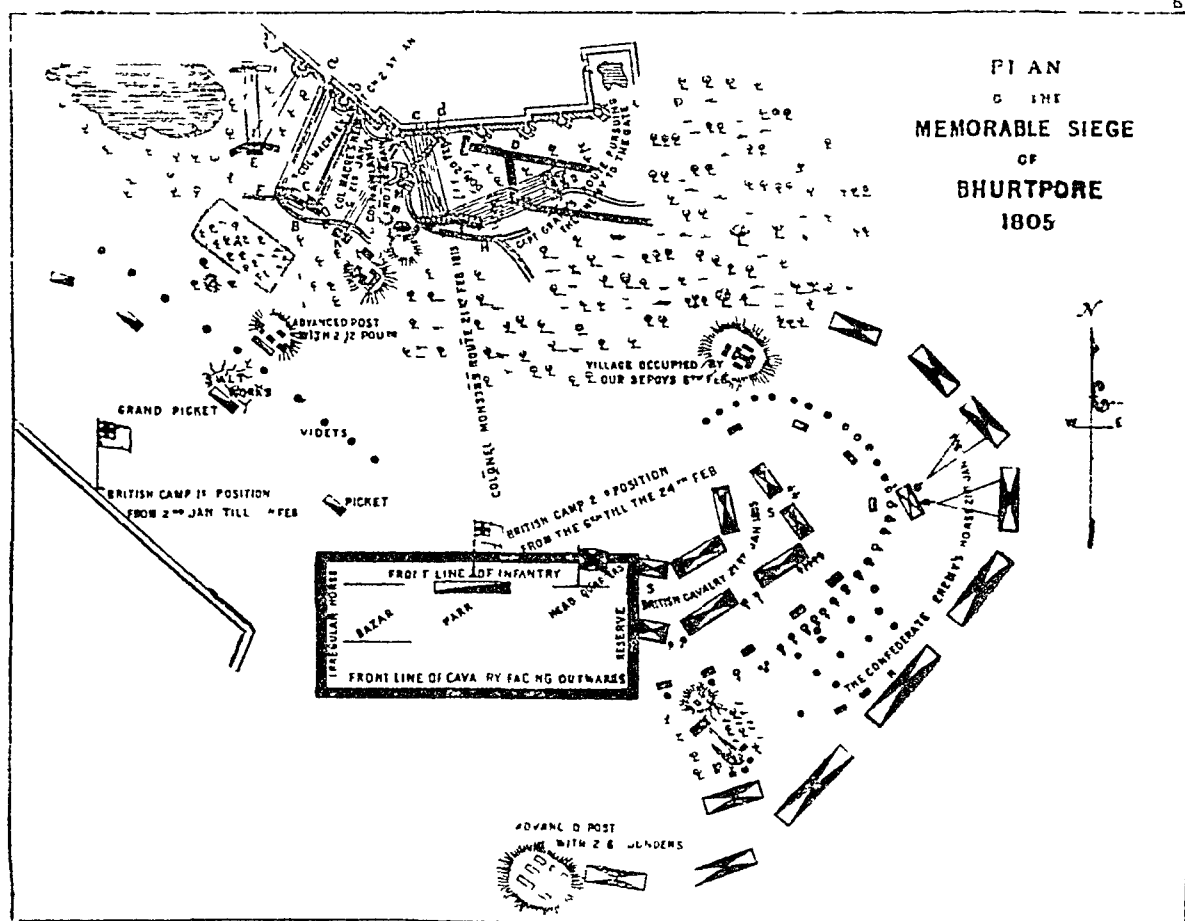
भरतपुर के किले पर अगरेजो की मोर्चाबंदी

यशवंतराव होल्कर
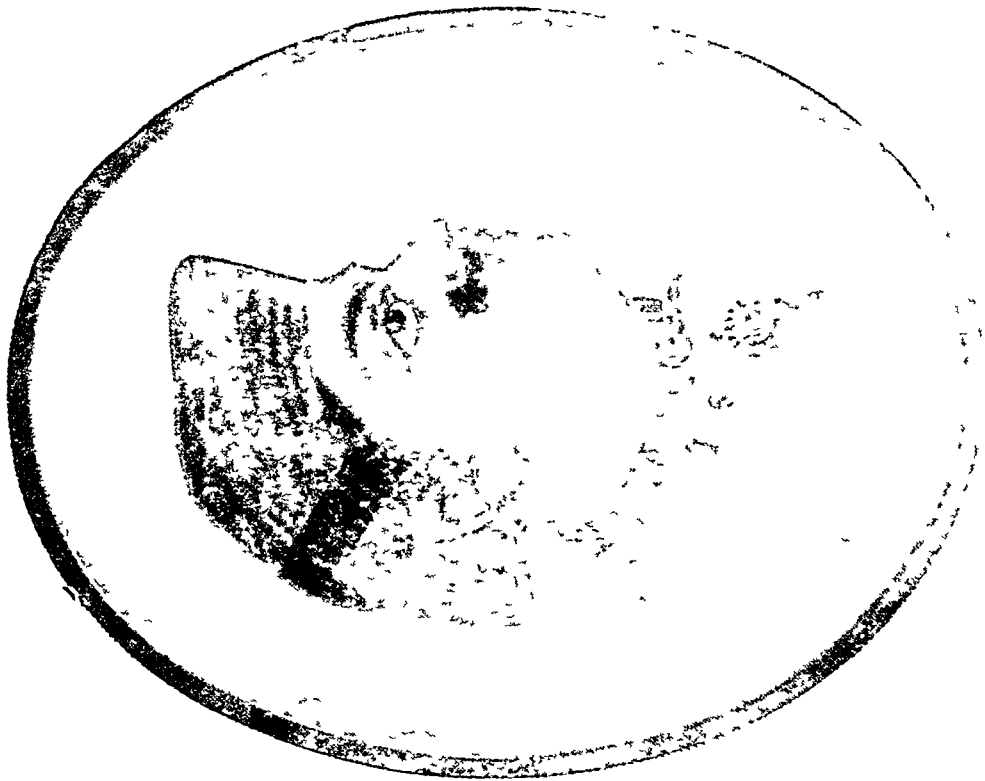
रणधीरसिंह
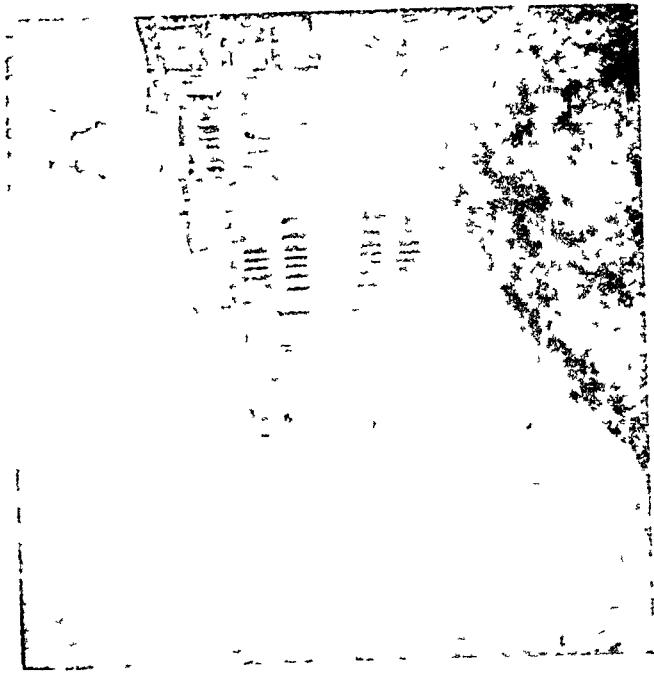
रणधीरसिंह की रानी लक्ष्मी द्वारा निर्मित
लक्ष्मीघाट और लक्ष्मीरानी कुंज

निकटवर्ती भू-भाग मे बडी अव्यवस्था फैल गई थी। उसका लाभ अगरेजो ने उठा कर भारत के अन्य भागो की तरह व्रजमडल को भी अपनी सैनिक हलचलो से झकझोर दिया था।

**जाट-अंगरेज युद्ध**—स० १८६० मे अगरेजी सेना ने दौलतराव सिंधिया के विरुद्ध सफल अभियान करने के अनतर मथुरा पर अधिकार कर लिया था। उधर जनरल लेक के कमान की अगरेजी सेना यशवतराव होलकर का पीछा कर रही थी। होलकर ने भाग कर भरतपुर मे शरण ली थी। उस समय भरतपुर मे जाट राजा रणजीतसिह का शासन था। जनरल लेक ने भरतपुर नरेश से माँग की, कि वह होलकर को अगरेजो के सुपुर्द कर दे। रणजीतसिह ने उक्त माँग को स्वीकार नही किया। फलत अगरेजो ने भरतपुर पर आक्रमण कर दिया। उस समय जाटो ने ऐसी वीरता से अगरेजी सेना का मुकावला किया कि उसे पीछे हटना पडा। जनरल लेक जैसे वीर सेनापति की अध्यक्षता मे अगरेजो ने चार बार भरतपुर पर आक्रमण किया था, किंतु हर बार उन्हे मुँह की खानी पडी। उससे भरतपुर किले की अजयता, जाटो की वीरता और रणजीतसिह की प्रवध-कुशलता की सर्वत्र ख्याति हो गई थी। रणजीतसिह की आरभिक पराजयो के कारण जाटो की जो अप्रतिष्ठा हुई थी, वह अगरेजो से सफलतापूर्वक युद्ध करने के कारण बहुत-कुछ दूर हो गई थी। जाट राज्य के इतिहास मे सूरजमल और जवाहरसिह द्वारा दिल्ली मे की गई लूट की भाँति रणजीतसिह द्वारा अगरेजो से सफल सघर्ष करने की घटना भी बडी प्रसिद्ध है। व्रज के अनेक कवियो और लोक गायको ने भरतपुर पर अगरेजो की चढाई, जाटो की वीरता और अगरेजो की पराजय का अत्यत ओजपूर्ण कथन किया है। इस प्रकार की रचनाओ के कुछ अश यहाँ उद्धृत किये जाते है—

१—चढे है फिरगी भयौ भारत भरतपुर मे, तोपन तरपि कै, हलान पै हलान की।
काली करी तृपत, फिरगी सो कुरगी भए, एक हू कला न चली, पथरकलान की॥ (प्रेमकवि)

२—मच्यौ घमासान, कोस तीन लगि लोथ परी, मर गये सूर साँचे, मोहरा अगाह ते।
कहे 'जसराम' अगरेज जग हार गये, जीते जदुवशी सूर, लडत उछाह ते॥ (जसराम)

३—तेरे तेज तत्ता ते, चकत्ता मे रही न सत्ता, लत्ता से उडाये, सब गोरे कलकत्ता के। (भागमल्ल)

४—फिरका फिरगिन के फारिकै फतूह करे, जीत के नगारे रनजीत के वजत हे। (गंगाधर)

५—भेजौ फोरि पटक-पछार लात खभन सो, लेडी अगरेजन की रोवे कलकत्ता मे। (प्रसिद्ध कवि)

**रणजीतसिह के उत्तराधिकारी**—रणजीतसिह की मृत्यु स० १८६२ मे हुई थी। उसके चार पुत्र १. रणधीरसिह, २ बलदेवसिह, ३. हरिदेवसिह और ४. लक्ष्मणसिह थे। रणजीतसिह के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र रणधीरसिह भरतपुर का राजा हुआ था। उसने स० १८६२ से १८७९ तक शासन किया। उसके शासन काल मे इस भू-भाग मे कोई ऐसी घटना नही हुई, जिसने जाट राज्य की शाति को भग किया हो। फलत रणधीरसिह अपने सीमित अधिकृत क्षेत्र पर बिना झगडे-झझट के शासन करता हुआ अपना राज्य काल पूरा कर गया। रणधीरसिह की रानी लक्ष्मी धार्मिक प्रवृत्ति और कलाभिरुचि की महिला थी। उसने वृदावन के केशीघाट पर एक दर्शनीय इमारत बनवाई थी, जो 'लक्ष्मी रानी की कुज' कहलाती है। उसके अतिरिक्त उसने गोवर्धन के निकटवर्ती कुसुमसार नामक स्थान मे एक सुदर तालाब भी बनवाया था।

रणधीरसिंह के पश्चात् उसका छोटा भाई बलदेवसिंह स० १८७९ मे भरतपुर का राजा हुआ था। उसने केवल १८ माह तक शासन किया। उनकी मृत्यु स० १८८१ मे हो गई। रणधीर सिंह और बलदेवसिंह दोनो की सुंदर छतरियाँ गोवर्धन मे मानसी गगा के निकट बनी हुई हैं। ये छतरियाँ ब्रज की आधुनिक वास्तु कला के सुंदर नमूने हैं। बलदेवसिंह और उसकी रानी अमृत-कौर दोनो ही कवि थे। उनकी ब्रजभाषा रचनाएँ उपलब्ध हैं।

**भरतपुर की पराजय और ब्रज पर अंगरेजो का अधिकार**—राजा बलदेवसिंह की मृत्यु के समय उसका पुत्र बलवंतसिंह केवल ६ साल का बालक था। नियमानुसार वही राजा होने का अधिकारी था। अंगरेजो ने भी उसे स्वीकार कर लिया था, किंतु उसका चचेरा भाई दुर्जनशाल स्वय राजा होना चाहता था। उसका समर्थन राज्य के अनेक जाट सरदार कर रहे थे। दुर्जनशाल ने अपने को राजा घोषित कर बलवंतसिंह को नजरबंद कर दिया था। दिल्ली के अंगरेज रेजीडेंट सर डेविड आक्टर लोनी ने बलवंतसिंह को राज्याधिकार दिलाने के लिए सेना सहित प्रस्थान किया, किंतु उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट ने उसे रोक दिया, क्यो कि उसकी नीति भारतीय राजाओ के घरेलू मामलो मे दखल देने की नहीं थी। दुर्जनशाल ने पड़ौसी राजपूत राजाओ से और उत्तर भारत के मरहठा सरदारो से सहायता प्राप्त करने की चेष्टा की और वह स्वय भी भारी सैनिक तैयारी करने लगा। उस समय की राजनैतिक स्थिति के कारण गवर्नर जनरल को अपनी नीति मे परिवर्तन करना पडा, अत उसने अंगरेजी सेना को भरतपुर पर आक्रमण करने की आज्ञा प्रदान कर दी। भरतपुर के विरुद्ध पहिले युद्धो मे विफलता मिलने से अंगरेजो की बडी अपकीर्ति हुई थी। उसे दूर करने के लिए भी वे उस पर अधिकार कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहते थे। सयोग से उन्हे उसके लिए बहाना मिल गया था। उन्होंने कंबरमियर की कमान मे विशाल फौज और भारी तोपखाने के साथ भरतपुर पर आक्रमण कर दिया। अंगरेजी सेना ६ सप्ताह तक दुर्ग पर गोलाबारी करती रही। जाटो ने उस बार भी बडा कडा प्रतिरोध किया था, किंतु घरेलू झगडे के कारण उन्हे पराजित होना पडा।

स० १८८३ ( १८ जनवरी, सन् १८२६ ई० ) मे अंगरेजी सेना ने भरतपुर के दुर्ग मे प्रवेश किया। दुर्जनशाल को गिरफ्तार कर इलाहाबाद भेज दिया गया और बालक बलवंतसिंह को राजा बनाया गया। राजमाता अमृतकौर उसकी अभिभाविका हुई। वह अंगरेज पोलीटिकल एजेण्ट के नियंत्रण मे राज-काज देखने लगी। गोवर्धन का परगना जाट राज्य से पृथक कर अंगरेजी राज्य मे मिला लिया गया। इस प्रकार ब्रज प्रदेश पर अंगरेजो का पूरी तरह आधिपत्य हो गया था। उसके बाद भरतपुर मे स्थायी रूप से शांति स्थापित हो गई, जिससे वहाँ के शासको को राज्य मे सांस्कृतिक उन्नति करने का सुयोग मिला था। बलवंतसिंह के माता-पिता दोनो ही ब्रज साहित्य के प्रेमी और कवि थे, अत उसे जन्म-घुटी मे ही साहित्यानुराग का रस प्राप्त हुआ था। उसका दरबार ब्रजभाषा कवियो से भरा रहता था और वह स्वय भी काव्य-रचना मे दत्तचित्त रहता था। बलवंतसिंह के समय मे भरतपुर राज्य ब्रज साहित्य का प्रमुख केन्द्र बन गया था। उसकी मृत्यु स० १९१० मे हुई थी।

**परवर्ती जाट राजा**—बलवंतसिंह के बाद उसका पुत्र यशवंतसिंह भरतपुर का राजा हुआ था। उसके शासन काल मे अंगरेजो के विरुद्ध सैनिक विद्रोह हुआ था, जिसमे इस देश की जनता ने भी आंशिक रूप से भाग लिया था। उसके फलस्वरूप अंगरेजी कंपनी का अधिकार समाप्त

भरतपुर किले का द्वार

जाट राजाओ का सम्मिलित चित्र

हो गया और इगलेण्ड की महारानी विक्टोरिया ने इस देश की शासन सत्ता सँभाल ली थी। उस समय समस्त भारत पर अगरेजी राज्य दृढता पूर्वक कायम हो गया। यहाँ के अन्य राजा-महाराजाओ की तरह जाट राजाओ का भी तब कोई खास महत्व नही रह गया था। वे नाम को अपने राज्य के स्वामी थे, किंतु वास्तव मे अगरेजो के आधीन थे। यशवंतसिंह के पश्चात् रामसिंह राजा हुआ, किंतु उसकी अव्यवस्था से असंतुष्ट होकर अगरेज सरकार ने उसे सं० १९५७ मे गद्दी से हटा दिया था। तब उसका पुत्र कृष्णसिंह राजा हुआ। उसने वडे उत्साह पूर्वक भरतपुर राज्य को नये साँचे मे ढालने की चेष्टा की थी। उसने बिजली, टेलीफोन तथा उच्च शिक्षा की व्यवस्था की और उर्दू के स्थान पर हिंदी को राजभाषा बनाया था। उसके काल मे भरतपुर मे हिंदी साहित्य सम्मेलन का सुप्रसिद्ध अधिवेशन हुआ था, जिसमे महामना मदनमोहन मालवीय और विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे राष्ट्रीय नेता उपस्थित हुए थे। कृष्णसिंह स्वतंत्र प्रकृति और राष्ट्रीय विचारो का राजा था। उसके प्रगतिशील कार्य-कलाप उस काल के अगरेज शासको को आपत्तिजनक ज्ञात हुए थे। फलत उसे भी गद्दी से हटा दिया गया। तत्पश्चात् उसके पुत्र व्रजेन्द्रसिंह का शासन हुआ; जो अगरेजी राज्य के अंत होने पर स्वाधीन भारतीय संघ मे राज्यो का विलय हो जाने के कारण समाप्त हो गया था।

## जाट राजाओं का वंशवृक्ष
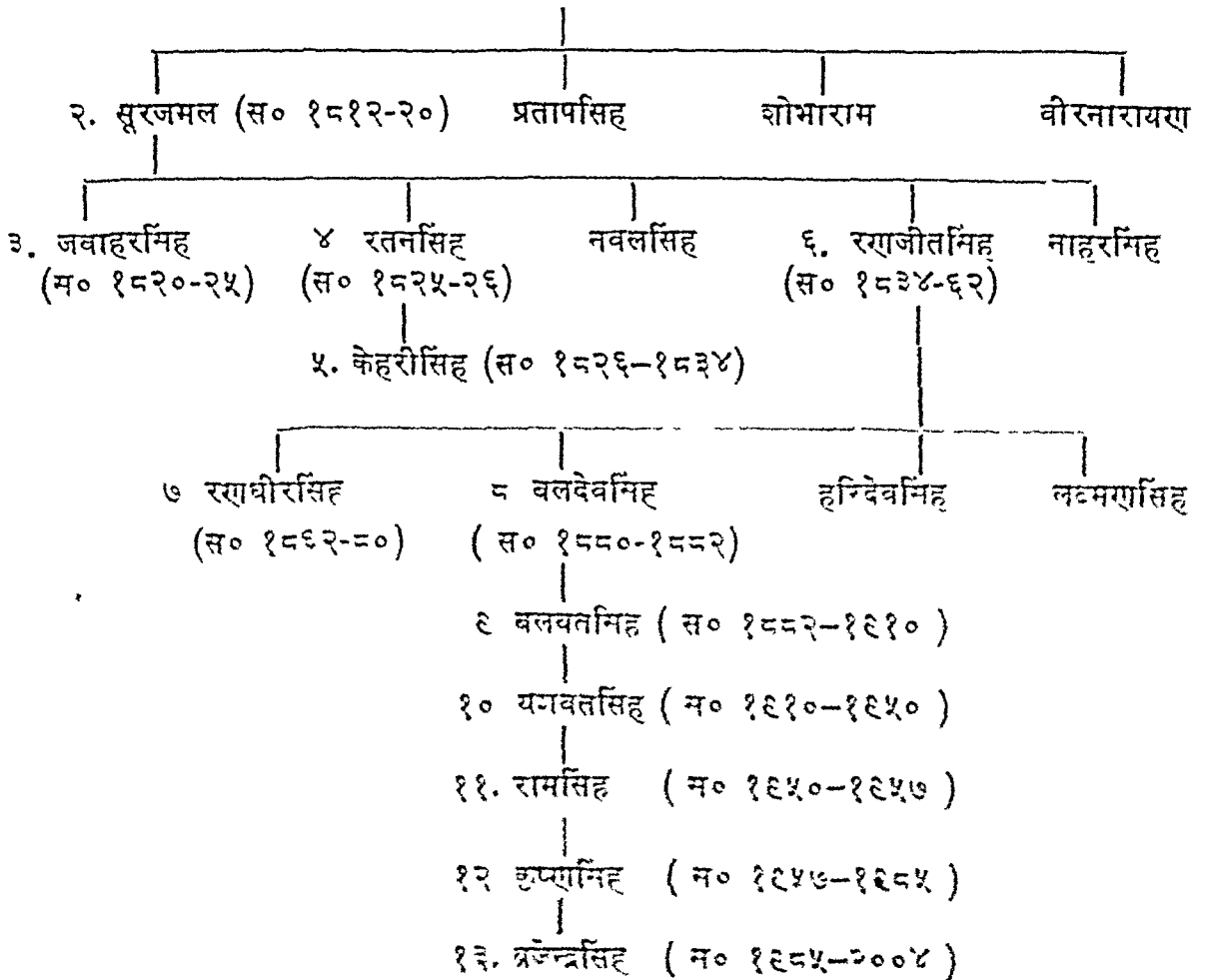
# उपलब्धियाँ और अभाव

**इस काल का महत्व**—ब्रज संस्कृति के इतिहास का यह 'उत्तर मध्य काल' अपने पूर्ववर्ती सुप्रसिद्ध 'मध्य काल' के समान ही छै शताब्दियों से कुछ अधिक का है, किंतु इसका महत्व उससे भी कहीं ज्यादा है। बल्कि यह कहना चाहिए कि यह इतिहास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण काल है। क्या राजनैतिक, क्या धार्मिक, क्या कला विषयक और क्या साहित्य संबंधी किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाय, इसकी तुलना का कोई दूसरा काल नहीं मिलेगा। ब्रज संस्कृति का जो स्वरूप आजकल मान्य है, उसका निर्माण, विकास और साथ ही साथ ह्रास भी इसी काल में हुआ था। इसीलिए इस काल का इतना अधिक महत्व है।

**राजनैतिक स्थिति का सिंहावलोकन**—जिन विदेशी मुसलमानों ने अपने मजहबी जोश से इस देश पर आक्रमण किया था, उन्होंने अपने सुदृढ़ सैनिक संगठन, प्रचंड कर्तृत्व और छल–बल की रण–नीति से विशृंखल एवं असंगठित हिंदू राजाओं को पराजित कर यहाँ की हिंदू जनता पर अपना कठोर मजहबी शासन लाद दिया था। उन्होंने दिल्ली में अपनी राजधानी कायम कर सुलतानों के नाम से राज्य का संचालन करना आरंभ किया। उनका शासन सैनिक और मजहबी था, जिसका लक्ष्य प्रजा–पालन की अपेक्षा इस्लाम का प्रचार करना अधिक था। उनके छल–बल और लोभ–लालच से जो लोग मुसलमान बनाये गये, उन्हें शासन की ओर से कुछ सुविधाएँ दी गई थीं, किंतु जिन्होंने किसी भी तरह अपने पैतृक धर्म को नहीं छोड़ा, उनका खूब उत्पीड़न किया गया। चूँकि ब्रजमंडल हिंदू धर्म का केन्द्र था और वह दिल्ली के निकट होने के कारण सुलतानों की नाक के नीचे भी था, अतः इसे उनके क्रूर प्रहार का सदैव शिकार होना पड़ा था। उन्होंने यहाँ की जनता को अपने धर्म-परिवर्तन के लिए विवश करने को बड़े कठोर और अमानवीय आदेश प्रचलित किये थे।

सुलतानों का क्रूर शासन समाप्त होने पर सूर पठानों एवं मुगलों का उदार शासन आरंभ हुआ। मुगल सम्राट अकबर की बुद्धिमत्तापूर्ण उदार धार्मिक नीति ने हिंदुओं के मन को जीत लिया था। उसका यह परिणाम हुआ कि स्वयं हिंदुओं ने ही मुगल साम्राज्य के निर्माण में सर्वाधिक योग दिया था। जहाँ राजा मानसिंह की तलवार ने अकबर के साम्राज्य का विस्तार किया, वहाँ टोडरमल के बुद्धि–कौशल ने उसे प्रशासनिक सुदृढ़ता प्रदान की थी। अकबर के हिंदू सामंत उसके मुसलमान सरदारों से बढ़ कर, यहाँ तक कि उसके पुत्रों से भी कहीं अधिक स्वामि-भक्त सिद्ध हुए थे।

सम्राट अकबर के शासन काल में ही ब्रज संस्कृति का निर्माण और विकास हुआ था। उसके लिए उसने सब प्रकार की राजकीय सुविधाएँ दी थीं। स्वयं अकबर के साथ ही साथ उसकी हिंदू रानियों और हिंदू सरदार–सामंतों ने भी उसके लिए पूरा सहयोग दिया था। अकबर की राजधानी आगरा ब्रजमंडल के अंतर्गत थी। उसके कारण भी सम्राट की प्रशासनिक नीति का ब्रज पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा था। जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन में भी अकबर की नीति का बहुत–कुछ पालन किया गया, अतः उनके काल में भी ब्रज संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास हुआ था। उसके बाद औरंगजेब का कठोर शासन आरंभ हुआ। उसने अपने पूर्वजों के विरुद्ध प्रशासनिक नीति का प्रचलन किया था, जिसके कारण ब्रज की जनता को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था। जहाँ अकबर के कारण ब्रज संस्कृति का विकास हुआ था, वहाँ औरंगजेब के कारण उसका ह्रास होगया।

मुगल साम्राज्य की समृद्धि और सुख-सुविधाओ की प्रतिक्रिया इस देश के निवासियो पर बडी व्यापक रूप मे हुई थी। जो मुसलमान घराने अपने अभावग्रस्त मूल निवास स्थानो को छोड कर भारत मे आये थे, वे इस धन-धान्यपूर्ण समृद्ध देश के शासक बन कर ऐश-आराम और शराबखोरी मे ऐसे मस्त हुए कि उनमे वीरत्व और कष्ट-सहन की सैनिक भावना का लोप हो गया था। उनके साथ रहने से यहाँ के राजपूत सरदार भी अपनी स्वाभाविक वीरता को भुला कर मुसलमानो की तरह ही काहिल और सुस्त हो गये थे। औरगजेब के क्रूर शासन मे भी राजपूत राजाओ को अपने कर्त्तव्य का बोध नही हुआ। उनके स्थान की पूर्ति जाट, मरहठा और सिक्ख जैसे नये हिंदू सगठनो ने की, जिन्होने औरगजेबी शासन को झकझोर दिया और फिर मुसलमानी राज्य को उखाड फेका था। औरगजेब के बाद की ब्रज की राजनैतिक स्थिति पर जाटो और मरहठो का बडा प्रभाव पडा था। यद्यपि जाटो ने ब्रज के मुसलमानी शासन से सदैव विद्रोह किया था, तब भी उनका दृष्टिकोण सकुचित होने से उदात्त भावना से रहित था। उनके विरुद्ध छत्रपति शिवाजी ने हिंदू राज्य की स्थापना के व्यापक दृष्टिकोण से मरहठो का सगठन किया था।

शिवाजी हिंदू जाति का महान् नेता और मार्ग-दर्शक था। उसने अपने समय के प्रबलतम मुसलमानी राज्य से लोहा लेकर एक शक्तिशाली हिंदू राज्य की नीव डाली थी। उसके सबध मे श्री यदुनाथ सरकार ने लिखा है,—"शिवाजी प्रथम महापुरुष थे, जिन्होने बीजापुर और दिल्ली को चुनौती दी और इस प्रकार अपने देश वासियो को सिखाया कि वे युद्ध मे स्वतत्र रूप से नेतृत्व कर सकते है। फिर उन्होने एक राज्य स्थापित किया और अपने आदमियो को सिखाया कि उनमे राज्य के सभी विभागो मे प्रशासन करने की क्षमता है। उन्होने अपने ही उदाहरण द्वारा अपने लोगो को सिखाया कि हिंदू जाति एक राष्ट्र का निर्माण कर सकती है, एक राज्य की नीव डाल सकती है और वैरियो को हटा सकती है। हिंदू अपनी प्रतिरक्षा स्वय कर सकते है और वे साहित्य, कला, वाणिज्य तथा उद्यम का सरक्षण एव उन्नयन कर सकते है[1]।" शिवाजी के महान् उद्देश्य का पता उस पत्र से लगता है, जो उसने मिर्जा राजा जयसिंह को उस समय लिखा था, जब वह औरगजेब के आदेशानुसार शिवाजी की सैनिक हलचलो को दबाने के लिए दक्षिण गया था।

शिवाजी के उस ऐतिहासिक पत्र का कुछ अश इस प्रकार है,—"मैंने सुना है, तू मुझ पर आक्रमण करने ( एव ) दक्षिण-प्रात को विजय करने आया है। हिंदुओ के हृदय तथा आँखो के रक्त से तू ससार मे लाल मुँह वाला ( यशस्वी ) हुआ चाहता है। पर तू यह नही जानता कि यह ( तेरे मुँह पर ) कालिख लग रही है, क्यो कि इससे देश तथा धर्म पर आफत आ गई है।··· यदि तू ( अपनी ओर से ) स्वय दक्षिण-विजय करने आता ( तो ) मेरे सिर और आँख तेरे रास्ते के बिछौने बन जाते। मैं तेरे हमरकाब ( घोडे के साथ ) बडी सेना लेकर चलता ( और ) एक सिरे से दूसरे सिरे तक ( भूमि ) तुझे सौंप देता ( विजय कर देता ); पर तू तो औरगजेब की ओर से ( उस ) भद्रजनो के धोखा देने वाले के बहकावे मे पड कर आया है। अब मैं नहीं जानता कि तेरे साथ कौन खेल खेलूँ। ( अब ) यदि मैं तुझ से मिल जाऊँ, तो यह पुरुषत्व नही है, क्यो कि पुरुष लोग समय की सेवा नही करते, सिंह लोमडीपना नहीं करते। और यदि मैं तलवार तथा कुठार से काम लेता हू, तो दोनो ओर हिंदुओ को ही हानि पहुँचती है। बडा खेद तो

(१) शिवाजी और उनका युग, पृष्ठ ३८०

यह है कि मुसलमानो के खून पीने के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य के निमित्त मेरी तलवार को म्यान से निकलना पडे। यदि इस लडाई के लिये तुर्क आये होते, तो (हम) शेर-मर्दों के निमित्त (घर बैठे) शिकार होते। पर वह न्याय तथा धर्म से वंचित पापी जो कि मनुष्य के रूप मे राक्षस है, अफजलखाँ से कोई श्रेष्ठता न प्रगट हुई, (और) न शाइस्ताखाँ की कोई योग्यता देखी तो तुझ को हमारे युद्ध के निमित्त नियत करता है, क्यो कि वह स्वय तो हमारे आक्रमण को सहने की योग्यता रखता नही। (वह) चाहता है कि हिंदुओ के दल मे कोई बलशाली ससार मे न रह जाए, सिंहगण आपस मे ही (लड-भिड कर) घायल तथा श्रान्त हो जाएँ, जिससे कि गीदड जगल के सिंह बन बैठें। यह गुप्त भेद तेरे मस्तक मे क्यो नही बैठता! प्रतीत होता है कि उसका जादू तुझे बहकाये रहता है!......यदि तेरी काटने वाली तलवार मे पानी है, यदि तेरे कूदने वाले घोडे मे दम है, तो तुझ को चाहिये कि धर्म के शत्रु पर आक्रमण करे (एव) इस्लाम की जड-मूल खोद डाले! ...वह तो अपने इष्ट साधन के लिए भाई के रक्त (तथा) बाप के प्राणो से भी नही डरता है।

..यह अवसर हम लोगो के आपस मे लडने का नही है, क्यो कि हिंदुओ पर (इस समय) बडा कठिन कार्य आ पडा है। हमारे देश, धन, बाल-बच्चे तथा पवित्र देवालय इन सब पर उसके काम से आफत पड रही है, (तथा) उनका दु ख सीमा तक पहुँच गया है। यदि कुछ दिन उसका काम ऐसा ही चलता रहा (तो) हम लोगो का कोई चिह्न (भी) पृथ्वी पर न रह जायेगा! बडे आश्चर्य की बात है कि मुट्ठी भर मुसलमान हमारे (इतने) बडे इस देश पर प्रभुता जमावें। यह प्रबलता (कुछ) पुरुषार्थ के कारण नही है। यदि तुझको समझ की आँखें है तो देख (कि) वह हमारे साथ कैसी धोखे की चाले चलता है और अपने मुँह पर कैसा २ रग रँगता है। हमारे पाँवों को हमारी ही साकलो से जकडता है (तथा) हमारे सिरो को हमारी ही तलवार से काटता है! हम लोगो को (इस समय) हिंदू, हिंदुस्थान तथा हिंदू-धर्म (की रक्षा) के निमित्त अत्यधिक प्रयत्न करना चाहिये। हमको चाहिये कि हम तुर्की का जवाब तुर्की मे दे। यदि तू जसवतसिंह से मिल जाय और हृदय से उस कपट कलेवर के पैंडे पड जाय (तथा) राणा से भी तू एकता का व्यवहार करले, तो आशा है कि बडा काम निकल जाये। चारो तरफ से धावा करके तुम लोग युद्ध करो। उस साँप के सिर को पत्थर के नीचे दबालो (कुचल डालो) कि कुछ दिनो तक वह अपने ही परिणाम के सोच मे पडा रहे (और) दक्षिण प्रात की ओर अपना जाल न फैलावे (और) मैं इस ओर भाला चलाने वाले वीरो के साथ इन दोनो बादशाहो का भेजा निकाल डालू! मेघो की भाँति गरजने वाली सेना से मुसलमानो पर तलवार का पानी बरसाऊँ। हम लोग अपनी सेनाओ की तरगो को दिल्ली मे उस जर्जरीभूत घर मे पहुँचादे। उसके नाम मे न तो 'औरग' (राज सिंहासन) रह जाये और न 'ज़ेब' (शोभा), न उसकी अत्याचारी तलवार (रह जाय) और न कपट का जाल। हम लोग शुद्ध रक्त से भरी हुई एक नदी बहादे (और उससे) अपने पितरो की आत्माओ का तर्पण करे! न्यायपरायण प्राणो के उत्पन्न करने वाले (ईश्वर) की सहायता से हम लोग उसका स्थान पृथ्वी के नीचे (कब्र मे) बनादे। यह काम (कुछ) कठिन नही है। (केवल यथोचित) हृदय, हाथ तथा आँख की आवश्यकता है। दो हृदय (यदि) एक हो जाये तो पहाड को तोड सकते है, (तथा) समूह के समूह को तितर बितर कर सकते हैं[1]।..

---

(१) त्रिवेणी, जनवरी सन् १९४८

शिवाजी के परवर्ती मरहठा सरदारो ने अपनी प्रबल सैनिक शक्ति से मुसलमानी शासन को समाप्त करने मे सबसे अधिक योग दिया था, किंतु वे उस काल की अन्य हिंदू शक्तियो को सगठित करने की अपेक्षा उनके विघटन मे ही सहायक हुए थे। शिवाजी के महान् उद्देश्य के विपरीत उन्होने विदेशी मुसलमानो के साथ ही साथ इस देश के राजपूतो और जाटो पर भी हाथ साफ किया था। उस काल के राजपूत राजाओ मे सवाई जयसिह के अतिरिक्त किसी दूसरे का कोई महत्वपूर्ण कार्य दिखलाई नही देता। जाटो मे सूरजमल और जवाहरसिह जैसे योग्य सेनानी और वीर योद्धा भी मरहठो की नीति के कारण व्रज मे स्थायी हिंदू राज्य की स्थापना नही कर सके थे। यदि मरहठा सरदार राजपूतो और जाटो को अपने साथ रखते, तो वे शिवाजी के उद्देश्य के अनुसार 'हिंदू पातशाही' की स्थापना करने मे अवश्य ही सफल होते। अतिम मरहठा सरदारो का दृष्टिकोण और भी अधिक सकीर्ण हो गया था। वे राजपूतो और जाटो के साथ ही साथ अपने सहयोगी और साथियो से भी लडने–झगडने लगे थे। उस काल के महान् मरहठा सरदार माधवजी सिंधिया ने यद्यपि मुगल सम्राट को अपने सरक्षण मे लेकर दिल्ली के लाल किले पर अपना भगवा ध्वज फहरा दिया था, तथापि प्रतिद्व दी सरदारो के ईर्ष्या-द्वेष के कारण उसके प्रयत्न का कोई स्थायी परिणाम नही निकला। सिंधिया और होलकर जैसे उस काल के प्रबलतम मरहठा सरदारो की प्रतिद्व दिता ने मरहठा शक्ति को ही क्षीण नही किया, वरन् इस देश को अगरेजो की दासता के बधन मे ही जकड दिया था। इस प्रकार मुसलमानी राज्य को समाप्त करने के बाद भी हिंदू राज्य की स्थापना का उनका सुख स्वप्न स्वय उनके दोष के कारण ही पूरा नही हो सका था।

**धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति की समीक्षा**—मुसलमानी राज्य की स्थापना होने पर दिल्ली के सुलतानो ने अपने मजहबी जोश मे भारतीय धर्म और सस्कृति पर बडा कठोर प्रहार किया था। 'इस्लाम' का शाब्दिक अर्थ 'शाति मे प्रवेश करना' है[1], किंतु सुलतानो ने इस्लाम के प्रचार के नाम पर ही यहाँ घोर अशाति का वातावरण बना दिया था। उनके कारण यहाँ के पुरातन धर्म और सस्कृति का वैसा ही लोप जाता, जैसा ससार के अन्य देशो मे हुआ था, किंतु इस देश के सौभाग्य से उस काल के धर्माचार्यों और सत–महात्माओ ने वसा नही होने दिया था। उस महान् कार्य मे व्रज मे निवास करने वाले धार्मिक महानुभावो ने सर्वाधिक योग दिया था। दिल्ली के सुलतानो ने उनके प्रयत्न को विफल करने के लिए बडे बर्बरतापूर्ण आदेश जारी किये थे। उन्होने तीर्थ कर और जजिया कर जैसे अमानवीय करो का प्रचलन किया, मदिर–देवालयो को नष्ट किया और पूजा–उपासना को रोक दिया था, गो–वध को खुले–आम होने दिया और गैर मुस्लिमो को बलात् मुसलमान बनाया था। ऐसी विषम परिस्थिति मे भी व्रज के धर्माचार्यों और सत–महात्माओ ने यहाँ से पलायन नही किया, बल्कि वे साहसपूर्वक अपने प्रयत्न मे लगे रहे। यद्यपि उन्होने यहाँ की हिंदू जनता को सुलतानो के विरुद्ध शस्त्र धारण करने का उपदेश नही दिया; तथापि अपने आत्म बल और नैतिक प्रभाव से उन्होने एक ओर शासको से सैद्धातिक सघर्ष किया, और दूसरी ओर जनता के मनोबल को बनाये रखा। उसका यह परिणाम हुआ कि व्रज के निवासी नाना प्रकार की कठिनाइयो को सहन करते हुए भी अपने धर्म पर डटे रहे थे।

मुगल सम्राट अकबर के शासन काल मे व्रज की धार्मिक स्थिति ने अभूतपूर्व ऐतिहासिक मोड लिया था। उस महान् सम्राट ने अपनी उदार धार्मिक नीति से व्रज सस्कृति के निर्माण और

---

(१) रिलीजन आफ इस्लाम ( मुहम्मद अली )

विकास मे जो महत्वपूर्ण योग दिया, उसकी जितनी भी प्रशसा की जाय वह थोडी है। उसने तीर्थ कर एव जजिया कर हटा दिये, मदिर-निर्माण और सेवा-पूजा पर लगी हुई रोक को रद्द कर दिया, तथा गो-वध बद करने का आदेश जारी किया। ब्रज के धर्माचार्यों एव सत-महात्माओ का उसने सन्मान किया और उन्हे सब प्रकार की सुविधाएँ देने की चेष्टा की। अकबर के उस सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण के कारण ही ब्रज मे धार्मिक महानुभावो का एक बडा समुदाय एकत्र हो गया और यहाँ कई शताब्दियो के बाद बडे-बडे मदिर-देवालय बनाये गये। गो० विट्ठलनाथ जी ने सम्राट से सुविधाएँ प्राप्त कर जहाँ वल्लभ सप्रदाय की बडी उन्नति की थी, वहाँ ब्रज सस्कृति के निर्माण मे भी महत्वपूर्ण योग दिया था। ब्रज के जिन धर्माचार्यो और सत-महात्माओ ने अपनी अतिशय त्याग वृत्ति के कारण सम्राट की आदर पूर्वक दी हुई सुविधाओ की उपेक्षा की थी, उनमे स्वामी हरिदास, कुभनदास और सूरदास के नाम उल्लेखनीय है। यदि उनका वह दृष्टिकोण न होता, तो चाहे उनकी अतर्मुखी साधना और उनके एकात भजन मे कुछ बाधा आती, किंतु उनके द्वारा ब्रज सस्कृति की प्रगति तथा जन कल्याण के कार्य मे और भी अधिक योग मिल सकता था। तानसेन ने सगीत के क्षेत्र मे जो युगातरकारी कार्य किया था, वह अकबर के प्रोत्साहन से ही सभव हो सका था। फिर भी ब्रज के धार्मिक महानुभावो के सात्विक जीवन एव त्याग-तप तथा उनकी उपासना और कला-साधना का उस काल मे बडा व्यापक प्रभाव पडा था। उनमे राजा से रक तक और हिंदुओ के साथ सहृदय मुसलमान तक प्रभावित हुए थे। ताजबीवी, पीरज़ादी, रसखान, अलीखान और रहीम जैसे ब्रज सस्कृति के प्रेमी मुसलमान स्त्री-पुरुष उस काल मे हुए थे, वैसे फिर नही हो सके।

ब्रज की धार्मिक उन्नति और सास्कृतिक प्रगति का वह स्वर्ण काल पूरा एक शताब्दी तक भी नही रहा था। उसके बाद औरगजेब के शासन काल मे वे सभी बातें पलट गई थीं। उस तअास्सुबी सम्राट की मज़हबी कट्टरता और गैर मुस्लिमो के प्रति उसकी कठोर नीति ने ब्रज की उच्च कोटि की धर्मोन्नति और समृद्ध सस्कृति का सर्वनाश कर दिया था। यहाँ के अनेक धर्माचार्य अपने उपास्य देव-स्वरूपो तथा धार्मिक और कला-कोविद शिष्य-सेवको के साथ ब्रज को छोड कर अन्यत्र सुरक्षित स्थानो मे चले गये थे। फलत यहाँ के अनेक मदिर-देवालय सूने हो गये और गोकुल तथा गोवर्धन जैसे विख्यात सास्कृतिक केन्द्र उजड गये थे। ब्रज मे ऐसा सास्कृतिक अधकार हुआ कि फिर वह पूरी तरह कभी दूर नही हो सका था। यदि औरगजेब के स्थान पर उसका बडा भाई दारा मुगल सम्राट हुआ होता, तो वह बुरा समय नही आता, किंतु विधि के विधान को कौन बदल सकता है!

मुगल शासन के अतिम काल मे ब्रज मे पहिले सवाई जयसिंह और बाद मे माधव जी सिंधिया जैसे धर्म और सस्कृति के प्रेमी राजकीय महापुरुषो का बडा प्रभाव रहा था। जयसिंह ने मुगल सम्राट मुहम्मदशाह से और माधव जी ने शाहआलम से अनेक सुविधाएँ प्राप्त कर ब्रज की बिगडी हुई धार्मिक और सास्कृतिक स्थिति को सुधारने की चेष्टा की थी, किंतु उनके प्रयत्नो का थोडा ही सुखद परिणाम निकला था। उस काल मे ब्रज मे बदनसिंह, सूरजमल और जवाहरसिंह जैसे विख्यात जाट वीर हुए थे और उन्होने यहाँ के बडे भू-भाग पर शासन भी किया था। यद्यपि वे ब्रज की धर्मोपासना के प्रति निष्ठावान और ब्रज सस्कृति के बडे प्रेमी थे, तथापि उनका दृष्टिकोण अधिक व्यापक और उदात्त भावना से प्रेरित नही था। इसीलिए वे कुछ अच्छी इमारते बनवाने के अतिरिक्त यहाँ की धर्मोपासना और सस्कृति की प्रगति मे कोई बडा योग-दान नही कर सके थे।

---

## पंचम अध्याय

# आधुनिक काल

[ विक्रम स० १८८३ से स० २०२२ तक ]

अगरेजी कपनी का शासन—

**भारत मे अगरेजी राज्य की स्थापना**—इगलेड के अगरेज व्यापारियो ने 'ईस्ट इडिया कपनी' नामक एक व्यापारिक सस्था भारतवर्ष के साथ व्यापार करने के लिए बनाई थी। उसके कर्मचारी भारत मे इसी उद्देश्य से आये थे, किंतु वे व्यापार के साथ ही साथ यहाँ की राजनीति मे भी भाग लेने लगे थे। उन्होने अपनी व्यापारिक कोठियो की रक्षा के लिए अनेक सैनिक रख छोडे थे। उनके द्वारा वे इस देश के राजा-महाराजाओ के घरेलू झगडो मे कभी एक पक्ष का साथ देते थे और कभी दूसरे पक्ष की सहायता करते थे। उसके एवज मे वे उन राजा-महाराजाओ से ऐसी शर्तें मनवा लेते थे, जिनसे उनके व्यापार का विस्तार होने के साथ ही साथ उन्हे कुछ राज्याधिकार भी प्राप्त हो जाता था। वह क्रम पर्याप्त समय तक चलता रहा था। उसके फल स्वरूप एक दिन ऐसा आया, जब वे अगरेज व्यापारी यहाँ के व्यापार पर ही हावी नही हुए, बल्कि वे इस देश के भी स्वामी बन गये थे!

थोडे से विदेशी व्यापारियो ने सात समुद्र पार से आकर इस लबे-चौडे पुरातन देश के सैकडो राजा-महाराजाओ को उनके परपरागत राज्याधिकार से वचित कर दिया और आप यहाँ के एक छत्र राजा बन बैठे! यह बात पढने-सुनने मे बडी अजीब लगती है, किंतु उस समय यहाँ की राज्य शक्तियो ने आपस मे लड कर इस देश की जैसी अरक्षित दशा कर दी थी, उसके कारण वैसी स्थिति का हो जाना कोई आश्चर्य की बात नही थी। कूटनीतिज्ञ अगरेजो ने अपने बुद्धि-कौशल और भारतीय सैनिको की तलवार के बल पर यहाँ के कलहप्रिय राजाओ को एक-एक कर पराजित कर दिया और वे यहाँ अगरेजी राज्य की स्थापना करने मे सफल हो गये थे।

**ब्रज पर अगरेजो का अधिकार**—अगरेजो ने भारत के दक्षिणी और पूर्वी भागो पर बहुत पहिले ही अधिकार कर लिया था, किंतु उत्तरी भारत मे अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए उन्हे मरहठो से अति काल तक सघर्ष करना पडा। जब तक माधव जी सिंधिया जीवित रहा, तब तक अगरेजो के पाँव ब्रजमडल और उसके समीपवर्ती क्षेत्र मे नही जम सके थे। उसकी मृत्यु के पश्चात् इधर मरहठा सरदारो मे गृह-कलह होने लगा, उधर उनका केन्द्रीय नेतृत्व दुर्बल हो गया था। उन कारणो से अगरेजो को ब्रज पर अधिकार करने मे सुविधा हो गई थी। उन्होने सेनापति लेक के नेतृत्व मे स० १८६० मे पहिले अलीगढ किले पर और फिर दिल्ली पर अधिकार कर लिया था। उसके प्राय एक महीना बाद मथुरा पर और फिर आगरा पर भी अगरेजी सेना का अधिकार हो गया। तत्पश्चात् भरतपुर के जाट राजा रणजीतसिंह से अगरेजो की जो सधि हुई थी, उसमे सोख, सोसा, सहार आदि परगने भी अगरेजो के अधिकार मे आ गये थे। इस प्रकार स० १८६१ के अत तक ब्रज प्रदेश के आधे भाग से अधिक पर अगरेजो का आधिपत्य हो गया था और आधे से कम पर भरतपुर के जाट राजा का अधिकार था। उस समय ब्रज का जितना भाग अगरेजी राज्य मे था, उसके शासन केन्द्र आगरा, अलीगढ और सादाबाद थे। मथुरा का उस काल मे कोई राजनैतिक महत्व नही था।

सं० १८८३ में जब अंगरेजी सेना ने भरतपुर के सुदृढ़ दुर्ग पर अधिकार कर जाट राज्य की स्वतंत्र सत्ता समाप्त करदी थी, तब समस्त ब्रज प्रदेश पर अंगरेजों का आधिपत्य हो गया था। उसके बाद उन्होंने बलवंतसिंह को अपने आश्रय में लेकर उसे भरतपुर का राजा बना दिया था। उसके राज्य में भरतपुर, डीग, कुम्हेर, कामा आदि के परगने रखे गये, किन्तु गोवर्धन का परगना अंगरेजी राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार ब्रज प्रदेश के दो राजनैतिक भाग हो गये—बड़ा भाग अंगरेजी राज्य में था और छोटा भाग भरतपुर राज्य में। ब्रज का जितना भाग अंगरेजी राज्य में था, वह आगरा कमिश्नरी में रखा गया जिसे प्रशासन के लिए आगरा, अलीगढ़ मथुरा आदि जिलों में विभाजित कर दिया। वर्तमान मथुरा जिला कई बार के उलट-फेर से बना है।

जैसा लिखा जा चुका है, सं० १८६० (२ अक्टूबर, सन् १८०३) में मथुरा नगर पर अंगरेजों का सर्व प्रथम अधिकार हुआ था। उसके कुछ समय बाद जब आगरा भी उनके अधिकार में आ गया, तब प्रशासन की दृष्टि से इस क्षेत्र के दो केन्द्र आगरा और सादाबाद थे। सं० १८८३ में जाटों को पराजित कर जब अंगरेजों ने गोवर्धन के परगने को अपने अधिकार में लिया था, तब भी मथुरा जिले का केन्द्र सादाबाद ही था। सं० १८८९ में मथुरा जिले का नया ढाँचा बनाया गया था। तब उसमें अड़ींग, सहार, कोसी, मांट, नोहझील, महावन, सादाबाद और जलेसर की ८ तहसीलें थीं। उस समय मथुरा नगर को राजनैतिक महत्व देते हुए उसे सर्व प्रथम इस जिले का सदर मुकाम बनाया गया था।

सं० १८८३ से सं० १९१४ तक के काल में ब्रज के अंगरेजी शासन में प्रबंध व्यवस्था और तहसील-परगनों की सीमा में परिवर्तन के अतिरिक्त कोई अन्य उल्लेखनीय घटना नहीं हुई थी। उस काल में अंगरेज इस प्रदेश के एक मात्र अधिकारी थे और उनका विरोध करने वाली कोई शक्ति नहीं थी। कंपनी सरकार का ध्येय शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ बना कर अपने व्यापार के विस्तार द्वारा इस देश का शोषण करना था। इसके लिए अंगरेजों ने ऐसे कड़े कानून बनाये थे, जो भारतीय व्यापार को समाप्त कर उसमें लगे हुए व्यक्तियों को कंपनी सरकार की दासता करने को बाध्य करते थे। जिन राजा-महाराजाओं के राज्यों को उन्होंने छल-बल से छीना था, उनके प्रति भी उनका बड़ा दुर्व्यवहार रहा था, अतः वे भी कंपनी सरकार से असंतुष्ट थे। इस प्रकार सं० १९१४ में राजा से प्रजा तक अधिकांश भारतवासी कंपनी सरकार के विरोधी बन गये थे।

**अंगरेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह**—मुसलमानी राज्य का प्रभाव समाप्त होने के पश्चात् और अंगरेजी राज्य कायम होने से पहिले ब्रज पर जिन जाट और मरहठा शासकों का अधिकार था, वे भारतीय संस्कृति के प्रेमी और हिंदू धर्म के अनुयायी होने के कारण ब्रज की प्रगति में सहायक हुए थे। उन्होंने यहाँ सुंदर इमारतें बनवाई थीं और संस्कृत एवं ब्रजभाषा को प्रोत्साहन दिया था। उनके विरुद्ध अंगरेजों ने ईसाई धर्म के प्रचारक पादरियों को सुविधाएँ प्रदान की थीं और अंगरेजी भाषा प्रचलित करने की योजना बनाई थी। यहाँ के लोगों ने समझा जिस प्रकार मुसलमान शासकों ने उन्हें मुसलमान बनाने की चेष्टा की थी, उसी प्रकार अंगरेज उन्हें ईसाई बनाना चाहते हैं। उनकी व्यापारिक और कूटनीतिक चालों से भी यहाँ के लोग असंतुष्ट हो गये थे। उनके सामूहिक असंतोष का यह परिणाम हुआ कि इस देश की जनता कंपनी शासन के प्रति विद्रोह करने को तैयार हो गई। उसका नेतृत्व अंगरेजों द्वारा पदच्युत किये गये शासकों ने

किया था। मुगल साम्राज्य का अतिम अवशेष दिल्ली राज्य तब भी विद्यमान था। उसका अधिपति बहादुरशाह नाम मात्र का बादशाह था, जिसे अगरेजो की अधीनता स्वीकार करनी पडी थी। उसने विद्रोह की हलचलो का सचालन किया था। विद्रोही नेताओ ने सम्राट बहादुर शाह के नाम से एक जोरदार अपील तैयार की और उसे दूतो द्वारा गुप्त रीति से सभी राज्यो मे भेज दिया। उनकी योजना थी कि ३१ मई १८५७ के दिन सभी स्थानो मे एक साथ विद्रोह कर अगरेजी सेना पर धावा बोल दिया जावे और उसे पराजित कर देश को अगरेजो के प्रभाव से मुक्त किया जावे।

उस योजना के परिपक्व होने से पहिले ही मेरठ की छावनी मे १० मई को भारतीय सैनिको ने विद्रोह कर दिया था। उन्होने अगरेज अफसरो को मार कर अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी थी। इस प्रकार पूरी तैयारी के अभाव मे सामूहिक विद्रोह के क्रियान्वित होने मे बाधा उपस्थित हो गई थी। फिर भी ३१ मई सन् १८५७ के निश्चित दिवस पर उत्तर भारत के अनेक स्थानो मे भारतीय सैनिको तथा नागरिको ने अगरेजी सत्ता के विरुद्ध स्वतत्रता युद्ध का आरभ कर दिया था। उस स्वातत्र्य–अभियान के प्रमुख नेता नाना साहब, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, दिल्ली का बादशाह बहादुरशाह और लखनऊ–बादा के नवाब आदि थे। मेरठ के विद्रोही सैनिक वहाँ पर अपना अधिकार कायम कर दिल्ली की ओर बढे, जहाँ अनेक लोगो ने उनका साथ दिया। उन्होने दिल्ली के लाल किले पर अधिकार कर वहाँ के अग्रेजी शस्त्रागार को लूट लिया और अगरेज सैनिको को मार कर भगा दिया। इस प्रकार एक सप्ताह के अदर ही अदर दिल्ली से अगरेजी सत्ता समाप्त कर दी गई। वहाँ पर बहादुरशाह के नेतृत्व मे विद्रोहियो की स्वतत्र सरकार कायम हो गई, जो प्राय तीन महीनो तक रही थी।

**ब्रज मे विद्रोही हलचले**—मेरठ-दिल्ली की विद्रोहात्मक हलचलो का समाचार मथुरा मे १६ मई को पहुँचा था। उस समय थार्नहिल नामक एक अगरेज मथुरा का कलक्टर था और यहाँ के खजाने मे सवा छै लाख रुपये थे। कलक्टर ने अपनी रक्षा के लिए और खजाने को सुरक्षित स्थान पर भेजने के लिए भरतपुर से सहायता माँगी। वहाँ कप्तान निक्सन की कमान मे अगरेजी सेना थी। उसके तीन हजार सैनिक मथुरा आ गये। उन सैनिको मे अधिकाश भारतीय थे। कलक्टर ने उन्हे आदेश दिया कि वे खजाने को आगरा ले जावे, किन्तु भारतीय सैनिको ने आज्ञा का उल्लघन किया। उन्होने खजाने को लूट कर सैनिक अफसर वर्ल्टन को मार डाला। फिर उन्होने जेल को तोड कर कैदियो को मुक्त कर दिया। इस प्रकार मथुरा मे भी विद्रोह का वातावरण बन गया था।

उस काल मे यहाँ मथुरा के सेठो का बडा प्रभाव था। उन्होने एक ओर अगरेज अफसरो की सहायता की तथा दूसरी ओर विद्रोहियो से नगर को बचाकर वहाँ शाति–भग नही होने दी थी। विद्रोहियो के लिए भी मथुरा का धार्मिक महत्व मान्य था, अत उन्होने यहाँ पर कोई उपद्रव करने की चेष्टा नही की थी। वे लोग शीघ्र ही मथुरा से दिल्ली की ओर चले गये। मार्ग की ग्रामीण जनता ने विद्रोहियो का साथ दिया था। वहाँ के जाट, ठाकुर और गूजरो ने क्राति मे विशेष रूप से भाग लिया। उन्होने तहसील के अधिकारियो और पटवारियो को तथा अगरेजो के समर्थक जिमीदारो एव बौहरो को लूट लिया था। जिन्होने उनका विरोध किया, उनको उन्होंने मार डाला। उन्होने सरकारी खजाने को लूट कर हवालात से कैदियो को मुक्त कर दिया था। इस

प्रकार कोसी, छाता, कोटवन, शेरगढ और उनके निकटस्थ स्थानो मे प्राय छै माह तक अगरेजी सत्ता समाप्त सी हो गई थी। बाद मे मथुरा के सेठो की सहायता से अगरेजो ने व्यवस्था कायम कर ली थी और फिर सभी काम पूर्ववत् होने लगे थे।

जुलाई मे आगरा, अलीगढ आदि स्थानो मे फिर से विद्रोही सैनिको की हलचलें बढ गई थी। नीमच, नसीराबाद और मुरार की अगरेजी सेनाओं के भारतीय सैनिको ने भीषण विद्रोह कर दिया था। वे लोग भारी सख्या मे आगरा और मथुरा भी आये थे। उस समय ब्रज की जनता ने भी उनका साथ दिया। इस प्रकार यहाँ की स्थिति फिर गभीर हो गई थी। उस समय सेठ घराने के प्रमुख व्यक्ति अपने बाल-बच्चो और खजाने को लेकर भरतपुर चले गये थे। उनके मुनीम मगीलाल ने बडी युक्ति पूर्वक विद्रोहियो से नगर को बचाया था। उस समय नगर निवासियो की ओर से विद्रोहियो के खान-पान की यथोचित व्यवस्था की गई थी। वृदावन के शाह कुदनलाल उपनाम 'ललित किशोरी' ने भी विद्रोहियो की कुछ सहायता की थी। विद्रोहियो का नेता सूबेदार हीरासिंह धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। उसने मथुरा-वृदावन मे लूट-मार नही होने दी थी। इस प्रकार ब्रज के रईस और जनता की सामयिक सूझ-बूझ से तथा विद्रोही सैनिको की धार्मिक भावना के कारण मथुरा-वृदावन मे कोई खास उपद्रव नही हुआ था।

वह विद्रोह कुछ महीनो मे ही शात हो गया था। यद्यपि भारतीय सैनिक और जनता ने बडे उत्साह से विद्रोह का झडा उठाया था, तथापि सुनियोजित व्यवस्था और योग्य नेतृत्व के अभाव मे अगरेजी सत्ता के विरुद्ध भारतीयो का वह प्रथम स्वतत्रता युद्ध सफल नही हो सका था। उस युद्ध मे काफी अगरेज मारे गये थे और उस काल मे उन्हे अनेक सकट भी सहने पडे थे, किन्तु भारतीय राजाओ और रईसो के सहयोग से उन्होंने सर्वत्र शांति और व्यवस्था कायम कर अपने अधिकार को पुन स्थापित कर लिया था। स० १६१५ मे सभी जगह शाति हो गई थी। उसके पश्चात् अगरेजो ने विद्रोहियो के साथ बडा कठोर व्यवहार किया था। सैकडो-हजारो लोगो को मृत्यु दड दिया गया तथा उनकी जमीन-जायदादें जब्त की गई। जिन लोगो ने अगरेजो का साथ दिया था, उन्हे पुरस्कृत किया गया। मथुरा के सेठ परिवार ने तथा हाथरस के राजा गोविंदसिंह ने अगरेजो की सहायता की थी और व्यवस्था कायम करने मे उन्हे पूरा सहयोग दिया था। उसके उपलक्ष मे अगरेजो ने उन्हे खिताब दिये तथा जागीरें प्रदान की थी। वृदावन के शाह कुदनलाल पर आरोप लगाया गया था कि उन्होने विद्रोहियो को सहायता दी थी, किन्तु वह आरोप प्रमाणित नही हो सका था।

**कंपनी शासन की समाप्ति**—अगरेजी शासन-सत्ता के विरुद्ध भारतीयो का वह प्रथम विद्रोह तो सफल नही हो सका, किन्तु उसका यह परिणाम अवश्य हुआ कि भारत मे अगरेजी कपनी का अत्याचारपूर्ण कठोर शासन समाप्त हो गया। इगलेड की तत्कालीन महारानी विक्टोरिया ने भारतीय राज्य को वृटिश सरकार के सीधे नियत्रण मे ले लिया था। इस प्रकार स० १६१५ से भारत देश इगलैंड के शासन की अधीनता मे आ गया और वहाँ की महारानी विक्टोरिया भारतवर्ष की साम्राज्ञी घोषित की गई। उनकी ओर से इस देश मे एक वायसराय रहने लगा, जो यहाँ का सर्वोच्च प्रशासक और सेनाधिकारी था।

# १. बृटिश काल

**( विक्रम सं० १६१५ से सं० २००४ तक )**

## बृटिश शासन मे ब्रज की स्थिति—

**प्रशासनिक परिवर्तन**—उस काल मे भारत मे सर्वत्र प्रशासनिक परिवर्तन हुए थे, जिनके कारण सूबो और जिलो की सीमाओ मे उलट-फेर किया गया था। तदनुसार मथुरा जिले की सीमाओ मे भी परिवर्तन हुआ। स० १६१७ मे नोहझील को माट तहसील के साथ मिला दिया गया। स० १६२५ मे अडीग की तहसील तोड कर मथुरा की नई तहसील बनाई गई और स० १६३१ मे जलेसर तहसील को मथुरा जिला से अलग कर दिया गया, क्यो कि वह सदर मुकाम मथुरा से दूर पडती थी। उसे पहिले आगरा जिले मे सम्मिलित किया था। स० १६२३ मे जब एटा का नया जिला बना था, तब जलेसर को आगरा से अलग कर एटा जिले मे मिला दिया गया। स० १६३६ मे आगरा जिला से ८४ गाँव पृथक् कर फरह का परगना बनाया गया, और उसे मथुरा ज़िला मे सम्मिलित कर दिया गया। इस समय मथुरा जिला मे ४ तहसीले है, जिनके नाम मथुरा, छाता, माट और सादाबाद है।

**जन-जीवन पर भला-बुरा प्रभाव**—बृटिश शासन मे ब्रज मे जो अनेक युगातरकारी परिवर्तन हुए थे, उनका यहाँ के जन-जीवन पर भला-बुरा प्रभाव पडा था। उस काल मे यहाँ रेल, तार, डाक, टेलीफोन आदि की व्यवस्था की गई; सडको का निर्माण किया गया और अस्पताल खोले गये। शिक्षा के प्रसार के लिए स्कूल-कालेजो की व्यवस्था की गई तथा खेती की उन्नति के लिए नहर-बम्बो का निर्माण किया गया। मुद्रण यत्रालय खोले गये और समाचार पत्रो का प्रचलन हुआ, जिनके कारण जनता मे साक्षरता और ज्ञान-विज्ञान का प्रसार होने मे सुविधा हुई। बृटिश शासन द्वारा वे सब कार्य जनता की भलाई करने से भी अधिक अपने अधिकार को दृढता पूर्वक स्थापित करने के उद्देश्य से किये गये थे। फिर भी उनसे जनता को बडा लाभ हुआ, इसमे कोई सदेह नही है। बृटिश काल मे सपूर्ण भारतवर्ष एक सुदृढ और व्यवस्थित शासन के अतर्गत रहा था, जिसके कारण इस विशाल देश मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक रहने वाले करोडो भारतीय एक-दूसरे के निकटतम सपर्क मे आये थे। वह इस देश को सबसे बडा लाभ हुआ था। उसका श्रेय निश्चय ही बृटिश शासन को ही है।

उक्त लाभो की तुलना मे ब्रिटिश शासन से जो हानियाँ हुई, वे भी कम नही है। सबसे पहिली हानि तो आर्थिक हुई है। इस सबध मे बृटिश शासन का उद्देश्य भी अपने पूर्ववर्ती कपनी शासन के सदृश ही था। ईस्ट इडिया कपनी द्वारा इस देश का आर्थिक शोषण जहाँ भद्दे और फूहड ढग से किया गया था, वहाँ बृटिश शासको ने उसके लिए व्यवस्थित और सुनियोजित उपायो को अपनाया था। उनके कारण भारतीय व्यापार-वाणिज्य और गृह उद्योग नष्ट प्राय हो गये और यह देश सभी आवश्यक वस्तुओ के लिए अगरेज व्यापारियो का मुहताज हो गया। बृटिश शासन की उस आर्थिक नीति का कुप्रभाव ब्रज के उद्योग-धधो पर भी पडा था। यहाँ पर नमक, नील और कागज के जो उद्योग मुसलमानी काल से ही उन्नत अवस्था मे चल रहे थे, वे बृटिश काल मे समाप्त हो गये। उनके अतिरिक्त दूसरे घरेलू धधो को भी बडी हानि पहुँची थी। ब्रज का सबसे बडा महत्व उसकी धार्मिक और सास्कृतिक परपरा के कारण है। इसके लिए बृटिश शासन ने कुछ नही किया, बल्कि एक प्रकार से उसका बिगाड ही किया था।

की सफलता के लिए सिंधिया नरेश ने उसका बडा सन्मान किया था। पारिख जी ने उस सम्पत्ति को राज्य के खजाने मे जमा करना चाहा, किंतु धर्मभीरु सिंधिया नरेश ने साधुओ की सम्पत्ति को राजकीय कोष मे रखना उचित नही समझा। फलत वह पारिख जी के सरक्षण मे अलहदा रखवा दी गई।

पारिख जी की ग्वालियर राज्य मे बडी उन्नति हुई थी। राजकीय प्रतिष्ठा के साथ ही साथ उसका धन–वैभव भी बढ गया था। जिस स्थान पर वह रहता था, वह 'पारिख जी का वाडा' कहा जाता था। वह स्थान अब भी लश्कर मे उसी नाम से प्रसिद्ध है। पारिख जी वल्लभ सप्रदाय का अनुयायी था। उसने अपने निवास स्थान पर श्री द्वारकाधीश जी का एक मदिर बनवाया था। उसके अधीनस्थ कर्मचारियो मे दो मुनीम भी थे, जिनमे एक का नाम मनीराम और दूसरे का चम्पाराम था। मनीराम अत्यत चतुर और विश्वासपात्र मुनीम था। पारिख जी के कोई सतान नही थी और निकट सबधियो से उसकी अनबन रहती थी। ऐसी दशा मे मनीराम मुनीम उसका सहकारी ही नही, बल्कि उत्तराधिकारी भी समझा जाता था।

जब गोकुलदास पारिख ने वृद्ध होने पर राजकीय सेवा से छुट्टी ली, तब वह ब्रज–वास करने के विचार से ग्वालियर से चल दिया। उस समय सिंधिया नरेश ने नागा सन्यासियो से प्राप्त सम्पत्ति भी उसे इस आदेश के साथ सोप दी थी कि उसे वह अपनी इच्छानुसार धार्मिक कार्यो मे व्यय कर दे। वह उस विपुल सपदा को अनेक छकडो मे लाद कर चल दिया। उसके साथ उसके उपास्य श्री द्वारकाधीश जी का देव–विग्रह, मनीराम मुनीम सहित अनेक कर्मचारी तथा सैकडो सैनिक थे। वह अपने दल के साथ सं० १८७० मे ब्रज मे आ गया और मथुरा–वृदावन के बीच 'भतरोड' के निकट उसने डेरा डाले। वहाँ उसने एक बाग मे श्री द्वारकाधीश जी की सेवा–पूजा की अस्थायी व्यवस्था की थी। वह बाग 'श्री द्वारकाधीश जी का बाग' कहलाता है। उसके बाद उसने मथुरा के असिकुडा घाट के निकट श्री द्वारकाधीश जी का मदिर बनवाया और स० १८७१ की आषाढ कृ० ८ को उसमे उन्हे विराजमान कर दिया। उस मदिर के बनवाने और ठाकुर जी की सेवा–पूजा की आवश्यक व्यवस्था करने मे मनीराम मुनीम का बडा सहयोग रहा था।

जैसा पहिले कहा जा चुका है, पारिख जी के कोई सतान नही थी और मुनीम मनीराम ही उसका उत्तराधिकारी माना जाता था। पारिख जी गुजराती वैश्य और वल्लभ सप्रदायी वैष्णव था, जब कि मनीराम खडेलवाल वैश्य और श्रावकी जैन था। इस प्रकार जाति और धर्म मे भिन्नता होते हुए भी पारिख जी ने मनीराम के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीचद को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसके बाद उसने लिखा–पढी कर अपनी समस्त सपत्ति मनीराम को सोप दी। स० १८८३ मे पारिख जी का देहात हो गया। उसकी मृत्यु एक ऐसे विषैले फोडा के हो जाने से हुई, जिसमे कृमि पड गये थे।

**श्री द्वारकाधीश जी का मदिर**—पारिख जी द्वारा निर्मित यह मदिर मथुरा के वर्तमान मदिरो मे सबसे बडा और सबसे अधिक वैभवशाली है। इसका निर्माण स० १८७१ की आषाढ कृ० ८ को हुआ था। इसमे ठाकुर जी की सेवा–पूजा वल्लभ सप्रदाय के अनुसार बडे ठाट-बाट और राजकीय वैभव के साथ होती है। इसका भेटनामा काकरौली के वल्लभ सप्रदायी गोस्वामी जी के नाम किया गया है। इसकी समस्त सम्पत्ति एक करोड के लगभग की समझी जाती है।

कि उसका नाम समस्त उत्तर भारत मे प्रसिद्ध हो गया था। वह 'नगर सेठ' कहलाता था और उसके प्रतिष्ठान 'मनीराम लक्ष्मीचद' की व्यापारिक साख उस काल मे सर्वत्र व्याप्त थी। उसके सबध मे श्री ग्राउस ने लिखा है—

"पिछले अनेक वर्षो तक मथुरा जिले का सर्वाधिक प्रभावशाली पुरुष 'मनीराम लक्ष्मीचद' की बडी गद्दी का मुखिया रहा है। इस गद्दी की व्यापक और प्रचुर प्रतिष्ठा इस प्रात के किसी अन्य व्यापारिक सस्थान से अधिक ही नही है, वरन् समस्त भारत मे भी उसके समान शायद ही कोई दूसरी गद्दी हो। इसकी शाखाएँ दिल्ली, कलकत्ता, बबई के साथ ही साथ अन्य बडे व्यापारिक केन्द्रो मे भी है, जहाँ सर्वत्र उनकी प्रसिद्धि है। हिमालय से कन्याकुमारी तक कही भी मथुरा के सेठो की कितनी ही बडी हुडी का भुगतान वैसी ही साख से होता है, जैसा इगलैड के बैक नोट का लदन या पेरिस मे किया जाता है[1]।"

**सांस्कृतिक और जनोपयोगी कार्य**—सेठ लक्ष्मीचद ने अपने यश-वैभव की वृद्धि करने के साथ ही साथ ब्रज के सास्कृतिक और जनोपयोगी कार्यो की प्रगति मे बडा योग दिया था। उस काल मे यहाँ इस प्रकार के जितने कार्य किये गये, उनमे प्रमुख प्रेरणा सेठ लक्ष्मीचद की थी। क्या धार्मिक, क्या सास्कृतिक, क्या राजनैतिक सभी क्षेत्रो मे उसकी उदारता की धूम थी।

**श्री रगजी का मदिर**—सेठ लक्ष्मीचद के दो छोटे भाई राधाकृष्ण और गोविददास थे। जहाँ लक्ष्मीचद अपने पिता की तरह जैन धर्म मे आस्था रखता था, वहाँ उसके दोनो छोटे भाई वैष्णव धर्म मे रामानुज सप्रदाय के अनुयायी हो गये थे। उन दिनो ब्रज मे रामानुज सप्रदाय की प्रधान गद्दी गोवर्धन मे थी, जिसके अध्यक्ष श्री रगाचार्य नामक एक विद्वान और तपस्वी धर्माचार्य थे। सेठ राधाकृष्ण और सेठ गोविददास ने अपने ज्येष्ठ भ्राता सेठ लक्ष्मीचद से छिपाकर वृदाबन मे रामानुज सप्रदाय का एक विशाल मदिर निर्माण कराने की योजना बनाई थी। पहिले उन्होने वहाँ पर श्री लक्ष्मीनारायण जी का मदिर बनवा कर उसे रगाचार्य जी की भेट कर दिया। बाद मे स० १९०२ मे उन्होने श्री रगजी का विशाल मदिर बनवाना आरभ किया, किंतु धन की यथेष्ट व्यवस्था न होने से उसका निर्माण कार्य रोक देना पडा। जब सेठ लक्ष्मीचद को उसका ज्ञान हुआ, तब उसने स्वय उसे पूरा किया था। इस प्रकार यह मदिर ४५ लाख रुपये की लागत से स० १९०८ मे बनकर पूरा हुआ था। यह ब्रज का सबसे विशाल एव सर्वाधिक वैभव सम्पन्न देव-स्थान है और रामानुज सप्रदाय का सबसे बडा केन्द्र है। इसमे चैत्र के महीने मे 'ब्रह्मोत्सव' का बडा धार्मिक समारोह होता है, जो दस दिनो तक चलता है। इसकी सम्पत्ति एक करोड से भी अधिक की मानी जाती है।

**हवेली और उद्यान**—सेठ लक्ष्मीचद के निर्माण कार्यो मे उसकी विशाल हवेली और सुरम्य उद्यान भी उल्लेखनीय है। हवेली मथुरा के असिकुडा बाजार मे श्री द्वारकाधीश जी के मदिर के सामने बनी हुई है और 'सेठ जी की हवेली' कहलाती है। इसका विस्तार असिकुडा घाट से लेकर विश्राम घाट तक है। यह हवेली स० १९०२ मे बनी थी और इसके निर्माण मे उस समय प्राय एक लाख रुपये की लागत आई थी।

---

(१) **मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर** ( तृतीय सस्करण ), पृष्ठ १४

उसका उद्यान मथुरा के सदर बाजार के समीप यमुना के किनारे बना हुआ है अ 'यमुना बाग' कहलाता है। इसमे दुर्लभ जाति के पेड–पौधे, सुदर इमारतें और रमणीक कुज है इसकी विशेष उन्नति लक्ष्मीचद के वशज राजा लक्ष्मणदास के काल मे हुई थी।

**विविध कार्य**—स० १९१४ मे जब अगरेजी शासन के विरुद्ध जन–विद्रोह हुआ था, मथुरा नगर मे भी उपद्रव होने की आशका हो गई थी। उस समय सेठ लक्ष्मीचद ने अपने प्रभ से यहाँ शाति और व्यवस्था कायम करने मे बडा काम किया था। एक ओर उसने विद्रोहियो आर्थिक सहायता से सतुष्ट कर नगर की रक्षा की थी, तो दूसरी ओर उसने अगरेजो की भी व सहायता की थी। जब विद्रोहियो ने छावनी को जला कर अगरेजो पर हमला किया था, तब उर स्थानीय कलक्टर मि० थोर्नहिल तथा उसके साथियो को कई दिनो तक अपने मकान मे छिपा रखा था। उसने सरकारी खजाने की रक्षा की थी और नगर को क्षति से बचा लिया था। ज तक विद्रोह शात नही हुआ, तब तक दीन दुखियो और ज़रूरतमदो को उसकी ओर से सब प्रका की सहायता मिलती रही थी। इसमे उसका प्रचुर धन व्यय हुआ था। उसके उपलक्ष मे अगरे ने उसे 'रावबहादुर' की पदवी तथा खिलअत और माफी की भूमि प्रदान की थी।

उसने अकाल पीडित लोगो की सहायता करने तथा शिक्षालय बनाने के लिए भी प्रचु धन दिया था। जब मथुरा से हाथरस तक रेल बनाने का प्रश्न उठा, तब रेल कपनी ने उसे इस श पर बनाना स्वीकार किया कि उसके निर्माण–व्यय का कुछ भाग मथुरा के निवासी भी उठावे। त सेठो ने प्राय डेढ लाख रुपये के शेयर लिये थे और पुल बनवाने का समस्त व्यय–भार भी उठाय था[1]। यहाँ तक कि उन्होने सदर के ईसाई गिर्जाघर के निर्माणार्थ भी ११००) प्रदान किये थे।

**लक्ष्मीचंद के उत्तराधिकारी**—सेठ लक्ष्मीचद की मृत्यु स० १९२३ मे हुई थी उससे पहिले उसके अनुज सेठ राधाकृष्ण का देहात स० १९१६ मे हो चुका था। सेठ लक्ष्मीच का एक मात्र पुत्र रघुनाथदास विशेष प्रतिभाशाली नही था और राधाकृष्ण का पुत्र लक्ष्मणदा छोटा बालक था, अत सेठो का समस्त कार-बार सेठ गोविंददास की देख–रेख मे चलता रहा उस समय भी सेठो की प्रतिष्ठा खूब बढी हुई थी। बृटिश शासन मे सेठ गोविंददास को स० १९३ ( १ जनवरी, सन् १८७७ ) मे C S I का खिताब दिया था। उसकी मृत्यु स० १९३५ मे हु थी। मृत्यु से पहिले उसने श्री द्वारकाधीश जी के मदिर को स० १९३० मे काकरौली के गोस्वामं गिरिधरलाल जी की भेट कर दिया था। सेठ गोविंददास के कोई सतान नही थी। सेठ लक्ष्मीच के पुत्र रघुनाथदास के भी कोई सतान नही हुई थी, इसलिए सेठ राधाकृष्ण का पुत्र लक्ष्मणदास सेठो की गद्दी, जायदाद और सम्पत्ति का एक मात्र स्वत्वाधिकारी हुआ था।

**राजा लक्ष्मणदास**—उसने अपनी शान–शौकत और रईसी ठाठ–बाट से सेठ घरा की प्रतिष्ठा को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। गुणियो, कलाकारो और दीन-दुखियो को उदारत पूर्वक दान देने के साथ ही साथ वह भोग–विलास मे भी बडा व्यय करता था। बृटिश सरकार के बडे–बडे अधिकारी जब उससे मिलने आते थे, तब वह उनके स्वागत–सत्कार मे खूब खर्च किय करता था। बृटिश शासन की ओर से उसे 'राजा' और C. S I के खिताब दिये गये थे।

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रक्ट मेमोअर ( तृतीय सस्करण ), पृष्ठ १६

उसने अपने कार-बार की ओर बिलकुल ध्यान न देकर अपना सारा समय इसी प्रकार के भले-बुरे कामो मे लगाया था। उसका यह परिणाम हुआ कि एक ओर उसकी समस्त कोठियो मे अव्यवस्था बढ जाने से घाटा पडने लगा और दूसरी ओर उसके अपरिमित व्यय के कारण उसका कोश भी खाली होने लगा। उसके अतिम काल मे ऐसी स्थिति आ गई कि जहाँ सेठो की ओर से दूसरो को लाखो रुपया कर्ज दिया जाता था, वहाँ स्वय उसे नवाब रामपुर से भारी ऋण लेना था। अत मे परिस्थिति इतनी बिगड गई कि उसे अपना देशव्यापी व्यवसाय समाप्त करना पडा और अपनी सभी कोठियाँ बद कर देनी पडी। उस समय अनेक नगरो की उसकी बडी-बडी जायदादे पानी के मोल बिक गई और सेठो की सारी प्रतिष्ठा धूल मे मिल गई। राजा लक्ष्मणदास ने अपने जीवन-काल मे उत्थान-पतन, सुख-दु ख और मान-अपमान के जैसे भले-बुरे दृश्य देखे थे, वैसे बहुत कम लोगो ने देखे होगे। उसका देहावसान स० १९५७ मे हुआ था।

**लक्ष्मणदास के वशज**—राजा लक्ष्मणदास के दो पुत्र द्वारकादास और दामोदरदास थे। उन दोनो की युवावस्था मे ही मृत्यु हो गई और उनके कोई सतान भी नही थी; इसलिए उनकी विधवाओ ने अपनी जाति के बालको को गोद लिया था। दुर्भाग्य से वे भी नि सतान रहे और उनकी छोटी आयु मे ही मृत्यु हो गई थी। उनकी विधवाओ ने फिर गोद लिया। इस समय सेठ घराने के वर्तमान प्रतिनिधि सेठ भगवानदास और उसकी सतान है।

**मुनीम मगीलाल**—वह मथुरा का माहेश्वरी वैश्य और सेठ लक्ष्मीचद का प्रधान मुनीम था। सेठ घराने के अभूतपूर्व यश-वैभव की वृद्धि का बहुत-कुछ श्रेय उसी की कुशलता और कर्त्तव्य-परायणता को है। सेठो के समस्त कार्य उसी की देख-रेख मे सम्पन्न होते थे। उसकी चतुरता और सूझ-बूझ से ही जन-विद्रोह के काल मे सेठो के जान-माल की रक्षा हुई और मथुरा नगर की भी कोई क्षति नही हो सकी थी। राजा लक्ष्मणदास के अतिम काल मे वह अत्यत वृद्ध हो गया था। उस समय उसे लक्ष्मणदास के अपरिमित व्यय को रोकने और सेठ घराने के सन्मान की रक्षा करने मे सफलता नही मिली थी। मगीलाल के पुत्र नारायणदास और श्रीनिवासदास उससे भी अधिक यशस्वी हुए थे।

**लाला नारायणदास**—वह अपने पिता मगीलाल के साथ सेठो की सेवा मे रहता था। मगीलाल के वृद्ध हो जाने पर उसी ने प्रधान मुनीम का पद सँभाला था। सेठ लक्ष्मीचद की मृत्यु के पश्चात् सेठ गोविददास के काल मे उसकी बडी ख्याति हुई थी। जहाँ मगीलाल जीवन भर 'मुनीम' ही कहलाता रहा, वहाँ नारायणदास को 'सेठ' कहा जाने लगा था। बृटिश सरकार ने स० १९३७ के दरबार मे उसे सेठ घराने के प्रतिनिधि के रूप मे सन्मानित किया था। उसका कोई पुत्र नही था, अत उसने अपनी सम्पत्ति को धर्मार्थ अर्पित कर उसकी व्यवस्था के लिए ट्रस्ट बना दिया था। उस ट्रस्ट के द्वारा मथुरा मे चामु डा के पास एक बडे उद्यान मे धर्मशाला बनवाई गई और एक सस्कृत विद्यालय की स्थापना की गई। इस विद्यालय के छात्रो को सस्कृत की नि शुल्क शिक्षा दी जाती है और उनके रहन-सहन एव खान-पान की भी व्यवस्था की जाती है।

**लाला श्रीनिवासदास**—वह मुनीम मगीलाल का दूसरा पुत्र और सेठो के व्यापारिक प्रतिष्ठान की सुप्रसिद्ध दिल्ली कोठी का प्रधान मुनीम था। उसका जन्म स० १९०७ मे और देहावसान स० १९४४ मे हुआ था। इस प्रकार वह केवल ३७-३८ वर्ष की आयु तक ही जीवित रहा था; किंतु उसी अल्प काल मे उसने विविध क्षेत्रो मे बडी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। डा० श्रीकृष्ण लाल ने

लिखा है,—"ला० श्रीनिवासदास बचपन से ही बडे मेधावी और कार्य-कुशल थे। इन्होने घर पर ही हिंदी, उर्दू, सस्कृत, फारसी और अगरेजी की शिक्षा प्राप्त की और १८ वर्ष की अवस्था मे ही महाजनी कार-बार और व्यापार मे इतने दक्ष हो गये कि उन्हे दिल्ली की कोठी का सारा भार सोप दिया गया। इनकी योग्यता देख कर पजाब सरकार ने इन्हे म्युनिसिपल कमिश्नर और आनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाया और अनेक पत्रो ने स० १९४० मे इनका नाम लेजिसलेटिव कौसिल के लिए भी प्रस्तावित किया। अपनी योग्यता और कार्य-कुशलता के कारण ये वैश्य समाज और राजकीय शासको द्वारा समान रूप से आदृत थे[1]।"

हिंदी साहित्य मे श्रीनिवासदास का नाम भारतेन्दु हरिश्चद्र के समकालीन और सहयोगी प्रमुख लेखको मे गिना जाता है। उसके रचे हुए ४ नाटक और १ उपन्यास है। इनमे 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाटक तथा 'परीक्षा गुरु' उपन्यास अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना क्रमश स० १९३५ और स० १९३६ मे हुई थी। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' हिंदी का प्रथम दु खान्त नाटक और 'परीक्षा गुरु' हिंदी का प्रथम उपन्यास माना गया है। भारतेन्दु हरिश्चद्र इन रचनाओ के बडे प्रशसक थे। उन्होने 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाटक की स्वय प्रस्तावना लिखी थी और उसका अभिनय कराया था। भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखको की रचनाओ के विशेषज्ञ विद्वान श्री ब्रजरत्नदास ने लाला श्रीनिवासदास के विषय मे लिखा है—"नाटककार के रूप मे भारतेन्दु युग मे भारतेन्दु के समकक्ष केवल इन्ही को रखा जा सकता है और उपन्यास-लेखक के रूप मे तो ये १९ वी शताब्दी मे अद्वितीय है[2]।" डा० श्रीकृष्णलाल का कथन है,—"लाला श्रीनिवासदास को भारतेन्दु के साथ आधुनिक युग का अग्रदूत माना जा सकता है[3]।"

**सेठ घराने का वश-वृक्ष**

---
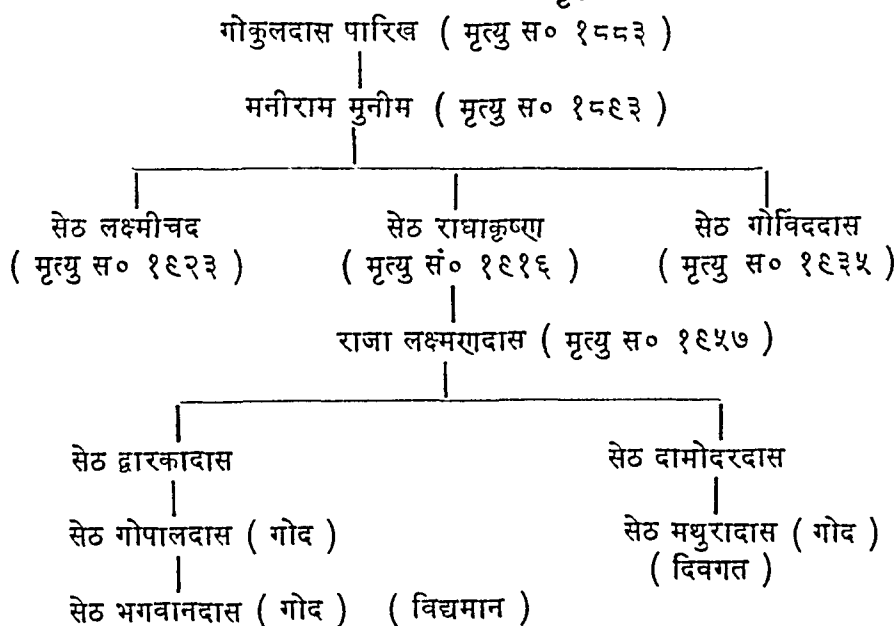
(१) श्रीनिवास ग्रथावली ( भूमिका ), पृष्ठ ५

(२) भारतेन्दु मंडल, पृष्ठ ४६

(३) श्रीनिवास ग्रथावली ( भूमिका ), पृष्ठ ४

व्रज के समृद्धिशाली भक्त जन—

**कृष्णचंद्र सिंह ( लाला बाबू )**—व्रज के समृद्ध भक्तजनो मे बगाल के धनी-मानी कायस्थ कृष्णचद्र सिंह का नाम उल्लेखनीय है। वह यहाँ 'लाला बाबू' के नाम से अधिक प्रसिद्ध था। उसने युवावस्था मे ही अपने राजसी वैभव से विरक्त होकर स० १८७० के लगभग व्रज-वास किया था और यहाँ की धार्मिक समृद्धि मे महत्वपूर्ण योग दिया था। सब प्रकार से सम्पन्न होते हुए भी वह यहाँ भिक्षुक के वेश मे बडी दीनता पूर्वक रहा करता था। उसके पूर्वज बगाल के मुर्शिदाबाद जिले के निवासी थे। उन्होने वहाँ के नवाबो की सेवा मे रह कर तथा उस काल के अगरेज शासको के सहयोग से प्रचुर सपत्ति उपार्जित की थी। वे धनोपार्जन करने के साथ ही साथ अपने धन को धर्मार्थ लगाने मे भी प्रसिद्ध थे। उन्होने नदिया तथा अन्य स्थानो मे धर्मशाला, मदिर, सस्कृत विद्यालय आदि बनवाने मे अपने द्रव्य का सदुपयोग किया था।

लाला बाबू ने युवावस्था मे बगाल और उडीसा के अपने कार-बार को बहुत बढाया था और लाखो रुपया पैदा किया था। उसके बाद वह विरक्त होकर बगाल से व्रज मे आ गया और वृदाबन आदि धार्मिक स्थलो मे निवास करने लगा। जिस समय उसने घर-बार छोडा था, उस समय उसकी आयु केवल ३० वर्ष की थी। वह यहाँ विरक्त भक्त के रूप मे निवास करता था। उसका देहात केवल ४० वर्ष की आयु मे हुआ था। इस प्रकार वह १० वर्ष तक यहाँ रहा था। अपने जीवन के अतिम दो वर्षो मे वह भिक्षुक के वेश मे व्रज के वनो मे विचरण किया करता था और व्रजवासियो के घरो से भिक्षा माँग कर उससे जीवन-यापन करता था।

जिस समय लाला बाबू व्रज मे आया था, उस समय गोवर्धन के गौडीय महात्मा कृष्ण-दास ( सिद्ध बाबा ) की भक्ति-साधना की बडी प्रसिद्धि थी। लाला बाबू ने सिद्ध बाबा से भक्ति मार्ग की दीक्षा ली थी और वह अपने गुरु की सेवा के लिए प्राय गोवर्धन मे रहा करता था। मथुरा के प्रसिद्ध सेठ मनीराम लक्ष्मीचद से उसका बडा स्नेह सबध था। ऐसा कहा जाता है, किसी भूमि के सबध मे लाला बाबू और सेठो मे कुछ मनोमालिन्य हो गया था, जिसके कारण दोनो मे बोल-चाल भी बद हो गई थी। जब वह बात सिद्ध बाबा को ज्ञात हुई, तो उन्हे बडा खेद हुआ। उन्होने लाला बाबू से कहा,—"तुम व्रज मे भक्ति-साधना के लिए आये हो, या ईर्ष्या-द्वेष करने के लिए ? भक्त जन के लिए तो अपने को तृण से भी अधिक तुच्छ मानना चाहिए। तुम्हे सेठो मे दीनता पूर्वक क्षमा माँगना उचित है।" अपने गुरु के आदेशानुसार लाला बाबू एक दिन अकस्मात भिक्षुक के वेश मे सेठो के निवास पर पहुँच गया और उनसे भिक्षा माँगने लगा। उसकी वह दीनता देख कर वे उसके पैरो मे गिर पडे। इस प्रकार उन धार्मिक महापुरुषो का क्षणिक मनो-मालिन्य पूर्ववत् स्नेह मे परिवर्तित हो गया था।

उसने स० १८६७ मे भगवान् श्री कृष्ण का एक विशाल मदिर वृदावन मे बनवाया था, जो 'लाला बाबू का मदिर' कहलाता है। मदिर के साथ धर्मशाला और धर्मार्थ अन्नक्षेत्र भी है। राधाकुड के पक्के घाट बनवाने और वहाँ के अन्य कुड-सरोवरो को ठीक कराने मे भी उसने प्रचुर धन व्यय किया था। मदिर, धर्मशाला और धर्मादे की व्यवस्था के लिए उसने व्रज मे बडी जिमीदारी खरीदी थी। श्री ग्राउस ने लिखा है, लाला बाबू ने व्रज के मंदिर और ज़िमीदारी आदि मे २५ लाख रुपया व्यय किया था। उस जिमींदारी मे २२ हजार रुपया सालाना की आय

होती थी[1]। उसने जो गाँव खरीदे थे, वे ब्रज के प्रमुख तीर्थ स्थान और धार्मिक स्थल हैं। ब्रजवासियों ने उन्हें बहुत सस्ते दामों में लाला बाबू को इसलिए बेच दिया था कि वह उनका उपयोग धर्मार्थ कार्यों में करना चाहता था। लाला बाबू कहा करता था कि उसका उद्देश्य इन जिमींदारी द्वारा साधु-सेवा, मोर-बंदरों को चारा, अनाथ भिक्षुकों को अन्नदान तथा मंदिर-धर्मशाला आदि के व्यय की व्यवस्था करना है। इसीलिए उसने ब्रज के कई प्रमुख गाँव कौड़ियों के मोल में प्राप्त किये थे। उसके द्वारा खरीदे हुए गाँवों में जाव, नंदगाँव, बरसाना, संकेत, करहला, गढ़ी, हाथिया, जैंत, महोली, नबीपुर, गुलालपुर और मथुरा का कुछ भाग उल्लेखनीय है। श्री ग्राउस ने लिखा है, लाला बाबू ने नंदगाँव के लिए केवल ९००) बरसाना के लिए ६००), संकेत के लिए ८००) तथा करहला के लिए ५००) दिये थे[2] और उनका भुगतान भी उसने 'वृंदावनी रुपया' में किया था[3]।

लाला बाबू की मृत्यु गोवर्धन में एक घोड़े की अकस्मात लात लग जाने की चोट से हुई थी। मथुरा के गोकुलदास पारिख की मृत्यु एक ऐसे विषैले फोड़ा के कारण हुई थी जिसमें कृमि पड़ गये थे। उन दोनों धार्मिक महा पुरुषों के शोचनीय अंत को विधि का अद्भुत विधान ही माना जा सकता है[4]। उसकी अंतिम इच्छा के अनुसार उसका शव गोवर्धन से वृंदावन ले जाया गया, और वहाँ हरिनाम-कीर्तन के साथ उसे रज में घुमाते हुए यमुना में प्रवाहित किया गया था।

**नंदकुमार वसु**—वह बंगाल का एक समृद्धिशाली भक्त जन और चैतन्य मत का अनुयायी था। जब वह तीर्थ-यात्रा के लिए वृंदावन आया, तब उसने यहाँ के मंदिर-देवालयों की बड़ी दुर्दशा देखी थी। औरंगजेब के काल में जो प्रसिद्ध मंदिर नष्ट-भ्रष्ट किये गये थे, वे उस समय अत्यंत जीर्णावस्था में पड़े हुए थे। उनकी प्राचीन देव-प्रतिमाएँ ब्रज से बाहर ले जाकर जयपुर आदि कई राज्यों में विराजमान कर दी गई थीं। वृंदावन आने वाले भक्त जनों को वहाँ मंदिर—

---

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृतीय संस्करण) पृष्ठ २५७–२५६

(२) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृतीय संस्करण), पृष्ठ १२३

(३) मरहठों के काल में वृंदावन में उस स्थान पर एक टकसाल थी, जिसे अब 'टकसाल वाली गली' कहा जाता है। जब यहाँ जाट राजाओं का शासन हुआ, तब वह टकसाल वृंदावन से हटा कर भरतपुर में लगाई गई थी। उस टकसाल में जो रुपया ढलता था, वह 'वृंदावनी रुपया' कहलाता था और गोल मोटे आकार का चाँदी का होता था। अंगरेजी राज्य कायम होने पर उस रुपया का चलन कम हो गया और उसका बाजार भाव भी अंगरेजी रुपया की तुलना में रुपया में बारह आना रह गया। वह रुपया अधिकतर विवाहादि के अवसर पर लेन-देन के काम में आता था। उस समय उसका भाव भी बढ़ कर तेरह-चौदह आना तक हो जाया करता था। बाद में बहुत दिनों तक उसका स्थायी भाव आठ आना रहा था और फिर उसका चलन बिलकुल बंद हो गया।

(४) लाला बाबू और पारिख जी के दुखद अंत से संबंधित ब्रज की एक ग्रामीण कहावत को श्री ग्राउस ने इस प्रकार लिखा है—

लाला बाबू मर गये, घोड़ा दोष लगाय।
पारिख के कीड़ा पड़े, विधि सों कहा बसाय॥

—मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृ० सं०) पृष्ठ २५८ की पाद-टिप्पणी।

मूर्तियो का अभाव बडा दु खदायी ज्ञात होता था। उस काल मे नदकुमार बसु ने यहाँ के पुराने गौडीय मदिरो के निकट दूसरे नये मदिर बनवा कर और उनमे प्राचीन प्रतिमाओ के प्रतिभू विग्रह स्थापित कर गौडीय भक्तो का बडा उपकार किया था। इस प्रकार श्री गोविददेव जी, श्री मदन-मोहन जी और श्री गोपीनाथ जी के नये मदिर स० १८७७ मे बनाये गये थे। वही मदिर इस समय भी वृ दावन के पूजनीय देव स्थान है। भारत सरकार के पुरातत्व विभाग ने पुराने मदिरो को अपने नियत्रण मे लेकर उन्हे सवैधानिक रूप मे 'सुरक्षित' घोषित कर दिया है।

**शाह कु दनलाल (ललित किशोरी)**—वृ दावन के अत्यत कलात्मक 'शाहजी मदिर' का निर्माता कु दनलाल व्रज मे 'शाहजी' के नाम से और भक्ति-साहित्य मे 'ललित किशोरी' के काव्यो-पनाम से प्रसिद्ध है। उसका जन्म स० १८८२ की कार्तिक कृ० २ को लखनऊ मे हुआ था। उसके पूर्वज नवाब के जौहरी और लखनऊ के सर्वाधिक धनाढ्य रईसो मे से थे। स० १९०६ मे जब वह २४ वर्ष का युवक था, तब उसे प्रथम बार व्रज मे आने का सुयोग मिला था। तभी उसका मन वृ दावन की रस-माधुरी मे रम गया और वह स्थायी रूप से व्रज-वास करने को लालायित हुआ था। किंतु तब उसका यहाँ रहना सभव नही था। बाद मे अपने पारिवारिक झझटो मे मुक्त हो कर वह स० १९१३ की वैशाख कृ० १३ को प्रचुर सपत्ति, परिवार और सेवको सहित वृ दावन मे आकर बस गया था। उसके साथ उसका छोटा भाई शाह फु दनलाल काव्योपनाम 'ललित माधुरी' भी अपनी सपत्ति और परिवार सहित आया था। वे दोनो भाई गौडीय सप्रदाय के गोस्वामी राधा-गोविद जी के शिष्य हुए और श्री राधारमण जी की अनन्य भाव से सेवा करने लगे। उनकी वृ दावन-निष्ठा बडी विलक्षण और अपूर्व थी। वे यहाँ जूता-चट्टी नही पहनते थे, सदैव नगे पाँव चलते थे और व्रज मे मल-मूत्र का विसर्जन तक नही करते थे। वे पहिले हुक्का पिया करते थे, किंतु व्रज की सीमा मे प्रवेश करते ही उन्होने हुक्का फेक दिया और फिर जीवन पर्यन्त उसे छुआ तक नही था।

वृ दावन आते ही उन्हे स० १९१४ के गदर का सामना करना पडा था। उन्होने विद्रोहियो से युक्ति पूर्वक वृ दावन की रक्षा की थी। शाति हो जाने पर अगरेजी सरकार ने शाह कु दनलाल पर मुकद्दमा चलाया था। उस समय आशका होने लगी कि कदाचित उसे कठोर दड दिया जावेगा। भगवत् कृपा से वैसा अवसर नही आया और उसका अपराध प्रमाणित नही हो सका। उसने वृ दावन मे श्री राधारमण जी का मदिर बनवाया था। उसकी अधिक प्रसिद्धि उसके द्वारा निर्मित उस सु दर देव-स्थान के कारण है, जिसे 'शाहजी का मदिर' कहा जाता है। वह व्रजभाषा का रस-सिद्ध कवि, कला-मर्मज्ञ, साधक भक्त और भजनानदी महात्मा था। उसका छोटा भाई शाह फु दनलाल भी सब बातो मे उसके अनुरूप था। उसकी भक्ति-रचनाएँ 'ललित माधुरी' के काव्योपनाम से उपलब्ध हैं। शाह कु दनलाल का देहात स० १९४३ मे हुआ था।

**शाहजी का मदिर**—वृ दावन का यह कलात्मक मदिर सगमरमर का बना हुआ है और रूप-रग तथा सज-धज मे यहाँ के सभी मदिरो मे निराला है। इसकी निर्माण-शैली और पच्चीकारी दर्शनीय है। इसमे बसत पचमी और श्रावण के झूलनोत्सव पर सु दर दर्शन तथा 'बसती कमरा' की भव्य झाकी होती है। यह मदिर स० १९२५ मे बन कर तैयार हुआ था। इसके निर्माण और इससे सबधित जायदाद तथा साज-सज्जा आदि मे प्राय १० लाख रुपया की लागत आई थी।

**राजा पटनीमल**—वह ऐरण्य गोत्रीय अग्रवाल वैश्य था। उसके पूर्वज मूलत दिल्ली निवासी थे और महाजनी का कार–वार करते थे। उन्हे दिल्ली के मुगल दरवार से 'राय' की वश परपरागत पदवी प्राप्त हुई थी। पटनीमल का जन्म स० १८२७ मे हुआ था। वह एक कुशल महाजन होने के साथ ही साथ अनुपम सूझ–बूझ का चतुर राजनयिक भी था। उसने मुगल दरवार के प्रतिनिधि होकर ईस्ट इडिया कपनी से कई सधियाँ और समझौते कराये थे, जिनके लिए स० १८६० मे मुगल सम्राट अकवर सानी ने उसे 'राजा' की पदवी और पचहजारी का मनसव प्रदान किया था। स० १८६५ के लगभग वह राजनयिक जीवन से विरत होकर काशी मे जाकर वस गया था। वहाँ पर उसने महाजनी और जिमीदारी द्वारा प्रभूत सम्पत्ति अर्जित की थी। वह काशी के अतिरिक्त दिल्ली, आगरा और मथुरा मे भी रहा करता था। उन सभी स्थानो मे उसने कोठी, भवन, मदिर, तालावादि वनवाये थे और विविध धार्मिक कार्यों मे उदारता पूर्वक अपने धन का सदुपयोग किया था। उसकी रुचि तीर्थो के प्राचीन धार्मिक स्थानो का महत्व कायम करने की ओर अधिक रहती थी। फलत उसने काशी, हरिद्वार और गया के अतिरिक्त मथुरा के भी कई प्राचीन धार्मिक और सास्कृतिक स्थलो का पुनरुद्वार किया था।

मथुरा मे उसका निवास स्थान नक्कारची टीले पर था, जहाँ वाद मे नारमल स्कूल कायम कर दिया गया था। उसने यहाँ के प्राचीन शिव स्थल पर 'शिवताल' का निर्माण कराया तथा दीर्घविष्णु और वीरभद्र के मदिर वनवाये थे। उसने यहाँ सोने का तुला–दान भी किया था। वह श्रीकृष्ण–जन्मस्थान पर श्री केशवदेव जी का विशाल मदिर भी वनवाना चाहता था। उसके लिए उसने अगरेज सरकार से कटरा की भूमि खरीद ली थी, किंतु वह अपनी मनोभिलाषा पूरी नही कर सका था। श्री ग्राउस ने उसका कारण कटरा के मुसलमान निवासियो द्वारा विरोध किया जाना वतलाया है। ग्राउस ने उसके सवध मे एक मनोरजक किंवदती का भी उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि वह इतना कम खाता था कि मथुरा के भोजनभट्ट प्रात काल उसका नाम लेने मे इसलिए सकोच करते थे कि उस दिन उन्हे कही व्रत न रखना पडे[1]।

वह धनी और दानी होने के साथ ही साथ विद्वान और विद्या–व्यसनी भी था। उसके पास हिंदी, सस्कृत, फारसी और अगरेजी ग्र थो का विशाल सग्रह था, जो उसके वाद नष्टप्राय हो गया था। भारतेन्दु हरिश्चद्र ने उसकी प्राचीन सामग्री के आधार पर ही अपनी 'पुरावृत्त सग्रह' नामक ऐतिहासिक लेख–माला लिखी थी। उसका देहावसान स० १६०१ मे हुआ था। उसने प्रचुर सम्पत्ति, विशाल परिवार, प्रभूत प्रतिष्ठा और अनुपम कीर्ति छोड कर अपना नश्वर शरीर त्यागा था।

**शिवताल**—यह मथुरा की परिक्रमा के मार्ग का एक प्राचीन कु ड है। राजा साहब ने स० १८६४ मे इसका जीर्णोद्धार किया और इसके चारो ओर पक्के घाट, सगीन सीडियाँ, सु दर वुर्जियाँ एव ऊँचा परकोटा वनवा कर इसे भव्य रूप प्रदान किया था। इसमे सदैव अथाह जल रहता है। यह व्रज के सु दरतम तालावो मे से है, किंतु आजकल यह उपेक्षित अवस्था मे होने के कारण शोभाहीन हो रहा है। इसकी दीवारो की सु दर चित्रकारी अव धुँधली पड गई है।

**वीरभद्र का मदिर**—मथुरा मे छत्ता वाजार के चौवच्चा मुहल्ला का यह एक प्राचीन शैव स्थान है, जो वीर भद्रेश्वर महादेव के नाम से प्रसिद्ध है। राजा साहब ने इसका जीर्णोद्धार करा कर यहाँ एक शिवालय वनवाया था। यह स्थान आजकल जीर्ण और शोचनीय अवस्था मे है।

---

[1] **मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर** ( तृतीय सस्करण ), पृष्ठ १३७

**दीर्घविष्णु का मदिर**—मथुरा मे भरतपुर दरवाजे के निकटवर्ती मनोहरपुरा नामक मुहल्ला मे यह भगवान् विष्णु का सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थल है। इसका प्राचीन विष्णु मदिर मुसलमानो के आक्रमण-काल मे नष्ट हो गया था, किंतु इसका धार्मिक महत्व बना रहा था। सुलतानो और सूरियो के शासन काल मे यहाँ पर रामानदी सप्रदाय की गद्दी होने का उल्लेख मिलता है। संवत् १६०९ मे उस गद्दी का महत द्वारकादास नामक कोई सत था, जो स्वामी रामानद की शिष्य परम्परा मे ५ वी पीढी मे हुआ था। इसका उल्लेख उक्त द्वारकादास के एक शिष्य सासदास कृत 'भगति भावती' नामक रचना मे हुआ है[1]।

उक्त उल्लेख मे जहाँ दीर्घविष्णु के मदिर की चार शताब्दियो से भी अधिक की प्राचीन परम्परा मिलती है, वहाँ यह भी ज्ञात होता है कि मथुरा का मनोहरपुरा मुहल्ला उस काल मे भी इसी नाम से प्रसिद्ध था। इसके अतिरिक्त मथुरा मे केशव भगवान् का मदिर भी किसी रूप मे विद्यमान था। मुगल सम्राट अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन काल मे इस स्थान पर रामानदी गद्दी और विष्णु मदिर की विद्यमानता रही होगी। बाद मे औरगजेब के शासन काल मे मथुरा मडल के अन्य देव स्थानो की भाँति इसे भी नष्ट कर दिया गया था। अत मे स० १८६४ मे राजा पटनीमल ने इस प्राचीन स्थान का पुनरुद्धार करते हुए यहाँ जो मदिर बनवाया था, वह अभी तक विद्यमान है, किंतु इसकी दशा भी अच्छी नही है।

**पोद्दार परिवार**—मथुरा के पोद्दार परिवार ने भी ब्रज की सास्कृतिक और धार्मिक उन्नति मे बडा योग दिया था। इस घराने के पूर्व पुरुष राजस्थान के चुरू–रामगढ के निवासी थे। उन्होने व्यापार–वाणिज्य मे प्रचुर धनोपार्जन कर विविध धार्मिक कार्यो मे उसका सदुपयोग किया था। इस घराने के सेठ गुरुसहायमल अपने पुत्र घनश्यामदास के साथ स० १९०० मे ब्रज की यात्रा करने आये थे। अपनी धार्मिक भावना के कारण उन्होने मथुरा मे निवास करने का निश्चय किया और उसके लिए स्वामीघाट के निकट की भूमि खरीद कर यहाँ अपनी विशाल हवेली बनवाई थी। उन्होने 'गुरुसहायमल घनश्यामदास' के नाम से अपने यहाँ व्यापारिक प्रतिष्ठान की गद्दी भी स्थापित की थी। सेठ घनश्यामदास के पाँच पुत्र हुए थे—पहिली पत्नी से जयनारायण और लक्ष्मी-नारायण तथा दूसरी से राधाकृष्ण, केशवदेव और मुरलीधर। सेठ गुरुसहायमल का देहावसान स० १९२४ मे और सेठ घनश्यामदास का स० १९४० मे हुआ था। मथुरा के जिस स्थान पर इनका निवास है, वह इनके नाम पर 'चूड वालो का मुहल्ला' कहलाता है।

**सेठ जयनारायण–लक्ष्मीनारायण**—वे सेठ घनश्यामदास के ज्येष्ठ पुत्र और अपने पिता के समान ही धार्मिक प्रवृत्ति के थे। सेठ जयनारायण का जन्म स० १९०६ मे हुआ था और उनकी मृत्यु अपने पिता से केवल ५ दिन पहले स० १९४० मे हुई थी। जयनारायण जी के ज्येष्ठ पुत्र सेठ कन्हैयालाल थे, जो हिंदी साहित्य शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य माने गये हैं। सेठ घनश्यामदास ने मथुरा मे श्री गोविंददेव जी का मदिर बनवाया था और सेठ लक्ष्मीनारायण ने बरसाना के निकट प्रेम सरोवर पर एक सुदर देवालय का निर्माण कराया था।

---

(१) **मथुरा में रचित तीन हिंदी ग्रंथ** (ब्रज भारती, वर्ष १३ अक ३)

**गोविंददेव जी का मदिर**—यह मदिर मथुरा मे स्वामीघाट के निकटवर्ती 'चूड़ीवाला मुहल्ला' मे बना हुआ है। इसका निर्माण स० १९०५ मे हुआ था। इसके भोग-राग की स्थायी व्यवस्था के लिए सेठ घनश्यामदास ने कई लाख रुपये का स्थावर और जगम सम्पत्ति समर्पित की थी। इस मदिर मे विविध धार्मिक समारोह होते रहते हैं और श्रावण के महीने मे सुदर झाँकियाँ होती हैं। मदिर के साथ एक धर्मार्थ अन्नसत्र ( सदाव्रत ) की भी व्यवस्था है।

**प्रेम सरोवर का मदिर**—सेठ लक्ष्मीनारायण द्वारा बनवाया हुआ यह मदिर नदगाँव और बरसाना के मध्यवर्ती प्रेम सरोवर के तट पर स्थित है। एक रमणीक उद्यान मे इस भव्य मदिर का निर्माण कराया गया है। इसके साथ एक धर्मशाला, धर्मार्थ अन्न क्षेत्र और निःशुल्क सस्कृत विद्यालय है। यहाँ का वातावरण ब्रज के अनुरूप बडा सुहावना है, जो दर्शनार्थियों को आनद प्रदान करता है। इसके व्यय के लिए सेठ लक्ष्मीनारायण ने प्रचुर सम्पत्ति अर्पित कर एक ट्रस्ट बना दिया था। यहाँ भाद्रपद शुक्ला ११ को बडा मेला लगता है। उस समय ठाकुर जी की सवारी मदिर से 'प्रेम सरोवर' पर जाती है और वहाँ नाव मे जल-विहार का दर्शनीय उत्सव होता है। उसके अनतर रासलीला होती है।

**सेठ कन्हैयालाल पोद्दार**—वे सेठ जयनारायण जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म स० १९२८ मे मथुरा मे हुआ था। वे अपने यशस्वी पूर्वजों के अनुरूप धार्मिक प्रवृत्ति के सुसस्कृत व्यक्ति थे। हिंदी जगत् मे वे खडी बोली और ब्रजभाषा के कवि, काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान और लेखक तथा साहित्य के मूर्धन्य आलोचक के रूप मे प्रसिद्ध हैं। ब्रज की धार्मिक, सास्कृतिक और साहित्यिक प्रगति के लिए उनकी देन बडी महत्वपूर्ण है। उन्होने ब्रज साहित्य मडल की स्थापना और उसके सचालन मे बडा योग दिया था। उनके ग्रथो मे अलकार प्रकाश, हिंदी मेघदूत विमर्श सस्कृत साहित्य का इतिहास, काव्य कल्पद्रुम, अलकार मजरी और रस मजरी उल्लेखनीय हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हे 'साहित्य वाचस्पति' की पदवी प्रदान की थी और ब्रज साहित्य मडल ने उनका अभिनदन समारोह कर उन्हे ताम्रपत्र और अभिनदन ग्रथ भेंट किया था। उनका देहावसान सुदीर्घ आयु मे स० २०१३ मे हुआ था। उनके पुत्रो मे सर्वश्री रामनिवास, नारायण प्रसाद और मदनगोपाल अपनी सास्कृतिक अभिरुचि के लिए प्रसिद्ध हैं।

## ब्रज के सास्कृतिक और धार्मिक महापुरुष—

**ज्योतिषी बाबा परिवार**—ब्रज के जिन महापुरुषो पर सरस्वती और लक्ष्मी दोनो की समान कृपा रही थी, उनमे मथुरा के ज्योतिषी बाबा परिवार का महत्वपूर्ण स्थान है। यह परिवार औदीच्य ब्राह्मणो का है। इसके मूल पुरुष कृपाशकर जो जयपुर राज्यातर्गत सवाई माधो-पुर के निवासी थे। उनका जन्म स० १८०० मे हुआ था। वे अपनी युवावस्था मे ही ज्योतिष विद्या का प्रकाड ज्ञानोपार्जन कर उसके द्वारा पेशवा, होल्कर और सिंधिया जैसे मरहठा सरदारो से सन्मानित हुए थे और उनसे उन्होने प्रचुर सम्पत्ति एव प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। वे ज्योतिष के साथ धर्मशास्त्र के भी बडे विद्वान थे और उन्होंने उन विषयो से सबधित कई ग्रंथो की रचना भी की थी। वे अपने उत्तर जीवन मे ब्रज-वास करने के विचार से मथुरा आ गये थे। उन्होंने स्वामीघाट के निकट भूमि लेकर यहाँ अपनी विशाल हवेली बनवाई थी, जो 'ज्योतिषी बाबा की हवेली' के

नाम से प्रसिद्ध है। वे प्रति दिन अनेक औदीच्य ब्राह्मणो और दडी सन्यासियो को भोजन कराने के अनतर ही अन्न ग्रहण करते थे। उनका वह नियम उनके वशज भी निवाहते रहे थे। कृपाशकर जी का देहावसान स० १८५१ मे हुआ था। उनके पुत्र गोविंदलाल जी ( स० १८२३—स० १८८५ ) और पौत्र कुजलाल जी ( स० १८६२—स० १९०६ ) भी अपनी पारिवारिक परपरा के अनुसार विद्या, वैभव और उदारता के लिए विख्यात थे। कुजलाल जी के पुत्र अमरलाल जी ने इस परिवार की प्रतिष्ठा को और भी बढाया था।

**ज्यो० अमरलाल**—उनका जन्म स० १८९७ मे हुआ था। वे सात्विक प्रकृति के प्रतिष्ठित विद्वान, उदारचेता और भगवान् श्री कृष्ण के परम भक्त थे। वे भी अपने पूर्वजो की परपरा के अनुसार प्रति दिन अनेक ब्राह्मणो और साधु-सन्यासियो को भोजन कराया करते थे। उनके काल मे स्वामी दयानद जी मथुरा आकर रहे थे और उन्होने दडी विरजानद जी से व्याकरण की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। उस समय अमरलाल जी ने स्वामी जी के भोजन और निवास की व्यवस्था कर उनके अध्ययन मे वडी सहायता प्रदान की थी। उसके लिए स्वामी जी जीवन पर्यन्त उनका उपकार मानते रहे थे। इस सबध मे उन्होने स्वय अपने आत्म चरित मे लिखा है—"आहार और गृह आदि की मुक्त हस्त सहायता करने के कारण मैं अमरलाल का नितान्त आभारी हूँ। भोजन के सबध मे वह इतने यत्न पर रहते थे कि जब तक मेरे भोजन का प्रबध न हो जाता था, तब तक स्वय भोजन न करते थे। वस्तुत अमरलाल एक महदन्त करण के मनुष्य थे, इसमे कोई भी सदेह नही है[1]।" अमरलाल जी स्वामी जी के घनिष्ट मित्रो मे से थे। यह सयोग की बात है कि उनका देहावसान भी स्वामी दयानद के निर्वाण सवत् १९४० मे ही हुआ था। अमरलाल जी के पुत्रो मे सर्वश्री माधवलाल जी, विभाकरलाल जी और शिवप्रकाश जी बडे प्रसिद्ध हुए थे।

**ज्यो० माधवलाल**—वे ज्यो० अमरलाल जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म सवत् १९१७ मे हुआ था। वे बडे विद्वान, समाज-सेवी और धार्मिक नेता थे। उनका राजा और प्रजा मे समान रूप से आदर था। बृटिश शासन की ओर से उन्हे आनरेरी मजिस्ट्रेट बना कर सन्मानित किया गया था। उन्होने मथुरा के गो० गोपाललाल जी के साथ उस काल के स्वदेशी आदोलन का नेतृत्व कर विदेशी खाड का बहिष्कार कराया था। वे गोरक्षा के प्रचारक, सनातनधर्म के नेता और भारत धर्म महामडल तथा सहस्रौदीच्य महासभा के सस्थापको मे से थे। उनके द्वारा ब्रज की सास्कृतिक और धार्मिक प्रगति मे वडा योग मिला था। उनका देहावसान ४६ वर्ष की आयु मे स० १९६३ मे हुआ था। उनके तीन पुत्र हुए—नटवरलाल जी, उमाशकर जी और राधेश्याम जी। इस समय श्री राधेश्याम जी विद्यमान है, जो ब्रज की सास्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक और राजनैतिक प्रवृत्तियो मे प्रमुख भाग लेते रहे है।

**ज्यो० शिवप्रकाश**—वे ज्यो० अमरलाल जी के सबसे छोटे पुत्र और ज्योतिषी माधवलाल जी के कनिष्ट भ्राता थे। उनका जन्म स० १९२९ मे हुआ था। वे संस्कृत और हिंदी के बडे विद्वान तथा उर्दू और अगरेजी के ज्ञाता थे। उन्होने अपने कुल की ज्योतिष विद्या का प्रकाड ज्ञान प्राप्त किया था और वे धर्म शास्त्र, तत्र शास्त्र तथा पुराणादि के मर्मज्ञ थे। उनके द्वारा ब्रज

---

(१) महर्षि दयानंद सरस्वती का जीवन चरित् ( भाग १ ), पृष्ठ ६१

की साँझी कला की बडी प्रगति हुई थी और उन्होने ज्योतिष के कई अपूर्व यत्रो का आविष्कार किया था। वे हिंदी और सस्कृत के लेखक और कवि, कई पत्रो के सपादक तथा धार्मिक और जातीय सस्थाओ के सचालक थे। इस प्रकार वे विद्या और कला की साधना तथा जन-सेवा मे जीवन पर्यन्त लगे रहे और उनके लिए उन्होने अपने धन को लुटाने मे कभी सकोच नही किया। उसका यह परिणाम हुआ कि भारतेन्दु हरिश्चद्र की तरह उन्हे भी अपने अतिम काल मे आर्थिक कष्ट सहन करना पडा था। ब्रज के प्रतिष्ठित व्यक्तियो मे उनका स्थान अग्रगण्य था और अपनी विद्वत्ता, सेवा एव साधना के कारण वे राजा और प्रजा सबके आदरणीय थे।

ब्रज की साँझी कला मे उनकी इतनी विशेषज्ञता थी कि आठ-आठ रगो तक के साँचे एव खाके स्वय तैयार करते थे और उन पर सूखे रग छिडक कर बडी सुदर साँझी बनाते थे। उनकी साँझी देखने के लिए सैकडो व्यक्तियो की भीड लग जाती थी। स० १९७८ मे जब इगलैंड का युवराज भारत आया था, तब उस काल के अगरेज शासको ने उन्हे आगरा किला मे साँझी कला का प्रदर्शन करने के लिए आमत्रित किया था। उनके द्वारा आविष्कृत ज्योतिष यत्रो मे सार्वदेशिक धूप घडी, लग्नबोधक घडी, वृहत् गोलार्ध, यष्टियत्र, ध्रुवभित्ति, तुरीय, मर्कटी आदि उल्लेखनीय हैं। वे यत्र उन्होने अपनी सूझ-बूझ से ब्रज के कारीगरो द्वारा ही तैयार कराये थे। उन्होने अपने शिवाश्रम नामक उद्यान मे एक 'वेध शाला' की स्थापना कर उसमे वे सभी ज्योतिष यत्र प्रदर्शनार्थ रखे थे। खेद की बात है, देश की पराधीनता के कारण उस काल मे उनकी आविष्कारक प्रतिभा का कोई सदुपयोग नही किया जा सका और उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी की अज्ञानता के कारण वे अद्भुत यत्र अस्त-व्यस्त हो गये थे। उनका देहावसान ६१ वर्ष की आयु मे स० १९९० मे हुआ था।

**दडी विरजानंद**—वे पजाब के सारस्वत ब्राह्मण थे और उनका जन्म स० १८३५ मे हुआ था। वे बाल्यावस्था मे ही नेत्रहीन हो गये थे, किंतु अपनी अद्भुत स्मरण शक्ति और अपूर्व मेधा के कारण उन्होने सस्कृत का प्रकाड ज्ञान प्राप्त किया था। वे युवावस्था मे ही सन्यासी हो गये थे, उस समय उनका नाम विरजानद रखा गया था, किंतु वे 'दडी स्वामी' अथवा 'प्रज्ञाचक्षु' के नामो से अधिक प्रसिद्ध थे। हरिद्वार, काशी, गया, सोरो आदि धार्मिक स्थानो की यात्रा तथा अलवर, मुरसान, भरतपुर आदि राज्यो मे कुछ काल तक निवास करने के अनतर वे स० १९०३ के लगभग मथुरा आये थे। यहाँ पर उन्होने एक सस्कृत विद्यालय की स्थापना कर अपने अतिम काल तक निवास किया था। वह विद्यालय कमखार बाजार मे एक छोटे दोमजिला मकान मे था, जहाँ अब उनका स्मारक भवन बनाया गया है। ब्रज मे सस्कृत विद्या के प्रचार करने मे दडी विरजानद जी के उस विद्यालय का बडा महत्व है। उसमे शिक्षा प्राप्त करने वाले अनेक छात्र उस काल मे सस्कृत के बडे विद्वान हुए थे और उन्होने अपनी विद्वत्ता की पताका फहराई थी। आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानद ने उसी विद्यालय मे विद्याध्ययन कर दडी स्वामी द्वारा वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की प्रेरणा प्राप्त की थी। इस प्रकार ब्रज सस्कृति के साथ ही साथ आर्य समाज के इतिहास मे भी उस विद्यालय का नाम सदा अमर रहेगा।

दडी विरजानद जी एक अनुभवी एव कुशल अध्यापक थे और उनके अध्यापन की शैली अपूर्व थी। उन्हे अनेक शास्त्र कठस्थ थे, अत उनकी नेत्रहीनता उनके अध्यापन कार्य मे बाधक नही हुई थी। वे छात्रो को बडी सुगमता पूर्वक विविध शास्त्रो का बोध करा देते थे। पहिले वे अनेक

विषय पढाया करते थे, किंतु बाद मे उन्होने अपना लक्ष्य व्याकरण की उच्च शिक्षा देने तक ही सीमित कर दिया था। वे आर्ष ग्र थो के प्रचार और अनार्ष ग्रथो के बहिष्कार के प्रबल आग्रही थे। इसलिए वे सिद्धात कौमुदी, मनोरमा और शेखर जैसे व्याकरण ग्र थो की अपेक्षा पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रो को पढाने के पक्षपाती थे। वे अपने छात्रो को नि शुल्क शिक्षा देते थे और निर्धन विद्यार्थियो को पुस्तको की भी व्यवस्था करा देते थे। उनके जीवन-निर्वाह तथा विद्यालय के सचालन का समस्त व्यय अलवर, भरतपुर और जयपुर के राजाओ की सहायता से चलता था।

दडी विरजानद जी वैदिक विद्या और आर्ष ग्रथो के व्यापक प्रचार के बडे इच्छुक थे। उसके लिए उन्होने एक सार्वभौम सभा के आयोजनार्थ उस काल के कई राजा-महाराजाओ और सरकारी अधिकारियो को प्रेरित किया था। स० १९१९ मे जब आगरा मे लार्ड कैनिग का दरबार हुआ था, तब उसमे अनेक राजा-महाराजा एव विद्वत् जन उपस्थित हुए थे। उस अवसर पर दडी जी स्वय आगरा गये और वहाँ जयपुर के महाराजा रामसिह को उन्होने उक्त सार्वभौम सभा का आयोजन करने के लिए कहा था। वे उस सभा मे शास्त्रार्थ द्वारा आर्ष ग्र थो का मडन और अनार्ष ग्र थो का खडन करना चाहते थे। दुर्भाग्य से उनके जीवन-काल मे उनकी इच्छा की पूर्ति नही हो सकी, किंतु कालातर मे उनसे प्रेरणा प्राप्त कर स्वामी दयानद ने उनके उद्देश्य की पूर्ति का भारी प्रयत्न किया था। दडी विरजानद का देहावसान ८९ वर्ष की परिपक्व आयु मे स० १९२५ की आश्विन कृ० १३ को हुआ था। उनके कारण मथुरा मे वैदिक विद्या और सस्कृत व्याकरण की जो ज्योति प्रज्वलित हुई थी, वह स्वामी दयानद और उनके अन्य शिष्यो द्वारा जगमगाती रही थी।

**स्वामी दयानंद**—उनका जन्म स० १८८१ मे काठियावाड प्रदेशातर्गत मोरवी राज्य के टकारा ग्राम मे हुआ था। वे सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे। उनका आरभिक नाम मूल जी था, किंतु सन्यासी होने पर वे दयानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनका पिता करसन जी तिवाडी मूर्ति पूजक कट्टर शैव था, किंतु दयानद को शिव रात्रि की एक घटना के कारण मूर्ति-पूजा के प्रति अश्रद्धा हो गई थी। वे युवावस्था मे ही सासारिक विषयो से उदासीन होकर विरक्त जीवन बिताने का विचार करने लगे। उनकी वह दशा देख कर उनके माता-पिता ने उन्हे वैवाहिक बधन मे बाँधना चाहा; किंतु वे स० १९०२ मे एक दिन बिना किसी से कहे-सुने अकेले ही घर से निकल भागे और दो वर्ष तक ब्रह्मचारी का वेश धारण कर ज्ञानार्जन के उद्देश्य से इधर-उधर घूमते रहे। स० १९०४ मे उन्होने नर्मदा के तट पर पूर्णानद सरस्वती से सन्यासाश्रम की दीक्षा ली थी।

सन्यासी होने के पश्चात् वे प्राय १२ वर्ष तक ज्ञानियो और योगियो से सस्कृत भाषा और यौगिक क्रियाओ का उच्च ज्ञान प्राप्त करते रहे, किंतु उनके मन को शांति नही मिली थी। वे किसी सच्चे साधु और धुरधर विद्वान से प्राचीन ऋषि-मुनियो के वैदिक ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। उन्होने दडी विरजानद के प्रकाड ज्ञान की बडी ख्याति सुनी थी, अत वे उनसे विद्याध्ययन करने के विचार से स० १९१६ मे मथुरा आ गये। उस समय वे सन्यासी के वेश मे थे और गेरुआ वस्त्र पहिने हुए थे। उनके पास दैनिक उपयोग की दो-एक वस्तुओ और कुछ पुस्तको के अतिरिक्त और कोई सामान नही था। वे पहिले मथुरा नगर के बाहर रगेश्वर महादेव के निकट की एक बगीची मे ठहरे और बाद मे विश्रामघाट पर लक्ष्मीनारायण जी के मदिर के पास की एक छोटी कोठरी मे रहने लगे थे। अपने भोजन के लिए उन्होने पहिले मथुरा के दुर्गाप्रसाद खत्री से

चने प्राप्त करने की अस्थायी व्यवस्था की थी। बाद में मथुरा के विख्यात ज्योतिषी बाबा अमरलाल जी ने उनके भोजन और निवास का स्थायी प्रबंध कर दिया था। उन को रात में रोशनी के लिए छत्ता बाजार के खेतामल सराफ की दूकान से ४ आना मासिक और दूध के लिए भरतपुर दरवाजा के हरदेव पत्थर वाले की दूकान से २) रु० मासिक की सहायता प्राप्त होती थी। पाठ्य पुस्तकों के लिए उन्हें विविध दानियों ने ३१) रु० प्रदान किये थे। इस प्रकार मथुरा निवासियों ने स्वामी जी के विद्याव्ययन के लिए सब प्रकार की आवश्यक सुविधा और सहायता दी थी।

स्वामी दयानंद ने सं० १९१६ से सं० १९२० तक की अवधि में प्राय ४ वर्ष तक मथुरा में निवास कर दंडी विरजानंद जी के विद्यालय में अध्ययन किया था। उनकी गुरु–भक्ति अपूर्व थी और उनका रहन–सहन एवं आचार–व्यवहार आदर्श थे। वे दिन में एक बार भोजन करते थे और प्रातःकाल से रात्रि पर्यन्त गुरु–सेवा तथा अध्ययन-अनुशीलन में लगे रहते थे। उन्होंने विरजानंद जी से अष्टाध्यायी और महाभाष्य की पूर्ण शिक्षा प्राप्त की थी। उसके साथ ही उन्होंने निरुक्तादि वेदांग भी उनसे विधि पूर्वक पढ़े थे। जब वे अपना अध्ययन पूरा कर मथुरा से जाने लगे तब गुरु-दक्षिणा में देने के लिए उनके पास कुछ नहीं था। वे थोड़ी सी लोंग लेकर दंडी जी की सेवा में उपस्थित हुए और उस तुच्छ भेंट को उनके चरणों में श्रद्धापूर्वक रखते हुए उनसे विदा माँगने लगे। दंडी जी ने उन्हें स्नेह पूर्वक आशीर्वाद देते हुए विदा किया और आदेश दिया कि वे अनार्ष ग्रंथों तथा मिथ्या मत–मतांतरों का बहिष्कार कर आर्ष ग्रंथों के प्रचार एवं वैदिक धर्म के पुनरुद्धार द्वारा देशोपकार करने में अपना जीवन लगावें।

स्वामी जी ने दंडी जी के आदेश का भली भाँति पालन किया था। उन्होंने उक्त कार्य में अपने जीवन के अंतिम २० वर्ष लगाये थे। पहिले १० वर्षों में उन्होंने विभिन्न स्थानों में भ्रमण कर अपने मत का प्रचार और विरोधियों के मतों का शास्त्रार्थ द्वारा खंडन किया था। दूसरे १० वर्षों में उन्होंने आर्य समाज की स्थापना और अपने महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की थी। पहिले १० वर्षों की अवधि में वे दो बार मथुरा आये थे। प्रथम बार सं० १९२३ में जब वे आगरा होते हुए यहाँ आये, तब उन्होंने दंडी जी की सेवा में उपस्थित होकर उन्हें अपने कार्यों से अवगत किया था। दंडी जी को उससे बड़ा संतोष और आनंद प्राप्त हुआ। द्वितीय बार वे सं० १९३० में आये थे। उस समय उनकी यात्रा का उद्देश्य वृंदावनस्थ श्री रंग मंदिर के अध्यक्ष रंगाचार्य जी से मूर्ति-पूजा विषयक शास्त्रार्थ करना था। उस समय तक दंडी जी का देहावसान हो चुका था; किंतु उनके अनेक शिष्य, जिनमें से कई स्वामी जी के सहपाठी थे, मथुरा में विद्यमान थे। ऐसा ज्ञात होता है, स्वामी जी के मूर्ति–पूजा विरोधी विचारों के कारण उस बार मथुरा में उनका यथोचित स्वागत–सत्कार नहीं हो सका था। उनके सहपाठियों ने भी उनके प्रति विरक्ति ही नहीं, वरन् विरोध का भाव प्रकट किया था।

स्वामी जी मथुरा आते ही रंगाचार्य जी से शास्त्रार्थ करने के लिये वृंदावन चले गये। जब कई दिनों तक प्रतीक्षा करने पर भी रंगाचार्य जी शास्त्रार्थ करने को तैयार नहीं हुए, तब वे मथुरा वापिस आ गये। श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है, मथुरा में स्वामी जी गोस्वामी पुरुषोत्तमलाल के आतिथ्य में उनके बलदेव बाग में ठहरे थे[1]। गो० पुरुषोत्तमलाल जी स्वामी

---

(१) महर्षि दयानंद का जीवन चरित, (प्रथम भाग) पृष्ठ २६६

दयानद जी के सहपाठी गो० रमणलाल जी के पिता थे। बलदेव बाग को अब 'बहू जी का बाग' कहते है, जो बगालीघाट पर रेलवे पुल के पास है। यह उल्लेखनीय बात है, जब स्वामी जी के अधिकाश सहपाठी उनका विरोध कर रहे थे, तब बल्लभ सप्रदाय के एक गोस्वामी ने उन्हे आश्रय प्रदान कर अपनी उदारता का परिचय दिया था। मथुरा मे जो थोडे से व्यक्ति स्वामी जी से मिल कर उनके विचारो से प्रभावित हुए थे, उनमे श्री दयाशकर दुवे नामक एक गुजराती सज्जन का नाम उल्लेखनीय है। उन्होने स्वामी जी से प्रेरणा प्राप्त कर मथुरा मे आर्य समाज की स्थापना और उसके प्रारभिक प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य किया था। उस बार स्वामी जी केवल ५ दिन तक मथुरा मे रहे थे, किंतु उस अवधि मे ही उन्होने अपने आगामी कार्यक्रम की रूप-रेखा तैयार कर ली थी। पहले वे सस्कृत मे भाषण किया करते थे, जिससे केवल पडितो और विद्वानो पर ही उनके कथन का प्रभाव पडता था, किंतु साधारण जनता उनके विचारो से लाभान्वित नही हो पाती थी। ब्रह्म-समाज के सुप्रसिद्ध नेता श्री केशवचद्र सेन ने स्वामी जी को सुझाव दिया कि वे हिंदी भाषा मे भाषण और ग्रथ–रचना करे, ताकि जन–साधारण मे उनके विचारो का व्यापक प्रचार हो सके। स्वामी जी ने उस उपयोगी सुझाव को स्वीकार कर हिदी भाषा के माध्यम से ही अपने मत को प्रचलित किया और उसमे अपूर्व सफलता प्राप्त की थी। उनके द्वारा हिंदी भाषा का देशव्यापी प्रचार होने मे वडी सहायता प्राप्त हुई थी।

स्वामी जी के अतिम १० वर्षो मे उनके समस्त महत्वपूर्ण ग्रथो की रचना और आर्य समाज की स्थापना हुई थी। उन्होने स० १९३२–३३ मे 'सत्यार्थ प्रकाश' और 'सस्कार विधि' की रचना की थी। स० १९३४–३९ मे उनके महान् ग्रथ 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका,' 'ऋग्वेद भाष्य' और 'यजुर्वेद भाष्य' की रचना हुई थी। उनका देहावसान स० १९४० मे हुआ था। इस प्रकार वे अपने महान् कार्यो से दडी विरजानद जी के आदेश का पालन कर स्वय गुरु–ऋण से मुक्त हो गये, और समस्त भारतवर्ष को सदा के लिए अपना ऋणी बना गये थे।

उन्होने वैदिक सस्कृति, वेदोक्त धर्म, गुरुकुल प्रणाली, वर्णाश्रम व्यवस्था, स्त्री शिक्षा, अछूतोद्धार, सस्कृत एव हिंदी के पठन–पाठन, स्वदेशी वस्तुओ के प्रयोग और सादा रहन–सहन का प्रचलन कर भारत के नव निर्माण मे महत्वपूर्ण योग दिया था। उन्होने अपने युगातरकारी कार्यो से उन लोगो को सन्मार्ग दिखलाया था, जो पाश्चात्य सभ्यता की चकाचोध मे भटकने लगे थे। उनके भाषणो और लेखो द्वारा उस काल मे जो राष्ट्रोद्धार एव समाज–सुधार की भावना का प्रसार हुआ, उससे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओ और समाज–सेवियो को बडी प्रेरणा मिली थी। स्वामी जी की मातृ भाषा गुजराती थी और वे सस्कृत के प्रकाड विद्वान होने के कारण उक्त भाषा मे लिखने तथा भाषण करने के अभ्यासी थे, फिर भी उन्होने हिदी को अपना कर राष्ट्रभाषा के प्रयोग का आदर्श प्रस्तुत किया था। वे हिंदी भाषा को 'आर्य भाषा' का नाम देकर इसे समस्त आर्यावर्त की सामान्य भाषा बनाने के बडे इच्छुक थे। इसीलिए उन्होने अपने समस्त महत्वपूर्ण ग्रथ हिदी भाषा मे ही लिखे थे। ब्रज के लिए यह बडे गौरव की बात है कि स्वामी जी को अपने देशोपकारी कार्यो की प्रेरणा यहाँ पर ही प्राप्त हुई थी। उनका मथुरा नगर से जो महत्वपूर्ण सबध था, उसी के कारण यहाँ स० १९८१ मे उनकी जन्म–शताब्दी और स० २०१६ मे दीक्षा–शताब्दी के विशाल समारोह किये गये, जिनमे समस्त भारत के कई लाख व्यक्तियो ने योग दिया था।

**दंडी जी के अन्य शिष्य**—स्वामी दयानंद जी के अतिरिक्त दंडी विरजानंद जी के जो अनेक शिष्य थे, उनमें उदयप्रकाश जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे गौड़ ब्राह्मण और मथुरा की मंडी रामदास के निवासी थे। उनकी परंपरा में मथुरा के अनेक प्रसिद्ध विद्वान और संस्कृत के अध्यापक हुए हैं। उनके पुत्र मुकुंददेव जी तथा शिष्य ब्रजमोहन जी और श्रीधर जी सुप्रसिद्ध संस्कृत अध्यापक थे। उनके अन्य सुयोग्य शिष्यों में दयाशंकर जी पाठक कीर्तिचंद जी (बड़े चौबे), नारायण पंडित और हलधर भट्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। दंडी जी के दूसरे शिष्यों में गंगादत्त जी रंगदत्त जी, वासुदेव जी, नंदन जी, रमणलाल जी गोस्वामी और वनमाली जी के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। गंगादत्त जी व्याकरण तथा तर्क शास्त्र के बड़े विद्वान थे और ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि नवनीत चतुर्वेदी के गुरु थे। वासुदेव जी और नंदन जी माथुर चतुर्वेदियों की गुरु-गद्दियों के अध्यक्ष थे, रमणलाल जी वल्लभ संप्रदाय की छटी गद्दी के आचार्य और मथुरा के छोटे मदनमोहन जी के मंदिर के गोस्वामी थे तथा वनमाली जी प्रसिद्ध कथा-वाचक थे। इन सब विद्वानों ने दंडी जी के नाम को उजागर किया है।

**श्री ग्राउस**—ब्रज संस्कृति के उन्नायकों में श्री ग्राउस का नाम सदा स्मरणीय रहेगा। वह अंगरेजी शासन काल में सं० १९२९ से १९३४ (सन् १८७२ से १८७७) तक मथुरा का जिलाधीश रहा था। उससे पहिले वह जिलाधीश हार्डिंग के काल में यहाँ ज्वाइंट मजिस्ट्रेट रह चुका था। उस सहृदय अंगरेज ने प्रशासकीय कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी ब्रज के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए जो महत्वपूर्ण देन दी है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, वह कम है। उसने ब्रज की स्थापत्य कला के संरक्षण के लिए वृंदावन के सुप्रसिद्ध श्री गोविंददेव जी के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था तथा वहाँ के पुराने मंदिरों और घाटों की मरम्मत-सफाई की सुव्यवस्था की थी। उसने गोकुल की पुरानी धार्मिक बस्ती के गली-बाजारों की भी मरम्मत कराई थी। मथुरा में उसने सदर में गिरजाघर बनवाया था और चौक बाजार की जामा मसजिद की मरम्मत कराई थी।

उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य ब्रज के पुरातत्व का संरक्षण और ब्रज का अन्वेषण करना था। उस काल में ब्रज के प्राचीन पुरातात्विक अवशेष इधर-उधर बिखरे पड़े थे, जिनकी सुरक्षा और देख-रेख की कोई व्यवस्था नहीं थी। उसने उन ऐतिहासिक कला-कृतियों को बड़ी संख्या में एकत्र करा कर तथा खुदाई द्वारा पुरातत्त्व की महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कर यहाँ एक संग्रहालय का आयोजन किया था। उसी के प्रयत्न से सं० १८७४ में कचहरी के पास की एक कलापूर्ण इमारत में मथुरा के उस संग्रहालय की स्थापना की गई, जो अब भारत के सुप्रसिद्ध कला भंडारों में गिना जाता है। उसने बड़े मनोयोग पूर्वक ब्रज का सांस्कृतिक अन्वेषण किया था। इस संबंध में उसने जो महत्वपूर्ण तथ्य संकलित किये, उन्हें अपने विख्यात ग्रंथ 'मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर' में उसने प्रकाशित किया है। यदि यह ग्रंथ न होता, तो आज ब्रज के संबंध की अनेक बातें अज्ञात ही रह जातीं। इस ग्रंथ के तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम संस्करण सन् १८७४ में प्रकाशित हुआ था, जब ग्राउस मथुरा में जिलाधीश था। दूसरा संस्करण सन् १८८० में और तीसरा संस्करण सन् १८८३ में प्रकाशित हुआ था। तृतीय संस्करण में कुछ संशोधन और परिवर्तन किया गया था और वह सरकारी मुद्रणालय में छपा था। उस समय ग्राउस बुलंदशहर में जिलाधीश था। यद्यपि इस ग्रंथ की बहुत सी बातें अब नये अन्वेषण से अपूर्ण और भ्रमात्मक सिद्ध हुई हैं, तब भी उसका बड़ा ऐतिहासिक महत्व है।

**नारायण स्वामी**—वे पजावी सारस्वत ब्राह्मण थे। उनका जन्म स० १८८५ मे रावलपिडी मे हुआ था। कृष्ण-भक्ति से आकर्षित होकर वे स० १९१६ मे ब्रज मे आ गये थे। वे विरक्त सन्यासी होते हुए भी माधुर्य भक्ति के उपासक और रासलीला के वडे प्रेमी थे। उनकी भक्तिपूर्ण रचनाएँ 'ब्रज विहार' नामक ग्र थ मे सकलित हैं। उनका देहावसान स० १९५७ मे गोवर्धन स्थित कुसुम सरोवर के निकटवर्ती उद्धव जी के मदिर मे हुआ था।

**वलवतराव सिंधिया**—वे ग्वालियर नरेश जयाजीराव सिंधिया ( शासन स० १९००-१९४३ ) के पुत्र थे, जो उनकी परम सु दरी उपपत्नी से उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म स० १९११ मे लश्कर ( ग्वालियर ) मे हुआ था। युवराज माधवराव के साथ उनकी शिक्षा-दीक्षा की यथोचित व्यवस्था की गई थी। वे हिंदी, मराठी और अगरेजी के ज्ञाता, काव्य एव सगीतादि कई कलाओ के मर्मज्ञ, भक्त-कवि और धार्मिक महापुरुष थे। माधवराव सिंधिया के भाई होने के कारण वे 'भैया वलवतराव' के नाम से अधिक प्रसिद्ध थे। ग्वालियर राज्य के प्रथम श्रेणी के सरदार एव राजपुरुष होते हुए भी वे भक्त-हृदय और विरक्त महात्मा थे। उनका मन शासन-कार्य की अपेक्षा सत्सग, शास्त्रानुशीलन, भगवद्भजन, भक्तिपूर्ण गायन और भक्ति-काव्य की रचना मे अधिक रमता था। वे भगवान् श्री कृष्ण के अनन्य भक्त और ब्रज के परमोपासक थे, अत वे अधिकतर गोवर्धन-वृ दावन आदि ब्रज की धार्मिक स्थलो मे निवास किया करते थे। उन्होंने महात्मा हरिचरणदास से चैतन्य मत की दीक्षा ली थी। उनका हरि-कीर्तन अत्यत हृदयग्राही होता था। उनके रचे हुए ग्र थो मे दशमस्कध भाषा, पद माल, स्मरण मगल भाषा, धर्म सदर्भ और ऊषा नाटक उल्लेखनीय है। उन्होने ब्रज मे धार्मिक प्रगति और साधु-सेवा के लिए कई लाख की सपत्ति धर्मार्थ लगा कर दो ट्रस्ट वनाये थे। पहिला मथुरा का 'श्री राधा-माधव भडार ट्रस्ट' है, जिससे १३५ भजनानदी विरक्त साधुओ को स्थायी मासिक अनुदान दिया जाता है। दूसरा गोवर्धन का 'कृष्ण चैतन्यालय ट्रस्ट' है, जिसमे उनके द्वारा निर्मित मदिर के व्यय की व्यवस्था की जाती है। यह मदिर गोवर्धन-राधाकु ड के मध्य मार्ग मे कुसुम सरोवर के निकट वना हुआ है और 'ग्वालियर वाला मदिर' कहलाता है। चैतन्य सप्रदायी साहित्य के प्रसिद्ध प्रकाशक वावा कृष्णदास आजकल इस मदिर के महत है। भैया वलवतराव का देहात स० १९८१ की पौष कृ० ११ को हुआ था।

**गणपतिराव सिंधिया**—भैया वलवतराव का छोटा भाई गणपतिराव सुप्रसिद्ध सगीतज्ञ, हारमोनियम का कुशल वादक और ठुमरी शैली का विख्यात गायक था। उस काल मे ठुमरी का गायन प्राय वेश्याएँ किया करती थी, अत. वलवतराव जैसे भक्त-हृदय महात्मा को अपने भाई का ठुमरी गान पसद नही था। किंतु भैया गणपतिराव ने अपने सगीत-कौशल से ठुमरी को भी गभीर शास्त्रीय गायन का रूप प्रदान किया था। उसके अनुकरण पर ही उस काल मे शास्त्रीय सगीत के कलाकारो ने ठुमरी को अपनाया था। मथुरा के सगीतज्ञो से गणपतिराव का वडा स्नेह था और वह उनकी सगीत-मडली मे सगत करने के लिए प्राय यहाँ पर ही रहा करता था। उसका देहात स० १९७६ के लगभग दतिया मे हुआ था।

**मधुसूदन गोस्वामी**—वे चैतन्य मत के आचार्य और वृंदावनस्थ श्री राधारमण मदिर के गोस्वामी थे। उनका जन्म सं० १९१३ मे हुआ था। उन्होंने अपने सहयोगी आचार्य राधाचरण गोस्वामी और शोभन गोस्वामी के सहयोग से उस काल मे वृ दावन मे धार्मिक,

सास्कृतिक और साहित्यिक प्रगति के लिए वडा प्रयत्न किया था। उन लोगो ने ब्रजभापा काव्य के प्रोत्साहन के लिए स० १९३२ मे 'कवि कुल कौमुदी' और धर्म–प्रचार के लिए स० १९३९ मे 'वैष्णव धर्म प्रचारिणी सभा' नामक सस्थाओ की स्थापना की थी। वे साप्रदायिक विद्वान, वैष्णव धर्म के प्रबल प्रचारक और व्रजभापा के कवि थे।

**राधाचरण गोस्वामी**—वे चैतन्य मत के प्रसिद्ध आचार्य और वृदावनस्थ श्री राधा-रमण मदिर के गोस्वामी थे। उनका जन्म स० १९१५ की फाल्गुन कृ० ५ को हुआ था। वे वृंदावन के धर्माचार्य और भक्त–कवि गल्लू जी गोस्वामी उपनाम 'गुणमजरी दास' के पुत्र थे। उन्हे बचपन मे अपनी कुल–परपरा के अनुसार सस्कृत भापा और धर्म ग थो की शिक्षा दी गई थी। उनके पिताजी उन्हे अपने अनुरूप पुराने विचारो का रूढिवादी वैष्णव बनाना चाहते थे, किंतु वे उनसे छिपा कर अगरेजी शिक्षा, समाज–सुधार और राष्ट्रीय आदोलन मे रुचि लेने लगे थे। वे सकीर्ण साप्रदायिक विचारो के विरोधी और उदार समाज–सुधारक थे। उन्होंने उस काल मे विदेश–यात्रा और विधवा–विवाह का समर्थन कर गोस्वामी समाज मे बडी हलचल मचा दी थी। वे काग्रेस के सक्रिय कार्यकर्त्ता, उदार वैष्णव धर्म के प्रचारक और जनता के सच्चे सेवक थे।

उनकी अधिक प्रसिद्धि हिंदी प्रचारक, साहित्यिक विद्वान, कवि और लेखक होने के कारण है। वे भारतेन्दु मडल के एक उज्ज्वल नक्षत्र थे, अत वे वर्तमान हिंदी साहित्य के निर्माताओ और उन्नायको मे माने जाते है। वे भारतेन्दु हरिश्चद्र के परम भक्त और उनके आदर्श पर चलने वाले कर्मठ हिंदी–सेवी थे। उन्होने अपनी युवावस्था मे 'कवि कुल कौमुदी' और 'वैष्णव धर्म प्रचारिणी' जैसी सस्थाओ की स्थापना एव सचालन मे सहयोग दिया था। स० १९४१ मे उन्होने भारतेन्दु हरिश्चद्र के नाम पर 'भारतेन्दु' नामक एक साहित्यिक मासिक पत्र वृदावन से निकाला था। वह पत्र बडे उत्साह से चलाया गया, किंतु ३॥ वर्ष वाद अर्थाभाव के कारण उसे वद कर देना पडा था। उन्होने काव्य, नाटक, उपन्यास, हास्य, व्यग और समाज–सुधार से सबधित अनेक रचनाएँ की थी, जिनकी उस काल मे वडी ख्याति हुई थी। उनका देहावसान स० १९८२ मे हुआ था।

**गोपाललाल गोस्वामी**—वे वल्लभ सप्रदाय की छटी गद्दी के अतर्गत द्वितीय उपगृह के आचार्य और मथुरा के सुप्रसिद्ध श्री मदनमोहनजी – दाऊजी मदिर के गोस्वामी थे। उनका जन्म स० १९१७ मे हुआ था। उनके पूर्वज श्री पुरुषोत्तम जी ( जन्म स० १८०५ ) ने ब्रज-यात्रा और ब्रज के लोक काव्य की उन्नति मे वडा योग दिया था। वे अपनी लोक रचनाओ के कारण ब्रज मे 'ख्याल वारे' के नाम से प्रसिद्ध थे। गोपाललाल जी धार्मिक महापुरुष होने के साथ ही साथ सास्कृतिक रुचि सम्पन्न एक उच्च कोटि के कलाकार भी थे। वे ठाकुर जी के उत्सवो मे बडी कलात्मकता का प्रदर्शन करते थे और सख्य भाव से ठाकुर जी को लाड लडाते थे। उनके द्वारा सचालित ब्रज–यात्रा, रासलीला और उत्सवो मे ब्रज सस्कृति के भव्य रूप की झाँकी मिलती थी। वे काव्य, सगीत और नृत्य कलाओ मे बडे कुशल थे। यदि उन्हे ब्रज सस्कृति का अतिम प्रतिनिधि कहा जाय, तो इसमे कोई अयुक्ति नही होगी। उनके काल मे अगरेजो ने विदेशी चीनी का बडे परिमाण मे आयात किया था। मोरिशस टापुओ की उपज होने के कारण वह 'मोरस खाड' कही जाती थी। गोपाललाल जी ने उसका बहिष्कार कर मदिरो मे उसके प्रवेश का निषेध कर दिया था, जिससे उस काल मे ब्रज मे उसका प्रचार नही हो सका था।

**सेठ हरप्रसाद (डीग वाला)**—ब्रज के सांस्कृतिक और धार्मिक परिवारो मे डीग वाले सेठो की भी गणना की जाती है। वे जाट राज्य के प्रमुख केन्द्र डीग के रहने वाले थे, जहाँ उन्होने कई मदिर, धर्मशाला और कुडादि बनवाये थे। उनके द्वारा वहाँ के जन-हितकारी और लोकोपयोगी कार्यो मे उदारता पूर्वक दान दिया जाता था। उनके व्यापारिक प्रतिष्ठान 'महाराम मुरारीलाल' की बडी प्रतिष्ठा थी। उस परिवार का सेठ हरप्रसाद जाट राजा यशवतसिंह के शासन काल मे विद्यमान था। जब स० १६३४ मे ब्रज मे भीषण अकाल पडा, तब डीग मे बडी भुखमरी फैल गई थी। उस समय राजा यशवतसिंह ने सेठ हरप्रसाद से डीग के निवासियो को धर्मार्थ अन्न वितरण करने का आदेश दिया। सेठ हरप्रसाद उसके लिए तैयार हो गया, किंतु उसने राजा से भी प्रजा का लगान माफ कर देने के लिए कहा। इस पर राजा चुप्प हो गया, किंतु उसकी मुखाकृति से ऐसा जान पडा कि वह सेठ की माँग से नाराज हो गया है। उस काल के स्वेच्छाचारी राजा को नाराज कर देने का अर्थ किसी भी व्यक्ति को अपनी बर्बादी का निमत्रण देना होता था। ऐसी स्थिति मे सेठ हरप्रसाद ने एक ओर भीषण अकाल और दूसरी ओर राजा की नाराजी से बचने के लिए जल्दी से जल्दी जाट राज्य से हट कर अन्यत्र निवास करना ही उचित समझा था। फलत वह अपने बाल-बच्चो और धन-सम्पत्ति के साथ डीग को छोड कर मथुरा मे आकर रहने लगा। मथुरा मे उसने महाजनी एव व्यापार-वाणिज्य का कारोबार किया और उसमे खूब रुपया पैदा किया। वह मथुरा का प्रतिष्ठित सेठ और यहाँ के अग्रवाल समाज का सरपच माना जाता था। उसने मथुरा मे यमुना के कृष्णगगा तीर्थ पर एक कलापूर्ण सुदर घाट का निर्माण कराया और गोवर्धन मे एक बडी धर्मशाला बनवाई थी। उनके अतिरिक्त अनेक जन-हितकारी कार्यो मे भी उसने उदारता पूर्वक दान दिया था। उसका देहात स० १६५० मे हुआ था। उसके दो पुत्र सेठ केशवदेव और सेठ बदरीप्रसाद थे। सेठ केशवदेव ने अपने पिता के कारोबार को सँभाला था और सेठ बदरीप्रसाद ने अग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त कर राजकीय प्रतिष्ठित पदो पर काम किया था। सेठ केशवदेव को व्यापार मे घाटा पड जाने बडी आर्थिक हानि हुई, जिसके कारण बाद मे उसे अपना कारोबार बद कर देना पडा था। सेठ बदरीप्रसाद के कई लडके हुए। वे भी राजकीय पदो पर नियुक्त है। उनका छोटा पुत्र श्री ओमप्रकाश एरन मथुरा नगर पालिका का एक्जीक्यूटिव आफीसर है।

**बनमाली बाबू (तराश वाला)**—तराश जिला पबना ( पूर्वी पाकिस्तान ) के धनाढ्य जिमीदार बनमाली बाबू का जन्म स० १६२१ मे हुआ था। वह धार्मिक प्रवृत्ति का अत्यत उदार सज्जन था। उसने अपने जन्म स्थान मे धर्मशाला, कूएँ, घाट, औषधालय और विद्यालय आदि अनेक जनोपयोगी कार्यो मे अपने धन का सदुपयोग किया था। स० १६५२ मे उसने समस्त सम्पत्ति अपने उपास्य देव ठाकुर राधाविनोद जी के नाम कर दी। फिर वह अपने परिवार और ठाकुर को लेकर ब्रज मे आकर रहने लगा। आरभ मे वह ब्रज के राधाकुड नामक स्थान मे रहता था, जहाँ उसने एक मंदिर स० १६५६ मे बनवाया था। उस मदिर मे ठाकुर राधाविनोद जी स० १६६१ तक विराजमान रहे थे। उसके बाद बनमाली बाबू वृदावन मे निवास करने लगा। वहीं पर उसने ठाकुर राधाविनोद जी का मदिर बनवाया तथा विद्यालय, औषधालय, धर्मशाला, अन्नक्षेत्र आदि जनोपयोगी कार्यो की व्यवस्था की। वह अपने उपास्य देव के प्रति दामाद की सी भावना रखकर उन्हे 'जमाई ठाकुर' कहा करता था।

उसके द्वारा सपादित अनेक कार्यो मे धार्मिक ग्र थो का प्रकाशन अत्यत महत्वपूर्ण है। उसने अष्ट टीका सहित श्रीमद् भागवत, वृहद् भागवतामृत, श्री गोपाल चम्पू, श्री कृष्ण भावनामृत, श्री जगन्नाथ वल्लभ नाटक आदि अनेक भक्ति ग्र थो का प्रकाशन करा कर उन्हें नि शुल्क वितरण कराया था। उसके सभी कार्यो मे उसके सचिव कामिनीकुमार घोष का वडा महत्वपूर्ण योग रहा था। वनमाली वाबू का देहात स० १६७२ मे वृ दावन मे हुआ था।

## ब्रज के कतिपय भक्त जन—

ब्रज के अनुपम धार्मिक महत्व के कारण यहाँ भक्त जनो की सदैव विद्यमानता रही है। वे भक्त जन ब्रज के मूल निवासियो से भी अधिक अन्य स्थानो से आये हुए महानुभाव थे। उनका सवध ब्रज के किसी न किसी धर्म-सप्रदाय से रहा था। ऐसे भक्त-जनो का विस्तृत वृत्तात धर्म खड मे लिखा गया है। यहाँ प्रसग वश कुछ का उल्लेख कर दिया गया है—

**श्यामदास जी**—उनके जन्म-स्थान, जन्म-सवत और वाल्यकाल के विपय मे कुछ पता नही है। ऐसा कहा जाता है, अपने आरभिक जीवन मे वे सलेमावाद गद्दी के निवार्क-पीठाधीश श्री निवार्कशरण जी के शिष्य और वहाँ के अधिकारी थे। वहाँ से विरक्त भाव मे वे ब्रज-वास करने को चले आये थे। ब्रज मे आकर उन्होने दोमिल वन, श्यामढाक और गह्वर वन आदि धार्मिक स्थलो मे एकात वास करते हुए भजन-ध्यान किया था। अपने अतिम काल मे वे कुसुम-सरोवर के निकटवर्ती वन मे भजन-ध्यान मे लीन रहा करते थे। वे वडे भजनानदी और तपस्वी महात्मा थे। उन्होने ब्रज मे रास के प्रसार-प्रचार के लिए वहुत प्रयास किया था। उन्ही की प्रेरणा से करहला के रासधारी विहारीलाल जी अपनी रास मडली का संगठन कर ब्रज की लुप्तप्राय रासलीला का पुन प्रचलन करने मे प्रयत्नशील हुए थे। वावा श्यामदास जी का देहावसान कुसुम-सरोवर के निकटवर्ती उनकी कुटी मे स० १६३१ मे हुआ था। यह कुटी उनके नाम से 'श्यामकुटी' कहलाती है। यहाँ पर उनकी समाधि और चरणचिह्न हैं।

**रामदास जी ( काठिया वावा )**—उनका जन्म पजाव मे हुआ था। अपने आरभिक जीवन मे ही वे भक्ति-मार्ग की ओर आकृष्ट हो गये थे। उन्होने विरक्त भाव से चारो धामो की यात्रा की थी। फिर वे ब्रज मे आकर निवास करने लगे थे। वे विख्यात भक्त और आदर्श महात्मा थे। उनकी भक्ति, त्याग-वृत्ति और साधु-सेवा के कारण उन्हे 'ब्रज-विदेही महत' की पदवी प्रदान की गई थी। उन्होने वृ दावन मे निवार्क सप्रदाय की प्रगति मे वडा योग दिया था। उनका देहात स० १६६७ मे हुआ था। उनके अनेक शिष्य थे, जिनमे वावा सतदास जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

**संतदास जी ( काठिया वावा )**—उनका जन्म स० १६१७ मे असम राज्य के श्रीहट्ट (सिलहट) जिलार्गत वामई गांव मे एक समृद्ध ब्राह्मण कुल मे हुआ था। वे अगरेजी की सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त कर कलकत्ता हाईकोर्ट मे वकालत करते थे। उसी समय वे ब्रह्म-समाजी हो गये थे और उसका वडे उत्साह से प्रचार-प्रसार किया करते थे। स० १६६३ मे वे कु भ स्नान के लिए प्रयाग गये थे। वहाँ उन्हे निवार्क सप्रदायी महात्मा रामदास जी 'काठिया वावा' से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ था। वे उनके सत्सग और उपदेश से ऐसे प्रभावित हुए कि उनसे दीक्षा लेकर निवार्क सप्रदायी वैष्णव हो गये थे। जव उनके गुरु का देहात हो गया, तव उनका उत्तराधिकारी घोषित कर उन्हे 'ब्रज-विदेही महत' बनाया गया। उन्होने अनेक ग्र थो की रचना की, कई आश्रमो की स्थापना की और निवार्कसप्रदाय की उन्नतिमे वडा योग दिया था। उनका देहात १६६२ मे हुआ।

**ग्वारिया बाबा**—वे ब्रज मे निवास करने वाले एक सत-सगीताचार्य थे। उन्होने अपने आरभिक जीवन की ठीक-ठीक जानकारी किसी को नही दी थी। उनके निकट सपर्क मे रहने वाले व्यक्तियो का अनुमान था कि उनका जन्म स० १६०० के लगभग दतिया राज्य के किसी ब्राह्मण कुल मे हुआ था। दतिया का राजा भवानीसिह उनका बडा सन्मान करता था। उन्होने अपने आरभिक जीवन मे बु देलखड की एक पहाडी गुफा मे किसी दडी सन्यासी से सगीत की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। फिर अनेक वर्षो की कठिन साधना के अनतर वे सगीत के सैद्धातिक और व्यावहारिक ज्ञान मे निष्णात हो गये थे। वे एक बार अपने गुरु दडी जी के साथ ब्रज-यात्रा करने आये थे। यात्रा के अनतर दडी जी हिमालय की ओर चले गये और वे ब्रज मे रहने लगे।

ब्रज मे उन्हे वृ दावन-निवास अधिक प्रिय था। यहाँ पर वे एक ग्रामीण ग्वाले के वेश मे रहा करते थे और अपने को 'ब्रजराज का ग्वारिया सखा' कहते थे। इस प्रकार वे 'ग्वारिया बाबा' के नाम से ब्रज मे प्रसिद्ध हो गये। वे सदैव ब्रजभाषा बोलते थे और उसी मे लिखते थे। अपने गौर वर्ण, देदीप्यमान मुखमडल, श्वेत-धवल केश, विचित्र वेश-भूषा और अद्भुत रहन-सहन से वे प्रत्यक्ष ही सत ज्ञात होते थे, यद्यपि उनके कार्य-कलाप एक अलमस्त फक्कड जैसे ही नही, वरन् कभी-कभी एक विक्षिप्त व्यक्ति के समान हुआ करते थे! उनके अद्भुत चरित्रो के बीसो किस्से ब्रज मे प्रचलित है। उनकी कथनी और करनी बडी विचित्र और रहस्यमयी थी। उनकी विचित्र बातो को जो सुनता और उनके ऊटपटाग कामो को जो देखता, वह हैरत मे पड जाता था। असल मे वे अपने आपे को छिपाये हुए एक सिद्ध कोटि के महात्मा थे। उनकी बातो का वास्तविक रहस्य किसी ने कभी नही जाना था।

वे अधिकतर वृ दावन मे रहते थे, किंतु उनका कोई निश्चित ठौर-ठिकाना नही था—जहाँ जी चाहा रह गये और जब मन हुआ उठ कर चल दिये। उनके खाने-पीने, सोने-बैठने की कोई निश्चित जगह नही थी। वे कतिपय मदिरो मे दर्शनार्थ जाते थे और वहाँ रास देखने मे तल्लीन होजाते थे। कभी कभी वे ब्रज के एकात वन-खडो मे भ्रमण करने को निकल जाते थे और वहाँ रात-रात भर घूमा करते थे। कभी मथुरा भी आ जाते थे और यहाँ के छत्ता बाजार स्थित लक्ष्मी-नारायण जी के मदिर मे प्राय ठहरते थे। मदिर के प्रबधक श्री रामचद्र शर्मा 'मू गा जी' पर उनकी बडी कृपा थी। एक बार मू गा जी की प्रार्थना पर वे कुछ समय तक जम कर मथुरा मे रहे थे। तब उन्होने मू गा जी को सगीत के अनेक रहस्य बतलाये थे और उन्हे ग्रथ रूप मे भी लिखवाया था। अलमस्ती और फक्कडपन मे रहते हुए भी उनके लिखाये हुए ग्रथ बडे गभीर हैं और सगीत के क्षेत्र मे उनका महत्व निर्विवाद है।

उन्होने अपने देहावसान की सूचना अपनी विचित्र भाषा मे पर्चा छपवा कर पहिले से ही जनता को दे दी थी। निश्चित दिन पर वे वृ दावन मे रमणरेती पर जा बैठे और सब के देखते-देखते अपने प्यारे ब्रजराज सखा के सान्निध्य मे चले गये। उनका नश्वर शरीर ब्रज के पचतत्व मे मिल गया। इस प्रकार उनका देहावसान स० १६६५ मे हुआ था। उन्होने अपने फोटो खिचवाने का सदैव निषेध किया था। उनके भक्तो ने बड़ी चेष्टा पूर्वक एक फोटो उनके देहावसान से कुछ समय पहिले लिया था और दूसरा उनकी मृत्यु के बाद लिया गया था। वे दोनो चित्र ही उनकी स्मृति को मूर्तिमान किये हुए है। सगीत विद्या मे उनके अनेक शिष्य थे, जिनमे मथुरा के श्री रामचद्र शर्मा 'मू गा जी' प्रमुख है।

**अवधदास जी**—उनका जन्म स० १९०३ मे जनकपुर मे हुआ था, किंतु वे युवावस्था मे ही वृदावन मे आकर भजन करने लगे थे। वे प्रसिद्ध गौडीय विद्वान, भागवत के सुदर व्याख्याता और कीर्तन के बडे अनुरागी थे। उनका देहावसान स० १९१४ मे हुआ था।

**बाबा रामकृष्णदास जी**—वे ब्रज के आधुनिक गौडीय महात्माओ मे सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। उनका जन्म १९१४ मे जयपुर जिला के एक गौड ब्राह्मण कुल मे हुआ था। वे किशोरावस्था मे ही वृदावन आ गये थे और उन्होने बाबा नित्यानददास से गौडीय सप्रदाय की दीक्षा ली थी। वे सस्कृत के प्रगाढ विद्वान, भक्ति-ग्रथो के बडे ज्ञाता और भजन-कीर्तन मे अहर्निश लगे रहने वाले उच्चकोटि के महात्मा थे। वे बरसाना, वृदावन, गोवर्धन आदि ब्रज के विभिन्न स्थानो मे निवास करते हुए भजन-कीर्तनादि मे लीन रहा करते थे। बडे-बडे विद्वान और भक्त-जन उनके सत्सग का लाभ प्राप्त करने को उत्सुक रहते थे। राजर्षि भैया बलवत राव सिंधिया, बनमाली बाबू, मणीन्द्रचद्र नदी, गौरागदास जी, प्रियाशरणदास जी आदि महानुभावो ने उनके सत्सग, प्रवचन और कीर्तन का लाभ प्राप्त कर अपने को धन्य माना था। उनका देहावसान स० १९९७ मे वृदावन मे हुआ था। वे गौडीय सप्रदाय के अतिम 'सिद्ध बाबा' माने जाते है।

**आनंदीबाई जी**—वे वृदावन मे निवास करने वाली विख्यात महिला भक्त थी। उनका जन्म अमृतसर के एक काश्मीरी ब्राह्मण कुल मे स० १९१० मे हुआ था। वे बाल्यावस्था मे ही विधवा हो गई थी, अत उनके माता-पिता ने उन्हे भक्ति मार्ग की ओर प्रेरित किया था। वे दिन-रात ठाकुर-सेवा, हरि-कथा और सत्सग मे तल्लीन रहने लगी। उन्होंने प० वशीधर जी से श्री सप्रदाय की दीक्षा प्राप्त कर स० १९४० मे अमृतसर मे एक मदिर का निर्माण कराया और उसमे अपने उपास्य ठाकुर श्री राधा-आनदवल्लभ जी को विराजमान किया था। बाद मे वे अपने ठाकुर जी को लेकर ब्रज मे आ गई थी। यहाँ आने पर वे कुछ काल तक कामवन मे रही और फिर स० १९६३ से वृदावन मे निवास करने लगी। यहाँ पर श्री राधावल्लभ जी के घेरे मे उन्होने एक मदिर बनवा कर श्री राधा—आनदवल्लभ जी को उसमे विराजमान किया था।

वे वात्सल्य भाव से ठाकुर सेवा करती थी और विविध प्रकार के व्यजन, शृगार, भजन-कीर्तन एव उत्सवो के आयोजन द्वारा अपने उपास्य देव को लाड लडाया करती थी। उनके मदिर मे साधु सेवा, गायन-वादन और उत्सव-समारोहो की सदैव धूम रहा करती थी। उनका देहावसान स० १९९३ की मार्गशीर्ष पूर्णिमा को वृदावन मे हुआ था।

**उडिया बाबा**—उनका नाम वासुदेव ब्रह्मचारी था, किंतु उडीसा प्रदेश के निवासी होने के कारण वे 'उडिया बाबा' के नाम से प्रसिद्ध थे। उनका जन्म जगन्नाथपुरी के राजगुरु परिवार मे स० १९३२ मे हुआ था और उन्होने सस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। वे आरभ से ही विरक्त होकर भजन-ध्यान मे लीन रहा करते थे और उन्होने जीवन पर्यंत नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन किया था। वे उच्च कोटि के महात्मा थे और उन्हे वाक्-सिद्धि प्राप्त थी। उन्होने अनेक तीर्थों की यात्रा की थी। अत मे वे वृदावन मे आकर रहने लगे थे। उनके अनेक भक्त थे, जिन्होने उनका विशाल आश्रम बनवाया था। उनके आश्रम मे साधु-सेवा, भजन-कीर्तन, कथा-वार्ता और रासादि धार्मिक आयोजन सदैव हुआ करते थे। उनके देहावसान के पश्चात् हरि बाबा जी और अखडानद जी उनके आश्रम की देख-भाल करते रहे है।

## ब्रज के कतिपय विद्वत् जन—

ब्रज मे भक्त जनो के साथ ही साथ विद्वत् जनो की भी सदैव विद्यमानता रही है। वे विद्वत् जन अधिकतर धार्मिक व्यक्ति थे और उनका संबंध ब्रज के किसी न किसी धर्म संप्रदाय से था। उक्त विद्वानो का विस्तृत वृत्तात भी धर्म खंड मे लिखा गया है। यहाँ प्रसंग वश कुछ का उल्लेख कर दिया गया है—

**प० कृष्ण शास्त्री**—वे मथुरा के विख्यात विद्वान और न्याय-व्याकरणादि के प्रकाड पंडित थे। रामानुज सप्रदाय के आचार्य श्री रंगदेशिक स्वामी ने भी कुछ समय तक उनसे शिक्षा प्राप्त की थी। मथुरा के सेठ राधाकृष्ण-गोविंददास उक्त रंगदेशिक स्वामी जी के शिष्य थे। उस नाते वे कृष्ण शास्त्री के प्रति अत्यंत श्रद्धा रखते थे। मथुरा के लक्ष्मरण ज्योतिषी और मुडमुडिया पंड्या सेठ घराने के क्रमश ज्योतिपी और श्री द्वारकाधीश मंदिर के कार्यकर्ता थे, अत वे दोनो भी सेठो के आश्रित होने से कृष्ण शास्त्री को अत्यंत आदर की दृष्टि से देखते थे। उस समय कोई ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ कि मथुरा के वैयाकरण विद्वान दडी विरजानंद जी और कृष्ण शास्त्री मे शास्त्रार्थ होने की नौबत आगई। विरजानद जी उसके लिए तैयार थे, किंतु सेठ राधाकृष्ण ने कृष्ण शास्त्री के स्थान पर लक्ष्मरण ज्योतिपी और मुडमुडिया पंड्या को विरजानंद जी से शास्त्रार्थ करने को भेज दिया। जब विरजानंद जी को ज्ञात हुआ कि कृष्ण शास्त्री स्वयं शास्त्रार्थ करने नही आये है, तब उन्होने भी अपने दो शिष्य रंगदत्त और गंगादत्त को लक्ष्मरण ज्योतिपी और मुडमुडिया पंड्या से शास्त्रार्थ करने के लिए नियुक्त किया। वह शास्त्रार्थ नही हुआ और सेठ राधाकृष्ण की चतुरता से मथुरा के दो वयोवृद्ध विद्वानो को एक-दूसरे से भिडने का अवसर नही आया। कृष्ण शास्त्री उद्भट विद्वान होने के साथ ही साथ उच्च कोटि के धार्मिक महानुभाव भी थे।

**पं० दुर्गादत्त जी**—उनके पूर्वज पहिले वृंदावन के निकटवर्ती राजापुर ग्राम मे और फिर मथुरा जिला के राया नामक कस्वा मे निवास करते थे। वह सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनका जन्म सं० १९१३ मे हुआ था। उनकी आरंभिक शिक्षा राया मे ही हुई थी। उसके वाद वह वृंदावन मे आकर रहने लगे थे। वे संस्कृत और हिंदी के बडे विद्वान, आशु कवि, धारावाहक वक्ता, प्रकाड शास्त्रार्थी और धुरंधर लेखक थे। उन्होने विविध विषयो पर संस्कृत और हिंदी मे शताधिक ग्रंथो की रचना की थी, जिनमे से अनेक प्रकाशित हो चुके है। उनका देहावसान सं० १९७५ मे हुआ था।

**दुलारेप्रसाद जी शास्त्री**—उनका जन्म कानपुर जिला मे सं० १९२० मे हुआ था। वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उन्होने काशी के विद्वानो से संस्कृत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। वे धुरंधर विद्वान होने के साथ ही साथ परम भक्त भी थे। सं० १९५२ मे उन्हे वृंदावन आने का सुयोग मिला था। उस समय वे यहाँ की रस-माधुरी मे इतने निमग्न हुए कि फिर स्थायी रूप से यही पर निवास करने लगे थे। उन्होने राजर्षि वनमाली वावू द्वारा प्रकाशित अष्ट टीका युक्त श्रीमद्भागवत के संपादन मे योग दिया था और अनेक ग्रंथो की रचना की थी। वे निंवार्क संप्रदाय के भक्त कवियो की 'वाणी' के भी मार्मिक विद्वान थे। उनकी विद्वत्ता और भक्ति-भावना से आकृष्ट होकर जिन अनेक समृद्धिशाली जनो ने निंवार्क संप्रदाय की दीक्षा ली थी, उनमे सेठ जानकीप्रसाद जी, रामजीलाल जी, जयलाल जी, हरगूलाल जी और रतनलाल जी के नाम उल्लेखनीय है। उनका देहावसान सं० १९८९ मे वृंदावन मे हुआ था।

**किशोरीलाल गोस्वामी**—इनकी गणना खड़ी बोली हिंदी साहित्य के निर्माताओं में की जाती है। इनका जन्म सं० १९२२ में हुआ था। इनके पितामह केदारनाथ गोस्वामी तथा पिता वासुदेवशरण गोस्वामी वृंदावन के प्रसिद्ध विद्वान थे और इनके नाना कृष्णचैतन्य गोस्वामी काशी के प्रतिष्ठित विद्वान एवं कवि थे। इस प्रकार इन्हें पितृ कुल और मातृ कुल दोनों की परंपरा से साहित्य-सृजन का दाय प्राप्त हुआ, जिसका इन्होंने यथेष्ट संवर्धन किया था।

वे अधिकतर काशी में रहा करते थे और इनका समस्त जीवन हिंदी साहित्य के विविध विषयों की ग्रंथ-रचना में बीता था। वे नागरी प्रचारिणी सभा के प्रमुख कार्यकर्त्ता और 'सरस्वती' के आरंभिक संपादक थे। सं० १९७० में इन्होंने वृंदावन में 'श्री सुदर्शन प्रेस' की स्थापना कर उसके द्वारा अपने ग्रंथों का प्रकाशन किया था। इनके रचे हुए काव्य, संगीत, धर्म, जीवनचरित्र, नाटक-रूपक और उपन्यासादि विषयों के छोटे-बड़े प्राय: २०० ग्रंथ हैं, जिनमें से अधिकांश प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होंने बंगला के अनेक ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया था तथा हिंदी, उर्दू, ब्रजभाषा और संस्कृत में गद्य-पद्य दोनों विषयों की रचनाएँ की थीं। उस काल के अनेक पत्र-पत्रिकाओं में इनके लेख प्रकाशित होते रहते थे। इस प्रकार इनका समस्त जीवन साहित्य-साधना से ओत-प्रोत रहा था। इनके पुत्र छबीलेलाल गोस्वामी भी अच्छे लेखक, प्रभावशाली वक्ता, राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता और वृंदावन के प्रतिष्ठित नेता थे।

**अमोलकराम जी शास्त्री**—इनका जन्म हरियाना प्रांत के गौड़ ब्राह्मण कुल में सं० १९२९ में हुआ था। वे संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान और व्याकरण, न्याय, वेदांतादि के उद्भट ज्ञाता थे। इन्होंने वृंदावन में आकर हरिदासी संप्रदाय के प्रसिद्ध संत श्री स्वामिनीशरण जी से दीक्षा ली थी। इनके प्रौढ़ पांडित्य के कारण इन्हें श्री रंग जी के मंदिर स्थित संस्कृत विद्यालय का प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया था। इन्होंने अनेक दार्शनिक ग्रंथों और उपनिषदों को विद्वत्तापूर्ण भाष्य एवं टीका-टिप्पणी सहित प्रकाशित कराया था। वे सरल स्वभाव और सादा रहन-सहन के अद्वितीय विद्वान थे। इनका देहावसान वृंदावन में हुआ था।

**पं० किशोरदास जी**—इनका जन्म काठियावाड़ राज्य में सं० १९३० में हुआ था। वे युवावस्था में ही विरक्त होकर वृंदावन आ गये थे। इन्होंने श्री स्वभू देवाचार्य जी की परंपरा के आचार्य गोपीदास जी से निंबार्क संप्रदाय की दीक्षा ली थी। वे संस्कृत के प्रकांड विद्वान और निंबार्क संप्रदायी सिद्धांत ग्रंथों के उद्भट ज्ञाता थे। इन्होंने निंबार्क संप्रदाय के अनेक ग्रंथों का संपादन किया और उन्हें विद्वत्तापूर्ण टीका-टिप्पणी सहित प्रकाशित कराया था। वे वृंदावन में निंबार्क संप्रदायी साहित्य के प्रमुख प्रचारक थे। इन्होंने सं० १९७२ में श्री निंबार्क विद्यालय की स्थापना की थी। इनके अनेक शिष्य थे। अपने अंतिम काल में वे वंशीवट पर एकांत वास करते थे। इनका देहावसान वृंदावन में हुआ था।

**सुदर्शनाचार्य जी**—वे श्री रंगदेशिक स्वामी जी के शिष्य और रामानुज संप्रदाय के प्रतिष्ठित विद्वान थे। इन्होंने कई ग्रंथों की रचना की थी और वे दर्शन शास्त्र के प्रकांड ज्ञाता थे।

**धरणीधर जी**—वे रामानुज संप्रदाय के अद्वितीय विद्वान थे। इनका जन्म बदायू जिला में हुआ था, किंतु वे युवावस्था से ही वृंदावन में आकर रहने लगे थे। इनका देहावसान सं० १९९७ में हुआ था।

## जन-जागरण और राष्ट्रीय आदोलन—

**नव जागृति के अग्रदूत**—वृटिश शासन के विरुद्ध स० १६१४ मे जो जन-विद्रोह हुआ था, वह सुनियोजित व्यवस्था, सुयोग्य नेतृत्व और सुदृढ सगठन के अभाव मे विफल हो गया, तथापि भारतियो मे विदेशी शासन से मुक्त होने की आकाक्षा बनी रही थी। उस आकाक्षा को भारत के धर्मप्राण महानुभावो और समाज-सुधारका के साथ ही साथ अग्रेजी शिक्षा प्राप्त अनेक देशभक्त भारतीयो से भी बडा बल मिला था। राजर्षि राममोहन राय, ईश्वरचद विद्यासागर, रामकृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानद, स्वामी रामतीर्थ के साथ दादाभाई नौरोजी, वकिमचद्र चटर्जी, राजेन्द्रलाल मित्र, बदरुद्दीन तैयव जी, विष्णु शास्त्री चिपलुणकर, महादेव गोविद रानाडे और फीरोजशाह मेहता प्रभृति मनीपियो ने जन-जागरण के लिए बडा काम किया था।

**ब्रज में नव जागरण**—उस समय ब्रज मे दडी स्वामी विरजानद जी ने सस्कृत की शिक्षा द्वारा अपने शिष्यो मे सास्कृतिक उत्थान की नव चेतना जागृत की थी। उन्ही की प्रेरणा से उनके वरिष्ठ शिष्य स्वामी दयानद ने मथुरा मे जो महान् सकल्प किया था, उसके फल स्वरूप देश भर मे समाज-सुधार, राष्ट्रीय भावना, स्वदेशी प्रचार, स्त्री शिक्षा, अछूतोद्धार आदि नव जागरण के कार्य-क्रमो की धूम मच गई थी। बाद मे मथुरा के गोस्वामी गोपाललाल और ज्यो० माधव-लाल ने विदेशी वहिष्कार और स्वदेशी प्रचार के आदोलन मे सक्रिय भाग लिया था तथा कालान्तर मे वृ दाबन के राधाचरण गोस्वामी ने समाज-सुधार के कार्यों को बल प्रदान किया था।

**नेशनल कांग्रेस की स्थापना और उसके आरभिक अधिवेशन**—उस काल की देशव्यापी जन-जागृति और नव चेतना की प्रबल धारा के बढते हुए वेग को देखकर वृटिश शासको को भय हुआ कि अब कही स० १६१४ के जन-विद्रोह की पुनरावृत्ति हुई, तो उसे दबाना असभव होगा। उसकी रोक-थाम के लिए इटावा के भूतपूर्व जिलाधीश मिस्टर ह्यूम के प्रयत्न से स० १६४२ मे 'इडियन नेशनल काग्रेस' की स्थापना हुई। उसमे ब्रटिश शासको की सहमति थी। वे चाहते थे कि उसके द्वारा अग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय नेता गण जनता की आकाक्षाओ को शातिपूर्ण तथा सवैधानिक रीति से शासको के सन्मुख प्रस्तुत करे और इस प्रकार वे वृटिश शासन को स्थायी बनाने मे अपना सहयोग प्रदान करे। काग्रेस के आरभिक अधिवेशन उसी रीति-नीति से हुए भी थे, जिनमे उमेशचद्र बनर्जी, दादाभाई नौरोजी, वदरुद्दीन तैयव जी, फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ वनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, मदनमोहन मालवीय प्रभृति नेताओ ने जनता की आकाक्षाओ को वृटिश शासको के सन्मुख रखा था, किंतु उनके प्रयत्न का कोई परिणाम नही निकला। उस काल के शासक गण अपनी निरकुश राज-सत्ता और दंड-भेद की नीति से भारतीय जनता की आकाक्षाओ की अवहेलना करते हुए उसका मनमाने ढग से शोपण करते रहे।

**देश सेवको की उग्र नीति और सरकारी दमन**—वृटिश शासको के उक्त दृष्टिकोण की जो प्रतिक्रिया हुई, उसने काग्रेस के अदर और वाहर एक ऐसे 'गर्म दल' की सृष्टि की, जिसने अग्रेजी राज्य की जड को हिला दिया था। उस दल के प्रमुख नेता बाल गगाधर तिलक, विपिन-चद्र पाल, अरविद घोप, लाला लाजपति राय, एनी वेसेंट आदि को दवाने के लिए शासको ने दमन-चक्र चलाया, किंतु जनता मे असतोप की ज्वाला और भी उग्रता से भडक उठी। उसी समय अनेक क्रातिकारी नवयुवक भी अपनी जान पर खेल कर अग्रेजी शासको के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यवाही करने लगे। उनसे चिढ कर शासको ने बडी कठोरता पूर्वक दमन किया था।

**महात्मा गांधी का नेतृत्व और बृटिश शासन की समाप्ति**—ऐसे ही समय में देश को महात्मा गांधी का नेतृत्व प्राप्त हुआ। उन्होंने सत्याग्रह और असहयोग द्वारा निरंकुश सरकार के विरुद्ध अहिंसात्मक आंदोलन छेड़ दिया। सारे देश मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक राष्ट्रीय आंदोलन की लहर दौड़ गई। ब्रजमंडल मे भी महात्मा गांधी के आंदोलन का व्यापक प्रभाव दिखलाई दिया। यहाँ के देशभक्तों ने मातृभूमि की स्वाधीनता के लिये अनेक कष्ट सहे। इस प्रकार अनेक वर्षों के लंबे संघर्ष के पश्चात् महात्मा गांधी का आंदोलन सफल हुआ और सं० २००४ (१५ अगस्त सन् १९४७) मे यह देश बृटिश शासन की पराधीनता से मुक्त होकर एक स्वाधीन राष्ट्र बन गया।

## २. स्वाधीनता काल

(विक्रम सं० २००४ से सं० २०२२ तक)

### स्वाधीनता-प्राप्ति की प्रतिक्रिया—

**हर्ष और विषाद**—सं० २००४ के शुभ दिन (१५ अगस्त सन् १९४७) को जब यह देश अपनी दीर्घकालीन पराधीनता से मुक्त होकर स्वाधीन हुआ था, तब यहाँ के निवासियों ने बड़ा हर्षोल्लास प्रकट किया। उस समय स्थान-स्थान पर अनेक अभूतपूर्व भव्य आयोजन किये गये और राष्ट्रीय झंडा फहराया गया। देश के अन्य भागों की तरह ब्रजमंडल मे भी उस दिन ऐसा आनंद मनाया गया, जैसा यहाँ शायद शताब्दियों से नहीं मनाया था। श्री वाजपेयी जी ने ठीक ही लिखा है,—'ब्रज वासियों मे १५ अगस्त को इतना अधिक आह्लाद था, जितना संभवत कंस के उत्पीड़न से छुटकारा पाने के समय मे भी न रहा होगा[1]।' किंतु उस समय के अनुपम हर्षोल्लास की पावन धारा के साथ जिस विषादात्मक गंदगी का भी कुयोग हो गया था, उसका कुप्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगा। बृटिश शासकों ने इस देश मे भेद नीति की जो बारूद बिछायी थी, उसका विस्फोट वे चलते-चलते कर गये थे। उसके फल स्वरूप देश का दुःखदायी विभाजन हुआ और अनेक स्थानों पर सांप्रदायिक झगड़ों की ज्वाला प्रज्वलित हो गई।

ब्रज मे स्वाधीनता प्राप्ति से कुछ समय पहिले ही भरतपुर, अलवर और गुड़गाँवा मे रहने वाले मेवों ने जो सांप्रदायिक झगड़े किये थे, वे भी बृटिश शासकों की भेद नीति के ही दुष्परिणाम थे। उस समय मुसलमान मेवों का हिंदू जाट, अहीर और गूजरों से काफी संघर्ष हुआ था, जिसके कारण मेवों को ब्रज के विविध स्थानों से हटना पड़ा था। स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार के प्रयत्नों से मेवों को फिर से उनके स्थानों पर बसाया गया था। इस प्रकार ब्रज मे तो सांप्रदायिक शांति हो गई, किंतु उसकी उत्तरी सीमा के विविध स्थानों से लेकर दिल्ली तक सांप्रदायिक ज्वाला की चिनगारियाँ उठती रही थीं। उन्हीं की लपटों के कारण सं० २००५ के दुर्दिन (३० जनवरी सन् १९४८) मे महात्मा गांधी जी का बलिदान हो गया! वह एक ऐसी दुःखदायी घटना थी, जिसने समस्त देश को एक साथ ही हतसंज्ञक कर दिया, किंतु उससे विदेशी शासकों की भेद नीति की विष-बेल भी सदा के लिए सूख गई। उस समय प्रायः सर्वत्र सांप्रदायिक शांति हो गई थी, किंतु उसके लिए महात्मा गांधी के बलिदान के रूप मे इस देश को बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी।

---

१. ब्रज का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० १३४

जिस समय राष्ट्र पिता महात्मा गाधी का दिल्ली मे बलिदान हुआ, उस समय मथुरा मे महापंडित राहुल साकृत्यायन जी के सन्मान मे एक बहुत बडी सार्वजनिक सभा हो रही थी। जैसे ही आकाशवाणी से महात्मा जी के निधन का आकस्मिक समाचार प्रसारित हुआ, वैसे ही मथुरा की उस सभा ने एक विराट् शोक सभा का रूप धारण कर लिया था। इस प्रकार ससार मे कदाचित ब्रज मे ही सबसे पहिले राष्ट्र पिता के निधन का हार्दिक शोक मनाया गया था। बाद मे जब उनकी भस्मी यहाँ लाई गई, तब ब्रजवासियो ने बडी श्रद्धा पूर्वक यमुना की पावन धारा मे उसका विसर्जन किया था।

## शासन का संचालन और देश का निर्माण—

**जटिल समस्याएँ और उनका समाधान**—राष्ट्रीय सरकार को स्वाधीन भारत का शासन सँभालते ही अनेक जटिल समस्याओ का सामना करना पडा था। उनमे देश के विभाजन से उत्पन्न साप्रदायिक उथल-पुथल, पाकिस्तान से निकाले गये लाखो हिंदुओ का बसाना, सैकडो देशी राज्यो को भारतीय राष्ट्र मे मिलाना, नया सविधान बनाना और उसके अनुसार नया निर्वाचन करा कर नये ढग से शासन चलाना, जिमीदारी प्रथा को समाप्त करना और पचायतो का प्रचलन करना आदि प्रमुख थी। राष्ट्रीय नेताओ ने जिस प्रकार त्याग, तपस्या और आत्म बलिदान से देश को स्वाधीन किया था, उसी प्रकार उन्होने धैर्य, साहस और सूझ-बूझ से उन जटिल समस्याओ का समाधान करते हुए शासन को बडी कुशलता पूर्वक चलाया था।

स० २००७ के शुभ दिन ( २६ जनवरी सन् १९५० ) को भारत मे नया सविधान लागू हुआ, जिससे यह देश एक सर्वतत्र सघीय गण राज्य बन गया। इसका लक्ष प्रत्येक व्यक्ति की स्वतत्रता के साथ समाजवादी ढग की समाज-रचना निर्धारित किया गया। नये सविधान के अनुसार वयष्क मताधिकार के आधार पर जो निर्वाचन हुए, उनमे काग्रेसी विचार-धारा के सदस्य प्रबल बहुमत से निर्वाचित हुए थे। फलतः केन्द्र और राज्यो मे सर्वत्र कांग्रेसी मंत्री मडल बन गये। डा० राजेन्द्रप्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति और प० जवाहरलाल नेहरू प्रथम प्रधान मत्री बनाये गये थे।

**ब्रज की राजनैतिक स्थिति**—देश के अन्य भागो की तरह ब्रजमडल मे भी पाकिस्तान से हजारो विस्थापित हिंदू आये थे, जिन्हे शासन और ब्रजवासियो ने बड़ी सद्भावना पूर्वक ब्रज के विविध स्थानो मे बसाया था। अब वे लोग यहाँ के निवासियो के साथ घुल-मिल कर स्थायी ब्रजवासी जैसे हो गये हैं। नये निर्वाचनो मे ब्रज से भी काग्रेसी विचार धारा के सदस्य ही अधिक सख्या मे केन्द्रीय और प्रातीय धारा सभाओ के लिए निर्वाचित हुए थे। नये सविधान के अनुसार ब्रज मे भी पचायतो का प्रचलन और जिमीदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया।

पुरानी रियासतो को भारतीय सघ मे मिलाने की योजना के अतर्गत ब्रज के भरतपुर और धौलपुर राज्य पहिले अलवर और करौली राज्यो के साथ 'मत्स्य' प्रदेश मे रखे गये और बाद मे उन्हे वृहत् राजस्थान मे मिला दिया गया। उस समय यह चर्चा चली थी कि ब्रज की रियासतो को राजस्थान की अपेक्षा उत्तर प्रदेश के साथ मिलाया जाय, ताकि समस्त ब्रजमडल की एक राजनैतिक इकाई बन सके। चूँकि उत्तर प्रदेश पहले ही बहुत बडा राज्य था, अत उसके साथ किसी और भू-भाग का मिलाया जाना सभव नही हुआ।

सं० २०११ में भारत सरकार ने भारतीय संघ के राज्यों का पुनर्गठन करने के लिए एक आयोग की स्थापना की थी। उसके एक सदस्य सरदार पणिक्कर का सुझाव था कि उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों के साथ अन्य निकटवर्ती भू-भागों को मिला कर एक नया राज्य बनाया जाय। उक्त सुझाव का उद्देश्य ब्रजमंडल को एक राजनैतिक इकाई के रूप में संगठित करना नहीं था, वरन् उत्तर प्रदेश के बृहद् स्वरूप का विभाजन करना था। उससे वर्तमान उत्तर प्रदेश में जो प्राचीन 'मध्यदेश' की सांस्कृतिक परंपराएँ सरक्षित हैं वे भी छिन्न-भिन्न हो जातीं। इसलिए ब्रज में ही उत्तर प्रदेश के विभाजन का विरोध किया गया। फलतः राज्यों के पुनर्गठन के समय ब्रजमंडल का राजनैतिक एकीकरण नहीं हो सका था।

## ब्रज का सांस्कृतिक पुनर्निर्माण—

देश के अन्य भागों की तरह इस समय ब्रज में भी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा पुनर्निर्माण के कार्य हो रहे हैं। इन योजनाओं का उद्देश्य अधिकतर आर्थिक पुनर्निर्माण करना है। यद्यपि वर्तमान स्थिति में आर्थिक निर्माण को प्रमुखता देना आवश्यक है, तथापि उसके लिए सांस्कृतिक निर्माण की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। केवल आर्थिक समृद्धि से ही किसी देश के निर्माण का कार्य पूरा नहीं हो सकता है।

जहाँ तक ब्रजमंडल का संबंध है, इसका पुनर्निर्माण तो सांस्कृतिक निर्माण किये बिना सम्भव ही नहीं है। इसका कारण ब्रज की परंपरागत सांस्कृतिक महत्ता और ब्रज संस्कृति की विशेषता है। ब्रज संस्कृति में वनों और गायों को बड़ा महत्त्व दिया गया है। जहाँ वनों से गोचर-भूमि और अच्छी वर्षा के साथ ही साथ विविध प्रकार की वन-संपदा की उपलब्धि होती है वहाँ गायों से दूध-दही-मक्खन के रूप में पौष्टिक आहार और बैलों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार वन और गाय वर्तमान कालीन अर्थ-व्यवस्था के प्राण स्वरूप कृषि और उद्योग के भी आधार हैं। ब्रज संस्कृति में 'गो-वर्धन' की जो इतनी महिमा गाई गई है, उसका यही उद्देश्य है।

हमारे शासकों ने वनों को तो कुछ महत्त्व दिया है; किंतु गायों के प्रति उनकी उपेक्षा रही है। ब्रज संस्कृति में सदा से गाय को धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों पदार्थों की दाता माना गया है, किंतु वर्तमान युग में भी उसका धार्मिक और आर्थिक महत्त्व तो स्वयंसिद्ध है। हमारे शासक गाय को कदाचित केवल धर्म से ही संबंधित समझते हैं और इसीलिये वे धर्म निरपेक्ष राज्य में उसकी उपेक्षा करते हैं! जिस प्रकार ब्रज में कृषि की उन्नति के लिये वनों का संरक्षण किया जा रहा है, उसी प्रकार आर्थिक समृद्धि के लिये गो-संवर्धन करना भी उचित है। इसके लिए गो-वध को कानून द्वारा बंद करना और गो-रक्षा को समुचित प्रोत्साहन देना अत्यंत आवश्यक है। यदि हमारे शासक ब्रज संस्कृति के यथार्थ महत्त्व को समझ कर उसके संरक्षण-संवर्धन और प्रचार-प्रसार का समुचित प्रयास करें तो इससे देश के सर्वांगीण पुनर्निर्माण का कार्य बड़ी सरलता और सुविधा के साथ किया जा सकता है।

देश को स्वाधीन हुए अभी बहुत थोड़ा समय हुआ है और इस अल्प काल में भी हमारे शासकों को अनेक बड़ी-बड़ी जटिल समस्याओं से जूझना पड़ा है। हमको आशा रखनी चाहिए कि वे ब्रज संस्कृति के महत्त्व को समझ कर इसके प्रचार-प्रसार में योग देंगे। इससे यह देश निकट भविष्य में ही संसार के समृद्ध और विकसित राष्ट्रों में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकेगा।

●

# अनुक्रमणिका

★

# १. ब्रज संस्कृति की भूमिका

## नामानुक्रमणिका

## ग्रंथानुक्रमणिका

# २. ब्रज का इतिहास

## नामानुक्रमणिका

# ग्रंथानुक्रमणिका

## सशोधन की सूचना

ग्रथ को शुद्ध छापने की पूरी सावधानी करने पर भी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। पाठक उन्हे शुद्ध कर लेने की कृपा करें, विशेष रूप मे निम्न लिखित अशुद्धियो को—

| पृष्ठ | पक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| 'ब्रज सस्कृति की भूमिका' खड मे— | | | |
| ५८ | २४ | गाय | नीलगाय |
| ७६ | ४ | भृगु | च्यवन |
| १६१ | शीर्षक | षष्टम | षष्ट |
| 'ब्रज का इतिहास' खड मे— | | | |
| ११ | २ | सप्तर्षिचार और कृत्तिका के सबध मे ज्योतिष के विद्वानो मे मतभेद है। कुछ विद्वानो का मत है कि सप्तर्षि सदैव मघा नक्षत्र पर ही रहते हैं और वे गतिमान् नही है। | |
| ६५ और ७२ | पाद-टिप्पणी | मथुरा का इतिहास | ब्रज का इतिहास |
| १३८ | २२ | स० १०६० | स० १२६० |
| १५२ | २५ | न 'वार्ता' मे | 'वार्ता' मे सिकदर लोदी का नाम है। |
| २४३ | १३ | हसा रानी | किशोरी रानी |
| २४८ | ४ | प्रतापसिंह | जवाहरसिंह |
| २४६ और २५० मे रणजीतसिंह का शासनकाल स० १८३२ और १८३३ के स्थान पर १८३४ होना चाहिए। | | | |
| २५५ | २६ | स० १८७६ | स० १८८० |

# सहायक ग्रंथ


सं० नाम लेखक—प्रकाशक

(संस्कृत)

१ ऋग्वेद—(वैदिक संशोधन मंडल)
२. छान्दोग्य उपनिषद्—(आनंदाश्रम सीरीज)
३. वाल्मीकि रामायण—(साहित्य रत्नाकर प्रेस)
४. मनुस्मृति—(काशी संस्कृत सीरीज)
५ महाभारत—(गीता प्रेस)
६. भगवत गीता— ,,
७. हरिवंश— ,,
८. ब्रह्म पुराण—(आनंदाश्रम सीरीज)
९. विष्णु पुराण—(वेंकटेश्वर प्रेस)
१०. पद्म पुराण—(आनंदाश्रम सीरीज)
११. वाराह पुराण—(बंगाल एशियाटिक सो०)
१२. भागवत पुराण—(गीता प्रेस)
१३. ब्रह्मवैवर्त पुराण— ,,
१४ देवी भागवत— ,,
१५ गोपाल तापनी—(वेंकटेश्वर प्रेस)
१६. गर्ग संहिता— ,,
१७. कृष्ण कर्णामृत—बिल्वमंगल
१८ गीत गोविंद—जयदेव
१९ संगीत माधव—प्रबोधानंद
२०. मथुरा माहात्म्य—(वाराह पुराण)
२१ मथुरा माहात्म्य—रूप गोस्वामी
२२. ब्रज भक्ति विलास—नारायण भट्ट
२३. नारायण भट्ट चरितामृत—
जानकीप्रसाद भट्ट

( बंगला )

२४ श्री चैतन्य भागवत—वृंदावनदास
२५. श्री चैतन्य चरितामृत—कृष्णदास कविराज

(गुजराती)

२६ वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास—
दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री

(अंगरेजी)

२७ ऐंश्यिएट ज्यागरफी आफ इण्डिया—कनिंघम
२८ ऐंश्यिएट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रैडीशन—
पार्जीटर

सं० नाम लेखक—प्रकाशक

२९ ऐंश्यिएट इंडिया एज नोन टु मेगस्थनीज
एण्ड एरियन—मैक्क्रिंडल
३० हिस्ट्री आफ ऐंश्यंएट इंडिया—रमाशंकरत्रि०
३१ पोलीटिकल हिस्ट्री आफ इंडिया—रायचौधरी
३२ हिस्ट्री आफ इंडिया—काशीप्रसाद जायसवाल
३३ दी गुप्त एम्पायर—राधाकुमुद मुकर्जी
३४ पुरान टेक्स्ट्स आफ दि डायनेस्टीज
आफ दि कलि एज—पार्जीटर
३५ वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर
रिलीजस सिस्टम्स—भंडारकर
३६ ट्रैविल्स आफ फाहियान—बील
३७ आन हुएनसांग्स ट्रैविल्स इन इंडिया—वाटर्स
३८ अलबेरुनीज इंडिया—साचौ
३९ ट्रैविल्स इन इंडिया बाई टेवर्नियर—बाल
४०. आईन-ए-अकबरी—ब्लोचमैन
४१. फाल आफ मुगल एम्पायर—यदुनाथसरकार
४२ हिस्ट्रीआफदि जाट्स—कालकारंजन कानूनगो
४३ मथुरा-ए-डिस्ट्रक्ट मेमाअर—ग्राउस
४४. डिस्ट्रक्ट गजेटियर आफ मथुरा—ड्राकमैन
४५–४६ डिस्ट्रक्ट गजेटियर्स आफ आगरा,
अलीगढ, एटा, मैनपुरी—

( हिंदी )

४७ पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ—वासुदेवशरण अ०
४८. ब्रज का इतिहास, भाग १—कृष्णदत्तवाजपेयी
४९. ब्रज का इतिहास, भाग २— ,,
५०. ब्रज वस्तु वर्णन—जगतनंद
५१. ब्रज ग्राम वर्णन— ,,
५२ ब्रज मंडल दर्शन—कृष्णदास बाबा
५३ ब्रज और ब्रज-यात्रा—गोविंददास सेठ
५४ ब्रज परिक्रमा—ब्रजनाथ गोस्वामी
५५ ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन—सत्येन्द्र
५६. लोकेन्द्र ब्रजोत्सव—प्रतीतिराय लक्ष्मणसिंह
५७ मथुरा महिमा—युगलकिशोर चतुर्वेदी

१२०. महाभारत मीमासा—विनायक चिंतामणि
१२१ कथा सरित्सागर—सोमदेव
१२२ कौटिलीय अर्थशास्त्र—देवदत्त शास्त्री
१२३ भारतीय व्यापार का इतिहास—
कृष्णदत्त वाजपेयी
१२४. सस्कृत साहित्य का इतिहास—
बलदेव उपाध्याय
१२५ पालि साहित्य और इतिहास
भरतसिंह उपाध्याय
१२६ बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल—,,
१२७ घट जातक—भदंत आनंद कौसल्यायन
१२८ उत्तर प्रदेश मे बोद्ध धर्म का विकास—
नलिनाक्ष दत्त
१२९. विक्रमोत्सव ग्रंथ—(ब्रजसाहित्य मडल)
१३० हिंदू सभ्यता—राधाकुमुद मुकर्जी
१३१ सस्कृति के चार अध्याय—
रामधारी सिंह 'दिनकर'
१३२ श्रीकृष्ण जन्मभूमि या कटरा केशवदेव
—वासुदेवशरण अग्रवाल
१३३. भारतवर्ष के इतिहास की सामग्री—
गौरीशकर हीराचंद ओझा
१३४ पूर्व मध्यकालीन भारत—वासुदेव उपाध्याय
१३५. हर्ष चरित् एक सास्कृतिक अध्ययन—
वासुदेवशरण अग्रवाल
१३६ हर्षवर्धन—गौरीशकर चटर्जी
१३७ हुएनसाग का भारत भ्रमण—
ठाकुरप्रसाद शर्मा
१३८ राजपूतो का प्रारंभिक इतिहास—
विनायक चिंतामणि वैद्य
१३९ इतिहास राजस्थान—देवीप्रसाद मुंशी
१४० पृथ्वीराज रासो (लघु सस्करण)—
वी० पी० शर्मा
१४१ दिल्ली या इंद्रप्रस्थ—
दत्तात्रेय बलवंत पारसनीस
१४२ दिल्ली सल्तनत—आशीर्वादी लाल
१४३ मानसिंह और मानकुतूहल—हरिहरनिवास
१४४ मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी)— ,,
१४५ सगीताचार्य बैजू और गोपाल—
प्रभुदयाल मीतल
१४६. अकबर—राहुल साकृत्यायन
१४७ अकबरी दरबार—मुहम्मद हुसेन आजाद
१४८ अकबरी दरबार के हिंदी कवि—
सरयूप्रसाद अग्रवाल
१४९ सगीत सम्राट तानसेन—प्रभुदयाल मीतल
१५०. अर्ध कथानक—बनारसीदास
१५१. जहाँगीर नामा—ब्रजरत्न दास
१५२ मुगल कालीन भारत—आशीर्वादी लाल
१५३ मुगल बादशाहो की हिंदी चद्रबली पाडे
१५४ शिवाजी और उनका युग—
यदुनाथ सरकार
१५५ सुजान चरित्र—सूदन कवि
१५६ भरतपुर कवि कुसुमाजलि—
कुंजविहारी लाल गुप्त
१५७ भारत मे अंगरेजी राज्य—सुंदरलाल
१५८ श्रीनिवास ग्रंथावली—श्रीकृष्ण लाल
१५९ दडी विरजानद और स्वामी दयानद की
शिक्षा-दीक्षा—प्रभुदयाल मीतल
१६० महर्षि दयानद का जीवनचरित्र—
देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

**(पत्र-पत्रिकाएँ)**

१६१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका-(त्रैमासिक)
१६२ सम्मेलन पत्रिका— ,,
१६३ हिंदी अनुशीलन— ,,
१६४ ब्रज भारती— ,,
१६५. बल्लभीय सुधा— ,,
१६६. समिति वाणी— ,,
१६७. कल्याण — (मासिक)
१६८. सरस्वती— ,,
१६९ साहित्य सदेश— ,,
१७० मानव धर्म— ,,
१७१. श्री सर्वेश्वर— ,,
१७२ देशबंधु— ,,
१७३ औदीच्य बधु— ,,
१७४. त्रिवेणी— ,,
१७५. हिन्दुस्तान— (साप्ताहिक)
१७६ धर्मयुग— ,,
१७७ आज— (दैनिक)
१७८. भारत— ,,
१७९ सैनिक— ,,
१८० अमर उजाला— ,,